भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

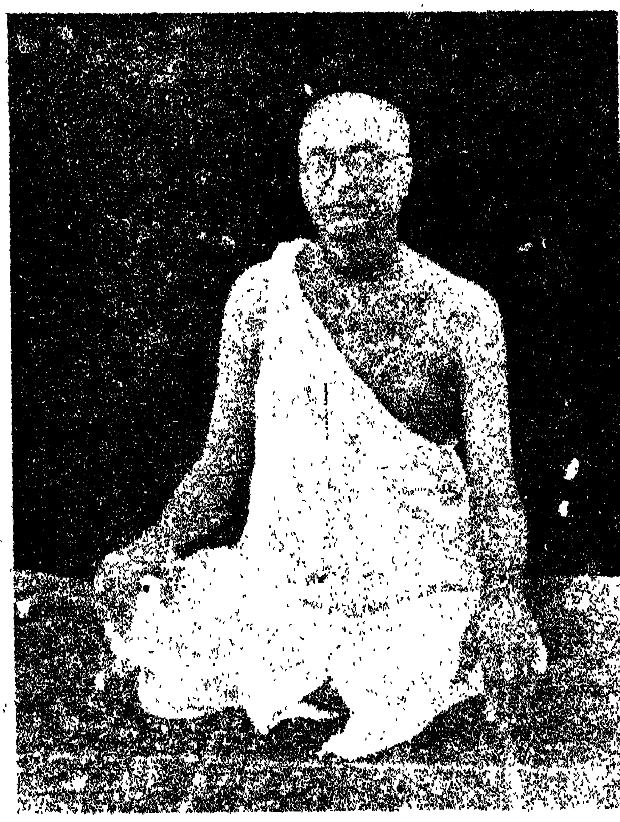
29th October 1932

दामोदर
कृष्णपक्ष
गौराब्द
४४६

कार्त्तिक
अमावास्या
संवत्
१९८९

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥



ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्तसरस्वती
गोस्वामी महाराज

प्रति संख्या ⌐) } सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन { वार्षिक सडाक १॥)

Editor:—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है

लेख-सम्बंधी.

लेखकों को केवल भागवत धर्म सम्बन्धी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन छपाई की दर नीचे लिखी है:—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम	८)
आधा ,, १ ,,	५)
चौथाई ,, १/३ ,,	३)
२ इंच ,, १/४ ,,	१॥)
१ ,, ,, १/८ ,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये—

पत्र व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

सेठरामयश रोड, नरही, लखनऊ.

All communications are to be addressed to—

The Manager 'Bhagwat'

Seth Ramjus Road,

Narhe,

LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय बन

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

द्वितीय वर्ष

गौराब्द ४४६, सं० १९८९ वि०, २९ अक्तूबर सं० १९३२ से

,, ४४७ ,, १९९० ,, ३ ,, ,, १९३३ तक

सम्पादक व प्रकाशक—

त्रिदण्डिस्वामी भक्तिहृदय वन

मुद्रक—

पं० राजराजेश्वरप्रसाद भार्गव

अवध-प्रिंटिंग-वर्क्स,

चारबाग, लखनऊ

भागवत-पत्र की वर्ष-सूची

द्वितीय वर्ष



[illegible]
By courtesy of the Hindu [illegible]

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भागवत

पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

वर्ष २ } श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य
कार्तिक अमावास्या गौराब्द ४४६, सं० १९८९ वि०, २९ अक्तूबर स० १९३२ ई० { संख्या १

आत्म-निवेदन

(१)

छोड़ कर पुरुष अभिमान, किङ्करी हुआ आज मैं कान।
व्रज के विपिन सखी के साथ, सेवन करिहों राधा-नाथ।
फूल ले मैं गूँथूंगा हार, तुलसी मणि-मञ्जीर सवाँर।
यत्न से देउँ सखी के हाथ, हाथ ले सखी आदर के साथ।
सखी दे दोनों ही के गल में, दूर से देखूँ कौतूहल में।
सखी कहे सुनो सुन्दरी, रहो कुञ्ज में बनके किङ्करी।
गूँथो माला मनोहारिणी, नित नित राधाकृष्णविमोहिनी।
तुम रक्षा का भार हमारा, मेरी कुटी औ कुञ्ज तुम्हारा।
राधा - माधव - सेवनकाल, रहियो तुम हमरे अन्तराल।
पान बना के कपूर आनी, देगी मुझे आपनी जानी।
भक्तिविनोद सुनत ये बात, सखी-चरण कीन्हा प्रणिपात।

नये वर्ष में निवेदन

'भागवत' ने द्वितीय वर्ष में पदार्पण किया है। गत वर्ष में 'भागवत' प्रत्येक 'भागवत'-सेवियों के निकट प्रति पक्ष में एक-एक बार निज आगमन का गीत गाकर हम लोगों को जागृत करने की चेष्टा किया है; किन्तु माया-निद्रा में हम लोग ऐसे गाढ़ निद्रा अभिभूत हैं, कि किसी तरह भी हमारी निद्रा भंग नहीं होती। वरंच निद्रा की गाढ़ता बढ़ाने के लिये हम लोग और भी व्यस्त हैं।

हम लोग बहिर्जगत् के संवाद लेने के लिये इतने व्यस्त हैं, कि उससे अनेकों के आग्रह और रुचि देखकर आश्चर्य होना पड़ता है। जिनके साथ दो दिन का संबन्ध है—धर्मशाला का परिचय है—उनकी चिन्ता में हम लोग हर समय नियुक्त हैं, किन्तु मैं कौन और कहाँ से आया हूँ, मेरा कर्तव्य क्या है, इन सब विषयों की आलोचना हम लोगों का कर्तव्य है, ऐसा नहीं समझते। मेरे संग मेरे सगे संबंधीगण का कितना संबंध है? मेरे संग जगपिता परमेश्वर का क्या संबंध है? यह सब विचार हम लोग नहीं करते। इसलिये श्रीहरि की इच्छा से उनकी वाणी आज भागवत् के रूप में हम लोगों के निकट आगमन कर, हम लोगों की मोह-निद्रा तोड़कर संबंध-ज्ञान के परिचय प्रदान के लिये उपस्थित हुए हैं।

हम लोग धर्म-कर्म का अभिनय करते हैं, शास्त्र-पाठ का अभिनय दिखाते हैं अथवा भक्ति के अङ्गों का संपादन करने की चेष्टा भी करते हैं, किन्तु हम लोगों के सब कार्यों में सब से अधिक प्रतिबंधक जो है, उसके लिये कोई चिन्ता नहीं करते। हम लोगों का चित्त इतना भोगप्रवण है, कि हम लोग सब धर्मों के बीच में भोग करने में चेष्टावान हैं। अतः धर्मादि का अनुष्ठान भी हम लोगों के भोग-रूपी अग्नि में ईंधन देने के लिये ही है। जलती हुई अग्नि में घी की आहुति प्रदान करने से वह जैसे लगातार बढ़ती जाती है, हमलोगों के भोगानल में ईंधन प्रयोग से वह भी दिन-राति-दिन बढ़ती जाती है।

हमलोग समझते हैं, कि युवावस्था में भोग कर लें। अन्तिम दशा में सब परित्याग कर भगवत्-भजन में नियुक्त होंगे, किन्तु भोग की आसक्ति दिन-राति-दिन बढ़कर बुढ़ापे में भोगानल न बुझकर वह अनन्त गुण में बढ़ जाती है। यह आग क्रमशः दावानल का आकार धारण कर हम-लोगों को चारों तरफ से आक्रमण कर भव-रूपी-अरण्य में दीर्घकाल तक तपाती रहती है। 'भागवत' पढ़ने, सुनने और याद रखने के फल से भव रूपी महा दावाग्नि बुझकर चिर-शान्ति प्रदान करता है। इसीसे कहते हैं, कि हे त्रिताप-तापित भ्रातृगण! और अधिक भव-दावानल में दग्धीभूत न हो करोड़ों चन्द्र की तरह सुशीतल भागवत वाणी का आश्रय ग्रहण कीजिये।

हम लोग वैकुंठ-वाणी का श्रवण-कीर्तन न कर मेढक की तरह घरेलू बात-चीत में ही अधिक चेष्टान्वित हैं। उसके फल से कालसर्प द्वारा मेढक पर आक्रमण की तरह काल के कराल गाल में फँस जाते हैं। यही भागवत की वाणी है। अतएव काल के भी काल महाकाल जिनके नाम से डरते हैं, वह भव-भयहारी श्रीहरि के शोक-रहित, भयरहित और मरणरहित पादपद्म की प्राप्ति का एकमात्र उपाय बतानेवाले भागवत-पत्र के उपदेश ग्रहण करें।

महाराज पृथु

प्रजावत्सल, प्रशान्तचेता, ईश्वर-परायण, महात्मा अंगराजा के पुत्र उग्र-स्वभाववाले वेण ने अपने दुष्ट स्वभाव के कारण क्रुद्ध मुनियों के वाग्वज्र अभिशाप से जब प्राणत्याग किया, तब राज्य में अराजकता फैल गई। प्रबल दस्युओं के अत्याचार से प्रजावर्ग में अशान्ति उत्पन्न होते देखकर मुनियों ने मृत वेण के दाहिने बाहु को मथा। उससे भगवान् विष्णु के अंश से पृथु महाराज का जन्म हुआ। भागवत में यह कथा विस्तार से कही गई है। ब्रह्मज्ञ ब्राह्मणों ने पृथु के शुभ लक्षण आदि देखकर उन्हें विधि पूर्वक राजसिंहासन पर बिठाकर उनका अभिषेक किया। राज्याभिषेक के बाद ही दुर्भिक्ष से पीड़ित, अन्नाक्लिष्ट प्रजाओं का आर्तनाद सुनकर और पृथ्वी ने सब औषधों के बीज ग्रस लिये हैं—यह निश्चय करके, धनुष लेकर पृथ्वी को लक्ष्य करके उन्होंने उस पर बाण चढ़ाया। पृथ्वी ने जब पृथु महाराज के क्रोध से डरकर आत्मरक्षा से गऊ का रूप रखकर, व्याध का पीछा करने से मृगी के समान, भागना शुरू किया, तब पृथु भी उसके पीछे दौड़े। धरणी ने जब देखा, कि प्रबल पराक्रमी पृथु के क्रोध से परित्राण पाना असंभव है, तब भागना बंद करके कातर-हृदय से महाभाग पृथु के शरणागत हुई। पृथु ने भी डरी हुई पृथ्वी को क्षमा कर दिया। तब पृथ्वी ने महाराज पृथु की इच्छा के अनुसार अनेक प्रकार के शस्य उत्पन्न करके प्रजाओं को सुखी बनाया। ग्राम, बड़े बड़े नगर, विविध दुर्ग (किले), व्रज, शिविर, आकर, खेट आदि जनपदों की पृथ्वी पर स्थापना हुई। सब प्रजाएँ भयशून्य होकर अपने-अपने स्थान में परम सुख से वास करने लगीं।

इसके उपरान्त राजर्षि पृथु ने यज्ञ करने का विचार किया। ब्रह्मावर्त्त देश में सरस्वती नदी के तट पर यज्ञवेदी का निर्माण कर वहाँ सौ अश्वमेध यज्ञ करने का संकल्प करके दीक्षा ग्रहण की। भगवान् विष्णु यज्ञपति के रूप से आकर विराजमान हुए। उनके साथ ही ब्रह्मा, महेश, गंधर्व, किन्नर, अप्सरा, दानव, दैत्य, गुह्यक तथा भगवान् के पार्षद कपिल, नारद, दत्तात्रेय, सनक आदि ऋषिगण भी उपस्थित हुए। अश्वमेध द्वारा भगवान् अधोक्षज की अर्चना के समय ईर्षापरायण इन्द्र यज्ञपशु को हरणकर आकाश मार्ग से भाग चले। यह देख पाकर आचार्य अत्रि ऋषि ने पृथु को इसकी सूचना दी। पृथु के पुत्र ने क्रुद्ध होकर धनुष-बाण लेकर इन्द्र का पीछा किया। तब इन्द्र घोड़ा छोड़कर भागे। पृथु के पुत्र घोड़े को लेकर यज्ञ मंडप में आकर उपस्थित हुए। हारकर इन्द्र के भागने पर भी यज्ञ में विघ्न डालने की उनकी आशा अत्यन्त प्रबल थी। अतएव वह घोड़ा जब यूपकाष्ठ में बाँधा गया तो, फिर इन्द्र गहरे अन्धकार की सृष्टि करके अपने शरीर को उसमें ढककर सुशोभित खंभे से घोड़े को खोलकर ले चले। अत्रि ने फिर राजकुमार को इसकी सूचना दी। वीरश्रेष्ठ पृथु-पुत्र ने क्रुद्ध होकर तीक्ष्ण बाण छोड़ा, और इन्द्र घोड़े को छोड़कर फिर अन्तर्धान होगए। विपुल पराक्रमशाली पृथुराजा इन्द्र के इस नीच कर्म से अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने स्वयं इन्द्र के वध के लिए अस्त्र ग्रहण किया। तब ब्रह्माजी ने उनको यह उपदेश दिया, कि अमित तेज से युक्त इन्द्र के साथ युद्ध का आरंभ करना पार्थिव वस्तुओं के प्रति अनासक्त राजा पृथु का कर्त्तव्य नहीं है। साथ ही उन्होंने दैव के द्वारा कर्म के विघ्न की संभावना, कर्म की अनित्यता तथा अनित्य विषय में अभिनिविष्ट न होकर निरन्तर भगवान् की आराधना करना ही उनका कर्त्तव्य है, यह भी बतलाया। तदनन्तर पृथु ने अपनी राजधानी में लौट आकर विशेष यशस्वी होकर पृथ्वीमण्डल का पालन किया और अन्त को विष्णु के परम पद को प्राप्त हुए थे।

इसके बाद पृथु के महासत्र-नामक यज्ञ में देवता, ब्रह्मर्षि, राजर्षि आदि बड़े बड़े लोग निमंत्रित होकर आकर उपस्थित हुए। तब पृथु ने यह कहकर कि

भगवान् विष्णु ही आत्मा के आराध्य देव हैं, भगवद्-भजन में उदासीन व्यक्तियों को भगवद्धर्म में प्रवृत्त करके और भगवद्भजन में तत्पर व्यक्तियों का उत्साह बढ़ाकर यह कहा, कि किसी राजकुल का तेज ब्राह्मणों और वैष्णवों के प्रति प्रभाव न प्रकट करे। उसके बाद जब ब्राह्मण और देवगण पृथ्वीपति पृथु को आशीर्वाद दे रहे थे, उस समय सूर्य के समान महा तेजस्वी चार ब्रह्मर्षि वहाँ पर उपस्थित हुए। पृथु ने यथारीति उनका सम्मान और सत्कार किया और यह जानने की प्रार्थना की, कि संसारानल में तप्त व्यक्तियों को अनायास ही परम कल्याण कैसे प्राप्त हो सकता है? पृथु के इस प्रकार गंभीर, सर्वभूत-हितकर, सुमधुर प्रश्न से आनन्दित होकर ब्रह्मर्षि सनत्कुमार ने कहा—संपूर्ण शास्त्र आदि के सम्यक् विचार से यह निश्चित हुआ है, कि अनात्म वस्तु में अनासक्ति और भगवान् में रति ही जीव का स्वरूप धर्म है। अनात्म वस्तु में आसक्ति से क्रमशः जीव के चित्त में विकार होता है, स्मृति का विनाश होता है और उसका ज्ञान भी भ्रष्ट हो जाता है। तब जीव अनित्य विषय में मत्त होकर संसार में वास करता है। विवेकी पुरुषगण इन्द्रिय-पति, सर्वव्यापी, परम पुरुष, नित्यकाल वर्त्तमान श्रीभगवान् के अनुशीलन में नियुक्त होते हैं। भगवान् के चरण-कमलों के विलास का स्मरण करने से ही अनायास हृदय की ग्रन्थि छिन्न हो जाती है। अतएव जीव का मंगल जो श्रीभगवान् की सेवा है, उसी में आप नियुक्त हों।

साधु-हृदय पृथु को जब इस प्रकार जीव के परम कल्याण का उपदेश प्राप्त हुआ, तब श्रीभगवान् में निर्बन्ध करके समाहित चित्त से अनासक्त होकर निरन्तर आत्मा के अनुशीलन में वह लग गये।

पृथु के पाँच पुत्र थे—विजिताश्व, धूम्र, केश, द्राविण और वृक।

इसके बाद बड़े पुत्र को सम्पूर्ण राज्य और ऐश्वर्य समर्पण करके एकान्तभाव से हरिभजन करने के विचार से पत्नी के साथ उन्होंने तपोवन को प्रस्थान किया। वाणप्रस्थ धर्म में अवस्थित होकर सूखे पत्ते, फल, मूल खाकर, किसी दिन केवल जल पीकर मौनव्रत, अनावृत स्थान में वास आदि के द्वारा कठोर वैराग्य का अभ्यास करने लगे। क्रमशः चित्तशुद्धि के साथ विशुद्ध भक्ति का उदय होने पर निरन्तर हरि का स्मरण करते-करते अन्त को वह विष्णुधाम को सिधारे। यही परम प्रतापी महाराज पृथु का प्रातःस्मरणीय चरित्र है।

जिह्वा-वेग

विषयों के प्रति इन्द्रिय की जो गति होती है, उसे इन्द्रिय-वेग कहते हैं। विषय पाँच हैं—रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श। और इन विषयों को ग्रहण करने वाली ये पाँच इन्द्रियाँ हैं—चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वचा।

जीव वस्तुतः सदा से कृष्ण का दास होता है, पर वह अपने प्रभु की सेवा भूलकर इस प्रपंच में आ फँसता है। यद्यपि बाह्य दृष्टि से देखने पर यह संसार जीव के लिये सुख-भोग का आगार जान पड़ता है, तो भी यह बद्ध जीव के लिये केवल कारागार ही है। जिस प्रकार अपराधी मनुष्य का अपराध मोचन करने के लिये कारागार बनाये जाते हैं, उसी प्रकार कृष्ण को भूलने वाले जीवों के लिये यह संसार वास्तव में दंड देने का स्थान है।

चित्कण जीव वास्तव में चित्सूर्य श्रीकृष्ण की तटस्था शक्ति का परिणाम है। इसी लिए अनादि काल से उसी तटस्थ धर्म से जीव की सत्ता में सेवा धर्म और भोग की प्रवृत्ति वर्त्तमान है। जिस समय सेवाधर्म का ह्रास होता है, उस समय भोग की प्रवृत्ति का उदय होता है। इसी भोग-प्रवृत्ति के उदय होने पर माया के प्रति जो अभिनिवेश होता है, वही जीव का बन्धन है। इस बद्धावस्था में दो आवरण होते हैं, जिनमें से एक सूक्ष्म और

दूसरा स्थूल होता है। मन, बुद्धि और अहंकार ये तो सूक्ष्म आवरण के भेद हैं, और पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये स्थूल आवरण के पाँच भेद हैं। सूक्ष्म शरीर वासनामय है, और स्थूल शरीर उस वासना की तृप्ति में सहायक होता है। बद्ध जीव भोग करनेवाले इन्हीं दोनों शरीरों में "मैं" या "अहं" भाव की स्थापना कर लेता है, और अपने कर्तृत्व के अभिमान में जड़ विषयों का भोग करने वाला बन गया है। यही जीव का संसार है।

स्थूल शरीर की दस इन्द्रियों में जीभ रस-संग्रह करने वाला यन्त्र है। इसी जीभ के द्वारा हम लोग कटु, तिक्त, कषायैं, अम्ल आदि अनेक प्रकार के रसों का आस्वादन ग्रहण करते हैं। गृहीत खाद्य पदार्थों से हम लोग अपनी इन्द्रियों को तृप्त करते हुए अपने शरीर की रक्षा और पुष्टि करते हैं। जिस समय जीभ यह बात भूल जाती है, कि खाद्य-पदार्थ केवल शरीर की रक्षा करने के लिये हैं और इन्द्रिय-सुख की लालसा में केवल रसों का आस्वादन करने में ही व्यस्त रहती है, उसी समय जिह्वा-वेग होता है, यह जीभ की असंयत अवस्था है। जब जीभ इस प्रकार असंयत अवस्था में रहती है, तब शरीर में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। भोगी लोग तो यह बात जानकर भी उससे अनजान बने रहते हैं; पर जो लोग संयत होते हैं, वे यह बात बहुत अच्छी तरह समझते हैं। जिस प्रकार संयत जिह्वा से खाद्य-पदार्थ ग्रहण करने पर शरीर की पुष्टि होती है, उसी प्रकार असंयत जिह्वा के द्वारा इसके विपरीत शरीर की अपुष्टि होती है और रोग के परिणाम स्वरूप मृत्यु भी हो सकती है।

जो लोग ईश्वर का भजन करना चाहते हैं, उनकी तो बात ही छोड़ दीजिए, पर यदि साधारण रूप से भी विचार किया जाय तो भी जिह्वा-वेग का दास होना किसी प्रकार उचित नहीं है। जिह्वा-वेग से केवल जीभ ही इस प्रकार असंयत नहीं होती, बल्कि उसके साथ साथ उदर और उपस्थ की भी वेग-वृद्धि होती है। जिह्वा-वेग में जीभ अशान्त होती है, उदर के वेग में उदरामय होता है और उपस्थ के वेग में इन्द्रियों को तृप्त करने की चेष्टा बढ़ती है। इस सम्बन्ध में संसार में यथेष्ट संख्या में जाज्वल्यमान उदाहरण दिखाई पड़ते हैं। इसी लिये शास्त्रों में कहा है —

जो जिह्वा - वश हो इधर उधर जाता है।
वह शिश्नोदर का दास कृष्ण को नहिं पाता है ॥

जिह्वा के वेग का दमन बहुत ही कठिनता से होता है। जीभ का रसों के साथ जितना ही अधिक संसर्ग होता है, वह उतनी ही अधिक अतृप्त होकर रसों का संग्रह करने के लिये और भी अधिक व्याकुल होती है। जीभ भी सपत्नी की तरह गृहस्वामी का सर्वस्व लूट लेती है। यद्यपि कामुक की दृष्टि में वह आदमी बहुत सुखी होता है, जिसकी बहुत सी पत्नियाँ होती हैं, परन्तु बहुत सी पत्नियोंवाले को जो जो दुःख होते हैं, उनका हाल भुक्तभोगी के सिवा और कोई नहीं समझ सकता। भागवत के सातवें स्कन्ध के नवें अध्याय का ४० वाँ श्लोक इस प्रकार है—

जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति मावितृप्ता
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् ।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥

जो लोग जिह्वा-वेग के दास होते हैं, उनकी अवस्था बहुत ही शोचनीय होती है। जिस प्रकार रस-भोग की कामना से प्रमत्त मछली काँटियों में लगे हुए मांस या दूसरे खाद्य-पदार्थ के लोभ से झपटकर आगे बढ़ती है, पर आमिष-भोजन के सुखास्वादन से वंचित होकर लोहे की काँटिया में फँस जाती है, इसी प्रकार जिह्वा-वेग के दास को भी उसकी इच्छित वस्तु तो मिलती नहीं, हाँ उसे मृत्यु अवश्य प्राप्त हो जाती है।

जिह्वयाति प्रमाथिन्या जनो रसविमोहितः ।
मृत्युमिच्छत्यसद्बुद्धिर्मीनस्तु बडिशैर्यथा ॥
(भा० ११-८-१९)

अप्राकृत अनुभूति से रहित और प्राकृत बुद्धि-वाले भोगप्रिय लोगों की मीमांसा सदा विवादपूर्ण होती है। इसी विचार से यह व्यवस्था दी गई है, कि अनाहार के द्वारा जिह्वा पर विजय प्राप्त की

जाय। परन्तु सूक्ष्म तथा दूरदर्शी और अधोक्षज-सेवा-धर्मवाले लोग ही यह बात जानते हैं कि इस प्रकार जिह्वा पर विजय प्राप्त करना कहाँ तक सम्भव है। यद्यपि निराहार रहने पर अन्यान्य इन्द्रियों का वेग दबता या घटता है, परन्तु रस-भोग की निवृत्ति की चेष्टा से व्यतिरेक भाव से जिह्वा-वेग वर्त्तमान रहता है। अनाहार रहने की दशा में शरीर के नाश की सम्भावना होती है। इस व्यवस्था देखकर हमें एक चिकित्सक की बात याद हो आई। किसी धनी के शरीर में कई फोड़े हो गये थे और वह उनकी यन्त्रणा से अधीर होकर एक अच्छे चिकित्सक की शरण में गया। उस भविष्यतदर्शी चिकित्सक ने वह रोग देखकर बहुत कुछ विवेचना के उपरान्त कहा—इसमें सन्देह नहीं कि इस समय औषध-प्रयोग करने से ये सब फोड़े अच्छे हो जायँगे। परन्तु मैं इन सबका भविष्य देख रहा हूँ, क्योंकि भविष्य में फिर इसी प्रकार के फोड़े हो सकते हैं। इसलिये मैं आपके गले में ही अस्त्र-प्रयोग करके इन फोड़ों से आपको सदा के लिये नीरोग करने की व्यवस्था करता हूँ।

एक और विचार के द्वारा यह स्थिर हुआ है कि यदि जीभ को सदा उसकी प्रवृत्ति के अनुसार चलने दिया जाय, तो अन्त में क्षीणवीर्य होकर वह आप से आप संयत हो जायगी। परन्तु यह तो ठीक वृद्ध व्यक्ति में इन्द्रिय-संयम की सी बात है। क्योंकि जब वृद्ध आदमी की भोग-इन्द्रिय असमर्थ हो जाती है, तब उसके भोग में भी कमी हो जाती है। यह तो वही "वृद्धा वेश्या तपस्विनी" वाली बात हुई। भोगवादियों का मत है, कि भोग के द्वारा भोग की निवृत्ति होनी चाहिए। फल्गु-त्यागियों का मत है कि त्याग के द्वारा भोग की निवृत्ति होनी चाहिए। परन्तु विषयों के भोग या त्याग से विषयों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति का नाश नहीं होता। हम पहिले ही कह चुके हैं, कि यदि जीभ को असंयत रहने दिया जाय, तो केवल जिह्वा-वेग ही नहीं बढ़ता, बल्कि उदर और उपस्थ का वेग भी बढ़ता है।

शास्त्र कहते हैं कि जब तक रसना को न जीता जाय, तब तक मनुष्य और इन्द्रियों को जीत लेने पर भी जितेन्द्रिय नहीं हो सकता। परन्तु रसना को जीत लेने से सभी इन्द्रियाँ जीती जाती हैं।

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे॥

(भा० ११.८.२१)

क्या अन्नजयवादियों ने इस बात का विचार किया है, कि इन दोनों संकटों में से जीव के लिये कौनसा मार्ग ग्रहण करना श्रेयस्कर है? वे तो श्रुति-गुण प्राप्त करने में ही मग्न हैं। क्या श्रुति का अभिप्राय यही है, कि केवल अनुद्वेग हो, उद्वेग का अभाव हो? नहीं, यह बात नहीं है। श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ श्रीगुरु के चरणाश्रय में दिव्य ज्ञान प्राप्त करने वाले उद्धव के प्रश्न के उत्तर में श्रीभगवान् कहते हैं:—

जिह्वोपस्थजयो धृतिः।

(भा० ११.१९.३६)

और भी देखिए, इस द्वन्द्वातीत विचार के सम्बन्ध में शास्त्र में कहा है:—

हृषीकेशो हृषीकाणि यस्य स्थैर्यगतानिह।
स एव स्थैर्यमाप्नोति संसारे जीव-चंचले॥

समस्त इन्द्रियों के अधिपति श्रीकृष्ण हैं। भृत्य या दास का कर्तव्य ही है, कि वह अपने प्रभु की सेवा करे। ये दास अपने प्रभु की सेवा भूलकर भोग बुद्धि से स्वयं ही प्रभु बन बैठते हैं और इसी लिये उनकी यह दुर्दशा होती है। जब यह भोग छोड़कर फिर प्रभु की सेवा आरम्भ की जाती है, तब निज स्वभाव का उदय होता है। देखिए, महाभागवत अम्बरीष ने किस प्रकार रसना पर विजय प्राप्त की है।

"रसनां तदर्पिते"

(भा० ९-४-१८)

संसार की सभी वस्तुएँ त्रिगुणात्मक हैं। आहार्य द्रव्य भी तीन प्रकार के हैं। तामसिक और राजसिक खाद्य-पदार्थों की अपेक्षा सात्त्विक खाद्य श्रेष्ठ होने पर भी आखिर गुणमय ही हैं। परन्तु श्रीभगवान् को निवेदित किया हुआ अन्न निर्गुण होता है। वह तीनों गुणों से अतीत अर्थात् अप्रा-

कृत होता है। कहा है—"मन्निवेदितन्तु निर्गुणम्।" जिस जीव में श्रीकृष्ण की सेवा करने की बुद्धि होती है, वह अहंकार से मुक्त होता है। और बद्ध जीव प्राकृत अहंकार से मत्त होता है। सेवा-परायण जीव महाप्रसाद का सेवन करके अनाहार और अत्याहार के दास नहीं होते, बल्कि जितेन्द्रिय होते हैं और इन्द्रियों के द्वारा हृषीकेश की सेवा में लगे रहते हैं। यह इन्द्रिय-विजय और भगवत्सेवा दोनों का एक ही आधार में अपूर्व सम्मेलन है। यह भोगवादी और फल्गुत्यागी की तरह इन्द्रिय दासत्व का या कल्पित इन्द्रिय-ध्वंस का अकरण मात्र नहीं है। इसी लिये भक्तराज ने कहा है—

महाप्रसाद सेवन करने से होती विजय प्रपंचों पर।

शास्त्र में यह भी कहा है कि श्रीभगवान् को निवेदित किया हुआ अन्न महाप्रसाद होता है, और जब भक्त वह प्रसाद खाता है, तब वह महा-महाप्रसाद हो जाता है। इसलिये महाप्रसाद और महा-महाप्रसाद का सेवन ही जीव का जिह्वा-वेग शान्त करने का और जिह्वा के द्वारा श्री भगवान् की सेवा की योग्यता प्राप्त करने का एक मात्र उपाय है।

भक्तपदधूली और भक्तपद जल।
भक्तभुक्तशेष तीनों साधन के बल॥

आत्म-समर्पण

भगवान् को पाने के लिये मनुष्य तरह-तरह के साधन-भजन करते हैं, किन्तु जब तक वे भगवान में आत्म-समर्पण नहीं करते, तब तक भजन-साधन फलदायक नहीं होता; केवल भूसी पछोरने की मेहनत की तरह उनका परिश्रम वृथा जाता है। पहले यह देखना चाहिये कि भगवान् का स्वरूप क्या है? 'भगवान्' शब्द का अर्थ है—षडैश्वर्यपूर्ण। भग + अस्त्यर्थे वतु। भग शब्द का अर्थ है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गणा॥

जिसमें समस्त ऐश्वर्य, समस्त वीर्य, समस्त यश, समस्त श्री, समस्त ज्ञान और समस्त वैराग्य पूर्ण रूप से वर्त्तमान हैं, वे ही भगवान् हैं। समस्त शास्त्रों ने एकमात्र श्रीकृष्ण को ही भगवान् कहा है; यथा—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

सच्चिदानन्द-मूर्त्ति कृष्ण ही परमेश्वर हैं। वे स्वयं अनादि सबके आदि और सब कारणों के कारण हैं—

ईश्वर परम कृष्ण स्वयं भगवान।
सर्व-अवतारी सर्व-कारण प्रधान॥
अनन्त वैकुण्ठ और अनन्त अवतार।
अनन्त ब्रह्माण्ड यहीं सबके आधार॥
सच्चिदानन्द तनु श्रीव्रजेन्द्र-नन्दन।
सर्वैश्वर्य सर्वशक्ति सर्व रस-खान॥
(चै० च० मध्य ८ प० प०)

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध, ३ य अध्याय, २८ वें श्लोक में लिखा है—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृड़यन्ति युगे युगे॥

राम-नृसिंहादि पुरुषावतार के अंश या कला हैं। किन्तु कृष्ण स्वयं भगवान् हैं। ये युग-युग में दैत्य द्वारा पीड़ित लोगों की रक्षा करते हैं।

आत्म-समर्पण का अर्थ है—अपने को दान करना; आत्मा शब्द का अर्थ 'जीवात्मा' या 'कृष्ण का नित्यदास' समझना चाहिये। श्रीचैतन्यचरितामृत में कहा है,—

जीव का स्वरूप है कृष्ण-नित्यदास।
कृष्ण - तटस्थाशक्ति भेदाभेद - प्रकाश॥

अतएव, श्रीभगवान् में आत्म-समर्पण करने का

जो मतलब है, उसका भावार्थ यह है कि श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं; वे ही सब कुछ हैं—उनसे बड़ा या उनकी बराबरी का कोई नहीं है। वे स्वाधीन पुरुष हैं, परतंत्र नहीं। उनकी ही इच्छा से अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के समस्त कार्य सम्पन्न होते हैं। जीव उनका नित्यदास है। उनकी सेवा करना ही जीव का नित्य धर्म है। उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई काम करने की क्षमता जीव में नहीं। फिर भी जीव जब अपने स्वरूप को भूल जड़ देह में आत्मबुद्धि लाकर स्वयं कर्त्ता बन किसी काम को करने के लिये अग्रसर होता है, तभी भगवान् की माया-दासी के कवल में पड़ दुःखमय संसार में डूबने-उतराने लगता है। फिर, संसार में भटकते-भटकते जब साधु, शास्त्र और सद्गुरु की कृपा से जीव अपने स्वरूप को समझ लेता है, तब यह समझता है कि भगवान् की सेवा करना ही जीव का नित्य धर्म और उनकी इच्छा से अपनी इच्छा मिलाकर, वे जैसे चलावें, वैसे चलना ही कर्त्तव्य है। भगवान के ऊपर निर्भर कर चलने से सब दुःख दूर हो जाता है और अन्त में जीव परम-आनन्द लाभ करता है। तब जीव धीरे-धीरे अपना सर्वस्व भगवान को समर्पण करता रहता है।

भक्ति-रसामृत-सिन्धु में लिखा है,—

कामादीनां कति न कतिधा पालिता दुर्निदेशा-
स्तेषां जाता मयि न करुणा न त्रपा नापशान्तिः।
उत्सृज्यैतानथ यदुपते साम्प्रतं लब्धबुद्धि-
स्त्वामायातः शरणमभयं मां नियुङ्क्ष्वात्मदास्ये॥

प्रभो! मैंने काम-क्रोधादि के कितने ही दुष्ट उपदेशों का कितने ही प्रकार से पालन किया है; फिर भी मुझ पर उनकी दया नहीं हुई और उनकी लज्जा या विक्रम भी कम नहीं हुआ। अतएव हे यदुपते! अब आपकी कृपा से ज्ञान प्राप्त कर उन सबको त्याग बुद्धि लाभ कर मैं आपके पास आया हूँ, आप मुझे अपने दासों में नियुक्त करें। इस प्रकार जीव सम्बन्ध-ज्ञान को लाभ कर भगवत्-सेवा में नियुक्त होता। तब कहने लगता है,—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्ष्यमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥
(भा० १०।१४।८)

इस प्रकार जीव जब अपनी स्वाधीनता परित्याग कर सम्पूर्णरूप से अपने शरीर, घर, मन, बुद्धि, धन, रत्न, स्त्री-पुत्रादि सबको ही भगवान् के अर्पण कर, उनकी इच्छा से अपनी इच्छा को मिला उनका ही काम करता है तब उसे प्राकृत धर्माधर्म की लालसा नहीं रहती, तब वह हृदय खोलकर यह गीत गाता है—

मानस देह गेह जो कुछ मोर।
अर्पना हूँ तेरे पद नन्द-किशोर॥
सम्पद विपद में जीवन-मरण में।
दाय मेरा गया तेरे पद के वरण में॥
मारो अथवा राखो जो इच्छा तुम्हार।
नित्यदास पै है तुम्हारा अधिकार॥
जन्म देने की हो यदि इच्छा तुम्हार।
भक्तगृह तब जन्म दीजे हमार॥
कीट जन्म होवे जहाँ रहूँ तेरा दास।
बहिर्मुख ब्राह्मण जन्म नहिं आस॥
भुक्ति मुक्ति स्पृहाहीन जो है भक्त।
मिलने में उनसे मैं रहूँ अनुरक्त॥
जनक जननी तुम्हीं दयित तनय।
प्रभु-गुरु पति मेरे तुम्हीं सर्वमय॥
विनोद-सेवक कहे सुनो सुनो कान।
राधानाथ तुम ही हो मेरे परान॥

जब तक जीव में वर्णाश्रम-धर्म का अभिमान रहेगा, तब तक उसके स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती और ऐसा समझना चाहिये, कि तब तक भगवान में आत्मसमर्पण भी नहीं होता। जब कृष्ण की दासता स्वीकार करते हुए उसका अनुभव कर भगवान् में यथासर्वस्व उत्सर्ग किया जाता है, तभी संसारी वर्णाश्रम-धर्म का अभिमान दूर होता और तब वह मनुष्य चाहे जिस आदमी के सामने गौरसुन्दर का अनुसरण करते हुए निम्न-लिखित रूप से अप्राकृत आत्म परिचय देता है—

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा ।
किन्तु प्रोद्यन्निखिल - परमानन्द पूर्णामृताब्धे-
र्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः ॥

मैं ब्राह्मण नहीं, क्षत्रिय राजा नहीं, वैश्य या शूद्र नहीं, ब्रह्मचारी नहीं, गृहस्थ नहीं, वानप्रस्थ नहीं और संन्यासी भी नहीं हूँ; किन्तु उन्मीलित निखिल परमानन्द-पूर्ण अमृत-समुद्र-स्वरूप श्रीकृष्ण के पद-कमल का दासानुदास हूं। आत्मसमर्पण की आखिरी अवस्था में जीव अपनी देह की स्मृति को बिलकुल भूल जाता है। एक मात्र कृष्ण के सुख में ही जीव को समस्त सुख की समाप्ति होती है। तब जीव मुक्त और वृन्दावन-वासी हो जाता है। तब वह गोपियों के साथ गाता है:—

औरों के हो हृदय मन, मेरा मन तो वृन्दावन,
मन और वन को एक करि जानूं।
मन में अपने पद द्वय, कराओ यदि उदय,
तभी तुम्हारे पूर्ण कृपा मानूं॥
× × × ×
देह की स्मृति नहीं जिसे, संसार-कूप कहाँ उसे,
उससे तो ना चाहे उद्धार।
विरह समुद्र के जल में, काम तिमिङ्गिल में मिले,
गोपीगण को लीजै उसका पार।
(चै० च० मध्याः १३)

इसके बाद काया, मन और वाक्य से भगवत् पादपद्म में आश्रय ले निष्कपट भाव से प्रेम की सेवा करते हुए कृष्ण-प्रेममयी निज ईश्वरी श्रीमती राधिका के आनुगत्य में गाते हैं,—

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा-
मदर्शनान्मर्महतां करोतु वा ।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

इस पादरता दासी को आलिङ्गनकर पेषण करें अथवा दर्शन न देकर मर्माहत करें, वे लम्पट-पुरुष, चाहे मेरा जैसा विधान करें, वे ही मेरे प्राणनाथ हैं दूसरे कोई नहीं।

मैं हूँ कृष्णदासी, उनकी रस-सुखरासी,
आलिङ्गन कर करें आत्मसाथ।
अथवा न दें दरशन न समझें मेरा तन मन,
तब भी वे हैं मेरे प्राणनाथ॥
न जानूँ अपना दुख, चाहती हूँ उनका सुख,
उनके सुख से है मेरा तात्पर्य।
मुझे यदि देवें दुख, उनको होवे महासुख,
वही सुख मेरा है सुखवर्य॥
(चै० च० अन्त्य २० परि०)

ऐसी अवस्था का लाभ करना ही जीव का परम लक्ष्य है। तब वह जीव पूर्ण कृष्णसेवा के प्रेमानन्द में निमग्न रहेगा। जीव के लिये एकमात्र प्रयोजन इस प्रेमानन्द का पाना ही है।

श्रीचैतन्यचरितामृत में लिखा है,—

बड़े भाग्य जीव में श्रद्धा यदि आये।
तभी वह जीव साधु-जन सङ्ग पाये॥
साधु सङ्ग से है होता श्रवण कीर्त्तन।
साधन भक्ति से सर्वानर्थ निवर्त्तन॥
अनर्थनिवृत्ति होते भक्तिनिष्ठा होय।
निष्ठा मे ही श्रवणाद्य रुचि उपजय॥
रुचि से ही भक्ति होय आसक्ति प्रचुर।
आसक्ति से आय मन कृष्ण प्रीत्यङ्कुर॥
रति के प्रगाढ़ होये लेवे 'प्रेम'-नाम।
वही प्रेम प्रयोजन सर्वानन्दधाम॥
(चै० च० मध्य २३ श परि०)

तब जीव को और कोई अभिलाषा रह नहीं जाती। उसे केवल यही वासना रहती है, जैसा कि श्रीनरोत्तम ठाकुर की प्रार्थना में है,—

राधा कृष्ण प्राण मेरे युगल किशोर।
जीवन मरण में कोई गति नहिं मोर॥
ललिता विशाखा आदि जेती सखीवृन्द।
आज्ञा हो करूँगा सेवा चरणारविन्द॥
श्रीकृष्ण-चैतन्य प्रभु का दासानुदास।
ये अधमदास करे सेवा-अभिलाष॥

हाय! हम कृष्ण के विमुख हो विष्ठा के कूप में डूबे हुए कीट हैं; हम जड़-अभिमानी, अहङ्कारमय, देह-मन-सर्वस्व हैं; क्या हम भगवान् को कुछ भी

समर्पण करते हुए उन पर निर्भर करके चलते हैं ? कदम-कदम पर हम लोग हरेक काम में अपने कर्तृत्व का परिचय देते हुए चलते हैं। बल्कि किसी कष्ट में पड़ने पर उस कष्ट के सहन करने में असमर्थ हो उसे दूर करने के लिये दूसरे जीव से कितने द्वेष भी करते, उस पर यह भी कहने से बाज नहीं आते, कि भगवान् हमें यह अतिशय कष्ट दे रहे हैं; किन्तु एक क्षण के लिये भी हम यह विचार नहीं करते. कि हम अपने ही कर्मदोष से इस दुःखमय संसार में आकर असहनीय कष्ट भोगते हैं। हरि-विमुखता ही इस क्लेश का एकमात्र कारण है। अतः श्रीकृष्ण भगवान् की सेवा करते हुए उनसे निष्कपट कृपा की प्रार्थना करना ही इस असहनीय क्लेश से पार होने का एकमात्र उपाय है। दूसरा और कोई साधन नहीं, बिना उनकी कृपा के अपने जड़ मन, बुद्धि और अहङ्कार द्वारा चालित होने से कोई फल नहीं मिलता। वास्तव में बहुत ही अधिक कर्मफल के त्याग की स्पृहा और अतिशय विषय-भोग की इच्छा होने से नास्तिकता या निरीश्वरता ही हृदय को आच्छन्न करती है। उसके द्वारा भगवान् पर एकान्त निर्भरता का लोप हो जाता है, और मृत्यु-पथ का ही पथिक होना पड़ता है। इसीसे श्रीमद्भागवत में कहा है,—

"यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥"

वर्णाभिमान

एकबार महात्मा राजर्षि जनक ने ऋषभ-नन्दन नव-योगेन्द्र से निम्नलिखित प्रश्न किया:—

"भगवन्तं हरिं प्रायो न भजन्त्यात्मवित्तमाः।
तेषामशान्तकामानां का निष्ठाऽविजितात्मनाम्॥
(श्रीमद्भागवत ११।५।१)

हे ऋषिवर्ग! आत्मविद् लोगों में आप लोग श्रेष्ठ हैं, मैं आप लोगों से एक प्रश्न करता हूँ, कृपाकर उत्तर दीजिये। जो सब अविजित-आत्मा अशान्तकाम जीव भगवान् श्रीहरि का भजन नहीं करते, उनकी कैसी गति होती है?

श्रीचमस उवाचः—

"मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥"

नवयोगेन्द्रगण में एक श्रीचमस ऋषि ने इसका उत्तर दिया: राजन्! अपने जनक गुरुरूपी भगवान् की सेवा परित्याग करने से उनकी जो दुर्गति होती है, उसे मैं कहता हूँ। वे अपने धाम से विच्युत हो चार वर्ण और चार आश्रमरूपी उपाधि के साथ मृत्युलोक में गिरते हैं। उन सब उपाधियों द्वारा उनका नित्यस्वरूप ढंक जाता है, क्योंकि वह सब उनकी नित्यस्वरूपगत 'उपाधि नहीं है। नित्यस्वरूप में जीव भगवान् के नित्य-दास के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। भगवद्धाम से भ्रष्ट हो माया-कारागार में पड़ने पर कारागार की रक्षा-करनेवाली माया अपराध के हिसाब से हर एक को एक-एक वेश पहना देती है। परम-पुरुष भगवान् के मुख से निकले भगवद्विमुख जीवप्राकृत मिश्रसत्त्व गुण का आश्रय कर ब्राह्मण वर्ण, बाहु से उत्पन्न भगवद्विमुख जीव सत्त्व-रजोगुणान्वित हो क्षत्रिय वर्ण, जङ्घा से निकले हरिविमुख जीव रजस्तमोगुणान्वित हो वैश्य वर्ण और पैर से निकले सेवाविमुख जीव तमोगुण का आश्रय कर जगत् में शूद्र वर्ण के रूप में परिचय पाते हैं। (इस श्लोक पर श्रीधर स्वामिपाद और श्रीचक्रवर्ती ठाकुर की टीका देखना चाहिये।)

अतएव दिखाई देता है, कि प्राकृत जगत् में ब्राह्मण वर्ण की सर्वश्रेष्ठता और मर्यादा रहने पर भी नित्य राज्य में या वास्तव वस्तु के विचार में उनका कोई मूल्य ही नहीं। क्योंकि प्राकृत ब्राह्मणरूपी सबसे श्रेष्ठ

वर्ण पाना भी भगवद्विमुख के दण्ड के सिवा और कुछ नहीं। यह श्रीमद्भागवत में श्रीचमस मुनि के वचन और श्रीगीता के चौथे अध्याय के तेरहवें श्लोक में अर्जुन के प्रति श्रीभगवान् के वाक्य से विशेष प्रमाणित हो गया है। गुण-कर्म के विधान से चारों वर्ण की सृष्टि ईश्वर द्वारा होने पर भी ईश्वर हेतु-कर्त्ता नहीं हैं, वे प्रयोजक-कर्त्ता हैं। जीव हेतु-कर्त्ता है, जीव के स्वातन्त्र्य-धर्म का अपव्यवहार ही इसका कारण है। गौर-पार्षद-अग्रगण्य श्रीजगदानन्द ने कहा है,—जीव,

"मैं सिद्ध कृष्णदास" यह बात भुलाय।
माया का गुलाम बन, सब दिन झुलाय॥
कभी राजा, कभी प्रजा, कभी विप्र शूद्र।
कभी दुःखी, कभी सुखी, कभी कीट क्षुद्र॥

अतएव पतित अवस्था पर ऊँच-नीच का विचार करना आत्मज्ञ पण्डित लोगों का काम नहीं। पण्डित लोग आत्मदर्शी है—वे विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण और चण्डाल को, बड़े से हाथी और छोटे से कुत्ते को समान रूप से देखते हैं। भगवद्विमुखता-वश एक एक जीव एक-एक वर्ण या एक-एक योनि का आश्रय कर मृत्यु-जगत् में आये हैं। किन्तु सभी कारागार में पड़े दण्डी जीव हैं। पशु जाति में जैसे सिंह विक्रमशाली है या हाथी बहुत बड़े शरीरवाला होने पर जैसे कुत्ते से अधिक सम्मान पाता है, वैसे ही मनुष्य जाति में प्राकृत सत्त्व-गुणान्वित होने से ब्राह्मण की श्रेष्ठता समझने पर भी वह देश-काल के हिसाब से व्यावहारिक या सामाजिक सम्मान मात्र है। फिर गुण और लक्षणों से पूर्ण वर्ण का पाना भी दुर्लभ है। कारागार में पड़ा हुआ कोई एक मनुष्य सोने के पिंजरे में सोने की जञ्जीर से बँधा हो और दूसरा आदमी लोहे के कटघरे में लोहे की जञ्जीर से ही बँधा हो—फिर भी दोनों ही कैदी हैं, दोनों ही दण्डनीय अपराधी मनुष्य हैं। कर्मजड़ स्मार्तों के लिए पाप से पुण्य की श्रेष्ठता हो सकती है, किन्तु आत्मविद् मनुष्यों के लिए दोनों ही बराबर हैं, क्योंकि दोनों ही नाश होनेवाले हैं। प्राकृत ब्राह्मण भी पतित बद्ध-जीव है और प्राकृत शूद्र भी वही है। फिर, जो इस प्राकृत वर्ण विषय पर देहात्म बुद्धिवाले मनुष्य तर्क-वितर्क करते हैं, वह भी वृथा है। क्योंकि उन सब वर्णों से इस नश्वर जीवन को ही विच्युत होना पड़ता है। श्रीमद्भागवत का कहना है,—

"य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥"

श्रीधरस्वामिपाद की टीका में लिखा है,—"एषां मध्ये ये अज्ञात्वा न भजन्ति, ये च ज्ञात्वापि अवजानन्ति आत्मनः प्रभवा जन्म यस्मात्तम्। स्थानाद् वर्णाद्आश्रमाच्च भ्रष्टाः।"

उक्त चारों वर्णों में जो साक्षात् आत्मप्रभव है अर्थात् जिनसे उत्पन्न हुए हैं, उनको ही न जानने की वजह भजन नहीं करते अथवा जानकर भी उदासीनता दिखाते हैं, वे अपने-अपने वर्ण और आश्रम से भ्रष्ट हो अधःपतित होते हैं।

विप्रो राजन्यवैश्यौ वा हरेः प्राप्ताः पदान्तिकम्।
श्रौतेन जन्मनाथापि मुह्यन्त्याम्नायवादिनः॥

ब्राह्मण आदि तीन वर्ण उपनयन और वेदाध्यायन रूपी श्रौतजन्म द्वारा हरि के पदान्तिक मे उनके भजन के उत्तम अधिकार को पाकर भी वेद के अर्थवाद से विमूढ़ हो कर्म जड़ स्मार्त्त बन बैठते हैं। ये लोग नश्वर देहसम्बन्धी कर्ममय स्मार्त्तों की आचार परिपाटी का अधिक सम्मान करते हुए उसे ब्राह्मण्य-धर्मादि बताते हैं। किन्तु शास्त्र का कहना है कि भक्ति ही एकमात्र आत्मवृत्ति है—ब्राह्मण का धर्म सब जीवों का धर्म है—

"यो धर्मो ब्राह्मणानां हि सा भक्तिर्मम पुष्कला।"

श्रीमद्भागवत ने वर्णाभिमानी जीव की दुरवस्था के बारे में और भी कहा है—

"कर्मण्यकोविदाःस्तब्धा मूर्खाः पण्डितमानिनः।
वदन्ति चाटुकान्मूढा यया माध्व्या गिरोत्सुकाः॥
रजसा घोरसंकल्पाः कामुका अहिमन्यवः।
दाम्भिका मानिनः पापा विहसन्त्यच्युतप्रियान्॥
श्रिया विभूत्याभिजनेन विद्यया
त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा।

जातःमयेनान्धधियः सहेश्वरान
सतोऽवमन्यन्ति हरिप्रियान् खलाः ॥"
(श्रीमद्भागवत ११।५।६,७,६)

अर्थात् ये सब वर्णाभिमानी जीव यह नहीं जानते कि कौन-सा कर्म करने से बन्धन-क्षय होता है; फिर भी भगवत्-कर्म-परायण शुद्ध-भक्तों से पूछने में भी अपना अपमान समझते हैं; क्योंकि वे अपने वर्ण के अभिमान की वजह अनम्र, पण्डिताभिमानी मूर्ख और आहार-विहारादि के मधुर वाक्यों से अपना मन बहलाया करते हैं। वे लोग रजोगुण के प्रभाव से मत्सर कामुक, सर्प जैसे क्रूर, दाम्भिक, आत्माभिमानी, और पापात्मा हैं: इसलिये भगवान् के प्रिय भक्तों की हँसी उड़ाया करते हैं।

ऐसे खल-स्वभाव मनुष्य धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य, परिवार, विद्या, वचन, रूप, बल और काम द्वारा उत्पन्न अभिमान से अन्धे हो हरि के साथ ही साथ हरि के प्रिय साधुओं का अपमान करते हैं।

सुतरां जो सब पतित प्राकृत वर्णाभिमानी हो वर्णातीत, अच्युत-गोत्री, निर्गुण ब्राह्मणों के गुरु भगवद्भक्त और उन्हीं के साथ भगवान् का अपमान करते हैं, उनके लिये भगवान् स्वयं श्रीमुख से कहते हैं,—

मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥

भगवद्भक्त लोग कभी अनित्य संसारी वस्तु में मन नहीं लगाते। वे संसारी ब्राह्मणता या शूद्रता की रक्षा के लिये कोशिश नहीं करते। वे जानते हैं, कि ऐसा अभिमान पतनशील सियालों के खाने की देह का परिचय मात्र है। सुतरां वे लोग संसारी ब्राह्मण बनने या सदा के लिये शूद्र रहने का ख्याल नहीं करते। भक्त लोग जानते हैं, कि अद्वयज्ञान परम-पुरुष भगवान् के तीन आविर्भाव हैं; ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। निर्गुण आत्मा या सम्बन्ध-ज्ञान विशिष्ट शुद्ध जीव ही भगवान् के सेवक हैं। देह और मन प्राकृत वस्तु है और यह शरीर जीव के लिये कारागार स्वरूप है। सुतरां भजन करनेवाले जीवों में निर्गुण ब्राह्मणत्व और योगित्व का अभाव नहीं है। वैष्णव परमहंस हैं—सम्बन्ध ज्ञान रखनेवाले ब्राह्मणों के श्रीगुरुदेव हैं: इसी लिये भागवतगण बृहदारण्यक श्रुति के साथ स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं,—

"तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।"

अर्थात् सम्बन्धज्ञान-वाले होकर ब्राह्मण प्रेम भक्ति का याजन करें। निर्गुण ब्राह्मणता ही वैष्णवता की सीढ़ी है। सम्बन्धज्ञानयुक्त हुए बिना अभिधेय भाजन हो ही नहीं सकती। बिना ब्राह्मण हुए कोई वैष्णव हो नहीं सकता।

फिर वे लोग छान्दोग्य उपनिषद् के चौथे प्रपाठक के प्रथम खण्ड में पौत्रायण जानश्रुति और ब्रह्मज्ञ रैक्कऋषि का उपाख्यान और चौथे खण्ड में हारिद्रुमत गौतम और जाबाल-तनय सत्यकाम की आख्यायिकाओं के उपदेश का सारार्थ देख प्राकृत वर्ण के प्रति विश्वास न कर सम्बन्ध-ज्ञान-मय ब्राह्मणता लाभ कर हरिभजन में प्रवृत्त होते हैं। शूद्र कभी ब्राह्मण नहीं हो सकते; जो उनकी नहीं, वह कभी उनकी हो नहीं सकती—जड़ कभी चैतन्य नहीं हो सकता, प्राकृत वर्ण कभी भी अप्राकृत वर्ण में बदल नहीं सकता। चिद्-वस्तु सदा के लिये चित् है, निर्गुण वस्तु सदा निर्गुण ही है—इस बात को भागवत लोग अच्छी तरह समझते हैं। इसीसे वे सबसे पहले वर्णाश्रम से अतीत परमहंस के समीप सम्बन्ध-ज्ञानमय निर्गुण ब्राह्मणता को प्राप्त कर अभिधेय भगवद्भक्ति का साधन करते हुए जीव के परम प्रयोजन को प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं।

भगवत्तत्त्व

श्रीचैतन्यमहाप्रभु श्रीचैतन्यचरितामृत के २० वें परिच्छेद में श्रीसनातन-शिक्षा के लिये कृष्ण के स्वरूप के सम्बन्ध में जो विचार दिखाये गये हैं, उसकी ही आलोचना इस लेख का विषय है। सम्बन्ध ज्ञान के अभाव से अभिधेय साधन-भक्ति या भजन सुन्दर रूप से सम्पन्न नहीं होता। कृष्ण ही सम्बन्ध, कृष्ण-भक्ति ही अभिधेय और कृष्णप्रेम ही जीव के प्रयोजन-फल के स्वरूप में प्राप्य है। उन कृष्ण के सम्बन्ध में श्रीमन्महाप्रभु का कहना है,—

कृष्ण का स्वरूप-विचार सुनो सनातन।
अद्वय-ज्ञान-तत्व व्रज में व्रजेन्द्र नन्दन॥
सर्व-आदि, सर्व अंशी, किशोर-शेखर।
चिदानन्द-देह, सर्वाश्रय, सर्वेश्वर॥

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द-विग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥
(ब्रह्मसंहिता ५।१)

स्वयं भगवान् कृष्ण गोविंद और नाम।
सर्वैश्वर्य भरा जिनका गोलोक नित्यधाम॥

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारि-व्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे॥
(श्रीमद्भागवत १।३।२८)

ज्ञान-योग-भक्ति-तीनों साधन के वश।
ब्रह्म - आत्मा भगवान्—त्रिविध प्रकाश॥
वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
(श्रीमद्भागवत १।२।११)

ब्रह्म उनकी कान्ति निर्विशेष है प्रकाश।
ज्यों सूर्य आँखों आगे करे ज्योतिविकाश॥

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटी-
कोटीष्वशेष-वसुधादि-विभूतिभिन्नम्।
तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥
(ब्रह्मसंहिता ५।४६)

परमात्मा जो हैं वो हैं कृष्ण के एक अंस।
आत्मा के आत्मा कृष्ण सर्व-अवतंस॥
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥
(श्रीमद्भागवत १०।१४।५५)

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
(श्रीगीता १०।४२)

यहाँ तक अद्वैत श्रीभगवान् की त्रिविध-प्रतीति का निरूपण हुआ। अब भगवत्तत्त्व का स्वरूप विशेष रूप से प्रकट किया जाता है। भक्ति देवी की कृपा बिना, इसके स्वरूप का निरूपण दुःसाध्य है। इसीसे श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है,—

भक्त ही भगवान का जानें पूर्ण-रूप।
एक ही मूरति उनके अनन्त स्वरूप॥
स्वयं रूप, तदेकात्म, आवेश है नाम।
आदि में ही तीन रूप रहे भगवान॥

श्रीब्रह्मसंहिता, श्रीलघु भागवतामृत, श्रीबृहद्भागवतामृत श्रीभागवतामृत-कणा और श्रीचैतन्यचरितामृत-दर्शन में भगवत्तत्त्व समझाने की चेष्टा की गई। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सब तत्त्व भजन-फल से निवृत्तानर्थ सेवकों के समझने का विषय है। इसका वर्णन 'शाखा-चन्द्रन्याय' (वृक्ष की शाखा के बीच से चन्द्र-दिखाने) की तरह समझना चाहिये। भजन के अनुभवी पाठक निरुपाधि के चैतन्य चक्षु की सहायता से इन सब तत्त्वों को देखें और विचार करें।

स्वयं भगवान् कृष्ण, त्रिविध रूप हैं

(१) स्वयं रूप—उनके तीन प्रकार के रूप हैं; जैसे,—

(क) स्वयं रूप—एक कृष्ण व्रज में व्रजेन्द्र-नन्दन। आपका गोपवेश, और गोप अभिमान है। ये लीला-पुरुषोत्तम के नाम से अभिहित हैं।

(ख) स्वयं प्रकाश—ये तीन प्रकार के हैं; जैसे,—

१—प्राभव—जैसे—"एकाहि शरीर बहुरूप, रास में और महिषी विवाह में।"

२—वैभव—(क) श्रीबलदेव—उनका भावावेश, आकार, वर्ण और नाम भिन्न होने पर भी सब कृष्ण के समान हैं; (ख) द्विभुज देवकी-नन्दन; (ग) चतुर्भुज देवकी-नन्दन।

(२) तदेकात्मरूप—भावावेश और आकृति भिन्न होने पर भी कृष्ण के साथ एकात्मरूप। उनका द्विविध-स्वरूप है—

(क) विलास—उनका द्विविध रूप है; जैसे—

१—प्राभव—ये चार हैं—आदि चतुर्व्यूह (क) वासुदेव—चतुर्भुज, क्षत्रियवेश, क्षत्रिय-अभिमान में नित्य अधिष्ठान, (ख) सङ्कर्षण, (ग) प्रद्युम्न, (घ) अनिरुद्ध।

२—वैभव—२४ मूर्ति, जैसे—(क) प्राभव विलास से प्रकटित द्वितीय चतुर्व्यूह (वैकुण्ठ में नित्य अवस्थान) वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध—यह चार (ख) इन प्रत्येक की तीन-तीन मूर्त्ति के हिसाब से १२ मूर्त्ति, बारह महीने के बारह तिलक के देवता (ग) प्रत्येक के पुरुषोत्तम अच्युतादि के हिसाब से ८ विलास-मूर्त्ति पुरुषोत्तम, अच्युत, नृसिंह, जनार्दन, हरि, कृष्ण, अधोक्षज और उपेन्द्र।

(ख) स्वांश—उनके षड्विध रूप, जैसे—

१—पुरुषावतार—ये तीन हैं, जैसे—(क) कारणोदकशायी प्रथम पुरुषावतार; (ख) गर्भोदकशायी द्वितीय पुरुषावतार; (ग) क्षीरोदकशायी तृतीय पुरुषावतार हैं।

२—गुणावतार—ये तीन हैं, जैसे—(क) विष्णु, (ख) ब्रह्मा, (ग) शिव।

३—लीलावतार—ये २५ हैं, जैसे—(क) मत्स्य, (ख) कूर्म, (ग) वराह, (घ) राम, (ङ) नृसिंह, (च) वामन, (छ) पृथु, (ज) परशुराम, (झ) व्यास, (ञ) नारद, (ट) चतुःसन, (ठ) यज्ञ, (ड) नर-नारायण, (ढ) कपिल, (ण) दत्तात्रेय, (त) हयग्रीव, (थ) हंस, (द) पृश्निगर्भ, (ध) ऋषभ, (न) धन्वन्तरि, (प) मोहिनी, (फ) बलभद्र, (ब) कृष्ण, (भ) बुद्ध और (म) कल्कि।

४—युगावतार—ये चार हैं, जैसे—(क) शुक्ल (हरि), (ख) रक्त (हयग्रीव), (ग) कृष्ण (श्याम) और (घ) पीत वर्ण (कृष्ण)।

५—मन्वन्तरावतार—ये १४ हैं, जैसे—(क) यज्ञ, (ख) विभु, (ग) सत्यसेन, (घ) हरि, (ङ) वैकुण्ठ, (च) अजित, (छ) वामन, (ज) सार्वभौम, (झ) ऋषभ, (ञ) विष्वक्सेन, (ट) धर्मसेतु, (ठ) सुदामा, (ड) योगेश्वर और (ढ) बृहद्भानु।

६—शक्त्यावेशावतार—ये ८ हैं, जैसे—(क) चतुःसन, (ख) नारद, (ग) ब्रह्मा, (घ) पृथु, (ङ) शेष, (च) अनन्त, (छ) परशुराम, (ज) व्यास।

क—(१) आवेश—जैसे, कपिल और ऋषभदेव।

ख—शक्त्यावेश यथा—नारद, व्यास, पृथु, ब्रह्मा, और सनकादि।

अब प्रत्येक का स्वरूप और संज्ञा कही जाती है।

स्वयंरूप—"अनन्यापेक्षि यद्रूपं स्वयं रूपः स उच्यते।" जो भगवत्ता को लेकर दूसरे के भगवत्ता हैं, जिनका सर्वश्रेष्ठ ऐश्वर्य और माधुर्य दूसरे के ऐश्वर्य और माधुर्य की अपेक्षा नहीं करता, जो स्वयं भगवान् हैं, वे श्रीकृष्ण ही 'स्वयं रूप' पर तत्त्व हैं।

तदेकात्मरूप—जो रूप स्वयं रूप से भिन्न नहीं है, जिन्हें स्वयं रूप को ही कायव्यूह कहा जा सकता है, फिर भी जिनमें आकारादि का कुछ भेद है, ऐसे रूप को तदेकात्मरूप कहते हैं।

आवेश—जिनमें केवल एक ही शक्ति का सञ्चार होता है, उसे ही आवेश कहते हैं। जैसे—नारद में 'भक्ति'-शक्ति, पृथु में 'पालन'-शक्ति, चतुःसन में 'ज्ञान'-शक्ति इत्यादि। महत्तम जीव में ऐसा ही होता है। भगवत् से आविष्ट जीवों में अपने से श्रीभगवान्

होने का अभिमान होता है। कपिलदेव और ऋषभदेव अपने को भगवान् समझ अभिमान करते थे; भगवत्-शक्त्याविष्ट जीवों को अपने को भगवत्-दास समझने का अभिमान होता है। ब्रह्मा, नारद और व्यास अपने को भगवत्-दास समझने का अभिमान करते थे।

प्रकाश—एक ही स्वयं रूप यदि लगातार अनेक स्थानों में प्रकट हों और वे प्रकटित मूर्तियाँ यदि गुण-लीलादि द्वारा सब प्रकार से मूलरूप के ही समान हों, तो उन सब मूर्तियों के मूल रूप को प्रकाश-मूर्ति कहते हैं। "एक ही मूर्ति यदि होय बहुरूप। आकार में भेद नहीं, एक ही स्वरूप॥ महिषी विवाह जैसे, जैसे कीन्हीं रास। इसे ही कहते कृष्ण-मुख्य-प्रकाश॥" चै० च० आदि १म। अनेकत्र प्रकटता रूपस्यैकस्य यैकदा। सर्वथा तत् स्वरूपैव स प्रकाश इतीर्यते॥" (लघुभागवतामृत)

विलास—जो प्रायः मूलरूप के समान शक्तिधर है, किन्तु आकृति में वर्ण में और नाम में भेदमात्र है, उन्हें विलास कहते हैं; जैसे—ब्रज में श्रीबलराम और वैकुण्ठ में श्रीनारायण। "एक ही विग्रह यदि आकार में हो आन। अनेक प्रकाश होय, विलास उसका नाम॥" (चै० च० आदि १ म) "स्वरूपमन्याकारं यत्तस्य भाति विलासतः। प्रायेणात्मसमं शक्त्या स विलासो निगद्यते॥" (लघुभागवतामृत)

स्वांश - जो विलास से कम शक्तिधारी हैं, उन्हें 'स्वांश' कहते हैं, जैसे मत्स्य कूर्मादि अवतार-समूह।

प्राभव और वैभव—प्राभव में प्रभुत्व और वैभव में विभुत्व वर्त्तमान है। स्वयंरूप श्रीकृष्ण की प्राभव-प्रकाश मूर्त्तियाँ स्वयंरूप श्रीकृष्ण ही हैं। उनके नाम, रूप, गुण और लीला श्रीकृष्ण से किसी अंश में भिन्न नहीं, किन्तु जो श्रीकृष्ण के वैभव-प्रकाश व्रज में श्रीबलराम हैं, वे ही मूल सङ्कर्षण हैं। वे नाम, आकृति और वर्ण में भिन्न होने पर भी श्रीकृष्ण से अभेद-वस्तु हैं। उनसे ही आदि चतुर्व्यूह वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—ये चार प्राभव-विलास भाव के भेद से द्वारका और मथुरा में द्विभुज मूर्त्ति तथा वैकुण्ठ में चतुर्भुज श्रीनारायण के रूप में प्रकट हुए हैं। विशेष-विशेष प्रयोजन के साधन के लिये विशेष-विशेष प्रकाश-मूर्त्ति के नाम सुनाई देते हैं और उन सब प्रकाश-मूर्तियों में आकार गत भेद भी दिखाई देते हैं, जैसे—देवकी-नन्दन की चतुर्भुज मूर्त्ति। यहाँ आकारगत भेद होने पर भी श्रीकृष्ण का प्रकाश-तत्त्व ही माना जाता है। देवकी-नन्दन की द्विभुज मूर्ति को भी ऐसा ही समझना चाहिये।

त्रिविध पुरुषावतार

अवतार किसे कहते और उद्देश्य क्या है?

जीव के सांसारिक उपकार के लिये श्रीभगवान् के स्वरूप-वैभवों का माया-वैभव में प्रकट होने का नाम ही अवतार है। इसके द्वारा संसार में सिद्ध और साधक का सम्मेलन पूरा होता है और यह सम्मेलन ही साधकों के सिद्धि पाने का एकमात्र उपाय है। अवतार प्रधानतः तीन प्रकार के हैं,—पुरुषावतार, गुणावतार और लीलावतार। इनमें पुरुषावतार तीन हैं, जैसे—

(१) कारण-रूपिणी प्रकृति के अन्तर्यामी और महत्तत्त्व के स्रष्टा कारण-सागर-शायी महाविष्णु ही प्रथम पुरुषावतार हैं। ये वैकुण्ठनाथ वासुदेव के द्वितीय व्यूह महासङ्कर्षण के अंश हैं। "यः कारणार्णव-जले भजतिस्म योगनिद्रामनन्त जगदण्ड सरोमकूपः। आधार शक्तिमवलम्ब्य परां स्वमूर्त्तिं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥" (श्रीब्रह्म-संहिता) अर्थात् श्रीब्रह्माजी कहते हैं—आधार-शक्तिमयी शेष की श्रेष्ठ स्वमूर्त्ति का अवलम्बन कर जो अपने रोम-कूप में अनन्त ब्रह्माण्ड के साथ कारणार्णव में लेट योगनिद्रा का सम्भोग करते हैं, उन्हीं आदि पुरुष गोविन्द को मैं भजता हूँ। महाविष्णु की शय्या के अनन्त होने का मतलब यह है कि महाविष्णु जिस अनन्त-शय्या पर लेटते हैं, वे अनन्तदेव कृष्ण के दास-तत्त्वरूपी 'शेष' नामक अवतार-विशेष हैं। ये चित् शक्ति द्वारा वैकुण्ठ-गोलोक आदि अपने वैभव के प्रकट करनेवाले और माया-शक्ति द्वारा चतुर्दश-भुवनात्मक देवी-धाम की सृष्टि करनेवाले हैं।

(२) सूक्ष्म समष्टि विराट् के अन्तर्यामी ब्रह्मा को सृष्ट करनेवाले गर्भोदकशायी महाविष्णु ही द्वितीय पुरुषावतार हैं। ये वैकुण्ठनाथ नारायण के तृतीय व्यूह प्रद्युम्न के अंश हैं। "यस्यैकनिःश्वसित-कालमथावलम्ब्य जीवन्ति रोमविलजा जगदण्डनाथाः। विष्णुर्महान् सइह यस्य कलाविशेषो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥" (श्रीब्रह्मसंहिता) अर्थात् कारणार्णवशायी महाविष्णु की एक साँस में जितना समय लगता है, उतने समय तक उनके रोमकूप से उत्पन्न ब्रह्माण्ड-पति समष्टि-विष्णुगण प्रकट रहते हैं। वह महाविष्णु (कारणार्णवशायी) जिनकी कला अर्थात् अंश के अंश हैं, उन आदि पुरुष गोविन्द को मैं भजता हूँ।"

(३) स्थूल और व्यष्टि विराट् के अर्थात् प्रत्येक जीव के अन्तर्यामी क्षीरोदशायी परमात्मा ही तृतीय पुरुषावतार हैं। ये श्रीवैकुण्ठनाथ वासुदेव के चतुर्थ व्यूह अनिरुद्ध के अंश हैं। "दीपार्चिरेव हि दशान्तरमभ्युपेत्य दीपायते विवृतहेतुसमानधर्मा। यस्तादृगेव हि चरिष्णुतया विभाति गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥" (श्रीब्रह्मसंहिता) अर्थात् "जैसे एक प्रदीप की ज्योति दूसरी बत्ती के अन्तर्गत होने की वजह समान धर्म के साथ पृथक् जलती है, वैसे ही चरिष्णु-भाव से जो प्रकाश पाते हैं, उन आदि पुरुष गोविन्द को मैं भजता हूँ।" इसका मतलब यह, कि महासङ्कर्षण का कारणार्णवशायी महाविष्णु के रूप में आविर्भाव, महाविष्णु कारणार्णवशायी के गर्भोदकशायी के रूप में और क्षीरोदकशायी के रूप में आविर्भाव ही चरिष्णु-धर्म का उदाहरण है। सुतरां विष्णु ही ईश्वर और दोनों गुणावतार (ब्रह्मा-शिव) और समस्त देवगण उनके अधीन आधिकारिक-तत्त्व मात्र हैं। महादीप श्रीगोविन्द की विलास-मूर्त्ति से कारणोदशायी, गर्भोदशायी और क्षीरोदशायी पुरुषावतार गण तथा राम-नृसिंहादि स्वांश अवतार पृथक्-पृथक् उत्पन्न हो पृथक्-पृथक् प्रदीप की तरह गोविन्द के साथ समान-धर्मविशिष्ट हैं। वस्तु धर्म की वजह श्रीगोविन्द के साथ अभिन्न होने पर भी इनमें लीलागत पार्थक्य है।

(क्रमशः)

भागवत के ग्राहकों से हमारी प्रार्थना

भागवत के ग्राहकों को यह भली प्रकार ज्ञात होगा कि 'भागवत' एक मात्र पारमार्थिक पत्र है, धर्म्म के नाम से अत्याचार करने वाले और शास्त्रों की उलटी सीधी व्याख्या करके लोगों को कुमार्ग पर ले जाने वाले साधु वेषधारी दुष्ट पाखंडियों से लोगों की रक्षाकर देश में शुद्ध भक्ति का प्रचार करना ही इसका परम उद्देश्य है। ग्राहकों के सुभीते के लिये मूल्य इतना कम रक्खा गया है कि प्रथम वर्ष में कुल मिलाकर १०००) का टोटा हुआ। यदि प्रति वर्ष इसी तरह नुकसान होता रहा तो पत्र निकालने में बहुत असुविधा होगी। इसलिये प्रत्येक भागवत-प्रेमी का कर्त्तव्य है कि यथा शक्ति 'भागवत' की ग्राहक संख्या बढ़ाने में योगदान करें।

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काँजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्द्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जाननगर, बर्द्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीनदाई गौरांग मठ
बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० १ रामापुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ ए०, साउथ मलाका, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० १३ हनुमान रोड, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्द्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
ढुमुरकंदा चीरकंडा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० बासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

(३१) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ
कव्वूर, ईस्ट गोदावरी, मद्रास

Registered No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)
२—श्रीशिक्षादशकमूलम्—सटीक ।)
३—श्रीमध्वग्रन्थसारांशवर्णनम् =)
४—श्रीसिद्धान्तसरस्वतीदिग्विजयः ॥)
५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचयः -)
६—श्रीतत्त्वसूत्रम् ।

संस्कृत बँगला अक्षरों में

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)
२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत-भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)
३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत खंडों में प्रकाशित प्रति खंड १)
५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द २)
६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्रीरूपगोस्वामी प्रभु-कृत उपदेशामृतसहित ।=)
७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बँगला अनुवाद सहित ॥)
८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द गोस्वामि-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित १)
९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
१०—सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगलाअनुवाद सहित -)
११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी-कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक १८)
एकादश स्कंध से प्रति खंड ।≤)
१२—भक्तिमल्लिका गुणसौरभ वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

बंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित =)
१४—नवद्वीपशतक बँगला अनुवाद -)
१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत =)
१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती-कृत =)
१७—नवद्वीपभावतरंग ।)
१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)
१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद-कृत २)
२०—मणिमंजरी ।)
२१—शरणागति -)
२२—कल्याणकल्पतरु -)॥
२३—गीतावली -)
२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ।॥)
२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)
२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत ॥=)
२७—जैव धर्म २)
२८—साधककंठमाला ।)
२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद्भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ५)
३०—महाप्रभुशिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ।॥)
३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ६)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof. Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow.

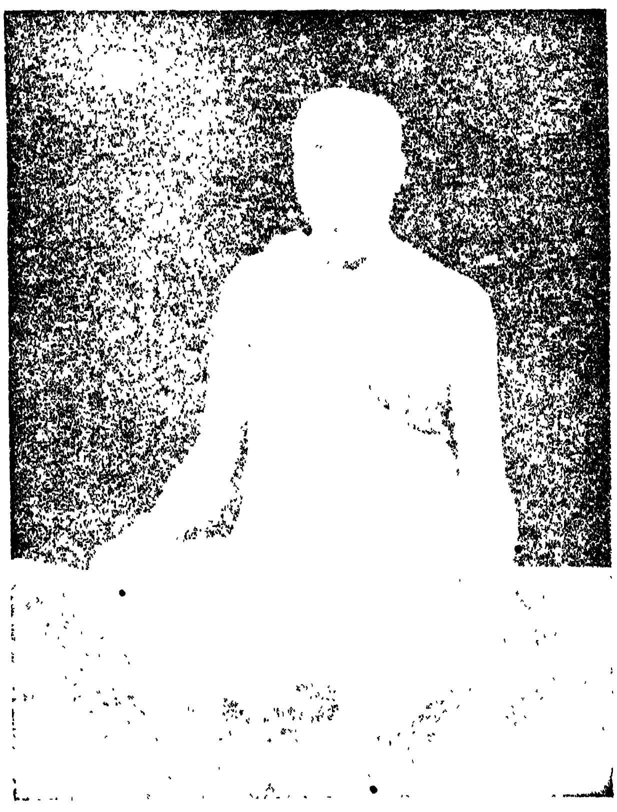
भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

13th Novem. 1932

दामोदर
गौरपक्ष
गौराब्द
४४६

कार्त्तिक
पूर्णिमा
संवत्
१९८९



ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीमद्भक्तिसिद्धान्तसरस्वती
गोस्वामी महाराज

प्रति संख्या -) } सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन { वार्षिक मूल्य १॥)

El... Tartan... Heuby Ro...

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म सम्बन्धी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन छपाई की दर नीचे लिखी है:—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम			८)
आधा	,, १	,,	५)
चौथाई	,, ३	,,	३)
२ इंच	,, १/४	,,	१॥।)
१ ,,	,, ८	,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये—

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

सेठरामयश रोड, नरही, लखनऊ.

All communications are to be addressed to—

The Manager 'Bhagwat'
Seth Ramjas Road,
Narhe,
LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

वर्ष २ | श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य
कार्त्तिक पूर्णिमा गौराब्द ४४६, सं० १९९६ वि०, २६ नवम्बर सन् १९३९ ई० | संख्या २

आत्म-निवेदन

(२)

केशव, तव जगत विचित्र।
करम-विपाक से, भव वन भ्रमं के,
देखे बहु रँग चित्र॥
तव पद भूलना, अहो, बड़ी यन्त्रणा,
क्लेश के ज्वाल से जला जाऊँ।
कपिल औ पतञ्जली, गौतम कण-भोजी,
जैमिनि बौद्ध बहक धाऊँ॥
तब कोई अपने मत, भुक्ति मुक्ति को याचत,
रचे-तरह तरह के फाँद।
ये सभी हैं वञ्चक, तव भक्ति बहिर्मुख,
उन्हें हो विषम परमाद॥
वैमुख-वञ्चन से, मिलना है सबै,
निरमिल विविध प्रकार।
दण्डवत दूर से ही, भक्ति विनोद करें,
भक्त चरण करि सार॥

सामयिक प्रसंग

हमारे देहरूपी घर में एक प्रजा का निवास है। उसका नाम जीव है। वह जब तक इस घर में रहता है, तब तक घर के खिड़की-दरवाजे (कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय) आदि को यथा-रीति खोलता और बन्द करता है। और प्रयोजनानुसार उन सबको व्यवहार में लाता है; किन्तु वह किसी से यह इकरार नहीं करता, कि वह कब तक इस घर में निवास करेगा। वह जाने के समय किसी से कह के भी नहीं जाता और खिड़की दरवाजे अच्छी तरह बन्द करके भी नहीं जाता।

इसके घर छोड़ने का कोई समय ही नहीं—कोई तिथि-नक्षत्र भी नहीं—समय-असमय भी नहीं—महीने की परीवा, ग्रह-स्पर्श, मघा आदि का विचार नहीं—घर-घाट या स्थान-अस्थान भी नहीं। जिस घर में कितने यत्न से निवास किया है, उस घर के लिये ज़रा भी चिन्ता नहीं करता, कि उसके छोड़ जाने पर घर की क्या दशा होगी। या जाने के समय उसकी कोई व्यवस्था भी नहीं करता। कैसी विचित्र प्रजा है!

राह के किनारे, होटल या शर्बत की दूकान पर लोग कब तक रहते हैं? तभी तक, जब तक पेट नहीं भर जाता या प्यास नहीं बुझ जाती। इसके बाद कोई वहाँ नहीं ठहरता। किन्तु जिस घर की बात कही गई है, उस घर में कुछ भोग के लिये अथवा विषय-तृष्णा के निवारण के लिये आकर, उस काम के हो जाने पर जब वह अन्यत्र चला जाता है, तब क्या वह कुछ भी शोक करता है? अथवा उस स्थान को त्यागने में उसे कुछ दुःख या आसक्ति होती है? अथवा क्या और भी कोई उसके लिए शोक प्रकाश करते हैं? यदि ऐसा नहीं होता तब जब जीव इस देहरूपी घर को छोड़ चला जाता है, तब दूसरे लोग शोक क्यों करते हैं? अथवा हम लोग ही इस घर के छोड़ने के भय से व्याकुल क्यों होते हैं? क्या कोई इस पर कुछ विचार करते हैं?

मरा शरीर जिस समय हमारे सामने पड़ा रहता है, उस समय हम लोग रोते हैं। क्यों रोते हैं? शोक होने की वजह से। अच्छा, शरीर मरने पर जिस प्रकार पड़ा रहता है, उसी प्रकार नित्य ही नींद के समय में भी तो पड़ा ही रहता है; उस समय हम लोग क्यों नहीं रोते या शोक से अधीर क्यों नहीं होते? क्यों कि हम जानते हैं कि नींद से वह फिर जागेगा और फिर हमारे साथ बातें करेगा—फिर हमारा चित्त विनोद करेगा—इन्द्रिय-तृप्ति का विधान करेगा। किन्तु मरा हुआ शरीर फिर न जागेगा और इन्द्रिय तर्पण भी न करेगा। सुतरां देह के द्वारा इन्द्रिय-तर्पण या सुख भोग की सुविधा न होने की वजह ही हम रोते हैं।

क्या किसी ने कभी देखा है कि इस शरीर में कौन है, जिसके रहने के कारण शरीर इस प्रकार चलता-फिरता, हमसे बातें करता, हमारे भाव के बदले में भाव प्रदान करता है? क्या कोई जानता है कि उस शरीर में कौन है, जो हमारी सब इन्द्रियों को धोखा देकर, सारी बुद्धि पर पानी फेरकर, सबके अनजान में ही चला जाता है? नहीं, हम लोगों ने उन्हें देखा भी नहीं और देखते भी नहीं। किन्तु क्या कभी देखने की चेष्टा भी की है? या उसके जानने की कभी इच्छा भी हुई है? कितने ही लोग यह जानने के लिये व्यस्त होते हैं कि आकाश में कितने तारे हैं, पानी में कितनी मछलियाँ हैं, एक रुपये के कितने पैसे हैं, पुर्त्तगाल के राजा की कितनी कन्यायें हैं, पहली कन्या के लड़के की कितनी उम्र है—इत्यादि बहुत कुछ जानते अथवा जानने के लिये मनुष्य-जीवन व्यतीत करते हैं; किन्तु असल बात जानने के लिये, कितने लोग इच्छा करते हैं?

आहार, निद्रा, इन्द्रिय सुख-भोग, भय इन चार व्यापारों में ही हम अधिक व्यस्त हैं। अच्छा, यह चारों व्यापार हम लोगों को ही व्यस्त करते अथवा पशु-पक्षियों को भी व्यस्त करते हैं? हम लोग अपने को सब प्राणियों में श्रेष्ठ समझते हैं, किन्तु यदि सब प्राणियों में ही यह चारों काम समान रूप से ही हों, तब श्रेष्ठता कैसी? सब पशु-पक्षियों को हम लोग बुद्धिबल से अथवा शारीरिक बल से अपने कब्जे में लाने या उपभोग कर सकने की वजह ही क्या हम उनसे श्रेष्ठ हैं? मनुष्य ऐसा ही समझता है। किंवा कोई-कोई कहते हैं कि विद्या, बुद्धि और विवेक के लिये मनुष्य श्रेष्ठ है। अच्छा, यदि ऐसा ही है, तो इस विद्या, बुद्धि और विवेक की प्रधानता कहा है? एक के ऊपर अन्य का आधिपत्य विस्तार — एक के भोग के लिये अन्य की प्रबल आकांक्षा — एक के माथे बोझा लाद कर आप मजा लूटना ही क्या विवेक-बुद्धि की श्रेष्ठता है? क्या मनुष्य इसी के लिये श्रेष्ठ है?

मनुष्य-शरीर अन्यान्य सब शरीरों से इस प्रकार बना है, उनकी इन्द्रियाँ इस प्रकार सन्निवेशित हैं कि जीवात्मा उस शरीर में प्रवेश कर आत्म-परिचय प्राप्त करने में समर्थ होता है और उससे तथा पराये शरीर से उसका क्या सम्बन्ध है — उसका नित्य-निवास कहाँ है — कौन उसका नित्य पिता, कौन नित्य बान्धव और कौन आत्मीय-स्वजन है, उसका नित्य-स्वभाव, नित्य धर्म और नित्य-कर्त्तव्य क्या है, इसे आत्मा इस शरीर को प्राप्त होने पर ही समझ सकता है। परम अर्थ या धन लाभ कर सकने की वजह ही मनुष्य-जन्म या शरीर को श्रेष्ठ कहा जाता है। क्या हम कभी इन बातों पर विचार करते हैं?

दिन पर दिन बीतते चले जा रहे हैं। हम लोग सदा रंग-रस में मतवाले हो रहे हैं। स्त्री-पुत्र पालने के लिये जी-जान से परिश्रम करते हैं — और इसमें ही अपनी कितनी बहादुरी समझते हैं। किन्तु हम पूछते हैं कि यह सब कब तक? एक न एक दिन तो अकस्मात् यह सब दौड़-धूप समाप्त हो जायगी। एक न एक दिन तो यह सब बड़े शौक की चीज़ों को अचानक बिना नोटिस के छोड़ जाना पड़ेगा। हाय-हाय! क्या हम लोग अपने श्रेष्ठ जन्म के श्रेष्ठत्व को समझ न सकेंगे? हाय-हाय! क्या इसी तरह पशु पक्षियों की भाँति दिन बिताते चले जायँगे? हमारी श्रेष्ठता को धिक्कार है! हमारी बहादुरी को धिक्कार है! और हमारी चेष्टा को भी धिक्कार है!

कलि-सहचर

वर्तमान युग कलि है। द्वापर के अन्त में अघ, बक, पूतना आदि, जिन्होंने श्रीकृष्ण भगवान् से प्रकाशित भाव से शत्रुता की थी, सभी कृष्ण-द्वारा मारे गये थे। द्वापर के उपरान्त वर्तमान काल में फिर कलि का प्रकोप बढ़ने से अघ बक, कंस आदि के वंश के लोग अपनी राजसी प्रवृत्ति का प्रकाश करने के लिये हा! हा! कर रहे हैं।

श्री राधाकुंड के किसी पंडित के मुख से सुना गया है कि चरितामृत के लेखक ने विष्णु-वैष्णव-विद्वेषी पश्चिमी भारत के लोगों को विचारहीन और भक्ति रहित कहा है, परंतु गौड़ीय आचार्य श्री-रूप, सनातन प्रभु ने मथुरा मंडल में भक्ति-सदाचार का प्रचार किया था। श्रीरूप और सनातन प्रभु ने श्रीकृष्ण-चैतन्य देव की आज्ञानुसार व्रज में वास कर अपने चारों साथियों को आदर्श आचार्य का धर्म अर्थात् श्रीराधागोविंद के भजन की शिक्षा दी थी, उस समय से श्रीव्रजमंडल के किसी किसी स्थानों में गौड़ीय वैष्णवों की भजन-प्रणाली अब तक बिल-

कुल विलुप्त नहीं हुई है। गोविंदकुण्ड के मनोहरदास बाबा जी के बहुतेरे शिष्य ब्रजमंडल के नाना स्थानों में गौड़ीय वैष्णव धारा के आदर्श स्वरूप में अब भी वास करते हैं, और राजपूताने के उत्तर क्षेत्र के निवासी रामकृष्णदास बाबा जी ने वृंदावन के राधारमण घेरे में गौड़ीय-शास्त्रों की शिक्षा लेकर गौड़ीय धर्म को संपूर्णतया नष्ट होने से बचा लिया है। परन्तु गौड़ीय आचार्यों की गूढ़ रहस्यमयी कथा का प्रचार अथवा यथोचित कीर्तन करने में वह उत्साहहीन हैं, यह भी बिलकुल सत्य है। मनोहरदास बाबा जी के वैरागी होने से और उनके अनेकों शिष्यों के वैष्णव-विरोधी स्मृति रघुनन्दन की विचार प्रणाली ग्रहण करने के कारण वैष्णव-स्मृति का यथोचित आदर न हो सका। राजपूताना-वासी रामकृष्णदास बाबा जी भी साधारण हिन्दुओं की स्मृति अवलम्बन करने के कारण गौड़ीय वैष्णवों के विशुद्ध प्रचार में पूरा-पूरा उत्साह न दे सके। गौड़ देश में जो व्यक्ति गृहस्थ होकर आचार्य का काम करते हैं, वह भी व्यापारादि कार्यों में फँसे रहने से सांसारिक चेष्टा के वश होकर श्रीरघुनन्दन की स्मृति का पालन करते हैं, और वर्तमान युक्त-प्रदेशी ब्रजवासियों के संसर्ग में रह कर भी मथुरा आदि स्थानों में प्रचलित कमलाकर के निर्णयसिन्धु को ही अधिक मानते हैं। सुतरां स्वाभाविक सभी स्थानों में गौड़ीयगण की विशुद्ध वैष्णव-स्मृति के प्रचार तथा शास्त्रों की यथायोग्य व्याख्या में बाधा पड़ी है।

श्रीचैतन्य मठ के प्रचारक कलकत्ते में गौड़ीय-मठ स्थापित कर गौड़ीय वैष्णव स्मृति का आदर कराने के लिये बंग-देश में बंग भाषा द्वारा पाठकों को उत्साहित कर रहे हैं। बंग देश में श्रीरघुनन्दन की विचार-प्रणाली का अवलम्बन कर शाक्त मतवादी लोग जिस प्रकार पंचउपासकों की सामाजिक विचार-व्यवस्था का पालन करते हैं, उसी प्रकार गौड़ देश के अनभिज्ञ गृहस्थ भी उन्हीं बातों का अनुमोदन करते हैं, उनके नाना प्रकार के विषय-सम्बंधी विचार श्रीरूप, सनातन, और गोपालभट्ट गोस्वामी के विचार से बहुत कुछ भिन्न हैं।

जो वैष्णव-आचार्यों का काम करते हैं, वे भय-शून्य होकर सत्य का प्रचार करने के बदले में स्मार्तों का पदानुसरण कर, उनकी हाँ में हाँ मिला कर वैष्णवाभिमान को चूर करते हैं। यह चापलूसों का दल ब्रजमण्डल में आवागमन करने पर भी चौका प्रथा से उच्चतर वैष्णव-व्यवस्था का प्रचार करने में समर्थ नहीं है। कुछ बंग देशी आचार्यों ने कुछ दिन पहले श्रीराधारमण घेरे के श्रीगोपीनाथ शाखा के पंडितों से शास्त्र अध्ययन किया था, परंतु उनके श्रीचैतन्य-भागवत, श्रीचैतन्य चरितामृत, षट् संदर्भ तथा भक्तिरसामृतसिंधु के प्रचार में अलसता करने से ब्रज में श्रीमद्भागवत के प्रचार में बहुत रुकावट पड़ी है। उसका फल आज तक वृंदावन-वासी प्रत्येक व्यक्ति को भलीभाँति ज्ञात है। इसी प्रकार नवद्वीप के अंतर्गत कोलद्वीप (वर्तमान शहर नवद्वीप) में भी शाक्त-मतवाद के प्रभाव से गौड़ीय-वैष्णव-धर्मावलंबीगण के सुशिक्षा-ग्रहण की क्षीण धारा वास्तव सत्य के प्रचार में असमर्थ हुई है। कुलिया नवद्वीप शहर के भागवत व्यवसायीगण (धन-उपार्जन के लिये भागवत पाठ करने वाले पंडित) का श्रीमद्भागवत के एक भी यथार्थ उपदेश का प्रचार करना तो दूर रहा, वह उसे स्वयं स्वीकार करने को भी तैयार नहीं है। कोलद्वीप के वैष्णव विद्वेषी स्मार्त्त पंडितगण जो संस्कृत भाषा की आलोचना करते हैं, उनके समाज में महाप्रभु के अनुगत गोस्वामी गणों के रचित ग्रंथों का अध्ययन नहीं किया जाता।

श्रीधाम मायापुर योगपीठ की श्रीनवद्वीप धाम प्रचारिणी सभा गोस्वामी शास्त्रों के पठन पाठनादि की व्यवस्था को उत्साह प्रदान करने के लिये पिछले २७ वर्षों से प्रयत्न कर रही है, इस प्रयत्न के फल-स्वरूप में श्रीगौड़ीय वैष्णवों का शुद्ध विचार और शास्त्रमत का प्रचार करने के लिये बंग-भाषा में श्रीधाम मायापुर से दैनिक "नदीया-प्रकाश" और कलकत्ते के गौड़ीय मठ से साप्ताहिक "गौड़ीय" निकाले जा रहे हैं। अंग्रेज़ी भाषा में "Harmonist" नाम का मासिक पत्र अंग्रेज़ी-

भाषाभिज्ञ लोगों को गौड़ीय वैष्णवों की विशुद्ध विचार-प्रणाली का ज्ञान कराने के लिये छापा जाता है, हिंदी जानने वाले भगवत भक्तों को इस पत्रिका द्वारा वही सुयोग देने का यत्न किया जाता है। आसाम देश में "कीर्त्तन" नामक मासिक-पत्र और उड़ीसा में शुद्ध भक्ति-धर्म्म का पाक्षिक "परमार्थी" प्रकाशित किये जाते हैं। कुछ विद्वान गृहस्थ तथा विरक्त गोस्वामीगण अंग्रेज़ी, हिन्दी, बँगला, आसामी और उड़िया भाषाओं में व्याख्यान देकर शुद्ध भक्ति का प्रचार करते हैं। भक्तिरसामृत सिन्धु का व्रजमंडल में प्रचार न होने के कारण व्रज के गौड़ीय वैष्णव लोग श्रीमन्महाप्रभु की शिक्षा कुछ भी नहीं समझते, प्रतिष्ठान के विरक्त वैष्णव श्रीरामकृष्णदास बाबाजी ने हिन्दी भाषाभिज्ञ होते हुए भी कई संस्कृत ग्रंथों की आलोचना की है। किन्तु उन्होंने श्रीचैतन्यचरितामृत के रहस्य का कुछ भी उद्घाटन नहीं किया और न करने की चेष्टा करते हैं। इस लिये व्रजवासियों में गौड़ीय-वैष्णव की भजन प्रणाली का प्रचार न होने के कारण कमलाकर के निर्णयसिन्धु ग्रंथ का खूब आदर हुआ और साथ ही साथ परमार्थ-धर्म्म पालन में बड़ी अड़चन पड़ी।

श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रचारित धर्म्म और श्रीरूप सनातन के भक्ति-सदाचार-धर्म्म का मथुरामंडल में अच्छी तरह प्रचार होने की बड़ी आवश्यकता है, क्योंकि वर्तमान काल में मथुरामंडल में ऐसे व्यक्तियों की संख्या अधिक बढ़ रही है, जो अपने को कृष्ण-उपासक कहकर पुकारते हैं। परन्तु कृष्ण-उपासना के यथार्थ स्वरूप से बिलकुल अनभिज्ञ हैं. हरिवंशी, केशव काश्मीरी, वल्लभी सम्प्रदाय और गौड़ीय वैष्णवों के तीन सर्वप्रधान देवालय, तथा वृन्दावन के सब देवालयों में कृष्ण-उपासना की चेष्टा देखकर गौड़ीय वैष्णवों को आनन्द अवश्य होता है किन्तु उनकी विशेष आकांक्षा है, कि विशुद्ध गौड़ीय-वैष्णव-धर्म्म में किसी प्रकार की सांसारिक मलिनता का लेश न लगने पावे।

भक्ति सदाचार और अभक्त स्मार्तों का सदाचार एकसा नहीं है, भक्तिहीन स्मार्तों में जो भक्ति-विरोधी अनाचार प्रचलित है, श्रीमन्महाप्रभु की आज्ञा से श्रीरूप-सनातन ने उसका भली प्रकार परिशोधन किया था, किन्तु शुद्ध भक्ति-सदाचार का कहीं कहीं निर्जन भाव से अशुद्ध तथा क्षीण रूप में पालन होते हुए भी सर्व साधारण जन उससे बिलकुल अनभिज्ञ हैं अथवा उसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना उनके लिये बहुत कठिन है, भक्ति-हीन देश में भक्ति सदाचार के महान प्रवर्तक और वैष्णव-स्मृति के प्रचारक श्रीसनातन गोस्वामी, तथा श्रीरंग प्रवासी श्रीब्रह्म-विप्र-कुल-तिलक वेंकट भट्ट के पुत्र श्रीगोपाल भट्ट के द्वारा संकलित स्मृति का अपव्यवहार और अनादर देखकर गौड़ीय गण के हृदय को दुःख प्राप्त होता है।

व्रजमण्डल के प्रत्येक गाँव में जिन व्रजवासियों से गौड़ीय परिक्रमा के यात्रियों की भेंट होती है, उनकी सरलता देख कर यात्रियों का हृदय ऊँचे स्वर से उनकी प्रशंसा का गान करने को उत्साहित होता है, किन्तु दुःख की बात है कि कुछ दुष्ट, मिथ्यावादी, दुराचारी और लंपट व्यक्ति व्रजवासियों की सरलता का सुयोग पा कर उन्हें [illegible] करने की चेष्टा करते हैं, इन पाखंडियों को जब तक गवर्नमेंट से उचित दण्ड न मिलेगा, गौड़ीय वैष्णव-धर्म्म के ठीक ठीक प्रचार करने में बहुत बाधा पड़ेगी। युक्त-प्रदेश, पंजाब इत्यादि उत्तर-पश्चिमी प्रांतों में कर्मकांडी, ज्ञानकांडी और अन्याभिलाषियों का आदर होने से भक्ति-सदाचार को समझने की एक तो वैसे ही लोगों में बुद्धि बहुत कम है, तिस पर भी यदि विष्णु-वैष्णव विरोधी पाखण्डी लोगों द्वारा शुद्ध भक्तों के प्रति अत्याचार किया जाय, तो प्रत्येक वैष्णव-सेवक का उनकी रक्षा करना विशेष कर्तव्य है। निज स्वार्थ के हेतु षड्यन्त्र रचने वाले लोग दूसरों के अधिकार में अविधिपूर्वक हस्तक्षेप करके भोले भाले व्रजवासियों को कुपथ पर लाने के लिये परमार्थ से वंचित करके किस प्रकार निर्दयता का व्यवहार कर रहे हैं, इस बात की विवेचना करना जगत् के बुद्धिमान जन और शिक्षित, भारतवासी हिन्दुओं के लिये परम आवश्यक हो गया है, अवैष्णव हिन्दुओं की दासता

स्वीकार करके सरल हृदयवाले वैष्णवों के प्रति अत्याचार व अन्याय करना केवल उनकी दुराचारी वृत्ति का ही परिचय देता है।

सुनाई पड़ता है कि श्रीनवद्वीप-मायापुरधाम-विरोधी कुछ दुष्ट लोगों ने स्वास्थ्य-संरक्षण की छलना से सीधे सादे राधाकुण्डवासियों के ऊपर अत्याचार किया है, इस विषय की ओर यदि संयुक्त प्रदेश के स्वायत्त-शासन-विभाग के अफसर ध्यान दें तो उन्हें ज्ञात पड़ेगा, कि इन दुष्टों के दुराचार से देशवासियों में कैसी अस्थिरता फैल गई है।

परमार्थ और सांसारिक स्वार्थ समान नहीं हैं। परमार्थ में बाधा डालने वाली सांसारिक स्वार्थ की कपटता जगत के लोगों को तरह तरह के कुमार्गों पर ले जाती है। दुराचारी लोग सरल-हृदय वाले व्रजवासियों से कपटतापूर्ण वाक्यों में कहते हैं, कि गौड़ीय वैष्णव-धर्म वर्णाश्रम व सामाजिक छूताछूत को ध्वंस करता है। इसलिये सनातन धर्म का विरोधी है। राजनैतिक विचार-परायण कुछ भारतवासी जिस तरह आज कल स्पर्श-दोष हटाकर सब जातियों को एक करने की चेष्टा में लगे हुए हैं, गौड़ीय वैष्णव भी श्रीरूप सनातन का अनुगमन करके उसी प्रकार के विचारों में स्थित हैं। इस लिये गौड़ीय वैष्णव धर्म को व्रजमण्डल से निकाल देना आवश्यक है। इसी उद्देश्य से जो दुराचारी लोग व्रजवासियों को कुमार्ग पर ले जाते हैं उन्हें जब तक गवर्नमेन्ट द्वारा कठिन दण्ड न दिया जायगा, इस कुकार्य में इनका उत्साह नित्य प्रति बढ़ता ही जायगा। कुछ दिन पहिले गौड़ देश से जो लोग वन भ्रमण करने आते थे, दुराचारी मनुष्य उनका द्रव्यादि अपहरण कर लेते थे, और उन्हें मार डालते या घायल कर छोड़ देते थे, जिन्होंने सं० १८८० के अमृत बाज़ार पत्रिका में परलोकगत शिशिरकुमार घोष महाशय के व्रजमण्डल संबंधी लेख पढ़े हैं, वह इस बात की साक्षी दे सकेंगे. उसी समय से यह धारणा बंग-देश में वर्षा की तरह भय का संचार कर रही है, बहुत से शुद्ध वैष्णव तथा बंग-देश के गौड़ीय भक्तगण वन-भ्रमण की आशा परित्याग कर अब तक उससे विरत थे, किंतु इतने दिनों के बाद गौड़ीय मठ के यत्न से इस बार द्वादश-वन-यात्रा उनके लिये सुलभ और सुखसाध्य हुई है। विशेषतः श्रीगौरसुन्दर श्रीनवद्वीप मायापुर से आकर अपने प्रकृत भक्तों को साथ ले श्रीव्रज-मण्डल परिक्रमा किये थे, केवल परिक्रमा ही नहीं, साथ साथ अपने प्रतिपाल्य परिक्रमाकारी भक्तों को अपना प्रसाद वितरण कर उनका ऐहिक और पारमार्थिक सब प्रकार से मंगल किये थे; युक्तप्रदेशवासी बहुत से शिक्षित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि ऊँचे घरानों के लोग परिक्रमा के यात्रियों के लिये दुभाषी का कार्य कर और अन्य अन्य उपायों द्वारा सेवा करते थे।

जिस समय गौड़ीय वैष्णवों के कीर्तन की झंकार वन वन में गूंज उठती थी व्रजगोपबालक-गण उस समय जिस प्रकार परम उत्साह के साथ उनके साथ गमन करने लगते थे और सरल स्वभाववाले व्रजवासी गौड़देश से आये हुए उच्च श्रेणी के सम्मानित तथा सुशिक्षित पुरुष परम पंडितगण और विरक्त त्रिदंडी संन्यासियों के साथ जिस प्रकार साक्षात् व्रजभूमि में चेतनमयी वाणी की उपलब्धि कर मधुर आलाप करते थे, उससे गौड़ीय भक्तों को परम उत्साह प्रदान करते थे। साथ ही साथ दुष्टों के दुराचार का बोध कर और उनकी वैष्णव-निन्दा की नीच प्रवृत्ति देखकर उन्हें बहुत लानत देते थे।

कोई कोई कहते हैं कि वृंदावन के कुछ Wire pullers गौड़ीय गण के प्रचार में बाधा डालने के लिये तरह तरह की चालें चलते हैं, यदि यह सत्य है, तो उन लोगों को गवर्नमेन्ट से दंड मिलना ही उचित है, प्रत्येक शुद्ध गौर भक्त का कर्तव्य है, कि विशुद्ध गौड़ीय धर्म्म से गिरे हुए और गौड़ीय कहलाने की इच्छा रखनेवाले लोग अघ, बक, पूतना का अनुसरण कर श्रीकृष्ण चैतन्य और उनके भक्तों के विरुद्ध कोई यत्न न कर सकें।

श्रीपुण्डरीक विद्यानिधि

(लेखक—श्रीयुत राधाकृष्णलाल अलीगढ़)

आविर्भावभूमि या कुल का परिचय

पूर्व बंगाल के ढाका ज़िले के अन्तर्गत विक्रमपुर के पास 'वाधिया' नामक एक समृद्धिशाली ग्राम था। वह वर्तमान काल में पद्मा नदी के गर्भ में लीन है। उस ग्राम में गङ्गोपाध्याय-वंश विशेष रूप से प्रतिष्ठा-सम्पन्न था। वहाँ के पुराने रहनेवालों में प्राणकृष्ण गङ्गोपाध्याय के पुत्र शिवराम गङ्गोपाध्याय थे। शिवरामजी के तीसरे पुत्र वाणेश्वर गङ्गोपाध्याय थे। वाणेश्वरजी अपनी वंश-परम्परा से प्राप्त पञ्च 'म' कार का साधन करते थे। उनके गले में रुद्राक्ष की माला, पहिनाव लाल रंग के कपड़ों का, लम्बी डाढ़ी, मस्तक पर लम्बी जटा, हाथ में नरकपाल से निर्मित पान-पात्र देखकर लोग उनको 'ब्रह्मचारी' कहा करते थे। किन्तु 'ब्रह्मचारी' शब्द के यौगिकार्थ के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। उनकी धर्म-पत्नी 'गंगादेवी' उनके साथ भारतवर्ष के सब तीर्थों में पर्यटन करती थीं। वाणेश्वर गंगोपाध्याय "कौल" थे और तीर्थ-भ्रमण ही उनके जीवन का व्रत था। एक समय चन्द्रनाथ तीर्थ में पहुँचकर उनको मालूम हुआ कि समुद्र के तट पर 'आदिनाथ' नाम के एक 'अनादि-लिंग महादेव' हैं। "आदिनाथः सिन्धुतीरे" शैव शास्त्र के इस संवाद को सुनकर उस शिवलिंग के दर्शन करने के लिये कौलमतावलम्बी वाणेश्वरजी का चित्त व्याकुल हो उठा। किन्तु 'आदिनाथ' जाने के लिये यथावश्यक धन पास न होने के कारण वह किसी दानशील धनाढ्य व्यक्ति की तलाश करने लगे। तलाश करते करते उनको चन्द्रनाथ के पण्डों से मालूम हुआ कि चट्टग्राम के हाट हाज़ारी थाने के अन्तर्गत 'मेखला' ग्राम में राजाराम चौधरी नामक एक ज़मीदार हैं—वह तीर्थपर्यटकों को मुक्तहस्त से दान तथा उनका यथोचित सम्मान किया करते हैं।

राजाराम चौधरी

सुना है कि यह राजाराम चौधरी बँगला भाषा के) कविवर नवीन चन्द्र सेन महाशय के पूर्वपुरुष थे। पहिले त्रिपुरा ज़िला के अन्तर्गत 'वकासीहर' ग्राम में राजाराम चौधरी महाशय का पैत्रिक निवास था। वह किसी विशेष कारण से पूर्व पुरुषों के प्रतिष्ठित निवास-स्थान को छोड़ 'मेखला' ग्राम में आकर बसे। उन्हीं राजाराम चौधरी के घर पर वाणेश्वर गंगोपाध्याय सस्त्रीक पहुँचे।

राजाराम के कुल इतिहास का विवरण

यह भी कहा जाता है कि कवि नवीनचन्द्र सेन महाशय के पूर्व पुरुषों के कुल-इतिहास में वाणेश्वर गंगोपाध्याय के साथ राजाराम चौधरी का साक्षात्कार या पुण्डरीक विद्यानिधि के आविर्भाव के विषय में उल्लेख है। उक्त इतिहास की प्रामाणिकता या प्राचीनता कहाँ तक है, इस विषय में प्रश्न उठ सकता है। अस्तु, उसमें पद्य छन्द में जो कुछ वर्णित है, वह संक्षेपतः यह है कि राजाराम चौधरी निज देश त्रिपुरा से बहुक्लेश प्राप्त होकर चट्टग्राम में आये थे। बाद को 'मेखला' ग्राम में वास किया। उनके साथ और और जाति के लोग भी आये थे। उनकी ज़मींदारी दूर तक फैली हुई थी। उनके अनेक नौकर-चाकर तथा पहरेदार थे। वह 'राजाराम' (अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी) को अपना आदर्श मानकर शिष्टों का पालन और दुष्टों का शासन करते थे। उनके बड़े बड़े मकान और मकानों के सामने बड़े-बड़े तालाब थे। वह बहुत चिड़ियाँ पालते थे, बड़े दयावान् व धर्मावतार थे और ग़रीब दुखियों को मुक्त-हस्त से दान देते थे। एक

दिन उनका भाग्य विशेष रूप से सुसम्पन्न हो उठा। उनके घर पर अकस्मात् संन्यास वेश-धारी एक व्यक्ति उपस्थित हुए। उन्होंने उनको आदर पूर्वक कुशासन प्रदान किया और अति विनीत भाव से उनका परिचय पूछा। उस संन्यास वेशधारी व्यक्ति ने कहा कि "मैं जगह जगह पर्यटन करता फिरता हूँ। पहिले मैं विक्रमपुर-वाघिया ग्राम में रहता था। मैं 'वागेश्वर ब्रह्मचारी' के नाम से प्रसिद्ध हूँ। 'चन्द्रनाथ' के दर्शन के लिये मैं आया था। मेरे पुत्र या कन्या नहीं है, परन्तु मेरी पत्नी गंगादेवी सर्वदा ही भ्रमणों में मेरे साथ रहती हैं। मेरी 'आदिनाथ' जाने की इच्छा हुई है। किन्तु मेरे पास राह-खर्च कुछ भी नहीं है। इसीलिये मैं आपके पास कुछ अर्थ पाने की आशा से उपस्थित हुआ हूँ और बड़ा कष्ट उठाकर इस मेखला ग्राम में आया हूँ।"

राजाराम चौधरी ने वागेश्वर जी की बातें सुनकर सस्त्रीक उनको भोजनादि देकर तृप्त किया और 'आदिनाथ' जाने के लिये यथोचित अर्थ देकर कहा, कि 'आदिनाथ' से लौटते समय फिर 'मेखला' ग्राम में आइयेगा।" वागेश्वरजी कुछ दिनों बाद 'आदिनाथ' के दर्शन करके मेखला ग्राम में फिर आये। ज़मींदार राजाराम चौधरी के बर्ताव से विशेष मुग्ध होकर वागेश्वर ने अपना अवशिष्ट जीवन मेखला ग्राम में ही साधन-भजन करके व्यतीत करने की इच्छा प्रकट की। राजाराम ने भी विशेष सन्तुष्ट होकर वागेश्वर गंगोपाध्याय को अपने मकान के पास रहने को स्थान दिया और बहुत सी निष्कर भूमि देकर नाना प्रकार से उनकी सेवा करने लगे। कोई आशा न रह जाने पर भी वागेश्वर गंगोपाध्याय के घर में एक अद्भुत पुत्ररत्न आविर्भूत हुए। यही जगत् में 'पुण्डरीक गोस्वाई' के नाम से विख्यात हुए। इन्हीं पुण्डरीकजी को ही श्रीचैतन्य महाप्रभु "बाप" कहकर सम्बोधन किया करते थे। पुण्डरीकजी ने सबको महामन्त्र देकर उद्धार किया था। पुण्डरीकजी का नाम सुनकर ही महाप्रभुजी पुलकित हो जाया करते थे।

'पुण्डरीक' नाम के विषय में किम्वदन्ती

किम्वदन्ती यह है, कि जिस समय श्रीगंगादेवी श्रीपुण्डरीकजी को गर्भ में धारण किये थीं, उस समय गंगादेवी ने एक दिन अर्धरात्रि के समय स्वप्न में देखा कि एक कृष्णप्रेमोन्मत्त वैष्णव संन्यासी गंगादेवी के समीप उपस्थित होकर कह रहा है कि "भगवदिच्छा से तुम्हारे घर में शीघ्र ही जो पुत्ररत्न अवतीर्ण होंगे, उनको तुम सामान्य मनुष्य मत समझना, वह भगवत्-पार्षद हैं। जगत् में वह कृष्ण प्रेम विस्तार करेंगे। थोड़े ही दिनों में कलियुग जनित दुर्दशा देखकर भगवान कृष्णचन्द्र जो श्रीवृषभानुनन्दिनी की भाव-कान्ति को धारण करके जगत में अवतार लेंगे। तुम्हारे घर में जो महापुरुष आवेंगे, उनको वह राधा-भाव-विभावित-कृष्णचन्द्र 'बाप' कहकर सम्बोधन करेंगे। तुम उन कृष्णचन्द्र का श्रीचरण निर्माल्य यह पुष्प लो।" यह कहकर उस वैष्णव संन्यासी ने सौभाग्यवती गंगादेवी को एक श्वेत कमल दिया। गंगादेवी ने दूसरे दिन अपने पति से यह अद्भुतपूर्व स्वप्न-वृत्तान्त कह सुनाया। इसके कुछ दिनों बाद माघी श्रीपंचमी तिथि को प्रातःकाल के पुण्यतम मुहूर्त्त में गंगादेवी की गोद में एक अद्भुतपूर्व ज्योतिर्मय-कनक कान्ति पुत्ररत्न आविर्भूत हुआ। वैष्णव संन्यासी के दिये हुए कृष्णनिर्माल्य-रूप श्वेतकमल के नामानुसार यथा समय पर वागेश्वर गंगोपाध्याय ने पुत्र का नाम रक्खा 'पुण्डरीक'।

पुण्डरीक का आविर्भाव-काल

श्रीपुण्डरीकजी के आविर्भाव-समय के विषय में निम्नलिखित दो श्लोक उनके वंशवालों में प्रचलित हैं—

शाके मुनित्र्योमयुगेन्दु माने
विद्यानिधिः प्रादुरभूद्वरग्राम्।
पिताऽस्य वागेश्वर-ब्रह्मचारी
माता तु गङ्गा भुवि रत्नगर्भा॥
मकरेऽतिकरे भद्रे श्रीपंचमीतिथौ प्रगे
बुवेऽसूत सुतं गङ्गा पतितजनपावनी।

सोऽयं पुण्डरीकः श्रीमान् श्रीगौराङ्गप्राणवल्लभः।
वृषभानुः पुरा तस्थौ राधिकोदयकारणम् ॥

इन दोनों श्लोकों के तात्पर्यानुसार १४०७ शकाब्द की माघी श्रीपञ्चमी तिथि में बुधवार के प्रातः समय कृष्णलीला में जो वृषभानु थे, वही श्रीगौराङ्गसुन्दर के प्राणप्रिय पार्षद रूप में वागीश्वर गंगोपाध्याय और गंगादेवी का आश्रय लेकर जगत् में अवतीर्ण हुए।

कहीं यह भी सुना है—

कलेः प्रथम सन्ध्यायां पुण्डरीको भविष्यति।
विद्यानिधिरिति ख्यातो वङ्गस्थे पूर्वचट्टले ॥
कर्मस्थे भारते वर्षे चन्द्रशेखर-सन्निधौ।
वृषभानु पुरेदानीं श्रीमती जनकस्तु म ॥

और कहीं यह कि—

यः पूर्वं जनको विशालयशसां शास्त्रादि वीताशय
लाभे शुद्धमनाः ऋषीतिपदवीं पश्चादिदं प्राप्तवान्।
भास्वन्तौ नृप आदि नामकरणं श्रीराधिकाराधितम्
सोऽभूत् पुण्डरीक. सत्याकालिजुषां गौराङ्गमुल्लासयन् ॥

इन दोनों श्लोकों का निष्कर्ष यह है कि रामावतार में जो जनक ऋषि थे, कृष्णावतार में वही वृषभानु हुए और गौरावतार में वही श्रीपुण्डरीक हुए।

श्रीकविकर्णपुरजी ने गौरगणोद्देशदीपिका के ५४ वें श्लोक में लिखा है,—

वृषभानुतया ख्यातः पुरा यो व्रजमण्डले।
अधुना पुण्डरीकाक्षः विद्यानिधि महाशयः ॥
स्वकीय - भावमास्वाद्य राधाविरहकातरः।
चैतन्यः पुण्डरीकाक्षमये तातावदन् स्वयम् ॥
'प्रेमनिधि'-तया ख्याति गौरो यस्मै ददौ सुधीः।
माधवेन्द्रस्य शिष्यत्वात् गौरवञ्च सदाकरोत्।
रत्नावती तु तत्पत्नी कीर्तिदा कीर्तिता बुधैः ॥

अर्थात् पहिले व्रजमण्डल में जो महानुभाव 'वृषभानु' नाम से प्रसिद्ध थे, वही अब गौरावतार में पुण्डरीकाक्ष विद्यानिधि महाशय हैं। निज-भाव का आस्वादन कर श्रीराधारानी के विरह में कातर रहनेवाले श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उनको "हे पितः" कहकर सम्बोधन किया था। श्रीगौरसुन्दर ने विशेष सुविचार करके ही पुण्डरीकजी को "प्रेमनिधि" की उपाधि दी थी और माधवेन्द्रपुरी के शिष्य होने के कारण वे प्रेमनिधिजी के प्रति सर्वदा गौरव प्रदर्शन करते थे। तत्त्वज्ञगण पुण्डरीकजी की पत्नी रत्नावती को 'कीर्तिदा' कहकर यश-कीर्तन करते हैं।

मेखला ग्राम की अवस्थिति

चट्टग्राम से छः कोस उत्तर की ओर "हाटहजारी" नाम का एक महकमा (?) है। उससे एक कोस पूर्व में "मेखला" ग्राम है। इस मेखला ग्राम में ही श्रीपुण्डरीकजी का आविर्भाव हुआ था। चट्टग्राम शहर से खुश्की के रास्ते से घोड़ागाड़ी या बैलगाड़ी करके अथवा पानी के रास्ते से नाव या स्टीमर द्वारा वहाँ जा सकते हैं। स्टीमर से यदि अन्नपूर्णा घाट तक जाय, तो वहाँ से श्रीपाट अर्थात् श्रीपुण्डरीकजी का जन्म-स्थान दो मील दक्षिण-पश्चिम में है।

वैष्णव प्राकृत कुल-देश-काल के अन्तर्गत नहीं होते

भगवत्पार्षद या वैष्णवगण किसी जाति, कुल, वंश या देश, काल के अन्तर्गत नहीं होते। सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र भगवत्पार्षद भगवदिच्छा से जिस-किसी कुल में जिस-किसी देश में कृपापूर्वक अवतीर्ण हो सकते हैं। श्रीचैतन्य लीला-वर्णन के लिये व्यासावतार ठाकुर वृन्दावन जी ने श्रीचैतन्यभागवत महाग्रंथ में इस विषय का सिद्धान्त अति सुन्दर भाव से इस प्रकार वर्णन किया है:—

"गंगातीर पुण्य स्थान सकल थाकिते।
वैष्णव जन्मये केने शोच्य देशेते ?

गंगातीर पर पुण्य स्थानों के रहते हुए वैष्णवगण शोच्य (अर्थात् अनादृत) स्थानों में क्यों जन्म लेते हैं ?

आपने हइला अवतीर्ण गंगातीरे।
संगेर पार्षदे केने जन्मायेन दूरे ?

आप (अर्थात् श्रीचैतन्य महाप्रभुजी स्वयम्) (तो) गंगातीर पर अवतीर्ण हुए (फिर) संग के पार्षदों को (गंगातीर से) दूर क्यों जन्म जन्माया ?

ये ये-देश गंगा-हरिनाम-विवर्जित ।
ये देशे पाण्डव नाहिं गेल कदाचित ॥
से सब जीवेरे कृष्ण वत्सल हइया ।
महाभक्त सब जन्मायेन आज्ञा दिया ।

जो-जो देश गंगाजी तथा श्रीहरिनाम से विवर्जित हैं—जिन देशों में पाण्डव लोग कभी नहीं गये उन-उन देशों के जीवों पर श्रीकृष्ण वत्सल (अर्थात् पितृवत् स्नेहयुक्त) होकर सब महाभक्तों को आज्ञा देकर (उन-उन देशों में) जन्म ग्रहण कराते हैं।

संसार तारिते श्रीचैतन्य-अवतार ।
आपने श्रीमुख करियाछेन अंगीकार ॥

श्रीचैतन्य-अवतार संसार को तारने के लिये हुआ—यह आपने श्रीमुख से अंगीकार किये हैं।

शोच्य देशे, शोच्य कुले आपन समान ।
जन्माइया वैष्णवे, सबारे करेन त्राण ॥

शोच्य देश में (और) शोच्य कुल में (वे) अपने समान वैष्णवों को जन्माकर, सबको त्राण करते हैं।

येइ देशे, येइ कुले वैष्णव अवतरे ।
ताहार प्रभावे लक्ष योजन निस्तरे ॥

जिस देश में और जिस कुल में वैष्णव अवतीर्ण होते हैं, उस (जन्म के) प्रभाव से एक लक्ष योजन तक (के लोगों) का निस्तार हो जाता है।

ये स्थाने वैष्णवगण करेन विजय ।
सेइ स्थान हय अति पुण्यतीर्थमय ॥

जिस स्थान में वैष्णवगण (विजय-लाभ) करते हैं (अर्थात् जो स्थान उनके प्रभाव से अनुप्राणित हो जाता है) वह स्थान अति पुण्यतीर्थमय हो जाता है।

श्रीचैतन्यलीला के व्यास—ठाकुर वृन्दावनजी ने श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यास के वाक्य की प्रतिध्वनि करते कहा है कि—

"ये सब वैष्णव अवतारे अवतरि ।
प्रभु अवतारे इहा सबे श्रम करि ॥

इन वैष्णवगण के अवतीर्ण होने पर (भगवान् का) 'अवतार' होता है—(क्योंकि) प्रभु इन सभों को आगे करके (पीछे से आप) अवतार लेते हैं।

ये रूपे प्रद्युम्न अनिरुद्ध सङ्कर्षण ।
येइ रूप लक्ष्मण भरत-शत्रुघ्न ॥
ताँहारा येरूप प्रभु सङ्गे अवतरे ।
वैष्णवेरे सेइरूप प्रभु आज्ञा करे ॥

जिस तरह से प्रद्युम्न, अनिरुद्ध या सङ्कर्षण हुए, जिस तरह से लक्ष्मण, भरत या शत्रुघ्न हुए,—उन्होंने जिस तरह प्रभु के साथ जन्म लिया था—वैष्णवों को भी प्रभु उसी तरह से (जन्म लेने के लिये) आज्ञा करते हैं।

अतएव वैष्णवेर जन्म मृत्यु नाइ ।
सङ्गे आइसेन, सङ्गे यायेन तथाइ ॥
धर्म-कर्म-जन्म वैष्णवेर कभु नहे ।
पद्मपुराणेते इहा व्यक्त करि कहे ॥"

अतएव वैष्णवों का जन्म-मृत्यु नहीं है—(ये लोग भगवान् के संग ही आते और संग ही वहीं (भगवान् के नित्य लीला-स्थल में)' जाते हैं। वैष्णवों का धर्म कर्म जन्म कभी भी नहीं है। यह पद्मपुराण में स्पष्ट करके कहा है।

यथा,—

"यथा सौमित्रि भरतौ यथा सङ्कर्षणादयः ।
तथा तेनैव जायन्ते मर्त्यलोके यदृच्छया ॥
पुनस्तेनैव यास्यन्ति तद्विष्णोः शाश्वतं पदम् ।
न कर्म-बन्धनं जन्म वैष्णवानां च विद्यते ॥

वैष्णवों के अवर (अश्रेष्ठ) कुल-देश-काल में आविर्भाव का हेतु

भगवत्पार्षदगण कभी तो अश्रेष्ठ अर्थात् निम्न श्रेणी के कुल में और कभी विष्णु-विष्णुजन-विद्वेषी के घर में जन्म लेकर साधक जीवों को भगवदनुशीलन में दृढ़ता, उत्साह व आशाप्रद शिक्षा देने की लीला प्रकट करते हैं। अल्प श्रद्धालु साधक जीव ख्याल कर सकते हैं कि 'मैंने निम्न कुल में जन्म लिया है इसलिये मेरा भगवत्पदारविन्द

स्पर्श करने का अधिकार नहीं है" अथवा कोई साधक विष्णु-वैष्णव-विद्वेषी माता पिता से तथा समाज में उत्पन्न होकर यह सोच सकते हैं कि "मेरे चारों ओर कृष्णानुशीलन की असंख्य विघ्न-बाधायें उपस्थित हैं और मुझे प्रति मुहूर्त्त में विष्णु-वैष्णव-सेवा से डिगाने या क्लेशापन्न करने के लिये अगणित लोग वर्त्तमान हैं, इसलिये मेरा कृष्णानुशीलन होने की कुछ आशा भी नहीं। कृष्णानुशीलन छोड़े बिना मेरा अस्तित्व का संरक्षण ही बड़ा मुश्किल हो जायगा। कोमल श्रद्धावाले साधक जीवों के ऐसे निरुत्साह के बीच आशा का आलोक-स्तम्भ प्रतिष्ठित करने के लिये परम कृपामय भगवत्पार्षदगण कभी-कभी हीन कुल में और कभी विष्णु-वैष्णव-कुल या समाज में और कभी अत्यन्त विमुखतामय युग में अवतीर्ण होकर लीला प्रकाश करते हैं। वे उन कुलों में, समाजों में, या युगों में अवतीर्ण होकर कृष्ण-भजन के प्रतिकूल सैकड़ों विघ्न-बाधा और लोकलाञ्छनाओं को पद-दलित करते हुए निरपेक्ष कृष्णभजन का महान आदर्श दिखलाकर साधक जीवों के हृदय में उत्साह, सेवामय साहस तथा अव्यर्थ आशा का सञ्चार किया करते हैं। इसी लिये भगवत् पार्षद प्रह्लाद विष्णु वैष्णव-विद्वेषी हिरण्यकशिपु के घर में आविर्भूत हुए थे, गौर-भक्त ठाकुर हरिदास यवन-कुल में अवतीर्ण हुए थे, गौरपार्षद भक्त ठाकुर झुँड़माली के कुल में उत्पन्न हुए थे और "वैष्णव प्रधान" पुण्डरीक विद्यानिधि विष्णु-वैष्णव-विद्वेषी समाज में आविर्भूत हुए थे।

वैष्णवों की स्वाभाविकी सर्वोन्मुखी स्वतन्त्रता

परन्तु वे उन हीन कुलों में या विष्णु-वैष्णव-विद्वेषी माता-पिता के घर या समाज में अथवा भगवद्-विद्वेषमय युग में आविर्भूत होकर भी सदैव निज भगवत् सेवामयी स्वतन्त्रता का परिचय देते रहते हैं। उनकी उस स्वाभाविकी सर्वोन्मुखी स्वतन्त्रता को प्रतिकूल जगत् की किसी प्रकार की शक्ति दबा नहीं सकती। यह बात तो दूर रही, प्रतिकूल शक्ति जितनी बाधा डालने की चेष्टा करती है, उनकी वह कृष्ण कृपालब्धा सर्वोन्मुखी स्वतन्त्रता उससे कोटीगुण उज्ज्वलतर होकर प्रकाशित होती है।

प्रह्लाद का उदाहरण

प्रह्लाद ने बाल्यकाल से ही जो "नैसर्गिकी रति" (अर्थात् स्वाभाविकी भक्ति) दिखलाई, विष्णु-वैष्णव-विद्वेषी जनकाभिमानी हिरण्यकशिपु की प्रतिकूल चेष्टाओं ने उसको जगत् में और भी कोटीगुण करके प्रकाशित कर दिया। पाँच वर्ष के बालक की वह स्वतन्त्रता या "नैसर्गिकी रति" हिरण्यकशिपु के प्रतिकूलाचरण के अमित वेगवान जलप्रपात (Water fall) से प्रतिहत होकर मानों और भी सहस्रधार व सहस्रशक्तिपूर्ण अमित-वेग से उद्वेलित हो गई।

पुण्डरीकजी का बाल्य-चरित्र

हमारे आलोचित गौरपार्षद श्रीपुण्डरीक विद्यानिधि के बाल्य चरित्र में भी वैसा ही आदर्श प्रकाशित हुआ था। उन्होंने घोर शाक्त समाज में, पञ्च 'म' कार के घोर तामसिक आचार-प्रचार के गर्भ कुल में, भयानक तान्त्रिकाचार के युग में व पञ्च 'म' कार रूपी महानदी से प्लावित देश में कृपापूर्वक अवतीर्ण होकर भी अति शिशुकाल से ही अपनी वैष्णवी स्वतन्त्रता दिखलाई थी। भैरवी चक्र में पञ्च 'म' कार का साधन, लाल रंग के कपड़ों का पहिनाव, गले व हाथ में रुद्राक्ष की माला व ललाट पर रक्त त्रिपुण्ड्र का तिलक इत्यादि अनुष्ठानों को भगवत्पार्षद पुण्डरीकजी अति बचपन से ही घोर तामसिक हेय आचार समझते थे। अति शिशुकाल में ही माता-पिता के अनुष्ठानों तथा समाज के उन आचरणों को देखकर नित्यसिद्ध वैष्णववर पुण्डरीक ने उन आचारों का तीव्र प्रतिवाद किया था। उन्होंने निज माता-पिता के सामने कृष्णानुशीलन व वैदिक वैष्णवधर्म के सुविमलत्व, महत्व व सनातनत्व की प्रशंसा करके उनको मुग्धकर तामसतन्त्र के आचार-व्यवहारों को छोड़ने के लिये अनुरोध किया। माता पिता ने कुछ तो पुत्रस्नेह के वशीभूत व शिशुपुत्र के युक्ति-युक्त सदुपदेशों से मुग्ध होकर

और कुछ अपनी महासुकृति या सौभाग्यवश कुलपरम्परा से आये हुए चिर-अभ्यस्त तामसिक आचार-व्यवहारों को बहुत-कुछ छोड़ दिया। परन्तु अत्यन्त बहिर्मुख, विष्णु-वैष्णव विद्वेषी अदैव (अर्थात् आसुर) समाज, उनकी बातें सुनने के योग्य कान व सौभाग्य प्राप्त न होने व भगवत्-पार्षद् पुण्डरीकजी को यह तो एक साधारण मनुष्य है इस सामान्य दृष्टि से देखने के कारण, तामसाचार में ही लिप्त रहा और उसने वैष्णववर के चरणों में जो यह अपराध किया था इसलिये कृष्ण विमुखता के दण्डस्वरूप जागतिक लाभ-पूजा-प्रतिष्ठा तथा धर्म अर्थ-कामादि व्यापारों के चक्कर में मुग्ध पड़ा रहा।

असत् संग का त्याग ही वैष्णव आचार है

बालक पुण्डरीकजी अपने स्वदेशस्थ बहिर्मुख समाज को "दुःसङ्ग" समझकर और अपने हृदय के आराध्य देव का सङ्ग व सद्गुरु की कृपा लाभ करने के आन्तरिक उद्देश्य से कहीं बाहर जाकर विद्यार्जन करने का बहाना करके श्रीधाम-मायापुर-नवद्वीप में आकर उपस्थित हुए। (क्रमशः)

क्रोध

मनुष्य के छः शत्रुओं में क्रोध का नंबर दूसरा है। काम में बाधा पड़ने पर जो सब शारीरिक ताड़न आदि और मानसिक विद्वेष आदि आते हैं, उन्हीं का नाम क्रोध है। यह रजोगुणसमुद्भूत कामना से उत्पन्न है। इस कारण कामी लोगों में ही इसका प्रकट होना प्रायः पाया जाता है। क्रोध का आक्रमण होने पर मनुष्य परमार्थ से भ्रष्ट होता है—परमार्थ ही क्यों, धर्म, अर्थ, काम आदि के लाभ से भी वंचित होता है। इसी कारण नीतिशास्त्र में काम की तरह क्रोध की भी निन्दा की गई है। श्रीरूपगोस्वामी प्रभु ने "उपदेशामृत" के प्रथम श्लोक में हरि-भजन-प्रयासी से कहा है—

> वाचो वेग मनस क्रोधवेगं
> जिह्वावेगमुदरोपस्थवेगम्।
> एतान्वेगान्यो विषहेत धीरः
> सर्व्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात्॥

अर्थात् वाणी के, मन के, क्रोध के, जिह्वा के, उदर और उपस्थ के वेग को जो धीर पुरुष रोक सकता है, वह संपूर्ण इस पृथ्वी का शासन करने में समर्थ है। धीर अर्थात् शान्त। शान्त पुरुष के संबंध में श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थ में लिखा है—

> कृष्ण-भक्त निष्काम इसी से हैं शान्त।
> भोग मोक्ष सिद्धि कामी सभी हैं अशान्त॥

वास्तव में एकमात्र कृष्णभक्त ही शान्त है। उसके सिवा अन्यान्य सभी अपने-अपने काम अर्थात् अभिलाषा से संचालित होकर काम-पूर्त्ति में बाधा पड़ने पर क्रोधान्ध होने के कारण अशान्त हो उठते हैं। इस सम्बन्ध में पुराण-ग्रन्थ भी साक्षी हैं। सत्ययुग में हिरण्यकशिपु नाम का एक प्रबल पराक्रमी दैत्यराज था। उसके कई पुत्र थे। उनमें प्रह्लाद नाम के पुत्र ने सम्बन्ध-ज्ञान प्राप्त करने के कारण बचपन से ही हरि का भजना शुरू कर दिया। राजा ने कुमार के ऐसे अपने विपरीत व्यवहार को देखकर उनसे कहा - बेटा, तुम यह क्या करते हो? हमारे सभी पूर्व पुरुष भोग की सेवा करते आये हैं। वही भोग हमारा आराध्य है। तुम उसी की उपासना करो। इतना कहकर इस प्रकार की शिक्षा देने के उपयुक्त गुरु षंडामर्क की पाठशाला में उसने बालक प्रह्लाद को भेज दिया। यद्यपि प्रह्लाद पाँच ही वर्ष के थे, तथापि भगवान् ने कृपा करके उन्हें दर्शन दे दिये थे। इसी से वह सर्वत्र वासुदेव की ही मूर्त्ति के दर्शन करते थे। यहाँ तक कि "क" अक्षर को देखकर ही उन्हें कृष्ण की स्फूर्ति होती थी—याद आती थी। षंडा-

मर्क के वश होना तो दूर रहा, वह दूने उन्माह के साथ उस पाठशाला को कृष्ण-संकीर्त्तन से गुँजाने लगे। तब गुरु ने हिरण्यकशिपु से जाकर कहा—मैं ऐसे बालक का शासन करने में असमर्थ हूँ। तब हिरण्यकशिपु ने कपट-स्नेह का अभिनय करके प्रह्लाद को गोद में लेकर पुत्रवात्सल्य का भाव दिखाते हुए उन्हें हरिभजन से निवृत्त होने की शिक्षा देना शुरू किया। किन्तु प्रह्लाद तो किसी सामान्य विषय पर लुभाए हुये बालक नहीं थे। वह किसी तरह उस कपट स्नेह के फंदे में नहीं फँसे। कारण, वह सत्य को जान चुके थे। हिरण्यकशिपु को फिर जब पुत्र का अवाध्य होना मालूम हुआ तो उसने उन्हें गोद से पृथ्वी पर पटक दिया। तब प्रह्लाद ने डरने के बदले 'गुरुर्न स स्यात्' इत्यादि भागवत के श्लोक का अनुसरण करते हुए पिता की सर्वतोभाव से उपेक्षा की। इसका फल यह हुआ कि हिरण्यकशिपु ने क्रोध से अधीर होकर बालक को हाथी के पैरों के नीचे कुचलने के वास्ते डलवा दिया, आग में जलाना चाहा, समुद्र में गिराकर डुबाना चाहा, पहाड़ पर से नीचे गिराकर मरवा डालने का उद्योग किया। पर सब कौशल व्यर्थ ही सिद्ध हुए। जब किसी तरह वह प्रह्लाद के प्राण न ले सका, तब लज्जा और क्षोभ के मारे व्यतिरेक भाव से उपास्य वस्तु को दिखाने के लिए प्रह्लाद से उसने कहा—तेरे हरि कहाँ हैं? मुझे दिखा। प्रह्लाद ने आग में, पानी में, हवा में, सभी जगह हरि का रहना बतलाया। तब पिता ने सामने के खंभे को दिखलाकर पूछा—इसमें भी क्या तेरा हरि है? प्रह्लाद के "हाँ" कहने पर—

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः
तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्॥"

उपेक्षा करके पूर्व संचित हरि-विद्वेष भाव से जैसे उसने अत्यन्त अवज्ञा के साथ खंभे में घूँसा मारा, वैसे ही उससे अद्भुत नृसिंह रूप से प्रकट होकर हरि ने हिरण्यकशिपु का वध किया और भक्तप्रह्लाद की रक्षा की। क्रोध की अंतिम परिणति यही होती है।

भोगी और त्यागी, दोनों को काम में बाधा पड़ने पर क्रोध उत्पन्न होता है। किन्तु भक्त के वैसा क्रोध आने की कोई संभावना नहीं। कारण, वह सब प्रकार के हृद्गत काम को कृष्ण की सेवा में नियुक्त करके सदा के लिए कर्म-बन्धन से मुक्त हो चुका होता है और स्वीय स्वरूप की सिद्ध वृत्ति में अधिष्ठित रहता है। दृढ़ विश्वासरूप नींव के ऊपर यह वृत्ति स्थापित होती है। मात्सर्य-वश भोगी और त्यागी दोनों सम्प्रदाय भक्त के प्रति विद्वेष का पोषण करते हैं। इसीसे भक्तगण भक्तद्वेषी को नानाविधि ताड़न आदि के द्वारा स्वीय स्वरूप की उपलब्धि कराने की जो चेष्टा करते हैं, उसके फल से अनेक सुकृति-सम्पन्न जीव सुदर्शनचक्र के आघात से वैष्णव-हृदय की निर्द्वन्द्वता जान पाते हैं और उनकी प्रेममूल चेष्टा को बाह्य विषय चेष्टा से विभिन्न देख पाकर श्रद्धाशाली होते हैं।

अनभिज्ञ लोग द्वैतज्ञान से कभी आचार्य प्रभु की और कभी श्रीनित्यानन्द प्रभु की जो अवहेला करते हैं, उससे उन्हें भक्ति से भ्रष्ट होना पड़ता है, श्रीनरोत्तम ठाकुर ने कहा है—"क्रोध भक्तद्वेषी जन ए"। इसीसे भक्त के विद्वेषी पर क्रोध है। श्रीनित्यानन्द प्रभु जब श्रीमहाप्रभु के अनुरोध से श्रीनाम के प्रचार के लिए जीवों के पास द्वार द्वार घूमते फिरे, उस समय जगाई मधाई नाम के मद्यप दो दस्युओं ने उन्हें भोग का प्रतिद्वंद्वी समझकर अवैध भाव से, अनुचित रूप से उन पर आक्रमण किया था। यह सुनकर श्रीगौरांग महाप्रभु अत्यन्त क्रोधित हो उन्हें दण्ड देने के लिये गये। अन्त को यह दण्ड दिया कि उन दयालु नित्यानन्द ने असीम प्रेमार्द्र हृदय से उन्हें क्षमा करके कहा—"एक बार हरि बोलो भाई रे!" उस करुण स्वर ने दोनों पापियों के हृदय पर ऐसा प्रभाव डाला कि भोग के पंकपूर्ण गह्वर से उनका भी उद्धार हो गया। वैष्णव जानता है कि चाहे जिस तरह हो, जीव को एक बार कृष्ण के प्रति उन्मुख कर दे सकने से ही सारा परिश्रम सफल हो जायगा। इसी से वैष्णव-गण सब प्रकार के आघात सहने का दृढ़ संकल्प

करके श्रीनाम के प्रचार में व्यस्त रहते हैं। वे जीव के परम बंधु हैं। अनेक अभागे लोग वैष्णव के दूर उद्देश्य को समझ न पाकर निज इन्द्रिय-तर्पण के व्याघात से उनके प्रति आक्रोश पोषण कर जन्म जन्मान्तर के लिए भक्ति का अधिकार खो बैठते हैं। अनेक साधु लोग गुरु के चरणों में निर्व्यलीक भाव से न आने के कारण नाना प्रकार की कामनाओं द्वारा निष्पेषित होते हैं; कभी वे उन्हें कामपरिपूरण का यंत्रविशेष समझते हैं और कभी काम की अतृप्ति से क्रोधाग्नि प्रज्वलित करके आत्मविनाश के लिए भक्त और भगवान् को मारने की हास्यास्पद-चेष्टा करते हैं। वे मूर्ख लोग यह नहीं जानते कि उनकी वह चेष्टा कुछ भी सफल नहीं हो सकती।

वैष्णव नित्यकाल ही वैकुण्ठवासी हैं -- वहाँ किसी प्रकार का शोक और भय नहीं है। अमृत ही वहाँ की आस्वादनीय वस्तु है। जिन्होंने उस अमृत का आस्वादन किया है, वह अजरामर हैं। विषयभोग में प्रमत्त होकर जो लोग ऐसे वैष्णव को नहीं पहचानते, वे मूढ़ हैं। दुष्पार माया के हाथ की कठपुतली होकर कंस-जरासंधगण जो चेष्टा करते हैं, उसे देखकर शुद्ध भक्तों को हँसी आती है। कारण, वेद ने कहा है--"यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।" बद्ध जीव का सहारा जो मन है, उसकी तो वहाँ गति ही नहीं है। बद्धाभिमानी की यह पागलों की सी चेष्टा परमार्थी का क्या बिगाड़ सकेगी? जीव कभी भोग में प्रमत्त रहकर उसकी बाधा-स्वरूप से भक्त पर आक्रमण करता है, और कभी फल्गु स्वल्प) त्याग से विमोहित होकर भगवान् पर आक्रमण करता है, फल स्वरूप उससे उसका ही विनाश साधित होता है। जो जीव को काम रूप काँटे से बिंधा हुआ छटपटाता देखकर, उससे उद्धार करके, उसे आपात क्षणिक कष्ट देने में नहीं हिचकते, जो यह जानकर भी कि नाना प्रकार के विरुद्ध मतवादियों के प्रतिद्वंद्वी होने पर उनके मन में क्रोध का उदय होना, नित्य सत्य के प्रचार में कुंठित नहीं होते, उनका भगवान में आत्मनिवेदन और जीव के प्रति दया आदर्श है। वही सद्गुरु हैं। बद्धजीव की जड़भोग-कामना में व्याघात पड़ने पर जो क्रोध का उदय होता है, वह आदरणीय नहीं। किन्तु गुरु विद्वेषी को दण्ड देने के लिए जो क्रोध है, वह भक्ति का अंग है। जो सत्य का ध्वंस करने के लिए उद्यत व्यक्ति को बिना बाधा के चुपचाप रहकर अनुमति देते हैं, उनके लिए भक्ति का मार्ग रुंधा हुआ जानना चाहिए।

दुःसंग-वर्जन

दुःसंग वर्जन या बुरे आदमियों की संगति छोड़े बिना जीव का कभी स्थायी रूप से मंगल नहीं हो सकता। जो लोग दुष्टों की संगति में फँसे हुए हैं, वे हजार साधन करने पर भी कोई फल नहीं पा सकते।

जनम जनम करु श्रवण कीर्त्तन।
कृष्ण-चरण नहिं मिलै प्रेमधन॥

(चै० च० आदि ८म)

यदि नाव का लंगर न उठाया जाय और दिन रात नाव चलाई जाय, तो भी नाव जहाँ की तहाँ खड़ी रहती है; जरा भी आगे नहीं बढ़ती, केवल शारीरिक परिश्रम ही होता है। ठीक इसी प्रकार यदि दुष्टों की संगति न छोड़ी जाय और आठ पहर चौसठों घड़ी आदमी चिल्लाता रहे या हाथ में जप-माला लिए हुए ठक ठक शब्द करता रहे, तो भी वह भजन के मार्ग में कुछ भी आगे नहीं बढ़ता। हाँ, उसे पित्तवृद्धि अवश्य हो जाती है। इसी लिये श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी प्रभु ने श्रीचैतन्यचरितामृत के प्रारम्भ में भागवत का वचन उद्धृत करके दुःसंग-छोड़ने का उपदेश दिया है।

ततो दुःसंगमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्।
सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासंगमुक्तिभिः॥

(भा० ११-२६-२६)

प्रिय पाठकगण, आप सभी लोग बुद्धिमान् हैं। आप लोग समस्त वेदान्त के सार श्रीमद्भागवत के इस श्लोक के तात्पर्य पर विचार करें। इस श्लोक में तीन बहुमूल्य उपदेश की बातें हैं— (१) दुःसंग-वर्ज्जन; (२) सत्संग-ग्रहण; और (३) साधु के लक्षण। इन्हीं तीनों पर लक्ष्य रखकर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने प्रियतम भागवत उद्धव महाराज को ऐल या पुरूरवा का आख्यान सुनाने के बाद अन्त में कहा था— हे उद्धव, ऐल राज पुरूरवा ने जिस हेतु से उर्वशी का संग छोड़ा था और उसी के परिणाम-स्वरूप वे स्वयं अपनी आत्मा में मुझ आत्माराम के दर्शन करने में समर्थ हुए थे, यदि उसी हेतु से बुद्धिमान् व्यक्ति विचार करें तो वे सब प्रकार का प्रयत्न करके दुष्टों का साथ छोड़ देंगे; और सदा साधुओं की संगति में रहने लगेंगे। इसका कारण यह है कि साधुओं का यह काम ही है कि वे सदा विषयासक्त जीवों के विषय-वासना के बन्धनों को शास्त्रों की युक्ति रूपी तेज धारवाले शस्त्र की सहायता से काटकर सम्बन्ध ज्ञान का उदय करा देते हैं। इसीलिये भाई पाठको, आप लोग भी—

भागवत के अर्थ का कीजै विचार।
प्राप्त हो श्रुतियों का जिससे अर्थ सार॥

साधारण लोग समझते हैं कि भोग में सुख नहीं है। यदि सुख है तो वह कामिनी और कांचन के त्याग में ही है। ये जो वृक्षों के नीचे रहनेवाले और कौपीन पहननेवाले संन्यासी सदा वेदान्त वाक्यों में रमण करते-करते "शिवोऽहम्"-"शिवोऽहम्" कहते हैं, वही सुखी हैं। इसलिये यदि हम लोग उनके चरणों में यथा-साध्य अपना सर्वस्व अर्पित कर सकें, तभी हम सुखी हो सकते हैं। यही सोचकर जब अज्ञान से अन्धा जीव एक प्रकार से अविद्या के हाथ से छुटकारा पाने का प्रयत्न करता है, तब वह एक दूसरे प्रकार से अविद्या के फेर में पड़ जाता है और अनेक प्रकार के कष्टों तथा लांछनों का भोग करता है। वह नहीं जानता कि—

दुःसंग है बस कैतव आत्म वंचना।
कृष्ण कृष्ण-भक्ति बिना अन्य कामना॥

(श्रीचैतन्यचरितामृत)

कृष्णसेवा के सिवा और जितनी कामनाएँ हैं, वे सभी दुःसंग हैं। भोगी भले ही साधुओं की संगति के प्रभाव से किसी समय आगे चलकर अपना मंगल कर सकता है, परन्तु जो फल्गु-त्यागी आत्म वंचना रूपी कपटता करके स्पष्ट रूप से भोग का आवाहन करता है, वह और भी अधिक निन्दनीय है।

इसी लिये श्रीभक्ति-विनोद ठाकुर कह गए हैं—

जब विषयी के मन साधु संगति भावै।
तब भक्त कृपा से भक्ति सहज वह पावै॥
जिसका मन माया में खाता है गोता।
उसका कुतर्क से हृदय वज्र सम होता॥
धिक ऐसी सेवा श्रवण कीर्तन को है।
लगता स्तवन वज्र सम वह प्रभु को है॥

इसीलिये दुःसंग छोड़कर सत्संग ग्रहण करना आवश्यक है। परन्तु दुःसंग छोड़ने के साथ साथ सत्संग भी छोड़ देना बुद्धिमान का काम नहीं है। जो कुछ कृष्ण-सेवा के प्रतिकूल हो, उसका परित्याग ही दुःसंग का परित्याग है; और जो कुछ कृष्ण-सेवा के अनुकूल हो, उसका ग्रहण ही सत्संग है। परन्तु मायावादी लोग यह बात न समझ कर अपनी मायिक बुद्धि से उन सब वस्तुओं का भी त्याग कर देते हैं जो कृष्ण-सेवा के अनुकूल हैं। इसीलिये उन लोगों का त्याग फल्गु-त्याग होता है। वे लोग एक दुःसंग का तो त्याग करते हैं, पर साथ ही दूसरे दुःसंग की गोद में जा गिरते हैं। बल्कि जो लोग सच्चे भक्त होते हैं वे केवल उन्हीं विषयों का त्याग करते हैं, जो कृष्ण-सेवा के प्रतिकूल होते हैं और अनुकूल विषयों का स्वीकार किये रहते हैं। वे लोग अपनी सभी इन्द्रियों और सभी विषयों के द्वारा सदा सर्वेश्वरेश्वर श्रीहरि की ही सेवा करते रहते हैं। जो कामिनी कांचन और प्रतिष्ठा आदि मायावादियों के अज्ञज विचार से त्याग की वस्तुएँ हैं, वे हरि-सेवक की अधोक्षज सेवा के सामने भगवत-सेवा के उपकरण हैं। इसीलिये जो कुछ फल्गु-त्यागी के लिए दुःसंग के विचार से घृणा की वस्तु है, वही सेवकों के लिये भगवत्-सम्बन्धी पूज्य वस्तु है।

नित्यधर्म का नामान्तर वैष्णवधर्म है

(पूर्व प्रकाशित के उपरान्त)

यह बात सुनकर देवी विद्यारत्न प्रसन्नचित्त से श्रीवैष्णवदास को दण्डवत् प्रणाम कर पिता की कुटी में पुनः प्रवेशकर पिता के चरण में सारी बातें निवेदन कर दीं। पिता प्रसन्न होकर बोले—देवी ! अनेक पढ़ा सुना है सही, अब जीव के सद्गति की खोज करो।

देवी—पिता ! मैं अनेक आशाओं के साथ आप को श्रीगोद्रुम से लिवा जाने के लिये आया हूँ। कृपा कर एक बार घर जाने से सभी चरितार्थ होंगे। विशेषतः माताजी की इच्छा है, कि आप के चरण का एक बार दर्शन करें।

ला०—मैंने वैष्णव-चरण में आश्रय लिया है। प्रतिज्ञा की है, कि भक्ति के विरोधी घर में अब न जाऊँगा। तुम सब पहले वैष्णव हो, फिर मुझे ले जाओ।

देवी—पिता ! यह बात कैसे कहते हैं ? हम लोगों के घर में भगवत्-सेवा होती है। हम लोग हरिनाम का अनादर नहीं करते। अतिथि वैष्णव की सेवा किया करते हैं। हम लोग क्या वैष्णव नहीं हैं ?

ला०—यद्यपि वैष्णवोंकी क्रिया और तुमलोगोंकी क्रियामें साम्य है, तथापि तुमलोग वैष्णव नहीं हो।

देवी—पिता ! क्या होने से वैष्णव हो सकेंगे ?

ला०—नैमित्तिक भाषा का त्याग कर नित्य धर्म का आश्रय लेने से वैष्णव हो सकते हो।

देवी—मेरा एक संशय है। आप अच्छी तरह उसकी मीमांशा कर दें। वैष्णव लोग जो श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पाद-सेवन, आर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन करते हैं, उसमें भी यथेष्ट जड़-मिश्र कर्म है। वह क्यों नैमित्तिक नहीं होते ? इस विषय में मैं कुछ पक्षपात देखता हूँ। श्रीमूर्ति की सेवा, उपवास, जड़ द्रव्यों द्वारा पूजा यह सभी स्थूल किस प्रकार नित्य हो सकते हैं ?

ला०—बेटा ! इस बात को समझने में मुझे भी अनेक दिन लगे थे। तुम अच्छी तरह समझ लो। मनुष्य दो प्रकार के हैं—ऐहिक और पारमार्थिक। ऐहिक मनुष्य केवल ऐहिक सुख, ऐहिक मान और उन्नति की खोज करते हैं। पारमार्थिक मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं, अर्थात् ईशानुगत, ज्ञाननिष्ठ और सिद्ध-कामी। सिद्ध-कामी लोग कर्मकाण्ड के फल भोग में लगे हैं। कर्म के द्वारा अलौकिक फल का उदय किया चाहते हैं। याग, यज्ञ और योग ही इनके फलोदय के उपाय हैं। इनके मत से ईश्वर रहकर भी वह कर्मवश है। वैज्ञानिक व्यक्तिगण इसी श्रेणी के हैं। ज्ञाननिष्ठ व्यक्तिगण ज्ञान-चर्चा के द्वारा अपने ब्रह्मज्ञता का उदय करने का यत्न करते हैं। ईश्वर रूप में कोई रहे या न रहे, उपाय द्वारा एक ईश्वर की कल्पना कर वे भक्ति करते-करते क्रमशः ज्ञान का फल पाया करते हैं। ज्ञान फल के पा जाने पर उपाय काल के ईश्वर की आवश्यकता नहीं रहती। ईश-भक्ति फल काल में ज्ञान के आकार में परिणत होती है। इस मत से ईश्वर की और ईश-भक्ति की नित्यता नहीं है। ईशानुगत पुरुष तृतीय श्रेणी के पारमार्थिक हैं। यही वास्तव में परमार्थ की खोज करते हैं। इनके मत से एक अनादि अनन्त ईश्वर हैं। वह निजी शक्ति से जीव और जड़ की सृष्टि करते हैं। सब जीव उनके नित्यदास हैं। उनके नित्य अनुगत रहना ही जीव का नित्य धर्म है। जीव अपने बल से कुछ कर नहीं सकता। कर्म द्वारा जीव का कोई नित्य फल नहीं होता। अनुगत हो ईश्वर की सेवा करने से ईश्वर की कृपा से ही जीव की सर्वार्थ सिद्धि होती है। पहलेके दो श्रेणीके नाम कर्मकाण्डी और ज्ञानकाण्डी हैं। तृतीय श्रेणी केवल ईशभक्त हैं। ज्ञानकाण्डी और कर्मकाण्डी केवल अपनेको पारमार्थिक कहकर अभिमान करते हैं। वास्तव में वे ऐहिक हैं; अतः नैमित्तिक हैं। उनकी जितनी प्रकार की धर्म-चर्चा है, वे सब नैमित्तिक हैं। (क्रमशः)

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्ति श्रीजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हौमखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीमदाई गौरांग मठ
बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ,
नं० १ रामापुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ ए०, साउथ मलाका, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० १३ हनुमान रोड, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकंदा चोरकंडा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपुर

(३१) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ
कव्वूर, वैष्ट गोदावरी, मद्रास

Registered No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)
२—श्रीशिक्षादशकमूलम् सटीक |)
३—श्रीमध्वमुनि-श्रीराशिनगानम् ≡)
४—श्रीसिद्धान्तसरस्वतीदिग्विजयः ||
५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचयः -)
६—श्रीतत्त्वसूत्रम्

संस्कृत बँगला अक्षरों में

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)
२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत भाष्य और भक्तिविनोद प्रभु-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित संजिल्द ३) अजिल्द १||)
३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ||)
४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत खंडों मे प्रकाशित प्रति खंड १)
५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द ५)
६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्री-रूपगोस्वामी प्रभु कृत उपदेशामृतसहित |=)
७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बँगला अनुवाद सहित ||)
८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द गोस्वामि-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित १)
९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
१०—सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी-कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)
एकादश स्कंध से प्रति खंड |≡)
१२—युक्तिमल्लिका गुणसौरभ वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

बंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित =)
१४—नवद्वीपशतक बँगला अनुवाद -)
१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ≡)
१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती कृत =)
१७—नवद्वीपभावतरंग |)
१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण)
१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद कृत २)
२०—मणिमंजरी |)
२१ शरणागति -)
२२ कल्याणकल्पतरु -)||
२३ गीतावली -)
२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ||)
२५—वृषभानुमंजुषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)
२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि कृत ||=)
२७—जैवधर्म २)
२८—माध्यकंठमाल)
२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदास-कृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अप्राप्य ३)
३०—महाप्रभुशिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत |||)
३१ श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ५)

Book in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /1/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow

वर्ष २] श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः [संख्या ३

भागवत

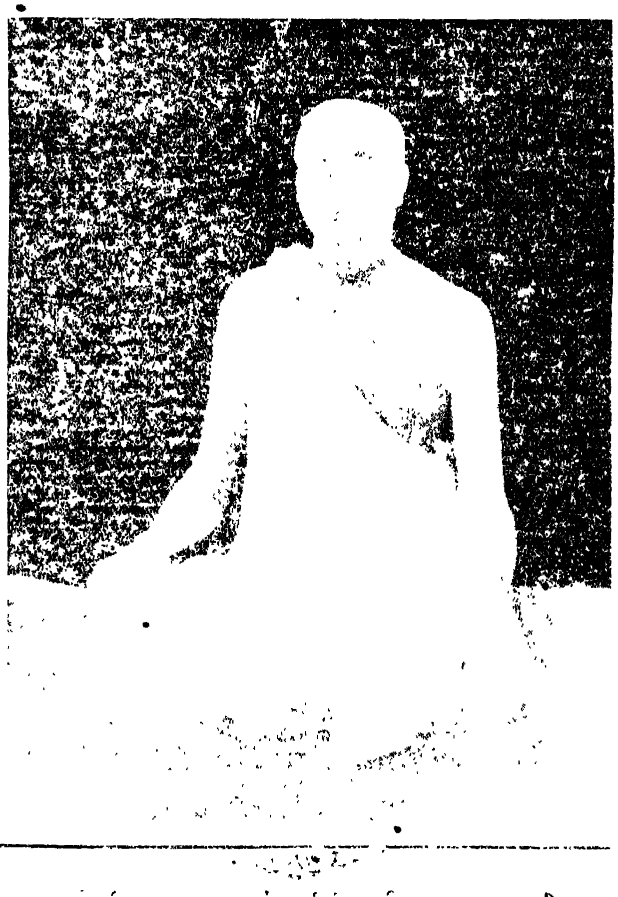
एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

27th Novem. 1932

केशव
कृष्णपक्ष
गौराब्द
४४६

मार्गशीर्ष
अमावास्या
संवत
१९८९

[illegible]



ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती
गोस्वामी महाराज

प्रति संख्या -)

सम्पादक–त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

Editor—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

वार्षिक सडाक ३॥)

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा ≡) है

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म सम्बधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन छपाई की दर नीचे लिखी है:—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम	८)
आधा ,, १ ,,	५)
चौथाई ,, ½ ,,	३)
२ इंच ,, ¼ ,,	१॥।)
१ ,, ,, ⅛ ,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये—

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

सेठरामयश रोड, नरही, लखनऊ.

All communications are to be addressed to—

The Manager 'Bhagwat'

Seth Ramjis Road,

Narhe,

LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भागवत

वर्ष [illegible] [illegible] संख्या ३

मार्गशीर्ष [illegible]

आत्म-निवेदन

(४)

जब भक्ति प्रतिकूल धर्म जिससे होय।
उसे यतन से तजूँगा निश्चय॥
तब भक्ति-बहिर्मुख सङ्ग नहीं करूँ।
गौराङ्ग विरोधियों पै दृष्टि नहीं करूँ॥
भक्ति प्रतिकूल आगार न करूँ स्थापित।
भक्ति के अप्रिय वस्तु न करूँगा रति॥
भक्ति के विरोध ग्रन्थ पढ़ूँ न सुनूँ।
भक्ति की विरोधी बातें कभी न सुनूँ॥
गौराङ्ग-वर्जित भूमि तीर्थ नहीं मानूँ।
भक्ति में बाधक ज्ञान-कर्म तुच्छ जानूँ॥
भक्ति में बाधक चिन्ता न करूँ काज।
भक्ति-विमुख निज जन को भी समझूँ पर॥
भक्ति बाधिका स्पृहा का करूँ वर्जन।
अभक्त लोगों का अन्न न करूँ ग्रहण॥
भक्ति-प्रतिकूल जितने मन हुए ज्ञानी।
तजूँगा अवश्य उसे निरन्तर मम वाणी॥
भक्ति-विनोद पड़के प्रभु के चरण।
माँगता ये शक्ति, प्रतिकूल हो वर्जन॥

श्रीपुण्डरीक विद्यानिधि

(पूर्व प्रकाशित के उपरान्त)

नवद्वीप में वासस्थान का स्थापन

महर्षि पाणिनि कथित "गौड़पुर-नवद्वीप" उस समय सब विद्याओं का केन्द्र स्वरूप था। उसमें पहिले "सेन"-राजवंशियों ने यहीं "गंगावास" के लिये बहुत सी इमारतें बनवाईं और उनकी कीर्तिस्तम्भरूप बहुत बड़ी दीर्घिकायें (झीलें) खुदवाईं। यहीं पर उस समय के मुसलमान फ़ौजदार का आसन (Seat of Government) था। उसके निकट ही परम निष्ठावान् ब्राह्मण ज्योतिर्विद कुलचूड़ामणि श्रीनीलाम्बर जी चक्रवर्ती महाशय ने अपना वासस्थान स्थापन किया था। शुद्ध वैष्णवश्रेष्ठ द्विजकुलचूड़ामणि श्रीवास पण्डित, ब्राह्मणश्रेष्ठ श्रीजगन्नाथ जी मिश्र पुरन्दर, भक्तवर श्रीधर पण्डित, श्रीमुरारि गुप्त-प्रभृति ने भी "गंगावास" के लिये श्रीधाम-मायापुर-नवद्वीप में अपना-अपना वासस्थान प्रतिष्ठित किया था। श्रीपुण्डरीकजी के पूर्व परिचित चट्टग्राम निवासी श्रीमुकुन्ददत्त ठाकुर व उनके भ्राता श्रीवासुदेवदत्त ठाकुर भी श्रीनवद्वीप मण्डल में ही वास करते थे। श्रीपुण्डरीकजी 'ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्' इस भागवतोक्त विचारानुसार स्वदेशस्थ बहिर्मुख समाज के दुःसङ्ग को छोड़ने का आदर्श दिखलाते हुए विद्यार्जन के बहाने से उक्त वैष्णव महोदयों के साथ श्रीगुरु-गौराङ्ग के सेवाकांक्षी होकर श्रीनवद्वीप में पधारे।

यह पहिले ही कह आये हैं कि मेखला के जमींदार राजाराम चौधरी ने वाणेश्वर गङ्गोपाध्याय महाशय को बहुत सी भूसम्पत्ति दान की थी। बहु-भूसम्पत्तिशाली गङ्गोपाध्याय महाशय ने यह देख कर कि उनके एक मात्र दुलारे पुत्र नवद्वीप में अध्ययनार्थ गये हैं, पुण्डरीकजी की इच्छानुसार नवद्वीप में एक ठहरने की जगह के तौर पर मकान बनवाया। श्रीमन्महाप्रभु की उक्ति से मालूम होता है कि—

> "चाटिग्रामे आछेन, एथाओ बासा आछे।
> आसिबेन सम्प्रति, देखिबा किछु पाछे॥"
>
> (चै० भा० म० ख०)

अर्थात् श्रीमन्महाप्रभु नवद्वीप में रहते हुए भक्तों से कह रहे हैं कि "पुण्डरीक नामक चट्टग्रामवासी मेरे एक प्रिय भक्त इस समय चट्टग्राम में हैं, इस नवद्वीप में भी उनका मकान है। वे शीघ्र ही नवद्वीप में आवेंगे, तुम उनको थोड़े दिन बाद देखोगे।

श्रीमाधवेन्द्रपुरी के साथ साक्षात्कार

जिस समय श्रीपुण्डरीकजी नवद्वीप में रहते थे, उस समय श्रीचैतन्य महाप्रभुजी के कल्पवृक्ष के आद्य-मूल स्वरूप श्रीब्रह्ममध्वसम्प्रदाय के आचार्यवर परमहंस कुलमुकुटमौलि संन्यासि-चूड़ामणि श्रीमाधवेन्द्रपुरीपाद के साथ पुण्डरीकजी का साक्षात्कार हुआ। दोनों के मिलने से प्रेमामृतसिन्धु उमड़ उठा—मानों दोनों में परस्पर कब का परिचय था।

पुरीपाद का नवद्वीप विचरण

श्रीमाधवेन्द्रपुरीपाद श्रीअद्वैताचार्यप्रमुख गौरावतार के अग्रदूतों से मिलकर प्रेमकल्पवृक्ष का रसास्वादन करने के लिये बहिर्मुखों की आँख बचा कर श्रीगौरकृष्ण के भावी विहार-क्षेत्र नवद्वीप-मण्डल के विभिन्न स्थानों में कृष्ण प्रेमावेश में भ्रमण करने लगे और (गौर-अवतार होने के) पहिले से ही गौरपार्षदों के हृदयों को महाभाव की मूर्तिस्वरूप श्रीगौरकृष्ण की आगमनी-प्रीति से परिपूरित व कृष्णप्रेम में अभिषिक्त व दीक्षित करने की लीला प्रकाश की। "श्रीगौराङ्ग प्रभु को पृथ्वी पर लानेवाले ठाकुर" श्रीअद्वैताचार्य, (किसी-किसी के मत से) श्रीगौरसुन्दर के "द्वितीय तनु" श्रीनित्यानन्द प्रभु, कृष्णलीलामृत-रस से पूर्ण-हृदय व स्वराट्

सुन्दर श्रीगौरसुन्दर के (लीला की दृष्टि से) गुरु बननेवाले श्रीईश्वरपुरीपाद आदि श्रीगौरकृष्णावतार के अग्रदूतगण ने श्रीमाधवेन्द्रपुरी से कृष्णदीक्षादि लेकर कृष्णदीक्षादिग्रहण की लीला व आदर्श प्रदर्शन किया।

पुरीपाद से दीक्षा-प्रार्थना

दैवयोग से प्रेममय गौर-लीला के रङ्गमञ्च (Stage) पर और एक परम प्रेमिक पात्र (Actor) के साथ "कृष्णप्रेमपूर" श्रीमाधवेन्द्र-पुरीपाद से भेंट हुई। यह प्रेमिक पात्र हैं, हमारे पुण्डरीकजी। श्रीमाधवेन्द्रपुरी के साथ पुण्डरीकजी का साक्षात्कार होने पर पुण्डरीकजी को ऐसी प्रतीत हुई कि जैसे किसी को बहुत दिनों से आकांक्षित या वाञ्छित धन का पता लग जाने के अनुभव से होती है और पुण्डरीकजी प्रेमपुलक से विभूषित हो गये व श्रीमाधवेन्द्रपुरी-पाद को महाभागवतोत्तम सद्गुरु समझ कर उन्होंने पुरीपाद से कृष्णदीक्षा की प्रार्थना की।

पुरीपाद द्वारा शिष्य की दृढ़ता परीक्षा-लीला

पुरीपाद श्रीपुण्डरीकजी को कृष्ण का निज-जन जानते थे। तो भी उन्होंने लोकशिक्षार्थ बाह्य रूप से पुण्डरीकजी से यह कहा कि "पुण्डरीक, तुम विष्णु-वैष्णव-विद्वेषी घोर शाक्त-कुल में उत्पन्न हुए हो; तुम्हारे माता-पिता तामस-तान्त्रिक-विचार-परायण हैं। इस हालत में यदि तुम को कृष्ण-मन्त्र में दीक्षित किया जाय, तो तुम्हारे बहिर्मुख समाज का तुम्हारे साथ अत्यन्त क्रूर व्यवहार व नाना प्रकार का पीड़न होगा। क्या तुम उस समय अपने भजन में परिनिष्ठित रह सकोगे ?"

पुण्डरीकजी का प्रत्युत्तर

श्रीपुरीपाद की इस बात को सुनकर पुण्डरीकजी ने सविनय नम्रतागर्भ वाक्यों में यह उत्तर दिया कि—"प्रभुपाद, आपके चरण-कमलों की कृपा से बहिर्मुख समाज तो क्या, पृथिवी के—चौदहों ब्रह्माण्ड के नख-से-केशाग्र तक विष्णु-वैष्णव-विरोधी जीवगण, यहाँ तक कि विरजा ब्रह्मलोक के निर्विशेष विचार, और अधिक क्या कहूँ, वैकुण्ठ (भगवान) के ऐश्वर्यमय विचार भी मुझको कृष्ण-पादपद्म की सेवा से बिन्दु मात्र भी डिगा नहीं सकते। आप-जैसे श्रीगुरुदेव की निष्कपट कृपा यदि मैं निष्कपट हृदय में धारण कर सकूँ, तो इस सामान्य विघ्न-बाधा की तृण-तुल्य भी परवा नहीं, प्रभुपाद, आप की कृपा से श्रीमद्भागवत में सुना है—

> तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्
> भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
> त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
> विनायकानीकपमूर्द्धसु प्रभो ॥

(अर्थात्) हे माधव ! आपके भक्त आपके श्रीचरणों से सुदृढ़ प्रेमबन्धन द्वारा बँधे हुए हैं। वे कभी भी तुम्हारे मार्ग से (मुक्ताभिमानी-आरोहवादियों की तरह) अधःपतित नहीं होते। वे आपके द्वारा सुरक्षित होकर विघ्नकारियों के मस्तक पर पदचारण करते हुए निर्भय होकर विचरण करते हैं।"

भागवत के श्लोक द्वारा गुरु-वन्दना

पुण्डरीकजी ने श्रीमद्भागवत के उक्त श्लोक द्वारा श्रीमाधवेन्द्र - गुरुदेव की श्रीचरणवन्दना कर गुरु-कृपा का कैसा बल होता है, अर्थात् श्रीबलदेवजी से अभिन्न विग्रह रूप श्रीगुरुदेव के श्रीचरण-रज का कैसा अमित प्रभाव है, यह बात जगत् को दिखा दी। लोकशिक्षक जगद्गुरु गौर-पार्षद पुण्डरीकजी ने इसके द्वारा साधक जीवों को यह शिक्षा दी कि जो लोग निष्कपट भाव से सद्गुरु के श्रीचरणों का आश्रय लेते हैं, जगत् की किसी प्रकार की विघ्न-बाधा, माया की किसी प्रकार की ठग-विद्या और किसी प्रकार की भगवद्विमुखता उनके सामने विक्रम प्रकाश नहीं कर सकती।

पुण्डरीकजी का सुतीव्र भक्ति-योग व कृष्णानुसन्धान

श्रीमाधवेन्द्रपुरीपाद ने पुण्डरीकजी के मुखपद्म

द्वारा जगत् को यह शिक्षा देने के लिये ही नित्य सिद्ध भगवत्पार्षद के साथ (उनकी पूर्वकथित तद्-परीक्षासूचक) बातचीत की थी। पुण्डरीक जी की बातों से अति सन्तुष्ट होकर पुरीपाद ने पुण्डरीक जी के कान में महामन्त्र देकर उनको भागवती दीक्षा में दीक्षित किया। पुण्डरीक जी ने श्रीभगवान के अभिन्न तनु महाभागवतोत्तम गुरुदेव से दीक्षा-लाभ करके भगवद्-भजन में तीव्र अनुराग प्रदर्शन किया और नवद्वीप में श्रीगङ्गाजी के किनारे-किनारे श्रीकृष्णप्रेम में मग्न होकर कृष्णानुसन्धान-लीला प्रकाश करते रहे।

'विद्यानिधि'-उपाधि-लाभ

इधर पुण्डरीकजी ने नवद्वीप में विद्यार्जन की जो लीला रच रक्खी थी, उस लीला की भी इतिश्री हुई। नवद्वीप के पण्डित-समाज ने विद्यानिधि का अशेष पाण्डित्य, तीक्ष्ण मेधा व असाधारण प्रतिभा को देखकर उनको 'विद्यानिधि'-उपाधि से विभूषित किया।

धर्म-प्रचार

श्रीपुण्डरीक जी "विद्यानिधि" उपाधि से विभूषित होकर नवद्वीप से मगला ग्राम में पहुँचे, तो उनका रूप कैसा था ! वैष्णवोचित वेश- कण्ठ में श्री तुलसी की माला, ललाट पर गोपी चन्दन का ऊर्ध्व पुण्ड्र तिलक, हाथ में श्रीतुलसी की जप-माला। देश व समाज के लोग पुण्डरीक जी के इस अपूर्व वेश को देखकर खुशी न हो सके। लोगों ने मन में विचार किया था कि पुण्डरीकजी नवद्वीप से पण्डित होकर आये हैं, अब हमारे शाक्त-समाज की उन्नति वर्द्धन व कौलधर्म के आचार-प्रचार द्वारा हमारे पूर्व पुरुषों व देश या समाज का मुखोज्ज्वल करेंगे ; परन्तु उसके बदले पुण्डरीकजी तान्त्रिक अनुष्ठानों की निकृष्टता, शाक्तमत का अवैदिकत्व व भागवत-धर्म का सनातनत्व प्रचार करने लगे।

पुण्डरीकजी श्रीमद्भागवत शास्त्र के असाधारण पण्डित थे। वे श्रीमद्भागवत को ही वेदान्त का अकृत्रिम भाष्यरूप से प्रचार करके श्रीमद्भागवत के वास्तव सत्यपूर्ण सुसिद्धान्तों को सर्वत्र फैलाने में कटिबद्ध हुए। कर्म-ज्ञान-योग तप व व्रतादिमार्ग, 'अन्याभिलाष'मय शाक्तमत तथा नाना प्रकार के मनुष्य-कल्पित धर्ममत--सभी कपटता पूर्ण हैं-- उन मार्गों में प्रविष्ट होने से लोगों को कभी भी वास्तव सत्य का सन्धान प्राप्त नहीं होता—यही नाना प्रकार की शास्त्रयुक्ति व वेदादि शास्त्रों के प्रमाणों से समझाकर सबको भ्रमजाल से मुक्त कर भागवत-धर्म में दीक्षित होने का परामर्श देने लगे। पुण्डरीकजी के साथ "शास्त्रार्थ" में कोई भी 'अन्याभिलाष'मय शाक्तमत की पुष्टि करने में समर्थ नहीं हो सका है, यह देखकर इन्होंने पुण्डरीक-जी को नाना प्रकार से कष्ट देने की ठान ली। पहिले तो वे पुण्डरीकजी के माता-पिता के पास जाकर बोले कि "जिस किसी उपाय से हो पुण्डरीक को वैष्णव धर्म से च्युत करना ही चाहिये; क्योंकि वे वैष्णव-धर्म के आचारों का प्रचार करके देश, समाज व पूर्व पुरुषों के कौलिक-धर्म पर ग्लानि उत्पादन तथा नास्तिक मत को लोगों की नजरों में अत्यन्त हेय प्रतिपादन कर रहे हैं। पूर्व-पुरुषों ने जिस धर्म का पालन किया है, देश व समाज के लोग जिस धर्म में चिरकाल से दीक्षित हैं, उस धर्म का त्याग करके भला हम बालक पुण्डरीक के बताये हुए नास्तिक मत का आदर कैसे कर सकते हैं ? वैष्णव-धर्म को तो हम हृदय से घृणा करते हैं। हम लोगों की जिस धर्म में रुचि नहीं है, जिस धर्म में देवी की मद्याक्तिनी, मांस का पाक व पञ्चमकारादि का 'आनन्द बाजार' नहीं है, जिस धर्म में चक्र, चक्रेश्वर, भैरव, भैरवी प्रभृति का नाम तक नहीं है, ऐसे "रस-हीन" धर्म को हम कदापि धर्म नहीं कह सकते।" वे यह भी कहने लगे कि "ब्राह्मणादि उच्चवर्ण कभी भी वैष्णव धर्म ग्रहण नहीं करते, निम्न श्रेणी के व पतित लोग ही उस धर्म को ग्रहण किया करते हैं। वैष्णव धर्म अवैदिक है। वैष्णव धर्म में वर्णाश्रम धर्म का आदर नहीं है, अतएव यह धर्म कुछ यथेच्छाचारी लोगों का भावकेलिपूर्ण अवैध अनुष्ठान मात्र है।

पुण्डरीकजी के माता-पिता ने अपने चिराभ्यस्त-

अभ्यास व सामाजिकों के ज़ोर डालने से पुण्डरीक को कुल-परम्परागत कौलिक-मत पर चलने के लिये बहुत-कुछ अनुरोध किया। परन्तु नित्य-सिद्ध 'वैष्णवप्रधान' पुण्डरीकजी ने शास्त्रयुक्ति न समझनेवाले समाज के समस्त अवैध कोलाहल को शान्त व माता-पिता के सामने सनातन वैष्णव-धर्म का श्रेष्ठत्व व महत्त्व स्थापन किया। पुण्डरीकजी ने पितृरूपी बाणेश्वर गङ्गोपाध्याय महाशय से कहा—"पितः, आप पण्डित होकर शास्त्रविचार क्यों नहीं करते ! अनभिज्ञ लोगों की भेड़चाल के बहाव में बह जाना क्या आप-जैसे अभिज्ञ, प्रवीण व पण्डित के लिये उचित है ! आप बहिर्मुख समाज के द्वारा सताये जाने के डर के मारे अखिल वेद-वेदान्त-प्रतिपाद्य समग्र चेतन-सत्ता के लिये एक मात्र कल्याणकर सनातन वैष्णव-धर्म त्याग करने के लिये मुझे परामर्श देते हैं !

श्रीमद्भागवत में कहा है:—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दात्
लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः॥

अर्थात् त्रिभुवन का आधिपत्य मिल जाने पर भी जो कि इन्द्रादि देवताओं के वाञ्छित भगवत्-पादपद्म से निमेषार्द्ध के लिये भी विचलित नहीं होते, जिन्होंने भगवच्चरणारविन्द को ही सारात्सार समझकर दृढ़ निश्चय कर लिया है, वे ही भागवतोत्तम हैं। जो कि हरि-स्मरण के कारण देह के जन्म मरणादि-धर्म, प्राणों के क्षुत्पिपासा-धर्म, मन के भय-धर्म, बुद्धि के तृष्णा-धर्म तथा इन्द्रियों के परिश्रमरूप संसार-धर्म से मोहित नहीं होते वे भागवत प्रधान हैं।

महर्षिगण, ब्राह्मणश्रेष्ठगण— सभी वैष्णव धर्म के याजक हैं। अनादिकाल से मुनिगण सत्त्वतनु विष्णु की ही उपासना करते चले आ रहे हैं—

भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम्।
सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनु तानिह॥

अर्थात् सत्त्वगुणयुक्त ऋषियों ने पुराकाल में केवल सत्त्वमय-मूर्त्ति अप्राकृत वैकुण्ठाधीश्वर विष्णु की सेवा की थी। अतएव इस संसार में जो सारग्राही पुरुष उन भजनपरायण मुनियों का अनुवर्तन करते हैं, उनका अनुष्ठान चरम कल्याणकारक समझा जाता है।

ब्राह्मण-श्रेष्ठगण रुद्र, शक्ति प्रभृति तामसिक देवताओं की अर्चना परित्याग कर सदैव निर्गुण श्रीहरि की आराधना करते हैं।

मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ।
नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः॥

अर्थात् मुमुक्षु-शान्त साधुगण भयङ्कराकृति पितृ-भूत-प्रजापति प्रभृति को परित्याग कर असूया निवृत्तिहेतु अनिन्दक अमत्सर नारायण के अवतारों की आराधना करते हैं।

देखिये, लोक पितामह ब्रह्मा—जो कि ब्राह्मणगणों के आदि जनक हैं, वे आदि वैष्णव हैं। देवादिदेव महादेव सर्वश्रेष्ठ वैष्णव हैं। श्रीलक्ष्मी देवी वैष्णवधर्म की प्रवर्तक हैं। सनक-सनत्कुमार सनातन व सनन्दन— ये भी वैष्णवधर्म के प्रवर्तक हैं। ब्राह्मण श्रेष्ठ रामानुज, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी, निम्बार्क—ये सभी वैष्णवधर्म के आचार्य व प्रचारक थे। युग युग में निखिल ब्राह्मणगण इस वैष्णव धर्म में दीक्षित हुए हैं। वैष्णवगण वास्तव में ब्राह्मणोत्तम या ब्राह्मणगुरु हैं। अब्राह्मण कभी भी "वैष्णव" नहीं हो सकता। जो लोग शूद्र हैं—जिनके विचार तामसिक हैं, वे निर्गुण श्रीविष्णु की उपासना परित्याग कर कामना-पूर्ण कराने की अभिलाषा से अन्य देवताओं की आराधना में आसक्त होते हैं:—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥

इसका विशदार्थ यह है कि आर्तादि भक्तगण कामरूप कषाय से रहित होकर सभी भक्ति करते हैं। जब तक उनमें से कामरूप कषाय निकल नहीं जाता, तब तक वे स्वभावतः बहिर्मुख रहते हैं।

कामना रखते हुए भी जो मेरे स्वरूप का आश्रय लिये रहते हैं, वे बहिर्मुखता को आश्रय नहीं देते। मैं अति अल्पकाल में उनके "काम" को दूर कर देता हूँ। परन्तु जो लोग मुझसे बहिर्मुख हैं और काम-द्वारा हृतज्ञान होकर शीघ्र क्षुद्र फल-प्राप्ति की लालसा से उन काम्यफलदाता देवताओं की उपासना करते हैं, वे विशुद्ध सत्त्वरूप मुझको नहीं चाहते; क्योंकि वे अपनी तामसिक व राजसिक प्रकृति द्वारा चालित होकर उन क्षुद्र नियमों का पालन कर तदनुरूप देवताओं की उपासना करते हैं। अन्तर्यामी स्वरूप मैं, जिसकी जो कोई भी उपास्य देवमूर्ति होती है, उसी में उसकी श्रद्धानुसारी अचला श्रद्धा उत्पन्न कर देता हूँ।

विष्णु ही ब्राह्मणों के एकमात्र उपास्य हैं यह वेद उच्च स्वर से पुकार कर कह रहे हैं। ब्राह्मणों का आचमनीय मन्त्र इस नित्य ब्राह्मणों में प्रचलित मत का यों प्रचार कर रहा है:—

"ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्। तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत् परमं पदम्॥"

(१ । २२ । २० ऋक्)

अर्थात् आकाश-स्थित् सूर्यालोक लाभ कर आँखें जैसे बिना किसी बाधा के चारों ओर देखने को समर्थ होती हैं, उसी तरह ज्ञानीगण विष्णु भगवान के परम पद को सदा प्रत्यक्ष देखते हैं। भ्रम-प्रमादादि दोषवर्जित भगवन्निष्ठ साधुगण ही श्रीविष्णु भगवान के जो परम पद है उनका सर्वत्र प्रकाश (प्रचार) करते हैं।

वैष्णव धर्म को केवल निम्न श्रेणी के और पतित लोग ही ग्रहण करते हैं—यह कहना ईर्ष्यामूलक है। मनुष्य मात्र को ही वैष्णव धर्म में अधिकार है। मनुष्य मात्र ही क्यों, जीव मात्र—निखिल आत्माओं का—वरं समस्त चेतन सत्तावालों का वैष्णवधर्म में अधिकार है; क्योंकि वैष्णवधर्म—जैवधर्म, आत्मधर्म तथा सनातनधर्म है। और जितने धर्म-मत हैं, सभी देह व मनोधर्म होने के कारण अचिरस्थायी व नैमित्तिक धर्ममात्र हैं। जो सर्वोत्तम होकर भी अपने को तृण से भी "नीच" समझते हैं, ऐसे महत्तम व्यक्तिगण ही वैष्णवधर्म के अधिकारी हैं। जो वैष्णव हैं, वे पतितपावन हैं, निखिल पतित जीवों को—"अन्याभिलाष"—कर्म-ज्ञान-योगादि असत्-मार्गों में पड़े हुए पतित जीवों को वे पतितपावन वैष्णव महात्मागण ही उद्धार कर सकते हैं।

वैष्णवधर्म ही निखिल वेद-वेदान्त का प्रतिपाद्य है:—

"वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥"

अर्थात वेदों के, रामायण के, महाभारत पुराणों के आदि, मध्य और अन्त में सर्वत्र एक मात्र श्रीहरि ही का गुणगान है।

वेदादि शास्त्रों ने विष्णु की ही सर्वोत्तमता व विष्णु पूजा की ही परम कर्तव्यता सिद्ध की है। श्रीगीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं—

"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥"

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

इसका विवृतार्थ यह है कि "मैं सर्ववेदवेद्य भगवान् समस्त वेदों का कर्ता और वेदान्तवित् हूँ। वस्तुतः सच्चिदानन्द स्वरूप मैं ही एक मात्र परमेश्वर हूँ। मुझसे भिन्न वा स्वतन्त्र कोई देवता नहीं है। सूर्यादि देवताओं की बहुत से लोग उपासना करते हैं। परन्तु मैं स्वयम अपने ही रूप में सर्वदा अप्राकृत सच्चिदानन्द प्रपञ्चातीत तत्त्व हूँ। प्रपञ्च के बीच माया के गुणों द्वारा मेरे प्रतिभात स्वरूपों को, प्रपञ्च में फँसे हुए मनुष्य 'वे और-और देवता हैं।' यह समझकर उनकी उपासना करते हैं। विचार कर देखा जाय, तो वे मेरे गुणावतार हैं। उनके तत्त्व को तथा मेरे स्वरूपतत्त्व को जानकर जो इन देवताओं को मेरे गुणावतार समझकर भजन करते हैं, उनका भजन वैध अर्थात् उन्नति प्राप्त करने की शैली के अनुकूल है। परन्तु जो उन देवताओं को नित्य समझकर उपासना करते हैं, वे (मेरा) अविधि पूर्वक पूजन करते हैं। इसलिये उनको नित्य-फल नहीं मिलता।"

वैष्णवधर्म में अदैव (अर्थात् आसुरी भावापन्न) वर्णाश्रम का अनादर है, परन्तु दैव वर्णाश्रम का आदर वर्तमान है। तान्त्रिक मतादि में ही वर्णाश्रम का व्यभिचार दीख पड़ता है। केवल विष्णूपासना छोड़कर वर्णाश्रम का स्थायित्व कदापि नहीं रह सकता। शुद्ध विष्णूपासना के बिना ब्राह्मणत्व संरक्षित नहीं रह सकता, अर्थात् ब्राह्मणत्व से पतित होना पड़ता है।

"ब्राह्मणोऽपि मुनिर्ज्ञानी देवमन्यं न पूजयेत्।
मोहेन कुरुते यस्तु सद्यश्चाण्डालतां व्रजेत्॥"

वस्तुतः वैष्णवगण ही वर्णाश्रमियों के गुरु व नियामक हैं, और विष्णूपासना ही वर्णाश्रम की प्रतिष्ठा है। विष्णूपासना से भिन्न अन्याभिलाषमय शोकजनक जो-जो धर्म हैं, उनमें ही शूद्र व वर्णाश्रम-बहिर्भूत अर्थात् पतित यथेच्छाचारी लोगों का अधिकार है। शास्त्र कहते हैं :-

"द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
विष्णुभक्तः स्मृतो दैव आसुरस्तद्विपर्ययः॥"

अर्थात् इस लोक में दैव व आसुर दो प्रकार की भूतसृष्टि है। जो विष्णुभक्त हैं, वे दैव और जो विष्णु-विरोधी हैं, वे उसके विपरीत अर्थात् आसुर स्वभावयुक्त हैं।

"वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम्॥"

वर्णाश्रम आचारवाला पुरुष विष्णु भगवान् की आराधना करता है। वर्णाश्रम के सिवा उनको सन्तुष्ट करने का और कोई उपाय नहीं है।

"मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥
य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥"
"चारिवर्णाश्रमी यदि कृष्ण नाहि भजे।
स्वकर्म करिते ओ से रौरवे पड़ि मजे॥"

विराट् पुरुष के मुख-बाहु-ऊरु व पद से सत्त्वादि गुण व ब्रह्मचर्यादि चार आश्रमों के साथ क्रम से ब्राह्मणादि चार वर्ण उत्पन्न हुए। इनमें से जो लोग साक्षात् निज पिता ईश्वर का भजन नहीं करते, वरन उनकी अवज्ञा किया करते हैं, वे स्थानभ्रष्ट होकर अधःपतित होते हैं।

चातुर्वर्ण्य

चतुर — वर्ण + स्वार्थे ष्यञ या ष्णय प्रत्यय द्वारा चातुर्वर्ण्य शब्द बना है। जैसे चातुर्मास्य-शब्द चतुर-मास-ष्णय प्रत्यय से सिद्ध है, वैसे ही 'चातुर्मास्य' शब्द का अर्थ है चतुर अर्थात् चार मास में (आषाढ़ महीने की शुक्लाद्वादशी या मतान्तर से आषाढ़ पूर्णिमा से कार्त्तिक शुक्ला द्वादशी या कार्त्तिक पूर्णिमा तक) साध्य कृत्य या व्रतविशेष। 'चातुर्मास्य' शब्द से चार महीने के किसी विशेष कृत्य या धर्म का लक्ष्य नहीं होता, बल्कि चार महीने में होनेवाले समस्त कर्म माने जाते हैं, वैसे ही चातुर्वर्ण्य कहने से किसी मनुष्य-विशेष का लक्ष्य न कर चतुर्वर्ण के धर्म, स्वभाव, गुण और कृत्य-समष्टि का ही मतलब निकलता है। धर्म या स्वभाव समूह गुणवाचक है, सुतरां किसी वस्तु-विशेष में क्रिया द्वारा प्रकाशित न होने से, वह समझा नहीं जा सकता। जैसे दया एक स्वभाव या गुण-विशेष है। वह जब किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा किसी दया के काम से प्रकाशित होता है, तब हमलोग दया के माहात्म्य को समझ सकते हैं और जिसमें वह गुण दिखाई देता है, उसे दयावान् समझकर उसका आदर करते हैं। वैसे ही चारवर्णों के विशेष-विशेष स्वभाव जब किसी मनुष्य में दिखाई देते हैं, तब उन्हें उन-उन स्वभावों से गुणान्वित समझ उन्हीं-उन्हीं वर्णों का समझते हैं। कर्म ही गुण की अभि-

स्वाभाविक या प्रकाश है। यह कर्म द्वारा ही प्रकाशित होता है, कि कौन किस स्वभाव या किस वर्ण का है। इसीसे श्रीभगवान ने श्रीगीता के ४थे अध्याय में १३ वें श्लोक में कहा है—

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।'

गुणकर्म के विभाग के अनुसार अर्थात् मनुष्य के स्वभाव और स्वभाव-प्रकाशित कर्म-विभाग के अनुसार (जैसे—ब्राह्मण का स्वभाव—शम, दम, तितिक्षा, सरलता, भगवद्भक्ति, कर्म अर्थात् भगवत्-कार्य में चेष्टा, सब जीव में दया-प्रकाश इत्यादि) मैंने चतुर-वर्ण साध्य धर्म या उस गुण से गुणान्वित चारों वर्ण की सृष्टि की है।

वर्ण या रङ्ग के द्वारा वस्तु की विशिष्टता मानी जाती है। जैसे—जगत् में रङ्ग के द्वारा वस्तु पहचानी जाती है, वैसे ही स्वभाव या गुण के द्वारा मनुष्य का वर्ण देखा जाता है। जिसका वर्ण है, उसे वर्णी कहते हैं। वर्ण का दूसरा नाम स्वभाव या गुण है। कर्म से ही गुण या स्वभाव प्रकट होता है।

गीता में कही गई भगवान् की वाणी का सार ग्रहण कर विचार करने से मालूम होता है कि भगवान् के कहने का यह उद्देश्य नहीं है कि उन्होंने एक ब्राह्मण एक क्षत्रिय, एक वैश्य और एक ही शूद्र को गुण और कर्म के विभाग के अनुसार सृष्ट कर दिया और बाद को उन्हीं ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय का पुत्र क्षत्रिय, वैश्य का पुत्र वैश्य और शूद्र का पुत्र शूद्र वर्ण में माना जाता रहेगा। यदि ऐसा ही होता, तो गुण कर्म के विभाग के अनुसार सृष्ट ब्राह्मण-वर्ण के पुत्र में ब्राह्मण के गुण का फ़र्क़ न होता। अनेक समय ब्राह्मण के पुत्र में क्षत्रिय का गुण या वैश्य-शूद्र के गुण की अधिकता दिखाई देती है। दूसरी बात यह कि यदि श्रीभगवान् ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णों को गुण-कर्म के विभाग के अनुसार ही सृष्ट किया, तब क्या उनके गुण-कर्मानुसार वर्ण के निर्णय की प्रणाली सब जीवों के प्रभु भगवान् के लिये ही केवल क़ानून के रूप में प्रस्तुत हुई थी? यथेच्छाचारी मनुष्यों के लिये उस प्रणाली या क़ानून के भङ्ग करने से कोई दोष तो न होगा? क्या भगवान् के आचरण या श्रेष्ठ मनुष्यों के आचरण इतर मनुष्यों के लिये आदर्श नहीं हैं? तीसरी बात यह कि यदि श्रीभगवान् ने शुरू के हिसाब से वर्ण बाँध रखने के लिये चार वर्ण के चार मनुष्य या विराट् पुरुष के मुख से एक ब्राह्मण, बाहु से एक क्षत्रिय, जङ्घा से एक वैश्य और पैर से एक शूद्र की सृष्टि की है—श्रीगीता के 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं' इत्यादि वाक्य का ऐसा ही अर्थ किया जाय, तो देखना चाहिये कि महाभारत शान्ति पर्व, मोक्ष-धर्म के अध्याय १८८ में लिखा है:—

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥

अर्थात् ब्रह्मा द्वारा पहले की सृष्टि समग्र जगत् ही ब्राह्मण था। जीवों में वर्ण का पार्थक्य नहीं था। बाद को कर्म-द्वारा भिन्न-भिन्न वर्ण की संज्ञा हुई है।

अथवा बृहदारण्यक श्रुति का कहना:—

"ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत्।"

पहले किसी तरह का वर्णभेद नहीं था, सभी मनुष्य ब्रह्म या ब्राह्मण के नाम से परिचित थे। इन सब उक्तियों में विरोध उत्पन्न होता है; क्योंकि श्रीभगवान् ने यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्ण के चार ही मनुष्य सृष्ट किये होते तो 'पहले मनुष्यों में वर्णभेद नहीं था', ऐसा कहना परस्पर असामञ्जस्य पूर्ण जान पड़ता है। फिर श्रीमद्भागवत में ही लिखा है, कि विराट् पुरुष के मुख, बाहु, ऊरु और चरण से यथाक्रम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण उत्पन्न हुए। इन सब परस्पर विवाद उपस्थित करने वाली उक्तियों में सामञ्जस्य कहाँ है?

पहले ही कहा गया है कि 'चातुर्वर्ण्य' शब्द से चतुर्वर्ण के साध्य कृत्य-धर्म, स्वभाव या गुण का लक्ष्य होता है। इन सब गुणवाचक धर्म-समूह में से किसी विशेष वस्तु के धारण करने से गुण-समूह का समझ में आना सम्भव है। सुतरां सृष्टि के प्रारम्भ में मनुष्यों में जब निर्विशेष-वर्णगत भाव था, तब भी भगवान् का सृष्टिचतुर्वर्ण-धर्म, स्वभाव

या गुण का होना असम्भव नहीं। समष्टि का भाव सभी समय वर्त्तमान रह सकता है। वे सब समष्टि-भाव अपने-अपने उपयोगी आधार-समूह को प्राप्त हो बाद को प्रकाशित हुए। क्रेतायुग में मनुष्यगण अपने-अपने आचार को प्रकट करनेवाले स्वभाव के भेद से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में चुने गये। मुख का धर्म वेदपाठ या कीर्तन है। सुतरां ब्राह्मण वर्ण विराट् पुरुष के मुख से निकले अर्थात् शास्त्र के कीर्तन का स्वभाव जिस मनुष्य में प्रकाशित हुआ, वे ब्राह्मण वर्ण हुए। आत्मज्ञान गुण है, गुण की अभिव्यञ्जक कर्म- अध्यापन और अध्ययन है।

बाहु का धर्म शस्त्रविद्या, पर-पालन, शासन इत्यादि है; सुतरां जिस मनुष्य में शौर्य, वीर्य, युद्ध में पारदर्शिता, प्रजाशासन इत्यादि गुण कर्म के द्वारा प्रकाशित होते हैं, वे क्षत्रिय वर्ण हैं। ऊरु का धर्म है, देश-भ्रमण, जहाज पर चढ़ना, वाणिज्य के लिये इधर-उधर आना-जाना, कृषि कार्य, पशुपालन; सुतरां जिन मनुष्य में यह सब स्वभाव कर्म द्वारा दिखाई दिये, वे वैश्य वर्ण और पैर का सेवा होता है; सुतरां जिन सब मनुष्यों में पर सेवा की वृत्ति कर्म द्वारा दिखाई दी, उन्होंने शूद्र की आख्या पाई।

चातुर्वर्ण्य, चातुर्मास्य, और चातुर्होत्र ये सब एक पर्याय के हैं। जैसे चातुर्मास्य शब्द से चतुर्मास में होनेवाले व्रत-विशेष और जैसे चतुर्होत्र शब्द से चार प्रकार के होतृ कर्म या धर्म माना जाता है, वैसे ही चातुर्वर्ण्य-शब्द से भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों का अपने अपने स्वभावज गुण या धर्म का ही लक्ष्य होता है। गुण वाचक भाव आदि जब कर्म-द्वारा किसी वस्तु या व्यक्ति में प्रकाशित होते हैं, तभी वे लोगों की आँखों के विषय बनते हैं। श्रीभगवान् ने चातुर्वर्ण्य अर्थात् चार वर्णों के साध्य धर्म या गुण की सृष्टि की है और उन सब गुणवाचक भावों को वहिर्जगत में प्रकाशित करने के लिये कर्म-द्वारा किसी व्यक्ति-विशेष में अभिव्यक्त किया है। सुतरां गुण समूह आधार, गुणी व्यक्ति-समूह आधेय, कर्म गुण-समूह के प्रकाशक और गुण-समूह ने चार श्रेणी में विभक्त हो गुणी को चार वर्णों में निरूपित किया है। सोलह पैसे का एक रुपया, बत्तीस पैसे का एक अठन्नी, सोलह पैसे की एक चवन्नी और आठ पैसे की एक दुअन्नी यही भारत राज्य के मुद्रा की नाप है। सोलह पैसे से एक पाई कम होने पर भी वह रुपया कहा नहीं जा सकता और भारत राज के राज्य में अविश्वता भी जितने सिक्के बनेंगे, वे सब पूर्वोक्त नाप के अनुसार ही होंगे। ऐसे ही भगवान के राज्य में भी भगवत् सृष्टि चतुर्वर्ग के निर्दिष्ट गुण और कर्म के अनुसार ही चार वर्णों का निर्णय होगा। भिन्न-भिन्न वर्णों के जो-जो गुण और कर्म निर्दिष्ट हुए हैं, उन-उन वर्णों में यदि उन-उन गुण और कर्मों का अभाव या न्यूनता दिखाई दे, तो उनको पूर्वोक्त मुद्रा मीमांसा न्याय के अनुसार उन-उन वर्णों में निर्दिष्ट किया जा सकता है। यदि ओवेर रूप से निर्देश किया जाय, तो व्यवहार में दोषयुक्त होना पड़ेगा। और यदि कोई निर्दिष्ट मूल्य से कम में निर्मित मुद्रा को असल मुद्रा बताकर चलावे, तब भी वह दण्ड के योग्य है।

सुतरां वे निर्दिष्ट गुण और कर्म सदा और सर्वत्र ही विद्यमान हैं। भगवान् के समय गुण और कर्म के अनुसार वर्ण-निरूपण भी अमल की काम में लाया जायेगा और इस समय वर्तमान तौर से माना नहीं जायेगा। यह किसी तरह भी देव वर्ण-विधान माना जा नहीं सकता। यह आसुरिक स्वार्थपूर्ण चेष्टा मात्र है।

गीता के अठारहवें अध्याय में भी आलोचित हुआ है कि स्वभावज गुण के द्वारा ही वर्ण निरूपित होता चाहिये। जैसे—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम्॥
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥

उक्त चार प्रकार के स्वभावों से ही मनुष्यों का वर्ण निरूपित हुआ है, जन्म-द्वारा न होने का कारण दिखाने के लिये ही भगवान अर्जुन से कहते हैं, कि शम, दम, तप, शौच, क्षान्ति, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य—ये कई एक ब्राह्मण के स्वभावज कर्म हैं। शौर्य, तेज, धृति, दाक्ष्य, युद्ध में चतुरता, दान, लोगों का नियन्तृत्व ये क्षात्रिय के स्वभावज कर्म हैं। कृषि, गोरक्षण, वाणिज्यादि—ये वैश्यों के स्वभावज कर्म हैं। ब्राह्मण, क्षात्रिय और वैश्य की सेवा का काम ही शूद्रों का स्वभावज कर्म है। यही वर्ण-निरूपण का वैज्ञानिक और श्रीभगवान् के श्रीमुख से कहा हुआ शास्त्रीय विचार है। इस वैज्ञानिक और वेदोक्त-विचार का उल्लंघनकर केवल शुक्र-जन्म-द्वारा वर्ण का निरूपण करने से समाज के प्राणशून्य-देह पर ज़ेवर पहनाने की तरह निरर्थक और उपहासास्पद मात्र होगा। भार्गवीय मनुसंहिता में भृगुजी ऋषि-गण से कहते हैं—

> "यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
> यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥
> यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला।
> यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः॥"

(२य अध्याय १२७-१२८)

जैसे काठ का बना हाथी और चमड़े का बना मृग केवल बाहरी आकार मात्र धारण करता है, किन्तु हाथी या मृग का कोई गुण उसमें नहीं होता; वह निर्बोध बालकों के खेलने से ही शोभा पाता है, वेदोज्ज्वल-बुद्धि-हीन ब्राह्मण भी वैसे ही है। जैसे नपुंसक का स्त्री-सहवास निष्फल है; जैसे गऊ और गऊ के सङ्गम से कोई फल नहीं होता; जैसे नासमझ आदमी को धन-दान करने से स्वयं ही भार होता है, वैसे ही वेदाध्ययन हीन ब्राह्मण भी किसी काम के नहीं।

कोई वेद के दो चार पद्य मुखस्थ या उलट-पलट लेने को ही वेद-पाठ न समझ बैठें। जो वेद-पाठ से वेद के सत् सिद्धान्त को ग्रहणकर सच्चे आचारवान् होते हैं, वे ही वेदोज्ज्वल बुद्धिविशिष्ट ब्राह्मण हैं। क्योंकि—

> आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
> आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत्॥

(मनुसंहिता १म अ० १०९)

आचार-भ्रष्ट होने से ब्राह्मण वेद का फल-भागी हो नहीं सकता। यदि वे आचार से संयुक्त रहें, तभी सम्पूर्ण फल-भागी हो सकते हैं।

अतएव जो सब ढोंगी मनुष्य-गुण, स्वभाव और कर्म के अनुसार वर्ण-निरूपण-प्रणाली का अनादर करते या केवल ज़बानी आदर दिखाया करते हैं, वे स्वयं वञ्चित होकर जगत् को वञ्चित करने की चेष्टा करते हैं। ढोंगी मनुष्यों का स्वभाव ही ऐसा है, कि खुद भी अच्छे न बनेंगे और जो अच्छा होना चाहता है, उसे भी अच्छा बनने न देंगे; क्योंकि ऐसा होने से उनकी अवस्था और भी खुल पड़ेगी। शास्त्र या प्राचीन देव-समाज ने कभी ऐसे ढोंगी धर्म को प्रश्रय नहीं दिया। इसी से बृहदारण्यक श्रुति, श्रीगीतोपनिषद्, श्रीमद्भागवत, श्रीमहाभारत, हरिवंश, मनुसंहिता, श्रीहरिभक्ति-विलास, सत्क्रियासार दीपिका, नारदपञ्चरात्र, आदि श्रुति, स्मृति, पुराण, पञ्चरात्र प्रभृति में सर्वत्र गुण और कर्म के अनुसार ही वर्ण-निरूपण का विषय लिखा गया है। श्रीमद्भागवत, हरिवंश प्रभृति ग्रन्थ में असंख्य उदाहरण भी दिये गये हैं।

जाति-बुद्धि

श्रीमन् कृष्ण द्वैपायन व्यास ने पद्म पुराण में लिखा है, —

अर्च्ये विष्णौ शिलाधीर्गुरुषु
नरमतिर्वैष्णवे जातिबुद्धिः ।
विष्णौ सर्वेश्वरेशे तदितर-
समधीर्यस्य वा नारकी सः ॥

जो भोग-परायण कर्मी हैं, वे अपनी-अपनी बुद्धि के दोष से अधःपतित हो यन्त्रणामय नरक के पथिक बनते हैं। कर्मफल के भोग का विचार ही बद्ध जीवों को स्वर्ग या नरक की राह का पथिक बनाता है। कर्म-भूमि में विचरण करने के समय जीव के भोग की प्यास पुण्य और पाप की सृष्टि कराती है। पुण्य के बल से कोई सुख भोगनेवाले स्वर्ग को प्राप्त और महः, जन, तपो-लोक लाभकर निरपेक्ष भूमिका पर अधिरोहण करते हैं। पुण्य के क्षय से फिर कर्म-भूमि की ओर पतन की योग्यता के क्रम से पाप-प्रवृत्तिवाले बनने से दुःख-भोग के चिरन्तन क्लेश उठाना ही जीव के ललाट-पट्ट पर अंकित होता है। सुख की आशा से दुःख दूर करने की वासना को ही इन्द्रिय-तर्पण का सार वस्तु समझकर भ्रान्त जीव परमार्थ-पथ का पथिक बनने में बाधा पहुँचाता है। वासना ही कर्म में प्रवृत्ति कराती है। कर्म में प्रवृत्त मनुष्य भगवान् को भूलकर दृश्य-जगत् को भगवान् समझने की छलना में पड़ इन्द्रियों द्वारा भोग किया करता है। "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" इस श्रुतिमन्त्र के अर्थ का विपर्यय कर वे भोग की प्रतीति को ही ब्रह्म या बृहत् अथवा भोग का पोषक समझते हैं। "नायमात्मा" श्रुति के मन्त्र का मतलब न समझ सकने की वजह ही "इदं" की प्रतीति को ही ब्रह्मपरिणाम समझ बैठते हैं। त्रिधातुक-कुणप (देह) को ही ब्रह्म और इदं कुणप को ही मामकी तनु ब्राह्मण समझ भ्रान्त होते हैं। इस असत् प्रतीति को ही विवर्त्तवाद कहते हैं। इस भँवर के चक्र में पड़े हुए बद्ध जीव की अनुभूति अधिक प्रशंसनीय नहीं है; श्रीमद्भागवत का कहना है—

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचित्
जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥

जो इदं के उपासक हैं, वे ही वात-पित्त-कफवाली इस देह में आत्म-बुद्धि करते हैं, इस इदं देह के परिचय से आत्माभिमान में इदं देहविशिष्ट स्त्री का भोक्ता के अभिमान में पुत्रादि लाभ करते और उससे मामकी तनु में जड़ भोगमय धारणा के वशीभूत हो इदं की उपासना के लिये श्रौत संस्कारादि में इदं का आरोपण करते हैं; जो हरि-सेवा से विमुख हो क्षिति-अप्-तेज-मरुत्-व्योमात्मक भोग्य इदं वस्तु की सेवा की बुद्धि रखते हैं, भगवत्-वस्तु में मृद्बुद्धि, पादोदक में तीर्थबुद्धि, प्रभृति जिसके भ्रान्ति के आदर्श हैं, वे वेदवित् के नाम से अहङ्कार का पोषण करके भी गोखर-शब्द-वाच्य हैं। अयं आत्मा जब इदं सर्वं देखने लगती है, तब उसकी विकृत नश्वर-बुद्धि प्रबल होती है। इस भोगमयी प्रतीति के हाथ से ही छुटकारा दिलाने के उद्देश्य से श्रुति ने कहा है "सर्वमिदं खलु ब्रह्म" अर्थात् दृश्यजगत आत्मा की भोग्य-भूमिका नहीं है। दृश्य-जगत् अद्वयज्ञान व्रजेन्द्र-नन्दन की विहार-भूमि वृन्दावन है। दृश्य-जगत् का द्रष्टा मन अपने को वृन्दावनवासी न समझ भोग का अधीश्वर बनने की इच्छा से उसके उलटे प्रतीति-क्रम से यह समझ बाद को चिल्लाता है कि "हाय राम, मैं उलटा समझा।"

"हाय राम, मैं उलटा समझा' का प्रसङ्ग इस तरह है कि किसी इन्द्रिय-तर्पण करनेवाले भोगी ने अपने कर्म-वासना से परिचालित हो विष्णु की उपासना आरम्भ किया। इन्द्रिय-रूपी घोड़े की सहायता से भोगराज्य में विचरण करने की वासना होने पर उसने विष्णु के आगे अपने कदर्य-भोग-लाभ की प्रार्थना के रूप में श्रौत यज्ञ आरम्भ किया। "घोड़ा दिला, दे राम" कहते हुए नाम-यज्ञ के आवाहन के फल से रामजी ने भोगी जीव के

साथ एक लालायित मनको [illegible] उस मन [illegible] के लिए [illegible] चलने के लिये [illegible] तब उसे [illegible] करने लगा [illegible] में [illegible] अर्थात् [illegible] मेरी यह [illegible] किन्तु आत्मिक [illegible] पड़ा। इसी [illegible] कार जीव [illegible] किन्तु चाह या इन्द्रिय [illegible] इन्द्रिय-कार्य [illegible] के लिए [illegible] चिन्मय इन्द्रिय का [illegible] वश होने से [illegible] बदले विषय [illegible] इन्द्रिय-द्वारा [illegible] है। पर [illegible] आश्रय में [illegible] के लिये [illegible] होता। इसी [illegible]—

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]॥

निरुपाधि होकर चिन्मय [illegible] भगवत् पर केवल सेवा-प्रवृत्ति को [illegible] वह जीव की [illegible] सेवा [illegible] इस निद्रावस्था में उसके विपरीत [illegible] में [illegible] हो अपनी स्वरूप-[illegible] का [illegible] तब जड़ का [illegible] उसके [illegible] पर अधिकार कर [illegible] का परिचय देता है। एक अन्धा जैसे दूसरे अन्धे को [illegible] है, वैसे ही स्थूल और सूक्ष्म [illegible] भोग की रस्सी से [illegible] ईश्वर-[illegible] में अग्रसर न हो सकने की वजह [illegible] वस्तु के भोगरूपी इन्द्रिय के [illegible]। वैकुण्ठ-ज्ञान से वञ्चित होने, [illegible] और [illegible] होते हैं और अपने का [illegible] नश्वर अस्तित्ववान समझते हैं। दृश्य-जगत् का भोग करते हुए आंशिक अपूर्ण समझ से वैकुण्ठ-[illegible] के अभाव [illegible] का अर्थ समझ बैठते हैं। ऐसे मन में [illegible]-भूमि की प्रतीति है ही नहीं संकल्प और विकल्प के बीच [illegible] वृन्दावन में है [illegible] के दर्शन की [illegible] रखनेवाला [illegible] की सेवा को [illegible] विशेष समझ आप [illegible] उपलब्धि कर लेता है। जहाँ धाम या [illegible] इन्द्रिय के [illegible] आनन्द ज्ञानमात्र [illegible] प्रतीति [illegible] की वजह उसमें [illegible] का [illegible] उपस्थित होता है और [illegible] अर्थात् जड़ [illegible] के साम्य की अवस्था में [illegible] है। [illegible] के लिये ही [illegible] प्रतीति को भोग-[illegible] प्रकृति मात्र [illegible] समझने से [illegible] नहीं पड़ता। उसको ब्रह्म [illegible] है, वह [illegible] आनन्द [illegible] सच्चिदानन्द [illegible] समझता। [illegible] के नाम से [illegible] की [illegible] प्रकृति [illegible] के बदले उस ब्रह्म [illegible] है। जिनको [illegible] के आश्रय में भ्रान्त है, [illegible] प्रकृति को अपनी भोग्या प्रकृति के [illegible] अपने-अपने इन्द्रिय-तर्पण का [illegible] है। किन्तु ब्रह्म-प्रकृति कभी [illegible] की भोग्या, इन्द्रिय तर्पण की वृत्ति [illegible] है। [illegible] प्रकृति और ब्रह्म-प्रकृति की [illegible] नहीं है। अतएव ज्ञान-स्वरूप में ब्रह्म प्रकृति जीव की भोग्या नहीं है, वे जीव की पूज्या-[illegible] हैं। जहाँ चित्-शक्ति को बद्ध-जीव भोग [illegible] में से एक मानते हैं वहाँ माया-शक्ति का अधिष्ठान है। वहाँ वैकुण्ठ की समझ का अभाव है।

वैकुण्ठ की [illegible] रहने से बद्धजीव नष्ट [illegible] जाता है और अन्त में अपने अस्तित्व के [illegible] को समझकर पराशक्ति या [illegible] शक्तितत्त्व जीव की स्थूल और सूक्ष्म उपाधि मात्र समझते हैं। उस समय उन पर से गुरुदेव

की श्रद्धा जाती रहती और गुरुदेव के स्वजन वैष्णवों के सम्बन्ध में शुक्र से उत्पन्न होनेवाली जाति में गिनने की समझ प्रबल हो जीव को अधःपतित बनाती है। श्रीगुरु को या वैष्णव-तनु को शुक्र और शोणित से परिणत द्रव्य विशेष समझ अपनी तरह एक नश्वर भोग शरीर समझ मत्सरता दिखाते हुए उनसे द्वेष करते हैं। इसीसे श्वेताश्वतर श्रुति के प्रतिपक्ष में अपने वैष्णव विरोधी स्वभाव से चिन्मय रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श की अनुभूति न होने की वजह जड़ भोगमयी धारणा प्रबल होती है और वैष्णव में सच्चिदानन्द की प्रतीति के बदले शुक्र, यज्ञोपवीत और दीक्षा — इन तीन जातियों में फँसकर प्राकृत सी दिखलाई पड़ती है। यहाँ हरि की सेवा के बदले भोग में परिणत होकर इन्द्रिय-तर्पण कहाता है। नरक के अधिवासी हरिविमुख जीव त्रिगुण के चपेट में जड़ देह को सम्बल बना प्रत्यक्ष-ज्ञान से वैष्णवों को देखते हुए विष्णु के अस्तित्व में भी सन्देह रखते हैं।

भगवत्तत्त्व

(पूर्व प्रकाशित के उपरान्त)

गुणावतार तीन हैं— (क) विष्णु का स्वरूप-पहले कहे गये तीसरे अवतार क्षीरोदकशायी, सत्त्व-गुण-द्वारा पालन करने की वजह 'विष्णु' हैं। गोविन्द का जो स्वरूप है, वही विष्णु का भी स्वरूप है- शुद्ध सत्त्व-स्वरूपता दोनों ही में है। विष्णु बहुत की वजह अर्थात् प्रकटित हो रूप में गोविन्द के साथ समान-धर्म विशिष्ट हैं। विशुद्ध सत्त्व में उदित गुणावतार ही विष्णु हैं। सुतरां विष्णु पूर्ण स्वांश के विलास और महेश्वर-तत्त्व हैं। वे मायातीत, गुणातीत, परमेश और मायाधीश हैं। "हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः। स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन्निर्गुणो भवेत्। (भा० १०।८८।५)

(ख) ब्रह्मा का स्वरूप —गर्भोदकशायी के नाभि-कमल से आविर्भूत रजो गुण-द्वारा सृष्टि करनेवाले ब्रह्मा हैं। ये रजोगुण से उदित स्वांश-प्रभाव-विशिष्ट विभिन्नांश हैं।

"भास्वान यथाश्म-सकलेषु निजेषु तेजः
स्वीयं कियत् प्रकटयत्यपि तद्वदत्र।
ब्रह्मा य एष जगदण्डविधानकर्त्ता
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥'

अर्थात् सूर्य जैसे अपने तेज को सूर्यकान्त-मणि आदि में कुछ-कुछ प्रकट करते हैं, वैसे ही विभिन्नांश-स्वरूप ब्रह्मा जिनसे शक्ति पाकर ब्रह्माण्ड का विधान करते हैं, मैं उन आदि पुरुष गोविन्द को भजता हूं। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मा दो प्रकार से हैं, (जैसा कि श्रीचैतन्यचरितामृत मध्य २० में) "भक्तिमिश्र कृतपुण्य कोई जीवोत्तम। रजोगुण-विभावित करि उसका मन॥ गर्भोदकशायी द्वारा शक्ति सञ्चार। व्यष्टि सृष्टि करै कृष्ण ब्रह्मा रूप धार॥

किसी कल्प यदि योग्य जीव नहीं पाय।
आपन ईश्वर तब अंश ब्रह्मा जाय॥

(समर्थन श्लोक भा० १०।६८।२८)

(१) किसी भी कल्प में उपयुक्त जीव में भगवत् शक्ति का आवेश होने से जीव ब्रह्मा होकर सृष्टि-कार्य का विधान करते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा में ईश्वर की शक्ति का सञ्चार होने की वजह उसे 'आवेशावतार' कहते हैं। आवेशावतार ब्रह्मा में रजोगुण का योग होने की वजह विष्णु के साथ उनका साम्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। और (२) जिस कल्प में ऐसे जीव के न होने से विष्णु स्वयं ही ब्रह्मा होते हैं, उस कल्प में ब्रह्मा को विष्णु से अभिन्न देखना चाहिये। इन्द्रादि सब अधिकारी देवताओं के बारे में भी ऐसा ही नियम है। सुतरां अधिकारी सब देवता कभी स्वयं विष्णु

और कभी वैसे ही पुण्य करनेवाले जीव होते हैं; तत्त्वतः ब्रह्मा साधारण जीव से श्रेष्ठ हैं, किन्तु साक्षात् ईश्वर नहीं हैं। ब्रह्मा में पचास गुण जीव से अधिक रूप में और उनके अतिरिक्त और भी ५ गुण आंशिक रूप में वर्तमान हैं। पाताल से सत्यलोक तक चौदहों भुवन में समष्टि विराट्-रूपी प्राकृत सभी वस्तु ब्रह्मा का स्थूल शरीर है। इसे भी ब्रह्मा ही कहते हैं। इस स्थूल देह में जो सूक्ष्म जीवरूप हिरण्यगर्भ हैं, उन्हें भी ब्रह्मा कहा जाता है। उनके अन्तर्यामी द्वितीय पुरुषावतार गर्भोदकशायी महा विष्णु हैं।

(ग) शिव का स्वरूप—शम्भु माया के तमोगुण से उदित स्वांशप्रभाव विशिष्ट विभिन्न अंश हैं। विभिन्न-अंश का कारण यह है, कि माया के रज और तमोगुण, ये दोनों बहुत ही अचित् हैं; सुतरां उससे उदित तत्त्व स्वयं रूप या तदेकात्म रूप से बहुत दूर जा पड़ता है। सुतरां सत्त्व गुणावतार विष्णु तत्त्व से सात्विक गुणादि से मिला हुआ शम्भु-तत्त्व स्वतंत्र है।

> "क्षीरं यथा दधि विकारविशेषयोगात्
> संजायते न तु ततः पृथगस्ति हेतोः।
> यः शम्भुतामपि तथा समुपैति कार्याद्
> गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥"
>
> (ब्रह्मसंहिता ५ । ४५)

अर्थात् जैसे दूध बिगड़ने पर दही हो जाता है, फिर भी उसका कारण रूप में दूध ही है, वैसेही जो कार्यवश शम्भु होते हैं, उन आदि-पुरुष गोविन्द को मैं भजता हूँ। ऐसा चैतन्य चरितामृत मध्य २० प. प. में भी है,—

> "निजांश कला से कृष्ण तमोगुण अंगीकारे।
> संहारार्थे माया सङ्ग रुद्र रूप धारे ॥
> माया के विकार रुद्र भिन्नाभिन्न रूप।
> जीव तत्त्व नहीं होय कृष्ण का स्वरूप ॥
> दूध यदि अम्ल पड़े दही रूप होय।
> दूध से अलग नहीं दूध ही है सोय ॥"

तात्पर्य यह, कि शम्भु कृष्ण से पृथक् कोई और ईश्वर नहीं हैं। जिनमें ऐसी भेद बुद्धि है, वे श्री-भगवान् के आगे अपराधी हैं। शम्भु की ईश्वरता गोविन्द की ईश्वरता के अधीन है। शम्भु विष्णु के साथ भेदाभेद-तत्त्व हैं। माया के साथ विकार में पड़ने से भेद और चिद्विलास के आश्रय में ईश्वर-तत्त्व होने से विकार-हीन हो स्वयं विष्णु के साथ अभेद हैं। विष्णुरूपी दूध मायारूपी खटाई की मिलावट से दूध की हालत से बिगड़कर दही के रूप में हो गया; अब वह दूध से बना होने पर भी दूध कहा नहीं जा सकता। विष्णु कभी विकारी नहीं होते। जहाँ ईश्वरत्व में माया का विकार दिखाई देता है, वहाँ विष्णु से जुदा गुणावतार, ब्रह्मा या शिव तत्त्व है। माया के संयोग का ही भेद है। माया के तमोगुण, तदाश्रा शक्ति का स्वल्पता भाव और चित्शक्ति की स्वरूप-आह्लादिनी से मिला हुआ स्वल्पितगुण के मिलने से एक विकार उत्पन्न हुआ। इस विकार से शुद्ध-स्वांश का आभासमात्र स्वरूप ईश्वर ज्योतिर्मय शम्भु लिङ्ग रूप में सदाशिव और उनसे रुद्रदेव प्रकट हुए।

सृष्टि के काम में द्रव्यमय उपादान, स्थिति के काम में किसी-किसी असुर का नाश और संहार के काम में सारा कर्तव्य करने के लिये श्रीगोविन्द ने अपने ही अंश के भाव से और विभिन्न अंश शम्भु के रूप में गुणावतार लिया। शास्त्र में शम्भु का कालपुरुषत्व का निर्णय है। "वैष्णवानां यथा शम्भुः" इत्यादि शास्त्र-वचन का मतलब यह है, कि वे शम्भु अपनी काल शक्ति द्वारा गोविन्द की इच्छा के अनुसार, दुर्गादेवी के साथ मिलकर, तमोगुण की सहायता से संहार का काम करते हैं। तन्त्रादि कितने ही प्रकार के शास्त्रों ने जीवों को अधिकार भेद से भक्ति पाने की सीढ़ी के रूप में धर्मशिक्षा देते हैं; फिर श्रीगोविन्द की इच्छा के अनुसार मायावाद और कल्पित आगम शास्त्र का प्रचार व असुर विमोहन कार्य का सम्पादन करते हुए शुद्ध भक्ति-तत्त्व का रक्षण और पालन करते हैं। शम्भु में जीव के पचास गुण अधिक रूप में हैं और जीव को न मिलने वाले पाँच और भी महागुण आंशिकरूप में मौजूद हैं। सुतरां शम्भु को जीव कहा नहीं जा सकता। वे जीव के ईश्वर हैं, फिर भी विभिन्न अंश हैं। किसी कल्प में ऐसे ही पुण्य

करनेवाले जीव भी संहारकर्त्ता शिव होते हैं। फिर किसी कल्प में ऐसे जीव के अभाव से स्वयं विष्णु भी शिवरूप धारणकर संहार का काम पूर्ण किया करते हैं। यह सभी संहारकर्त्ता गुणावतार हैं। किन्तु जो श्रीवैकुण्ठधाम के अन्तर्गत शिव-लोक में सदाशिव के रूप में विराजित हैं, वे गुणावतार नहीं हैं। वे निर्गुण हैं। वे नारायण की तरह स्वयंरूप श्रीकृष्ण की विलास-मूर्त्ति या काय-व्यूह हैं। वे सदाशिव गुणावतार शिव के अंशी या भोगाविनी शक्ति हैं। अतएव ब्रह्मा से श्रेष्ठ और विषय आश्रय के आलम्बनत्व में एकता की वजह विष्णु से अभिन्न हैं। यथा श्रीमद्भागवत—(२।६।३२):-

> सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः।
> विश्वं पुरुष-रूपेण परिपाति त्रि-शक्तिधृक्।

अर्थात्—

> ब्रह्मा शिव आज्ञाकारी भक्त अवतार।
> पालनार्थ विष्णु कृष्ण स्वरूप आकार॥
>
> (चै० च० मध्य २०॥)

फिर श्रीमद्भागवत में—(१०।८८।३,५)

> "शिवः शक्तियुतः शश्वत् त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः।
> हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः॥"

अर्थात्—

> शिव मायाशक्ति सङ्गी तमोगुणावेश।
> मायातीत गुणातीत विष्णु परमेश॥
>
> (चै० च० मध्य २०॥)

(३) शक्त्यावेश-अवतार

(यथा श्रीचैतन्यचरितामृत के २०श परिच्छेद में है)—

> शक्ति-आवेश दो रूप गौण मुख्य देखो।
> साक्षात शक्ति में अवतार आभास में विभूति लेखो।
> सनकादि नारद पृथु और परशुराम।
> जीवरूप ब्रह्मा के हैं आवेशावतार नाम॥
> वैकुण्ठ में शेष धरा धरते हैं अनन्त।
> ये मुख्यावेशावतार, विस्तार में नहीं अन्त॥
> सनकादि ज्ञान शक्ति, नारद की शक्ति भक्ति।
> ब्रह्मा की सृष्टि-शक्ति, अनन्त भू-धारी-शक्ति॥
> शेष में स्व-सेवन शक्ति, पृथु का पालन।
> परशुराम दुष्ट नाश करें वीर्य-सञ्चारन॥

(लघु भागवतामृत के पूर्व खण्ड, आवेश प्रकरण के चौथे श्लोक में—

> ज्ञान शक्त्यादिकलया यत्राविष्टो जनार्दनः।
> त आवेशा निगद्यन्ते जीवा एव महत्तमाः॥

अर्थात् ज्ञानशक्ति आदि कला द्वारा जिन में भगवत् आवेश है, वे ही महत्तम जीव आवेश-अवतार माने जाते हैं।

(४) युगावतार—

> आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः।
> शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः॥
>
> (श्रीमद्भागवत में, १०।८।१३)

> "शुक्ल-रक्त-कृष्ण-पीत क्रम से चार वर्ण।
> चार वर्ण धारके कृष्ण करते युग-धर्म॥
> कृते शुक्लश्चतुर्बाहुर्जटिलो वल्कलाम्बरः।
> कृष्णाजिनोपवीताक्षान् बिभ्रद्दण्डकमण्डलू॥
>
> (श्रीमद्भागवत ११।५।२२)

टीका—शुक्ल इति शुक्लवर्णः शुक्लनामा च। इति चक्रवर्तीपादः। सत्य युग में हरि शुक्लवर्ण और उनका नाम शुक्ल है, वे चार भुजाधारी, जटाधारी, दण्ड कमण्डलु और कृष्ण-मृगचर्म मालाधारी और ब्रह्मचारी वेश में अवतीर्ण होते हैं। फिर श्रीमद्भागवत में है। (११।५।२४)

> त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ चतुर्बाहुस्त्रिमेखलः।
> हिरण्यकेशस्त्रय्यात्मा स्रुक्-स्रुवाद्युपलक्षणः॥

अर्थात् त्रेतायुग में हरि रक्तवर्ण और रक्त नाम के हैं, वे चतुर्बाहु, तीन मेखलाधारी, पिङ्गल-केश, वेदमय शरीर और स्रुक् स्रुवादि यज्ञ-सम्बन्धी मूर्त्ति के रूप में अवतीर्ण होते हैं।

> द्वापरे भगवान् श्यामः पीतवासा निजायुधः।
> श्रीवत्सादिभिरङ्कैश्च लक्षणैरुपलक्षितः॥
>
> (भागवत ११।५।२७)

द्वापर युग में भगवान् हरि अलसी के फूल जैसे श्यामवर्ण, पीतवसन, चक्रादि आयुधधारी, श्रीवत्स आदि चिह्न से "चिह्नित और कौस्तुभ से भूषित हो अवतीर्ण होते हैं।

> नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च।
> प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः॥

इस मन्त्र से द्वापर में करे कृष्णार्चन। कृष्ण नाम

संकीर्त्तन कलियुग का धर्म ॥ पीतवर्ण धर उसे किया प्रवर्त्तन । प्रेमभक्ति दिया लोग में लेके भक्त-गण ॥ धर्म प्रवर्त्तन करेन व्रजेन्द्र-नन्दन । प्रेम से गायें नाचें लोग करें संकीर्त्तन ॥

तथा (श्रीमद्भागवत में ११।५।३२)

कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम् ।
यज्ञैः संकीर्त्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥
और तीन युग ध्यानादि से जो फल देय ।
कलियुग में कृष्ण नाम से वो ही फल लेय ॥

तथा श्रीमद्भागवत में (१२।३।५१-५२)—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः ।
कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात् ॥

पुनश्च—कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः ।
यत्र संकीर्त्तनेनैव सर्वस्वार्थोऽभिलभ्यते ॥
न ह्यतः परमो लाभो देहिनां भ्राम्यतामिह ।
यतो विन्देत परमां शान्तिं नश्यति संसृतिः ॥

यदुक्तं ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥

हे राजन् ! दोष के आकर कलि में एक महत् गुण है—कलियुग में कृष्ण-कीर्त्तन से जीवगण बन्धन से मुक्त हो कृष्णसेवा रूपी परम गति को पाते हैं । सत्ययुग में विष्णु के ध्यान से, त्रेतायुग में यज्ञ करने से और द्वापरयुग में परिचर्या से जो गति की प्राप्ति होती है, कलियुग में केवल हरिकीर्त्तन द्वारा ही वह गति मिलती है । हे राजन् ! सारग्राही गुणज्ञ श्रेष्ठ मनुष्य ही कलियुग की विशेष प्रशंसा करते हैं । क्योंकि इस कलियुग में केवल नाम संकीर्तन से ही समस्त स्वार्थों का लाभ होता है । इस संसार में भ्रमण करनेवाले देहधारियों के लिये इससे परम लाभ और कुछ भी नहीं, क्योंकि इस युग में सङ्कीर्त्तन या उससे ही परम शान्ति मिलती है और सांसारिक सब ताप विनष्ट होते हैं । सत्य में ध्यान के द्वारा, त्रेता में यज्ञ के द्वारा, द्वापर में अर्चन के द्वारा जो फल मिलता है, वह कलि में कृष्णनाम के सङ्कीर्त्तन से ही मिल जाता है ।

कलियुग में श्रीभगवान् पीतवर्ण और साङ्ग-उपाङ्ग अस्त्र तथा पारिषद्-वर्ग के साथ कीर्त्तनीय होकर भी कृष्ण कीर्त्तनकारी मूर्ति है । इस युग में बुद्धिमान् मनुष्य गण सङ्कीर्तन रूपी नाम यज्ञ द्वारा इस मूर्त्ति की आराधना किया करते हैं ।

(५) मन्वन्तरावतार

(यथा श्रीचैतन्य-चरितामृत में मध्य २०श)

स्वायम्भुव में यज्ञ, स्वारोचिष में विभुनाम ।
उत्तम में सत्यसेन, तामस में हरि अभिधान ॥
रैवत में वैकुण्ठ, चाक्षुष में अजित, वैवस्वत-वामन ।
सावर्ण्य में सार्वभौम, दक्षसावर्ण्य में ऋषभ गणन ॥
ब्रह्म-सावर्ण्य में विष्वक्सेन, धर्मसेतु धर्मसावर्ण्य में ।
रुद्रसावर्ण्य में सुधामा, योगेश्वर देवसावर्ण्य में ॥
इन्द्र सावर्ण्य में बृहद्भानु अभिधान ।
चौदह मन्वन्तर चौदह अवतार नाम ॥

(६) लीलावतार—

(१) मत्स्य, (२) कूर्म, (३) वराह, (४) राम, (५) नृसिंह, (६) वामन, (७) पृथु, (८) परशुराम, (९) व्यास, (१०) नारद, (११) चतुःसन (१२) हयशीर्ष, (१३) हंस, (१४) पृश्निगर्भ, (१५) ऋषभ, (१६) धन्वन्तरि, (१७) मोहिनी, (१८) बलभद्र, (१९) यज्ञ, (२०) नरनारायण (२१) कपिल, (२२) दत्तात्रेय, (२३) कृष्ण, (२४) बुद्ध, (२५) कल्कि ।

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया।

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काँजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ९० नवाबपुर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापुर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ
बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० १ रामापुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ ए०, साउथ मलाका, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० १३ हनुमान रोड, न्यूदेहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपुरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलारनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित), कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकंदा चोरकंडा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरालिया पो० वासुदेवपुर, जि० मेदनीपुर

(३१) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ
कव्वूर, वेस्ट गोदावरी, मद्रास

Registered No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)
२—श्रीशिक्षादशमूलम् सटीक ।)
३—श्रीमध्वप्रथमांशनिर्णयम् ≡)
४—श्रीसिद्धान्तसरस्वतीदिग्विजयः ॥)
५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचयः —)
६—श्रीतत्त्वसूत्रम्

संस्कृत बँगला अक्षरों में

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)
२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत-भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)
३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत खंडों में प्रकाशित प्रति खंड १)
५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द २)
६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्री-रूपगोस्वामी प्रभु-कृत उपदेशामृतसहित ।=)
७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बँगला अनुवाद सहित ॥)
८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द गोस्वामि-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित १)
९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित —)
१०—सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगलाअनुवाद सहित —)
११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी-कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)
एकादश स्कंध से प्रति खंड ।≡)
१२—मुक्तिमल्लिका गुणसौरभ वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

वंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित ≡)
१४—नवद्वीपशतक बंगला अनुवाद —)
१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत =)
१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती-कृत =)
१७—नवद्वीपभावतरंग ।)
१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)
१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद कृत २)
२०—मणिमंजरी ।)
२१—शरणागति —)
२२—कल्याणकल्पतरु —)॥
२३—गीतावली —)
२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ।॥)
२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)
२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि कृत ॥=)
२७—जैव धर्म २)
२८—साधककंठमाला ।)
२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अप्रिम ५)
३०—महाप्रभुशिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ।॥)
३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ५)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow

वर्ष २] श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः [संख्या ४

भागवत

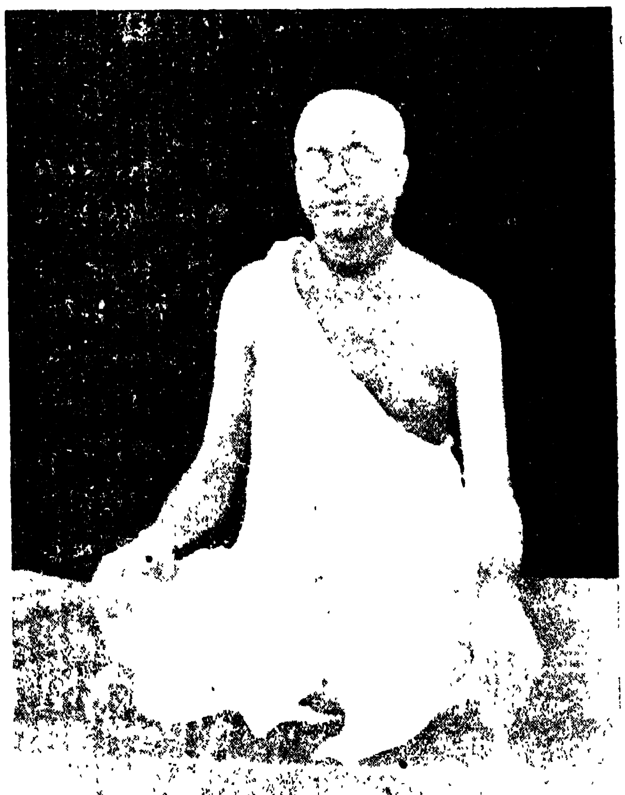
एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

12th Decem. 1932

केशव गौरपक्ष गौराब्द ४४६

मार्गशीर्ष पूर्णिमा संवत् १९८९

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥



क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्तसरस्वती गोस्वामी महाराज

प्रति संख्या ।)

सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

Editor:—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

वार्षिक सडाक ३॥)

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १।।) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म सम्बधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन छपाई की दर नीचे लिखी है:—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम	८)
आधा ,, १ ,,	५)
चौथाई ,, १/२ ,,	३)
२ इंच ,, १/४ ,,	१।।)
१ ,, ,, १/८ ,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये—

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

सेठ रामयश रोड, नर्ही, लखनऊ.

All communications are to be addressed to—

The Manager 'Bhagwat'

Seth Ramjas Road,

Narhe,

LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्ति[illegible]

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भागवत

पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

वर्ष २ | श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य | संख्या ४
मार्गशीर्ष पूर्णिमा गौराब्द ४४६, सं० १९८९ वि०, १२ दिसम्बर सन १९३२ ई०

आत्म-निवेदन

(४)

विषय विमूढ़ और मायावादी जन ।
भक्ति शून्य दोनों जीव धारें अकारन ॥
इन दो का सङ्ग नाथ न होवे हमार ।
प्रार्थना करूँ मैं यही चरण तुम्हार ॥
इन दोनों में विषयी कुछ खुशहाल ।
मायावादियों का न हो सङ्ग किसी काल ॥
विषयी-हृदय जब साधु-सङ्ग निवासे ।
अनायास पाये भक्ति, भक्त-कृपा से ॥
मायावाद-दोष को हृदय पाले जोय ।
कुतर्क से हृदय उसका वज्र-जैसा होय ॥
भक्ति का स्वरूप और "विषय" आश्रय ।
मायावादी अनित्य कहें समुदय ॥
धिक् उनकी कृष्ण-सेवा श्रवण-कीर्तन ।
कृष्ण-अङ्ग वज्र मारे उसका स्तवन ॥
इसीसे है मायावाद भक्ति - प्रतिकूल ।
मायावादी - सङ्ग नहीं चाहूँ कभी भूल ॥
भक्तिविनोद मायावाद दूर करो ।
वैष्णव के सङ्ग बैठ नाम-आश्रय धरो ॥

श्रीरूपगौड़ीय-मठ

श्री प्रयाग के श्रीरूपगौड़ीय-मठ के वक्तृता-मन्दिर का स्थान बनाने का काम गत २१वीं नवम्बर १९३२ सोमवार के दिन कीर्त्तन के साथ बड़े समारोह से सम्पन्न हुआ है। पाठकगण जानते हैं कि परमभागवत श्रीपाद गौरसुन्दर दासाधिकारी भक्ति-भूषण महाशय ने श्रीरूपशिक्षास्थली प्रयाग धाम के त्रिवेणी किनारे कनिङ्ग रोड और ग्राण्डट्रङ्क रोड के मोड़ पर एक बहुत बड़ी भूमि श्रीरूपगौड़ीय मठ के श्रीमन्दिर और नाट्य मन्दिर के बनवाने के लिये दी है। गत ३० वीं अक्टोबर १९३२ को श्रीप्रभुपाद ने श्रीरूप-गौड़ीय-मठ के श्रीमन्दिर की नींव दी। गत २१ वीं नवम्बर १९३२ को युक्त प्रदेश के महामान्य गवर्नर साहब सर विलियम मालकम हेली एम. ए. जी. सी. एस. आई. जी. सी. आई. ई, आई. सी. एस, ने श्रीरूपगौड़ीय-मठ के वक्तृता भवन की नींव स्थापित की। उस दिन उत्सव-सूची के अनुसार महामान्य गवर्नर साहब तीसरे पहर साढ़े चार बजे श्रीरूपगौड़ीय-मठ की सुसज्जित भूमि में उपस्थित हुए; त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिसर्वस्व गिरि महाराज ने श्रीविश्ववैष्णव - राजसभा के संन्यासी-प्रचारकगण में अन्यतम त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति हृदय-वन महाराज, त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिरक्षक श्रीधर महाराज और त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति विवेक भारती महाराज, श्रीविश्ववैष्णव राजसभा के सम्पादक आचार्यत्रिक श्रीपाद कुञ्जविहारी विद्या-भूषण भागवतरत्न-अध्यापक आचार्य श्रीपाद निशि-कान्त सान्याल एम. ए. भक्तिसुधाकर, पण्डित श्रीमन् अतुलचन्द्र वन्द्योपाध्याय भक्तिशास्त्री, आकर मठराज श्रीचैतन्य-मठ के तीन ट्रष्टियों में अन्यतम पण्डित श्रीपाद अनन्त वासुदेव परविद्या-भूषण-बी. ए. और पण्डित श्रीपाद परमानन्द ब्रह्म-चारी विद्यारत्न, विज्ञान-अध्यापक श्रीयुक्त हरिपद मण्डल बी. एस. सी, कलकत्ते के प्रसिद्ध व्यव-सायी मि० एस. सी. राय तथा श्रीरूप गौड़ीय-मठ के भूमि-दाता श्रीयुक्त गौरसुन्दर दासाधिकारी भक्तिभूषण महोदय के साथ गवर्नर साहब का परिचय कराया।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के स्वनाम - धन्य वाइस चैन्सलर डाक्टर श्रीयुक्त गङ्गानाथ झा महोदय ने माननीय गवर्नर साहब से ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद का परिचय कराया। माननीय गवर्नर साहब के वक्तृता-मञ्च पर अभ्यर्थित होने पर त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिसर्वस्वगिरि महाराज ने उनके गले में फूलों की माला पहनाई और त्रिदण्डिस्वामी श्री-मद्भक्तिहृदय-वन महाराज ने आचार्यवर्य के गले में फूलों की माला पहनाकर सौभाग्य का वरण किया।

पण्डित श्रीयुक्त हरिपद विद्यारत्न एम. ए. महाशय के एक उद्बोधन-सङ्गीत गाने पर श्रीविश्व-वैष्णवराज-सभा के अन्यतम सम्पादक ने कटक रेवेन्स कालेज के प्रवीण अध्यापक श्रीयुक्त निशि-कान्त सान्याल एम. ए. महोदय के अनुरोध से गवर्नर साहब की अभ्यर्थना में अभिनन्दन-पत्र का पाठ किया।

इसके बाद महामान्य गवर्नर साहब ने एक व्याख्यान दिया। नीचे उस व्याख्यान का संक्षिप्त मर्मानुवाद प्रकाशित किया जाता है।

गवर्नर साहब का व्याख्यान

"आज आप लोगों के बीच शामिल होने का सुयोग पाकर मैं वास्तव में आनन्दित हुआ हूँ। उसका एक सरल कारण यह है कि आप लोगों की कार्यावली सचमुच ही अविमिश्र पारमार्थिक है। आप लोग श्रीकृष्णचैतन्यदेव की शिक्षा को आग्रह के साथ लोगों में फिर से उदित और प्रदीप्त करने के लिये विशेषरूप से चेष्टा कर रहे हैं। श्रीकृष्णचैतन्यदेव की शिक्षा ने सोलहवीं शताब्दि में भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों में खूब प्रभाव बढ़ाया था। उनकी जीवनी पढ़ने से जान

पड़ता है, कि श्रीचैतन्यदेव की लीला का अधिकांश इस प्रदेश में ही अर्थात् वृन्दावन, इलाहाबाद, बनारस प्रभृति स्थानों में विशेषरूप से विस्तृत हुआ था। धर्मजगत् के इतिहास में जिन-जिन लोकशिक्षकों का आविर्भाव हुआ है, वे सभी कुछ न कुछ भङ्गियावसान मतवाद के अत्याचार के विरुद्ध और लोक-प्रचलित व्यावहारिक कृत्रिम नियम और कायदे के विरुद्ध विप्लव खड़ा कर गये हैं। धर्म के बाहरी व्यवहारों को परमार्थ के प्रकृत तात्पर्य के ऊपर स्थापन कर, व्यवहार के दबाव से परमार्थ को लोगों की आँखों के आगे गुप्त रखने के लिये मनुष्यजाति में जो एक बहिर्मुख प्रवृत्ति है, उसके विरुद्ध अभियान की घोषणा करना ही वास्तविक लोकशिक्षकों की रुदा की प्रवृत्ति है। मनुष्यजाति की इस प्रकार की प्रवृत्ति का कुफल यह नहीं है, कि वह केवल धर्म को उसकी पारमार्थिकता से विच्युत करने के लिये एक निषेधसूचक फल उत्पन्न करे; बल्कि उससे एक व्यक्त फल भी उत्पन्न होता है। उसीसे मतवाद की सृष्टि और तरह-तरह के झगड़े उपस्थित होते हैं। लोकोत्तर लोकशिक्षकगण मानवजाति की इस प्रकार धर्म की व्यावहारिकता को ले जो सब मतवाद उपस्थित करते हैं, उस संघर्ष के अन्धकार से खोल प्रकृत परमार्थ के विचार से मानव जाति की प्रवृत्ति की परिचालना करने के लिये जो चेष्टा करते हैं, वह सर्वदा ही समसामयिक लोकसंघ के आगे विप्लवात्मक और विदारणशील जान पड़ता है; किन्तु वास्तव में उनकी चेष्टा का उद्देश्य विनाशक नहीं है, वह सम्पूर्ण रूप से प्रकाशात्मक या पुनः-संस्थापनात्मक है; क्योंकि धर्म का मेरुदण्ड पारमार्थिकता ही है, व्यावहारिकता नहीं। श्रीचैतन्यदेव की शिक्षा की पारमार्थिकता भी सब जीवों के समभाव से आलिङ्गन या विश्वप्रेम के लिये है। व्यावहारिकता और सामाजिक पार्थक्य ने जिन सब छोटे-छोटे दलों की सृष्टि की है, उसे श्रीचैतन्य का प्रेमधर्म स्वीकार नहीं करता। उन्होंने जिस समय अपने प्रचार का आरम्भ किया था, उस समय नैतिक अवस्था असम्पूर्ण थी और सामाजिक विकाश उससे भी कहीं अधिक असम्पूर्ण था। इसीसे उनकी शिक्षायें उस समय के समाज के आगे बहुत कुछ तात्कालिक आदर पा नहीं सकीं और वर्त्तमान जगत् की अवस्था में भी उनके उच्च वचनों के ग्राहक बहुतेरे लोग हो नहीं सके। क्योंकि मनुष्यों की चित्तवृत्ति बहिर्मुखता की वजह इतनी साधारण हो पड़ी है, कि किसी असाधारण वाक्य को वे मान नहीं सकते। किन्तु ऐसी अवस्था में उच्चतम विचारों का प्रचार व्यर्थ नहीं होता, वह अनजान में ऐसे बीज बो देता है, जो एक स्वर्गीय दूत का आविर्भाव कराकर जगत् के लोगों को मनुष्यजाति में अच्छा सम्बन्ध स्थापन करने के लिये अनुप्रेरणा करता है। श्रीचैतन्यदेव के समय वैसा ही सम्बन्ध स्थापन हुआ, जैसा कि प्रयोजनीय था, वर्त्तमान समय उससे भी बढ़कर सम्बन्ध के पुनः स्थापन का अधिकतर प्रयोजन हुआ है। वर्त्तमान जगत् के अभ्युदय के नाम से जिन जड़ताओं ने मनुष्य जाति का ग्रास कर लिया है, और कृत्रिमता ही सभ्यता और व्यावहारिकता ही धर्म के नाम से चल पड़ी है, और बुद्धिमत्ता नाना प्रकार के जड़ स्वार्थों का संग्रह कर पक्क होती जाती है, उससे जातीय और सामाजिक जीवन में किसी तरह के उच्च आदर्श की प्रेरणा न हो सकने की वजह व्यष्टि या समष्टि जीवन के मङ्गल की सम्भावना नहीं। यहाँ श्रीगौड़ीय-मठ के द्वारा वर्त्तमान युग में श्रीचैतन्यदेव की शिक्षा के प्रचार की आवश्यकता दिखाई देती है।

अन्त में मुझे इतना ही कहना है, कि आप लोगों का प्रतिष्ठान असाम्प्रदायिकता या जगत् की राजनीति से बिलकुल निरपेक्ष होने और इसके सार्वजनीन मङ्गल के उच्च आदर्श का प्रचार करने से यह यन्त्रणामय संसार में अधिकतर शान्ति और एकताकामी सब मनुष्यों की सहानुभूति को आकर्षित किये बिना न रहेगा।"

हम लोग महामान्य गवर्नर साहब के उपरोक्त अभिभाषण को जहाँ तक समझ सके हैं, उतना ही उसका मर्मानुवाद प्रकाशित कर दिया है। इलाहाबाद के विख्यात अङ्गरेजी दैनिक "लीडर" और "पायनियर" पत्र में २२ वीं नवम्बर १९३२

को गवर्नर साहब का पूरा अभिभाषण के साथ श्रीरूपगौड़ीय-मठ के वक्तृता भवन की नींव दिये जाने का समाचार प्रकाशित हुआ है। इलाहाबाद डिवीजन के कमिश्नर मि० टाम्स, कलेक्टर और मैजिस्ट्रेट मि० डोनेल्ड सन्स, एम. पी., डी. एम. पी., स्थानीय म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन, वाइस चेयरमैन, पायोनियर पत्र के प्रधान सम्पादक, लीडर के सहकारी सम्पादक, एसोसियेटेड प्रेस के रिपोर्टर, राजा जगमल प्रभृति इलाहाबाद के बहुतेरे सम्भ्रान्त और शिक्षित सज्जन इस सभा में उपस्थित थे।

इनके अतिरिक्त सी. डब्ल्यू. ग्राण्ट—कमिश्नर आगरा डिवीजन, एस. टी. हालिन्स—इन्स्पेक्टर जेनरल अव् पुलिस, सी. के. केम्प, एस. पी. मथुरा; मि० पन्नालाल—कमिश्नर बनारस डिवीजन, बरेली के कमिश्नर, मि० कुक साहब—मैजिस्ट्रेट नैनीताल और अन्यान्य कितने ही उच्च पदस्थ राजकर्मचारी तथा शिक्षित भद्र महोदय गत व्रज मण्डल-परिक्रमा तथा विभिन्न समय पर श्रीविश्व-वैष्णवराज-सभा के प्रचारकों और प्रचार कार्य में तरह-तरह से जो सहायता दी है, उसके लिये उन्हें धन्यवाद दिया गया। परमाराध्य श्रीप्रभुपाद के आदेशानुसार श्रीपाद अनन्त वासुदेव परविद्याभूषणप्रभु ने 'हरे कृष्ण' महामन्त्र का कीर्त्तन आरम्भ किया; महामान्य गवर्नर साहब ने सभा के समस्त सज्जनों के साथ खड़े हो कीर्त्तन सुना। इसके उपरान्त सभा भङ्ग हुई।

श्रीभक्तिरंजन-विरहोत्सव

गत २७ वीं नवम्बर १९३२ रविवार को श्रेष्ठाचार्य श्रीजगबन्धु भक्तिरञ्जन महाशय के द्वितीय-वार्षिक विरह-महोत्सव के उपलक्ष में श्रीगौड़ीय-मठ में विद्वन्मण्डली की एक विराट् सभा का अधिवेशन हो गया।

श्रीगौड़ीय-मठ का सारस्वत नाट्य मन्दिर भाँति-भाँति के विचित्र वस्त्रों से मण्डित, पुष्प मालादि द्वारा सुशोभित, आचार्य और सभापति का आसन तरह-तरह की कारीगरी से समलंकृत तथा विचित्र आलोकमाला से विभूषित हो एक अपूर्व शोभा धारण किये हुए था। श्रीमन्दिर में श्रीगुरुगौराङ्ग-गान्धर्विका-गिरिधारी विविध पुष्पों और भाँति भाँति के शृङ्गार से सज्जित हो भक्तों के हृदय में आनन्द बढ़ा रहे थे। भक्तिरञ्जन जगबन्धु का समाधि-स्थान पुष्प-मालादि द्वारा विशेष रूप से सुसज्जित हुआ था; उसी जगह श्रीप्रभुपाद के आनुगत्य में भगवद्भक्तों ने हरिकीर्त्तन किया था। बहुत बड़ा नाट्य-मन्दिर सज्जनों की भीड़ से भर गया था। सेवा की सूची के अनुसार उस दिन की सभा के मनोनीत सभापति सन्तोष के राजा और बङ्गीय-व्यवस्थापक सभा के सभापति माननीय सर मन्मथनाथ राय चौधरी के. टी. महोदय, सन्ध्या समय प्रायः ५॥ बजे श्रीगौड़ीय-मठ के रक्षक आचार्यत्रिक श्रीपाद कुञ्जविहारी विद्याभूषण भागवत-रत्न प्रभु और भक्तिबान्धव श्रीपाद जगदुद्धारण दासाधिकारी बी. ए. महोदय द्वारा अभ्यर्थित हो सभा में समवेत हुए। मठ-रक्षक प्रभु ने माननीय राजा महोदय को श्रीप्रभुपाद का दर्शन कराया। माननीय राजा महोदय ने श्रीप्रभुपाद का अभिवादन कर उनकी ही आज्ञा के अनुसार आसन ग्रहण किया। सर्वसाधारण की ओर से बाग्बाजार के निवासी श्रीयुक्त किरणचन्द्र दत्त एम. आर. एस. महाशय ने उस दिन की सभा में सभापति का पद ग्रहण करने के लिये माननीय सर मन्मथनाथ राय चौधरी राजा महोदय की योग्यता का वर्णन कर एक प्रस्ताव पेश किया। बङ्गीय गवर्नमेंट के कर-विभाग के सेक्रेटरी मि० ए. एन. सरकार ने सर्वान्तःकरण से इस प्रस्ताव का समर्थन किया। सभापति के निर्वाचित होने पर त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिहृदय-वन महाराज ने सभापति महोदय के गले में प्रसाद-मालिका प्रदान किया और 'गौड़ीय' पत्र के सम्पादक श्री-

सुन्दरानन्द विद्याविनोद महाशय ने श्रीप्रभुपाद को फूलों की माला पहनाने का सौभाग्य लाभ किया। निर्दिष्ट नियमावली के अनुसार पण्डित श्रीयुत हरिपद विद्यारत्न एम. ए. बी. एल. महाशय ने "मन तुम तीर्थ में सदा रत" श्रीभक्तिविनोद ठाकुर के इस गीत को उद्बोधन-सङ्गीत के रूप में गाया; उन्होंने कोटि-कोटि तीर्थदर्शन की अपेक्षा तीर्थपाद विष्णु के भक्तों की जीवनी-कथारूपी तीर्थ में स्नान और अभिषेक के उत्कर्ष को श्रीगुरुदेव के आदेश से प्रकट किया। इसके बाद वाग्मीवर त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिहृदय-वन महाराज ने एक अभ्यर्थनासूचक वक्तृता द्वारा सभापति के प्रति सम्मान प्रकट किया और श्रीगौड़ीय मठ की विभिन्न कार्यावली का संक्षिप्त परिचय प्रदान किया। स्वामीजी की वक्तृता बहुत ही हृदयग्राहिणी विचारपूर्ण हुई। विरहोत्सव के उपलक्ष्य में "भक्तिरञ्जन-विरह-स्मृति" नाम की एक पुस्तक सर्वसाधारण को वितरण करने के लिये रक्खी गई थी। उस पुस्तक के प्रबन्ध को "गौड़ीय"-सम्पादक ने उस सभा में पढ़कर सुनाया। प्रबन्ध पढ़ने के उपरान्त माननीय सभापति महोदय ने अँगरेज़ी भाषा में एक छोटी सी वक्तृता दी। माननीय सभापति की वक्तृता के बाद त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिहृदय वन महाराज ने सभापति और उपस्थित श्रोता-मण्डली को श्रीविश्ववैष्णवराज-सभा की ओर से धन्यवाद प्रदान किया। पण्डित प्रवर श्रीमद् अनन्तवासुदेव परविद्याभूषण बी. ए. महाशय ने "गुरु-भक्त-चरण-रेणु भजन-अनुकूल" पद को उपसंहार-सङ्गीत के रूप में कीर्त्तन किया; सभा भङ्ग हो गई। इसके बाद उपस्थित सज्जनों को विचित्रतापूर्ण महाप्रसाद बाँटा गया। इस उत्सव का सर्व व्ययभार श्रीजगबन्धु भक्तिरञ्जन जी की सहधर्मिणियों ने उठाया; श्रीआचार्य महोदय के लिये सहधर्मिणियों ने योग्य श्रद्धा, पूजा और मनोभीष्ट पूरण किया था। श्रीभक्तिरञ्जन जगबन्धु का मनोभीष्ट श्रीचैतन्य वाणी का प्रचार—आज अभिजात सम्प्रदाय से आरम्भ कर सर्व साधारण की कुटी तक पहुँचते देख उनकी दोनों सहधर्मिणी और उपस्थित सज्जनों का हृदय आनन्द के हिलोरे लेने लगा।

गुरु के घर हरिशरण

पहला दिन

चौदह भुवन में यह कर्मभूमि की जगत् ही सबसे श्रेष्ठ है। इस भुवन में श्रीभगवान् का अनन्त लीलास्थल यह भारतवर्ष ही सबसे श्रेष्ठ स्थान है। भारतवर्ष में श्रीभगवान् के सबसे श्रेष्ठ लीला स्थान, श्रीनवद्वीप धाम, श्रीपुरुषोत्तम धाम और श्रीवृन्दावन धाम सबसे प्रधान हैं। फिर इन तीनों धामों में परम करुणामय श्रीगौराङ्ग भगवान् की लीला में अनर्पितचरीं (जो कभी नहीं दी गई) स्वभक्ति-वितरण करनेवाला लीला-स्थान श्रीनवद्वीप धाम ही सबसे श्रेष्ठ है। श्रीनवद्वीप अर्थात् नौ द्वीपों का केन्द्रस्थल अन्तर्द्वीप में अवस्थित श्रीमायापुर धाम इन सबमें प्रधान है। यह धाम श्रीव्रजपत्तन है। इस व्रजपत्तन में हरिशरण के गुरु का घर है।

इस व्रजपत्तन में श्रीगौराङ्ग गान्धर्विका गिरिधारी की यथानियम अष्ट पहर सेवा होती है। भजनानन्दी मनुष्यों के लिये यह बहुत ही मनोरम स्थान है। चारों ओर के गाँव कुछ दूर-दूर पर बसे हैं, इसलिये गाँव का कोलाहल बिलकुल सुनाई नहीं देता। प्रतिदिन उषाकाल और सन्ध्या समय पक्षियाँ भाँति-भाँति के स्वर में भगवान के गुण-गान में प्रमत्त हो उस आश्रम को गुञ्जित कर देते हैं। फूल के बगीचे अपने आराध्य देवता के श्रीपादपद्म

में लोटने के लिये सबेरे और शाम हँस के हँस फूलों के साथ शिर झुकाकर सबको के आने की प्रतीक्षा करते रहते हैं। तुलसी के कानन नये नये पत्ते और मञ्जरी के साथ अपने उपास्य देवता को सन्तुष्ट करने के लिये सबेरे और सन्ध्या को वायु के झकोरे में बड़े आनन्द से नाचता रहता है। आश्रम ऊँचे टीले पर अवस्थित है; प्रतिदिन सवेरे और सन्ध्या समय पूर्वी और पश्चिमी आकाश लाल, पीला, शुभ्र आदि विचित्र विचित्र रङ्ग धारणकर आश्रम की शोभा को बढ़ाता है। अत्यन्त बहिर्मुख भोग के प्यासे मनुष्य भी यहाँ क्यों न आवें, स्थान के माहात्म्य से कम से कम थोड़ी देर के लिये तो उनके हृदय में असत् प्रवृत्ति दूर हो श्रीहरि-भजन की इच्छा उदित होती ही रहती है।

आश्रम की एक छोटी सी कुटी हरिशरण के गुरुदेव का भजन-स्थान है। यह कुटी असंख्य शास्त्रग्रन्थों से सुशोभित है। सब शास्त्रों में पारङ्गत भजनानन्दी हरिशरण के गुरुदेव को समस्त शास्त्र कण्ठस्थ थे।

हरिशरण की गुरुसेवा की प्रवृत्ति अद्वितीय थी। वे नित्य ही श्रीगुरुगौराङ्ग-गान्धर्विका-गिरिधारी की अष्टपहरा सेवा को प्रयत्नपूर्वक किया करते थे। भोग का व्यञ्जन अपने हाथ बनाते थे। इसके अतिरिक्त उनके गुरुदेव जब जो कहा करते, उसका वे पूरी तरह से पालन करते और सुविधा के अनुसार नित्य अपने गुरु के पास बैठ भजन या शास्त्रादि की आलोचना किया करते थे।

एक दिन हरिशरण दिन का नित्य कर्म समाप्त कर गुरुदेव के पास बैठ नाम जप करते-करते पूछ बैठे,—"प्रभो! शुद्ध नाम, नाम-आभास और नाम-अपराध के सम्बन्ध में इस दास को आज कुछ उपदेश करिये, जिसे सुनकर यह अधम नामाभास और नामापराध को त्याग शुद्ध नाम लेने की चेष्टा कर सके।"

हरिशरण के गुरुदेव ने कहा,—"बेटा, तुमने बहुत ही अच्छा प्रश्न किया है। इस विषय में कुछ आलोचना होने की आवश्यकता भी है, न होने से कोई भजन-पथ में आगे बढ़ नहीं सकता। नामाभास और नामापराध को परित्याग कर शुद्ध नाम लेने की चेष्टा न होगी, तो शुद्ध नाम की कृपा कभी हो ही नहीं सकती। इस विषय में मैं यथाशास्त्र कहता हूँ, ध्यान देकर सुनो,—

"नाम चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरस विग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः॥"

अर्थात् श्रीकृष्णनाम चिन्तामणि है; वह सबको ही सब कुछ दे सकता है, कामियों को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तथा निष्कामियों को विशुद्ध कृष्ण-प्रेम प्रदान करता है। श्रीनाम अप्राकृत चिन्मय तत्त्व है। वह सर्व-रसमय है; परिपूर्ण तत्त्व, परम पवित्र और नित्य मायातीत है—माया उसका स्पर्श भी कर नहीं सकती। नाम और नामी में अर्थात् श्रीकृष्ण और उनके नाम में कोई भेद नहीं है। इस जड़जगत में श्रीनाम अक्षर के आकार में, जीवोद्धार के लिये करुणावश अवतीर्ण हुआ है।

वस्तुमात्र को ही नाम, रूप, गुण और कर्म द्वारा जाना जाता है। कृष्ण ही एकमात्र परम सत्य-वस्तु हैं। सुतरां उनके नाम, रूप, गुण और क्रिया या लीला—ये चार उनके परिचायक हैं।

समस्त विश्ववासी मनुष्यों और ईश्वर तथा ईश्वरीतत्त्व को नित्य आकर्षण करने के कारण ही उस परम तत्त्व का नाम 'श्रीकृष्ण' है। जैसे 'आम का पेड़' कहने से जान पड़ता है, कि इस वृक्ष का धर्म या स्वभाव आम का फल पैदा करना है, अर्थात् नाम वस्तु के धर्म का परिचय देता है, वैसे ही श्रीकृष्ण-नाम भी साक्षात् या अभिन्नरूप में उन परम तत्त्व के सर्वजनाकर्षक नित्यधर्म का परिचय देता है।

किसी जड़-वस्तु का नाम लेने से उसके रूप, गुण, लीलादि भी साथ साथ भिन्नरूप में दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही शुद्ध श्रीकृष्णनाम के साथ-साथ श्रीकृष्ण का रूप भी, अनर्थ की निवृत्ति होने पर, साधक के हृदय-पट पर, उदित होती है। रूप में नाम के साथ रूप का अभिन्नत्व दिखाई देता है।

श्रीकृष्ण में चौंसठ गुण विराजमान हैं। प्रत्येक गुण अनन्त और अपार है। श्रीनारायणादि से रामादि अवतार तक स्वांश और विलासतत्त्व में साठ गुण विराजते हैं। शिवादि देवगण में पचपन

गुण आंशिकरूप में प्रकाशित और साधारण-जीव में पचास गुण बिन्दु-बिन्दु के रूप में दिखाई देते हैं। विष्णुतत्त्व के बीच में कृष्ण में चार असाधारण गुण मौजूद रहने की वजह उनका उस तत्त्व की पराकाष्ठा के रूप में परिचय दिया जाता है। चिन्मय वस्तु का नाम लेने से, जैसे उसके रूप के साथ गुण भी प्रस्फुटित होता है, वैसे ही शुद्ध श्रीकृष्ण नाम के साथ रूप और गुण भी भक्तों के हृदय में उदित होता है। इसलिये नाम-रूप और गुण—ये तीनों पृथक् वस्तु नहीं हैं, ऐसा ही विदित होता है। हरि के रूप, गुण और नाम में अभेदत्व है। गुण के द्वारा ही कर्म या लीला का विस्तार होता है। सुतरां यह लीला में भी गुण का ही अभेदत्व है और नाम के साथ प्रस्फुटित होता है, इसलिये नाम से अभिन्न है।

किन्तु जड़जगत् में हम लोगों को दिखाई देता है, कि किसी वस्तु का जैसा नाम है, वैसा रूप नहीं; जैसा रूप है, वैसा गुण नहीं, जैसा गुण है, उसके कर्म या लीला में फरक है, इस तरह सब ही अलग अलग हैं। इसका कारण यह है, कि बद्ध-जीवों ने माया के आवरण की वजह अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म देह पाकर अपने-अपने रूप से पृथक् नाम- रूप और गुण पाया है। किन्तु शुद्धावस्था में जीव चैतन्य-कण है। सुतरां उस अवस्था में उसका नाम, रूप और कर्म अपने चैतन्य-कण-रूप का स्वरूप से स्वभावतः पृथक् नहीं। श्रीकृष्ण विभु-चैतन्य हैं—किसी प्रकार भी माया की आवरणी शक्ति उनका स्पर्श कर ही नहीं सकती, क्योंकि वे माया के मूल आश्रय हैं, माया उनके अधीन है। और कोई अवस्था न होने की वजह ही नाम-गुण-रूप-लीला आदि उनका सभी नित्य, चिन्मय-स्वरूप से नित्य अभिन्न है, अर्थात् जैसा नाम, वैसा रूप, वैसा ही गुण और वैसी ही लीला है, सभी एक है।

एकमात्र नाम के द्वारा श्रीकृष्ण का रूप उनका गुण और उनकी लीला प्रस्फुटित होती है, इसी कारण शास्त्र और साधुगण श्रीनाम को ही प्राधान्य देते हैं। इस जड़जगत् में केवल दो ही चिद्वस्तु दिखाई देती हैं - एक जीव और दूसरा श्रीकृष्ण का नाम; इसके अतिरिक्त सभी अचित् या जड़ हैं। बद्धजीव श्रीकृष्ण-नामरूपी चिद्वस्तु की सेवा से इस भवसागर से पार हो सकता है। इसलिये इस संसार में नाम के बराबर और दूसरी कोई सत्य वस्तु नहीं। यह नाम मुख्य और गौण के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

मुख्य नाम—

"गोविन्द गोपाल राम श्रीनन्दनन्दन।
राधानाथ हरि यशोमती प्राणधन॥
मदनमोहन श्यामसुन्दर माधव।
गोपीनाथ व्रजगोप राखाल यादव॥
इसी भाँति नित्य लीला प्रकाशक नाम।
इनके कीर्तन से जीव पाये कृष्ण-धाम॥"

गौण नाम—

"सृष्टिकर्ता परमात्मा ब्रह्म स्थितिकर।
जगत संहर्ता पाता यज्ञेश्वर हर॥
जहाँ प्रकृति-सम्बन्धी नाम पड़े जेती।
प्रकृति के गुण से गौण वेद की सम्मती॥"

अर्थात् जीवगण इस जगत् में श्रीभगवान् के ऐश्वर्य को देख उन के परिचय में जितने नाम रखते हैं, वे सभी गौण नाम हैं। किन्तु मुख्य नाम उनकी नित्य लीला के प्रकाशक और नित्य हैं। इस जड़-जगत् के विनष्ट हो जाने पर उनके गौण नामों का अस्तित्व भी विलुप्त हो सकता है, परन्तु मुख्य नाम नित्यकाल श्रीवैकुण्ठ में शुद्ध-जीवों के आगे प्रकट होगा। गौण नाम कर्म और ज्ञान-काण्डगत हैं, और धर्म-अर्थ काम और मोक्षफल के देने वाले हैं। किन्तु केवलमात्र मुख्य नाम ही कृष्णप्रेम प्रदान करने में समर्थ हैं; गौण नाम से वह फल नहीं मिलता।

सनत् कुमार ने नारद को उपदेश दिया है,—

नामैकं यस्य वाचि स्मरणपथगतं श्रोत्रमूलं गतं वा
शुद्धं वाशुद्धवर्णं व्यवहितरहितं तारयत्येव सत्यम्।
तच्चेद्देहद्रविणजनतालोभपाषण्डमध्ये
निक्षिप्तं स्यान्न फलजनकं शीघ्रमेवात्र विप्र॥

अर्थात् यदि एक बार भी कृष्ण का नाम किसी के मुँह से निकले या किसी से सुन लेने की राह

से हृदय में पहुँचे, तो उस नाम का उच्चारण शुद्ध हो या अशुद्ध, व्यवधान से रहित होने से वह जीव निश्चय ही तर जायगा इसमें कोई सन्देह नहीं। व्यवधान के रहने से कभी लाभ नहीं होता। यह व्यवधान ही नाम-अपराध माना जाता है। ये व्यवधान दो प्रकार के होते हैं वर्ण का व्यवधान और तत्त्व का व्यवधान। वर्ण का व्यवधान यह है कि 'हरमरि' शब्द के पहले और आखिरी अक्षर से 'हरि' होने पर भी 'म' के शामिल रहने से लाभ का फल होने नहीं पाता। तत्त्व का व्यवधान यह है कि वास्तव में कृष्णनाम और कृष्ण में भेद नहीं। किन्तु यदि कोई मायावादी अहंकार कृष्णनाम को ब्रह्म से पृथक् समझे, तो वह तत्त्व का व्यवधान माना जाता है। यह तत्त्व का व्यवधान बहुत ही खराब है। इससे सर्वनाश होता है।

और एक प्रकार का व्यवधान है, उसे नामाभास कहते हैं। देह, धन, जन, लाभ और पापियों के सङ्ग से इसका उदय होता है। शरीर को आत्मा समझ, धन-जन-आदि में 'हमारा' पन रख, लोभ आदि शत्रुओं के वश में हो पापियों के सङ्ग को न छोड़कर भी यदि हरि का नाम लिया जाय, तो उससे एक प्रकार का अस्फुट आनन्द तो लाभ होगा, किन्तु सच्चे नाम का उदय नहीं होता; इससे प्रकृत नाम और श्रीकृष्ण के प्रेम लाभ में व्याघात होता है।

श्रीनाम के लेने का अधिकार एक श्रद्धावान् जीव का ही है। केवल अश्रद्धा रखनेवालों का अधिकार नहीं है। नाम सर्वशक्तिमान् है, इसलिये नाम लेने में देश, काल, अशौचादि के नियम मानने नहीं पड़ते। किन्तु दान, यज्ञ, स्नान, जप आदि में उन सब नियमों का पालन करना चाहिये।

नाम-अपराध और नामाभास को छोड़कर शुद्ध-नाम लेने के लिये श्रद्धावान् को अवश्य सद्गुरु के चरणकमल की सेवा यत्न के साथ करना चाहिये। यत्न के साथ श्रीनाम के लेने की चेष्टा और सद्गुरु की सेवा करते-करते साधक के अनर्थ अर्थात् नामापराध आदि क्रमशः नष्ट होते हैं और नामाभास का उदय होता है। जब अनर्थ पूरी तरह से विनष्ट हो जाता है, तब शुद्धनाम हर समय भक्त की जिह्वा पर फिरा करता है। तब वह भक्त नाम को त्याग नहीं सकता। तब—

नाम नाचे जीव नाचे नाचे प्रेमधन।
जगत् को नचाये, करे माया पलायन॥

वत्स हरिदास, कहे गये भजन के अनुकूल विषयों का ग्रहण और प्रतिकूल विषयों का वर्जन कर सदा निष्कपट-चित्त से श्रीहरिनाम के लेने की चेष्टा और कृष्णनाम के प्रकृत भक्त की सेवा करते रहो, और किसी धर्म-कर्म की चिन्ता को कभी हृदय में स्थान न दो तथा किसी देवता को स्वतन्त्र ईश्वर समझ उसकी पूजा न करो, इससे तुम शीघ्र ही श्रीनाम की कृपा से पञ्चम-पुरुषार्थ, जो कृष्ण-प्रेम है, उसे पा सकोगे।

वत्स, आज यहीं तक रहने दो। तीसरा पहर हो गया। जाकर व्रज पत्तनेश्वर की सेवा करो। कल तुमसे नामापराध के सम्बन्ध में खूब अच्छी तरह बातें करूँगा।"

भोक्ता कौन है ?

परमानन्द का भोग करने की योग्यता जिसमें वर्तमान है, उस आत्मा का भोक्तृत्व और उसके के द्वारा भोग के लिये गृहीत होने की योग्यता-वाले पदार्थ को भोग्य या भोग्य-तत्त्व कहते हैं। इन भोक्तृ-भोग्यात्मक दोनों तत्त्वों का सम्यक् ज्ञान विकसित न होने तक नासमझ मनुष्य चाँदनी को पानी समझने की तरह भ्रम से एक के गुण को दूसरे में अर्थात् भोक्ता के गुण को भोग्य-तत्त्व में आरोपण करते हुए बनावटी भोक्ता हो भोग-साधन में तत्पर हो नरक का द्वार खोला करते हैं। जैसे भ्रान्ति के दूर होने से जल के बदले बालुका-राशि दिखाई देती है और ऐसा ज्ञान हो जाता है, कि बिना जलाशय के और कहीं जल का होना असम्भव है, वैसे ही पूर्ण ज्ञान का विकास होने पर भोग्यतत्त्व में भोक्तृत्व का न देखकर केवलमात्र भोक्तृतत्त्व में उसका दर्शन सिद्ध होता है।

इन्द्रियादि की सहायता से हमलोग जन्म-स्थिति-लय-धर्मात्मक बाह्य पदार्थ और उनके परस्पर सम्बन्ध-सूचक लौकिक ज्ञान को प्राप्त करते हैं; किन्तु नित्य सत्यवस्तु और उसके सम्बन्ध में अलौकिक ज्ञान प्राप्त करने के लिये शास्त्र का आश्रय किये बिना हमलोगों के लिये और कोई दूसरी राह ही नहीं है। श्रीप्रह्लाद महाराज को अग्निकुण्ड में डालने के समय वहाँ उपस्थित लौकिक ज्ञान के मनुष्यों ने समझ रखा था, कि इस बार वे निश्चय ही भस्मीभूत हो मृत्यु के मुख में पड़ेंगे; किन्तु स्वयं प्रह्लाद महाराज और अन्यान्य भक्तमण्डली के हृदय में नास्तिकों जैसी पूर्वोक्त अमूलक धारणा स्थानाभाव से उत्पन्न हो नहीं सकी।—

"कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।"

भगवान् के मुँह से निकली इस आश्वासन-वाणी के हृदय में जागती रहने की वजह भक्त लोगों को दृढ़ निश्चय था, कि भगवान् निश्चय ही प्रह्लाद की रक्षा करेंगे; वे इसी कौतूहल में खड़े खड़े समय बिता रहे थे, कि भगवान् की लीला देखें, कि वे कैसे उसकी रक्षा करते हैं। अग्नि ने जिनसे जलाने की शक्ति पाई है, वे इच्छा करते ही अग्नि से उस शक्ति को छीन ले सकते हैं और वहाँ उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के लिये वैसा ही किया। लाचार हो शक्तिहीन हो जाने पर अग्नि अपने कुण्ड में गिरे प्रह्लाद महाराज के एक बाल को भी जला न सकी। लौकिक ज्ञान से बिगड़े हुए माथे के लोग इस आख्यायिका के बयान पर विश्वास करने से आनाकानी करते हैं और सुनते ही यह वाद छेड़ते हैं कि यह सब मनगढ़ी कहानी है। हम लोगों ने इतिहास में देखा है कि ऐसे कितने ही लौकिक ज्ञान-सम्पन्न नास्तिक लोग समय के फेर से सुकृति-सम्पन्न होने पर अन्त में शास्त्रोज्ज्वला बुद्धि पाई थी और इस प्रकार की भक्ति को बढ़ानेवाली आख्यायिकाओं पर विश्वास करते हुए भगवत् सेवा को प्राप्त हुए थे।

लौकिक ज्ञान की हेयता के समझ में आ जाने पर जीवगण शास्त्र के अनुशीलन में प्रवृत्त हो जाते हैं और शास्त्र को जानकर यह समझ जाते हैं कि श्रीभगवान् ही एकमात्र आदि सत्य पदार्थ और सर्वशक्तिमान् तत्त्व विशेष हैं; अपनी अघटन-घटन-पटीयसी शक्ति का अवलम्बन कर उन्होंने अन्यान्य पदार्थों की सृष्टि की है। जैसे मिट्टी से बने बर्तन आदि पृथक् आकार में उत्पन्न होने पर भी कारण-रूप मिट्टी का आश्रय कर अपनी-अपनी सत्ता को प्रकट करने में समर्थ होते हैं, वैसे ही भगवत्तत्त्व-द्वारा सृष्ट पदार्थों के पृथक्-पृथक् भावों में अवस्थित होने पर भी कारणरूप भगवत्तत्त्व का आश्रय कर ज्ञान या अज्ञान में अपनी अपनी सत्ता के रखने में समर्थ होते हैं। अतएव दिखाई देता है कि हमलोग अमुक के पुत्र और अमुक देश में रहते हैं इस प्रकार लौकिक ज्ञान की निष्ठा की धारणाओं से शास्त्र के अनुशीलन का प्रभाव क्रमशः परिवर्तित हो जाता है और उसके बदले हमारे हृदय में इस प्रकार का अलौकिक ज्ञान हमारे हृदय पर अधिकार कर बैठता है कि हम

श्रीभगवान् के सृष्ट देहाध्यास-रहित शुद्ध जीव हैं और उनके आश्रय में ही अवस्थित हैं। क्योंकि लौकिक-ज्ञान अलौकिक-ज्ञान के प्रभाव से विलुप्त हो जाता है; इसलिये इसमें कोई सन्देह नहीं कि अलौकिक-ज्ञान हय और कर्म के लिये आनन्द देने वाला है।

अलङ्कार-शास्त्र में कहा गया है, कि आश्रय-जातीय पदार्थ का एकमात्र धर्म विषयजातीय पदार्थ की सेवा करना है। जैसे आश्रयजातीय स्निग्ध चाँदनी का प्रकाश अपने विषयजातीय चन्द्रमा की महिमा प्रकट करने के सिवा और किसी की भी महिमा प्रकट नहीं करता और जैसे नाना-विषय वासनाओं के पूतिगन्धयुक्त हृदयरूपी आश्रयजातीय पदार्थ को धन जनादि के रूप में अनित्य विषयजातीय पदार्थ के आकार में अवभासित पदार्थों की सेवा और उनके नाम रूप गुण लीला का कीर्तन करने के अतिरिक्त और कोई राह नहीं है, वैसे ही आश्रयजातीय समस्त जीवों के शुद्ध-स्वरूप के स्वभाव में विषयजातीय श्रीभगवान् की सेवा और उनके नाम रूप गुण लीला के श्रवण-कीर्तन और स्मरण के सिवा और किसी प्रकार के बाह्य लौकिक ज्ञान से उत्पन्न कर्त्तव्य-बुद्धिनिष्ठ विधि का परिचय असम्भव है। ब्रह्मगायत्री का "धियो यो नः प्रचोदयात्" पद का बहुतेरे लोग यह काल्पनिक अर्थ करते हैं, कि जब श्रीभगवान बुद्धिवृत्ति के प्रेरक हैं, तब कर्म को हेय ठहराने का विचार निरर्थक है; चित्त के ऐसे ही विचार का दमन करने के लिये इसमें सब प्रकार के कर्मों से मुक्ति देने वाली भगवत्-तत्त्व की चिन्ता करने की व्यवस्था दी गई है। अपने मत का समर्थन करने के अभिप्राय से "त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि" इस शास्त्र-वचन को उद्धृत कर इसकी व्याख्या करते हैं और श्रोता के मन में विश्वास जमाने के लिये सूर्य की किरण का दृष्टान्त देकर कहते हैं, कि जैसे किरणें, बिना किसी विचार के, पापी और पुण्यात्मा को समानरूप से धूप पहुँचाकर भी पाप-पुण्य का भागी नहीं होता और बिना विचार के धूप पहुँचाना ही उसका धर्म है, वैसे ही मनुष्यगण भी विचारशून्य सत् और असत् सब तरह के काम कर सकते हैं और इससे वे किसी प्रकार भी क्षतिग्रस्त हो नहीं सकते, क्योंकि पाप और पुण्य आकाश-कुसुम की तरह अलीक अर्थात् वास्तव में निःसार तत्त्व हैं। सूर्य की किरणें जड़-पदार्थ होने की वजह से हेय और उपादेयरूपी विचार-योग्यता से हीन और नैसर्गिक नियम के अधीन हैं। एकमात्र मनुष्य ही हित और अनहित का विचार करने में समर्थ है और यह मनुष्य के लिये शास्त्र की सहायता से ही सिद्ध हो सकता है। शास्त्र के अनुशीलन के समय भगवत्-कृपा की जो दिव्य ज्योति हमारी बुद्धि में प्रतिफलित होती है, उसी के द्वारा हमलोग भगवत्-सेवा में प्रवृत्त होते हैं। क्योंकि वह विशुद्ध ज्योति भगवत्-सामीप्य से हम लोगों के हृदय में आविर्भूत हो हमें सेवा-कार्य में नियुक्त करती है, इसलिये शास्त्र में श्री-भगवान् को हम लोगों की बुद्धि का प्रेरक बताया गया है। श्रीगीता में भगवान् ने स्पष्ट ही कहा है—"ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते" अर्थात् जिससे मनुष्य उन्हें प्राप्त कर सकें, वैसी ही बुद्धि वे उनको देते हैं। अतएव कल्याण के आकर श्रीभगवान कभी हमें असत् कर्म में नियुक्त नहीं कर सकते, यदि असत् कर्म को सत्-बुद्धि से प्रणोदित समझ बैठें, तो अन्त में रौरव से महारौरव में जा कठोर यन्त्रणा पायेंगे इसमें सन्देह ही क्या है। विषय भोग में प्रमत्त नकली भक्तलोग लोगों के आगे साधु बनने के अभिप्राय से गायत्री का कूट अर्थ करने को बाध्य होते हैं और जो उनके छल में पड़ जाते हैं, उनके सङ्ग को भी दुःसङ्ग समझ परित्याग कर देना चाहिये।

विषय और आश्रय—दोनों परस्पर स्वतन्त्र-सत्ता जान पड़ने पर भी विषय की सेवा करना ही आश्रय का धर्म जाना जाता है; तब यह भी जान पड़ता है, कि सेवा के द्वारा विषय-जातीय वस्तु की तृप्ति होने से आश्रय अपने को कृत-कृतार्थ समझता है और विषय के सुख से अपने को सुखी समझता है। आश्रयजातीय पदार्थ के स्वभाव में अपनी भोग-तत्परता का स्थान न होने से यह

कहना फजूल है, कि आश्रयतत्त्व विषयतत्त्व के साथ अभिन्न-हृदय है। शास्त्र में भी कहा है, कि भगवान् ने लीलारस के आस्वादन के लिये अपने मूल स्वरूप को कायम रख अपने अंश और विभिन्न अंश के आकार में अन्यान्य बहुतेरे रूप धारण किये हैं और उन अन्यान्य रूपों-द्वारा अपने मूल रूप की सेवा का अभिनय करते हैं। मूल रूप के सेवा ग्रहण करने की वजह ही उन्हें शास्त्र में सेव्य या भोक्तृतत्त्व कहते और अन्यान्य रूपों को सेवक या भोग्य वस्तु कहते हैं। जैसे विषयासक्त मनुष्य अभाव के पूरण के लिये कर्म का आवाहन करते हैं। वैसेही पूर्णानन्दमय श्रीभगवान में किसी प्रकार का अभाव न होने की वजह कामियों जैसी प्रवृत्ति की चेष्टा उनमें नहीं। राज-महाराज लोग अनायास ही घर बैठे हुए रुपये से खरीद कर मृगमांस खा सकते हैं और उनके इस काम से कोई यह नहीं समझ सकता, कि उनका मृगया का काम मांसाशी व्याध के जैसा घृणित काम है। मृगया का अभिनय केवलमात्र इशारा देनेवाला लीला का दृष्टान्तमात्र है। किन्तु भगवान का सृष्टिकार्य लीलातत्त्व के परिस्फुट भाव का उद्दीपक व्यापार है और कोई दूसरा उद्देश्य इसके मूल में हो नहीं सकता। यदि कोई जरा स्थिरभाव से हृदय के गह्वर में प्रवेश कर सकें, तो वे समझ सकेंगे, कि सत्य स्वरूप में कोई एक विशेषतत्त्व नित्य सेव्य के रूप में और देह के भीतर रहकर भी असंस्पृष्ट भाव से सदा अवस्थान करते हैं और अपने रूप, गुण, लीला माधुर्य से आकृष्ट कर नित्य काल-व्यापी सेवा लेने के अभिप्राय से आश्रय-जातीय जीवों को काय, मन और वाक्य में नियुक्त कर दिया है। जो भूमा पुरुष हैं (अर्थात जो पूर्ण आनन्द की खानि हैं) उनकी सेवा से ही लोग परितृप्त हो सकते हैं। क्षुद्र धन जन आदि की सेवा से भगवत्-सेवा के आनन्द का कणमात्र भी प्राप्त नहीं होता। धन-जन आदि क्षुद्र अर्थात् विभिन्न अंश पदार्थ होने से जान में या अनजान में जब जड़ सेवा-आनन्दरूपी इन्द्रिय के आनन्द के प्रयासी हैं, तब निश्चय ही वे भिखारी हैं। अतएव भिखारी के आगे परम आनन्द की प्रत्याशा करना विडम्बन मात्र है। मनुष्यमात्र कभी किसी की सेवा करने और किसी समय किसी के द्वारा सेवित होने चाहते हैं। कौन सेवक है और किससे सेवा ग्रहण करने की योग्यता है, इसके विषय में सम्पूर्ण ज्ञान के अभाव से सेवा प्रवृत्ति के उदय के समय मनुष्यगण सेवक तत्त्व की ही सेवा करने में प्रवृत्त होते हैं और इससे उसकी सेवा से वंचित होते हैं, जो यथार्थरूप में सेव्य हैं। अन्धकार के दूर होने से जैसे रस्सी को सर्प समझ लेना सम्भव नहीं, वैसे ही पूर्ण ज्ञान के उदय से सेव्य वस्तु की ही सेवा साधित होती है, और किसी की नहीं। यह भोक्तृ भोग्यरूपी तत्त्व की भ्रान्ति जब तक दूर नहीं होती। तब तक मनुष्य के ज्ञान की उन्नति का मार्ग बन्द रहता है।

भारतवर्ष में छः दर्शन शास्त्र प्रधान माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त और भी अनेक छोटे-छोटे दर्शन-शास्त्र इस देश और पाश्चात्य प्रदेश में प्रकाशित हुए हैं उन सब में वेदान्त-दर्शन सत्य-सिद्धान्तमूलक है और उसके समझने के लिये सबसे पहले श्रीमद्भागवत का पढ़ना बहुत ही आवश्यक है। श्रीमद्भागवत के पढ़ने के उपरान्त श्रीवेदान्तदर्शन का निगूढ़ तत्त्व समझ में आ सकता है और उससे यह विदित होता है, कि भगवान ही एकमात्र सेव्य तत्त्व हैं अन्यान्य पदार्थ उनके सेवक-तत्त्व हैं। ऐसे सत्यमूलक तत्त्वज्ञान के अभाव से परमतत्त्व-सम्बन्धी अन्य दर्शन को भ्रान्त दर्शन ही कहना उचित है। सुतरां सत्यसिद्धान्त-मूलक ज्ञानाग्नि के द्वारा विरोधी सिद्धान्तों को जलाकर हृदय से निकाल देना चाहिये। दूध और लावा मिलाकर काले साँप को पालना बुद्धिमानों के लिये उचित नहीं। भोक्ता बनकर भुक्तिवाद का आश्रय करने से अथवा भोग से विरक्त मुक्तिवाद का अनुसरण करने से किसी समय सुविधा हो ही नहीं सकती।

जब हम वास्तव में भगवान् के सेवक हैं, अर्थात् भोग्यतत्त्व हैं, तब नकली भोक्ता बनकर भोग में प्रमत्त होना हमारे लिये निश्चय अकर्त्तव्य है। और अपनी स्त्री-पुत्र आदि का भोक्ता बनना भी बुरा है तथा उनकी भोग-इच्छा में सहायता

करना अपने लिये उससे भी अधिक अन्याय है। सभी लोग यदि अपने-अपने निजकर्मों से भगवत्-सेवा में रत हों, तो यह जगत् भोग्यभूमि के रूप में न दिखाई देकर आज ही वैकुण्ठ के रूप में प्रकाशित हो पड़े। उस समय श्रीभगवान को निवेदन अन्नव्यंजनादि का महाप्रसाद का स्वाद लेते हुए देहयात्रा का निर्वाह करना पड़ेगा अर्थात् उसे हाल-भात समझ कर भोक्तृबुद्धि से खाना न पड़ेगा। भक्तिशास्त्र में श्रीभगवान का उच्छिष्ट स्वीकार करने के काम को हरिसेवा का अङ्ग बताया है। जो बिना निवेदन किये ही वस्तु का भोजन करते हैं, वे अभक्त हैं। क्योंकि भोक्तृबुद्धि ही इस काम का प्रवर्त्तक है। भोग के लायक जो कुछ सामग्री इस पृथिवी में है, वह सभी श्रीभगवान के भोग्य हैं और निवेदन के बाद दयाकर वे हमारे लिये जो छोड़ दें, उस दिये हुए जूठन के अतिरिक्त और किसी पदार्थ का अधिकार सच कहें तो नहीं। अतएव जो महाप्रसाद का सम्मान कर भगवत्-सेवा में रत रहते हैं वे दिन-दिन भक्तता की वृद्धि करने में समर्थ होते हैं; और कोई नहीं।

प्रेम का स्वरूप

हम लोग प्राकृत संसार में और उसके अनुगत साहित्य और कहानियों में व्यंगमा-व्यंगसी के प्रेम, नल दमयन्ती के प्रेम, पुरूरवा उर्वशी के प्रेम को 'प्रेम' के नाम से वैध या अवैध स्त्री-पुरुष की मिलने की आकांक्षा को ही लक्ष्य करते हैं और उसीको श्रीराधाकृष्ण के अप्राकृत प्रेम से तुलना करने का भ्रम किया करते हैं। यथार्थ में ऐसे नायक-नायिका का एक दूसरे के प्रति आकर्षण जड़ीय है। उसमें प्रेमोन्माद जैसी मादकता रहने पर भी वह प्रेम नहीं है। यद्यपि समय-समय पर दिखाई देता है, कि ऐसे आकर्षण में भी वह स्वार्थ त्याग मौजूद है, फिर भी, उसमें जड़ेन्द्रिय-प्रीति और अपने मन ही की तृप्ति अनुस्यूत है। इस जगत् में वात्सल्य और सख्य में भी ऐसा ही निज इन्द्रिय का तर्पण दिखाई देता है। उदाहरण देखना हो, तो हम अपने पुत्र-स्नेह का ही कुछ विश्लेषण करके देख सकते हैं। इस जगत् में माता के प्रेम की तुलना विरल है; इसलिये उसे अच्छी तरह से समझते ही हमारा उद्दिष्ट विषय समझ में आ जायेगा।

ऐसी मातायें बहुत दिखाई देती हैं जो अपने पाले हुए सन्तान के लिये ही अधिक व्याकुल होती हैं; किन्तु जो पुत्र या कन्या घटना-चक्र से शैशव ही से दूसरी जगह पाली जाती है, उनके लिये उतनी व्याकुलता नहीं दिखाती। काव्यादि में ऐसा दिखाई देता है कि अपने अपरिचित पुत्र को देख के जननी अपनी छाती के वस्त्र को स्तन्यसिक्त करती है और विपुल प्रेमाश्रु विगलित करती है; किन्तु इस देश के लेखक और कुछ भोगमात्र ही जानते हैं कि ऐसी कल्पना सिर्फ काव्य-रस का ही निदर्शन है। घटना जगत् में उसका अस्तित्व नहीं दिखाई देता। लालन पालन के कारण ही बच्चे के प्रति ममता बढ़ा करती है। अर्थात् यह 'मेरा है' की बुद्धि क्रमशः बढ़ती रहती है और हम वस्तु को जिस परिमाण से 'मेरा है' समझते हैं, उसके प्रति हमारी उतनी ही आसक्ति बढ़ती है। सङ्गति ही इसका कारण है। सङ्ग-क्रम से ही आसक्ति बढ़ती है। अचेतन द्रव्यादि में भी हमें ऐसी ही ममता होती है और उसके वियोग से शोक भी होता है। क्या इसी को हम प्रेम कह सकते हैं? यदि सङ्ग ही इस ममत्व-बुद्धि का कारण है, तो जड़ीय वस्तु पुत्र-पति-कलत्रादि में जो आसक्ति है, वह प्रेम समझी जा नहीं सकती।

श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थ में श्रीकृष्णदास कवि-

राज गोस्वामिपाद ने प्रेम का निदर्शन अल्पाक्षर लेकिन सुस्पष्ट भाव से इस तरह प्रदान किया है—

"आत्मेन्द्रिय-प्रीति-वाञ्छा तारे कहे काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति वाञ्छा धरे प्रेम नाम॥"

जागतिक ममत्व बुद्धि से जो आसङ्ग-लिप्सा होती है, वह निज इन्द्रिय का तर्पणमात्र है। 'तुमसे प्रेम है' इसका अर्थ हुआ 'तुम्हारा सङ्ग मेरी इन्द्रिय के लिये प्रीतिदायक है, तुम्हारे पास रहने से मुझे बहुत सुख मिलता है, तुम्हारे दूर रहने से मेरा मन प्रसन्न नहीं रहता। यद्यपि तुम मेरे प्रति उतने आकृष्ट नहीं हो, यद्यपि मेरे साथ एकत्र रहना तुम्हें पसन्द नहीं आता, तथापि तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध मैं तुम्हें हरदम अपने पास रखा चाहता हूँ।' इस तरह का प्रेम सिर्फ अपनी इन्द्रिय के सन्तोष का सामान है। इसलिये यह 'प्रेम' कहा जा नहीं सकता। भगवान के तोषण की एकाग्रता और अव्यभिचारिणी रति को ही सच्चा प्रेम कहते हैं। जिस जगह निज इन्द्रिय की प्रीति है, उस जगह प्रेम नहीं, काम विराजमान है। प्रेम भगवान् के सम्बन्ध में ही प्रयोज्य है। भगवत्-सम्बन्ध जुदा कर देने पर प्रेम का अस्तित्व ही रह नहीं जाता; उस जगह काम ही बलवान् हो जाता है। इसी मूल सूत्र का अवलंबन करते हुए हम जीव के प्रेम की आलोचना में प्रवृत्त होते हैं।

यह बात सभी स्वीकार करेंगे, कि निरीश्वर नीति-शून्य मनुष्यों के हृदय में कुछ भी प्रेम रह नहीं सकता। नीति-शून्य मनुष्य परद्रोही होते हैं; अपनी इन्द्रिय को प्रसन्न करने के लिये दूसरे की इन्द्रिय को सन्ताप देने के लिये दूसरे के अशुभ साधन को ही अपने जीवन का उद्देश्य बना लेते हैं, ऐसी दशा में जिस जगह द्रोह है, उस जगह प्रेम कैसे रह सकता है? जो लोग निरीश्वर नैतिक जीवन बिताते हैं, वह लोग जानते हैं, कि समाज की सुश्रृङ्खला रक्षा का विधान करने से ही वह सुख-स्वच्छन्द से जीवन-यात्रा का निर्वाह कर सकते हैं। इसलिये समाज शृङ्खलित करने में वह अपकर्म से विरत होते हैं, दूसरों को भी वैसा ही उपदेश देते हैं; आपस में साहाय्य लेने देने के यत्न में तत्पर रहकर विपदों से उद्धार का व्रत लिया करते हैं, किन्तु अतीव धीरभाव से आलोचना करते ही समझ में आता है, कि ऐसी प्रवृत्ति के अन्दर जीव के प्रेम जैसी कोई प्रवृत्ति मौजूद नहीं होती। उनकी इन्द्रिय-प्रीति ही उन्हें लोकहितकर कार्य में प्रवृत्त किया करती है। कर्ममार्गीय व्यक्तिगण वैदिक कर्मकाण्ड जैमिनी या पाश्चात्य मनीषी कमटी का अनुवर्त्तन करते हुए कर्मफल-विभागकर्त्ता एक तत्त्व को ईश्वर या और किसी नाम से स्वीकार करते हैं सही किन्तु उनका सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता भगवान् की कृपा पर विश्वास न रहने से उनका ईश्वरवाद भी निरीश्वरवाद है। वह लोग ऐहिक और पारत्रिक अपना मंगल साधन के लिये जो जीवहित-साधन का यत्न किया करते हैं, वह प्रेम नहीं, काम है। जिस जगह ईश्वर-विश्वास और ईश्वर-प्रेम नहीं, उस जगह जीव में प्रेम कभी स्थान पा ही नहीं सकता।

सिवा इसके यदि व्यक्तिगत भाव से जीव के प्रेम की आलोचना की जाये तो हमें दिखाई देता है, कि व्यक्तिविशेष सिर्फ कुछ थोड़े से आदमियों के शुभ-साधन में यत्नशील है; वह थोड़े से मनुष्य भी बहुत से स्थल में उनके अपने आत्मीय या स्वग्रामवासी या स्वप्रदेशवासी या स्वदेशवासी होते हैं उनके मंगल की चेष्टा समग्र जीव का प्रेम समझी जा नहीं सकती। ये लोग कहते हैं, कि पहले अपने परिवार के मनुष्यों से प्रेम करो; इसके बाद स्वग्राम के मनुष्यों से; इसके भी बाद स्वदेशवासियों से। हम पूछते हैं, कि इसकी सीमा क्या है? चित् जगत् (वैकुण्ठ) और अचित् जगत् (जड़ जगत्) में अनन्त कोटि जीवों का निवास है। उनमें कितनों के साथ हम इस तरह सीमा बढ़ा-बढ़ाकर प्रेम कर सकते हैं? सिवा इसके मनुष्यों के सिवा और भी जीव हैं। अनन्त कोटि अदृश्य जीवाणु भी हैं। उनके सम्बन्ध में कौन चिन्ता कर रहा है? जो लोग सदा जीव-सेवा किया करते हैं, उनमें कितने लोग मांसाहार-वर्जन करके जीवनाश से विमुख हुए हैं? यथार्थ में भगवत्-प्रेम का उल्लंघन

कर देने पर जीवों में आकाश-जैसा सम्पूर्ण अस्तित्वहीन हो जाता है। इस विचार से पेड़ वृक्ष को हरा-भरा करने के लिये पहले पत्तों के बाद की पल्लवों का और उसके बाद शाखाओं को जल से सींचना चाहिये। ऐसे विचार का पागलपन के विचार के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? बुद्धिमानों के विचार से वृक्ष की जड़ में जल सींचना चाहिये। इस तरह ईश्वर को छोड़ के जीवों के प्रति प्रेम करने से प्रेम जीवों में स्थिर नहीं रह सकता। ऐसे सामञ्जस्य विचार के कारण पर्याय का पथ कहला नहीं सकता। कर्म पर्याय में पहले मूल है, जो बाद को विस्तारित हो प्रेम द्वारा सर्वत्र व्याप्त होता है। अब हम इसी विचार के क्रम में प्रवृत्त होते हैं। जो लोग भगवत्-प्रेम में श्रद्धालु होकर उसके लिये यत्न किया करते हैं, वह लोग तीन तरह के होते हैं—उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ। जिनकी चेष्टा केवल प्राथमिक है, वह कनिष्ठ अधिकारी की श्रेणी में समझे जाते हैं। इस अवस्था से वृक्ष की जड़ में पानी सींचने के समय की तुलना की जा सकती है। जिस समय जल सींचा जाता है, ठीक उसी समय उस जल से वृक्ष की पुष्टि हुआ नहीं करती। इसी तरह आदमी की प्राथमिक श्रद्धा की अवस्था में सम्पूर्ण भगवत्-प्रीति हुआ नहीं करती। जब अर्चा-विग्रह की श्रद्धा के साथ पूजा आदि का यत्न किया जाता है, किन्तु भगवत् भक्तों में द्वैत बुद्धि ही रक्खी जाती है, पूज्य या आत्मीय बुद्धि रक्खी नहीं जाती, तो इस अवस्था में आदमी को कनिष्ठाधिकार मिलता है। उस समय प्रेम की कली सिर्फ खिलती रहती है। उस समय तक कनिष्ठाधिकारी भक्त के हृदय में भावाङ्क नहीं होता, वह "भक्तों के हृदय में सदा गोविन्द के विश्राम" को समझ नहीं सकता? उस समय भी उनके मन में भक्त-सेवा की रुचि उत्पन्न नहीं होती।

इसके बाद क्रमशः यत्न करने से और प्रेम बढ़ाने से, साथ ही किसी प्रतिकूल बाधा के न आने से वह कली धीरे-धीरे पुष्ट होकर खिलती हुई कली के रूप में परिणत होती है। जल सींचने के उपरान्त स्थल में इसी समय उस जल से वृक्ष की पुष्टि के उपकरण समूह मिश्रित होकर रस बन जाते हैं। वृक्ष मूल तन्तुओं-द्वारा वह रस खींच के ग्रहण करते हैं और भिन्न-भिन्न अंशों में दौड़ाते हैं। इस अवस्था में मध्यम अधिकारी ईश्वर-प्रेम में लगे रहने के साथ साथ ईश्वर के सम्बन्ध में भगवत्-भक्तों से मैत्री करते हैं, ईश्वर-तत्त्व न जाननेवालों पर दया दिखाते हुए उन्हें ईश्वर-प्रेम-प्राप्ति का उपदेश देते हैं और भगवत्-सेवा-विरोधी व्यक्तियों से उपेक्षा करते हुए उनका संसर्ग छोड़ देते हैं। उस समय भगवत् के सम्बन्ध में जो जैसे भक्त होते हैं उनके साथ वैसी ही आत्मीयता करना मध्यमाधिकारी के लक्षण हैं। जो सिर्फ कृष्णनाम में श्रद्धान्वित हुए हैं और भजन-मार्ग में प्रविष्ट नहीं हुए हैं, मध्यमाधिकारी उनका मन-ही-मन आदर करते हैं। जो दीक्षा ग्रहण करके श्रद्धा-सहित भजन में प्रवृत्त हुए हैं, उनका प्रणति-द्वारा सम्मान करते हैं और उत्तमाधिकारी को अर्थात् जो एकान्तिक भाव से ईश-भजन में तत्पर हैं, अनन्य-भाव और निष्कपटता से हैं, उनका साष्टांग दण्डवत् प्रणामादिपूर्वक उनकी सेवा करते हुए क्रम से अपने को उत्तमाधिकारी की पदवी तक चढ़ाते जाते हैं।

उत्तमाधिकार में प्रेम अब कलियां नहीं रहा, वह अब पूरा विकसित फूल है। जल के सींचने के उपरान्त स्थल से अब रस शाखा-प्रशाखा में पल्लव में, पत्तों में, फूल-फल में सञ्चारित होकर वृक्ष को पूर्णरूप से पुष्ट करता है। उत्तमाधिकारी स्थावर-जङ्गमात्मक अखिल संसार ही में भगवत्-दर्शन करते हैं और तमाम विश्व को भगवान् में दर्शन करते हैं। उनकी दृष्टि में अखिल संसार ही भगवत्-क्षेत्र और भगवान ही संसार के अद्वितीय वस्तु हैं, तब वह सारी वस्तुओं को ही प्रेममय दृष्टि से देखने लगता है। यह परमेश्वर के अनन्य ममता का फल है। ऐसी दशा में भक्तों की सारी इन्द्रिय-गति भगवान् के प्रति होती और आत्मा का सुदृढ़ अज्ञान का आवरण खुल जाता है। तब वह सभी जगह भगवान की परम मधुरता का दर्शन कर आकृष्ट होता

है। यही प्रेम का सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वोच्च स्थान है। ऐसी अवस्था होने पर सद्‌ध्यान के विकाश से जीव में प्रेम उत्पन्न होता है। नहीं तो कृत्रिम भाव से अपनी इच्छा से प्रेम करते हुए जीव में प्रेम का साधन नहीं होता। भगवान्, जो हमारे प्रेम के पात्र होते हैं, तब मनुष्यमात्र से हमारा प्रेम है, और यही विश्व-प्रेम है।

यही राह सहज मार्ग है। भगवान की सृष्टि में सब पहले से ही उनकी प्रीति करना चाहिये। क्रम से संकेतस्थान के दृढ़ होते रहने और उस प्रेम के क्रम से अभिविस्तार से पूर्ण भगवत्-विग्रह के विस्तारित होने पर हमारा प्रेम पूर्णता को प्राप्त होता है। जो पहले एक जीव को इसके बाद दूसरे जीव को—इस प्रकार के प्रेम-वितरण का उपदेश देते हैं, उनकी युक्ति असार्थक है और उसमें व्यवसायात्मिका बुद्धि का अभाव है।

नित्यधर्म का नामान्तर वैष्णवधर्म है

(पूर्व प्रकाशित के आगे)

अ[illegible] व शैव, शाक्त, गाणपत्य और सौर—यह सब ज्ञानकाण्ड के अधीन हैं। यह जो श्रवण-कीर्तनादि करते हैं, वह केवल मुक्ति और अन्त में अभेद ब्रह्म-समाप्ति के पाने की आशा से किया करते हैं। जिनको श्रवण-कीर्त्तनादि से भुक्ति मुक्ति की आशा नहीं, वे उसी-उसी मूर्ति से विष्णु की सेवा किया करते हैं। भगवान् की मूर्ति नित्य चिन्मय और सर्वशक्ति सम्पन्न है। उपास्य तत्त्व को यदि भगवान् न कहा जाय, तो अनित्य की उपासना होती है। बेटा! तुम्हारी जो भगवान् की मूर्ति की सेवा है वह भी पारमार्थिक नहीं है। क्योंकि तुम लोग भगवान् की नित्य मूर्ति को स्वीकार नहीं करते। अतएव ईश्वर के अनुगत नहीं हो। अब जान पड़ता है, कि तुम नित्य और नैमित्तिक उपासना के भेद को जान गये होगे?

दे०—हाँ, यदि भगवत्‌विग्रह को नित्य न कहा जाय और श्रीविग्रह का अर्चन किया जाय, तो नित्य वस्तु की उपासना नहीं होती। क्या अनित्य की उपासना द्वारा अन्य प्रकार के नित्य तत्त्व का अनुसंधान नहीं होता?

ला०—होने पर भी तुम्हारी उपासना को नित्य-धर्म कहा नहीं जा सकता। वैष्णवधर्म के नित्य-विग्रह का अर्चन आदि ही नित्यधर्म है।

दे०—जिस श्रीविग्रह की पूजा की जाती है, वह मनुष्य की बनाई हुई है, उसे हम नित्य मूर्त्ति कैसे कहें?

ला०—वैष्णव की पूज्य मूर्त्ति वैसी नहीं है। भगवान ब्रह्म की तरह निराकार नहीं हैं। वे सच्चिदानन्द-घन-विग्रह सर्वशक्तिमान हैं। वही श्रीमूर्त्ति पूजनीय है। वह श्रीमूर्त्ति पहले जीव के हृदय में प्रतिभासित हो मन में उदित होती है। मन से निर्मल ओखों में भक्तियोग से वे आविर्भूत हो पड़ते हैं। तब भक्त उनके दर्शन से हृदय में जिस चिन्मय मूर्त्ति को देखते हैं, उसके साथ श्रीमूर्त्ति का एकता कर लेते हैं। ज्ञानवादियों की पूजित मूर्त्ति वैसी नहीं है। उनके मत से किसी पार्थिव तत्त्व में कल्पित ब्रह्म पूजा के समय तक उपस्थित रहते हैं। बाद को वह मूर्त्ति पार्थिव वस्तु के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अब अच्छी तरह दोनों मत के अर्चन आदि के भेद की आलोचना करो। गुरुदेव की कृपा से जब वैष्णवी दीक्षा मिलती है, तब फल के देखने से यह पार्थक्य अच्छी तरह समझ में आ जाता है।

दे०—अब मैं देखता हूँ, कि वैष्णवों में केवल

ढकोसला भी नहीं है, ये अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी हैं। श्रीमूर्त्ति की उपासना और पार्थिव वस्तु में ईश्वर-ज्ञान परस्पर बिलकुल पृथक् है। कार्य में भेद बिलकुल दिखाई नहीं देता। निष्ठा में विशेष भेद है। इस विषय पर मैं कुछ दिन विचार करूँगा। पिता जी! मेरी एक बहुत बड़ी शंका दूर हो गई। अब मैं जोर देकर कह सकता हूँ, कि भक्तवादियों की उपासना केवल ईश्वर के साथ एकतामात्र है। अच्छा, मैं इस बात को फिर श्रीचरण में निवेदन करूँगा। यह कहकर देवी विद्यारत्न और शंभु अपने घर चले गये। तीसरे पहर दोनों आये थे सही, किन्तु उन सब बातों के लिये अवकाश नहीं था। नाम-गान में सभी ने खूब लाभ किया था।

दूसरे दिन तीसरे पहर परमहंस बाबाजी के मण्डप में सब लोग बैठे। देवी विद्यारत्न और शंभु, लाहिड़ी महाशय के पास बैठे। इसी समय ब्राह्मण-पुष्करणी के काज़ी आ उपस्थित हुए। काज़ी को देखकर वैष्णवगण सम्मान के लिये उठे। काज़ी भी परमआनन्द से वैष्णवों की अभ्यर्थना कर मण्डप में बैठे। परमहंस बाबाजी ने कहा—आप धन्य हैं, क्योंकि आप श्रीमहाप्रभु के कृपापात्र चाँद काज़ी के वंशधर हैं; हम लोगों पर कृपा रखियेगा काज़ी ने कहा,—श्रीमहाप्रभु के प्रताप से हमलोग वैष्णवों के कृपापात्र हो चुके हैं। गौराङ्ग ही हमलोगों के प्राणपति हैं। उन्हें दण्डवत् प्रणाम किये बिना हम लोग कोई काम नहीं करते।

लाहिड़ी महाशय मुसलमानी भाषा में अच्छे पण्डित थे। उन्होंने कुरानशरीफ के तीनों सिपारे पढ़े थे। सूफियों के कितने ही ग्रन्थों की आलोचना भी की थी। उन्होंने काज़ी महाशय से पूछा—आप लोगों के मत में मुक्ति किसे कहते हैं।

काज़ी ने कहा—आप लोग जिसे जीव कहते हैं, उसे हमलोग रूह कहते हैं। यह रूह दो अवस्थाओं में रहती है। अर्थात् रूह मुजर्रदी और रूह तरकीबी। जिसे आप लोग चित् कहते हैं, उसे हमलोग मुजर्रद कहते हैं। जिसे आप लोग अचित् कहते हैं उसे हम लोग जिस्म कहते हैं। मुजर्रद देश और काल के अतीत है। जिस्म देश और काल के अधीन है। तरकीबी रूह या बद्ध जीव वासना, मन और मलकूत् अर्थात् ज्ञान-पूर्ण है मुजर्रदी रूह इन सबसे शुद्ध और पृथक् है। आलम मिसाल के नाम से जो चिन्मय भूमि है, वहाँ मुजर्रदी रूह रह सकती है। इश्क अर्थात् प्रेम समृद्धि क्रम से रूह शुद्ध होती है। पैगम्बर साहब को खुदा जिस स्थान में ले जाते हैं, वहाँ जिस्म नहीं है, किन्तु वहाँ भी रूह बन्दा अर्थात् दास है और ईश्वर अर्थात् खुदा प्रभु है। अतएव बन्दा और खुदा का सम्बन्ध नित्य है। शुद्ध भाव से इस सम्बन्ध का होना ही मुक्ति है। कुरान और सूफियों की किताब में यह सब है सही; किन्तु सब लोग उसे समझ नहीं सकते। गौराङ्ग प्रभु ने कृपा कर जनाब चाँद काज़ी को इन सब बातों की शिक्षा दी है। तब से हम लोग शुद्ध भक्त हो गये हैं।

ला०—कुरान का मूल मत क्या है?

का०—कुरान में जो बिहिश्त वर्णित है, उसमें किसी तरह की इबादत की बातें नहीं हैं सही, किन्तु वहाँ जीवन ही इबादत है। खुदा का दर्शन कर लोग वहाँ बड़े ही सुख में मग्न रहते हैं। यह बात श्रीगौराङ्गदेव ने कही है।

ला०—कुरान में खुदा की मूर्त्ति कैसी कही गई है?

का०—कुरान का कहना है, कि खुदा की मूर्त्ति नहीं है। श्रीगौराङ्ग ने चाँद काजी से कहा है, कि कुरान में केवल जिस्मानी मूर्त्ति का निषेध है। शुद्ध मुजर्रदी मूर्त्ति का निषेध नहीं है। उस प्रेममय मूर्त्ति को पैगम्बर साहब ने अपने अधिकारमत से देखा था। अन्यान्य रसों का भाव ओट में था।

ला०—सूफी लोग क्या कहते हैं?

का०—उनके मत से अनलहक अर्थात् 'मैं खुदा हूँ' है। आप लोगों का अद्वैतवाद और मुसलमानों का सूफी मत एक ही है।

ला०—क्या आप सूफी हैं?

काज़ी—नहीं, हम लोग शुद्ध भक्त हैं—गौरगत-प्राण हैं।

बहुतेरी बातचीत के बाद काज़ी साहब वैष्णवों का सम्मान कर चले गये। इसके बाद हरिकीर्त्तन के उपरान्त सभा भंग हुई।

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीमक काँजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोद्द्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ
बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपुर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ
कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ
बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
नं० १ रामापुरा, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ
नं० ८ ए०, साउथ मलाका, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीश्यामगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० १३ हनुमान रोड, न्यू देहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपुरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकंदा चोरकंडा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

(३१) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ
कव्वुर, वैष्ट गोदावरी, मद्रास

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)
२—श्रीशिक्षादशकमूलम्—सटीक ।)
३—श्रीमध्वग्रन्थमार्गशिवर्णनम् ≡)
४—श्रीसिद्धान्तसरस्वतीदिग्विजय: ॥)
५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचय: -)
६—श्रीतत्त्वसूत्रम्

संस्कृत बँगला अक्षरों में

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)
२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत-भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)
३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत खंडों में प्रकाशित प्रति खंड १)
५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द २)
६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्रीरूपगोस्वामी प्रभु कृत उपदेशामृतसहित ।=)
७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बँगला अनुवाद सहित ॥)
८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द गोस्वामि-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित १)
९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
१०—सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगलाअनुवाद सहित -)
११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी-कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)
एकादश स्कंध से प्रति खंड ।≡)
१२—सूक्तिमल्लिका गुणसौरभ वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

बंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित ≡)
१४—नवद्वीपशतक बंगला अनुवाद -)
१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद कृत ≤)
१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती-कृत =)
१७—नवद्वीपभावतरंग ।)
१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)
१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद कृत २)
२०—मणिमंजरी ।)
२१—शरणागति -)
२२—कल्याणकल्पतरु -)॥
२३—गीतावली -)
२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)
२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत ॥=)
२७—जैव धर्म २)
२८—साधककंठमाला ।)
२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ५)
३०—महाप्रभुशिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ।॥)
३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ५)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

भागवत

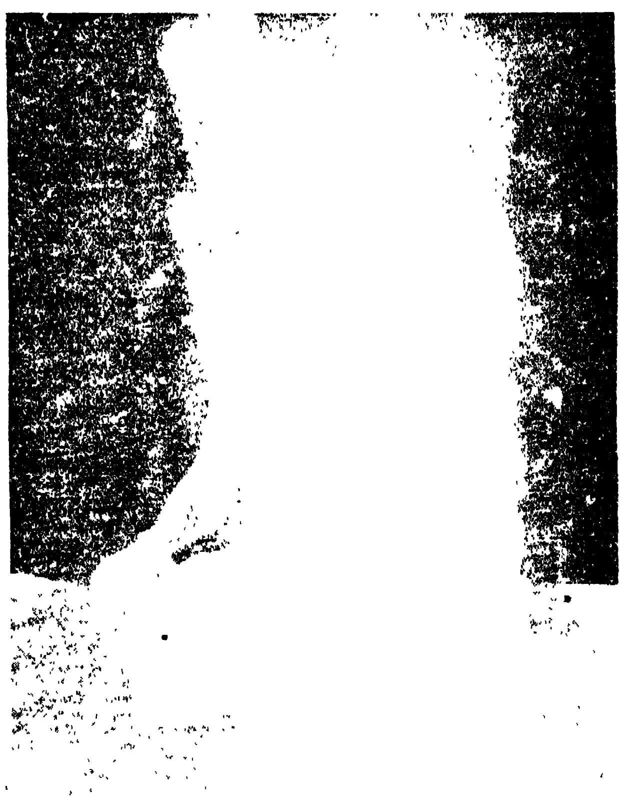
एकमात्र पारमार्थिक [illegible]िक पत्र

27th Decem. and 11th Jun.

1932-33

नारायण कृष्णपक्ष, गौरपक्ष गौराब्द ४४६

पौष अमावास्या-पूर्णिमा संवत् १९८९



स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा ।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा ॥

ॐ विष्णुपाद परमहंस [illegible] सरस्वती
गोस्वा[illegible]

प्रति संख्या -) } सम्पादक—त्रिदण्डि[illegible] हृदय वन { वार्षिक सडाक १॥)

Editor: — Tridandi[illegible] Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है ।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है ।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा ‒) है

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये । जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे ।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन छपाई की दर नीचे लिखी है:—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम		८)
आधा ,,	१ ,,	५)
चौथाई ,,	½ ,,	३)
२ इंच ,,	¼ ,,	१॥।)
१ ,, ,,	⅛ ,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये—

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

सेठ रामयश रोड, नरही, लखनऊ.

All communications are to be addressed to—

The Manager 'Bhagwat'

Seth Ramjas Road,

Narhe,

LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

वर्ष ७ | श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य
पौष अमावास्या-पूर्णिमा गौराब्द ४४६ सं० [illegible] वि० [illegible] जनवरी [illegible] | संख्या ५-६

पूर्ववङ्ग में प्रथमबार

विराट् सत्शिक्षा प्रदर्शनी

अद्वितीय ! अपूर्व !! कल्पनातीत !!!

श्रीमाधवगौड़ीय मठ के उद्योग से ढाका नगरी में (पुरानी पलटन की परेड में) आगामी ६ठीं जनवरी से २७वीं जनवरी तक विराट सत्शिक्षा प्रदर्शनी होगी। श्रीविश्ववैष्णव-राजसभा के पात्रराज ॐ विष्णुपाद परमहंस परिव्राजकाचार्य-वर्य श्रीश्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद प्रदर्शनी का द्वार उद्घाटन करेंगे।

यह प्रदर्शनी आबाल-वृद्ध-वनिता-जाति-वर्ण का कोई ख्याल न कर सबके लिये ही परम शिक्षाप्रद होगी। सबसे ही आने की प्रार्थना है।

आइये ! इस परम सुयोग को जाने न दीजिये।

सूचना—महिलाओं के लिये विशेष बन्दोबस्त है। प्रवेश का नियम प्रदर्शनी के द्वार पर समझिये।

गुरु के घर हरिशरण

(दूसरा दिन)

दो पहर होने में कुछ समय बाकी है। हरिशरण महाप्रसाद भोजन कर हाथ में माला लिये गुरु के पास आकर बैठ गये। इसी समय उनके गुरुदेव ने उनसे कहा,—"चलो बेटा! नवद्वीप के केन्द्रस्थल अन्तर्द्वीप के मायापुर धाम में अवस्थित श्रीमन्महाप्रभु के जन्मस्थान का दर्शन कर आयें। चलो अब विलम्ब न करो। तीसरे पहर के भीतर ही फिर श्रीव्रजपत्तन में लौट आना पड़ेगा! नहीं तो व्रजपत्तनेश्वर की सेवा का समय बीत जायगा। राह में चलते चलते तुमसे श्रीनामाभास के सम्बन्ध में यथाशक्य बातें बताने की चेष्टा करूँगा।"

हरिशरण बड़े आनन्द से एक कम्बल काँधे पर रख अपने गुरुदेव पर छाया करने के लिये एक छाता हाथ में ले उनके साथ बाहर निकले। दोनों ही पृथुकुण्ड (वर्त्तमान नाम बल्लाल-दीर्घिका) की बगल से धीरे-धीरे आगे बढ़े।

हरिशरण के गुरुदेव कहने लगे,—"वत्स हरिशरण, श्रीनाम सूर्य स्वरूप हैं। वे मायारूप अन्धकार का नाश करते हैं। बद्ध जीवों का अज्ञान आँधी के समान और अनर्थ मेघ के समान है। जैसे आँधी और बादल जीवों की आँखों को बन्द कर सूर्य को देखने नहीं देते, अँधेरा कर देते हैं; वैसे ही बद्ध जीवों के हृदय-पट में अज्ञान और अनर्थरूपी आँधी-बादल के उमड़ने की वजह से श्रीनाम-सूर्य का देख नहीं सकते, वे उनके हृदय को आवृत कर अन्धकार कर देते हैं। किन्तु सूर्य बहुत ही बृहत् वस्तु है। उसे आँधी या बादल छिपा नहीं सकते, वे सब जीव की आँखों को ढँक सकते हैं, इसीसे जीवगण सूर्य को न देखने पर समझते हैं कि सूर्य ही ढका हुआ है, इसी प्रकार श्रीनाम-सूर्य भी बहुत ही बड़े हैं; बद्ध जीवों के हृदय का अज्ञान और अनर्थ उन्हें ढँक नहीं सकता; क्योंकि वे उनके हृदय को आवृत कर उन्हें देखने नहीं देते। अज्ञान और अनर्थों को दूर करने के लिये ही साधना की आवश्यकता है। इनके दूर कर सकने से ही जीव को अपने स्वरूप में अवस्थान मिलता है और उस अवस्था में श्रीनाम-सूर्य का दर्शन करने में कोई बाधा नहीं रह जाती।

हरिशरण ने प्रश्न किया,—"अज्ञान और अनर्थ क्या है? कृपाकर इसका उपदेश कीजिये; जिसे सुनकर मैं अपने हृदय से उन सबको दूर कर श्रीनाम के उदय के लिये उपयुक्त हृदय बनाने का यत्न कर सकूँ।"

हरिशरण के गुरुदेव ने कहा—"वत्स, घबराओ नहीं मैं क्रम से सब बातें कहने को तैयार हूँ, ध्यान देकर सुनो।

श्रीनाम में चेतनता, श्रीनाम और श्रीकृष्ण में अभेदत्व, श्रीकृष्ण की सर्वेश्वरता, समस्त ईश्वर और ईश्वरी तत्त्व को श्रीकृष्ण का दास समझना, जीवों का अपने ही जैसा चेतन-स्वरूप और माया की जड़ता प्रभृति विषयों को न समझना ही जीव का अज्ञान है। श्रीनाम अप्राकृत तत्त्व है, श्रीनाम और कृष्ण में कोई भेद नहीं। ब्रह्मा से लेकर कृमि-कीट तक, सबके ही प्रभु श्रीकृष्ण हैं, सुतरां जीवगण के भी प्रभु हैं और जीवगण उनके दास हैं; माया जड़ तमिस्रा है—यथायथ ऐसा ही समझने से जीव का अज्ञान दूर होता है।

जीव का अनर्थ है—असत् तृष्णा (कृष्ण को छोड़ अन्य विषय की तृष्णा अर्थात् विषय-लोभ,) हृदय की दुर्बलता (अर्थात् हृदय की दुर्बलता के कारण आसक्ति और विषय त्याग में असमर्थता) और अपराध (अर्थात् सेवापराध, नामापराध और साधुगुरु-चरण में अपराध आदि)। ये सब अनर्थ श्रीकृष्ण-नाम के फल और श्रीकृष्ण का प्रेम पाने में बाधा उपस्थित करते हैं।

ऊपर कहे अज्ञानों के दूर होने से और अनर्थों के हरने से भक्तों के हृदय में श्रीनाम-सूर्य उदित होता है। तब भक्त श्रीनाम के सेवन से महा-आनन्द में मतवाले हो उठते हैं। किन्तु इन सब अज्ञान और अनर्थ के रहते जो नाम ग्रहण किया जाता है, वह वास्तविक नाम नहीं है; वह नामापराध गिना जाता है।"

हरिशरण ने पूछा,—"प्रभो, यह उपदेश देकर कृतार्थ कीजिये, कि कैसे अज्ञान और अनर्थ के हाथ से छुटकारा मिल सकता है?"

हरिशरण के गुरुदेव ने कहा,—"वत्स, अज्ञान और अनर्थ को दूर करना सहज नहीं है, ऐसे-वैसे लोग तो कुछ कर ही नहीं सकते। यदि कोई सौभाग्यवान जीव सद्गुरु का आश्रय पाये; फिर गुरु से इस विषय में यथाशास्त्र उपदेश पाये; वे ही सम्बन्ध-तत्त्व-विषयक ज्ञान प्राप्त करते हुए भजन की निपुणता से क्रमशः आँधी और बादलों के आवरण से निकल सकते हैं; नहीं तो और किसी तरह भी इनके हाथ से छुटकारा हो नहीं सकता।"

हरिशरण ने पूछा,—"प्रभो, सम्बन्ध-ज्ञान किसे कहते हैं?"

उनके गुरुदेव ने कहा,—"वत्स, इसकी व्याख्या बहुत बड़ी है, फिर भी संक्षेप में तुमसे कहता हूँ, सुनो।

श्रीभगवान्, जीव और माया—इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध क्या है?—इसके जानने का नाम ही सम्बन्ध-ज्ञान है। श्रीभगवान् स्वयं प्रभु हैं, जीव उनका दास और माया उनकी एक शक्ति है। जीव उन्हें भूलकर मायाशक्ति की परिणति इस प्रापञ्चिक कारागार में त्रिताप का भोग करते हैं। बड़े भाग्य से यदि कोई जीव भगवत् उन्मुख होते हैं और सद्गुरु के आश्रय में पहुँच कर उनके कहे सम्बन्ध-तत्त्व-विषयक ज्ञान लाभ करते हुए, नामाभास और नामापराध को परित्याग कर शुद्ध-नाम के आश्रय में क्रमशः भगवत् के दासत्व को फिर से प्राप्त हो धन्य होते हैं। जीव जब तक गुरु के पास पहुँचने का सौभाग्य नहीं पाते, तब तक उन्हें सम्बन्ध-ज्ञान की समझ कभी होती ही नहीं। वास्तव में इस सम्बन्ध-ज्ञान से पहले जो नाम ग्रहण किया जाता है, वह नामाभास-मात्र है; सच्चा नाम नहीं।

सद्गुरु ही भाग्यवान् जीव को सम्बन्ध-ज्ञान देकर अभिधेय के रूप में नाम की खोज कराते हैं। थोड़े ही समय में श्रीनाम सूर्य प्रबल हो आँधी और बादल को हटा देता है। तब जीव परम पुरुषार्थ श्रीकृष्ण-प्रेम को पाता और बड़े आनन्द में मग्न हो लगातार शुद्ध नाम का कीर्त्तन करता रहता है।

हरिशरण, यह देखो, ऊँचे ताल-वृक्ष-समन्वित ऊँचे टीले पर चहार दीवारी के भीतर जो मकान दिखाई देता है, वह श्रीमन्महाप्रभु का मकान है। वहीं श्रीमन्महाप्रभु ने जन्म लिया था। चलो और आगे चलें, श्रीगङ्गा के किनारे कुछ शिवघाट श्रीमन्महाप्रभु के घाट आदि भी देखते आयें। इसके बाद श्रीमन्महाप्रभु का मकान, श्रीअद्वैतभवन आदि देखते हुए फिर व्रजपत्तन में लौट आयेंगे।"

इसके बाद मैदान के बीच की पगडण्डी पर चलते चलते गुरुदेव हरिशरण से कहने लगे,—"वत्स हरिशरण, वास्तव में श्रीनाम के आभास को ही नामाभास कहते हैं। बिना सम्बन्ध-ज्ञान हुए सच्चे नाम का उदय हो ही नहीं सकता, केवल श्रीनाम का आभासमात्र उदित होता है। ये नामाभास प्रधानतः दो प्रकार के हैं—(१) छाया-नामाभास और (२) प्रतिबिम्ब-नामाभास

(१) छाया-नामाभास का अर्थ है—श्रीनाम-सूर्य की पूर्ण कान्ति यदि अज्ञान और अनर्थ रूपी आँधी और बादल द्वारा बाधा पड़ने पर संकोचित भाव से प्रकाशित हो, तो उसे छाया-नामाभास कहते हैं,—जैसे आँधी और बादल द्वारा सूर्य की पूर्ण रोशनी में बाधा पहुँचने पर हलकी रोशनी दिखाई देती है। इस छाया-नामाभास के लिये भी शास्त्र में बड़ी महिमा कही गयी है; गरुड़पुराण में कहा है,—

"अंशेनापि यत्रास्मिन् कीर्त्तिते सर्व पातकैः।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव॥"

अर्थात् नामाश्रित मनुष्य के सभी पाप नाम के द्वारा नष्ट हो जाते हैं। स्कन्दपुराण में कहा है,—

"आधयो व्याधयो यस्य स्मरणान्नामकीर्त्तनात्।
तदैव विलयं यान्ति तमनन्तं नमाम्यहम्॥"

अर्थात् आधिव्याधि प्रभृति सभी श्रीनाम कीर्त्तन द्वारा विनष्ट होती हैं। ब्रह्माण्डपुराण में है,—

"महापातकयुक्तोऽपि कीर्त्तयन्ननिशं हरिम्।
शुद्धान्तःकरणो भूत्वा जायते पंक्तिपावनः॥"

"अतीत-पुरुषान् सप्त भविष्यांश्च चतुर्दश।
नरस्तारयते सर्वान् कलौ कृष्णेति कीर्त्तयन्॥"

अर्थात् द्वारका-माहात्म्य में कहा गया है, कि नाम का कीर्त्तन करनेवाले के बीते हुए सात और होनेवाले चौदह पुरुष तथा उसके कुल सार्थी आदि उद्धार पाते हैं।

बृहत् विष्णुपुराण में लिखा है,—

"सर्वरोगोपशमनं सर्वोपद्रवनाशनम्।
शान्तिदं सर्वरिष्टानां हरेर्नामानुकीर्त्तनम्॥"

अर्थात् हरिनाम परायण मनुष्यों के सब रोग, सब उपद्रव सब अरिष्ट नाश होते और वे शान्ति पाते हैं। इतिहासोत्तम में है,—

"नरके पच्यमानानां नराणां पापकर्मणाम्
मुक्तिः संजायते तस्मान्नामसंकीर्त्तनाद्धरेः॥"

अर्थात् हरिनाम के कीर्त्तन से नरक में सड़ते हुए पापी भी उसी समय मुक्ति पाते हैं। स्कन्दपुराण में है,—

"कुरुक्षेत्रेण किं तस्य किं काश्या पुष्करेण वा।
जिह्वाग्रे वसते यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम्॥"

अर्थात् हरिनाम का आभास कुरुक्षेत्र, काशी पुष्कर आदि तीर्थों से भी अनन्त गुण श्रेष्ठ है।

गोकोटिदानं ग्रहणे खगस्य प्रयाग गङ्गोदक-कल्पवासः।
यज्ञायुतं मेरुसुवर्णदानं गोविन्दकीर्त्तेर्न समं शतांशैः॥
दानव्रत-तपस्तीर्थक्षेत्रादीनाञ्च याः स्थिताः।
शक्तयो देवमहतां सर्वपापहराः शुभाः॥
राजसूयाश्वमेधानां ज्ञानस्याध्यात्मवस्तुनः।
आकृष्य हरिणा सर्वाः स्थापिताः स्वेषु नामसु॥

अर्थात् सूर्यग्रहण के समय कोटि गो-दान, प्रयाग के गङ्गाजल में कल्प भर निवास, अगणित यज्ञ या मेरु के समान स्वर्ण-दान, ये बड़े से बड़े सत्कर्म भी नामाभास-कीर्त्तन के सौ हिस्से के बराबर भी नहीं। दान, व्रत, तप, तीर्थ, राजसूय या अश्वमेधादि यज्ञ प्रभृति से जो फल मिलता है, नामाभास उन सबसे श्रेष्ठ फल देनेवाला है। वैशम्पायन-संहिता में है,—

"सर्वधर्मबहिर्भूतः सर्वपापरतस्तथा।
मुच्यते नात्र सन्देहो विष्णोर्नामानुकीर्त्तनात्॥"

अर्थात् सब धर्मों से बाहर निकाले हुए और सब पापों में डूबे मनुष्य को भी हरिनाम-आभास के कीर्त्तन से मुक्ति मिलती है। वराह-पुराण में कहा है,—

"नारायणाच्युतानन्त वासुदेवेति यो नरः।
सततं कीर्त्तयेद्भूमौ याति मल्लयतां स हि॥"

अर्थात् कठोर साधन से मिलनेवाला मुक्तिपद भी श्रीनामाभास के कीर्त्तन द्वारा अनायास मिलता है। इस तरह छाया-नामाभास का माहात्म्य अनेक शास्त्रों में वर्णित है। सुतरां इस छाया नामाभास द्वारा धर्म, अर्थ, काम यहाँ तक कि मोक्ष भी प्राप्त होता है, केवल भगवत्-प्रेम इससे नहीं मिलता। फिर भी इस छाया-नामाभास का कीर्त्तन करते करते, शुद्ध नाम के लिये सकातर प्रार्थना करते रहने पर, अनर्थ के दूर होने से, शुद्धनाम का कीर्त्तन हो सकता है और केवल तभी श्रीकृष्ण-प्रेम लाभ किया जा सकता है।

वत्स हरिशरण, यह देखो, इस घाट का नाम वृद्धशिवघाट है। इस घाट से कुछ ही दूर, मायापुर ग्राम की सीमा के बाहर एक किनारे वृद्धशिव का मन्दिर था। उसके तीन धनुष उत्तर वह जो घाट दिखाई दे रहा है, वही श्रीगौराङ्ग का अपना घाट है। चलो, उसी घाट पर चलें। यह देखो, इस स्थान पर हमारे गौरहरि ने बाल्य-लीला के समय खूब खेल खेला है। श्रीयमुना में श्रीकृष्ण-लीला और श्रीभागीरथी में श्रीगौराङ्ग-लीला दोनों ही क्रीड़ाओं में बड़ी मनोहरता है। इस घाट के पन्द्रह धनुष उत्तर जो घाट दिखाई देता है, उसके उत्तर वह सधाई का घाट है। उसी घाट के समीप किसी स्थान में फूटी कलसी के ठीकरे को चला कर मधाई

ने हमारे प्राणेश्वर श्रीमन् नित्यानन्द प्रभु का खून गिराया था। उसकी याद से कलेजा काँप उठता है। इसके पाँच धनुष उत्तर वह जो घाट दिखाई देता है, वह विश्वकर्मा का बनाया बारकोणा घाट है। इसी घाट के ऊपर पाँच शिवालय थे। चलो, परमपवित्रा श्रीहरिभक्ति-प्रदायिनी गङ्गा के जल को माथे से लगा श्रीमन्महाप्रभु के घर की ओर चलें।"

चलते-चलते कुछ देर ठहर कर फिर वे हरिशरण से कहने लगे,— "वत्स हरिशरण, छाया-नामाभास चार प्रकार के हैं। श्रीमद्भागवत का कहना है,—

> "सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।
> वैकुण्ठनाम - ग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥"

अर्थात् — नामाभास चार प्रकार के हैं, जैसे (क) संकेत-नामाभास, (ख) परिहास-नामाभास, (ग) स्तोभ-नामाभास और (घ) हेला नामाभास। इसमें फिर संकेत-नामाभास दो प्रकार के हैं; जैसे

(अ) जड़ बुद्धि से विष्णु का लक्ष्य कर श्रीनाम ग्रहण करना; जैसे जड़ बुद्धि-सम्पन्न अजामिल मृत्यु के समय अपने बहुत ही प्रिय नारायण नामक पुत्र को प्रेमवश सम्बोधन करते हुए नारायण के नाम का उच्चारण कर उनका स्मरण कर सका था। उसके द्वारा वे यम द्वारा दण्डनीय न हो मुक्तिलाभ करते हुए विष्णुलोक में पहुँचाये गये थे।

(आ) दूसरी किसी वस्तु के बहाने विष्णुनाम का उच्चारण; जैसे—यवन ने शूकर के भय से भीत हो "हराम, हराम" शब्द का उच्चारण करते हुए राम की स्तुति की वजह मुक्तिपद को पाया था।

इस तरह और कोई भी यदि किसी प्रकार संकेत नामाभास भी हो, तो मुक्तिपद अवश्य मिलता है; क्योंकि नामाभास का प्रभाव कभी विनष्ट होनेको नहीं।

पण्डिताभिमानी मुमुक्षुगण, अतत्त्वज्ञ म्लेच्छगण, जरासन्धादि परमार्थ के विरोधी असुरगण ने हँसी-दिल्लगी में ही कृष्ण का नाम लेते हुए मुक्ति पाई है; शास्त्र में अनेक जगह ऐसा ही दिखाई देता है।

हरिनाम लेने वाले का असम्मान करते हुए हरिनाम में बाधा पहुंचाने वाले के लिये ही स्तोभ-नामाभास का उदाहरण है। कोई भक्त हरिनाम ले रहे हैं, उसी समय यदि किसी पाखण्डी ने आकर तरह-तरह चटकते मटकते हुए मुंह, चिढ़ाते हुए कहा, कि "रहने दे अपने हरे कृष्ण को, वह क्या कर सकता है!" इससे भी नामाभास के प्रभाव से वह पाखण्डी मुक्ति पा सकता है। नामाभास की ऐसी ही अद्वितीय महिमा है।

अनादर के साथ नाम लेने से हेला-नामाभास कहलाता है। प्रभास-खण्ड में कहा है,—

> मधुरमधुरमेतन्मङ्गलं　　मङ्गलानां
> सकलनिगमवल्ली सत्फलं चित्स्वरूपम् ।
> सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा
> भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम ॥

श्रीनाम में मन न लगाकर अवज्ञा भाव के साथ जो लोग कृष्ण का नाम लेते हैं, वह हेला नामाभास कहा जाता है। इस नामाभास से म्लेच्छगण और विषयी आलस्य-परायणगण तरा करते हैं। किन्तु जो लोग श्रद्धापूर्वक उस नाम को ग्रहण करते हैं, वे तो निःसन्देह मुक्ति पाते ही हैं, साथ ही श्रद्धा रहने की वजह बहुत शीघ्र उनका अनर्थ और गृहीत नाम का आभास दूर हो जाता और शुद्ध नाम का उच्चारण हो सकता है। उसके फल से वे चरम पुरुषार्थ कृष्ण प्रेम को पाकर धन्य हो सकते हैं। श्रद्धा न होने से वह फल कभी प्राप्त किया नहीं जा सकता।"

हरिशरण ने पूछा - "प्रभो, क्या इस तरह नामाभास लेनेवालों को कोई दोष नहीं लगता?"

गुरुदेव ने उत्तर दिया "वत्स यदि उनके मन में धूर्त्तता हो, तो निश्चय ही अपराध होता है। किन्तु अनजान में अर्थात् भ्रम-प्रमाद के कारण नाम का उच्चारण करने में कोई दोष नहीं होता।"

हरिशरण ने पूछा—"प्रभो, अब कृपा कर यह बतलाइए कि प्रतिबिम्ब-नामाभास क्या है?"

गुरुदेव कहने लगे,—"वत्स, जैसे सूर्य के प्रतिबिम्ब पर शीशा दिखाने से, दूसरी जगह उसका विकृत प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही प्रतिबिम्ब-नामाभास से नामस्वरूप का बिगड़ा हुआ रूप दूसरे

ही आकार में उदित होता है। यह प्रतिबिम्ब नामाभास केवलमात्र मायावाद से दूषित चित्त में उदित होता है। किन्तु भक्तों के प्राणधन प्रेमफल की प्राप्ति के लिये यह बहुत ही बाधक है। मायावाद के एक बार भी हृदय में प्रविष्ट होने से प्रतिबिम्ब नामाभास के हाथ से छुटकारा पाना बहुत कष्टसाध्य है। इसलिये इसकी गिनती प्रधान नामापराध में की जाती है। प्रतिबिम्ब नामाभास को दूर कर छाया नामाभास की महिमा सब शास्त्रों में ही वर्णित है। अज्ञानजनित अनर्थ से छाया-नामाभास उत्पन्न होता है और उस अनर्थ के दूर होने पर श्रीनाम का उदय होता है। किन्तु मायावाद से दूषित ज्ञान के विषम अनर्थ से जिस प्रतिबिम्ब-नामाभास का उदय होता है, वह चरम पुरुषार्थ भगवद्भक्ति का सम्पूर्ण बाधक होने की वजह सदा उपेक्षणीय है। सावधान, कहीं मायावाद द्वारा चित्त को कलुषित न करना।

यह लो, हम लोग महाप्रभु के घर में आ पहुँचे। चलो, भीतर चलें। वह देखो, श्रीमन्महाप्रभु श्रीमती लक्ष्मीप्रिया और श्रीमती विष्णुप्रिया का हाथ पकड़ खड़े हैं। वह देखो, बगल में श्रीराधागोविन्द की मनोहर मूर्ति है। दण्डवत् प्रणाम करो।"

दोनों के दण्डवत् प्रणाम के बाद पूरब ओर एक नीम के पेड़ के पास जा गुरुदेव ने हरिशरण से कहा,—"वत्स! इसी नीम के पेड़ तले हमारे महाप्रभु ने जन्म लिया। यह जो छोटी सी कोठरी देखते हो, उसी में महाप्रभु की माता शची देवी महाप्रभु को गोद में लिये बैठी हैं। इस नीम के पेड़ तले जन्म लेने की वजह ही बचपन में महाप्रभु का नाम 'निमाई' पड़ा था। पश्चिम किनारे वह देखो, श्रीजगन्नाथ मिश्र की श्रीमूर्त्ति है। वे महाप्रभु के पिता हैं। आहा, समस्त भूमि को उज्ज्वल बनाये हुए बैठे हैं। देखने से महाप्रभु के बचपन की लीलायें याद आ जाती हैं। तुम श्रीचैतन्यचरितामृत और श्रीचैतन्य भागवत—इन दोनों ग्रन्थों में श्रीमन्महाप्रभु की लीलाओं को पढ़कर विस्मित और धन्य होगे। इन्हें दण्डवत् प्रणाम करो।"

दण्डवत् प्रणाम के उपरान्त श्रीमन्महाप्रभु के श्रीमन्दिर के पश्चिम किनारे के परम भक्त सदाशिव के मन्दिर के समीप पहुँच उन्होंने कहा,—"वत्स! परमवैष्णव सदाशिव की श्रीमूर्त्ति है। ये जगन्नाथ मिश्र के गृह देवता हैं। इन्हें दण्डवत् प्रणाम करते हुए चलो, दक्षिण ओर महाप्रभु की पुष्करिणी का भी दर्शन कर लें। देखो, कितनी बड़ी पुष्करिणी है। इसके पवित्र जल को माथे पर छिड़को। आओ, इस मकान के चौतरे पर थोड़ा विश्राम कर लें। यह चौतरा भी कितना बड़ा है!

महाप्रभु बहुत छोटे थे, जब एक परमभक्त उनके घर अतिथि हुए। माता शचीदेवी ने इसी जगह उनकी रसोई का बन्दोबस्त कर दिया। उन्होंने रसोई बनाई। बनाने पर, थाली में परोस, आँख मूँद कर अपने उपास्यदेव श्रीविष्णु को निवेदन करने लगे। इसी समय न जाने कहाँ से बच्चे महाप्रभु गिरते-पड़ते वहाँ पहुँच दोनों हाथों नैवेद्य खाने लगे। भक्तजी आँख खोलते ही बच्चे को नैवेद्य जुठारते देख बहुत नाराज हुए। उनका क्रोध करते देख पुत्र के अमङ्गल की आशङ्का से शची देवी बहुत दुःखी हुईं। उन्होंने भक्त को धीरज दे फिर से रसोई का कुल सामान दिया और उस स्थान को धोकर साफ कर दिया। रसोई बनाने और परोसने के बाद वे फिर आँख मूँद विष्णु को निवेदन करने लगे; इस बार भी महाप्रभु न जाने किस तरह वहाँ पहुँच भोजन करने लगे। यह हाल देख भक्त फिर क्रोधान्ध होना ही चाहते थे, किन्तु प्रभु ने उन्हें समझा दिया, कि आप जिसे निवेदन करते हैं, वे ही इस रूप में अवतीर्ण हुए हैं। तब भक्तजी बड़े आनन्द से उन्हें गोद में बैठा, बार-बार उनके चरणों की धूलि को माथे लगा, जूठन खा के अपने को धन्य समझे।

"चलो, बेटे! अब यहाँ न बैठेंगे। श्रीवास का आँगन और श्रीअद्वैत-भवन देखकर श्रीव्रजपत्तन में लौट चलेंगे।"

दोनों आदमी श्रीमन्महाप्रभु, पिता जगन्नाथ मिश्र और माता शची देवी को प्रणाम कर महाप्रभु के घर से बाहर निकले और व्रजपत्तन की ओर चले। कुछ ही दूर चलकर श्रीवास के आँगन में पहुँचे। वहाँ पञ्चतत्त्व का दर्शन कर

दोनों दण्डवत् करते हुए कुछ देर के लिये वहाँ बैठ गये। गुरुदेव ने हरिशरण से कहा,—"बेटे ! इसी जगह महाप्रभु अन्तरङ्ग-भक्तों के साथ रस स्वादन और कीर्त्तन किया करते थे। आज सबेरे तुम जो भजन गा रहे थे, उसे फिर गाओ तो सही।"

हरिशरण ने भजन आरम्भ किया,—

जय जय हरिनाम, चिदानन्दामृतधाम,
पर तत्त्व अक्षर आकार।
निज जन कृपा धारि, नाम रूप अवतारि,
जीव पै दया की अपार॥
जय हरि कृष्णनाम, जग-जन को सुविश्राम,
सर्व-जन मानस रञ्जन।
मुनिगण निरन्तर, करें नाम समादर,
गाते हैं प्रसन्न वदन॥
अहो, कृष्णनामाक्षर, तुम सर्वशक्तिधर,
करो कल्याण वितरण।
तुम बिन भवसिन्धु उबारे नहीं कोई बन्धु,
तुम आये जीव-उद्धारण॥
जीव के सभी ताप, नाश करते आप,
हिले मिले जो एक बार।
पुकारे कोई जन, होके दीन अकिञ्चन,
न रहे जब और अधार॥
तुम्हारे ध्यान आये, उग्र ताप भाग जाये,
लिङ्ग भङ्ग होवे अनयास।
विनोद सेवक रहय, जय हरि हरि जय,
पड़ा रहूँ चरण के पास॥

दोनों ही कुछ देर इसी प्रकार कीर्त्तन आनन्द का उपभोग कर पञ्चतत्त्व को नमस्कार करते हुए समीप ही के श्रीअद्वैत भवन में पहुँचे। वहाँ श्री-गौरचन्द्र और पञ्चतत्त्व के एकतम श्रीअद्वैताचार्य महाशय को प्रणाम कर गुरुदेव ने कहा —"वत्स, इन्होंने भक्तिभाव से जल और तुलसी अर्पणकर महाप्रभु को अवतीर्ण कराया था। इन्हें नमस्कार करो।"

नमस्कार के उपरान्त दोनों ही आदमी व्रजपत्तन की ओर चले।

हरिशरण ने अपने गुरुदेव से कहा,—"प्रभो, अब कल मुझे श्रीनामापराध के सम्बन्ध में उपदेश दीजियेगा।"

गुरुदेव ने कहा,—"ऐसा ही सही।"

हरि-संकीर्त्तन की आवश्यकता

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥

श्रीशुकदेव गोस्वामी महाराज ने परीक्षित् से कहा था —हे राजन् ! कलियुग को दोषों का सागर मानने पर भी उसमें एक ऐसा प्रधान गुण है, जिसके लिये अन्यान्य युगों की अपेक्षा उसे अच्छा कहने में अत्युक्ति नहीं होती। कारण, कलियुग में भगवान् वासुदेव का गुणकीर्त्तन करने से ही जीव संसार के बन्धन से मुक्ति पाकर परमपद को प्राप्त होता है; इसमें कोई सन्देह नहीं।

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात्॥
(भा० १२।३।५२)

अहो ! सत्ययुग में प्राणायामादि योग के अङ्गों के अनुष्ठान से ध्यान करने से जो फल मिलता था; त्रेतायुग में वह आयोजन के साथ बहुत समय तक बड़ी तैयारी से ज्योतिष्टोमादि यज्ञ के करने से जो फल मिलता था और द्वापर में तरह-तरह के आयोजन से अर्चन के द्वारा जो सिद्धि होती थी, कलियुग में केवल श्रीहरि के संकीर्त्तन से ही वह फल मिल जाता है; इसमें सन्देह नहीं।

इसीसे शची-नन्दन गौरहरि ने हमारे जैसे घोर विषयासक्त मायामुग्ध और त्रिताप से जलते हुए जीवों के प्रति करुणा परवश हो हम लोगों की आयु को कम देख हमारे चरम कल्याण के साधन की इच्छा से शास्त्रसमुद्र का मन्थन करते हुए उसके निचोड़ के रूप में नीचे लिखा उपदेश प्रकट किया है —

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणम्
श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम् ॥
आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनम्
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम् ॥

श्रीकृष्ण का सम्यक् कीर्त्तन सर्वोपरि जययुक्त हो। विषय की कथा के कीर्त्तन से अंश रूप से भोगपरायणता की सिद्धि होती है। अप्राकृत राज्य में श्रीकृष्ण ही विषय हैं, वहाँ प्राकृत का लेश भी नहीं, सुतरां प्रकृति के अतीत सब सिद्धियाँ ही श्रीकृष्ण के कीर्त्तन से मिलती हैं। सब सिद्धियों में सात विशेष सिद्धियाँ श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन में संश्लिष्ट हैं। उसी का उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है।

श्रीकृष्ण का सङ्कीर्त्तन जीव के मनरूपी मलिन दर्पण को साफ करनेवाला है। ईश्वर से विमुखता-रूपी अन्य-अभिलाष, फलभोग और फलत्याग इन तीन प्रकार के प्राकृत पापों द्वारा बद्ध जीव का चित्त पूरी तरह से मैला हो रहा है। जीव के चित्तरूपी दर्पण से उस मैल के छुड़ाने का प्रधान यन्त्र श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तन है। जीव के चित्तरूपी दर्पण में जीव का स्वरूप न दिखाई देने के लिये बाधक होकर यह तीनों प्रकार का मैल जमा बैठा हुआ है। उस मैल को धोने के लिये श्रीकृष्ण का सङ्कीर्त्तन ही समर्थ है। अच्छी तरह श्रीकृष्ण का कीर्त्तन करते-करते जीव चित्तरूपी दर्पण में अपने-आपको कृष्ण का दास देखने लगता है।

इस संसार के आपाततः मधुर जान पड़ने पर भी मानो यह घोर वन के भीतर लगी हुई दावाग्नि के समान है। दावाग्नि से वन के वृक्षों का झुण्ड नष्ट होता है। कृष्ण से विमुख मनुष्य संसारा-ग्निज्वालारूपी दावाग्नि की तपन को सदा सहा करते हैं; किन्तु भली भाँति कृष्ण का कीर्तन होने से ही इस संसार में रहते हुए भी कृष्ण के भजन की वजह दावाग्नि की तपन-ज्वाला से छुटकारा मिलता है।

श्रीकृष्ण का भली भाँति सङ्कीर्त्तन परम माङ्ग-लिक शोभा को बढ़ाता है; श्रेयः=मङ्गल; कैरव=कुमु-दिनी; चन्द्रिका=चाँदनी। जैसे चन्द्रोदय से कुमु-दिनी उज्ज्वल होकर खिल उठती है, वैसे ही श्रीकृष्ण के संकीर्त्तन से समस्त कल्याण उदित होते हैं। अन्याभिलाष, कर्म और ज्ञान, कल्याण का उपाय नहीं है; बल्कि श्रीकृष्ण का सङ्कीर्त्तन ही जीव के लिये परम मङ्गलदायक है।

मुण्डक उपनिषत् में दो प्रकार की विद्या की बातें कही हैं। एक लौकिकी विद्या और दूसरी पराविद्या। श्रीकृष्ण का सङ्कीर्त्तन गौणभाव से लौकिकी विद्या का जीवन है और मुख्य भाव से पराविद्या या अप्राकृत विद्या का जीवन है।

श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तन के प्रभाव से मनुष्य सांसा-रिक विद्या के अहङ्कार से छुटकारा पाकर कृष्ण-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करता है। अप्राकृत विद्या का तत्त्वभूत वस्तु श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन ही है।

श्रीकृष्ण का सङ्कीर्त्तन ही मनुष्य के अप्राकृत आनन्दसागर को बढ़ानेवाला है। क्षुद्र तालाब को समुद्र कहा नहीं जा सकता। अतएव अखण्ड आनन्द की ही असीम समुद्र के साथ तुलना होती है।

श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन पद पद पर पूर्ण-अमृत का स्वाद देता है। अप्राकृत रस के स्वाद में कमी या अधूरापन नहीं है। श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन से हर समय पूर्ण नित्य रस का स्वाद मिलता है।

अप्राकृत सभी वस्तुएँ श्रीकृष्ण के सङ्कीर्त्तन से स्निग्धता पाती हैं। प्राकृत राज्य में देह, मन और उससे अतिरिक्त आत्मा श्रीकृष्ण के सङ्कीर्त्तन से केवल निर्मलता ही नहीं पाता परन्तु उसमें स्निग्धता भी पाता है। उपाधिग्रस्त जीव ने स्थूल-सूक्ष्म के रूप में जो मलिनता पाई है, वह सब कीर्त्तन के प्रभाव से धुल जाती है। जड़ का लालच छोड़ने से कृष्ण का भजन करनेवाला मनुष्य सुशीतल कृष्ण-पाद-पद्म सेवा को प्राप्त करता है।

मन्त्र के बहुत धीरे होनेवाले उच्चारण को जप कहते हैं; अर्थात् इस तरह मन्त्र का जप करना चाहिये जो सिर्फ अपने ही कानों को सुनाई दे, और कोई सुन न सके। जैसे भक्तिरसामृत में कहा है,—

मन्त्रस्य सुलघूच्चारो जप इत्यभिधीयते।

नाम, रूप और गुण आदि के ऊँचे स्वर से उच्चा-

उच्चारण को कीर्त्तन कहते हैं । भक्तिरसामृतसिन्धु में इसके बारे में कहा है,—

नामलीलागुणादीनामुच्चैर्भाषा तु कीर्त्तनम् ।

जप करने से केवल जप करनेवाले का ही प्रयोजन सिद्ध होता है, किन्तु औरों के हित में कीर्त्तन जप से भी अधिक फलदायक हो जाता है । कीर्त्तन होने से सुननेवाले की भी भलाई होती है । सङ्कीर्त्तन शब्द से यह जान पड़ता है, कि सर्वतोभाव से कीर्त्तन अर्थात् जिसके कीर्त्तन होने पर और किसी प्रकार के साधन की आवश्यकता न हो ।

जब बहुतेरे भक्त एकत्र होकर मृदङ्ग-करताल आदि लेकर श्रीहरि का नाम, रूप और गुणादि का ऊँचे स्वर से कीर्त्तन करते हैं, तब उस उच्च कीर्त्तन को साधु लोग 'सङ्कीर्त्तन' कहते हैं । इस तरह के उच्च-सङ्कीर्त्तन से सुननेवाले हर एक मनुष्य का, मनुष्य ही का क्यों, प्रत्येक पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि इतर जीवों का भी चरम कल्याण होता है । जो परम मङ्गलप्रद "कृष्ण" नाम का उच्चारण करते हैं, उनके कोटि-कोटि महापातक भस्म हो जाते हैं । जैसा कि विष्णुधर्म में है —

कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्त्तते ।
भस्मीभवन्ति राजेन्द्र महापातककोटयः ॥

एकमात्र श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन के द्वारा ही कृष्ण-प्रेम प्राप्त होता है, कविराज गोस्वामी ने अपने श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थ में लिखा है,—(मध्य २२ परि०)—

साधुसङ्ग, नामकीर्त्तन, भागवत-श्रवण ।
मथुरावास, श्रीमूर्त्ति का श्रद्धा से सेवन ॥
सब साधनों में श्रेष्ठ ये ही पञ्च अङ्ग ।
कृष्णप्रेम होये इन पाँचों के अल्प सङ्ग ॥

ऊँचे स्वर से नाम के कीर्त्तन द्वारा मनुष्य के अतिरिक्त इतर जीवों का भी चरम कल्याण होता है; हम लोगों को इसका ही उपदेश देने के बहाने श्रीमन्महाप्रभु ने नामाचार्य श्रीहरिदास ठाकुर से पूछा था, कि इतर जीवों की मुक्ति कैसे हो सकती है ? इस पर हरिदास ठाकुर ने जो कहा था, वह आगे के छन्द में प्रकट किया जाता है । श्रीचैतन्यचरितामृत में लिखा है,—

पृथिवी में बहुत जीव स्थावर जङ्गम ।
इन सब का किस प्रकार होगा मोचन ॥
हरिदास कहे प्रभु ये कृपा तुम्हार ।
स्थावर जङ्गम पहले किया है निस्तार ॥
तुमने जो किया है ऊँचे स्वर सङ्कीर्त्तन ।
स्थावर-जङ्गम ने उसे किया है श्रवण ॥
सुन के जङ्गम का हुआ संसार क्षय ।
स्थावर में शब्द योग से प्रतिध्वनि होय ॥
प्रति ध्वनि नहीं, वो तो करे कीर्त्तन ।
तुम्हारी कृपा से वो है अकथ्य-कथन ॥
सभी जगत में होवे उच्च-सङ्कीर्त्तन ।
सुन प्रेम-वश नाचे स्थावर जङ्गम ॥
(चै० च० अन्त्य ३ य)

अतएव यदि किसी को इस जगत में इतर प्राणियों का यथार्थ उपकार करने की इच्छा हो, तो उनके लिये ऊँचे स्वर से सङ्कीर्त्तन करने की आवश्यकता है; नहीं तो बहुतेरे रत्न और धन द्वारा भी इतर प्राणियों का यथार्थ उपकार अर्थात् चरम कल्याण का साधन हो नहीं सकता । धनी लोग धन द्वारा भूखों को भोजन देकर उनकी भूख को कुछ देर के लिये दूर कर सकते हैं सही, किन्तु उनकी भूख को सदा के लिये दूर कर नहीं सकते, अर्थात् भूखे लोग जिस कर्म के वश चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते हुए त्रिताप की ज्वाला से जलते और भूख-प्यास से बहुत ही कातर हो पड़ते हैं, उस दुःख से किसी तरह भी उनका उद्धार कर नहीं सकते । तब इस दुःख से उनके उद्धार का एकमात्र यही उपाय है, कि उन्हें भगवत्-प्रसाद प्रदान करना और ऊँचे स्वर से श्रीहरिनाम सुनाना । इसके अतिरिक्त इतर प्राणियों के उद्धार का और कोई उपाय नहीं है । एक मात्र ऊँचे संकीर्त्तन को सुनाकर पृथिवी के समस्त प्राणियों का उद्धार होगा, यही हमारे परमदयालु ठाकुर श्रीगौरसुन्दर के प्रचारित धर्म का गूढ़ रहस्य और प्रधान उपकारिता है । जब भक्त लोग ऊँचे स्वर से श्रीभगवान् के नाम का कीर्त्तन करते हुए नृत्य करते हैं, तब उसे सुन कर हमारा तापित प्राण शीतल होता है । विषयासक्त मन विषय को छोड़ भगवान् की ओर

दौड़ता है, स्त्री-पुत्रादि के वियोग के दुःख एकबारगी ही भूल जाते हैं, तब हम लोग भी आनन्द के साथ भक्तों के सङ्ग नाचने लगते हैं। फिर हमारा ध्यान रह नहीं जाता, कि हम संसार के मायाबद्ध जीव हैं—उस समय अच्छी तरह समझ में आ जाता है, कि हम कृष्ण के नित्य-दास हैं।

शुद्ध-सङ्कीर्त्तन-सम्प्रदायों में किसी सम्प्रदाय के भक्तों ने साधारण मनुष्यों को उपदेश देने के बहाने निम्नलिखित गान को गाया है,—

राधा कृष्ण बोलो बोलो बोलो रे भाई।
यह शिक्षा देय, सब नदिया, फिरते हैं नाचते गौर निताई॥
झूठी माया के वश, जाते हो बहे, बार बार डुबकी चुबकी खाई॥
जीव कृष्ण दास, करो विश्वास, विश्वासकि भाई फिर दुःख नाई॥

कभी-कभी नीचे लिखे गान को गाकर उन्होंने हमारे जैसे माया-बद्ध जीवों को सतर्क कर दिया है,—

अब काहे माया जाल पड़ते हो जीव-मीन।
नहीं जानो बद्ध होके, रहिहौ चिर दिन॥
अति तुच्छ भोग आश, बन्दी होके मायापाश।
विकृत भाव से रहते दण्डय जैसे पराधीन॥
अब भक्ति-बल से, कृष्णप्रेम-सिन्धु जल में।
क्रीड़ा करो अनायास, रहो तुम कृष्णाधीन॥

किसी शुद्ध सम्प्रदाय के भक्तों के लिये साधारण जीवों के कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड प्रभृति की कोई आवश्यकता नहीं, हृदय को केवल निरुपाधि कृष्णप्रेम का आश्रय देना ही जीव का एकमात्र कर्त्तव्य है; इसी उपदेश के बहाने निम्नलिखित गाने का उपदेश देना चाहिये,—

कृष्ण-भक्ति बिना कभी नहीं फलोदय।
झूठे सब धर्माधर्म जीव-उपाधिमय॥
योग-याग तपोध्यान, संन्यासादि ब्रह्मज्ञान।
नाना भाँति जीव के, बन्धन का कारण होय॥
सेवकों की बात बरो, नाना भाँति त्याग करो।
निरुपाधि कृष्णप्रेम हृदय देय आश्रय॥

भगवद्भक्तों के मुख से उक्त गीत को सुनकर हम लोग अच्छी तरह समझ सकते हैं, कि हम कृष्ण के नित्यदास हैं। भगवान को भूल, स्वयं भोक्ता बन, माया की सेवा करने की वजह हमारी यह भयानक दुरवस्था उपस्थित हुई। यदि साधु, शास्त्र और श्रीगुरु के उपदेश को सुन, फिर श्रीभगवान् की सेवा करने लगें, तो हम लोगों को फिर भयानक त्रिताप की ज्वाला सहना न पड़े; हम नित्य धन कृष्णप्रेम को प्राप्त कर सकेंगे।

केवल भक्त ही क्यों, मृदङ्ग-करताल आदि बाजे भी हम लोगों को श्रीभगवान् की ही सेवा करने का उपदेश देते हैं। मृदङ्ग हमें उपदेश देता हुआ कहता है—

येषां श्रीमद्-यशोदासुतपदकमले नास्ति भक्तिर्नराणाम्,
येषामाभीरकन्या प्रियगुणकथने नानुरक्ता रसज्ञा।
येषां श्रीकृष्णलीलाललितगुणकथा सादरौ नैव कर्णौ,
धिक् तान् धिक् तान् धिगेतान् कथयति नितरां कीर्त्तनस्थो मृदङ्गः॥

श्रीमान यशोदा-नन्दन श्रीकृष्ण के चरण कमल में जिनकी भक्ति नहीं है। "धिक् तान्"—उन्हें धिक्कार है। गोपीवल्लभ श्रीकृष्ण के गुण-कीर्त्तन में जिनकी जिह्वा आसक्त नहीं है, "धिक् तान्"—उन्हें धिक्कार है। जिनके कान श्रीकृष्ण की लीला की कथा को सुनने में अनुरक्त नहीं; "धिगेतान्"—उनको धिक्कार है। कीर्त्तन के समय मृदङ्ग ऐसे ही बोल बोलता है।

मृदङ्ग के इस बोल को सुन, इस धिक्कार को समझ, लोग हरि-सङ्कीर्त्तन में शामिल हो सकते हैं। मृदङ्ग द्वारा इतना उपकार होता है।

बजने के बहाने करताल जो कहता है, उसके बोल नीचे दिये जाते हैं:—

मृत्युं जयेयं शमनं जयेयं तत् किङ्करांश्चापि सुखं जयेयम्।
श्रुत्वेति दूरात् करतालशब्दं सङ्कीर्त्तने ते खलु नोपयान्ति॥

अर्थात्—"मृत्यु को जीतूँगा, शमन (यम) को जीतूँगा और उनके किङ्करों (दूतों) को जीतूँगा।" करताल के इस शब्द को दूर से सुन वे (अर्थात्-मृत्यु, शमन और किङ्कर) सङ्कीर्त्तन करने वाले के पास आ नहीं सकते। अतएव करताल द्वारा बड़ा उपकार होता है। इसी प्रकार सिंगी, करताल, नाच और शिर हिलाने आदि से हम लोगों का विशेष उपकार होता है।

विदेहराज (निमिराजा) ने करभाजन से कहा

था—हे भगवन् ! जगदीश्वर किस समय, कौन-कौन मूर्त्ति, वर्ण और नाम से आविर्भूत होते हैं और किस प्रकार जगत् में आराधित होते हैं, यह आप मुझसे कहिये। श्रीमद्भागवत में है,—

कस्मिन्काले स भगवान् किं वर्णः कीदृशो नृभिः।
नाम्ना वा केन विधिना पूज्यते तदिहोच्यताम्॥
(भा० ११ ५। १८)

इस प्रश्न के जवाब में करभाजन ने कहा था,—सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि, इन चारों युगों में, भगवान् क्रम से नाना प्रकार के वर्ण, नाम और आकार धारण कर आविर्भूत होते हैं और विविध प्रकार से पूजित होते हैं। बाद को क्रम से सत्य, त्रेता और द्वापर युग के उक्त विषय अर्थात् चारों युग के भगवान् के वर्ण, नाम और आकार धारण करने के विषय का वर्णन कर अन्त में वर्तमान कलियुग के बारे में कहने लगे,—जिनके मुख में सदा कृष्ण-वर्ण, जिनकी कान्ति अकृष्ण अर्थात् गौर है, उन्हीं अङ्ग, उपाङ्ग, अस्त्र और पार्षद परिवेष्टित महापुरुष को सुबुद्धिमान् मनुष्य संकीर्त्तन यज्ञ द्वारा पूजते हैं। श्रीमद्भागवत ११।५।३२ में है,—

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥

यह श्लोक एकमात्र अभिन्न ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीगौराङ्गदेव को ही लक्ष्य कर कहा गया है।

इन श्रीगौराङ्ग के अवतार में श्रीनित्यानन्द और श्रीअद्वैत प्रभु का अङ्ग, श्रीवासादि प्रभु के उपाङ्ग और गदाधर प्रभु के पार्षद तथा हरि-नाम ही अस्त्र है। अतएव बुद्धिमान् मनुष्यों को सङ्कीर्तन द्वारा श्रीगौराङ्गदेव का ही भजन करना चाहिए। श्रीचैतन्यचरितामृत में है,—

सङ्कीर्तन के प्रवर्त्तक श्रीकृष्णचैतन्य।
सङ्कीर्तन यज्ञ से उन्हें भजे वही धन्य॥
वही हैं सुमेधा बाकी कुबुद्धि संसार।
सब यज्ञ से है कृष्णनामयज्ञ सार॥
(चै० च० आदि ३ य परिच्छेद)

'भागवत' के पाठकों से हमारा सविनय निवेदन है, कि उन्हें श्रीगौराङ्गदेव के जैसे परम दयालु और कोई न मिलेगा। स्वयं भगवान् व्रजेन्द्र-नन्दन श्रीकृष्ण ने हमारे जैसे बद्धजीवों की मलिन दशा देख, करुणावश नवद्वीप-धाम में प्रकट हो स्वयं वैसा ही आचरण कर दिखा दिया, कि मनुष्य एकमात्र सङ्कीर्तन से ही उन्हें (श्रीगौराङ्गदेव को) प्राप्त कर सकता है। अतएव यदि हम उन दयालु ठाकुर के वचन न सुनें, तो किसी काल में भी हमारा चरममङ्गल साधित न हो सकेगा। फिर से चौरासी लाख योनि में भ्रमण करना पड़ेगा।

बड़ा दिन

कहावत है,—"किसी का सर्वनाश, किसी का पौषमास।" बङ्गाल में पौषमास का बड़ा आदर है। खेतिहरों ने नये धान से गोड़ भर दिये हैं। लड़के सबेरे-सबेरे आग सुलगाते और खजूर का रस पीकर हँसते हुए आग में हाथ सेंकते हैं; औरतें लड़कों को नये चावल, नये गुड़ और नई ब्याई गौ के दूध से खीर बनाकर खिलाती हैं। गृहिणीगण दामाद और नातेदारों को न्योते, तरह-तरह के पकान्न बनाने में ही पागल हो रही हैं; चारों ओर ढेकी की आवाज़ से कान के पर्दे उड़ जाते हैं; शहर में गाबी, मटर की छीमी, सन्तरा, तिल के लड्डू, फरुई-पट्टी, चिड़वे की चकती आदि से लड़के घर में धूम मचाये रहते हैं। चारों ओर आनन्द ही आनन्द छा गया है; पानी को हाथ लगाना ही निरानन्द है; जिनकी उम्र अधिक हो गई है, फिर भी काम देखने-सुनने के लिये घर में सहायता देने को कोई आदमी नहीं है,

जाड़े में उन्हें ही अधिक कष्ट है, सबसे अधिक कष्ट स्नान के समय है,—किन्तु सबसे अधिक लड़कों को। इसके अतिरिक्त शहर में आनन्द ही आनन्द है। बड़ा दिन सर्कस, लड़कों के इम्तिहान के बाद की छुट्टी, जिसमें उन्हें पढ़ने को डाटनेवाला कोई नहीं, इनमें जो लड़के पास नहीं हुए, उनका मजा किरकिरा है। फिर से इम्तिहान में पास होने के लिए सिर धुनकर पढ़ना पड़ता है।

विधु बाबू कलकत्ते में रोजगार करते हैं, अच्छी आमदनी भी होती है। उनकी बहन कनकलता बड़े दिन का आनन्द मनाने के लिये गाँव से अपने साथ अपने लड़के और देवर को लेकर भाई के पास चली आई। भौजाई दामिनी घर के काम के बाद जो समय मिलता है, उसमें जैवधर्म, हरिनाम-चिन्तामणि, प्रेम-विवर्त्त प्रभृति धार्मिक पुस्तकें पढ़ती और माला लेकर महामन्त्र का जप किया करती है। उनका एक लड़का सुबल और लड़की इन्दुलेखा, दोनों ही मिलकर गौरसुन्दर की पूजा करते और "राधाकृष्ण बोलो, बोलो रे भाई" गाना गाया करते—यही इन दोनों का खेल था। यह सब हाल कनकलता के मन न भाया। पिछले वर्ष जब कनकलता दामिनी के यहाँ आई थी, तब तो दामिनी ऐसी नहीं थी। उन दिनों विश्राम के समय कोई न कोई उपन्यास पढ़ती, ताश के खेल खेलती, भतीजी और भतीजा उस समय बहुत छोटे थे; यह याद नहीं, कि क्या खेला करते थे; किन्तु साल ही भर में यह क्या हो गया? कनकलता को यह सब अच्छा नहीं लगता। उस साल दामिनी कितने आदर के साथ कनकलता को आज सर्कस, कल थियेटर, परसों बायस्कोप, कभी मरे जानवरों की भीड़ (म्यूजियम), और कभी अलीपुर के जीते जानवरों का बाग (जू), यह तमाशा, वह तमाशा इत्यादि एक दिन भी खाली न बैठने देती थी। इस साल कनकलता हृदय में बहुतेरी आशायें बाँधकर आई है; कई दिन तो प्रदर्शनी ही देखना था; उसमें कुश्ती देखती, थियेटर देखती, मेम के सिर पर बकरी कैसे कसरत करते हैं, वह देखती, बिजली का झूला देखती; बड़ी आशा से वह आई, किन्तु यहाँ का हाल देख हैरान-परेशान रह गई। अगहन महीने में अपने स्वामी से हजार खुशामद कर भाई के घर आकर उसने जो देखा, उससे उसका शरीर मारे क्रोध के जल उठा। मुँह से कुछ बोल भी नहीं सकती; गये वर्ष भौजाई के साथ ननद मोटर पर चढ़ सैर करती थी, इस बार कोई कुछ बोलता ही नहीं, इसका कारण क्या है? क्या भाई का कामकाज कुछ मन्दा पड़ गया है? बेचारी उकताकर बार बार यही सोचती है, कि कब यह पौष का महीना बीते। गत सोमवार को कनकलता ने अपने देवर को घर भेज पति से कुछ रुपये भी मँगवाये। विचार था, कि एक दिन कुछ खर्चकर भौजाई को शौक का नशा जमा दिया जाय। किन्तु उसके पति विजय बाबू भी बड़े दत्त हैं, उन्होंने सिर्फ पाँच रुपये भेजे हैं, बल्कि देवर लौटकर आ गया है। इससे तो एक दिन की घोड़ागाड़ी का भाड़ा भी पूरा न पड़ेगा। तब क्या किया जाय? पौषमास में ससुराल भी तो नहीं जा सकती; अपने और भाई के कुल का अमङ्गल हो सकता है; यह भी बहुत बड़ी कठिनाई है।

एक दिन उसने अपनी भौजाई के आगे चर्चा छेड़ी। कहा, "चलो भाभी, एक दिन कहीं घूम-फिर आवें। कलकत्ते आ के भी घर में बैठी रहना अच्छा नहीं जान पड़ता।"

इस पर भौजाई ने जरा मुस्कराकर कहा,—"ठीक है, आज ही चलो चलें।"

कनकलता प्रसन्न हो उठी; दुःख के बाद सुख की आशा में बड़ी मिठास होती है। आज कनकलता भतीजा सुबल और इन्दुलेखा के खेल में बड़े शौक से शामिल हुई। आज भतीजों की पूजा और गीत उसे अच्छे जान पड़े। मन धड़क रहा है, कि कब तीन बजेगा। तीन बजे घोड़ागाड़ी आ गई। कनकलता का मन कुछ दब गया,—मोटर नहीं आई। फिर भी वह झट उठ बैठी। सवारी हुई—दामिनी कनकलता लड़की-लड़के विधु बाबू और कोचबक्स पर कनकलता का देवर सारदा बैठा, गाड़ी चली।

कुछ दूर जाके जब गाड़ी एक मोड़ घूमी, तब कनकलता ने खिड़की से झाँककर कहा—"वाह भाभी, इतने दिन पर तुम्हें पारसनाथ देखने का शौक़ हुआ है! इसी से तो गाड़ी गली में घूमी है।"

विधु बाबू ने जवाब दिया,—"चलो तो सही, देखो कहाँ जाती हो।"

कनकलता ने देखा, कि गाड़ी पारसनाथ के मन्दिर तक नहीं गई, बीच ही में रुक गई, कोचवान ने उतरकर गाड़ी का दर्वाज़ा खोल दिया; कनकलता पूछ बैठी—"भाभी! यह किसके घर आई?"

दामिनी चुप रही! पहले विधु बाबू और बाद को दामिनी लड़कों को लेकर उतरी। लाचार कनकलता भी उतर पड़ी। मकान में घुसने के पहले यह देखने के लिए, कि मकान के मालिक कौन है, कनकलता ने ऊपर देखते ही पढ़ा "गौड़ीयमठ" बड़े बड़े अक्षरों में लिखा है। सामने ही गेरुआ वस्त्र पहने दो एक ब्रह्मचारियों को देख कनकलता सब समझ गई। वह घूँघट निकालकर विधु बाबू, अपने देवर सान्दा बाबू और भौजाई के साथ भीतर गई। एक ब्रह्मचारी से विधु बाबू ने पूछा कि यहाँ कोई संन्यासी महाराज हैं: ब्रह्मचारी ने उत्तर दिया,—"भारती महाराज हैं; आप लोग आइये।" सब लोग आगे बढ़कर भुवन-मनोमोहन श्रीमहाप्रभु की मूर्त्ति को देखकर बड़े ही आनन्दित हुए। विधु बाबू ने साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया; उन्हीं के साथ साथ सुबल और इन्द्रलेखा ने भी दण्डवत् किया। देखा-देखी कनकलता ने भी ठाकुर को प्रणाम किया; लड़के के सिर को भी मन्दिर के चौखट पर झुका दिया। देवर ने भी चौखट छूकर माथे से लगा लिया। कनकलता मन ही मन बड़ी नाराज़ हुई। उसके गाँव में कितने ही ठाकुर हैं; यहाँ शीतला, वहाँ वटवृक्ष के नीचे पुराने महादेव, काली मन्दिर में साक्षात् माँ की मूर्ति है, ठाकुरों की कमी है? कलकत्ते बड़े ठाकुरों को देखने थोड़े ही आई है! इसके बाद विधु बाबू आदि बिछे हुए आसनों पर जा बैठे। इसके बाद उन्होंने सामने बैठे श्रीमद्भक्तिविवेकभारती महाराज तथा अन्यान्य भक्तों को दण्डवत् कर कहा,—'प्रभो, यह उपदेश दीजिये कि जीव का कर्त्तव्य क्या है?"

दर्वाज़े के सामने गाड़ी और भीतर लोगों को बैठे देख कई भले आदमी भी आकर बैठ गये। सभी चुप हैं। महाराज ने मन ही मन परमाराध्य देव श्रीप्रभुपाद को दण्डवत् कर कहा,—"देखिये, श्रीमद्भागवत का उपदेश है, कि हमारा यह मनुष्य-जन्म बहुत ही दुर्लभ है। कई लाख जन्मों के बाद हम लोगों ने यह जन्म पाया है। और, हम लोगों का यही जन्म सबसे श्रेष्ठ जन्म है। जो देव-शरीर से बन नहीं पड़ता, वह मनुष्य जन्म से सार्थक हो सकता है; और किसी जन्म से नहीं। वह क्या है, इसे बाद में कहूँगा। मनुष्य का जीवन अर्थद है। अर्थ का मतलब यहाँ पैसे-रुपये, सोना-चाँदी नहीं; यहाँ अर्थ का मतलब है,—परम-अर्थ श्रीभगवान को पहचानना, इसके अतिरिक्त जिसे हम अर्थ कहते हैं, वह अनर्थ है। जब वह सब अर्थ भगवान् की सेवा में लगें, तभी सार्थक हो सकते हैं। एकमात्र मनुष्य-जन्म में ही श्रीभगवान् की प्रेम-प्राप्ति का साधन हो सकता है। अन्यान्य जन्मों में केवल जड़ का भोग होता है। देवताओं को भी स्वर्गीय सुधा का स्वाद, नन्दन-कानन के पारिजात सौरभ की सुगन्ध, अप्सराओं के मनोहर गीत आदि भाँति भाँति के भोग में दिन बिताकर, अन्त में पुण्य समाप्त होने पर, फिर मृत्युलोक में आकर कर्मक्षेत्र की कर्म-चक्की में पिसना पड़ता है। पशु-जन्म, कीटजन्म, पक्षिजन्म आदि हीन जन्मों में भी केवल भोग; आहार और निद्रा आदि भोग सभी जन्म में हैं, किन्तु मनुष्य के सिवा और कोई भी हरिभजन कर नहीं सकता। उस पर भी, यह जीवन नित्य नहीं है। बहुत जिये तो एक सौ वर्ष; अधिक ज़ोर मारा तो एक सौ बीस सही! अधिकांश लोग चौसठ-पैंसठ वर्ष में मानव-जीवन समाप्त करते हैं। इसका कोई ठिकाना नहीं अभी आप लोगों के देखते देखते मेरी आँखें बन्द हो जा सकती हैं। छोटे से छोटा बच्चा भी मृत्यु के हाथ से बच नहीं सकता, मृत्यु किसी के बूढ़े होने का आसरा नहीं देखती। बोले-बोलें या न बोलें! हम लोग अनादिकाल

से विष्ठा के कीड़े, पतङ्ग आदि अनेक योनियों में जन्म ले सुख भोगने की आशा से कितना कष्ट भोगते चले आ रहे हैं, उसके आगे मनुष्य-जीवन काल किसी गिनती में नहीं; तो उसका भी कोई ठिकाना नहीं। ऐसी अवस्था में जिस भोग की आशा से हम अनादि काल से कष्ट पाते आते हैं, उसी विषय-भोग में मतवाले होकर यदि हम इस जीवन को भी बिता दें, तो यह हमारी कितनी बड़ी बेवकूफी होगी। बहुतेरे दुर्भोगों के बाद बड़े कष्ट से साधन का सुयोग मिला है; उसे भी यदि हम आमोद-प्रमोद के भोग में डूब कर गँवा बैठें तो हो सकता है, कि न जाने कितने समय तक फिर मनुष्यजन्म न पायें। ऐसा समझकर बुद्धिमान् को क्या करना चाहिये? सबसे श्रेष्ठ मङ्गल उन भगवान् के लिये ही क्यों न यत्न किया जाय? थोड़े मङ्गल से क्या कोई भी सन्तुष्ट हो सकता है? उन श्रेष्ठ-मङ्गल और श्रीभगवान् के प्रेम का उपाय साधुसङ्ग में बैठ हरि-कथा सुनना और हरि-भजन में प्रवृत्त होना है। "धन दो, यश दो, दुःख का नाश करो" इत्यादि रटते हुए किसी देव-देवी की पूजा से यह श्रेष्ठमङ्गल नहीं मिलता। इसलिये अभी से आरम्भ कर जीवनभर भजन करना आवश्यक है। अपने को जितना समय मिला है, वह है ही कितना? उसमें कुछ भी समय नष्ट होने से काम न चलेगा। इसीलिये प्रह्लाद महाराज ने बचपन से ही हरि भजन करने का उपदेश किया है। इसके अतिरिक्त जीव के लिये और कोई कर्त्तव्य नहीं।" इतना कह महाराज मालिका में महामन्त्र का जप करने लगे।

कुछ देर तक सब लोग चुप रहे। कनकलता के देवर सारदा बाबू अपने जीवन में यह नई बातें सुन बड़े ही आनन्दित हुए; कहने लगे, कि ऐसी बातें तो हमने कभी सुनी ही नहीं। हमारे लिये यह सुदिन है, लोग बड़े दिन में आनन्द मनाने के लिये, सिर के पसीने को पैरों तक बहा के कमाये हुए रुपयों को इस शहर में लाकर खर्च करते हुए कैसे पागल हो रहे हैं; अब मैं देख रहा हूँ, कि यह सब निकम्मापन है। हाय-हाय! ऐसे नित्यानन्द के रहते हम लोग पीछे, दुःख और सामने के जरा से आनन्द को देख उसीके पीछे पड़े हुए हैं। अच्छा, यह तो बताइये, कि यहाँ किस दिन पुनः धर्म-कथा सुनने मैं आऊँगा। विधु बाबू बोल उठे, कि सब दिन! अब घर चलो, इनके सद्गुण अतुलनीय हैं। जीवों पर दया ही इनकी वृत्ति है। और सब बातें तुमसे फिर कहूँगा। सारदा बाबू चुप हो रहे।

जाति-बुद्धि

(पूर्वप्रकाशित के उपरान्त)

विग्रह में शिला-विचार, अन्य देवताओं के साथ विष्णु की बराबरी करने, रात-दिन विष्णु की सेवा में लगे श्रीगुरुदेव को मर्त्य मनुष्य समझने और वैष्णवों में जाति-बुद्धि करने से मनुष्य को वृन्दावन में स्थान मिलने की जगह नरक या गृहव्रत-धर्म में स्थायी रूप से जगह मिल जाती है। उस नरक के अधिवासी होने पर, वे क्रमशः जीव का स्वरूप निर्णय करने के लिये शुक्र से जन्म लेने के माहात्म्य पर ही मुग्ध हो बैठते और योनि के सम्बन्ध को ही आत्मीयता का प्रधान आश्रय समझते हैं। वैष्णव महाजनगण सदा ही भोगी जीवों की दुर्गतियों की आलोचना किया करते हैं और उनके सदा कल्याण की ही

कामना करते हैं। मायामूढ़ जीव त्रिगुण से परिचालित हो अहङ्कार में पड़ अपने को कर्त्ता समझता है; त्रिगुण के द्वारा कालधर्म के प्रभाव से भोगफल फलने वाले कर्म को अपना कर्म समझ अभिमान करता है। ऐसे समय संसार में वैष्णव श्रीगुरुदेव आकर अपने महत्त्व को प्रकट करते हुए विपथगामी जीवों की श्रद्धा को अपनी ओर खींच दया वितरण करें, तभी जीव को अर्थज्ञान होता है। तब जीव स्मृति की कथाओं को बड़े ध्यान से सुनता है, अपनी प्रवृत्ति को श्रुति के वचनों के अनुसार बना लेता है। यही आत्मा की नित्यवृत्ति भक्ति है।

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

गुरुपादपद्म आश्रय के बिना नरक से निकलने का और कोई उपाय नहीं है, श्रीवैष्णव के बिना अन्य किसी को भी ब्राह्मण गुरुपद पर वरण न करें।

महाकुलप्रसूतोऽपि सर्वयज्ञेषु दीक्षितः।
सहस्रशाखाध्यायी च न गुरुः स्यादवैष्णवः॥

महान् और अकिञ्चन – श्रीवैष्णव ही हो सकते हैं। वैष्णवों के लिये चतुर्दश-भुवन में लुभानेवाली कोई वस्तु ही नहीं है। वैष्णव विष्णु की नित्य-सेवा को छोड़ और किसी अनित्य आदत को नहीं लगाते। उनकी गिनती प्रापञ्चिक जगत् में बहुत कम है।

श्रीचैतन्यचरितामृत से उद्धृत श्रीगौर का वाक्य है,—

यों ही ब्रह्माण्ड भरि अनन्त जीवगण।
चौरासी लाख योनि करते भ्रमण॥
इनमें स्थावर और जङ्गम दो भेद।
जङ्गम में तिर्यक्-जल-स्थलज विभेद॥
उनमें मनुष्य-जाति अति अल्पतर।
उनमें म्लेच्छ-पुलिन्द बौद्ध शबर॥
वेद निष्ठों में आधे वेद मुख मानें।
वेद-निषिद्ध पाप करें धर्म नहीं जानें॥
धर्म में बहुत से होते कर्म-निष्ठ।
कोटि कर्म-निष्ठों में एक ज्ञानी श्रेष्ठ॥
कोटि ज्ञानियों में होते एक ही मुक्त।
कोटि मुक्त में एक दुर्लभ कृष्ण भक्त॥
कृष्ण-भक्त निष्काम, अतएव शान्त।
भुक्तिमुक्ति सिद्धिकामी सभी हैं अशान्त॥

फिर वैष्णवों की निर्मलता के बारे में वर्णन किया है,—

यदि वैष्णव-अपराध चढ़े हाथी मत्ता।
तोड़े या फोड़े वह, होये सूख पत्ता।
... ... ।
भक्तिलता की जो कहीं होवे उपशाखा।
भुक्ति मुक्ति सिद्धि वाञ्छा असंख्य है लेखा॥
निषिद्धाचार, कपटता, जीवहिंसन।
लाभ पूजा-प्रतिष्ठा यों हैं उपशाखागन॥
पाय पानी पाये उपशाखा बढ़ि जाय।
मुख्य के मूल शाखा बढ़ने न पाय॥
पहले ही उपशाखा का कर छेदन।
तब मूलशाखा बढ़े जाय वृन्दावन॥
वहाँ जाके कल्पवृक्ष करे सिंचन।
सुख से प्रेमफल रस का स्वादन॥
यही है परम फल परम पुरुषार्थ।
जाके आगे तृणसम चार पुरुषार्थ॥

ऐसे अनुपम वैष्णवों को जो कर्मफल भोगी, खब इन्द्रिय-आसक्त, जड़ भोगमय फल से मतलब रखनेवाले, शोक, मालिन्य और दैन्य—तीन प्रकार के जन्म के कारण किसी जाति के अन्तर्गत मानने की धृष्टता करते हैं, उन नरक के अधिवासियों पर कृपा करके ही श्रीरूपगोस्वामी प्रभु को सुनाते हुए भगवान् प्रेम विग्रह श्रीगौरसुन्दर ने उपरोक्त उपदेश दिया है। श्रद्धावान् रूपानुग लोग इसे ध्यान में रखकर अपने-अपने अवैष्णव-सङ्ग का त्याग करें ऐसे वैष्णवों की संख्या नितान्त कम होने पर भी इस साक्षात् सत्य का आदर करने का सौभाग्य अवश्य ही होना चाहिये। विशेषतः विवादयुग कलि का प्रबल प्रताप लोगों से बार-बार बदला ले रहा है। ऐसे लोगों को किसी समय श्रीगुरु-वैष्णव के मुख से सच्ची बातें सुनने का अवसर पाकर भी संसार के स्वाभाविक सङ्ग के प्रभाव से क्षण-क्षण पर अपराध संग्रह करने का

अवसर मिलता है। वैष्णव-सङ्ग के माहात्म्य को जान कर भी भागवत से परिचय रखनेवाले हतभाग्य मनुष्य अकसर वैष्णवों में जाति पाँति लगा बैठते हैं— परम दुर्लभ परमार्थ को सदा के लिये खो बैठते हैं, और नरक के महल की नींव देते हैं। वे यदि सदा शुद्ध वैष्णवों के साथ भक्तिशास्त्र की आलोचना करें, तभी वे समझ सकेंगे, कि कुसंग से अपने प्राप्त धन परमार्थ की हानि के सिवा और कोई फ़ायदा नहीं।

लोग, वैष्णवगण के लौकिक परिचय को भूलकर सत्यवती-पुत्र को मातृ-दोष से दूषित मान, श्रीहरिदास ठाकुर को यवन-कुल में उत्पन्न मान, श्रीभट्ट ठाकुर को निकृष्ट कुल में उत्पन्न मान, श्रीउद्धारणदत्त ठाकुर को सोनार कुल में उत्पन्न मान, श्रीश्यामानन्द प्रभु को सद्गोप-कुलोज्ज्वलकारी मान, श्रीरसिकानन्द देव को भी उत्कल के करण कुल में समझ, श्रीनरहरि सरकार ठाकुर को गौड़ीय वैद्य कुल का समझ, श्रीनरोत्तम ठाकुर को गौड़ीय कायस्थ-कुल-प्रदीप समझ और श्रीरघुनाथदास गोस्वामी प्रभुपाद को गौड़ीय कायस्थ कुलाब्ज-भास्कर समझकर इन कुलों के नाम करनेवाले शरीरधारी समझकर कैसे विषमय फल को चाहते हैं; यह देखकर कौन न काँप उठेगा?

जो वैष्णव नहीं हैं, उनके लौकिक परिचय से भ्रम में पड़ हम पुरन्दर वसु को कुलीन समझें, नरकासुर को विष्णु का पुत्र समझें, हिरण्यकशिपु को कश्यप का पुत्र समझें, मछली कछुवे और सुअरों को विष्णु के सन्तान समझें। गुरु बनाने के अयोग्य शुक्र-वंश से उत्पन्न लोगों को कुलगुरु समझें, विश्रवा ऋषि के पुत्र रावण को ऋषि समझें, तुलसी-मालाधारी तिलकधारी कपटी लोगों को वैष्णव समझें, गेरुआवस्त्रधारी इन्द्रिय-तर्पण करनेवाले आश्रमाभिमानियों का हरिसेवा करनेवाले वैष्णव समझ उनकी पूजा करने जायँ, तो अक्षज-ज्ञानकी सहायता से कितने हरिविमुख हो पड़ेंगे, इस पर विचार करने से हमारे यहाँ सब परमार्थ क्षणभर भी नहीं ठहरते।

जीवमात्र कृष्ण का दास है—इस विचार को छोड़, मायाबद्ध विचार से भक्ति से हीन अवस्था पर विश्वास स्थापन करते हुए उनकी छोटाई-बड़ाई का ध्यान हृदय में आते ही हममें जाति-बुद्धि हो जाती है। यह वृत्ति मत्सरता से उत्पन्न होती है। भक्तिराज्य के पथिकों को इसकी ओर देखने की भी जरूरत नहीं, इसकी ओर देखने की वजह ही एक दिन दुर्वासा अम्बरीष को देख भ्रम में पड़ गये थे। श्रीपुण्डरीक विद्यानिधि और रायरामानन्द प्रभृति के दर्शन में हमसे अकसर भूल हो जाती है। इसलिये विष्णु या वैष्णव के दर्शन को हम लोग और का और समझ बैठते हैं। वैष्णव में निद्रा आलस्य, जन्म आदि सांसारिक समझ से देखने से ही वैष्णव-बुद्धि का लोप हो जाता है। वैष्णव का दर्शन करने के बदले हम लोग अपनी कल्पना से उन्हें अवैष्णव रूप में दर्शन करते हैं और उस दर्शनफल से ही वैष्णवों को भी संसारी वस्तु और नश्वर विनाशशील समझते हैं। यही वैष्णव में जाति-बुद्धि है। वैकुण्ठ वस्तु वैष्णव में सांसारिक निकृष्ट विकृतता का आरोप करते हुए छोटे-बड़े समझ की मत्सरता हमें [illegible] नरक की ओर ले जाती है। वैष्णव को भोग की वस्तु समझकर ही उनको भोग्य जगत् की अन्यान्य वस्तुओं के समान ज्ञान होता है और उनके सच्चे अधिष्ठान को भूल उन्हें देख अपनी आँखों को वैदेशिक आवरण से ढँक कर वैकुण्ठ की वस्तु वैष्णव में अभाव दिखाई देता है। अगर वे यदि वैष्णव के प्रभु होने योग्य होते, तो विधाता उनके लिये वैष्णव में जाति-बुद्धि द्वारा उनके मङ्गल की व्यवस्था कर देते। किन्तु विधि का नियम ऐसा-वैसा नहीं है। वैकुण्ठ में माया बुद्धि करने से ही मायावाद का विषमय फल ब्रह्म से इतर वस्तु के दर्शन का भोग आकर तृष्णा की भ्रान्ति और मत्सरता में बाँध रखता है। तब वैष्णव अपराध होते-होते, स्वरूपगत नित्यवृत्ति के स्फुरण के अभाव से भजनीय की जगह भोग्य विचार आ पड़ता है। इसी को श्रीगौरसुन्दर ने भक्तिलता के उखाड़नेवाले कुञ्जर-मस्तक के नाम से बताया है। श्रीगौरहरि ने कृष्ण का तत्त्व

समझनेवाले को ही वैष्णव जानने को कहा है और अपने श्रीमुख से यह भी बताया है, कि जीव स्वरूप के वर्णन में वर्ण-जाति आदि का परिचय तथा आश्रम और उसमें व्यक्तिगत अधिष्ठान की योग्यता स्वरूपगत नित्यधर्म नहीं है। कृष्णतत्त्व को समझनेवाले वैष्णव-लोगों को भोगी ही क्यों न दिखाई दें, उन्हें आश्रमों में वह संन्यासी और वर्णों में वह ब्राह्मण समझना चाहिये; ऐसा होने से फिर आश्रम और वर्ण की बड़ाई जान लेने से ही काम न चलेगा। आश्रम और वर्ण—इन दोनों में ही उन्हें गुरु समझना चाहिये। फलतः वर्णाश्रम में रहने वाले मनुष्यों के गुरु वैष्णव ही हैं। उनको सांसारिक विचार से जाति विशेष के भीतर न समझना चाहिये। ऐसा सोचने से भी वैष्णव चरण में अपराध होता है। परमार्थ के अनुशीलन में जड़ीय वर्णाश्रम के विचार को प्रबल करने से बद्ध जीवों को अपराध-मात्र होता है; उससे कोई सुफल नहीं होता। श्रीचैतन्यचन्द्र की विचार-प्रणाली के माहात्म्य और सूक्ष्म दर्शन के अभाव से कर्म-फल भोगने वाले बुरे विचारों का अवलम्बन करके अगौड़ीय-गण जो वर्णाश्रम का विचार करते हैं, वह अपराधपूर्ण कदर्य समझा गया है। दैववर्णाश्रम के विचार को दृढ़भाव से मान लेने पर मत्सरता की जड़ से उत्पन्न वैष्णव में 'जाति बुद्धि' बहुत कुछ शिथिल होगी और उससे ही परमार्थ के राज्य में बद्ध जीव को आगे बढ़ने का रास्ता और सौभाग्य मिलेगा।

श्रीहरिः शरणम् स्तोत्र

(रचयिता—बाबू परमेश्वरीदास इंजीनियर, मॉडल हौसिज़ लखनऊ)

मैं पाऊँ शांति कैसे, हरिः शरणं हरिः शरणम्।
कटें मम पाप अब कैसे, हरिः शरणं हरिः शरणम्॥
गया मैं वृन्दावन में, तो देखे भक्त हर तन में।
सभी जपते यही मन में, हरिः शरणं हरिः शरणम्॥
जो पूछा उनसे कैसे जीव का कल्याण हो भगवन!
तो बोले सोच कर यही, हरिः शरणं हरिः शरणम्॥
कहा मैंने कि भवसागर से बेड़ा पार कैसे हो?
कहा जपते रहो निशदिन हरिः शरणं हरिः शरणम्॥
यह पूछा मैंने फिर उनसे कि भव-बन्धन कटें कैसे?
विचारा कुछ तो फिर बोले, हरिः शरणं हरिः शरणम्॥
कहा अत्यन्त दुखिया हूँ करो कोई कृपा मुझ पर।
वो बोले हम तो यह जानें, हरिः शरणं हरिः शरणम्॥
कहा मैंने बताओ अब मैं किसका आसरा ढूँढूँ।
तो बोले आसरा है बस, हरिः शरणं हरिः शरणम्॥
कहा कुछ तो कहो जिससे मेरा उद्धार हो जावे।
कहा बस कह दिया तुमको, हरिः शरणं हरिः शरणम्॥
कहा उपदेश दो जो मैं न भूलूँ रास्ता सीधा।
कहा यह मार्ग है सीधा हरिः शरणं हरिः शरणम्॥
मेरे जन्मान्तर के पाप कैसे मोक्ष हों कहिये।
वो बोले है यही युक्ती, हरिः शरणं हरिः शरणम्॥
कहा संसार माया से ये प्राणी मुक्त क्योंकर हो।
कहा साधन यही निश्चय, हरिः शरणं हरिः शरणम्॥
कहा उनसे यह तीनों ताप कैसे दूर हो जावें।
वो बोले भाव यह कर लो, हरिः शरणं हरिः शरणम्॥
कहा छूटूँ मैं कैसे इस जनम मरने के चक्कर से।
कहा उसकी शरण ले लो, हरिः शरणं हरिः शरणम्॥
कहा मैंने किसी युक्ती से मन को शांति आवे।
जपो तुम मंत्र यह निश्चय, हरिः शरणं हरिः शरणम्॥
कहा मैंने कि मैं तो अब हरि-दर्शन का प्यासा हूँ।
मिटा लो प्यास यह जप कर हरिः शरणं हरिः शरणम्॥
जो आवें शरण में हरि के, हरें हरि पाप सब उनके।
वो निर्मल होवें यों बोलें हरिः शरणं हरिः शरणम्॥
हरी हो जाते हैं उनके, जो आते हैं शरण उनकी।
सहायक उसके होते हैं, हरिः शरणं हरिः शरणम्॥
हरि-चरणों में जोड़ो चित्त, आकर शरण में उनकी।
उन्हें देखो तुम अपने में, हरिः शरणं हरिः शरणम्॥
किया उपदेश अर्जुन को यही है सार गीता का।
तजो सब धर्म गहु निश्चय, हरिः शरणं हरिः शरणम्॥
अनन्त उपदेश सुनकर भी, ये धारो अपने मन में तुम।
कहो हरदम हरिः शरणं, हरिः शरणं हरिः शरणम्॥

मैं कौन ?

(१०)

जलते हुए दीपक की लपलपाती हुई शिखा देख मुग्ध होनेवाले शिशु खिलवाड़ समझ, उसे पकड़ने जाते हैं और हाथ के जल जाने से रो-रोकर उसकी ज्वाला मिटाते हैं। बच्चे यह नहीं जानते कि शिखा में जलाने की शक्ति है; जब तक उनका ज्ञान विकसित नहीं होता, तब तक वे अपनी इस आदत से बाज नहीं आते। अनित्य बाहरी सौन्दर्य से आकृष्ट चित्त बड़ी उम्र के विवेक-बुद्धिहीन मनुष्यों की हालत भी वास्तव में नासमझ बच्चों के ही समान है। अविवेकी मनुष्य लोग विषयोपभोग के लिये मतवाले हो जिन सब दुःख से भरे घटनाओं के चक्कर में पड़ते हैं, वे "हा हतोऽस्मि" इत्यादि विलाप करते हुए बड़े दुःख से उससे उत्तीर्ण होने के बदले फिर नये उद्यम से सुख मिलने की क्षणिक आशा को सामने रख बाह्य-विषय के संग्रह में तत्पर हो रहते हैं। यह जानने के लिये ही जिज्ञासा-प्रवृत्ति के उदित होने का प्रयोजन है कि बिना विलाप किये दुःख दूर करने के लिये कोई सदुपाय है या नहीं; जीव के हृदय में इस विषय को उठते न देख समस्त जीवों के एक ही चिरसुहृद अपार करुणावारिधि अभिन्न-व्रजेन्द्रनन्दन श्रीगौराङ्ग-महाप्रभु ने लोक-शिक्षा के बहाने अपने प्रिय पार्षद श्रीसनातन गोस्वामी द्वारा "मैं कौन हूं, मुझे क्यों जलाये तापत्रय" इस प्रश्न को करते हुए उत्तर में स्वयं प्रकट किया है कि प्राणीमात्र ही श्रीकृष्ण के दास हैं और भगवद्विमुखता रूपी अपराध से वे सब त्रिताप की ज्वाला को भोगते हैं।

सिद्धान्तसार श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थ में जीव के स्वरूप वर्णन लक्षण के स्थल में कहा है,—

"जीव का स्वरूप है कृष्ण का नित्यदास।
कृष्ण की तटस्थाशक्ति भेदाभेद प्रकाश॥"

जैसे आग और चिनगारी में जातिगत एकता और परिमाणगत पार्थक्य दिखाई देता है, वैसे ही विभुचित् श्रीकृष्णतत्त्व और उनके विभिन्न अंश-स्वरूप अणुचित् जीवतत्त्व की चिद्रूपता में अभेद होने पर भी वृहत्त्व और अणुत्वरूप परिमाणगत भेद अपरिहार्य के रूप में वर्तमान है। सुतरां सम्पूर्णरूप से अभेद अथवा सम्पूर्णरूप से भिन्न भावना में रुकावट आने के अभिप्राय से जीवतत्त्व को श्रीभगवत्तत्त्व का भेदाभेद रूप अभिनव प्रकाश कहना ही युक्तिसंगत है। जल और स्थल के सन्धि स्थान को तट कहते हैं और जल का कुछ अंश तट की भूमि में नदी के साथ मौजूद रहता है, इसलिये तट में दोनों के धर्म का मौजूद रहना उचित है। कठिनता और तरलतारूपी परस्पर विरुद्ध धर्मों का एकत्र समावेश जैसे नदी-किनारे सम्भव है, भगवत्-दासता और स्वार्थ-परता रूपी परस्पर विपरीत धर्माक्रान्त भाव उत्पन्न करनेवाली योग्यता का एकत्र समावेश भी वैसा ही है। दोनों प्रकार की योग्यता के विचार से नदी तट की उपमा, भगवत्-शक्ति से उत्पन्न जीवतत्त्व में दिखाई देता है। दोनों प्रकार की योग्यता के रहते स्वतन्त्रता के अपव्यवहार के फल से जो लोग अपने सुख के साधन में तत्पर हैं, वे त्रिताप की ज्वाला को बुझाने में असमर्थ होते और बार-बार संसार में आया जाया करते हैं। इसी कारण से श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थ में एक जगह कहा है,—

"कृष्ण भूले वह जीव अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया उसे दे संसार-दुःख॥"

कोई ऐसा न समझे, कि जो भगवान् के भजन में रत हैं, वे ही भगवान् के दास हैं, और कोई नहीं। इस संशय को दूर करने के लिये कहा गया है, कि प्रत्येक प्राणी—कृमि-कीट भी श्रीकृष्ण के नित्य दास हैं। इसको स्पष्ट करने के लिये फिर उसी ग्रन्थ में कहा गया है,—

"कोई माने, कोई न माने, सभी कृष्णदास।"

विषयासक्त मनुष्यों की बुद्धि के, अनित्य देश-कालगत कुसंस्कार द्वारा आच्छन्न होने की वजह से उस नित्य देशकालगत विषयों के स्वरूप को समझने में समर्थ नहीं होने । प्रत्येक पदार्थ की वाह्य प्रतीति से अर्थात् देशकालगत भावों को यदि दूर किया जाय तो अन्त में द्रष्टा अपने को और समस्त पदार्थों को नित्य कृष्णदास के अतिरिक्त और किसी प्रकार के अनित्य-सम्बन्धी भाव का अनुभव करने में समर्थ न होगा । अतएव यह प्रमाणित होता है, कि अनित्य देशकालगत कुसंस्कारों की प्रबलता का ध्वंस करने के अतिरिक्त स्वरूप की प्राप्ति का दूसरा उपाय नहीं और उसका ध्वंस होने पर जीव नित्य कृष्णदास है; ऐसे कुसंस्कार के बीज के बोने की अत्यन्त आवश्यकता है ।

"केशाग्र-शतभागस्य शतांश सदृशात्मकः ।
जीवः सूक्ष्मस्वरूपोऽयं संख्यातीतो हि चित्कणः ॥

अर्थात् एक बाल की नोक को एक सौ भाग में बाँटते हुए उनमें किसी भी एक टुकड़े के फिर से एक सौ टुकड़े करने पर हरेक अन्तिम टुकड़ा जैसे दुर्लक्ष्य सूक्ष्म आकार में परिणत होता है, वैसे ही चित्कण जीव के छोटे से छोटा नित्य शुद्धस्वरूप भी धारणा के अयोग्य है । आग की चिनगारियाँ जैसे सूखे तृण के ढेर को भस्म करने में समर्थ होने पर भी मोटे और बड़े लकड़ी के कुन्दे को जला नहीं सकतीं, वैसे ही चित्-सूर्य की किरणों में चित्-कण के समान जीवगण अपने अपने चित्-सत्वागत धुँधली रोशनी द्वारा अनित्य विषय के भोगमय स्थूल कार्य की उन्नति के बारे में कर्त्तव्या-कर्त्तव्य के निर्द्धारण में समर्थ होने पर भी सूक्ष्म पारमार्थिक तत्त्व के विचार में पूर्णरूप से अयोग्य हैं । यद्यपि चित्कण की धुँधली रोशनी कम से कम तत्त्व का निर्णय करने में अक्षम है, तथापि नदीतट के सदृश इच्छा करने से लोग भक्तिशास्त्रानुशीलन और शुद्ध भक्तों के सङ्ग के प्रभाव से दिव्य प्रकाश पाने के बाद तत्त्व की मीमांसा में निपुण और भगवत्-परायण हो सकते हैं । श्रीगीतोपनिषत् में कहा गया है—

"ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥"
"क्रोधात् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥"

अर्थात् वाह्य-विषयों को देखते-देखते चित्त में देखी हुई वस्तु का सङ्गलाभ होता है । सङ्ग के प्रभाव से चित्त उसी आकार में गठित हो जाता है । विषय-गठन होने पर चित्त में आसक्ति उत्पन्न होती है । आसक्ति से भोगबुद्धि विकसित होती है । भोगबुद्धि के विकास से लोभ की उत्पत्ति होती है । लालसा की उत्पत्ति से विषय के संग्रह के लिये क्रिया का आरम्भ होता है । क्रिया में विघ्न उपस्थित होने पर क्रोध का आविर्भाव होता है । क्रोध के आविर्भाव से मोह या हिताहित ज्ञान-शून्यता का भाव हृदय पर अधिकार करता है । भले-बुरे का ज्ञान नष्ट होने पर बुद्धि कुसंस्काररूपी अन्धकार से ढँक जाता है । कुसंस्कारों से ढँक जाने पर स्वरूप की याद पूर्णरूप से जाती रहती है । स्वरूप के भूलने से जीव अधोगति को प्राप्त होता है । स्वरूप को भूलकर जीव जड़वस्तु में निजत्व मानता है और उसके लक्ष्य से ही उपरोक्त श्लोक में नाश शब्द व्यवहृत हुआ है । अतएव जो लोग स्वतन्त्रता के असद्व्यवहार द्वारा भोग-परायण बुद्धि को उत्तेजित करने पर कमर कसे हैं, वे वाहरी विषयों पर दिन-दिन अधिक से अधिक आसक्त होते रहेंगे और उसके फल से कुसंस्कार से ढँक तेजी के साथ रौरव से महा महारौरव की ओर अग्रसर होने को बाध्य होंगे ।

"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥" (श्रीगीता)

अर्थात् श्रीभगवान् की अपरा (निकृष्ट) प्रकृति (शक्ति) आठ प्रकार से विभक्त है; यथा,— क्षिति, अप, तेज, मरुत्, व्योम, मन, बुद्धि और अहंकार ये सब त्रिविध-लक्षण गुणान्विता हैं । इसलिए ये सब अनित्य, जड़ या त्रिगुणात्मक (उत्पत्ति, स्थिति और लय-योग्य) तथा पर-प्रकाश्य या दृश्यजातीय हैं । इसके अति-

रिक्त श्रीभगवान की एक और जीव नामक परा (उत्कृष्ट) शक्ति है, जिससे नित्य चिद्गुण-विशिष्ट सब प्राणी उत्पन्न हुए हैं। जीव अपना अस्तित्व प्रकट करने के लिये किसी के आसरे नहीं है। उनके चिदालोक की सहायता से अपरा प्रकृति और उससे उत्पन्न सब वस्तुएँ अपने अपने अस्तित्व को प्रकट करने में समर्थ होने की वजह जीवतत्त्व का उपादेयत्व और प्राकृत-तत्त्व का हेयत्व शास्त्र में कहा गया है। मन द्वारा मनन किया जाता है और मन ही सुख, दुःख, इच्छा और द्वेषादि के आकार में परिणत होता है। मानसिक कार्य के हेय-उपादेयता के रूप में विचार बुद्धि शक्ति के द्वारा निष्पन्न होता है। जिसके द्वारा विडम्बित होकर जीवगण अपने चित् स्वरूप से बिलकुल भिन्न जातीय जड़ पदार्थ में अहंता और ममत्व के स्थापन में समर्थ होते हैं, उसे अहंकार कहते हैं। 'शरीर की बीमारी से मैं बीमार हूँ', "मन के दुःख से मैं दुःखी हूँ"; "पुत्र के क्लेश से मुझे (पिता को) क्लेश होता है"—इस प्रकार की समस्त धारणायें अहंकारशक्ति के द्वारा संघटित होती हैं। बचपन में देह, मन और बुद्धि आदि का जैसा गठन होता है, जवानी में वे ही सब बढ़कर अन्य आकार धारण करते हैं और बुढ़ापे में कुछ और ही रूप में परिणत हो जाते हैं। मरने पर ही इन सबसे छुटकारा मिलता है। सुतरां ये सब क्षय होने वाले अनित्य पदार्थ हैं। नींद के समय चित्शक्ति मुर्झाई रहती है और इससे देहादि की क्रिया होते रहने पर भी चिद्-ज्योति के अभाव से वह प्रकट रूप धारण करने में समर्थ नहीं होती। जागने पर चिद्-ज्योति अर्धस्फुटी अवस्था में बाहरी कामों के होने के योग्य होती है। जिसके अभाव से किसी विषय का अस्तित्व अप्रमाणित होता और जिसकी उपस्थिति से प्रमाणित होता है, उसे साक्षी कहते हैं। अतएव निःसन्देह जीव जड़ पदार्थ का साक्षी है। जो साक्षी होते हैं वे निरपेक्ष होते हैं। सुतरां जीव भी निरपेक्ष साक्षी है और सुख, दुःख का देखनेवाला और भोगनेवाला है। सुतरां क्षिति और जल तथा वासना आदि जड़तत्त्व को उसका मानना किसी तरह भी उचित नहीं। इसलिये श्रीगीता में कहा गया है,—'गुणाः गुणेषु वर्त्तन्ते इति मत्वा न सज्जते'। अर्थात् सात्त्विक, राजसिक और तामसिक कर्म की त्रिगुणात्मिका जड़ प्रकृति ही कर्त्री है और कर्मफल के अनुसार उसकी ही परिणति होती रहती है। निर्गुण जीव के लिये इससे किसी प्रकार का लाभ या नुकसान हो नहीं सकता" ऐसा समझ कर शुद्ध स्वरूप ज्ञान में प्रतिष्ठित जीवगण प्रमत्त या उदास नहीं होते। वे साक्षी के रूप में अवस्थान करते हुए प्राकृतिक परिणाम को देखते भर हैं और जो प्राकृत पदार्थ में आत्माभिमान करते हुए प्रकृति के परिणाम में अपना परिणत होना समझते हैं, उनपर करुणा कर सुशिक्षा देने का यत्न करना चाहिए।

भाव

आजकल कपट-भाव का अभाव नहीं है। राह-बाट, सभी जगह भाव की ही भरमार दिखाई देती है। उस पर भाव के प्रकार और मात्रायें अनेक प्रकार की हो गई हैं। चार आने के भाव से दो आने के भाव की मात्रा कम है। खिचड़ी के महोत्सव में जो भाव उदय होता है, मालपूए के महोत्सव के भाव की मात्रा उससे कहीं अधिक है। जहाँ कीर्त्तन में स्त्रियाँ श्रोता होती हैं, वहाँ भाव का वेग बहुत अधिक उछल पड़ता है। अनेक समय लोग पहले से ही ठीक कर रखते हैं कि 'जब मैं भाव में आ जाऊँ, उस समय मुझे पकड़ लेना।' सहजिया के कलि[illegible] ग्रन्थ में बाबा पिप्पलीदास की कहानी में कहा

गया है कि कोई एक आदमी थे, जो कीर्त्तन के समय पीपल की कुलकी के सहारे अपने रोने का तमाशा दिखाते थे। ऐसी ही नकल करते-करते उनमें पूर्ण तरह से भक्तिभाव का उदय हो गया, तब उनका नाम 'बाबा पिप्पलीराम' पड़ गया।

ऐसे भाव के कितने ही प्रकार जगत् में दिखाई देते हैं; ऐसे सभी भावों के अनुकरण मनोधर्मी हैं। ये लोग दुनियादार जगत् के नाटक, कामिनी और प्रतिष्ठा का संग्रह कर रहे हैं। एक साथ जगत् में तीन परम वाञ्छित वस्तुएं मिलती हैं। ऐसे स्वर्ण-सुयोग को कौन छोड़ सकता है? इसी से आजकल दल के दल श्रीमद्भागवत के रास पञ्चाध्याय के पाठक और वक्ता तथा नाना प्रकार के कीर्तनों के दल दिखाई दे रहे हैं।

आज हम प्रेममय-विग्रह अभिन्न व्रजेन्द्रनन्दन, श्रीगौरसुन्दर के नित्य सिद्ध पार्षद और रसिककुल-चूड़ामणि श्री श्री रूप आचार्य के ग्रन्थ से 'भाव' के सम्बन्ध में कुछ विचार करेंगे। श्रीमद्भागवत-जैसे अमलपुराण की इसमें आवश्यकता रहेगी। उपरोक्त एक आचार्य श्रीगौरसुन्दर के प्रियतम पार्षद, गौरसुन्दर के आदेश से प्रेम-भक्ति के आचार्य भक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्वल नीलमणि आदि रस विचार सम्बन्धी ग्रन्थों के लेखक हैं। शुद्ध गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय उनके अनुगत के नाम से 'रूपानुग-सम्प्रदाय' के नाम से अभिहित है। श्रीरूप गोस्वामी का उल्लंघन कर इन आचार्य-प्रवर के अतिरिक्त और कोई भी भाव या प्रेम के राज्य में प्रवेश कर नहीं सका। उन्होंने अपने भक्तिरसामृत-ग्रन्थ के पूर्व विभाग की तृतीय लहरी में तन्त्र का वचन उद्धृत करते हुए, भाव की जो संज्ञा प्रदान की है, उसमें दिखाई देता है,—

> प्रेमणस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते ।
> सात्त्विकाः स्वल्पमात्राः स्युरत्राश्रुपुलकादयः ॥

अर्थात् प्रेम की प्रथम अवस्था को भाव कहते हैं। इसमें अल्प मात्रा में अश्रु पुलक आदि सात्त्विक-भाव प्रकट होते हैं।

जिन सौभाग्यवान् मनुष्यों को भाव का अंकुर-मात्र भी उत्पन्न हुआ है, उनके लक्षण क्या हैं? इसके उत्तर में श्रीरूपपाद कहते हैं,—

> क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता ।
> आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः ॥
> आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले ।
> इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावाङ्कुरे जने ॥

अर्थात् जिनमें भाव का अंकुर भी उत्पन्न होता है, उन पुरुषों में (१) क्षान्ति, (२) अव्यर्थ कालत्व, (३) विराग, (४) मान-शून्यता, (५) आशा-बन्ध, (६) समुत्कण्ठा, (७) नाम-गान में सदा रुचि, (८) भगवान के गुण कीर्त्तन में आसक्ति और (९) प्रभु के वासस्थान में प्रीति इत्यादि लक्षण प्रकाशित होते हैं।

(१) क्षान्ति—क्षोभ का कारण उपस्थित होने पर भी चित्त को स्थिर रखने की अवस्था—जैसे श्रीमद्भागवत में भगवान् के शरणागत परीक्षित् महाराज ने ब्राह्मणों से कहा था, "ऋषि कुमार का भेजा तक्षक आकर मुझे डंसे; इससे मेरी कोई हानि नहीं; मैंने श्रीकृष्ण के चरणों से चित्त को लगा लिया है। आप लोग श्रीहरि के गुण का कीर्त्तन करते रहिये।"

(२) अव्यर्थकालत्व—जो अपने भोग के लिये एक मुहूर्त्त भी किसी वैषयिक काम में लिप्त नहीं होते। हर समय हरिसेवा के काम में लगे रहते हैं। यह अवस्था जीवन्मुक्त की अवस्था है।

(३) विरक्ति—रूप रसादि इन्द्रियों के भोग के प्रति स्वाभाविक अरुचि; जैसे राजर्षि भरत श्रीकृष्ण के चरण में लुब्ध हो यौवन अवस्था में ही मनोज्ञ, दुस्त्यज्य पुत्र, कलत्र, सुहृद, राज्य प्रभृति को विष्ठा की तरह परित्याग कर दिया था।

(४) मानशून्यता—उत्तम होकर भी अपने को तुच्छ समझना; जैसे महाराज भगीरथ नरेन्द्रगण के शिरोमणि स्वरूप थे, जब भगवान् श्रीकृष्ण में उनकी रति हुई, तो भिक्षा के लिये शत्रु के घर भी जाते थे और चण्डाल को भी प्रणाम करते थे।

(५) आशा-बन्ध—यह आशा बँधी रहे, कि मैं अवश्य ही भगवान् का सेवक हो सकूँगा।

(६) समुत्कण्ठा—अभीष्ट वस्तु को पाने के

लिये प्रबल लालसा। जिनमें भाव का अंकुर भी उगा है, उनमें कनक-कामिनी या प्रतिष्ठा की लालसा जरा भी नहीं है। सदा यह एक ही भाव रहता है, कि "कहाँ जाऊँ कहाँ पाऊँ मुरली-वदन।"

(७-८) नाम जप में सदा रुचि—भगवान् के गुण-कीर्त्तन में सदा स्वाभाविक इच्छा। अधिक रुपये पाने से नाम-गान में रुचि, थोड़े रुपये मिलने से अरुचि या रुपये लेकर नामगान ये सब रुचि के लक्षण नहीं हैं।

(९) वसतिस्थल में प्रीति—भगवान् और भगवद्भक्तों का वास-स्थल निर्गुण बताया जाता है। श्रीभगवान कहते हैं,—

"वनं तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतन्तु निर्गुणम्॥"

अर्थात् वनवास सात्त्विक और ग्रामवास राजसिक है, जहाँ ताश पासे आदि जुए होते हैं, वहाँ रहना तामसिक निवास है, किन्तु भगवान के तीर्थ श्रीमन्दिर या मठादि में निवास करना निर्गुण है। अतएव जिनमें भाव का अंकुरमात्र भी उगा है, वे कभी "गृहस्थ" या "गृहमेधी" हो नहीं सकते। उन्हें अपने घर या पुत्रादि के लिये कोई चिन्ता ही नहीं रहती। वे सदा भगवान् के घर में ही निवास करते हैं अथवा उनको घर में ही गोलोक का दर्शन मिलता है।

श्रीरूपपाद रसामृतसिन्धु में प्रकृत भाव को पहचानने की कसौटी पत्थर के समान उक्त लक्षणों का वर्णन करने के बाद कहते हैं,—यह भाव बुभुक्षु कर्मियों और ज्ञानियों में भी यदि दिखाई दे, तो उसे मेकी भाव या प्रतिबिम्ब का रति-आभासमात्र समझना चाहिये।

'विमुक्ताखिलतर्षैर्या मुक्तैरपि विमृग्यते।
या कृष्णेनातिगोप्याशु भजद्भ्योऽपि न दीयते॥
सा भुक्तिमुक्तिकामत्वाच्छुद्धां भक्तिमकुर्वताम्।
हृदये सम्भवत्येषां कथं भागवती रतिः॥"

(भा० र० पूर्वविभाग ३ य लहरी)

अर्थात् मुक्त पुरुष यावतीय काम को छोड़कर जिस रति का अन्वेषण करते हैं, जो श्रीकृष्ण की अतिशय गोप्य सम्पत्ति है, और जो रति भजनशील मनुष्यों को भी सहज में नहीं मिलती, वह भागवती जी रति भुक्तिमुक्ति काम के हेतु जो शुद्ध भक्ति याजी नहीं हैं, उन कर्मी और ज्ञानियों के हृदय में कैसे उदित हो सकती है? अतएव कर्मी ज्ञानियों का भाव प्रतिबिम्ब-रति का आभासमात्र है। मूर्ख लोग कर्मी-ज्ञानी और योगियों के मिथ्या भाव को देख अपने मन से उसे प्रकृत भाव समझ सकते हैं, किन्तु रसिक-कुल-चूड़ामणि श्रीरूपपाद ने भक्तिरसामृतसिन्धु के अतल-गर्भ में पहुँचकर भावचिन्तामणि को पूर्णरूप से पहचान लिया है; सुतरां वे सब बता सकते हैं कि कौन किस मूल्य की वस्तु है, कौन काँच का टुकड़ा है और कौन हीरा है।

अश्रुपुलक आदि भावों में बाहरी चिह्न होने पर भी वह कपटी और दुर्बल भाव के मनुष्यों में भी अनेक समय दिखाई देता है। श्रीरूपपाद कहते हैं,—

'निसर्गपिच्छिलस्वान्ते तदभ्यासपरेऽपि च।
सत्त्वाभासं विनापि स्युः क्वाप्यश्रुपुलकादयः॥"

अर्थात् कितने ही लोगों की आँखें स्वभावतः पिच्छिल होती हैं, जैसे स्त्रियों का हृदय स्वभावतः ही दुर्बल होता है, वे जरा से शोक या सुख से ही अधीर हो उठती हैं, ऐसे दुर्बल हृदयवाले लोगों की आँख में बहुत सहज में ही आँसू आ जाते हैं। किसी किसी स्त्री या पुरुषों में देखा गया है कि वे श्रीकृष्ण की बाल्यलीला के पाठ को सुन अपने मरे पुत्र की याद कर रोने लगते हैं, अथवा रासलीला का पाठ सुनकर किसी प्रेमी को अपनी प्रेयसी के लिये रुलाई आ जाती है, शक्ति के लगने से लक्ष्मण का गिरना सुनकर भाई के वियोग-दुःख की याद से आँखों से लगातार आँसू बहने लगते हैं। यह भी उदाहरण मिला है कि रासलीला सुनकर (?) काम से अधीर हो लोग रण्डी के घर में घुस गये हैं। अतएव ऐसे दुर्बल हृदयवाले भावप्रवण मनुष्यों की आँखों से जो आँसू निकलते हैं, उसे भाव न समझना चाहिये। फिर कोई-कोई प्रतिष्ठा या कनक-कामिनी के संग्रह के लिये अभ्यास कर कपटी भाव धारण करते हैं। जिसको भाव

का अङ्कुरमात्र भी हुआ है, उनको कोई अभाव नहीं रह जाता। सुतरां वे जड़ जगत की किसी वस्तु को पाने के लिये दौड़-धूप नहीं करते।

—रूपानुग शुद्ध भक्ति के आचार्य रसिकराज श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर श्रीमद्भागवत के (२।३।२४) श्लोक को दिखाते हुए—

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥

श्लोक की टीका में 'भाव' के सम्बन्ध में विशद आलोचना की है। उक्त श्लोक का साधारण अर्थ यह है—हरि नाम के बार बार ग्रहण करने पर भी यदि हृदय में विकार न उत्पन्न हो, और विकार के लक्षण-स्वरूप आँखों में आँसू और शरीर में रोमाञ्च न हो, तो वह हृदय पत्थर के समान है। श्रीचक्रवर्त्तिपाद ने टीका में दिखाया है—"किञ्च अश्रुपुलकावेव चित्तद्रवलिङ्गमित्यपि न शक्यते वक्तुं; यदुक्तं श्रीमद्रूप गोस्वामिचरणैः। "निसर्गपिच्छिल" इत्यादि। तथा अति गम्भीर महानुभावभक्तेषु हरिनामभिश्चित्तद्रवेऽपि बहिरश्रुपुलकादयो न दृश्यन्ते इति तस्मान्न पद्यमिदमेवं व्याख्येयम्। ततश्च बहिरश्रुपुलकयोः सतोरपि यद्धृदयं न विक्रियेत तदश्मसारमिति वाक्यार्थः। ततश्च हृदयविक्रियालक्षणान्यसाधारणानि क्षान्ति नाम अव्यर्थकालत्वादीन्येव ज्ञेयानि।   उत्तमाधिकारिणां निर्मत्सराणां नामग्रहणस्यैव नाम-माधुर्यस्यानुभवः स्यात्। तस्मिंश्च सति हृदयविक्रिया च स्यात् सत्यास्तु तस्यां तद्व्यञ्जकाः क्षान्त्यादयोऽश्रुपुलकादयश्च भवन्त्येव। कनिष्ठाधिकारिणां समत्सराणान्तु सापराधचित्तत्वान्नामग्रहणबाहुल्येऽपि तन्माधुर्यानुभवाभावे चित्तं नैव विक्रियेत। तद्व्यञ्जकाः क्षान्त्यादयोऽपि न भवन्ति तेषामेवापुलकादिमत्त्वेऽप्यश्मसारहृदयतया निन्द्यता। किञ्च तेषामपि साधुसङ्गेनानर्थनिवृत्तिनिष्ठारुच्यादि-भूमिकारूढाणां कालेन चित्तद्रवे सति चित्तस्याश्मसारत्वमपगच्छत्येव। येषान्तु चित्तद्रवे सति चित्तस्याश्मसारतया तिष्ठेदेव, ते तु दुश्चिकित्स्या एव ज्ञेयाः।"

अर्थात् केवल अश्रुपुलक ही चित्त के द्रवित होने का चिह्न नहीं है; क्योंकि श्रीरूपपाद का कहना है, कि स्वाभाविक रोनी आँखों से भी आनन्द-अश्रु निकल पड़ते हैं। यह भी दिखाई देता है, कि बहुत ही गम्भीर महानुभाव भक्तगण हरि-नाम के सुनने और गाने से चित्त के द्रवित होने पर भी आनन्द के आँसू प्रकट नहीं करते। अतएव बाहर से आँसू दिखाई देने पर भी जिनके हृदय पर असर नहीं होता, वही पत्थर के समान हैं। यही कहे गये श्रीमद्भागवत के श्लोक-वचन का मतलब है। हृदय के विकार का मुख्य लक्षण ही क्षान्ति, अव्यर्थकालत्व आदि है। अश्रु और पुलक गौण लक्षण हैं। उत्तम अधिकारी भक्तगण द्वेषहीन हैं सुतरां वे नाम लेते ही नाम की मधुरता का अनुभव करते हैं। नाम-माधुर्य का अनुभव होने से ही हृदय में विकार भी होता है। तब चित्त में विकार प्रकट करने वाली क्षान्ति, अव्यर्थ-कालत्व आदि अनुभाव अश्रु और पुलक के साथ उत्पन्न होता है। छोटे अधिकारियों का द्वेष से भरा चित्त नामापराध-युक्त है। सुतरां बहुतेरा नाम लेने पर भी नाम की मधुरता न मिल सकने की वजह उनका चित्त द्रवित नहीं होता। अतएव चित्त के विकार को प्रकट करनेवाले क्षान्ति आदि अनुभाव उनमें पैदा ही नहीं होते। इस तरह यदि उनमें अश्रु-पुलक आदि दिखाई भी दें, तब भी उनके चित्त की द्रवता के अभाव की वजह, वे सब बाहरी मिथ्या अनुभाव सच्चे भाव नहीं हैं, इस-लिये निन्दनीय हैं। साधु सङ्ग के प्रभाव से अनर्थ के दूर हो जाने पर क्रम से निष्ठा, रुचि आदि की भूमिका में विचरण करने से समय पाकर यदि चित्त में द्रवता उत्पन्न हो, तभी उसकी कठोरता दूर हो सकती है, तब उस चित्त में भी भाव का उदय हो सकता है। किन्तु जिनका चित्त द्रवित होने पर भी उसमें कठोरता रह जाती है, उनकी बीमारी असाध्य है; ऐसा ही समझना चाहिए।

श्रीरूपगोस्वामिपाद ने भी भक्तिरसामृतसिन्धु में भावोदय का क्रम दिखाया है:—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थ-निवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥

अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति ।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः ॥
(पूर्व विभाग ३ य लहरी)

प्रेम के उदय होने का क्रम बताते हैं—पहले साधुसङ्ग और शास्त्र श्रवण से श्रद्धा अर्थात् शास्त्र के सिद्धान्त पर विश्वास; फिर साधुसङ्ग अर्थात् भजन की रीति सीखने के लिये सद्गुरु के चरणों का आश्रय; इसके बाद हृदय की दुर्बलता, असत् तृष्णा, देह में आत्मबुद्धि, स्वरूप-विभ्रम आदि अनर्थों की निवृत्ति; इसके उपरान्त निरन्तर भगवान् की सेवा; फिर सेवा की प्रबल इच्छा; इसके बाद स्वारसिकी रोचमाना प्रवृत्ति, तब बाद को भाव और भाव की परिपक्व अवस्था में ही प्रेम का उदय होता है। अतएव भाव का होना कितना दुर्लभ है।

कलि में संन्यास

शास्त्र दो प्रकार के हैं; प्रवृत्ति-परायण और निवृत्ति परायण। प्रवृत्ति-परायण शास्त्र में अज्ञानी कर्म संगियों के लिये उपदेश है और निवृत्ति परायण शास्त्र में स्वरूपज्ञान और स्वरूपधर्म भगवत् भक्ति का उपदेश मिलता है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीभगवान् अर्जुन से कहते हैं—(३ । २६)

"न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।"

अर्थात् जो लोग यह नहीं जानते, कि कर्म का उद्देश्य भक्त्युत्पादक ज्ञान है, ऐसे नासमझ मनुष्य और जो नासमझी की वजह कर्म में आसक्त हैं, उनमें बुद्धिभेद उत्पन्न न करना चाहिए। क्योंकि यदि कर्म में उनकी श्रद्धा निवृत्त हो जायगी, तो वे "ततोभ्रष्टस्ततो नष्टः" हो पड़ेंगे। किन्तु जो लोग भक्ति का उपदेश देते हैं, उनके लिये यह उपदेश नहीं है। क्योंकि भक्ति के सम्बन्ध में अन्तःकरण की शुद्धि की भी कोई अपेक्षा नहीं। "न राति रोगिणोऽपथ्यं वाञ्छतो हि भिषक्तमः" समझदार चिकित्सक रोगी के कुपथ्य ग्रहण करने की प्रबल इच्छा रहने पर भी उसे कुपथ्य नहीं देते। बहिर्मुख दुराचारी यवन काजी कर्ममार्गीय शास्त्र से गोवध हिन्दूशास्त्रानुमोदित है—यह कहने से श्रीगौरसुन्दर ने राजर्षि-पुराण शास्त्र से प्रमाण निकाल कर काजी की बात को काटा था।—

अश्वमेधं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम् ।
देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत् ॥

अर्थात् कर्मी लोग कलिकाल में अश्वमेध, गोमेध संन्यास, मांस से पितृश्राद्ध और देवर द्वारा पुत्र की उत्पत्ति, ये पांच न करें। यह प्रमाणित करने के लिए ही इस श्लोक की अवतारणा हुई है, कि कलिकाल में गोवध मना है। इस वाक्य का उद्देश्य यह नहीं, कि संन्यास मना है। किन्तु यहाँ संन्यास का भाव आनुषंगिक-रूप से निषिद्ध कर रहा है; वह सिर्फ कर्ममार्गियों के संन्यास के लिये। क्योंकि साग्निक (अग्निहोत्र) ब्राह्मण के सिवा कर्म-संन्यास में और किसी को अधिकार नहीं है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कलि में कैसे साग्निक ब्राह्मण हैं। सिर्फ यही प्रमाणित करने के लिये कि कलि में गोवध मना है, श्रीगौरसुन्दर ने काजी से कहा था।—

"कलिकाल ऐसी शक्ति नहीं ब्राह्मण में।
अतएव गोवध न करे कोई इनमें॥
जिलाय सके यदि तब मारे प्राणी।
वेद औ पुराण में है ऐसी आज्ञा वाणी॥"
(श्रीचैतन्यचरितामृत आदि १७ श)

अज्ञानी कर्ममार्गी को श्रीमन्महाप्रभु ने इस कर्मशास्त्र के विचार द्वारा परास्त किया था। किन्तु यह मानकर ही यह न समझना चाहिए कि यह विचार स्वरूप धर्म का भजन करने वाले भगवत्सेवोन्मुख या आचार्यों के लिए प्रयुक्त हुआ है। भगवत्-भक्तों ने सदा से ही कर्ममार्गियों के विचार और सेवा-परायण के विचार में तथा अवैष्णवों के विचार और वैष्णवों के विचार में

अलगाव दिखाया है। अवैष्णव आसुर-वर्णाश्रम के मानने वाले स्मार्तों के विचार से एकादशी व्रत-श्राद्ध, गृहस्थ धर्म, वैष्णव में जातिबुद्धि, अदीक्षित मनुष्य का शालग्राम की पूजा में अधिकार आदि को दैववर्णाश्रम वाले सात्वत (भक्त) गण ने कभी स्वीकार नहीं किया। सात्वत लोगों का स्मृतिग्रन्थ श्रीहरि-भक्ति-विलास, सत्क्रिया-सारदीपिका, श्रीनारद पञ्चरात्र आदि ग्रन्थ देखना चाहिये। कहे गये श्लोक द्वारा यह प्रमाणित करने में, कि कलि में संन्यास मना है, सबसे पहले श्रीमन्महाप्रभु को ही उक्त वाक्य का उल्लंघनकारी कहना पड़ेगा। श्रीमन्महाप्रभु ने अपने मुँह से कलि में संन्यास के लिये मना करते हुए भी स्वयं कैसे संन्यास लिया? क्या शिक्षा-गुरुओं के आचार में और प्रचार में ऐसा ही अलगाव होता है? सुतरां महाप्रभु के इस वाक्य से यह जानना चाहिये कि कर्म संन्यास का निषेध है। श्रीमद्भागवत ने कलि के प्रारम्भ में संन्यास की व्यवस्था दी है। ज्ञानमार्गी और भक्ति के आचार्यों ने कलियुग में संन्यास-धर्म का आचरण कर दिखाया है। सभी आचार्य संन्यासी हुए हैं। ज्ञानमार्ग के आचार्य शंकर ने कलियुग में ही स्वयं वैदिक एकदण्ड संन्यास ग्रहण किया था और अपने शिष्यों में वैदिक दशनामी-संन्यास की प्रथा चलायी थी। आचार्य निम्बार्क, रामानुज, मध्व, विष्णुस्वामी, जयतीर्थ, ज्ञानसिन्धु, दयानिधि, विद्यानिधि, जयधर्म, श्री-पुरुषोत्तम यति, व्यासतीर्थ, लक्ष्मीपतितीर्थ, माधवेन्द्रपुरी, ईश्वरपुरी आदि सभी आचार्यों ने कलि में संन्यास ग्रहण किया है। बङ्गाल भी में एक और श्रीहरिभक्ति विलास नामक सात्वत स्मृति के संग्रहकर्ता श्रीगोपाल भट्ट गोस्वामी के गुरुदेव श्री-प्रबोधानन्द सरस्वती ने त्रिदण्ड ग्रहण किया था। जो लोग श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती को अगौड़ीय समझ उनके चरणों में अपराध करने का साहस करते हैं, वे सम्प्रदाय-वैभव के बारे में कुछ जानते ही नहीं। श्रीरूपानुग भक्त काय-मन-वाक्य को दण्डित करते हुए इन्हीं तीनों से भगवत् सेवा में लगे रहते हैं; वे सभी त्रिदण्डी हैं। रघुनन्दन के एकादशी-तत्त्व में भी त्रिदण्डी का दर्शन कर प्रणाम न करने से एक दिन के उपवास के प्रायश्चित्त की व्यवस्था लिखी गई है।

ज्ञानियों का संन्यास फल्गु-संन्यास है। श्रीरूपपादजी ने भक्ति-रसामृत-सिन्धु में इसके बारे में आलोचना की है,-

प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः।
मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते॥

अर्थात् ज्ञानमार्गी मुमुक्षुगण प्रपंच-बुद्धि से हरि से सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुओं का त्याग किया करते हैं। यही फल्गु संन्यास है। भक्तों का संन्यास वैसा नहीं—

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः।
निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते॥

भक्तों के लिये युक्त वैराग्य है। वे कृष्ण की प्रसन्नता के लिये भोग का त्याग करते हैं; कृष्ण सेवा के जो प्रतिकूल है, उसका त्याग और जो अनुकूल है, उसका ग्रहण करते हैं। जो लोग कर्म-संन्यास ज्ञान-संन्यास और भक्तों के युक्त-वैराग्य-आश्रयरूपी संन्यास को एक ही तरह का समझ बैठे हैं, उनकी समझ में त्रिदण्ड धारण की बात न आयगी। भक्तों के युक्त वैराग्य में कर्ममार्गीय भोगी गृहस्थों का धर्म या परमहंस धर्म के नाम से इन्द्रिय-तर्पण की लालसा नहीं है। श्रीरूपपादजी ने उपदेशामृत के आरम्भ में "वाचो वेगं" श्लोक में काय, वाक्य और मन के वेग के दण्ड द्वारा भगवत्सेवा रूपी त्रिदण्ड का उल्लेख किया है। श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में अवन्ति-नगर के त्रिदण्डी भिक्षुक के उपाख्यान में "त्रिवेणु" या त्रिदण्ड का उल्लेख है। सुतरां त्रिदण्ड-संन्यास ही वैष्णवों का सात्वत शास्त्रानुमोदित संन्यास है। संन्यास चार प्रकार के हैं—(१) कुटीचक या स्वाश्रम-धर्म-प्रधान संन्यास, (२) बहूदक या कर्मत्यक्त ज्ञानाभ्यास-प्रधान, (३) हंस या ज्ञानाभ्यासनिष्ठ संन्यास और (४) परमहंस—निष्क्रिय या जो तत्त्व की अवस्था को पहुँच चुके हैं।

धीर और नरोत्तम इन दो प्रकार के संन्यास के विषय में भी लिखा है,—

गतस्वार्थमिमं देहं विरक्तो मुक्तबन्धनः ।
अविज्ञातगतिर्जह्यात् स वै धीर उदाहृतः ॥
यः स्वकात् परतो वेह-जातनिर्वेद आत्मवान् ।
हृदि कृत्वा हरिं गेहात् प्रव्रजेत् स नरोत्तमः ॥

अनेक अतत्त्वज्ञ मनुष्य श्रीनित्यानन्द प्रभु द्वारा श्रीगौरसुन्दर के दण्डभंग-लीला की बातें सुन कहा करते हैं, कि दण्डग्रहण या संन्यास श्रीमन्महाप्रभु के अनुमोदित नहीं है। किन्तु श्रीनित्यानन्द प्रभु ने दण्डभंग लीला द्वारा स्वयं श्रीभगवान् के या परमहंसपुरुष के वैध संन्यास-दण्ड की अनावश्यकता को जान वैध संन्यासदण्ड के वहन से श्रीमन्महाप्रभु को छुटकारा दिया था फिर जगद्गुरु लोकशिक्षक श्रीमन्महाप्रभु ने ऐसे दण्ड-त्याग के कार्य से त्रिदिण्डि संन्यास गुरु अयोग्य दण्डियों की योग्यता से पहले वैदिक विधि के शिथिल होने के ख्याल से लोक-लीला का प्रदर्शन किया था। सुतरां विद्वत् संन्यास में या परमहंसावस्था में दण्ड की आवश्यकता न होने पर भी विविदिषा या विषयत्याग के समय-स्थारूपी भक्ति के अनुकूल अनुष्ठान में लोकशिक्षा के लिये साधक जीवन में उसकी आवश्यकता होना ही महाप्रभु का अभिप्राय है। शुद्ध निष्किञ्चन भगवद्भक्तगण ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ या संन्यास—कोई आश्रम में रहने पर अथवा सनातन गोस्वामी प्रभु के अनुकरण से, विधिमार्ग में शिथिलता की वजह और अनुराग की अधिकता के कारण काषाय-वस्त्रादि का त्यागकर परमहंस का वेश ग्रहण करने पर भी वे सभी त्रिदण्डी संन्यासी हैं। गदाधर पण्डित गोस्वामी, वक्रेश्वर पण्डित गोस्वामी आदि लोकचक्षु में ब्रह्मचर्य आश्रम का अभिनय कर अथवा श्रीनित्यानन्द प्रभु और श्रीवासादि ने गार्हस्थ्य-लीला का अभिनय कर, श्रीसनातन आदि ने परमहंस वेश में सज्जित हो, श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती ने त्रिदण्ड ग्रहणकर कायमनोवाक्य से हरि की दासता में नियुक्त थे। अतएव श्रीनित्यानन्द प्रभु या पार्षद-प्रधान श्रीवास पण्डित की अलौकिक चेष्टा को न समझ जो लोग गृहव्रत धर्म को ही श्रीनित्यानन्द का आचरित और प्रचारित धर्म समझते हैं, वे विष्णुमाया से विमोहित हैं। गृहव्रत लोग "कलि में संन्यास नहीं है"—यह कल्पना दिखाकर भोग में लिप्त हो अन्धतामिस्र नरक में जाने की राह बनाते हैं। शुद्ध निष्किञ्चन वैष्णवों को प्रणाम, कुशल-प्रश्न और सेवा, इन तीन प्रकार की वृत्तियों के साथ श्रीमद्भागवत की आलोचना करते हुए उन लोगों की दुर्बुद्धि के संशोधित होने पर यह समझ में आयेगा कि त्रिदण्ड-संन्यास ही वैष्णवों के लिये एकमात्र सद्गीय संन्यास है और कलि के जीवों के लिये यह महाउपकारक है। जो लोग वर्ण और आश्रम धर्म को हरिभजन के अनुकूल नहीं समझते, वे एकादश स्कन्ध के "सर्वेषां मदुपासनम्" श्लोक को ध्यानपूर्वक पढ़ें। वर्णाश्रम में अवस्थित और वर्णाश्रम के अतीत दोनों श्रेणी के भक्तगण ही गौड़ीय वैष्णव हैं। श्रीमद्भागवत ने आश्रम और परमहंस दोनों धर्म में अवस्थित लोगों की विधि और उदाहरण को लिख दिया है। जो लोग वैष्णव संन्यास को नहीं मानते, वे गृहव्रत और भागवत-विरोधी गृहस्थ-बौद्ध या घर के पागल हैं।

नित्यधर्म और जाति-वर्णादि का भेद

("नित्यधर्म का नामान्तर वैष्णवधर्म है" लेख से संयुक्त)

देवीदास विद्यारत्न एक अध्यापक हैं। उनके मन में बहुत दिन से यह विश्वास जमा बैठा है कि ब्राह्मण वर्ण ही सबसे श्रेष्ठ है। सिवा ब्राह्मण के और कोई भी परमार्थी हो नहीं सकता। ब्राह्मण-जन्म पाये बिना जीव की मुक्ति नहीं होती। जन्म से ही ब्राह्मण में ब्राह्मणत्व उत्पन्न होता है। उस दिन वे काज़ी के वंशधर के साथ वैष्णवों की बातचीत सुन मन ही मन बहुत नाराज हुए हैं। काज़ी साहब ने जो सब तत्त्व की बातें कही थीं उन्हें वे समझ नहीं सके। मन ही मन सोचने लगे, कि मुसलमान जाति भी एक अद्भुत चीज है। उसने जो बातें कहीं उनका अर्थ ही समझ में न आया। अच्छा, पिताजी तो अरबी और फारसी पढ़े हुए हैं। बहुत दिन से वे धर्म-चर्चा भी करते हैं। वे मुसलमान का इतना आदर क्यों करते हैं? जिसे छूने से स्नान करना पड़ता है, क्या समझ कर श्रीवैष्णवदास बाबा और श्रीपरमहंस बाबाजी ने मण्डप में बैठाकर उनका आदर किया? उन्होंने उसी रात प्रतिज्ञा की, कि शम्भु! मैं इस विषय में तर्क की प्रचण्ड आग जलाकर इस पाखण्ड मत को दग्ध करूँगा। जिस नवद्वीप में सार्वभौम और शिरोमणि ने न्यायशास्त्र का विचार किया है और रघुनाथ ने स्मृतिशास्त्र का मन्थनकर अट्ठाइस तत्त्व प्रकाशित किये हैं उसी नवद्वीप में आर्य और मुसलमान का यह व्यवहार? शायद नवद्वीप के अध्यापकों को इसकी खबर नहीं। दो-एक दिन में ही विद्यारत्न काम में जुट गये।

तीसरे पहर का समय है। बादलों के दौरात्म्य से उस दिन सूर्य एक बार भी पृथिवी की ओर देख न सके। सवेरे बूँदें पड़ गई हैं। देवी और शम्भु ने उपयुक्त समय देख द्वादश दण्ड के भीतर ही खिचड़ी पका खाई। वैष्णवों को मधुकरी पाने में विलंब हुआ। फिर भी, तीसरे पहर के समय सभी प्रसाद सेवनकर माधवी मालती मण्डप के एक किनारे की बड़ी कोठरी में नाम-माला ले जपने बैठे। बाबा परमहंस, बाबा वैष्णवदास, श्रीनृसिंहपल्ली से आये हुए पण्डित अनन्तदास, लाहिड़ी महाशय और कुलिया-निवासी यादवदास—यही कई आदमी बैठकर आनन्द से तुलसी मालापर नाम-जप कर रहे हैं। ऐसे समय विद्यारत्न महाशय भी श्रीसमुद्रगढ़ निवासी चतुर्भुज पदरत्न, काशी-धाम-निवासी चिन्तामणि न्यायरत्न, पूर्वस्थली निवासी कालिदास वाचस्पति और विख्यातनामा कृष्ण चूड़ामणि वहाँ उपस्थित हुए। वैष्णवगण ने बड़े आदर के साथ ब्राह्मण पण्डितों को आसन देकर वहाँ बैठाया। बाबा परमहंस ने कहा,—"बदरी के दिन को बहुत लोग दुर्दिन बताते हैं किन्तु आज वही हम लोगों के लिए सुदिन बन गया, क्योंकि धामवासी ब्राह्मण पण्डितगण ने कृपा कर हमारी कुटी में पदधूलि दी।" वैष्णव लोग स्वभावतः अपने को तृणादपि नीच समझते हैं। अतएव उन लोगों ने "विप्रचरणेभ्यो नमः" कह कर प्रणाम किया। ब्राह्मण पण्डित लोग अपने को मानी पण्डित समझ आशीर्वाद दे बैठे। विद्यारत्न उन लोगों को तर्क के लिए तैयार करके ले आये हैं। वे सब ब्राह्मण उसमें लाहिड़ी महाशय से छोटे थे। इसलिए उन लोगों ने लाहिड़ी महाशय को प्रणाम किया। लाहिड़ी महाशय अब तत्त्वज्ञ हो आये हैं, अतएव पण्डितों के प्रणाम को हाथ ही हाथ वापस किया।

पण्डितों में कृष्ण चूड़ामणि बोलने में बहुत पटु हैं। काशी, मिथिला आदि अनेक स्थानों में तर्ककर पण्डितों को पराजित कर चुके हैं। वे नाटे साँवले और गंभीर हैं। उनकी दोनों आँखें मानो तारे, जैसी चमकती हैं। उन्हीं ने वैष्णवों से बातचीत आरंभ की।

हम लोग आज वैष्णव-दर्शन करने को आये हैं।

आपके सब आचारों की प्रशंसा हम कर नहीं सकते किन्तु आप लोगों की एकान्त भक्ति हमें बहुत अच्छी लगती है। भगवान ने कहा है,—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यक् व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९-३०)

अर्थात् हे अर्जुन! जो अनन्य शरण हो मेरा भजन करते हैं, यदि बहिर्दृष्टि में उनका कोई दुराचार भी दिखाई दे, तो भी उन्हें साधु ही समझना, उनकी ऐसी व्यवस्था असम्यक् नहीं।

भगवद्गीता का यही वचन हमारा प्रमाण है। इसीपर निर्भर कर आज हम लोग साधुदर्शन करने आये हैं। किन्तु हमारा एक अभियोग है, वह यह कि आप लोग जो भक्ति के बहाने मुसलमान का सङ्ग करते हैं उसके विषय में हमें कुछ विचार करना है। आप लोगों में जो विशेष विचार-पटु हैं, वे आगे आयें।

चूड़ामणि की यह बातें सुन वैष्णव लोग दुःखित हुए। बाबा परमहंस महाशय ने कहा,—हम लोग तो मूर्ख हैं, विचार क्या जानें? हमारे महाजन गण ने जो आचरण किया है, उसी का अनुसरण करते हैं। आप लोग जो शास्त्र का उपदेश देंगे, उसे हम चुपचाप सुनेंगे।

चूड़ामणि ने कहा,- ऐसी बातों से कैसे काम चलेगा? हिन्दू समाज में रहकर आप लोगों द्वारा अशास्त्रीय आचार का प्रचार करने से जगत् विनष्ट हो जायगा। अशास्त्रीय आचार का प्रचार भी करेंगे और महाजन की दोहाई भी देंगे—यह कैसी बात? महाजन किसे कहते हैं, यदि महाजन यथाशास्त्र आचरण करें और शिक्षा दें, तभी वह महाजन हैं: नहीं तो जिसे तिसे महाजन समझ 'महाजनो येन गतः सपन्थाः' कहने से जगत् का मंगल कैसे साधित होगा?

चूड़ामणि की यह बातें सुन वैष्णवों ने एक अलग कोठरी में जाकर परामर्श किया। उन लोगों ने यह सिद्धांत किया कि जब महाजन के प्रति दोषारोपण हो रहा है, तब क्षमता रहते विचार करना ही ठीक है। बाबा परमहंसजी विचार में प्रवृत्त नहीं हुए। पण्डित अनन्तदास बाबा के न्यायशास्त्र में पारदर्शी होने पर भी सब लोगों ने श्रीवैष्णवदास बाबा से ही विचार करने का अनुरोध किया। वे लोग समझ गये, कि देवी विद्यारत्न ने ही यह झगड़ा खड़ा किया है। लाहिड़ी महाशय भी वहीं थे। उन्होंने मुक्त कण्ठ से कहा,—देवी बड़ा अभिमानी है। उस दिन काज़ी साहब के साथ का व्यवहार देख उसके मन में कुछ आया है। इसी से यह पण्डितों को साथ ले आया है। वैष्णवदास ने बाबा परमहंस की पद धूलि लेकर कहा,—वैष्णव आज्ञा हमारे शिरोधार्य है, आज मेरी पढ़ी हुई सब विद्यायें सार्थक होंगी।

अब बादल हट गये हैं। मालती माधवी मण्डप में बिस्तर बिछा दिया गया। एक ओर ब्राह्मण पण्डित और दूसरी ओर वैष्णव लोग बैठे। श्रीगोद्रुम और श्रीमध्यद्वीप के अन्यान्य पंडित वैष्णव भी बुलाये गये। समीप के कितने ही विद्यार्थी भी आकर सभा में बैठे। अच्छी सभा हुई। प्रायः एक सौ ब्राह्मण पण्डित एक ओर और प्रायः दो सौ वैष्णव दूसरी ओर बैठे। वैष्णवों की अनुमति से बाबा वैष्णवदास प्रशान्त महाभाव से सामने बैठे। उस समय एक आश्चर्य घटना का होना देख वैष्णवों ने बहुत ही प्रसन्न हो एक बार हरिध्वनि की। आश्चर्य घटना यह हुई, कि ऊपर से मालती के फूलों का एक गुच्छा वैष्णवदास के सिर पर पड़ा। वैष्णवगण ने कहा, इसे श्रीमन्महाप्रभु का प्रसाद समझिये।

दूसरे दल में बैठे हुए कृष्ण चूड़ामणि ने जरा नाक भौं चढ़ाकर कहा, ऐसा ही समझिये। फूल से मतलब नहीं फल से ही परिचय मिलेगा।

अधिक बढ़-चढ़ाव न कर वैष्णवदास ने कहा,—आज श्रीनवद्वीप में वाराणसी जैसी एक सभा दिखाई देती है। यह बड़े ही आनन्द का विषय है। मैं बङ्गाली हूँ सही, किन्तु बहुत दिनों तक बनारस आदि स्थानों में विद्याभ्यास, सभा और वक्तृता देने से मेरा बँगला का अभ्यास कुछ घट गया है। मैं चाहता हूँ, कि आज की सभा में संस्कृत भाषा में प्रश्नोत्तर हो। चूड़ा-

मणि ने शास्त्र में अच्छा परिश्रम किया था सही, किन्तु कण्ठस्थ पाठ के अतिरिक्त वे संस्कृत भाषा सहज में बोल नहीं सकते थे। उन्होंने वैष्णवदास के प्रस्ताव पर कुछ संकुचित होकर कहा,—ऐसा क्यों, वङ्गदेश की सभा में वङ्गभाषा ही ठीक है, मैं पश्चिम देश के पण्डितों की तरह संस्कृत न बोल सकूँगा। उस समय उनका भाव देखकर ही लोग समझ गये कि चूड़ामणि वैष्णवदास के साथ विचार करने में डरते हैं। सबने एक मत से वैष्णवदास बाबाजी से बँगला में बोलने का अनुरोध किया, वे इस पर राजी हो गये।

चूड़ामणि ने प्रश्न किया,—जाति नित्य है या नहीं? मुसलमान और हिन्दू—ये दोनों जातियाँ अलग-अलग हैं या नहीं? हिन्दू, मुसलमानों के संसर्ग से पतित होते हैं या नहीं?

बाबा वैष्णवदास ने उत्तर दिया, न्यायशास्त्र के मत से जाति नित्य है। किन्तु मनुष्यों के देश-भेद जाति-भेद की ओर लक्ष्य नहीं करते; गो-जाति बकरी-जाति, मनुष्य-जाति—इस तरह भेद-निरूपण होता है।

चूड़ामणि ने कहा—ठीक, आप जैसा कहते हैं, वैसा ही है। किन्तु हिन्दू और मुसलमानों में कुछ जाति-भेद है या नहीं?

वैष्णवदास ने कहा—हाँ, एक प्रकार का जाति-भेद है, किन्तु वह जाति नित्य नहीं है। मनुष्य-जाति ही एक जाति है। केवल भाषा-भेद, देश-भेद, पहनावे के भेद और वर्ण के भेद से मनुष्य-जाति में एक जाति की बुद्धि हुई है।

चूड़ा०—क्या जन्म द्वारा कोई भेद नहीं है? क्या केवल पहनावे आदि के भेद से ही हिन्दू और मुसलमान का भेद है?

वैष्णव०—जीव के कर्मानुसार, ऊँच नीच वर्ण में जन्म होता है। वर्ण-भेद से मनुष्यों का कर्माधिकार अलग-अलग हो जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—यही चार वर्ण हैं; बाकी के सब अन्त्यज हैं।

चूड़ा०—मुसलमान अन्त्यज हैं या नहीं?

वैष्णव०—हैं, वे शास्त्रमत से अन्त्यज हैं अर्थात् चारों वर्णों से बाहर हैं।

चूड़ा०—तब मुसलमान कैसे वैष्णव हो सकता है? और आर्य वैष्णव लोग ही कैसे उनका संग दे सकेंगे?

वैष्णव०—जिनमें शुद्ध भक्ति है, वे ही वैष्णव हैं। मनुष्यमात्र ही वैष्णवधर्म का अधिकारी है। जन्म के दोष से मुसलमान को वर्ण वालों के निर्दिष्ट काम करने का अधिकार न भी हो किन्तु भक्ति की राह में उन्हें सम्पूर्ण अधिकार है। कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, भक्तिकाण्ड का जो सूक्ष्म भेद है उस पर जब तक विचार नहीं किया जाता तब तक शास्त्रार्थ जान पड़ता है—यह कहा नहीं जाता।

चूड़ा०—अच्छा, कर्म करते करते चित्त शुद्ध होता है। चित्त के शुद्ध होने पर ज्ञानाधिकार उत्पन्न होता है। ज्ञानियों में कोई निर्भेद-ब्रह्मज्ञानी हैं और कोई सविशेषवाद स्वीकार कर वैष्णव हुए हैं इस तरह पहले कर्माधिकार समाप्त किये बिना कोई वैष्णव हो नहीं सकता। मुसलमान को कर्माधिकार है ही नहीं, तब उन्हें भक्ति का अधिकार कैसे मिल सकता है।

वैष्णव०—अन्त्यज मनुष्यों को भक्ति का अधिकार है—यह सब शास्त्रों से स्वीकृत है। श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है (गीता ९ । ३२)—

> मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
> स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

अर्थात् हे पार्थ ! स्त्री, वैश्य और शूद्रगण तथा पापयोनि से जो अन्त्यज उत्पन्न हुए हैं, वे यदि मेरा कुछ भी आश्रय करें, तो वे परमगति पाते हैं। आश्रय शब्द का अर्थ—भक्ति है। काशीखण्ड में भी लिखा है,—

> ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा यदिवेतरः ।
> विष्णुभक्तिसमायुक्तो ज्ञेयः सर्वोत्तमोत्तमः ॥

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र, अथवा इन चारों वर्णों से बाहर अन्त्यज भी, यदि विष्णु-भक्ति का आश्रय लें, तो उन्हें ही सबसे श्रेष्ठ समझना चाहिये।

नारदीयपुराण में है,—

> श्वपचोऽपि महीपाल विष्णुभक्तो द्विजाधिकः ।
> विष्णुभक्तिविहीनो यो यतिश्च श्वपचाधिकः ॥

अर्थात् हे राजन् ! चाण्डाल भी यदि विष्णुभक्ति का आश्रय ले तो वह ब्राह्मण से भी श्रेष्ठ है। विष्णुभक्ति-विहीन जो संन्यासी हैं, वे भी चाण्डाल से निकृष्ट हैं।

चूड़ा०- प्रमाण-वचन तो बहुतेरे हैं, किन्तु यहाँ यह देखना चाहिये, कि विचार में क्या ठहरता है। दुर्जाति दोष कैसे दूर होता है ? जन्म से जो दोष-सङ्ग उत्पन्न हुआ है, वह क्या फिर से जन्म लिये बिना कभी मिट सकता है ?

वैष्णव०—दुर्जातिदोष—प्रारब्ध - कर्म—ये सब भगवान् का नाम लेने से ही दूर हो जाते हैं। श्रीमद्भागवत में कहा है,—

> यन्नाम सकृत श्रवणात् पुक्कशोऽपि विमुच्यते साक्षात् ।
> (६ । १६ । ४४)

अर्थात् जिनका नाम एकबार सुनने से चाण्डाल भी उसी समय जाति दोष से छुटकारा पाता है। पुनश्च—

> नातःपरं कर्मनिबन्धकृन्तनं
> मुमुक्षतां तीर्थपदानुकीर्तनात् ।
> न यत् पुनः कर्मसु सज्जते मनो,
> रजस्तमोभ्यां कलिलं ततोऽन्यथा ॥
> (भाग० ६ । २ । ४६)

अर्थात् मोक्षकामी मनुष्यों के लिये तीर्थपाद श्रीभगवान् की कथा है; गुरुमुख से सुनकर बिना कीर्त्तन किये किसी तरह भी पापों की जड़ कट नहीं सकती। और जो सब प्रायश्चित्त की व्यवस्थायें हैं, उनमें रजः और तमोगुण द्वारा मन ही मलिन होता है; किन्तु हरिकीर्त्तन से मन निर्मल होता और फिर कर्म में आसक्त नहीं होता। पुनश्च—

> अहो बत श्वपचोऽतिगरीयान्
> यज्जिह्वाग्रे वर्त्तते नाम तुभ्यम् ।
> तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
> ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ।
> (भाग० ३ । ३३ । ७)

अर्थात् हे भगवन् ! जिनकी जीभ पर तुम्हारा नाम विराजता है, वे श्वपच के कुल में उत्पन्न होने पर भी श्रेष्ठ हैं। जो लोग आपका नाम लेते हैं, उन्होंने यथार्थ तपस्या की है; यज्ञ किया है; सब तीर्थों में स्नान किया है; वे ही सदाचारी और उन्होंने ही सामवेद का अध्ययन किया है।

चूड़ा० तब हरि का नाम लेनेवाला चाण्डाल यज्ञादि क्यों नहीं कर सकता ?

वैष्णव०—यज्ञादि कर्म करने के लिये ब्राह्मण के घर जन्म लेने की ज़रूरत है। जैसे ब्राह्मण के घर जन्म लेने पर भी यज्ञोपवीत संस्कार न होने से कर्माधिकार नहीं होता वैसे ही हरिनाम के आश्रय से चाण्डाल शुद्ध होकर भी ब्राह्मण के घर शौक्र जन्म न पाने तक यज्ञ का अधिकार पा नहीं सकता। किन्तु यज्ञ की अपेक्षा अनन्त गुण श्रेष्ठ जो भक्ति के अंग हैं, उनका आचरण कर सकता है।

चूड़ा०- यह कैसा सिद्धान्त ! जिन्हें सामान्य अधिकार भी नहीं है, वे उससे बढ़ के उच्चाधिकार पावें, इसका स्पष्ट प्रमाण क्या है ?

वैष्णव०—मानव क्रिया दो प्रकार की है अर्थात् व्यावहारिक और पारमार्थिक। वह अधिकार लाभ करके भी व्यावहारिक क्रिया कर नहीं सकता। जैसे एक मुसलमान-वंश का विशुद्ध ब्रह्मस्वभाव-सम्पन्न मनुष्य वास्तव में पारमार्थिक विषय में ब्राह्मण हो गया है, फिर भी व्यावहारिक क्रिया—जैसे ब्राह्मण-कन्या के पाणिग्रहण का अधिकारी हो नहीं सकता।

चूड़ा०—क्यों नहीं हो सकता ? करने में दोष ही क्या है ?

वैष्णव०—लोक-व्यवहार के विरुद्ध काम करने से व्यावहारिक दोष होता है। समाज में जो लोग व्यावहारिक सम्मान का गर्व करते हैं वे भी इस काम को कर नहीं सकते। अतएव पारमार्थिक अधिकार के क्रम से व्यवहार चल नहीं सकता।

चूड़ा०—अब यह बताइये, कि कर्माधिकार का हेतु क्या और भक्ति के अधिकार का हेतु क्या है ?

वैष्णव०—उन कामों के योग्य, स्वभाव और जन्म आदि व्यावहारिक कारण ही कर्माधिकार

का हेतु है। तात्त्विक श्रद्धा ही भक्ति के अधिकार का हेतु है।

चूड़ा०—वेदान्तिक शब्दों द्वारा मुझे न दबाकर अच्छी तरह बताइये, कि उन कर्मों के योग्य स्वभाव किसे कहते हैं ?

वैष्णव०—शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, सरलता, ईशभक्ति, दया और सत्य—ये सब ब्राह्मण-स्वभाव हैं; तेज, बल, धृति, शौर्य, तितिक्षा, उदारता, उद्यम, धीरता, ब्रह्मण्यता और ऐश्वर्य—ये सब क्षत्रिय-स्वभाव हैं; आस्तिक्य, दान, निष्ठा, अदाम्भिकता, अर्थ तृष्णा,—ये सब वैश्य-स्वभाव हैं; ब्राह्मण, गो और देवता की सेवा, जो मिले उसी में सन्तोष,—ये शूद्र-स्वभाव हैं; अशौच, मिथ्या, चोरी, नास्तिकता, वृथा-कलह, काम, क्रोध और इन्द्रिय-तृष्णा,—ये सब अन्त्यज-स्वभाव हैं। इन सब स्वभावों को देखकर वर्ण का निरूपण करना ही शास्त्र का तात्पर्य है। केवल जन्म-द्वारा वर्ण का निरूपण करना आजकल का व्यवहारमात्र है। इस स्वभावक्रम से मनुष्य में क्रिया-प्रवृत्ति और कर्मपटुता उत्पन्न होती है। इन स्वभावों का नाम ही उनके कर्मयोग्य स्वभाव है। जन्मवश कितनों ही का स्वभाव उत्पन्न होता है। अधिकांश स्थल में संसर्ग ही स्वभाव का पिता है। बचपन के संसर्ग से ही सही, संसर्गोचित स्वभाव उत्पन्न होता है। अतएव जन्म से भी स्वभाव दिखाई देता है। जन्म से स्वभाव उत्पन्न होने की वजह ही जन्म को स्वभाव का एकमात्र कारण और कर्माधिकार का हेतु कहना न चाहिये। हेतु अनेक प्रकार के हैं; इसलिये स्वभाव देखकर कर्माधिकार का निरूपण करना ही शास्त्र का अर्थ है।

चूड़ामणि—तात्त्विक श्रद्धा किसे कहते हैं ?

वैष्णवदास—सरल हृदय से ईश्वर के प्रति जो विश्वास है और उसके लिये जो सहज चेष्टा उत्पन्न होती है, उसका नाम श्रद्धा है। केवल लौकिक चेष्टा को देख अशुद्ध हृदय में जो ईश्वर-सम्बन्धीय भ्रमात्मक विश्वास होता है, और स्वार्थसाधन की अनुवृत्ति तथा दम्भप्रतिष्ठा की जो लिप्सामय चेष्टा होती है, उसका नाम अतात्त्विक श्रद्धा है। तात्त्विक श्रद्धा को कोई-कोई महाजन शास्त्रीय श्रद्धा बताते हैं। वह तात्त्विक श्रद्धा ही भक्ति के अधिकार का कारण है।

चूड़ा०—जैसे किसी-किसी को शास्त्रीय श्रद्धा उत्पन्न हुई है, किन्तु स्वभाव उच्च हो नहीं सका, तो क्या वे भी भक्ति के अधिकारी हैं ?

वैष्णव०—स्वभाव कर्माधिकार का हेतु है, भक्त्यधिकार का हेतु नहीं। श्रद्धा ही एकमात्र भक्त्याधिकार का हेतु है। निम्नलिखित श्रीभागवत्-पद्य की आलोचना कर देखिये (११।२०।२७-३०)—

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु ।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः ॥
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः ।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन् ॥
प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो माऽसकृन्मुने ।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते ॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि ॥
यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञान-वैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति ॥

किसी सत्सङ्ग के क्रम से किसी की हरि-कथा सुनने की रुचि होती है। अन्य समस्त कर्म उनको अच्छे नहीं लगते। वे दृढ़ विश्वास के साथ हरिनाम लेते रहते हैं। अन्यान्य जिन विषयों में मन्द स्वभाव है उन विषयों को परित्याग कर नहीं सकते, बल्कि उसे बुरा समझ कर भी निन्दा करते हुए उसका भोग करते हैं। हरिकथादि की आलोचना करते करते कुछ ही दिनों में हृदय के सब काम विनष्ट हो जाते हैं। मुझे हृदय में लाने से फिर कोई दोष रह नहीं जाते। शीघ्र ही हृदयग्रन्थि का भेद हो जाता है, समस्त संशय दूर होते और कर्मवासना का क्षय होता है। यही हमारी नित्य-विधि है। अतएव कर्म द्वारा, तपस्या द्वारा, ज्ञान-वैराग्य द्वारा, दानधर्म द्वारा और जितने प्रकार के सत्कर्म हैं, उनके द्वारा जो मिल सकता है, वह सभी हमारे

भक्तियोग के द्वारा उन-उन उपायों की अपेक्षा अधिकतर सहज और शीघ्र हमारे भक्तों को लाभ होता है। यही श्रद्धा से उत्पन्न भक्तियोग का क्रम है।

चूड़ा०—यदि मैं श्रीमद्भागवत को न मानूँ?

वैष्णव०—सब शास्त्रों का ही यही सिद्धान्त है। शास्त्र एक ही है। भागवत न मानने से और शास्त्र आपको तकलीफ देंगे। मुझे बहुतेरे शास्त्रों के दिखाने की आवश्यकता नहीं। सर्ववादिसम्मत गीता के कहने पर ही आप विचार करिये। आपने आप ही जो श्लोक अपने मुँह से निकाला था, उसी में समस्त शिक्षा है। गीता ९। (३०-३२)

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

अर्थात् अनन्यभाक् या मुझमें एकनिष्ठ श्रद्धायुक्त हो जो हरिकथा, हरिनाम-श्रवण-कीर्त्तन आदि भजन में रत होते हैं, उनमें बहुतेरे असदाचार अर्थात् दुःस्वभाव की वजह कर्मादि पद्धति के विरुद्ध आचार होने पर भी उन्हें साधु समझना चाहिए, क्योंकि उन्होंने सुन्दर अनुष्ठानयुक्त अर्थात् साधुपथ का अवलम्बन किया है। इसका मतलब यह, कि कर्मकाण्ड में वर्णाश्रमादि का उद्यम एक प्रकार का; ज्ञानकाण्ड में ज्ञान-वैराग्यादि का उद्यम दूसरे प्रकार का और सत्संग में हरिकथा तथा हरिनाम में श्रद्धा तीसरे प्रकार का पन्थ है। ये तीनों पन्थ कभी-कभी एक साथ ही कर्मयोग, ज्ञानयोग या भक्तियोग के नाम से प्रकाशित होते हैं कभी-कभी अलग रूप से अनुष्ठित होते हैं। पृथक् अनुष्ठान करनेवालों को कर्मयोगी और ज्ञानयोगी कहते हैं। इन सब में भक्तियोगी ही श्रेष्ठ हैं, क्योंकि पृथक् भक्तियोग में अनन्त कल्याण है। अतएव गीता के प्रथम छः अध्यायों के चरम में यही सिद्धान्त वाक्य आपको दिखाई देगा, (गीता ६। ४७)

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

अर्थात् जितने प्रकार के योगी हैं, उन सबकी अपेक्षा भक्तियोग के अनुष्ठाता योगी ही श्रेष्ठ हैं। जो श्रद्धावान् हो मेरा भजन करते हैं, वे ही योगियों में श्रेष्ठ हैं।

'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा'—इस श्लोक का तात्पर्य अच्छी तरह समझना चाहिये। "श्रद्धा के साथ जिन्होंने भक्ति का अवलम्बन किया है उनका स्वभाव और चरित्रदोष शीघ्र ही दूर हो जाता है। जहाँ भक्ति है वहाँ धर्म अनुगत होता है। समस्त धर्म के मूल भगवान् हैं। भगवान् सहज में ही भक्ति के अधीन हैं। जब भगवान् हृदय में निवास करते हैं, तब जीव को बाँधनेवाली माया उसी समय दूर हो जाती है, और किसी प्रक्रिया की जरूरत नहीं पड़ती। भक्त चलते-चलते धर्म पहुँच के भक्त के हृदय को धर्ममय बना देता है। सुतरां काम के दूर होते ही शान्ति आती है। अतएव" मेरी प्रतिज्ञा है, कि मेरे भक्त कभी नष्ट नहीं होंगे। कर्मी और ज्ञानी अपना-अपना अनुष्ठान करते हुए कुसङ्ग में पड़ सकते हैं, किन्तु मेरे भक्त मेरे सङ्ग के बल से कभी कुसङ्ग कर नहीं सकते, अतएव उनका पतन नहीं होता। भक्त पापयोनि में ही क्यों न जन्म लें, अथवा ब्राह्मण के घर में ही क्यों न जन्म ग्रहण करें, परागति उनके हाथ में है।

चूड़ा०—देखिये, हमारे शास्त्र में जन्म के बारे में जो अधिकार निरूपित किये गये हैं, वे ही अच्छे हैं। मैंने ब्राह्मण के घर जन्म लिया है, सन्ध्यावन्दनादि करते-करते मुझे ज्ञान का लाभ और अन्त में मुक्ति अवश्य ही मिलेगी। मैं नहीं जानता, कि श्रद्धा कैसे उत्पन्न होती है। गीता-भागवत के मत से श्रद्धाजनित भक्ति का उपदेश दिखाई देता है, किन्तु जीव कैसे उस श्रद्धा को पाने के लिये चेष्टा करे; यह मुझे साफ-साफ समझाइये।

(क्रमशः)

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ; बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ; कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ; बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
अगस्त्य कुण्ड काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० ४३ हनुमान रोड, न्यू देहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकोंदा चौ० कुण्डा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिर्रालिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

(३१) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ
कव्वुर, वेष्ट गोदावरी, मद्रास

(३२) ग्वालपाड़ा प्रपन्नाश्रम आसाम

(३३) त्रिदण्डी-गौड़ीय मठ भुवनेश्वर, पुरी.

(३४) श्रीसारस्वत-गौड़ीय मठ हरिद्वार

Registered No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)
२—श्रीशिक्षादशमूलम् - सटीक ।)
३—श्रीमध्वप्रणामाशिवर्णनम् ≡)
४—श्रीसिद्धान्तसरस्वतीदिग्विजयः ॥
५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचयः -)
६—श्रीतत्त्वसूत्रम् ।)

संस्कृत बँगला अक्षरों में

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)
२—श्रीमद्भगवद्गीता — श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)
३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत खंडों में प्रकाशित प्रति खंड १)
५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द २)
६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्रीरूपगोस्वामी प्रभु-कृत उपदेशामृतसहित ।=)
७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बंगला अनुवाद सहित ॥)
८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित १)
९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
१०—सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगलाअनुवाद सहित -)
११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी-कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)
एकादश स्कंध से प्रति खंड ।≡)
१२—युक्तिमल्लिका गुणसौरभ वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

वंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित ≡)
१४—नवद्वीपशतक बंगला अनुवाद -)
१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ≠)
१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती कृत =)
१७—नवद्वीपभावतरंग ।)
१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)
१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद कृत २)
२०—मणिमंजरी ।)
२१—शरणागति -)
२२—कल्याणकल्पतरु -)॥
२३—गीतावली -)
२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)
२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत ॥=)
२७—जैव धर्म २)
२८—साधककंठमाला ।)
२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ५)
३०—महाप्रभु की शिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ५)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof. Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

25th Jan. 1933

माधव कृष्णपक्ष, गौराब्द ४४६

माघ अमावास्या संवत् १९८९

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥



क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा ।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा ॥

ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज

प्रति संख्या -) } सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन { वार्षिक सडाक १॥)

Editor—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन छपाई की दर नीचे लिखी है:—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम	८)
आधा ,, १ ,,	५)
चौथाई ,, ३ ,,	३)
२ इंच ,, ४ ,,	१॥)
१ ,, ,, ८ ,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये—

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

सेठ रामयश रोड, नरही, लखनऊ.

All communications are to be addressed to—

The Manager 'Bhagwat'

Seth Ramjas Road,

Narhe,

LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

वर्ष ८ | श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य
माघ अमावास्या गौराब्द ४४६ सं० १९८९ वि०, २५ जनवरी सन १९३३ | संख्या ७

आत्म-निवेदन

(५)

मैं हूँ स्वानन्द - सुखदवासी ।
राधिका - माधव - चरण - दासी ॥
दोनों के मिलन आनन्द करूँ ।
दोनों के वियोग दुःख से मरूँ ॥
सखी स्थली नहीं हेरूँ नयन ।
देख शैव्या को याद पड़े मन ॥
जो जो प्रतिकूल चन्द्रा की सखि ।
मन में दुःख हो उनको देखि ॥
राधिका कुञ्ज में अन्धकार करि ।
मिलना चाहें उन राधा से हरि ॥
श्रीराधा - गोविन्द का मिलन सुख ।
प्रतिकूल लोगों का न देखूँ मुख ॥
राधा के प्रतिकूल हैं जो जन ।
उनसे बोलने को न होवे मन ॥
भक्ति - विनोद श्रीराधा - चरन ।
सौंपा है हृदय अतिहि यतन ॥

कृष्ण में भोगबुद्धि

कृष्ण स्वयं भोक्ता हैं। वे किसी के भोग की वस्तु नहीं। कृष्ण के नित्य भोग के लिये उनसे ही अनन्त परिकर-वैशिष्ट्य प्रकट हुए हैं। परिकर-वैशिष्ट्य का कृष्ण-सेवा के अतिरिक्त और कोई उद्देश्य नहीं है।

कृष्ण नित्य वस्तु हैं, उनकी निज भोग की वस्तुएँ भी नित्य हैं। समस्त ईश्वरता उनकी शक्ति और विभिन्न ईश्वर-समूह उनके दास हैं। सभी ईश्वर अपने सब ऐश्वर्यों के साथ उनकी सेवा करते हैं। कृष्ण परमेश्वर हैं।

कृष्ण आनन्द का आस्वाद लेनेवाले अर्थात रसमय हैं। वह रस नित्य, अखण्ड और चिन्मय है। वे सेवक्ता या ज्ञाता हैं। आनन्दमय रस ही उनका ज्ञेय है। रसास्वादन-धर्म नित्य है। उन्हें नश्वरता या काल का किसी तरह का आक्रमण सहना नहीं पड़ता। असुरों को मोहने के लिये निर्बोध की बुद्धि के नाश के लिये उन्होंने अपनी माया शक्ति में दो श्रेणी की वृत्तियाँ स्थापित की हैं। जीव यदि ईश्वर होता या परमेश्वर कृष्ण होता, तो उसमें आसुरिक बुद्धि न होती। असुर का धर्म है कृष्ण से विमुखता या भोग की कामना। कृष्ण की माया नाम की बहिरङ्ग-शक्ति विक्षेपात्मिका और आवरणी इन दो वृत्तियों से कृष्णविमुख जीव को विक्षिप्त बनाती और उनकी हरिसेवा-वृत्ति पर पर्दा डाल देती है। तब जीव असुर के धर्म को अपना धर्म समझ हरि की तरह ईश्वरता या भोग में मतवाला बन सब वस्तुओं का ही भोग करना आरम्भ कर देता है। मायाशक्ति अपने प्रभाव से भोग करने के उपयोगी वृत्तियाँ, रूप-रस-गन्ध शब्द के आकार में भोगी के सामने उपस्थित होती है। माया-शक्ति ही जीव की इन्द्रियों में भोगने की ईश्वरता दे उसे हरि-विमुख होने में सहायता देती है। बद्धजीव कृष्णविमुख होकर ऐसी असुविधा में पड़ते हैं, कि भोग के अतिरिक्त उनके लिये और कोई सम्बल ही नहीं रह जाता। यदि कोई कृष्ण की चर्चा छेड़े, तो उस हरिकथा को भी अपने भोग का विषय समझ कृष्ण का ही भोग करने में व्यस्त हो जाते हैं। किन्तु कृष्ण को भोग सकने की सम्भावना न होने से वे उस चेष्टा को छोड़ बैठते हैं।

कृष्ण की मायाशक्ति के परिणाम से बद्धजीव की आवृत वृत्ति विक्षिप्त होने से जीव भोग का कङ्गाल बन जाता है। नित्य हरिसेवा की वृत्ति से आवृत रहने से जीव हरि की सेवा करने के बदले कृष्ण को ही सेवक बनाने के विचार में भ्रमता फिरता है। किन्तु कृष्ण के भोगी जीवों के दास न हो सकने पर अन्त में जीव अपने इस औद्धत्य से बाज आता है।

श्रीचैतन्यचन्द्र और उनके अनुचरों ने कृष्ण की सेवा करने का उपदेश दिया है। भोगी जीव उसे भूल कर कर्मफल की नश्वरता को कृष्ण की सेवा समझ प्रसन्न होते हैं। यह न समझना चाहिये, कि जीवगण केवल आचार्य और उपदेशक बन कर कृष्ण-सेवा से वंचित होते हैं, समस्त जीव को मोहित कर आसुरिक वृत्ति को ही हरिसेवा बता कर भोग में मतवाले होते हैं और जगत् को भोगी बना वास्तव में कृष्ण-विमुख कर रहे हैं। कृष्ण की विमुखता को ही बहुतेरे लोगों ने भक्ति मान लिया है। उनकी भोगमयी धारणा को परिमार्जित करने के लिये हर समय हरिकीर्तन की आवश्यकता है। किन्तु हमलोग कृष्ण में भोगबुद्धि-विशिष्ट जीवों की तरह उपदेशक बन कर कितना ही हरिकीर्तन क्यों न करें, हरिविमुख जीव कृष्ण में भोगबुद्धि ही लगा बैठेंगे और विषय में डूब मरेंगे। दुष्प्रचारक दुराचारसम्पन्न आचार्यों की सांसारिक कुबुद्धिवश कृष्ण को भोग्य वस्तु में अन्यतम बनाने की वजह आज भक्ति के स्वरूप को समझने में साधारण लोगों का अधिकार नहीं है। ऐसे आचार्यों को ही इस सामाजिक दुर्दशा का कारण कहा जा सकता है। जिनकी जड़भोग की स्पृहा अत्यन्त प्रबल है, उनमें हरिसेवा की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती, यह देख कर कहीं

भोगियों के शिष्यप्रतिम व्यक्तिगण उपदेशक आचार्य का काम न कर सकें, उनके लिये कल्याण प्रार्थी और समाजहितैषी मनुष्यों को सब तरह से यत्न करना चाहिये।

भोग्य वस्तु में इष्टबुद्धि करने से भोग्य वस्तु कभी भोक्ता को न छोड़ेगी और परस्पर का [illegible] कभी भी विनष्ट न होगा। [illegible] उनकी सेवा करने पर आपही भोग [illegible] जाता। सेवा के अभाव में ही भोग का उदय होता है। जो वस्तु इष्ट नहीं, जीव उसका ही भोग करते हैं; सुतरां साधु की तरह सेवाहरण के कार्य में व्यस्त रह जड़ भोग्य वस्तु को बुद्धि से हरिसेवा में नियुक्त करना ही समझना पड़ेगा। कृष्णसेवा आत्मधर्म है, यह अनात्मधर्म भोग के साथ एक नहीं है। इनमें परस्पर सौसादृश्य दिखाई देने पर भी इसका वैशिष्ट्य नित्य है।

मैं कौन ?

(२)

[illegible] हित को आराम पहुँचानेवाले लोगों को सुहृद समझते और गुरु की तरह उनकी [illegible] और सम्बन्ध स्थापित करने के लिये किसी प्रवृत्ति की आवश्यकता है। वह भी [illegible] उत्पन्न होती है। क्योंकि [illegible] विषय [illegible] का पालन करने वाले हैं, इसलिये [illegible] मनुष्य उनमें आसक्त हुए बिना नहीं रह सकते। अपने और आत्मीय लोगों का भरण पोषण के लिये [illegible] के संग्रह में जो लोग काय-मनोवाक्य से लगे रहते हैं, उन्हें सूक्ष्मदर्शी लोग 'गृहमेधी' कहते हैं। आवश्यकता पड़ने पर गृहव्रत का पालन करने के लिये गृहमेधी लोग किसी की शिक्षा से नहीं आते। अनित्य विषय की भोगमयी वासना को पूरी करना ही उनका मुख्य काम है। इस अवस्था में जीव अपने को भोक्ता समझता है और इन्द्रियों द्वारा जो कुछ देखने, सुनने या अनुभव करने में समर्थ होता है, उसमें भोगबुद्धि लगाने के अतिरिक्त और वह कुछ कर ही नहीं सकता। जीव इन्द्रिय द्वारा जिन-जिन पदार्थों के अस्तित्व को समझने में समर्थ होता है भोग का सहायक समझ वह उन सब पर श्रद्धा करने लगता है; किन्तु यह सुन कर कोई भी श्रद्धा न करेगा कि इन्द्रिय के अतीत विषयों में भोग चरितार्थ न होने पायेगा, वरन् उसके अस्तित्व पर ही अविश्वास कर बैठेगा। सुतरां भोग में फँसे हुए मनुष्य वास्तव में प्रत्यक्षवादी हो पड़ते हैं और उनमें यदि कोई बड़े भाग्य से अतीन्द्रिय-पदार्थ ब्रह्म या भगवत्तत्त्व के अस्तित्व में कुछ विश्वास रखते भी हैं तथापि वे स्वार्थपरता को समूल नष्ट करने में समर्थ नहीं होते। भोग वासना से स्वार्थपरता की उत्पत्ति होती है। सुतरां जब तक भोग-वासना की अधिकता में कमी नहीं होती, तब तक स्वार्थपरता का आधिपत्य नष्ट होने का नहीं। इसलिये परत्व पर विश्वास करने वाले मनुष्यों में कोई-कोई सकाम भाव से उपासना में लग जाते हैं। सकाम उपासक चार प्रकार के हैं। कोई धन की आशा से, कोई पुत्र के लिये, कोई मानसिक कामनाओं को पूरी करने के लिये और कोई कोई दुःख नाशक युक्ति पाने के लिये भगवत्-भजन में लगते हैं। सुकृति के बल से जब तक वे किसी निष्किञ्चन भक्त के चरणों का आश्रय करने में समर्थ नहीं होते, तब तक भोगमयी अज्ञान के जाल को काट उन्नत अधोक्षज-ज्ञान की हद तक पहुँचने के अधिकार से वञ्चित रहते हैं। श्रीमद्भागवत में कहा है,

"सन्तः एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः।"

अर्थात् शुद्ध भागवत लोग सुचिकित्सक की तरह

शास्त्र युक्तिरूपी नश्तर से बद्धजीवों के हृदय के कुसंस्काररूपी फोड़ों को काटते हैं। स्वाधीन भाव से शास्त्र के पढ़ने का कोई फल न होने की वजह शास्त्र में आज्ञा है—"जाओ, भागवत पढ़ो वैष्णव के स्थान।" जिन्होंने साधुसंग में शास्त्र के अनुशीलन का सौभाग्य पाया है, केवल वे ही अतीन्द्रिय विषय को समझ सकेंगे; यही शास्त्र का अभिप्राय है।

अपने सुख से सुखी अज्ञजनों के दुर्निवार्य-विशिष्ट तेज बहाव को पार करते हुए जिनकी बुद्धि शास्त्रोज्ज्वल विचार के भाव से निर्मल वैकुण्ठरा य में कुछ भी प्रवेश करने का अधिकार पा चुकी है, वे अपने को पहले जैसा भोक्ता समझने का अभिमान दिखाने की इच्छा नहीं करते। तब वे अधोक्षज वस्तु के सेवक के रूप में अपना परिचय देते हुए प्रसन्न होते और घोषणा करते हैं—"एतावन्त महं कालं मोहेनैव विडम्बितः" अर्थात् अब तक हम अहंकार शक्ति के मोहजाल में वृथा ही आबद्ध थे। भगवत्शक्ति से उत्पन्न होने की वजह जीवगण शक्तिजातीय पदार्थ हैं। जैसे जलाने की शक्ति आग के आश्रय में रहती है; जैसे तरलता और शीतलता जल को छोड़कर उससे अलग रह नहीं सकती, वैसे ही शक्तिजातीय जीव शक्तिमान भगवत्-तत्त्व का आश्रय लेने को बाध्य होता है और आश्रित भाव का परित्याग करने पर स्वतंत्र स्थिति को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता। सभी लोग जानते हैं कि मनुष्य अपनी अपनी शक्ति का प्रयोग कर भोग्य वस्तुओं को जुटाते और स्वयं कर्त्ता भोक्ता बन शक्तिद्वारा संग्रह किये गये सामानों का उपभोग करते हैं। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि भोक्ता को तृप्त करना ही शक्ति का एकमात्र काम है। सुतरां जीवतत्त्व में सेवकत्व और भगवत् तत्त्व में भोक्तृत्व दिखाना ही उचित है। जो श्रीभगवान् को धोखा दे स्वयं भोक्ता बन, विषय के उपभोग में लग जाते हैं, वे मिथ्याचारी हैं और भगवत्-चरण में अपराध करते हुए यमराज द्वारा दण्डनीय होंगे। ईशोपनिषद् में कहा है,

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥"

अर्थात् जगत में जो कुछ दिखाई देता है, वह भगवान् का भोग्य पदार्थ है; भगवान् को निवेदित कर प्रसाद के रूप में उसका सम्मान किया जा सकता है। दूसरे की (भगवान् की) वस्तु पर लोभ करना अनुचित है। स्त्री पुत्रादि में या अपने में आप भोक्ता बनने के बदले यदि सेवकत्व भाव दिखाई दे, तो यह जगत् हमारे लिये भोगागार न बनकर वैकुण्ठ के आकार में दिखाई दे और चित्त औरों के भरण-पोषण की चिन्ता त्यागकर अधोक्षज वस्तु की सेवा में निष्ठा प्राप्त करेगा। जैसे सिर न होने से सिर के दर्द का कोई डर ही नहीं होता, वैसे ही स्त्री-पुत्रादि में अपने को भोक्ता न समझ अपनी असत् बुद्धि से यह नहीं मान सकता, कि उनका भरण-पोषण करना कर्त्तव्य है। एकमात्र श्रीभगवान ही भोक्ता, पालि, भर्त्ता, प्रभु, अन्तर्यामी, सुहृद् और शरणागत-पालक हैं। अन्य पदार्थों में जो इन सब गुणों का अभाव देखते हैं, वे स्वभावतः ही भगवान में श्रद्धा-सम्पन्न होते हैं। जो भगवान के उक्त गुणों को देख नहीं सकते, वे कभी अनन्य-शरण और निष्किञ्चन भक्त माने नहीं जा सकते। वे वास्तव में व्यभिचारी हैं क्योंकि वे अपने को किसी के प्रतिपालन कर्त्ता, किसी के प्रिय या किसी के प्रभु हैं और श्रीभगवान् को विपद्हारी इत्यादि समझकर भिन्न-भिन्न वस्तुओं में भिन्न-भिन्न गुण देखते हैं। महाभागवतगण इस प्रकार दर्शन करते हैं—

"स्थावर जङ्गम देखे न देखे तार मूर्ति।
जहाँ जहाँ नेत्र पड़े, तहाँ कृष्ण स्फूर्ति॥"

ये अतिरञ्जित बातें या अत्युक्ति नहीं हैं। महाभागवत अवस्था में सचमुच ही इसी तरह दर्शन होता है और इसमें विश्वास करना ही बद्ध जीव का कर्त्तव्य है। बद्धावस्था में दर्शन न हो सकने की वजह जो विश्वास करने में अक्षम हैं, वे बड़े ही भाग्यहीन और दुष्कर्मी हैं।

भगवान की बहिरङ्गा शक्ति से उत्पन्न होने की वजह जड़-जगत् अनादर के साथ भगवद्धाम से बाहर रखा गया है। जैसे कलवारखाना अनादर के साथ घर के बाहर रखा जाता है और उसमें सिर्फ कल-

वार या जूठा फेंकने का ही काम लिया जाता है, वैसे ही भगवद्धाम के बाहर एक किनारे भगवद्विमुख जीवों को रखने के लिये जड़-जगत् के भी होने की बड़ी जरूरत है। इस जड़-जगत् के सृष्ट होने के और भी एक उद्देश्य पर बुद्धिमानों का ध्यान गया है। उनका कहना है कि जीवगण जहाँ तक जगत् की अनित्यता और हेयता को समझने में समर्थ होते हैं, वहाँ तक उन्हें भगवन्निष्ठा मिलती ही जाती है। प्रत्येक साधक क्रमानुसार इस तथ्य का अनुभव करते रहते हैं। यह निश्चित सत्य है। तटस्थाशक्ति से दोनों प्रकार की योग्यता के जीवों की सृष्टि और बहिरङ्गाशक्ति द्वारा बाह्य-जगत् की रचना का यही गूढ़ रहस्य है। सब जगत् निवासी व्यक्तिगत इस बात को स्वीकार करते हैं, कि प्रतिकूलता के अभाव से उन्नति में बाधा मिलती है। अतएव इस रहस्य को आज कल के शिक्षित मनुष्य अच्छी तरह से समझ सकते हैं। श्रीभगवान की अन्तरङ्गाशक्ति से उत्पन्न नित्य पार्षदगण में ऐसी ही योग्यता है। मायामयी योग्यता के न होने की वजह से सदा भगवत्-सेवारूपी रस के स्वाद में मतवाले हुए रहते हैं, वे ही तटस्थाशक्ति से उत्पन्न जीवों में आदर्श स्वरूप हैं और बिना उनकी सहायता के बद्ध जीव के लिये सेवा की ओर झुकने का कोई उपाय नहीं है। श्रीभगवान् कभी स्वयं अवतीर्ण होकर और कभी किसी अपने नित्य पार्षद को भेजकर मृत्युलोक में रहने वाले बद्ध जीवों के सुशिक्षा की व्यवस्था करते रहते हैं। जब तक हम लोग भगवद्वाक्य पर या उनके पार्षदगण के दिये उपदेश पर श्रद्धा न रखते हुए जीव के गठन की ओर ध्यान नहीं देंगे, तब तक हम लोग मायामुग्ध रहेंगे ही। श्रीभगवान्, उनके पार्षदगण और तटस्था शक्ति से उत्पन्न जीवगण—ये सभी नित्य-पदार्थ हैं, स्वजातीय-प्रेम के लिहाज से जीवगण का उचित है, कि वे श्रीभगवान् और उनके भक्तों के साथ निवास करें और उसमें ही आनन्द का अनुभव करें। जगत् के सब पदार्थ अचित् पदार्थ से बने हैं, यदि जीवगण उनका साथ देंगे, तो विजातीय भाव होने की वजह से त्रिताप के क्लेश को बुलाने पर बाध्य होंगे। लोग अनन्त के सेवक हैं, वे यदि विजातीय अनित्य वस्तु की दासता को छोड़ अमृत-स्वरूप श्रीभगवान की सेवा में नियुक्त हों तो स्थूल देह के अन्त में नित्य देह पाकर नित्य काल भगवत्सेवा का आनन्द उठा सकते हैं। इस तरह बाहरी स्थूल और सूक्ष्म शरीर के न होने से भूख-प्यास, आधि-व्याधि, जरा मरण का शोक, धननाश के लिये दुःख, त्रिताप ज्वाला आदि उत्पात उपस्थित हो नहीं सकते, तब सब उपाधियों से विनिर्मुक्त होने पर एकतान भाव से अनन्तकाल तक भगवत्सेवा चलती रहती है। अहा! जीवित दशा में जो लोग किसी की अभिलाषा से रहित हो मन लगाकर सेवा में रत रहते हैं, उनके जीवन में कितना माधुर्य है? तब फिर प्राकृत विषय होने हुए माँ की तरह नरकाग्नि न पहुँचा सकेंगे।

कलवारखाने में पड़ा कलवार समय के फेर से "खाद" बन जाता है और लोगों में फिर उसका आदर होता है। खेती के काम में उपयोगी होने की वजह ही खाद का इतना आदर है। जैसे निकम्मा फेंका हुआ कलवार काल के प्रभाव से संशोधित होकर आदरणीय खाद का रूप धारण करता है। वैसे ही भगवद्धाम से भगवद् विमुखता की वजह निकाले जानेवाले जीव, इस अनित्य, हेय जगत में रहते हुए काल के प्रभाव से पिसकर शास्त्र और साधु-सङ्ग के प्रभाव से अनर्थ से छुटकारा पाते हैं और फिर भगवद्धाम में प्रवेश करने का अधिकार पाते हैं। जिस काल के प्रभाव से संशोधन का कार्य होता रहता है, वह भगवान की शक्ति-विशेष है। उस काल शक्ति का प्रभाव दो प्रकार का है—ससीम और असीम। कोई वस्तु या भाव एक ही तरह से स्थिर रह नहीं सकता; इसका मूल कारण काल का प्रभाव ही है। बद्धजीवगण अपने सुख साधन के लिये जिन-जिन भावों का पोषण करना चाहते हैं, अथवा जिन चीज़ों को सुख देने वाली समझ उनकी रक्षा करना चाहते हैं, इन सब का रूप ससीम या भूत, भविष्य और वर्त्तमानरूपी

काल द्वारा बदलता रहता है और अन्त में पूरी तरह से विकृत हो जाता है। इस तरह जीव की प्रत्येक आशायें टूटती-छूटती रहती हैं और अन्त में उसे निराशा के सागर में डूबना पड़ता है। समय की ऐसी हाँसीपरक मूर्ति देख एक महापुरुष ने बड़े ही खेद के साथ कहा था, "कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुञ्चत्याशावायुः।" हताश होकर जब जीव फिर भगवत्-सेवा में तत्पर होता है, तब कालशक्ति सर्वांश के प्रभाव को हटाकर अपने असीम या नित्य प्रभाव द्वारा, भगवान की ओर झुकने वाले के समीप लगातार नित्यधाम के भावों को पहुँचाती और क्रमशः उस भाव से सारे भाव से भगवान् के चरणों का अनुरक्त कर देती है। तब वह आदमी नित्यकाल को अपने सामने देखता है और आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त समस्त वस्तुओं को अनित्य आकार में न देख नित्य भगवद्-दास के रूप में देखता है।

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

अर्थात्, भोगमयी बाहरी दृष्टि के अभाव से अतीन्द्रियभाव प्रबल होता है। इस अप्राकृतभाव के प्राबल्य से भगवद्भक्त महाभागवतगण सर्वत्र सेव्य और सेवक के रूप में अवस्थित कृष्ण और कार्ष्णि (भक्त) ही को देखते हैं। मैं स्त्री हूँ या पुरुष, उसका स्वामी हूँ, पुत्र हूँ या पत्नी हूँ, शूद्र से उत्पन्न ब्राह्मण या शूद्र हूँ; यह चीज खाने की है और मैं खानेवाला हूँ; यह मेरी गृहस्थी और वह दूसरे की गृहस्थी है; अपने को सुख मिले, दूसरे का नुकसान हो, तो क्या; मुझे स्वर्गवासी या मुक्त होना चाहिये; मैं निर्धन हूँ, मुझे धन संग्रह करना चाहिये इत्यादि। बाहरी विश्वास के दूर होने पर जीव समझता है कि चेतन और अचेतन भाव में विभक्त कर मैं पहले भोक्ता और भोग्य भाव को समझता था, वहाँ वह भगवत्-सेवा के लिये उपयोगी चित्स्वरूपवान् दिखाई देते हैं और यह भी देखते हैं कि वे अपने प्रभु भगवान् की सेवा में आप ही आप प्रमत्त हैं। लता-वृक्ष आदि जो भगवत्-सेवक हैं, उनके परिस्फुट होने के सम्बन्ध में कहा है,—

वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं,
व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः।
प्रणतभारविटपा मधुधाराः,
प्रेमहृष्टतनवो ववृषुः स्म॥

अर्थात्, फूल-फल से भरे हुए वन की लता या वृक्ष, और भाव से भरी, प्रेम पुलकित शरीरमयी वनस्पतियाँ आत्मगत कृष्ण की झलक के मधु की धारा बरसा रही हैं। आत्मगत कृष्ण का यह अर्थ नहीं, कि हरएक के भीतर एक एक कृष्ण देखते हैं। भेद बुद्धि के प्रभाव से बाहरी पदार्थों को टुकड़े-टुकड़े के रूप में देखने पर भी, बाहरी ज्ञान से भेद भाव डालने वाले देश-काल गत अनेकत्व के अंश को मिटा देने पर समन्वय बुद्धि आप ही खिल उठती है। समन्वय बुद्धि की सहायता से यह समझ में आ जाता है, कि सभी एक जाति के हैं और सभी अपने आश्रयदाता श्रीकृष्ण के आश्रित सेवक हैं। इस तरह सेव्य और सेवक-भाव के संपुष्टित दर्शन को ही तत्त्वज्ञान कहते हैं।

बाह्य प्रतीति में आधार और आधेय का जैसा पार्थक्य दिखाई देता है, शक्ति और शक्तिमान तत्त्व में वैसा भेद नहीं है। शक्ति की बीजभूमि ही शक्तिमान का स्वरूप है, इसीलिये भगवान् सर्वगुणाकर कहाते हैं। कोयले की खानि कहने से कोयले की खान ही मानी जायगी, कोयले के बिना खानि का कोई अलग आकार दिखाई नहीं देता। बीज से अङ्कुर निकलने पर जैसे लोग अङ्कुर को बीज से अलग देखते हैं, वैसे ही शक्ति का परिणाम देख हम लोग शक्तितत्त्व को पृथक् भाव से देखने में समर्थ होते हैं। एक कटोरे में थोड़े से दूध को दही बना देने पर दही से फिर दूध बन नहीं सकता। फिर दूध के परिणाम से कमी आ जाती है, किन्तु शक्ति के परिणाम से शक्तिमान् की वैसी हानि नहीं होती। शास्त्र में कहा है,—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

अर्थात् पूर्ण वस्तु से पूर्ण अंश को निकाल देने पर भी पूर्ण वस्तु वैसे का वैसा ही रह जाता है। इसके समझाने के लिये कहा गया है कि एक

चिराग से दूसरे चिराग को जलाने में जैसे खास चिराग में किसी तरह की कमी नहीं होती, या जैसे एक महाभागवत किसी बद्धजीव को उपदेश दे, तो उन महाभागवत के ज्ञान-भाण्डार में किसी तरह की कमी नहीं होती, वैसे ही सर्वशक्तिमान् श्रीकृष्ण की इच्छाशक्ति से अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड का उत्पत्ति और लय हर समय होते रहने पर भी उनकी सर्वशक्तिमत्ता में एक कण की भी हानि हो नहीं सकती। उनकी शक्ति में अघटन-घटना की पटुता होने से, उसमें विरुद्ध भाव का एकत्र समावेश होना सम्भव है, वैसे ही एक ही समय में विभिन्न जीवों से बद्ध और शुद्ध भूमिका के हिसाब से विभिन्न रूप में दिखाई देने की योग्यता उनमें है। इसीलिये कोई उन्हें निराकार सत्तामात्र और चित् अचित् को ईश्वर समझते हैं; कोई सृष्टि के अन्तर्गत परमात्मा या अन्तर्यामी-तत्त्व समझते हैं; कोई कोई सृष्टि के आदि काल का हाल जानने की परवा न कर अनादि श्रीकृष्ण या नारायण के तत्त्व आदि समझ बैठते हैं। भगवान का श्रीकृष्णरूप ही सबसे श्रेष्ठ और सत्, चित् और आनन्दरूपी तीनों वृत्तियों का पराकाष्ठा भावगम्य है। और सब भाव उनमें अलग है। अलग लोगों द्वारा बद्धजीव का चित्त सबसे पहले आकृष्ट होता है। इसके बाद जब सेवा-बुद्धि अन्य-अभिलाष को (धर्मार्थ या कामवाञ्छा को) दमन करते हुए एकान्त-भाव धारण करते हैं, तब श्रीकृष्ण के रूप में जीव-गण की श्रद्धा होती है। भगवान ने अर्जुन से कहा है,

> यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
> तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

अर्थात्, जो सर्वत्र मुझे देखते हैं, मुझ में ही समस्त वस्तु को देखते हैं, उनके आगे मैं अपनी सर्वोत्तम श्यामसुन्दर-मूर्ति प्रकट किये बिना रह नहीं सकता। जो मेरी इस दिव्य मूर्ति में निष्ठा प्रकट नहीं करते, उनके आगे मैं भी अपने को छिपा नहीं सकता। जब प्रजापति ब्रह्मा श्रीकृष्णचन्द्र को गोपों का जूठन खानेवाला सामान्य मनुष्य समझ बैठे थे तब यदि साधारण जीव श्रीकृष्ण पर विश्वास स्थापित न कर सकें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? फिर भी यह जीवगण यदि विचार करें, तो समझ सकेंगे, कि जब अन्त में ब्रह्मा भी श्रीकृष्ण की उपासना में लग गये और उन्होंने अपने अपराध की क्षमा माँगी, तब ब्रह्मा का अनुसरण करना ही हमारा भी धर्म है। हाय! हम कैसे मूर्ख हैं! अब भी ब्रह्मा को आदर्श मान-कर सब धर्मों को जलांजलि दे श्रीकृष्ण के चरणों पर लोटने की रुचि नहीं कर रहे हैं। पाठक महोदय ही विचार कर देखें कि ऐसे हम पण्डित हैं या गधे?

गुरु के घर हरिशरण

तीसरा दिन

आज व्रज-पत्तन में बहुत धूमधाम है। फुलना स्थान से भक्तिसिन्धु आदि भक्तगण श्रीगुरुपादपद्म के दर्शन की इच्छा से श्रीव्रजपत्तन में पधारे हैं। व्रज-पत्तन आज हरिकथा के कोलाहल और मृदङ्ग-करताल के साथ उच्चस्वर से हरिगुण कीर्तन से गूँज रहा है। आज व्रजपत्तनेश्वर के भोगराग का प्रबन्ध भी बहुत अच्छा है। हरिशरण और भक्तिसिन्धु आदि भक्तों ने स्थिर किया है, कि महाप्रसादादि के सेवन के उपरान्त, श्रीनरहरि ब्रह्मचारी महात्मा को श्रीव्रज-पत्तनेश्वर की सेवा में छोड़ श्रीगुरुजी के साथ आज मृदङ्ग करताल के सहित हरिकीर्त्तन करते हुए श्रीगङ्गानगर, श्रीपृथुकुण्ड, श्रीसीमन्तद्वीप और श्रीविश्रामस्थल आदि स्थानों का दर्शन करेंगे।

श्रीव्रजपत्तनेश्वर की पूजा और भोगराग आदि

यथासमय बड़े समारोह से सम्पन्न हुआ। श्रीगुरुदेव ने महाप्रसाद सेवन किया। इसके बाद भक्त लोग श्रीगुरुदेव के जूठन के सहित महाप्रसाद का सेवन करने बैठे। भक्तों का प्रसाद-सेवन एक अपूर्व दर्शन हुआ। बारबार साधु सावधान की ध्वनि, प्रसाद माहात्म्य-कीर्त्तन: गुरुदेव, भक्तगण और श्रीश्रीजगन्नाथ की जय बोलते हुए भक्तों ने प्रसाद-सेवन समाप्त किया। कुछ विश्राम के उपरान्त श्रीगुरुदेव के साथ मृदङ्ग और करताल के सहारे श्रीहरिनाम का कीर्त्तन करते हुए सब लोग बाहर निकले। श्रीगङ्गा नगर में पहुँच कुछ देर खूब ऊँचे स्वर से कीर्त्तन और उद्दण्ड नाच नाचने के बाद सब लोग वृक्ष तल बैठ गये; तब श्रीगुरुदेव कहने लगे,

"भक्तगण, अन्तर्द्वीप के एक किनारे के इस स्थान का नाम गङ्गानगर है। इक्ष्वाकु वंश के राजा भगीरथ, अपने पितरों का उद्धार करने के लिये, जब हिमालय से श्रीविष्णुपादोदकी गङ्गा को लिये आ रहे थे, तब यहाँ पहुँच गङ्गा आगे नहीं बढ़ीं और स्थिर हो गईं। यह देख राजा भगीरथ ने डर कर, इसी नगर में बैठ बहुत तपस्या की। श्रीगङ्गा देवी ने उन्हें दर्शन देकर कहा,—"वत्स भगीरथ, यह नवद्वीप धाम है। मैं जिनका चरणोदक हूँ, उन मेरे प्रभु श्रीगौराङ्ग के फाल्गुन पूर्णिमा तिथि में यहीं जन्म ग्रहण का स्थान है। उस तिथि में मैं यहाँ कुछ कृत्य करूँगी। अभी माघ का महीना है, तुम कुछ दिन के लिये और ठहर जाओ। उस तिथि के बीत जाने पर मैं तुम्हारे पितरों के उद्धार के लिये खुशी से चलूँगी।'

भक्तगण, इस स्थान का बड़ा माहात्म्य है। जो लोग फाल्गुन की पूर्णिमा तिथि को गङ्गा में स्नान कर, उपवास करके गङ्गानगर में श्रीगौराङ्ग की पूजा करते हैं, वे एक हजार पूर्व पुरुषों के साथ, चाहे जहाँ तहाँ शरीरान्त होने पर भी गोलोक धाम पायेंगे। हमारे आराध्य देव श्रीगौराङ्ग यहाँ कितनी ही बार नृत्य कर चुके हैं। यह देखो, यहीं श्रीगङ्गादास और श्रीसञ्जय का मकान था।

भक्तगण, इस श्रीगङ्गानगर के पूर्व ओर वह जो बहुत बड़ी बावली देखते हो, उसका नाम बल्लालदीर्घिका है। सत्ययुग में जब महाराजा पृथु पृथिवी के ऊँचे नीचे स्थानों को समतल बनवा रहे थे, उस समय जब यहाँ खोदाई हुई, तो इसमें से एक महाज्योतिर्मयी प्रभा निकली, कर्मचारियों ने महाराज को यह समाचार पहुँचाया। श्रीभगवान् के शक्त्यावेश अवतार महाराजा पृथु यहाँ आकर ध्यान लगा समझ गये कि यही श्रीनवद्वीप धाम है। इस स्थान के माहात्म्य को गुप्त रखने के लिये उन्होंने मजदूरों को यहाँ एक कुण्ड बनाने की आज्ञा दी। महाराज की आज्ञानुसार यहाँ एक कुण्ड बना था, उसका नाम पृथुकुण्ड था। इसके बाद हिन्दू महाराज लक्ष्मणसेन ने, अपने पितरों के उद्धार की आशा से इस कुण्ड को फिर से बनवा कर इसका नाम बल्लालदीर्घिका रखा। वह देखो, अब भी महाराज लक्ष्मणसेन का टूटा महल दिखाई दे रहा है। बाद को यहाँ मुसलमानों द्वारा श्रीमूर्त्ति का अपमान होने पर भक्तों ने इस स्थान को त्याग दिया और तब से अब तक यहाँ कोई भक्त नहीं रहा।"

सब लोग बड़े आनन्द से हर्षध्वनि कर उठे। फिर श्रीनाम का कीर्त्तन करते हुए पास ही के श्रीसीमन्तद्वीप में आये। यहाँ भी कुछ देर नाच और कीर्त्तन करने के बाद सब लोग बैठ गये। श्रीगुरुदेव कहने लगे,—

"भक्तगण, गङ्गा के दक्षिण किनारे अवस्थित श्रीनवद्वीप के ही एक प्रान्त इस स्थान का नाम श्रीसीमन्तद्वीप उर्फ सिमुलिया है। सत्ययुग में एक दिन देवादिदेव महेश्वर को 'श्रीगौराङ्ग, श्रीगौराङ्ग' कहते और प्रेम से नाचते देख कर पार्वती ने उनसे पूछा,—'देव, श्रीगौराङ्ग कौन है? जिनका नाम लेकर आप इतने प्रेमोन्मत्त हो अद्भुत नाच नाच रहे हैं, कृपाकर उनका परिचय मुझे दीजिये; आपके इस नाच को देखकर मेरा मन मोहित हो रहा है।' तब देव महेश्वर ने उत्तर दिया,—'देवि, तुम जिन आह्लादिनी-शक्ति श्रीराधा के अंश से जगत् की सृष्टि में आद्याशक्ति हुई हो, उन राधा की भावकान्ति को ग्रहण कर श्रीकृष्णचन्द्र कलि में

श्रीमायापुर-ग्राम में श्रीशची देवी के गर्भ से उत्पन्न होंगे और पात्रापात्र का विचार न कर प्रेमधन वितरण करेंगे; उन प्रेमरत्न के मिलने की आशा से मेरा हृदय बहुत छटपटा रहा है। इसी से मैं काशी त्यागकर श्रीमायापुर-ग्राम के सीमान्त में श्रीगङ्गा के किनारे एक कुटी में निवास करते हुए श्रीगौराङ्ग का भजन करूँगा; अब मेरा ऐसा ही विचार है। देव शूलपाणि के यह वचन सुन देवी भी इसी स्थान में आके प्रेमपूर्ण चित्त से श्रीगौराङ्ग का ध्यान करने लगीं। तुरत काञ्चनवर्ण, दीर्घ कलेवर, सर्वाङ्गसुन्दर, घुँघराले केश, गले में फूलों की माला से सुशोभित श्रीगौराङ्ग ने कृपाकर अपने गणों के साथ देवी को दर्शन दिया; श्रीपार्वती सती ने उनसे बड़े शौक से प्रेम की भिक्षा माँगी और उनके चरण की धूलि सीमन्त में (माँग में) लगाई। इसीसे इस स्थान का नाम श्रीसीमन्तद्वीप हुआ है। तब से महेश्वरी प्रौढ़ामाया सीमा-तनी देवी के रूप में श्रीगौराङ्ग के प्रेम में मतवाली हो मायापुर धाम में निवास करती हैं।"

इस कथा के समाप्त होते ही भक्तगण बड़े प्रेमोत्साह से हरिध्वनि कर कीर्त्तन करने लगे। कुछ देर तक प्रेम के साथ नाच और कीर्त्तन करते हुए सब लोग काजी के नगर में पहुँचे। वहां चार सौ वर्ष पहले चम्पा के वृक्ष के नीचे काजी की कब्र बनी थी, वह आज तक मौजूद है। उस वृक्ष के नीचे सब लोग जाकर बैठ गये; तब श्रीगुरुदेव कहने लगे,—

"भक्तगण, कृष्णावतार में होनेवाले मथुरा के कंस ने इस बार श्रीगौराङ्ग के अवतार के समय काजीनगर में चाँद काजी नाम धारण किया था। इसीलिये श्रीगौराङ्गदेव इस स्थान को 'मथुरा' और चाँद काजी को 'मामा' कहते थे। श्रीगौरसुन्दर जब सब से पहले मृदङ्ग और करताल के सहारे श्रीहरिकीर्त्तन की सृष्टि की, उस समय ये चाँद काजी मृदङ्ग आदि तोड़वा कर बड़े ही अत्याचार के साथ हरिकीर्त्तन में बाधा देते थे। जब श्रीगौराङ्गदेव ने नृसिंह के रूप में काजी को भयानक भय दिखाया, तब काजी उनके शरणागत हुए और श्रीगौराङ्गसुन्दर की कृपा से प्रेमलाभ कर धन्य हुए। श्रीकृष्णलीला के समय कृष्ण के अपराधियों ने अभेद-निर्वाण पाया था, किन्तु श्रीगौराङ्ग-लीला के समय अपराधियों ने प्रेम-रत्न पाया था। इसीलिये श्रीगौराङ्ग-लीला सबसे प्रधान है। इसी चम्पे के वृक्ष के नीचे चाँद काजी की समाधि बनाई गई। जो इस समाधि पीठ का दर्शन करते हैं, उनकी आधि-व्याधि सब नष्ट हो जाती है।"

इसके बाद सब लोग शीघ्र ही शङ्खवणिक नगर में पहुँचे; वहाँ श्रीगुरुदेव ने कहा,—

"भक्तगण, यह देखो, शङ्खड़ाङ्गा है। रक्तबाहु के अत्याचार के समय श्रीजगन्नाथदेव ने दयिता के साथ आकर यहाँ निवास किया था। इसलिये यह स्थान श्रीपुरुषोत्तमधाम के समान है।"

इसके बाद सब लोग जुलाहों के ग्राम को पार कर केले का पत्ता आदि बेचने वाले श्रीधर के घर आये। श्रीगुरुदेव ने कहा,—

"भक्तगण, इन श्रीधर के घर श्रीगौराङ्गसुन्दर ने विश्राम किया था, इसीलिये इसका नाम श्रीधर-विश्रामस्थान है। नवद्वीप में श्रीमन्महाप्रभु के अवतार होने का हाल जानकर जिन जिन राहों में प्रभु कीर्त्तन किया करते थे, उन उन राहों में जल कष्ट मिटाने के लिये विश्वकर्मा ने एक रात में साठ कुण्ड बना दिये थे। अन्तिम कुण्ड काजीनगर में बना। समीप ही यह देखो, श्रीधर का केले का बाग है। उसके समीप यह जो सरोवर देखते हो, उसी सरोवर में महाप्रभु ने समय-समय पर जल-क्रीड़ा करते हुए श्रीधर की सब्जी ले ली थी।

सामने ही यह देखो, मयामारी ग्राम है। उस ग्राम के सम्बन्ध में एक पौराणिक कथा है, मैं कहता हूँ, सुनो। श्रीबलदेव ने तीर्थयात्रा कर बहुतेरे तीर्थों में भ्रमते-भ्रमते नवद्वीप में आकर विश्राम लिया था। उस समय यहां के ब्राह्मणों से उन्होंने मयासुर का हाल सुना। इसके बाद उन्होंने उस मयामारी ग्राम में महायुद्ध के बाद मयासुर को मारा। इसी से उसका नाम मयामारी ग्राम है। यह मयामारी ग्राम ब्रज के तालवन जैसा है।

इसके बाद सब लोग हरि-कीर्तन करते हुए श्रीव्रजपत्तन में लौट आये। हाथ-मुँह धोने के बाद सब लोग हाथ में श्रीमाला लेकर श्रीहरिनाम का जप करते हुए श्रीगुरुदेव के पास आकर बैठ गये। श्रीहरिशरण ने कहा,—"प्रभो, अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार आज हम लोगों को श्रीनामापराध के सम्बन्ध में उपदेश देकर कृतार्थ कीजिये।"

श्रीगुरुदेव ने भक्तों का सम्बोधन कर कहा, "भक्तगण, मैं नामापराध के विषय में आलोचना करता हूं। सब लोग ध्यान देकर सुनो।

नामापराध दस प्रकार के हैं, पद्मपुराण में है—

सतां निन्दा नाम्नः परममपराधं वितनुते
यतः ख्यातिं यातं कथमुसहते तद्विगर्हाम्।
शिवस्य श्रीविष्णोर्य इह गुणनामादिसकलं
धिया भिन्नं पश्येत्स खलु हरिनामाहितकरः॥

गुरोरवज्ञा श्रुतिशास्त्रनिन्दनं तथार्थवादो हरिनाम्नि कल्पनम्।
नाम्नो बलाद्यस्य हि पापबुद्धिर्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः॥
धर्मव्रतत्यागहुतादि सर्व-शुभक्रियासाम्यमपि प्रमादः।
अश्रद्दधाने विमुखेऽप्यशृण्वति यश्चोपदेशः शिवनामापराधः॥

श्रुतेऽपि नाममाहात्म्ये यः प्रीतिरहितोऽधमः।
अहं-ममादि परमो नाम्नि सोऽप्यपराधकृत्॥

अर्थात्,—(१) साधुनिन्दा, (२) विष्णु को छोड़ अन्य देवता में स्वतन्त्र बुद्धि, (३) नाम-तत्त्व का उपदेश देनेवाले गुरु की निन्दा, (४) श्रुति-शास्त्र की निन्दा, (५) हरिनाम का अर्थवाद करना, (६) नाम के बल से पाप बुद्धि, (७) अन्य शुभ कर्मों के साथ श्रीनाम को बराबर समझना, (८) श्रीनाम के माहात्म्य को जानकर भी उस पर प्रीति न रखना और (१०) मैं-मेरा आदि की आसक्ति से संसार में डूब श्रीनाम-भजन में उदासीनता दिखाना—यह दश नामापराध कहे जाते हैं।

ऊपर कहे अपराधों में अधिकांश ही मायावाद-रूपी दुष्टबुद्धि के उत्पन्न होने पर हुआ करते हैं। मायावाद द्वारा चित्त को कलुषित न होने देने के लिये विशेष सावधान होने की आवश्यकता है। अब अलग अलग नामापराध की व्याख्या करता हूँ,—प्रथम अपराध साधुनिन्दा है,—

सतां निन्दा नाम्नः परममपराधं वितनुते
यतः ख्यातिं यातं कथमुसहते तद्विगर्हाम्।

अर्थात्—साधुनिन्दा बहुत बड़ा अपराध है। इसके लिये यह जानने की आवश्यकता है, कि साधु कैसे पहचाने जायं। सिर्फ साधु के लक्षणों से ही साधु पहचाना जाता है। साधु के लक्षण के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध में श्रीभगवान् ने उद्धव को जो उपदेश दिया था, श्रीकविराज गोस्वामी ने उसका अनुवाद बंगला के पयार छन्द में श्रीचैतन्यचरितामृत में लिखा है, जैसे—

कृपालु अकृतद्रोह सत्यसार सम।
निर्दोष वदान्य मृदु शुचि अकिञ्चन॥
सर्वोपकारक शान्त कृष्णैकशरण।
अकाम निरीह स्थिर विजित षड्गुण॥
मितभुक् अप्रमत्त मानद अमानी।
गम्भीर करुण मैत्र कवि दक्ष मौनी॥

फिर, ये सब लक्षण स्वरूप और तटस्थ-भेद से दो प्रकार के हैं। एकमात्र कृष्णैकशरणता ही स्वरूप का लक्षण है और अन्यान्य गुणसमूह तटस्थ लक्षण कहे जाते हैं। बड़े भाग्य से किसी जीव को श्रीनाम की रुचि उत्पन्न होने पर श्रद्धा के साथ श्रीनाम का जप करते-करते जब उसमें कृष्णैकशरणता मिल जाती है, तब उसमें स्वरूप-लक्षण का उदय होता है, स्वरूप लक्षण के होने पर खूब श्रद्धा के साथ श्रीनाम का कीर्तन करते-करते क्रमशः उसके तटस्थ के सब लक्षण प्रकट होने लगते हैं। तटस्थ-लक्षण आदि साधु में अवश्य प्रकट होंगे किन्तु एकाएक, एकदम प्रकट न हो पड़ेंगे, क्रम-क्रम से होते रहेंगे।

(क्रमशः)

नित्यधर्म और जाति वर्णादि का भेद

(गतांक से आगे)

वैष्णव०—श्रद्धा ही जीव का नित्य स्वभाव है। वर्णाश्रमादि गत कर्मवृत्ति जीव के नैमित्तिक स्वभाव से उदित होती है, यही सब शास्त्रों का सिद्धान्त है।

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है; (७।१९।१)—

"यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते नाश्रद्दधन्मनुते श्रद्दधदेव मनुते श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति॥"

अर्थात्—सनत्कुमार ने कहा—ज्ञातव्य विषय में जब श्रद्धा का उदय होता है तब मनुष्य उसी विषय की धारणा करने की चेष्टा करता है। श्रद्धावान् मनुष्य ही धारणा कर सकते हैं, अश्रद्धावान् नहीं। अतएव हे नारद, आपको श्रद्धा को विशेषरूप से यही जानने की आवश्यकता है, कि वह श्रद्धा क्या है। नारद ने कहा,—हे भगवन्, मैं उस श्रद्धा के विषय को ही विशेषरूप से जानना चाहता हूँ।

कोई-कोई सिद्धान्तकार ऐसा अर्थ करते हैं, कि वेद और गुरुवाक्य में ही श्रद्धा है। यह अर्थ बुरा नहीं, किन्तु स्पष्ट नहीं है। हमारे सम्प्रदाय में 'श्रद्धा' शब्द का अर्थ इस प्रकार दिखाया गया है; (आम्नायसूत्र—५७)—

"श्रद्धा त्वन्योपाय वर्जं भक्त्युन्मुखी चित्तवृत्ति विशेषः।"

अर्थात्—कर्मज्ञानादि अन्योपाय परित्याग कर भक्त्युन्मुखी चित्तवृत्ति-विशेष ही श्रद्धा है।

साधुसङ्ग में सुनते सुनते जब चित्त में ऐसा भाव आता है, कि कर्म-ज्ञान-योगादि में जीव के नित्य लाभ की सम्भावना नहीं, केवल अनन्य भाव से हरि-चरण के आश्रय के बिना जीव की और कोई गति नहीं; तब यह समझना चाहिये, कि वेद और गुरुवाक्य में श्रद्धा उत्पन्न हुई है। श्रद्धा का आकार ऐसा ही दिखाया गया है,— (आम्नाय सूत्र-५८)

"सा च शरणापत्तिलक्षणा।"

अर्थात्—शरणापत्ति-लक्षण ही श्रद्धा का बाह्य लक्षण है। शरणापत्ति क्या है?—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥

(हरिभक्ति विलास ११।४१७)

जो अनन्य-भक्ति के अनुकूल है, वही करेंगे, जो प्रतिकूल है, उसे न करेंगे, ऐसी प्रतिज्ञा; भगवान् ही मेरे रक्षाकर्त्ता हैं, ज्ञानयोगादि की चेष्टाओं से मेरा कुछ भी हो नहीं सकता, ऐसा विश्वास, अपनी चेष्टा से मेरा कुछ भी लाभ नहीं, या मैं अपना पालन कर नहीं सकता, मैं यथासाध्य उनकी सेवा करूँगा, वे ही मेरा पालन करते हैं, ऐसी निर्भरता; मैं कौन हूँ? मैं उनका हूँ और उनकी ही इच्छा से मेरा सब काम है, ऐसा आत्मनिवेदन करना; मैं अकिञ्चन हूँ, दीन और हीन हूँ, ऐसी कार्पण्य बुद्धि,— ये प्रतिज्ञा, विश्वास, निर्भरता, आत्मनिवेदन और दैन्य चित्त में अवस्थित हो जिस वृत्ति को उत्पन्न करते हैं, वही श्रद्धा है। ऐसी श्रद्धा जिनमें उत्पन्न हुई है, वे ही भक्ति के अधिकारी हैं। यही नित्यमुक्त शुद्धजीवों के स्वभाव की प्रथमावस्था है। अतएव यही जीव का नित्य स्वभाव है। और सब प्रकार के स्वभाव नैमित्तिक हैं।

चूड़ा० समझा। आपने अब भी यह नहीं बताया कि श्रद्धा किसे कहते हैं। यदि सत्कर्म से श्रद्धा का उदय होता है, तब तो मेरा ही मत बलवान् ठहरा। क्योंकि वर्णाश्रम से उदित सत्कर्म और स्वधर्म का अच्छी तरह आचरण न करने से श्रद्धा हो ही नहीं सकती। जब मुसलमानों में वैसा सत्कर्म नहीं है तब वे कैसे भक्ति के अधिकारी होंगे?

वैष्णव० सुकृति से ही श्रद्धा का होना है सही, क्योंकि बृहन्नारदीय में ऐसा कहा है,—

भक्तिस्तु भगवद्भक्तसङ्गेन परिजायते।
सत्सङ्गः प्राप्यते पुम्भिः सुकृतैः पूर्वसञ्चितैः॥

सुकृति दो प्रकार की है, नित्य और नैमित्तिक। जिस सुकृति द्वारा साधुसङ्ग और भक्ति लाभ हो, वह नित्य है। जिस सुकृति से भुक्ति और निर्भेद-

मुक्ति का लाभ हो, वह नैमित्तिक है। जिसका फल नित्य है, वही सुकृति नित्य है। जिसका फल निमित्ताश्रयी है, वही सुकृति अनित्य है। सब तरह की मुक्तियाँ स्पष्ट निमित्ताश्रयी हैं, क्योंकि वह नित्य नहीं है। कितने ही लोग मुक्ति को नित्य समझते हैं, किन्तु मुक्ति के स्वरूप को न जानकर ही लोग ऐसा सिद्धान्त ठहराते हैं। आत्मा शुद्ध, नित्य और सनातन है। जड़ या माया का संसर्ग ही जीवात्मा के बन्धन का कारण या निमित्त है। उसे पूर्ण रूप से काट डालने का नाम मुक्ति है। एक क्षण में इस बन्धन का मोचन होता है। मोचन-कर्म नित्य नहीं है। मोचन होते ही मुक्ति की आलोचना भी वहीं समाप्त हो जाती है। निमित्त का नाश ही मुक्ति है। अतएव भेद भाव में ही मुक्ति की नैमित्तिकता है। किन्तु हरि चरण में रति की कभी समाप्ति नहीं। वह नित्यधर्म है, अतएव उसके किसी अंश या अङ्ग को शुद्ध विचार से नैमित्तिक कहा नहीं जा सकता। जो भक्ति मुक्ति मिलते ही समाप्त हो जाती है, वह नैमित्तिक कर्म-विशेष है। जो भक्ति मुक्ति से पहले, मुक्ति के साथ और मुक्ति के बाद वर्त्तमान रहे, वह भक्ति एक पृथक् नित्यतत्त्व है—वही जीव का नित्यधर्म है। मुक्ति उसके आगे कुछ नहीं। मुण्डक में कहा है,—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ (१।२।१२)

अर्थात्—ब्राह्मण कर्मद्वारा प्राप्य फलों की अनित्यता को समझकर और कर्मातीत नित्य सत्य वस्तु को यह समझकर, कि वह कर्मद्वारा नहीं मिलता, कर्म की ओर से बाज आयें, और भगवत् वस्तु के विज्ञान (प्रेम भक्ति-सहित ज्ञान) प्राप्त करने के लिये वे समिधि हाथ में लेकर वेद का तात्पर्य जाननेवाले और कृष्णतत्त्ववित् सद्गुरु के पास काय मनोवाक्य से जायें।

कर्म-ज्ञान-योगादि सभी नैमित्तिक सुकृत हैं। भक्तसङ्ग और भक्तिक्रिया का सङ्ग ही नित्य सुकृत है। जन्मजन्मान्तर में जिन्होंने ऐसा नित्य सुकृत किया है, उन्हें ही श्रद्धा होगी। नैमित्तिक सुकृत द्वारा अन्यान्य फल होते हैं, किन्तु अनन्य भक्ति में श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती।

चूड़ा०—यह स्पष्ट कहिये कि भक्त-सङ्ग और भक्ति-क्रिया क्या है? और यह किस प्रकार के सुकृत से होता है?

वैष्णव०—जो शुद्ध भक्त हैं, उनके साथ बात-चीत, उनकी सेवा और उनकी बातें सुनना इन कामों को 'भक्त-सङ्ग' कहते हैं। शुद्ध भक्तगण नगर-कीर्त्तनादि भक्ति क्रिया किया करते हैं। भक्ति के इन सब कामों में किसी प्रकार से सम्मिलित होने या स्वयं किसी प्रकार की भक्ति-क्रिया के करने से, भक्ति क्रिया सङ्ग कहलाता है। शास्त्र में हरि-मन्दिर को धोना, तुलसी के पास दीपक जलाना, हरि-दिवस का पालन—इन सबको भक्ति-क्रिया कहते हैं। ये सब भक्ति क्रियायें शुद्ध श्रद्धा के साथ न भी हों, अर्थात् जैसे-तैसे भी हों, तब भी उससे भक्ति का पोषक सुकृत होता है। उस सुकृत के बलवान् होने पर साधुसङ्ग और अनन्य भक्ति में श्रद्धा जन्मजन्मान्तर तक उत्पन्न होती रहती है। वस्तु-शक्ति के नाम से एक शक्ति मानना चाहिये। भक्ति क्रियामात्र में भक्तिपोषक शक्ति है। श्रद्धा से करे तो क्या पूछना; लापरवाही के साथ करने से भी सुकृत होता है। प्रभास खण्ड में है—

मधुर-मधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां,
सकलनिगमवल्ली-सत्फलं चित्स्वरूपम्।
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा,
भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम॥

अर्थात्—हरिनाम सब प्रकार के मङ्गलों में श्रेष्ठ मङ्गल-स्वरूप है, मधुर से भी सुमधुर है, वह समस्त श्रुतिरूपिणी लताओं का चिन्मय नित्य-फल है। हे भार्गवश्रेष्ठ, श्रद्धा से हो या लापरवाही से मनुष्य यदि स्पष्टरूप से एक बार भी निरपराध से कृष्ण का नाम ले, तो वह नाम उसी समय मनुष्य मात्र को छुटकारा देता है।

इस तरह जितने प्रकार के भक्तिपोषक सुकृत हैं, वह सभी नित्यसुकृत हैं। क्रमशः इन सुकृतों के बलवान् होने पर अनन्यभक्ति में श्रद्धा और साधु-सङ्ग का लाभ होता है। किसी-किसी मनुष्य का

नैमित्तिक दुष्कृति के वश से मुसलमान के घर जन्म होता है, फिर भी नित्य-सुकृत के बल से अनन्य भक्ति में उसकी श्रद्धा होती है। इसमें क्या आश्चर्य!

चूड़ा०—हमारे कहने का मतलब यह, कि यदि भक्तिजनक सुकृत के नाम से कोई वस्तु है, तो वह भी तो अन्य प्रकार के सुकृत से ही पैदा होगा। अन्य प्रकार की सुकृत मुसलमान में नहीं है, अतएव उनमें भक्तिजनक सुकृत का होना भी सम्भव नहीं।

वैष्णव०—ऐसा निश्चय से कहना उचित नहीं। नित्य सुकृत और नैमित्तिक सुकृत का भेद एक दूसरे से निरपेक्ष है—एक को दूसरे की अपेक्षा नहीं। दुष्कृतों से भरा हुआ व्याध होनहार-वश शिवरात्रि के दिन उपवास और जागरण कर हरिभक्ति का अधिकारी हुआ था। 'वैष्णवानां यथा शम्भुः' (भा० १२।१३।१६) इस वाक्य द्वारा शंकर जी परमभक्त वैष्णव माने गये। उनके व्रताचरण से हरि-भक्ति मिलती है।

चूड़ा०—तो क्या आपके कहने का यह मतलब है, कि नित्य सुकृत अकस्मात् से भी हो पड़ता है?

वैष्णव०—सभी कुछ अकस्मात् से हुआ करता है। कर्म-मार्ग में भी ऐसा ही है। जिसके द्वारा जीव ने पहले पहल कर्म-जाल में प्रवेश किया है, वह आकस्मिक घटना नहीं, तो और क्या है? यद्यपि मीमांसकों ने कर्म को अनादि बतलाया है, तथापि कर्म का कुछ मूल तो है? भगवत्-विमुखता ही जीव की मूल कर्मजनक घटना है; इस तरह नित्य सुकृत भी आकस्मिक घटना ही जान पड़ता है। श्वेताश्वतर का कहना है (४।७)—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

अर्थात् जीव और अन्तर्यामी परमात्मा दो रूपों एक ही वृक्ष में निवास करते हैं, जीव वृक्षात्म-भाग को प्राप्त हो असमर्थता की वजह मोहित होकर शोक करता है। जब (सुकृत के बल से) वह अनन्य भक्तों द्वारा सेवित परमेश्वर और उनकी महिमा का दर्शन करता है, तब शोक से छूट जाता है। भागवत में कहा है (१०।५१।५३ और ३।२५।२५)—

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः॥

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

अर्थात्—हे अच्युत, संसार में भ्रमण करनेवाले जीवों के लिये जब भगवत्-कृपा से संसार के नाश का समय उपस्थित होता है, तब साधुसङ्ग हो पड़ता है और जब साधुसङ्ग होता है, तब साधु जनप्राप्त चित् अचित् का ईश्वर तुम में उसकी रति उत्पन्न होती है।

कपिलदेव ने कहा—साधुसङ्ग के वश से मेरी वीर्यसूचक कथाओं की आलोचना होती है। उन कथाओं को सुनने-सुनने और अपवर्ग पथ स्वरूप मुझ में पहले श्रद्धा, बाद को रति (भाव-भक्ति) और अन्त में प्रेमभक्ति का उदय होता है।

चूड़ामणि—क्या आपके मत से हिन्दू और मुसलमान में कोई भेद नहीं है?

वैष्णवदास—भेद दो प्रकार के होते हैं, पारमार्थिक और व्यावहारिक। हिन्दू और मुसलमानों में पारमार्थिक भेद नहीं है, किन्तु व्यावहारिक भेद है।

चूड़ा०—तर्क को छोड़ किस बातान्तर क्या उपस्थित करते हैं? कहिये, हिन्दू और मुसलमान का व्यावहारिक भेद कैसा है?

वैष्णव०—सांसारिक व्यवहार को 'व्यवहार' कहते हैं। संसार में मुसलमान अस्पृश्य हैं; अतएव व्यावहारिक मत से मुसलमान अस्पृश्य या व्यवहार के योग्य नहीं हैं। मुसलमान का छुआ हुआ पानी या अन्न अग्राह्य है। म्लेच्छ जाति होने की वजह मुसलमान शरीर भी [illegible] है अतएव छूने के योग्य नहीं।

चूड़ा०—तब फिर पारमार्थिक मत से कैसे मुसलमान और हिन्दू अभेद हो सकते हैं, यह साफ-साफ कहिये।

वैष्णव०—जब शास्त्र कहता है कि "भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम" तब मुसलमान आदि सभी मनुष्य परमार्थ लाभ के विषय में बराबर हैं। जिनमें नित्य सुकृत नहीं है, वे भी 'दो पैर के पशु' कहे जाते हैं क्योंकि कृष्णनाम में उनका विश्वास नहीं होता। सुतरां मनुष्य जन्म पाकर भी वे मनुष्य नहीं हैं, अर्थात् उनमें पशुता अधिक है। महाभारत में कहा है,—

"महाप्रसादे गोविन्दे नाम-ब्रह्मणि वैष्णवे।
स्वल्प पुण्यवतां राजन् विश्वासो नैव जायते॥"

अर्थात्, अल्प सुकृतवाले मनुष्य को भगवान् के जूठन महाप्रसाद में, प्रकट अप्रकट और अर्चनीय श्रीगोविन्द में, नाम-ब्रह्म में और वैष्णव में दृढ़ श्रद्धा नहीं होती।

नित्य-सुकृत ही बहुत बड़ा पुण्य अर्थात् जीव को पवित्र करनेवाला है। नैमित्तिक सुकृत ही अल्प पुण्य है, उसके द्वारा चिन्मय विषय में श्रद्धा नहीं होती। महाप्रसाद, कृष्ण, कृष्णनाम और शुद्धवैष्णव — यह चारों इस जगत् में चिन्मय और चित्प्रकाशक हैं।

चूड़ामणि ने कुछ मुसकराकर कहा— "फिर यह एक बात कहाँ से पैदा हुई? यह वैष्णवों की जिद ही जिद है। भात, दाल और तरकारी, कैसे चिन्मय हो सकती है? आप लोग सब कुछ कर सकते हैं।"

वैष्णव०—"आप सब कुछ कहें, किन्तु वैष्णवों की निन्दा न करें, आपसे यही एक ही प्रार्थना है। क्योंकि विचारस्थल में विषय के ऊपर विचार होना चाहिये; वैष्णव-निन्दा की जरूरत ही क्या है? महाप्रसाद के सिवा संसार में और कोई ग्राह्य-वस्तु है ही नहीं; क्योंकि वह चित् का उद्दीपक और जड़ता को खोनेवाला है। इसीलिये ईशोपनिषद् का कहना है (प्रथम मन्त्र में)—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

अर्थात् पृथिवी में जितनी नश्वर वस्तुएँ हैं, वह सभी में परमेश्वर की सत्ता और चैतन्य व्याप्त हो रहा है। अतएव शुद्ध-विचार के साथ परमेश्वर का जूठन ग्रहण करो। भगवान् की सम्पत्ति में भोग के रूप में ग्रहण करने की लालसा न करना।

जगत् में जो कुछ है सभी भगवत् शक्ति से सम्बन्धयुक्त है। सब वस्तुओं में चित्-शक्ति का सम्बन्ध देखने से फिर बहिर्मुख-भोग नहीं होता। अन्तर्मुख जीव के सम्बन्ध में जगत् में शरीर-यात्रा के लिये जो कुछ ग्रहण करने की आवश्यकता है, उन सबको यदि मनुष्य भगवत्-प्रसाद समझकर ग्रहण करे; तो फिर उसका अधःपतन नहीं होता; एवं उसकी चिदुन्मुखी प्रवृत्ति काम करने लगती है। इसी का नाम 'महाप्रसाद' है। यह दुःख का विषय है, कि ऐसे अपूर्व वस्तु पर आपकी रुचि नहीं होती।

चूड़ा०—इस जिक्र को जाने दीजिये। अब वास्तविक विषय पर आलोचना कीजिये। मुसलमान के साथ आपको कैसा व्यवहार करना चाहिये?

वैष्णव—मनुष्य जब तक मुसलमान रहे, तब तक उसकी ओर से हम लोग उदासीन रहते हैं। कोई पहले मुसलमान था, किन्तु अब नित्य सुकृत के बल से वैष्णव हो गया है, तब हम उसे मुसलमान कह नहीं सकते। शास्त्र का कहना है— (पद्मपुराण और इतिहास समुच्चय में है)—

शूद्रं वा भगवद्भक्तं निषादं श्वपचं तथा।
वीक्षते जातिसामान्यात् स याति नरकं ध्रुवम्॥

अर्थात् भगवद्भक्त चारों वर्णों में सबसे अधम शूद्र वर्ण हो, या चारों वर्णों से बाहर व्याध अथवा चण्डाल के कुल में ही क्यों न उत्पन्न हो, जो मनुष्य उन्हें उनकी जाति का समझता है, वह निश्चय ही नरक में जाता है।

न मे प्रियश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम्॥

अर्थात्, चतुर्वेदी ब्राह्मण भी अभक्त होने से मुझे प्रिय नहीं; किन्तु मेरे भक्त चण्डाल-कुल में उत्पन्न होने पर भी मेरे प्रिय हैं। जो कुछ हो, उसे उन्हें ही श्रद्धापूर्वक देना चाहिये, उनका ही जूठन ग्रहण करना चाहिये और जैसे मैं (भगवान्) सब जीवों का पूज्य हूँ, वैसे ही वे भी हैं।

चूड़ा०—समझा। गृहस्थ वैष्णव मुसलमान वैष्णव को कन्यादान और मुसलमान वैष्णव की कन्या को ग्रहण कर सकते हैं या नहीं?

वैष्णव० व्यावहारिक विषय में मुसलमान जगत् के आगे मरने तक मुसलमान ही रहते हैं, किन्तु पारमार्थिक विषय में भक्ति-लाभ करने के बाद फिर उसमें मुसलमानियत रह नहीं सकती। इस प्रकार के कर्म स्मार्त्त कर्म हैं। उनमें एक विवाह है। अतएव गृहस्थ वैष्णव यदि हिन्दू हों, अर्थात् चतुर्वर्ण में हों, तो विवाह की क्रिया उन्हें अपने वर्ण में ही करना चाहिये; क्योंकि संसार यात्रा के निर्वाह के लिये चातुर्वर्ण्य-धर्म नैमित्तिक होने पर भी उनके लिये वही अच्छा

है। इससे यह न समझना चाहिये, कि चातुर्वर्ण्य व्यवहार छोड़ने से ही वैष्णव हुआ जा सकता है। भक्तों के लिये जो भक्ति के अनुकूल है, वही कर्त्तव्य है। चातुर्वर्ण्य-धर्म में निर्वेद और उसके त्याग का अधिकार होने से ही उसका त्याग किया जा सकता है। तब चातुर्वर्ण्य धर्म के साथ सभी का त्याग हो सकता है। जिसके लिये चातुर्वर्ण्य धर्म भजन के प्रतिकूल है, वे अनायास ही उसका त्याग कर सकते हैं। मुसलमानों का जो समाज है, वह यदि भजन के प्रतिकूल हो, तो श्रद्धावान् मुसलमान-उस समाज के त्याग का अधिकारी हो सकता है। चातुर्वर्ण्य के त्यागने का अधिकारी और मुसलमान-समाज के त्यागने का अधिकारी यह दोनों ही यदि वैष्णव हो जायँ, तो फिर भेद कहाँ ? क्योंकि दोनों ही व्यवहार छोड़ चुके हैं। परमार्थ में दोनों ही भाई भाई हैं। गृहस्थ-वैष्णव के लिये ऐसा नहीं है। भजन के प्रतिकूल समाज होने पर भी समाज के त्यागने का पूरा अधिकार न पाने तक वे उसका त्याग कर ही नहीं सकते, किन्तु भजन के अनुकूल विषय का आग्रह जब सरल रूप से सर्वथा दृढ़ होता है, तब वे सहज में ही समाज की अपेक्षाओं का त्याग करते हैं। जैसे,- (भागवत ११-११-३२)

> आज्ञायैव गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्।
> धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स च सत्तमः॥

अर्थात्, धर्मशास्त्र में मैं (भगवान ने जिसे धर्म बताया है, उनके गुण-दोषों का विचार कर उन सब धर्म-प्रवृत्ति को छोड़ जो मेरा भजन करते हैं, वे ही सबसे उत्कृष्ट साधु हैं। गीता के चरम सिद्धान्त में कहा है (१८।६६)

> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

अर्थात् सब धर्मों को परित्याग कर एकमात्र मेरे (भगवान्) के शरणापन्न हो; मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त करूँगा। तुम शोक न करो। फिर भागवत में कहा है—(४।२९।४६)—

> यदा यदानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
> स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥

अर्थात्, जिस किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में जब आत्मभावित भगवान हृदय में प्रेरणा द्वारा अनुग्रह करते हैं, तब वह अनुगृहीत मनुष्य लोक और वेद में निष्ठायुक्त कर्ममिश्र-बुद्धि को परित्याग कर सकता है।

चूड़ा०— मुसलमान यदि सच्चा वैष्णव हो, तो आप लोग उसके साथ एकत्र अन्न भोजन और पानी का व्यवहार कर सकते हैं या नहीं ?

वैष्णव०— निरपेक्ष वैष्णव लोग उनके साथ बैठ महाप्रसाद का सेवन कर सकते हैं। गृहस्थ वैष्णव उनके साथ मिल जुला कर नहीं सकते हैं, किन्तु वैष्णव प्रसाद के खाने में उन्हें कोई हर्ज नहीं, यह तो उनका कर्त्तव्य है।

चूड़ा०— तब वैष्णवों के मन्दिर में मुसलमान वैष्णव को स्पर्श का अधिकार क्यों नहीं है ?

वैष्णव०— मुसलमान कुल में उत्पन्न वैष्णव को मुसलमान कहने से अपराध होता है। वैष्णवमात्र को ही कृष्णसेवा का अधिकार है। गृहस्थ-वैष्णव की देवसेवा में वर्णाश्रम के विरुद्ध काम करने से व्यावहारिक दोष लगता है। निरपेक्ष वैष्णव के लिये मूर्त्ति-पूजा की व्यवस्था नहीं है। वे लोग मूर्त्ति-पूजा नहीं करते, क्योंकि मूर्त्ति-सेवा के प्रकट होने से निरपेक्ष वैष्णव की निरपेक्षता में विशेष व्याघात पहुँचता है। वे लोग श्रीराधावल्लभ की मानसिक पूजा किया करते हैं।

चूड़ा०—समझ गया। अब यह बताइये, कि ब्राह्मण को आप लोग क्या समझते हैं ?

वैष्णव०—ब्राह्मण दो प्रकार के हैं- स्वभावसिद्ध ब्राह्मण और केवल जातिसिद्ध ब्राह्मण। स्वभावसिद्ध ब्राह्मण प्रायः ही वैष्णव हैं, अतएव उनका सम्मान सर्ववादिसम्मत है। जातिसिद्ध ब्राह्मणों का व्यावहारिक सम्मान है। इसमें वैष्णवों की भी यही सम्मति है; इसके बारे में शास्त्र ने कहा है (भागवत ७।९।१०)—

> विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
> पादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठम्।
> मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
> प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥

(इसका अर्थ पहले दिया जा चुका है)

चूड़ा०- शूद्रादि को वेद-पाठ का अधिकार नहीं। शूद्र वैष्णव होने पर वेद पढ़ते हैं या नहीं ?

वैष्णव०—चाहे किसी वर्ण के क्यों न हों, शुद्ध वैष्णव होने से वे पारमार्थिक ब्राह्मणता को प्राप्त होते हैं। वेद दो भागों में विभक्त होते हैं; अर्थात सामान्यकर्म आदि का प्रतिपादक वेद और तत्त्व-प्रतिपादक वेद। व्यावहारिक ब्राह्मणों को कर्म के प्रतिपादक वेद का अधिकार है। पारमार्थिक ब्राह्मणों को तत्त्व-प्रतिपादक वेद का अधिकार है। चाहे किसी वर्ण में क्यों न उत्पन्न हुए हों, शुद्ध वैष्णव लोग तत्त्व-प्रतिपादक वेद को पढ़ते पढ़ाते हैं। बृहदारण्यक में कहा है,—(६ । ४ । २१)—

"तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।"

अर्थात्, बुद्धिमान् ब्रह्मज्ञ लोग भगवत्स्वरूप को विशेष रूप से पहचान उनमें प्रेम और भक्ति करते हैं।

बृहदारण्यक में और एक जगह लिखा है (३ । ८ । १०)

"यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः।"

"अथ य एतदक्षरं विदित्वास्मा लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः॥"

अर्थात्, हे गार्गि! उन अच्युत को न जानकर ही जो लोग इस लोक से चले जाते हैं, वे बड़े ही दीन या शूद्र हैं; जो उन अच्युत पुरुष को जानकर इस संसार से प्रस्थान करते हैं, वही ब्राह्मण हैं।

व्यावहारिक ब्राह्मणों के सम्बन्ध में मनुजी ने कहा है,—(२-१६८)—

"योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥"

अर्थात् जो द्विज उपनयन संस्कार के बाद वेद न पढ़कर और किसी काम का प्रयत्न करते हैं, वे जीवित अवस्था में ही वंश के साथ शीघ्र शूद्रत्व को प्राप्त होते हैं।

तत्त्वप्रतिपादक वेद का अधिकार वेद में भी निरूपित हुआ है, (श्वे० उ० ६।२३)—

"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥"

अर्थात्, जिनमें श्रीभगवान् की पराभक्ति मौजूद है, और जैसी श्रीभगवान् में, वैसी ही गुरुदेव में भी शुद्ध भक्ति है, उन्हीं महात्माओं के सम्बन्ध में इन सब विषयों का उपदेश प्रकट किया जाता है।

'पराभक्ति' शब्द का अर्थ शुद्ध-भक्ति समझना चाहिये। इस विषय में मैं अधिक कुछ कहना नहीं चाहता। आप सब समझते ही हैं। संक्षेप में यह कि जिनमें अनन्य भक्ति की श्रद्धा हो चुकी है, वे तत्त्व-प्रतिपादक वेद के पढ़ने के अधिकारी हैं। जिनमें अनन्य-भक्ति उत्पन्न हो चुकी है, वे तत्त्व-प्रतिपादक वेद के पढ़ाने के अधिकारी हैं।

वृद्ध०—क्या आप लोगों ने यह सिद्धान्त कर रखा है, कि तत्त्व-प्रतिपादक वेद केवल वैष्णवधर्म की ही शिक्षा देता है, और किसी धर्म की शिक्षा नहीं देता?

वैष्णव०—धर्म एक ही है, दो नहीं। उनका नाम ही नित्यधर्म या वैष्णवधर्म है। उस धर्म के सोपान के स्वरूप में कितने ही प्रकार के नैमित्तिक धर्मों का उपदेश किया गया है। भगवान् ने एकादश में कहा है—(भा० ११ । १४ । ३)

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता।

मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः॥

अर्थात्, श्रीभगवान ने कहा,—हे उद्धव, जिससे मेरे बारे में अर्थात् मुझमें रति होती है, ऐसे धर्म का उपदेश किया गया है, जिसे मैंने ब्राह्मकल्प के आदि में ब्रह्मा से कहा था, वही यह वेदरूपावाणी प्रलयकाल में काल धर्म से लुप्त हुई है।

कठोपनिषत् का कहना है,—(१ । २ । १५ और १ । ३ । ९)—"सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति × × × तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि।" "तद्विष्णोः परमं पदम्" इत्यादि।

अर्थात्, "समस्त वेदों ने जिन्हें मुख्य मानकर उनका कीर्त्तन किया है, मैं संक्षेप में उन्हीं विष्णु के पद की विषय कहता हूँ।" वही विष्णु का परम पद है।

यहाँ तक विचार होने पर देवी विद्यारत्न और उनके साथियों का मुँह सूख गया। अध्यापक लोग बिलकुल ही हतोत्साह हो गये। पाँच बजे का समय हो गया। सब लोगों ने प्रस्ताव किया, कि आज यह विचार यहीं स्थगित किया जाय। सर्व-सम्मति से सभा भङ्ग हुई। ब्राह्मण-पण्डित लोग वैष्णवदास बाबा के पाण्डित्य की खूब प्रशंसा कर चले गये। वैष्णवगण भी हर्षध्वनि कर अपने अपने स्थान को गये।

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ; बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ; कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ; बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
अगस्त्यकुण्ड, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम बृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० ४३ हनुमान रोड, न्यू देहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपुरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकोंदा चीरकुण्डा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरोलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

(३१) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ
कव्वुर, वैष्ट गोदावरी, मद्रास

(३२) ग्वालपाड़ा प्रपन्नाश्रम, आसाम

(३३) त्रिदण्डी-गौड़ीय मठ भुवनेश्वर, पुरी

(३४) श्रीसारस्वत-गौड़ीय मठ हरिद्वार

Registered No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)
२—श्रीशिक्षादशकमूलम्—सटीक ।)
३—श्रीमध्वग्रन्थसारांशवर्णनम ≡)
४—श्रीसिद्धान्तसरस्वतीदिग्विजयः ॥)
५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचयः -)
६—श्रीतत्त्वसूत्रम् ।)

संस्कृत बँगला अक्षरों में

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)
२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)
३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत खंडों में प्रकाशित प्रति खंड १)
५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द २)
६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्रीरूपगोस्वामी प्रभु-कृत उपदेशामृतसहित ।=)
७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बँगला अनुवाद सहित ॥)
८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित १)
९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
१०—सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी-कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)
एकादश स्कंध से प्रति खंड ।≡)
१२—युक्तिमल्लिका गुणसौरभ वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

वंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित =)
१४—नवद्वीपशतक बंगला अनुवाद -)
१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत =)
१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती कृत =)
१७—नवद्वीपभावतरंग ।)
१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)
१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद कृत २)
२०—मणिमंजरी ।)
२१—शरणागति -)
२२—कल्याणकल्पतरु -)॥
२३—गीतावली -)
२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥।)
२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)
२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत ॥=)
२७—जैव धर्म २)
२८—साधककंठमाला ।)
२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ५)
३०—महाप्रभु की शिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥।)
३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ५)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /1/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow

वर्ष २]   श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः   [संख्या ८

भागवत

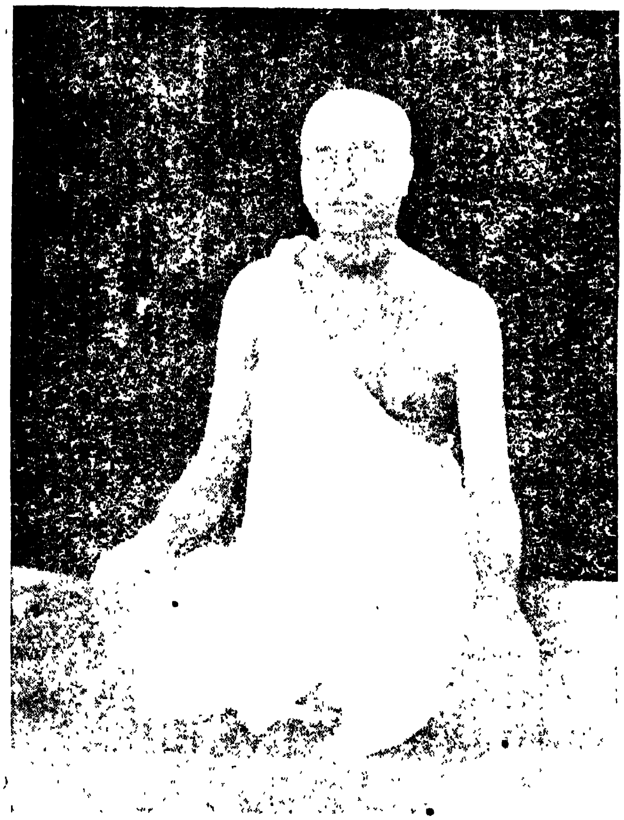
एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

10th Feb. 1933

माधव गौरपक्ष, गौराब्द ४४६

माघ पूर्णिमा संवत् १९८९

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥



क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा ।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा ॥

ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्तसरस्वती गोस्वामी महाराज

प्रति संख्या -) } सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन { वार्षिक सडाक १॥)

Editor:—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन छपाई की दर नीचे लिखी है:—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम	८)
आधा ,, १ ,,	५)
चौथाई ,, ½ ,,	३)
२ इंच ,, ¼ ,,	१॥)
१ ,, ,, ⅛ ,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये—

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

सेठ रामयश रोड, नरही, लखनऊ.

All communications are to be addressed to—

The Manager 'Bhagwat'

Seth Ramjas Road,

Narhe.

LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

वर्ष २ | श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य | संख्या ८

माघ-पूर्णिमा गौराब्द ४४६. सं० १९८९ वि०, १० फरवरी सन् १९३३

आत्म-निवेदन

(६)

तव भक्ति - अनुकूल जो जो कर्म्मचय ।
बड़ ही यतन मैं वो करूँगा निश्चय ॥
भक्ति-अनुकूल जितने विषय संसारा ।
करूँगा उसमें रति इन्द्रिय के द्वारा ॥
सुनूँगा तुम्हारी कथा यतन करके ।
देखूँगा तुम्हारे धाम नयन भरके ॥
तव परसाद करूँ देह का पोषण ।
नैवेद्य तुलसी घ्राण करूँगा ग्रहण ॥
इन हाथों करूँ तव सेवा मैं सदा ।
तव बसती में प्रभु बसूँ मैं सर्वदा ॥
काम को तुम्हारी सेवा नियोग करूँ ।
तव विद्वेषी को देख क्रोध मे जरूँ ॥
येही रूप सर्ववृत्ति और सर्वभाव ।
तव अनुकुल होके लहहि प्रभाव ॥
तव भक्त-अनुकूल जो जो मैं करूँ ।
तव भक्ति - अनुकूल मानूँ, उसे धरूँ ॥
भक्तिविनोद नहिं जाने धर्माधर्म ।
भक्ति - अनुकूल तव होवें सब कर्म ॥

श्रीश्रीनित्यानन्द-प्रभु

गत ८ फरवरी बुधवार, परमाराध्य माघ-शुक्ला त्रयोदशी तिथि को कृपावतार श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु के आविर्भाव का दिवस था। व्यासावतार श्रीमद्‌वृन्दावनदास ठाकुर ने श्रीचैतन्य-भागवत में उस परम पवित्र तिथि का माहात्म्य इस प्रकार लिखा है--

ब्रह्मादि इस तिथि की करें आराधना ॥

× × ×

परम पवित्र तिथि मुक्ति-स्वरूपिणि।
जो हि अवतीर्ण हुए श्रीद्विजमणि ॥
नित्यानन्द-जन्म माघ-शुक्ला त्रयोदशी।

× × ×

सर्व-शुभलग्न अधिष्ठान हुए यहीं ॥
इनमें ये दोनों तिथि करे जो सेवन।
कृष्ण-भक्ति होय, टूटे अविद्या-बन्धन ॥

हम अविद्याग्रस्त जीव हैं। आज हम श्रीनित्यानन्द-अभिन्न श्रीगुरुदेव की कृपा को शिरोधार्य कर, मुख से श्रीनित्यानन्द की महिमा कहते हुए उस परममङ्गलमयी मुक्तिस्वरूपिणी और ईश्वराराध्या तिथि की आराधना करते हुए आत्मा के शोधन करने की इच्छा करते हैं।

राढ़ देश के वीरभूम जिले के अन्तर्गत मल्लारपुर स्टेशन के समीप एकचक्रा ग्राम में हाड़ाई पंडित या हाड़ो ओझा के नाम से वसुदेव जैसे एक सुब्राह्मण थे। उनकी पत्नी का नाम पद्मावती था। कृष्ण के अग्रज श्रीबलदेव समग्र विष्णु और वैष्णवतत्त्व के आदि तथा जगत् के पालन-कर्ता मूल पिता होकर भी इन भक्त-दम्पती को वात्सल्य का माधुर्य चखाने के उद्देश्य से नित्यानन्द के स्वरूप में पुत्र के बहाने उनके घर आविर्भूत हुए। श्रीमद्भागवत में कृष्णलीला के वर्णन में दिखाई देता है, कि यशोदा-नन्दन या वसुदेव-नन्दन के देवकी के गर्भ में आविर्भूत होने से पहले मूल सङ्कर्षण बलदेव का आविर्भाव हुआ और उन्होंने योगमाया द्वारा आकृष्ट होकर रोहिणी के गर्भ में प्रवेश किया; गौर-लीला में भी हमें दिखाई देता है, कि श्रीगौरसुन्दर के शची-गर्भसिन्धु से उदित होने से पहले वहाँ गौर के बड़े भाई विश्वरूप का आविर्भाव हुआ। महा सङ्कर्षण विश्वरूप अन्तर्धान होने के समय अपना तेज ईश्वरपुरी में रख गये, बाद को उसी तेज अंशी मूल सङ्कर्षण नित्यानन्द प्रभु में मिल गया। जीव के हृदय में भगवान् के आविर्भाव होने का नाम ही भगवान् की जन्म-लीला है। भगवान् का जन्म या जीव के हृदय में आविर्भाव से पहले जीव का स्वस्वरूप का उन्मेष होता है। स्वस्वरूप की उपलब्धि होने से जीव अपने को भगवान् का नित्य सेवक समझ लेता है। साथ ही साथ सेवा-विग्रह बलदेव-तत्त्व का भी उदय होता है; सेवा और सेवकतत्त्व के उदय से पहले ही जीव के हृदय में परम सेव्यतत्त्व भगवान् का आविर्भाव होता है। सेव्य, सेवक और सेवा, नित्य हैं और परस्पर सम्बन्ध हैं। सुतरां सेवक के हृदय में सेव्य और सेवा-विग्रह का आविर्भाव या जन्म नित्य है।

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने गीताशास्त्र में अपने जन्म-कर्मादि लीला का नित्यत्व स्वयं श्रीमुख से प्रकट किया है। भगवान् की लीला अनन्त होने पर भी जन्म, बाल्य, पौगण्ड और कैशोर के भेद से चार प्रकार के हैं। व्रज के बलभद्र श्रीनिताईचन्द्र अपनी बाल्यलीला को लोगों के सामने प्रकट करते हुए, कभी लड़कों के साथ देवसभा बनाते, भाराक्रान्ता पृथिवी के स्वरूप में कोई बालक उस सभा में अपना दुःख प्रकट करता, तो शिशुरूपी देवसभा के सभ्यगण पृथिवी को साथ लेकर क्षीरोदकशायी भगवान् का स्तव करते; तब उन्हीं में से कोई बालक किसी वृक्ष की ओट में छिपकर आवाज देता, कि "मैं मथुरा में वसुदेव के घर शीघ्र उत्पन्न होऊँगा।" फिर कुछ शिशु वसुदेव-देवकी के विवाह का अभिनय करते; वासुदेव का जन्म, वसुदेव का वासुदेव को लेकर गोकुल में नन्द के घर जाना; कंस की भेजी पूतना के रूप में कृष्ण को स्तन पिलाना; फिर पूतना-वध;

शकट-भञ्जन प्रभृति लीला का अभिनय करते थे। फिर कभी वामन के रूप में बलि को छलना; कभी-कभी रामलीला में लक्ष्मण के आवेश में इंद्रजित् की शक्ति से मूर्च्छित हो पड़ने पर, शिशु के रूप में गन्धमादन पर्वत से औषध ले आकर लक्ष्मण के आवेश में श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु को चैतन्य में ले आना आदि भगवत् लीला का अभिनय करते थे। बचपन में श्रीनित्यानन्द प्रभु की ऐसी पौराणिक लीलाओं का अभिनय देख वहाँ के निवासी बड़े ही आश्चर्य में आते थे, किन्तु योगमाया के प्रभाव से उन्हें कोई जान न सकता था। इस प्रकार बाल्य-लीला में नित्यानन्दचन्द्र ने माता-पिता के साथ बारह वर्ष बिताये; इसके बाद तीर्थ-भ्रमण के लिये बाहर निकले।

श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु की तीर्थ-यात्रा के प्रसङ्ग में कहते हैं, कि कोई एक संन्यासी हाड़ाई पण्डित के घर अतिथि हुए। उन्होंने हाड़ाई पण्डित से उनके हृदय के धन निताई मणि को भिक्षा में माँगा; परम धार्मिक हाड़ाई पण्डित ने अनिच्छा होने पर भी धर्म की रक्षा के लिये, प्राण से भी अधिक प्रियतम, पद्मावती के अञ्चल के निधि को संन्यासी के हाथ भिक्षारूप में सौंप दिया। राजा दशरथ विश्वामित्र की प्रार्थना से प्राण जैसे पुत्र रामचन्द्र को भिक्षा में देकर जिस दशा को पहुँचे थे, यहाँ वात्सल्यरस के एकमात्र आश्रय निताईचन्द्र को भिक्षा में दे देने से हाड़ाई पण्डित की भी वही दशा हुई। "आँखों की पुतली" निताई के संन्यासी के साथ घर से निकलते ही हाड़ाई ओझा बेहोश हो गये। नित्यानन्द के विरह से हाड़ाई पण्डित भोजनादि छोड़कर केवल विलाप और रोदन के द्वारा समय बिताने लगे। माता-पिता को इस प्रकार असह्य यन्त्रणा प्रदान कर श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु जैसे लोक-शिक्षकों का घर त्याग करना उचित था या नहीं, इसके विषय में गृहस्थ नास्तिक सम्प्रदाय में सन्देह उपस्थित हो सकता है; किन्तु,—

"महानुभव का स्वभाव ये कहाय।
पुष्प जैसा कोमल, कठिन वज्रमय॥"

प्राचीन इतिहासों की आलोचना करने से भी मालूम होता है, कि सत्ययुग में भगवत्-आवेश के अवतार श्रीकपिलदेव ने लोगों के हित के लिये अपनी माता देवहूति को परित्याग कर वन में चले गये थे; फिर त्रेता में श्रीरामचन्द्र सद्धर्म का प्रदर्शन करने के लिये अधर्मी असुरों का विनाश करने के लिये कैकेयी के कहने के बहाने माता-पिता का परित्याग कर वन में चले गये थे। द्वापर में भागवत के वक्ता महाभागवत शुकदेव गोस्वामी वैष्णव पिता व्यासदेव को परित्याग कर प्रव्रज्या का आश्रय लिया था। कलियुग में कलियुग-पावनावतार भगवान् ने अपनी अनाथा माता और नई ब्याही भार्या को कृष्ण-भजन के लिये घर में छोड़ जगत् के जीवों को कृष्ण को ढूँढने के आदर्श की शिक्षा देते हुए संन्यास-लीला का अभिनय किया। परमार्थ के लिये इस प्रकार का त्याग फल्गु त्याग या शुष्क वैराग्य नहीं है। वास्तव में भक्त और भगवान् के ऐसे त्याग-द्वारा समग्र जगत् का कल्याण होता है। वात्सल्य-गुणनिधि श्रीनित्यानन्द प्रभु ने वात्सल्य-रस के आश्रय-अवलम्बन पद्मावती और हाड़ाई पण्डित के वात्सल्य-रस के सागर की तरङ्गों को बढ़ाने के लिये ही ऐसी लीला की थी।

श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु संन्यासी के साथ घर से निकल—वक्रेश्वर, वैद्यनाथ, गया, काशी, मथुरा, वृन्दावन, द्वारका, भगवत् अवतार कपिल की प्रकट भूमि सिद्धपुर, मत्स्यतीर्थ, शिवकाञ्ची, विष्णुकाञ्ची, कुरुक्षेत्र, बिन्दुसरोवर, प्रभास, सुदर्शन-तीर्थ, त्रितकूप, महातीर्थ, विशाली, ब्रह्मतीर्थ, चक्रतीर्थ, प्रतिस्रोता, नैमिषारण्य, अयोध्या, कौशिक, पौलस्त्याश्रम, गोमती, गण्डकी, शोणतीर्थ, परशुरामक्षेत्र, महेन्द्रतीर्थ, हरिद्वार, पम्पातीर्थ, श्रीपर्वत, श्रीरङ्गनाथ, हरिक्षेत्र, ऋषभपर्वत, कृतमाला, दक्षिण मथुरा, ताम्रपर्णी, मलयपर्वत, बदरिकाश्रम, गोकर्ण, सूर्पारक, कन्यकानगर, निर्विन्ध्या आदि असंख्य तीर्थों को पवित्र करने की इच्छा से, लगातार बीस वर्ष इन सब स्थानों में घूमते-फिरते रहे। अन्त में भक्ति-कल्पतरु के अङ्कुर श्रीश्रीमन्माधवेन्द्रपुरीपाद के साथ मिल जगत् के जीवों को शिक्षा देने के लिये अपनी लीला से यह दिखाया, कि तीर्थयात्रा

का फल एकमात्र साधुसङ्ग है। उन्होंने श्रीमन्माधवेन्द्र पुरी पर कृपा करने और जगत् के जीवों को लौकिक या कौलिक अयोग्य गुरुनामधारी लघु मनुष्यों को परित्याग करते हुए सद्गुरु के चरण के आश्रय की अवश्य कर्तव्यता दिखाने के लिये ही श्रीपुरीपाद से मन्त्र की दीक्षा लेने की लीला का अभिनय किया। कोई-कोई कहते हैं, कि श्रीमाधवेन्द्रपुरी गोस्वामीपाद के गुरुदेव श्रीमल्लक्ष्मीपति तीर्थ-गोस्वामिचरण ही श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु के दीक्षा-प्रदाता थे।

श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु की दीक्षा के प्रसङ्ग में भक्तिरत्नाकर के लेखक श्रीघनश्याम ठाकुर ने लिखा है:—

"माध्वी सम्प्रदाय जिनकी परम सुख्याति।
गुण के समुद्र लक्ष्मीपति-प्रिय अति॥
लक्ष्मीपति उन विप्र शिष्य के भवन।
किया भिक्षा औ कृष्ण-कथा-आलापन॥
× × ×
बलराम-रूपी नित्यानन्द कुतूहल से।
श्रीलक्ष्मीपति पास आये स्वप्नछल से॥
× × ×
इसी गाँव आये एक ब्राह्मण-कुमार।
अवधूत वेश, शिष्य होने को तुम्हार॥
उन्हें इस मन्त्र शिष्य करना सँभार।
इतना कहि मन्त्र कहा उनके कर्णद्वार॥
× × ×
नित्यानन्द यति प्रति कहे बार बार।
मन्त्रदीक्षा दे के मेरा करिये उद्धार॥
(भ०रत्नाकर ५म तरंग)

वैदिक संन्यासी लोग तीर्थ, आश्रम, वन, अरण्य, गिरि, पर्वत, सागर, सरस्वती, भारती और पुरी— इन दस नामों से प्रसिद्ध हैं। जहाँ संन्यास की उपाधि तीर्थ या आश्रम है, वहाँ ब्रह्मचारी नाम और समझना चाहिये। श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु माध्व-सम्प्रदाय के आचार्य श्रीमल्लक्ष्मीपति-तीर्थपादके आनुगत्य ग्रहण करने पर उनका नाम और स्वरूप ब्रह्मचारी हुआ; इसी से इनका चरित्र वर्णन करते हुए श्रीमद् वृन्दावनदास ठाकुर और कविराज गोस्वामी प्रभु ने कहीं-कहीं "नित्यानन्द-स्वरूप" नाम का उल्लेख किया है। यह कहा गया है, कि श्रीभक्तिरत्नाकर में श्रीमल्लक्ष्मीपति-तीर्थगोस्वामी के पास दीक्षा-लीला दिखाने के बाद श्रीनित्यानन्द प्रभु ने श्रीमाधवेन्द्र पुरी पाद के साथ साक्षात् किया। श्रीमाधवेन्द्र पुरी पाद के साथ मिलने के प्रसंग में भी भक्तिरत्नाकर में ऐसा लिखा दिखाई देता है:—

कुछ दिन बाद माधवेन्द्र से वे खास।
मिले जाय प्रतीची-तीर्थ, के पास॥
× × ×
नित्यानंद मित्र सम, माने माधवेन्द्र।
माधवेन्द्र गुरु-सम, माने नित्यानन्द॥

जैसे कृष्णलीला में बलदेव ने तीर्थ-पर्यटन की लीला दिखाई थी, वैसे ही गौर-लीला में श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु भी तीर्थ-पर्यटन-लीला दिखाकर नवद्वीप पहुँच अपने प्रभु गौरांग से मिल गये। नवद्वीप में आने पर पहले नित्यानन्द प्रभु नन्दन आचार्य के घर गुप्तरूप से रहने लगे, किन्तु सर्वांतर्यामी प्रभु गौरांग सुन्दर ने यह जान लिया और श्रीवास आदि भक्तवृन्दों से, स्वप्न देखी बातों के बहाने, नवद्वीप में नित्यानन्द का आना प्रकट कर दिया और नित्यानन्द को ढूँढने के लिये ठाकुर हरिदास और पण्डित श्रीवास को भेजा। महाप्रभु की आज्ञा से वे दोनों नदिया के घर-घर नित्यानन्द प्रभु को ढूँढने लगे; किन्तु कहीं उनका पता न पा लौट कर प्रभु से जा कहा। इस प्रसङ्ग में चैतन्य-भागवत के व्यास वृन्दावन ने कहा है,—

दोनों ही की बातें सुन हँसे गौरचन्द्र।
उन्हें समझाया बड़े गूढ़ नित्यानन्द॥
× × ×
बड़ा गूढ़ नित्यानन्द का ये अवतार।
चैतन्य दिखायें जिसे सोई देखनार॥

श्रीमन्महाप्रभु श्रीवासादि भक्तों के साथ नन्दन आचार्य के घर श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु के साथ मिले; उन्होंने वहीं भक्तों के आगे उनकी महिमा का कीर्तन किया।

श्रीमन्महाप्रभु से सम्मिलन के बाद श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु ने श्रीवास के घर व्यासपूजा का अभिनय किया; तब श्रीमन्महाप्रभु ने उन्हें षड्भुज मूर्ति का दर्शन दिया।

श्रीमहाप्रभु और श्रीनित्यानन्द का मिलन के बाद की नवद्वीप लीलाओं में जगाई-मधाई उद्धार लीला विशेष उल्लेख योग्य है। एक दिन श्रीमन्महाप्रभु ने हरिदास और प्रभु नित्यानन्द को नाम प्रचार की आज्ञा दी। गौर की आज्ञा से ये दोनों आचार्य सर्वत्र नाम का प्रचार करते-करते दो शराबियों से मिल गये। उनका परिचय पूछने पर इन्हें मालूम हुआ, कि ये दोनों कुलीन ब्राह्मण-वंश में जन्म लेने वाले शराब पीने और गोमांस भक्षण करने तथा डकैती, लोगों के घर फूँकने आदि बुरे कामों में लगे रहते हैं। शराब पीकर राह-बाट, इधर-उधर पड़े रहते हैं, कभी कभी मार पीट करते दिखाई देते हैं। लोग इन्हें देखते ही दूर भागते हैं। इन दोनों ब्राह्मण-कुमारों की ऐसी अवस्था देख उन पर दयालु श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु की कृपादृष्टि हुई; उन्होंने विचार किया—"मेरे प्रभु श्रीगौरसुन्दर, पात्र-अपात्र का विचार किये बिना सब जीवों को नाम-प्रेम प्रदान करने को साङ्गोपाङ्ग अवतीर्ण हुए हैं; वे यदि कृपा कर इन दो पापियों का उद्धार कर दें, तो मेरी मनोवाञ्छा पूर्ण हो, अर्थात् जगत् में प्रभु की महिमा का प्रचार होने से ही मुझे आनन्द है।"

पातकी तारन प्रभु लीनो अवतार।
ऐसा पातकी मिले और कौन हार॥
छिपा के करें प्रभु अपने को प्रकास।
प्रभाव न देख लोग करें उपहास॥
करें प्रभु कृपा यदि इन दोनों अपार।
तब वो प्रभाव देखे सकल संसार॥
तब तो होय नित्यानन्द चैतन्य के दास।
इन दोनों में करें जो चैतन्य प्रकास॥
मेरे प्रभु कहि यदि रोयें दोनों जन।
तभी हो सार्थक मेरा सारा पर्यटन।
जिन्हें जिन्हें इन दोकी छाया परस जाय।
वस्त्र के सहित गङ्गा स्नान को धाय॥
वही सब जन इन दोनों को ही देखे।
गङ्गास्नान-सम इन्हें माने मेरे लेखे॥

इस प्रकार श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु ने जगाई-मधाई उद्धार की चेष्टा कर अपने प्रभु श्रीमन्महाप्रभु से आकर निवेदन किया। श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु महाप्रभु से कहने लगे,—"धार्मिक लोग तो सहज ही हरिनाम का कीर्त्तन किया करते हैं। किन्तु आप यदि इन दोनों पापियों से हरिनाम का कीर्त्तन करा सकें। तो आपका पतित-पावन नाम सार्थक हो।" श्रीनित्यानन्द की यह बातें सुन श्रीमन्महाप्रभु ने कहा,—"अजी नित्यानन्द! जब तुमने उनके उद्धार की इच्छा की है, तब इसमें कोई सन्देह नहीं, कि वे उद्धार पा गये।"

एक दिन रात्रि के समय श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु नगर-भ्रमण करने के उपरान्त महाप्रभु के पास लौट जा रहे थे, ऐसे समय जगाई-मधाई श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु के पैरों की आवाज सुन बोल उठे,—"यह कौन आता है?" उनकी आवाज सुन श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु ने भाग ने के बदले उनके उद्धार की इच्छा से उसी जगह उन दोनों शराबी ब्राह्मणों को अपना परिचय दिया। नित्यानन्द प्रभु का परिचय पाकर मधाई ने बड़े क्रोध से प्रभु के माथे पर गागरी के ठिकरा से मारा। प्रभु के माथे से धारा बाँध कर खून बहने लगा। यह देख कर भी मधाई के हृदय में दया नहीं आई। उसने फिर नित्यानन्द प्रभु को मारने के लिये हाथ उठाया, तब जगाई ने मधाई के दोनों हाथ पकड़ लिये। इस प्रसङ्ग में ठाकुर वृन्दावन ने कहा है,—

खबरा के लोगों ने जाके प्रभु को सुनाये।
साङ्गोपाङ्ग उसी समय वहाँ प्रभु आये॥
नित्यानन्द अङ्ग पड़ी रक्त की है धार।
हँसे नित्यानन्द दोनों ओर को निहार॥
रक्त देख क्रोध प्रभु मन न सँभार।
'चक्र, चक्र, चक्र' प्रभु कहें बार बार॥
घबरा के चक्र-वहाँ उदय हो आया।
जगाई मधाई दोनों ने देख पाया॥
तब दुखी होके सब भागवत गण।
हाथ जोड़ नित्यानन्द करें निवेदन॥
मधाई ने मारा प्रभु बचायो जगाई।
दैववश गिरा रक्त दुःख नहीं पाई॥
मुझे भिक्षा देओ प्रभु ये दोनों शरीर।
मुझे दुःख नहीं तुम होओ स्थिर॥

(चै० भा० म० १३ । १८२-१८८)

श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु ने महाप्रभु से जब दोनों ब्राह्मण कुमारों के जीवन की भिक्षा माँगी, तब श्रीमन्महाप्रभु का क्रोध शान्त हुआ। तब पहले उन्होंने जगाई पर कृपाकर उसे अपनी चतुर्भुज मूर्त्ति का दर्शन दिया। फिर श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु के अनुरोध से मधाई को प्रेमभक्ति प्रदान किया और अपने स्वरूप का दर्शन दिया। अहो ! नित्यानन्द प्रभु में कितनी करुणा थी, उनकी कृपा से दूसरे की तो बात ही क्या, जगाई-मधाई जैसे महापापी ने भी ज्ञानी और योगियों के दुर्लभ परमपद को बिना किसी क्लेश के पाया। अक्रोध परमानन्द नित्यानन्द प्रभु की दया प्राकृत या ससीम नहीं थी। नित्यानन्द प्रभु की दया में यह चमत्कार था, कि वे कभी जीव का अमङ्गल होने नहीं देते थे। इसी से श्रीचरितामृत के लेखक ने कहा है,—

चैतन्यचन्द्र की दया का करो विचार।
विचार करे तो देखे चित्त-चमत्कार॥

बहुतेरे लोग कह सकते हैं, कि ऐसी दया केवल चैतन्य नित्यानन्द में ही दिखाई नहीं देती, विभिन्न देश और विभिन्न सम्प्रदाय के धर्म-प्रवर्त्तकों में भी ऐसी ही, या इससे भी अधिक दया का निदर्शन दिखाई दिया है। संसारी मनुष्य कर्म-ज्ञानि-योगिजन-दुर्लभ चैतन्य-नित्यानन्द की अप्राकृत अमन्दोदया दया की सीमा को संसारी दृष्टि की सहायता से न देख सकने पर भी वस्तुतः समझते हैं, कि वह अन्यान्य धर्म-प्रवर्त्तकों की दया के बराबर नहीं। क्योंकि श्रीचैतन्य और नित्यानन्द की दया भौतिक देह में अथवा मन में आबद्ध नहीं। चैतन्य - नित्यानन्द संसार में अवतीर्ण हो निर्मला, स्वदा और समदा—इन तीन प्रकार की अमन्दोदया दया की सुस्निग्धधारा को जगत् के जीवों पर बरसाते हुए, जीव के विषय-भोग की प्यास को सदा के लिये प्रशमित कर जो नित्यानन्द प्रदान करते हैं, उसकी बराबरी, कर्मियों के ऐहिक आमुष्मिक विषय-भोग रूपी क्षुद्र जड़ आनन्द की बात तो दूर रही, आत्यन्तिक क्लेश निवृत्ति रूपी मुक्ति के साथ भी हो नहीं सकती।

विभिन्न देशीय धर्मप्रवर्त्तकों के चरित्र में क्रुशबद्ध हो या कितने ही प्रकार से अपमानित हो अथवा विपक्षदल द्वारा विष प्रयुक्त हो, उन सब महानुभावों को अपमान करने वालों के अपराध के लिये भगवान के आगे जो क्षमा-प्रार्थना का दृष्टान्त दिखाई देता है, उसमें उन सब महात्माओं में महत्व, तितिक्षा प्रभृति नैतिक और लौकिक धर्म का श्रेष्ठ आदर्श होने पर भी उसमें, जीव के प्रति अमन्दोदया दया दिखाई नहीं देती। कहीं कहीं महानुभावता के नाम से छिपी हुई प्रतिष्ठा की आकांक्षा वञ्चित जीवों को छल लेती है। कोई महानुभाव धर्मप्रवर्त्तक शायद अपने प्रति भीषण अपराधियों के लिये भगवान् से क्षमा-प्रार्थना कर अपराधियों के उस समय के किये पापों के फल भोग से छुटकारा दिला सकते हैं, किन्तु उन अपराधियों के पाप बीज और अविद्या को पूरी तरह से ध्वंस न होने से वे फिर उसी पाप में लग जाते हैं। नित्यानन्द की पाप बीज के मूल अविद्या का विध्वंस करने वाली और कृष्णप्रेम-प्रदान-करने वाली अमन्दोदया दया इस प्रकार लौकिक या नैतिक दया के श्रेष्ठ निदर्शन की तरह सङ्कीर्ण और केवल उसी समय की दया नहीं। जिनके पदनख में समग्र विष्णुतत्त्व आबद्ध है, उन नित्यानन्द प्रभु के अंश का अंश जो कला, कला का अंश विकला, उसका भी अंश, जो कि एक साधारण शक्त्यावेश अवतार हैं उनमें भी ऐसे लौकिक और नैतिक दया के सैकड़ों श्रेष्ठ उदाहरण दिखाई देते हैं।

कोई कोई अज्ञजज्ञान से मतवाले मनुष्य जगाई-मधाई और श्रीमन्नित्यानन्द के प्रसङ्ग को सुनकर नित्यानन्द प्रभु की ईश्वरता पर सन्देह कर कहते हैं,—“यदि नित्यानन्द प्रभु भगवान् थे और यदि उनकी देह अप्राकृत थी, तो मधाई की लाठी से उनकी देह से खून क्यों निकला ?” अप्राकृत भगवान् के लीलातत्त्व को न समझने वाले मनुष्यों में ऐसा मूर्खता-भरा प्रलाप का होना कोई विचित्र बात नहीं।

(क्रमशः)

ढाका में 'सत्‌शिक्षा-प्रदर्शनी' का उद्‌घाटन

पूर्व वङ्गवासी तथा विविध चेतन-जगत् का सौभाग्योदय करने के लिये श्रीविश्ववैष्णवराज-सभा के पात्रराज ॐविष्णुपाद की श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद ने गत ६ठी जनवरी १६३३ शुक्रवार के दिन सन्ध्या के बाद ढाके के पुरानी पल्टन के परेड में अभूतपूर्व और अदृष्टपूर्व 'भागवत-प्रदर्शनी' का उद्‌घाटन किया। इस उपलक्ष पर सुबृहत् प्रदर्शनी के प्राङ्गण में बीचो-बीच गोल आकार में एक सभामण्डप रचा गया और वह तरह तरह के रङ्ग, वस्त्र और दीप-मालाओं से सुशोभित किया गया था। सभा-मण्डप के पूर्व ओर पूज्यपाद सभापति के लिये एक सुरम्य मञ्च, उसके एक ओर भक्तगण, दूसरी ओर निमन्त्रित महिलाओं के बैठने का स्थान और सामने का स्थान निमन्त्रित सभ्यगण के लिये रखा गया था। तीसरे पहर से ही ढाका शहर के निमन्त्रित व्यक्ति सभा में उपस्थित होने लगे। विदेश से भी कितने ही निमन्त्रित सज्जन इस उत्सव में योगदान करने को आये थे। ढाका शहर के कितने ही सम्भ्रान्त और शिक्षित व्यक्ति इस उत्सव में उपस्थित हुए थे। ढाका विश्वविद्यालय के वाइसचान्सलर मिस्टर लाङ्गली और अन्यान्य अध्यापक और पण्डितगण, ढाका म्युनिसिपलिटी के चेयरमैन, वाइस-चेयरमैन प्रभृति, स्कूल के प्रधान शिक्षकगण, डिप्टी मैजिस्ट्रेट तथा अन्य विचारकगण, स्थानीय बड़े आदमी तथा जमींदार भी इस समारोह में सम्मिलित थे। विस्तृत सभा-मण्डप विद्वन्मण्डली द्वारा मण्डित था और ऊँची वेदी पर आचार्यवर्य सभापति प्रभुपाद के द्वारा समलङ्कृत हो अपूर्व शोभा को प्राप्त हुआ था। सच-मुच ही यह भागवत-सत्य प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा था, कि अहैतुक अमन्दोदया-दया के अवतार गौर-जन जीव के मङ्गल के लिये ही दीन चित्त गृहस्थों की कुटी में आते हैं, नहीं तो ढाका नगरी में पर-दुःख से दुःखी महामहावदान्य गौरजन का ऐसा अयाचित शुभ-यात्रा क्यों होता? प्रदर्शनी उद्‌घाटन के बहाने ढाका के घटाटोप को अर्थात् घटाटोप में छिपे चेतन-जगत् पर पड़े परदे को उठा देने के लिये ही सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र गौरजन का इस प्रदेश पर शुभागमन है।

गगनभेदी उच्चस्वर से श्रीगुरुगौराङ्ग की जयध्वनि हुई। श्रीप्रभुपाद के सभा मण्डप में पहुँचते ही सभ्यगण प्रभुपाद की अभ्यर्थना के लिये खड़े हो गये। श्रीप्रभुपाद के वेदी पर आसन ग्रहण करने के उपरान्त, त्रिदण्डीस्वामी श्रीमद्भक्ति प्रदीप तीर्थ महाराज ने प्रभुपाद के गले में पुष्प-माला प्रदान किया। श्रीधाम-मायापुर के श्रीचैतन्य-मठ के अन्यतम ट्रष्टी पण्डित-प्रवर श्रीमन् अनन्त वासुदेव पराविद्या-भूषण प्रभु ने उद्बोधन-सङ्गीत के रूप में, "शुद्ध-भक्त-चरण-रेणु भजन के अनुकूल" गाकर सुनाया। इसके बाद श्रीविश्ववैष्णव-राजसभा के सम्पादक वर्ग की ओर से त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्तिहृदय वन महाराज ने एक छोटी सुन्दर वक्तृता देते हुए यह वर्णन किया, कि अन्यान्य संसारी प्रदर्शनियों के साथ श्रीप्रभु-पाद द्वारा कृपापूर्वक उद्‌घाटित होनेवाली पार-मार्थिक प्रदर्शनी का पार्थक्य और अभिनवत्व कैसा है; वक्तृता में ही आपने निमन्त्रित सभ्यगण की सम्वर्द्धना की। इसके बाद परमहंस परि-व्राजकाचार्यवर्य अष्टोत्तरशतश्री ॐविष्णुपाद श्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद ने "प्रदर्शक का अभिभाषण" प्रदान किया। आचार्य ही प्रदर्शक हैं, श्रीगुरुपाद-पद्म ही दिव्यज्ञान या भागवती शिक्षा के प्रदर्शक हैं। अप्राकृत विषय में एक बहुत बड़ा व्यापार यह है, कि यहाँ सेवोन्मुख कान ही दर्शन के उपयोगी प्रथम और प्रधान चक्षु हैं। आचार्य के श्रीमुख से निकली श्रीचैतन्यवाणी जब तक कान में प्रविष्ट हो, जन्म जन्मान्तरों की अभिज्ञता, बद्ध संस्कार, धारणा, प्रत्यक्षादि के "आँखों की किरकिरी" को दूर नहीं कर देता,

तब तक भूलोक में गोलोक की विचित्रता का दर्शन हो नहीं सकता। इसलिये आचार्य ही एक मात्र प्रदर्शक हैं। अप्राकृत वस्तु पहले कान से सुनी जाती है सुनने के बाद दर्शन द्वारा देखी जाती है; इसलिये ऐसे "प्रदर्शक के अभिभाषण" का बहुत प्रयोजन है। प्रदर्शक की चेतनवाणी को परिचालक या नियामक न बनाने से सत्शिक्षा-प्रदर्शनी की चीजें दिखाई नहीं देंगी,—सिर्फ इन्द्रियों का भोगमय आवरण ही दिखाई देगा अर्थात प्रदर्शनी के देखने का जो उद्दिष्ट और लाभजनक फल है, उससे वञ्चित रह जाना पड़ेगा।

अभिभाषण करने के बाद श्रीप्रभुपाद ने प्रदर्शनी में परमार्थ प्रदर्शनी की पताका उड़ाई। इसके बाद प्रदर्शनी के लिये जिन सब महानुभावों ने हर तरह से सहानुभूति और आनुकूल्य दिखाया था, उनका नाम ले ले कर, त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्तिहृदय-वन महाराज ने धन्यवाद प्रदान किया। ढाका जिले के माननीय मैजिस्ट्रेट मिस्टर री. सी. ब्लन्स, सबडिविजनल अफसर मिस्टर एस. एन. चटर्जी, ढाके के पुलिस सुपरिन्टेण्डेण्ट मिस्टर मैनक प्रभृति भारत-सरकार के विभिन्न प्रतिनिधिगण स्थानीय पुरानी पलटन की परेड से बहुत लम्बी-चौड़ी जमीन सामयिक भाव से व्यवहार में लाने की आज्ञा और जनता को नियमित बनाने की सहायता के लिये प्रदान कर धन्यवादार्ह हुए हैं। ढाका म्यूनिसिपलिटी के चेयरमैन रायबहादुर प्यारीलालदास एम. ए, बी. एल महाशय ने प्रदर्शनी के लिये स्टल (दुकान) और जनसाधारण के व्यवहारार्थ पानीकल का म्यूनिसिपल टैक्स आदि छोड़ देने की वजह प्रदर्शनी के कर्मियों के धन्यवादार्थ हुए हैं। ढाके के प्रसिद्ध ज़मींदार और बैङ्कर श्रीयुक्त रमानाथदास महाशय भी प्रदर्शनी के काम में सहानुभूति प्रकाश कर धन्यवाद के पात्र हुए हैं। ढाका म्यूनिसिपलटी के चीफ़ इञ्जीनियर सज्जनवर श्रीयुक्त अश्विनीकुमार दास महाशयने प्रदर्शनी में पीने के पानी की व्यवस्था में सहायता दे प्रदर्शनी के लिये और भी हर तरह से सहायता प्रदान की है। इसके लिये वे श्रीविश्ववैष्णवराज-सभा के धन्यवाद-भाजन हुए हैं। ढाका जगन्नाथ-इण्टरमीडियट कालेज के प्रिन्सिपल राय सत्येन्द्रनाथ भद्र एम. ए. महाशय ने और अध्यापक श्रीयुक्त हरिदास साहा एम. ए. प्रभृति भद्र-पुरुषों ने भी प्रदर्शनी के लिये हर तरह से सहानुभूति दिखाया है। ढाका के पब्लिक-वर्क्स डिपार्टमेण्ट के एकाउण्टेण्ट श्रीयुक्त हरितोषदत्त महाशय ने प्रदर्शनी के लिये हर तरह से सहायता दी है। पालघर-निवासी कण्ट्राक्टर श्रीयुक्त राधावल्लभदास महाशय ने प्रदर्शनी के चारों ओर के बेड़े और स्टल के बनाने में विशेष सहायता दी थी और स्वयं उन सब कामों की देख-रेख किया था। ढाके के प्रसिद्ध कण्ट्राक्टर मिस्टर के. बी. दे महाशय ने प्रदर्शनी के स्टल के लिये करगेटेड टीन आदि प्रदान कर सहायता दी थी और इन्होंने अन्तिम शय्या पर लेटे हुए भी इस पारमार्थिक प्रदर्शनी के लिये यथासाध्य द्रव्यादि देने में अकातरता दिखाया था। ढाके के कण्ट्राक्टर सज्जनवर शचीन्द्र कुमार घोष, ढाके के इनकम टैक्स अफसर श्रीयुक्त कृष्णचन्द्र गोस्वामी और श्रीयुक्त मुनीशचन्द्र पाठक प्रभृति सज्जनगण पारमार्थिक प्रदर्शनी की सेवा में सहायता दे श्रीविश्ववैष्णवराज सभा के धन्यवादार्ह हुए हैं। श्रीयुक्त गोपालचन्द्र चक्रवर्त्ती (नारायणगञ्ज), श्रीयुक्त शचीन्द्रमोहन शील (नारायणगञ्ज) श्रीयुक्त काला चाँद, श्रीयुक्त राजेन्द्रकुमारदास (अमृत वस्त्रालय, पटुआटोला, ढाका), श्रीयुक्त भूपतिमुकुट घोष प्रभृति सज्जनगण ने भी हर तरह से सहायता दी थी। परमभागवत श्रीयुक्त जितेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय भक्त्याश्रम ने दिनरात परिश्रम कर प्रदर्शनी की सेवा की है। ढाका नवकुमार स्कूल के ड्राइङ्ग शिक्षक श्रीयुक्त सतीशचन्द्र चक्रवर्त्ती और कला-विद्या-निपुण श्रीयुक्त माधवचन्द्र मजूमदार 'मथुरा' के एक रिलीफ मानचित्र बनाया है, ढाका जुबली-स्कूल के शिक्षक श्रीयुक्त योगेशचन्द्र सेन बी. ए. और ढाका कलेजियट स्कूल के शिक्षक श्रीयुक्त सुकुमारदत्त बी. ए. महाशय, ढाका स्पोर्ट एसोसियेशन के ज्वाइण्ट सेक्रेटरी ने पुराने पलटन की परेड को प्रदर्शनी के लिये

व्यवहार में लाने की अनुमति दे, श्रीविश्ववैष्णव-राजसभा के धन्यवादार्ह हुए हैं।

ढाका मनोमोहन प्रेस के स्वत्वाधिकारी श्रीयुक्त विराजमोहन दे भक्तिभूषण और ढाका यूनियन प्रेस के स्वत्वाधिकारी श्रीयुक्त दीनेशचन्द्र दे, दोनों भाई छापेखाने में प्रदर्शनी की समस्त पुस्तकों की छपाई में सहायता देते हुए हर तरह से प्रदर्शनी की सेवा कर श्रीविश्ववैष्णवराज सभा के धन्यवाद के पात्र हुए हैं।

पण्डित-प्रवर श्रीमुक्त अनन्त वासुदेव परविद्याभूषण बी, ए, महोदय द्वारा 'हरिनाम महामन्त्र' का कीर्तन करने पर श्रीप्रभुपाद ने यह घोषणा की, कि "सत्शिक्षा-प्रदर्शनी" का उद्घाटन हुआ। उपस्थित सभ्यगण श्रीप्रभुपाद के साथ-साथ प्रदर्शनी की हरएक वस्तु को देखने लगे श्रीप्रभुपाद ने प्रदर्शनी की प्रत्येक वस्तु के विषय का वर्णन किया। ढाका विश्वविद्यालय के वाइस चेन्सलर मिस्टर जी, एच, लाङ्गली डाक्टर रमेशचन्द्र मजूमदार एम, ए, पी. एच, डी; अध्यापक श्रीयुक्त उपेन्द्रचन्द्रदास गुप्त एम. ए, (प्रोक्टर ढाका यूनिवर्सिटी); ढाका विश्वविद्यालय के संस्कृत-साहित्य के अध्यापक श्रीयुक्त राधागोविन्द वसाक एम, ए, ढाका के चेयरमैन रायबहादुर प्यारीलाल दास एम-ए, बी एल; ढाका जुबली स्कूल के प्रधान शिक्षक श्रीयुक्त विनोदविहारी वन्द्योपाध्याय एम, ए आदि अनेक सम्भ्रान्त व्यक्तियों ने श्रीप्रभुपाद का अनुगमन करते हुए उन सब वस्तुओं के विषय में आदि से अन्त तक सब सुनते रहे। सब ने एक वाक्य से कहा है, कि यह प्रदर्शनी सचमुच में अभिनव है और मानव जगत् को परमाशिक्षा देने का श्रेष्ठ कौशल है। इस प्रणाली से बिलकुल ही अविमिश्रित परमार्थ-शिक्षा का अभिनव कौशल अब तक जगत् में दिखाई नहीं दिया। श्रीनरोत्तम ठाकुर महाशय, श्रीनिवासाचार्य और श्रीश्यामानन्द प्रभु के आविर्भाव के समय और कीर्तन द्वारा सर्वसाधारण में हरिकथा के प्रचार की प्रणाली काम में लाई गई थी, वैसे ही वर्त्तमान वैज्ञानिक युग में, इस प्रकार की प्रदर्शनी द्वारा भगवत्-सम्बन्धी परम सत्य विषय के प्रचार की अपूर्व और अभिनव प्रणाली अद्वितीय और अव्यर्थ है। श्रीप्रभुपाद का यह दान वर्त्तमान युग के चिन्तास्रोत में महायुगान्तर उपस्थित कर, नीच से लेकर साधारण लोगों के परम सत्य के सुनने की राह को सरल और सुगम बना देगा। एकमात्र कृष्ण-गौरशक्ति बिना जीव जगत् को कृष्ण-कथा के कहने-सुनने में लगा लेने की ऐसी एक नई प्रणाली और लोग बना नहीं सकते। महावदान्य गौरजन ने प्रदर्शनी में परमार्थ-शिक्षाओं की मूर्त्तियों को प्रकट कर प्राकृत मनुष्यों को भी प्राकृतत्त्व के दुःसङ्ग से बचाकर अप्राकृत सत्सङ्ग की शिक्षा-दीक्षा में दीक्षित होने का सुयोग प्रदान किया।

गुरु के घर हरिशरण

(गताङ्क से आगे)

आज कल साधु को पहचानना बहुत कठिन हो पड़ा है। बहुतेरे पाजी कपटाचारी मनुष्य अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये भाँति-भाँति के साधु वेश धारण कर, साधु के स्वरूप में तटस्थ लक्षणों की नकल उतारते हुए साधारण लोगों को धोखा दिया करते हैं। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यासी इत्यादि आश्रमों के चिन्ह द्वारा या शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण इत्यादि वर्णों के चिन्ह द्वारा आजकल साधु का निर्णय किया नहीं जा सकता; क्योंकि यह सब आधुनिक आश्रम या वर्ण, पारमार्थिक गण के शास्त्रानुग सत्य विचार

से विहित नहीं है, यह अपारमार्थिक कलि समाज द्वारा कल्पित और संगठित है।

गृहस्थ और गृहत्यागी साधु के लिये महाप्रभु का जो आदेश है, उसे सुन लेने से तुम लोगों के साधु निर्णय की राह बहुत कुछ सुगम हो जायगी। सप्तग्राम के रहने वाले वैराग्य गृहस्थ रघुनाथ दास गोस्वामी महात्मा को श्रीमन्महाप्रभु ने गृहस्थ साधु के कर्त्तव्य के विषय में उपदेश किया था,—

स्थिर हो के घर जाओ, न बनो बातुल।
क्रम-क्रम से पाते लोग भवसिन्धु-कूल॥
मर्कट वैराग न करो न लोगों को दिखाओ।
यथायोग्य विषय भुक्त अनासक्त होओ॥
अन्तर में निष्ठा, बाहर लोक-व्यवहार।
शीघ्र ही कृष्ण करेंगे तेरा उद्धार॥

फिर उन रघुनाथ गोस्वामी में वैराग्य देख श्रीमन्महाप्रभु ने उन्हें शिक्षा दी थी,—

गाँव की बातें न सुनना, न गाँव की बातें कहना।
अच्छा न तो खाना और न अच्छा पहनना॥
अमानी मानद कृष्ण का नाम सदा लेना।
व्रज में राधाकृष्ण-सेवा मानस से करना॥

"सुतरां दिखाई देता है, कि गृहस्थ या गृहत्यागी दोनों ही साधुओं के लक्षण एक ही अर्थात् कृष्णैकशरणता है।

भक्तिसिन्धु ने कहा,—"प्रभो, यदि किसी में कृष्णैकशरणता दिखाई दे, किन्तु उसके आचार व्यवहार बहुत ही खराब हों, तो उसे साधु कहा जा सकता है या नहीं; कृपा कर इस बारे में कुछ उपदेश दीजिये।"

गुरुदेव ने कहा, "श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीभगवान ने अर्जुन को उपदेश दिया था,—

"अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

अर्थात् बहुत ही दुराचारी मनुष्य भी यदि अनन्यचित्त से मेरा भजन करे, तो वह निश्चय ही साधु है, क्योंकि पूर्व स्वभाव की वजह या घटनावश उसमें बुरे आचरण के होने पर भी वह सब शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं और उसे अवश्य परम शान्ति मिलती है; मेरी यही प्रतिज्ञा है, कि वह कभी नष्ट न होगा।

सुतरां हे भक्तगण, भगवद्भक्ति की राह पर चलते हुए एकान्तिक साधु में दुराचारियों के लक्षण देख कर भी उनकी निन्दा कभी न करना, नहीं तो बहुत बड़ा अपराध कर बैठोगे। श्रीउपदेशामृत में कहा है,—

दृष्टैः स्वभावजनितैर्वपुषश्च दोषै-
र्न प्राकृतत्वमिह भक्तजनस्य पश्येत्।
गङ्गाम्भसां न खलु बुद्बुदफेनपङ्कै-
र्ब्रह्मद्रवत्वमपगच्छति नीरधर्मैः॥

अर्थात्, जैसे नीरधर्म-प्राप्त गङ्गाजल बुल्ले, फेन और कीच से गँदला होने पर भी ब्रह्मद्रव के धर्म से अलग हो नहीं सकता, वैसे ही एकान्तिक भक्त साधुगण, प्राकृत शरीर के खराब लक्षण, कु-बनावट और बुढ़ापे आदि के कारण बदसूरत तथा स्वभावगत नीचता, कर्कशता और आलस्य आदि दोषों से युक्त होने पर भी असाधु के नाम से निन्दित हो नहीं सकता। सुतरां सावधान, इन सब लक्षणों का अवलम्बन कर साधुनिन्दारूपी भीषण अपराध में न पड़ना।

बुरे सङ्ग से साधु की अवज्ञा और साधु-निन्दा की उत्पत्ति होती है; तथा साधन-भजन नष्ट हो जाते हैं। श्रीचैतन्यचरितामृत में कोमल-चित्त साधकों की रक्षा के उद्देश्य से श्रीकविराज गोस्वामी ने उपदेश किया है,—

बुरा सङ्ग त्यागो यही वैष्णव आचार।
स्त्रीसङ्गी एक असाधु, कृष्ण भक्त और॥

अर्थात् भजन में उन्नति पाने के लिये साधु लोग अवश्य बुरे सङ्ग का त्याग कर दें। बुरी सङ्गत दो तरह की है: (१) स्त्री सङ्गी का सङ्ग और (२) कृष्ण के अभक्त का सङ्ग।

(१) स्त्री सङ्गी दो प्रकार के हैं,—

(क) जो परस्त्री के सङ्गी हैं।

(ख) जो गृहस्थ होकर अपनी स्त्री में रत हैं। किन्तु अपनी स्त्री के साथ दाम्पत्यधर्म से रह-

कर कृष्ण सेवा के अनुकूल गृहस्थी चलाने से शास्त्र उसे खराब नहीं कहता। ऐसे पुण्यमय आश्रम में किसी तरह भी असुविधा की आशङ्का नहीं।

(२) कृष्ण के अभक्त तीन प्रकार के हैं,—

(क) मायावादी,—जो भगवान् के नित्य-स्वरूप को नहीं मानते, कृष्णादि की मूर्ति को माया निर्मित समझते हैं और जीव को भी माया निर्मित तत्त्व समझते हैं।

(ख) धर्मध्वजी,—जिनके हृदय में भक्ति या वैराग्य नहीं, केवल काम निकालने के लिये शठता के साथ धर्म की ध्वजा किया करते हैं।

(ग) निरीश्वर,—जो नास्तिक हैं, जिन्हें ईश्वर का विश्वास ही नहीं है।

इन सब अभक्तों और पूर्वोक्त दो प्रकार के स्त्री-संगियों से साधु-अवज्ञा और साधु-निन्दा की उत्पत्ति होती है और इससे भजन साधन एकदम नष्ट हो जाता है। सुतरां जैसे बने, इनका साथ छोड़ देना चाहिये। इस पर यदि कोई कहे, कि यह भी साधु ही हैं, इनका संग त्याग करने से साधु-निन्दा होगी, तब उसके संग को भी बिना विलम्ब किये छोड़ देना चाहिये।

नाम का आश्रय करने वाले भक्त ही श्रेष्ठ साधु हैं, इस विषय में श्रीभगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन को उपदेश दिया था,—

> तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
> कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
> योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
> श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

अर्थात् तपस्या, ज्ञान, कर्म, योगकाण्डादि परित्याग कर जो भगवद्भक्ति का आश्रय लेकर श्रीभगवान् का भजन करते हैं, वे ही सच्चे और श्रेष्ठ साधु हैं। भगवद्भजन करनेवाले ये साधुगण चौंसठ प्रकार के भक्त्यङ्गों में सबसे श्रेष्ठ अंग श्रीनामका प्रधान आश्रय लेकर अन्यान्य भक्त्यङ्ग के साथ श्रीभगवान् का भजन किया करते हैं। ऐसे साधु कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम के भेद से तीन प्रकार के हैं। श्रीमद्भागवत में इन तीन प्रकार के साधु के लक्षण के विषय में कहा गया है,—

(१) कनिष्ठ साधु के लक्षण,—

> अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
> न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥

अर्थात् जो लौकिक या पारिवारिक प्रथा के अनुसार परम्परा से चली आई हुई श्रद्धा के साथ पूजी जानेवाली मूर्त्ति में भगवान् की पूजा करते हैं, फिर भी शास्त्र के अनुशीलन से शुद्ध भक्ति के तत्त्व को न जानने की वजह, हरि भक्तों की पूजा नहीं करते, वे कनिष्ठ साधु हैं, अर्थात् उन्होंने अभी भक्तिपथ का आरम्भमात्र किया है। ऐसे कनिष्ठ साधुगण श्रीनामाभास के अधिकारी हैं।

(२) मध्यम साधु के लक्षण,—

> ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
> प्रेममैत्री-कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥

अर्थात् जो ईश्वर में प्रेम, भक्त से मैत्री, अनजान पर कृपा और विद्वेषियों से उपेक्षा करते हैं, वे मध्यम भक्त या साधु हैं। ये मध्यम साधुगण श्रीनाम और श्रीनाम-भजन में अपराधादि पर विचार करने के अधिकारी हैं।

(३) उत्तम साधु के लक्षण,—

> सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
> भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥

अर्थात्—जो सर्वजीवों में आत्मा के आत्मा भगवान् श्रीकृष्ण को समस्तजीवों में देखते हैं, वे उत्तम भक्त या साधु हैं। इनसे कभी नामापराध होही नहीं सकता। सदा केवल शुद्ध नाम का कीर्त्तन करते हैं।

साधारण बात यह है, कि जिनमें जहाँ तक कृष्णैकशरणता आ गई है और श्रीभगवन्नाम की रुचि उत्पन्न हो गई है, उनमें उतनी ही साधुता आ गई है।

कृष्णैकगतप्राण साधु लोग कैसे कृष्ण का नाम लें, इसके सम्बन्ध में कलियुग के पावन अवतार श्रीगौरसुन्दर ने अपने शिक्षाष्टक में शिक्षा दी है,—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥

अर्थात्, अपने को तृण जैसा हीन समझ कर, वृक्ष की तरह सहन-शील होके, अपने को मानशून्य समझ, दूसरे को सम्मान देते हुए सदा हरि का नाम लेना चाहिये। इससे भी ज्ञात पड़ता है, कि अपने को तृण से भी हीन समझना, वृक्ष की तरह सहन-शील होना और स्वयं मान न चाहते हुए दूसरे को सम्मानित करना तथा पूर्वोक्त रूप से सदा कृष्ण-नाम लेना सब से उत्तम साधु के लक्षण हैं।

जिन साधुओं में ऐसे गुण हैं, वे ही उत्तम साधु हैं। वे ही जगत् के मित्र हैं और सब जीवों पर कृपा करनेवाले हैं। ऐसे साधुओं की निन्दा करनेवाले के लिये अनन्त काल तक रौरव नरक अवश्यम्भावी है; निन्दाकारी शास्त्रज्ञ, पण्डित ही क्यों न हो, यदि पतितपावन श्रीभगवन्नाम की कुछ श्रद्धा होगी, तो वह श्रीनाम का आश्रय लेनेवाले श्रेष्ठ साधुओं की निन्दा कभी न कर सकेगा। इससे जान पड़ता है, कि ऐसे नारकी के रौरव से उद्धार पाने की जो कुछ चेष्टा है नहीं, उलटे वे लोग जन्म जन्मान्तर से भोगते हुए रौरव से महारौरव की ओर चले जा रहे हैं। श्रीनाम ऐसे साधुओं की निन्दा कभी नहीं सहता। श्रीभगवच्चरण में अपराध करने से श्रीनाम के शरणापन्न होना चाहिये; श्रीनाम-कृपा के बल से अपराधी अपराध से छुटकारा पा सकते हैं, किन्तु साधु-निन्दा नामक महापराध के अपराधियों को स्वयं भगवान् और उनके श्रीनाम भी कभी क्षमा नहीं करते। जब तक वे अपराधी अनुताप करते करते निन्दा किये गये साधुओं के श्रीचरण में क्षमा प्राप्त नहीं करेंगे, तब तक उनके मुँह से मुँह जन्मजन्मान्तर के रौरव और महारौरव की यन्त्रणा दूर नहीं होगी।

साधुओं की देह में श्रीकृष्ण की शक्ति विराजित है। उनकी ही कृपा से श्रीमद्भगवद्भक्ति मिलती है, और किसी उपाय से वह मिल नहीं सकती। श्रीचैतन्यचरितामृत में उपदेश दिया गया,—

भक्तपदरेणु और भक्तपदजल ।
भक्तभुक्त-शेष तीन साधन के बल ॥

अर्थात्, साधु के महाकल्याणकर पदरेणु, पद-जल और भुक्तावशेष द्वारा ही पतित जीवगण उद्धार पाकर श्रीमद्भगवद्भक्ति पाने में समर्थ होते हैं। किन्तु जो साधु की निन्दा करते हुए साधुगण से दूर अवस्थान करते हैं, वे इन तीन प्रकार के मङ्गलजनक द्रव्य कहाँ पा सकते हैं?

भक्तों में एक ने प्रश्न किया,—"प्रभो, यदि कोई भ्रम-प्रमादवश साधुनिन्दा कर बैठे, तो उसका उद्धार कैसे हो सकता है?"

गुरुदेव ने कहा,—"वत्स, ऐसा होने पर भी जब निन्दाकारी पछतावे की आग से जलकर, जिस साधु का अपराध हुआ है, उनके श्रीचरण-युगल को पकड़ रोते-रोते क्षमा प्रार्थना करें, तब सदा दयार्द्र हृदय साधु अवश्य कृपाकर उसे अपराध से मुक्त करेंगे। इसके अतिरिक्त साधु-निन्दारूपी महा अप-राध से छुटकारा पाने का और कोई उपाय नहीं है।

वत्सगण, तुम लोग साधुनिन्दा नामक भयानक अपराध से सदा सावधान रहना और अपने अपने अधिकार के अनुसार भजन-पथ में अग्रसर होने की चेष्टा करना। तुम लोगों ने आज अधिक परिश्रम किया है, रात भी बहुत हो गई, अब प्रसाद का सेवन कर सब लोग जाके आराम करो। आगामी कल बाकी अपराधों के विषय में कहने की चेष्टा करूँगा।"

इसके बाद भक्त लोग बड़े उत्साह से हरि-ध्वनि कर मृदंग और करताल बजाते हुए कीर्तन करने लगे,—

(हरि) हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः ।
यादवाय माधवाय केशवाय नमः ॥
गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन ।
राधा - गोविन्द बोलो, (४ बार) ॥
गोविन्द गोविन्द गोविन्द बोलो ।
राधा - गोविन्द बोलो, (४ बार) ॥
गुरुकृपा - जल बुझाओ विषय - अनल ।
राधा - गोविन्द बोलो, (४ बार) ॥
कृष्ण को सौंपो देह - गेहादि सकल ।
राधा - गोविन्द बोलो, (४ बार) ॥
अनन्य भावों से चित्त करके सरल ।
राधा - गोविन्द बोलो, (४ बार) ॥

रूपानुग वैष्णवों का पियो पदजल।
राधा-गोविन्द बोलो, (४ बार)॥
दश अपराध तजो भुक्ति-मुक्ति-फल।
राधा-गोविन्द बोलो, (४ बार)॥

सखी के चरणरेणु करके सम्बल।
राधा-गोविन्द बोलो, (४ बार)॥
स्वरूप में ब्रजवास में होओ शीतल।
राधा-गोविन्द बोलो, (४ बार)॥

प्रचार-प्रसंग

श्री विश्ववैष्णवराज सभा के सभ्यगणों की ऐकान्तिक चेष्टा से युक्तप्रान्त के नगरों और प्रधान-प्रधान स्थानों में श्रीचैतन्य महाप्रभु के विमल प्रेम-धर्म की कथा का प्रचार हो रहा है। श्रीगौड़ीय मठ के प्रचारकगण ने काशी, प्रयाग, लखनऊ, मिर्जापुर, जौनपुर, कानपुर, सीता-पुर, मिश्रीक, बरेली, रायबरेली, अल्मोड़ा, रानी-खेत, नैनीताल, हरिद्वार, देहरादून, मेरठ, बिजनौर, मुजफ्फरनगर, आगरा, मथुरा, दिल्ली, वृन्दावन, अलीगढ़, बुलन्दशहर, खुरजा और पञ्जाब प्रदेश के अम्बाला, कुरुक्षेत्र, करनाल, अमृतसर प्रभृति स्थानों में श्रीचैतन्य-वाणी का प्रचार किया है। कितने ही पुण्यशील व्यक्ति भगवान् चैतन्यचन्द्र की दया का वैशिष्ट्य सुनकर श्रीचैतन्य के चरण में आकृष्ट हुए हैं और कितने व्यक्ति श्रीचैतन्य-वाणी के प्रचार के लिये आन्तरिक सहानुभूति प्रकट करते और हर तरह की सहायता करते हैं। इनमें निम्नलिखित महानुभावों का नाम उल्लेखनीय है,—

१—इलाहाबाद-निवासी बाबू गणेशचन्द्रदेव। आपने स्थानीय रूप-गौड़ीय मठ की जमीन देकर और वहाँ कई कमरे बनवाकर श्रीचैतन्यदेव के भक्तों के श्रद्धाभाजन हुए हैं।

२—बिजनौर-निवासी राय साहब द्वारकाप्रसाद रईस। आप हरिद्वार के मठ के लिये प्रायः बीस हजार रुपये की जमीन दानकर धन्यवाद के पात्र हुए हैं।

३—नई दिल्ली के प्रवासी राय साहब तारापद राय; सुपरिन्टेण्डेण्ट गवर्नमेण्ट होम-डिपार्टमेण्ट। आपने हरिद्वार के मठ के लिये ग्यारह सौ रुपये देकर विश्ववैष्णवराज-सभा के सभ्यगण के प्रशंसा-भाजन हुए हैं।

४—लाला रामनारायण-रामभरोसेलाल जमींदार, बरेली।

५—रायबहादुर जगमल राजा, इलाहाबाद।

६—आनरेबल नवाब साहब, छतारी; होम-मेम्बर यू० पी० गवर्नमेण्ट।

७—रायबहादुर मदनगोपाल सर्दाना, सुपरिन्टेण्डिङ्ग इञ्जीनियर, बरेली।

८—ठाकुर साहब टीकमसिंह महाशय, कोतवाल, बिजनौर।

९—ठाकुर साहब नरसिंह महाशय, जमींदार, करौला।

१०—ठाकुर साहब महेश्वरबक्शसिंह, जमींदार, पडुताल।

११—कर्नेल द्वारकाप्रसाद गोडल इन्स्पेक्टर जेनरल अव सिविल हास्पिटल्स, पञ्जाब।

१२—आनरेबल रायबहादुर लाला जगदीशप्रसाद, मुजफ्फरनगर।

ये सब सम्भ्रान्त शिक्षित महानुभावगण हर तरह की सहायता देकर श्रीगौड़ीय मठ के कृतज्ञता-भाजन हुये हैं। इलाहाबाद के श्रीरूप-गौड़ीय मठ के वक्तृता-भवन की नींव रखने के समय महामान्य गवर्नर बहादुर के सामने त्रिदण्डिस्वामी श्रीभक्तिहृदय वन महाराज उपरोक्त महानुभावगण की सेवा के विषय को प्रगट कर धन्यवाद प्रदान कर चुके हैं।

आत्मीय कौन है ?

माता के गर्भ से हम कई बार जन्म ले चुके हैं। कई सहस्र जन्म ले चुके हैं, इस संसार में कई सहस्र बार मृत्यु के कराल कवल में पड़ चुके हैं। वृक्ष लता, कीट-पतंग, पशु-पक्षी इत्यादि असंख्य योनि में भटकने के बाद हमारा जन्म मनुष्य कुल में हुआ। यह न समझना चाहिये, कि इस मनुष्य-जीवन में ही माता-पिता मिलते हैं; हमारा पहले का, पशु-पक्षी-जीवन भी शुक्र और शोणित से ही हुआ था।

चार लाख मनुष्य जन्म में बहुतेरे सुख-दुःखों के भीतर यदि हम कुछ विचार करते हैं, तो अन्ततः इस सत्य को प्रत्यक्ष कर लेते हैं, कि जिन्हें हम आत्मीय समझते हैं, उनमें कोई भी अपना नहीं। पृथिवी में आकर जब हम आशारूपी पाल को तान कर सुख के मन्द मधुर अनुकूल वायु में, इस संसार-समुद्र में अपनी नाव को तैरा देते हैं, तब इस बात का ख्याल भी नहीं होता कि कुछ ही देर में दुःख का प्रबल तूफान आयेगा और हमारी नाव को न जाने किस अनजान देश की ओर बहा ले जायगा। सुख-दुःख के ऐसे घात प्रतिघात से थककर ही हम अपने माता-पिता के पास शान्ति की आशा से जाते हैं।

माता पिता समझते हैं, कि कन्या-पुत्र हमारे बड़े ही स्नेहपात्र हैं; सन्तान के लिये जनक-जननी ही परम आत्मीय हैं; स्त्री समझती है, कि पति ही उनका जीवन-सर्वस्व है; उधर पति अपनी पत्नी को शान्ति का निदान समझे बैठे हैं। किन्तु यह सब जो बाहरी प्रीति है, उसका मूल कारण एकमात्र स्वार्थ है। सांसारिक प्रत्येक कार्यकलाप में स्वार्थ घुसा हुआ है, बाहर से मधुरता है और भीतर से विष। बुढ़ापे में सुख भोगने के लिये ही सन्तान के प्रति माता-पिता का स्नेह होता है—उनको यही आशा लगी रहती है, कि लड़के बड़े होने पर रुपये की सहायता से वृद्ध माता-पिता के भोग का ठिकाना कर देंगे; बचपन में लालन-पालन की वजह यौवन में कनक कामिनी के भोग की सुविधा देखकर ही सन्तान उनकी भक्ति करते हैं और उन्हें नकली प्रेम दिखाते हैं; क्योंकि उनका मन तो सदा स्त्री-चिन्तन में लगा रहता है। इस प्रकार इस जगत् में हर एक के साथ हर एक की आत्मीयता बनी हुई है, लेकिन सब स्वार्थ के कारण। यदि ये लोग स्वार्थी न होते, भोग-प्रिय न होते, भगवत् विमुख न होते, हमारे सच्चे आत्मीय होते, तो ये हमें नित्य-मंगल प्रदान करते, इतना भी बन न पड़ा। क्या वास्तव में ये लोग हमें नित्यानन्द दे सके हैं? नहीं, ये दे नहीं सके—दे भी नहीं सकते। यह जो हम जन्म जन्म से माता के गर्भ से उत्पन्न हो, कभी सुख से, कभी दुःख से भोग-लालसा की तृप्ति करते हुए मृत्यु के भीषण दाँतों से कुचले जाते हैं; यह जो जन्म-जन्मान्तर से हमारे आगे मौजूद रहता है, कि 'अभी है, अभी नहीं,'—क्या इनके हाथ से छुटकारा पाने में हमारे माता-पिता, बहन-भाई, आत्मीय-स्वजन समर्थ हुए हैं? यदि होनेवाली मृत्यु के निश्चित आक्रमण से रक्षा करने में वे असमर्थ हैं, यदि हमें कृष्ण की नित्य सेवा का अधिकारी बना देने की सामर्थ्य उनमें नहीं है, तो चाहे वे गुरु हों या देवता ही हों, पिता हों या माता हों, पति हों या स्वजन हों, हमारा उनका जरा भी सम्बन्ध नहीं। क्योंकि स्वरूपतः हम कृष्ण के दास हैं, और दास का एकमात्र कार्य है प्रभु की सेवा करना। जब भोग के लोभी जीव अपने इस कर्त्तव्य को पूरी तरह से भूलकर मुग्ध हो पड़ते हैं, त्रिगुणमयी माया के अगाध ऐश्वर्य के मद से मतवाले हो पड़ते हैं, श्रीभगवान् के सुन्दरचरणों को आँसुओं से धोकर पिशाची माया की कनक-कामिनी रूपी दो पैरों को चाटते हैं, तब मृत्यु उन पर आक्रमण करती है; उससे यदि कोई रक्षा न कर सके, तो वे हमारे गुरु, देवता, माता-पिता, आत्मीय-स्वजन कैसे? वे गुरु, हमारे गुरु नहीं हैं; वे पिता, पिता नहीं हैं;

वह माता, माता नहीं है; वे पति, पति नहीं है; वे स्वजन, स्वजन नहीं हैं; क्योंकि वे हमारा नित्य-मंगल कर नहीं सकते और स्वार्थ-साधन में लगे रहते हैं। श्रीमद्भागवत् में कहा है,—

गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात् ॥
दैवं न तत् स्यान्न पतिश्च स स्यात्
न मोचयेद् यः समुपेत-मृत्युम् ॥

जब इस विषय को हम अच्छी तरह समझते हैं, तब स्वभावतः भोग-विलास और अपने परायों पर हमारे हृदय में कुछ विरक्ति का भाव उत्पन्न होता है और तुरन्त लक्ष्य होता है, कि इस संसार की ओर से अश्रद्धा और सत्य पर श्रद्धा का होना ही हमारे लिये नित्य प्रयोजनीय है।

प्रयोजन क्या है?—इसकी खोज करने से हम सहज ही समझ जाते हैं, वह मनुष्य-जन्म का मूल क्या है, बहुतेरे वर्षों में जान या अनजान में होने वाली सुकृति के बल से हमारा यह दुर्लभ मानव-जीवन है—दुर्लभ इसलिये है, कि मनुष्य-जन्म के अतिरिक्त और किसी जन्म में हमारी प्रयोजनीय वस्तु मिल नहीं सकती। श्रीमद्भागवत में कहा है;—

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव—
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥

इसलिये हम, यदि बुद्धिमान् हों, तो हमारा कर्त्तव्य होगा, कि हम एक क्षण की भी विलम्ब न कर अभी से आरम्भ कर, इस अनित्य देह का पतन होने से पहले के एक क्षण तक कृष्णसेवा में अपने को नियुक्त कर दें; क्योंकि हमारा प्रयोजन कृष्ण-प्रीति ही है।

हमें अपने नित्य प्रयोजन के समझने से पहले यह समझना चाहिये, कि हमारा स्वरूप क्या है। इसके बारे में श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है,

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे-
र्गोपीभर्त्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः ॥

अतएव हमारा स्वरूपतः एकमात्र प्रयोजन यही है, कि हम गोपी-वल्लभ श्रीकृष्ण के दासानुदास हैं और दासाधिकार से उन त्रिगुणातीत षडैश्वर्य-पूर्ण श्रीभगवान् की नित्यकाल सेवा करें। सेवा करने के लिये, हमें उन परम-पुरुष सच्चिदानन्द श्रीविग्रह की सेवा चित्स्वरूप में करना चाहिये; क्योंकि अचिद्-अवस्था में अर्थात् मायामुग्ध-अवस्था में चित् की सेवा असम्भव है। यह जानने के लिये, कि हम उन पूर्ण-ब्रह्म श्रीकृष्ण के अणुचित् के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, और किस पथ से चलने पर हम कृष्ण की नित्यसेवा के अधिकारी हो सकते हैं, हमें कायमनोवाक्य से सद्‌गुरु के पादपद्म में आत्म समर्पण करना चाहिये।

अब यह प्रश्न होता है, कि सद्‌गुरु कौन है? आज कल के बाजार में 'गुरु' शब्द की बढ़ती दिखाई देती है। माता पिता आदि गुरुजनों के अतिरिक्त 'गुरु' उन्हें ही कहते हैं, जो हमारे कान में जरासा 'फू' कर देते हैं और हर साल अपना 'सालाना' वसूल करने के लिये आ जाया करते हैं; ऐसे ही लोग आज कल गुरु के नाम से विख्यात हैं। किन्तु वास्तव में वे ही गुरु हैं, जो मन्त्र देकर हमें मनोधर्म से (जो कि भले-बुरे का विचारमात्र है) बचाते हैं, वे ही 'दीक्षागुरु' हैं, जो दिव्य ज्ञान देते हैं। जिनमें गुरुत्व है, वे ही गुरु हैं। किन्तु आज कल के अवैदज्ञ 'गुरुगरी' का रोजगार करने-वाले पुरोहित और गोस्वाइयों में लघुता ही अधिक है। धर्मदान करके उसके बदले मिले हुए रुपयों को अपने स्त्री-पुत्र के भोग के लिये जो खर्च करता है, वह शास्त्रानुसार नरकगामी है—उसका मुँह देखने से भी पाप होता है। अस्तु, 'गुरु न होने' के विषय में अब कुछ और आलोचना न करना ही उचित है। क्योंकि आलोचना करने से ऐसे-ऐसे 'गुरुओंको' दुःखी होना पड़ेगा; इसमें कोई सन्देह नहीं। तब क्या हम सद्‌गुरु पा न सकेंगे? मिलेंगे, जब हम सत्य को जानने के लिये व्याकुल होंगे, जब हम कृष्ण-सेवा के लिये अस्थिर होंगे; भक्ति की ज्योति

के लिये जब हम भोग के अन्धकार में छटपटायेंगे, तब हमलोग ऐसे मनुष्य की शरण में पहुँच जायेंगे, जो अपने नित्यज्ञान से मिली हुई राह पर हमें चलाते-चलाते नित्यधाम में पहुँचा देने में समर्थ हैं। ऐसे ही मनुष्य सद्गुरु कहलाते हैं। जब इस प्रकार हृदय कृष्णसेवा के उपाय ढूँढ़ने लगेगा, सबके लिये श्रीमद्भागवत में कहा है,

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥

ऐसे गुरु को प्राप्त करना चाहिये, जो वेदज्ञ, वेदानिष्ठ और ब्रह्मनिष्ठ हों। जो वेदनिष्ठ नहीं हैं, वे हमारे हृदय के समस्त सन्देहों को दूर नहीं कर सकते; जिसने भगवान् को नहीं पाया, उसमें यह सामर्थ्य नहीं कि वह हमें ज्योतिर्मय राह में ले जाये। अन्धा अन्धे को ले चले तो दोनों के कुएँ में गिरने की सम्भावना है। अतएव जिन्होंने स्वयं दिव्यज्ञान प्राप्त कर लिया है, वे ही दिव्यज्ञान देने में समर्थ हैं। इसलिये भगवान के नित्य पार्षद हुए बिना, कोई सद्गुरु हो नहीं सकता। यदि ऐसा हो, तो साफ यही समझना चाहिये, कि 'गुरु' रक्तमांसविशिष्ट हमारे जैसे कोई नश्वर मनुष्य नहीं हैं, वे चिद्राज में अधिष्ठान करते हैं और उनकी देह भी चिन्मय देह है—उस देह के लिये जन्म मृत्यु नहीं—वह देह सदा कृष्ण में अर्पित रही और नित्य कृष्ण में अर्पित रहेगी। अतएव जो पहले प्रेमनिष्ठ नहीं थे, बाद को सद्गुरु का आश्रय पाकर साधन-पथ से वैकुण्ठ में प्रवेशाधिकार पा चुके हैं, वे यद्यपि ब्रह्मनिष्ठ हैं, तथापि उन्हें नित्य सिद्ध कहा नहीं जा सकता; वे साधक ही कहे जायेंगे। शिष्य शिष्य सदा ही रहेंगे; जो गुरु हैं, वे एक दिन दो दिन से नहीं, एक जन्म दो जन्म से नहीं अनन्त काल से वे गुरु ही हैं और गुरु ही रहेंगे। गुरु जब हमारे जैसे अधर्मियों के उद्धार के लिये अवतीर्ण होते हैं, तब गुरु अपनी बनाई हुई नई-नई राहें नहीं दिखाते, बल्कि गुरु परम्परा से जिस पथ की बात सुनते वे गुरु-परम्परा के अनुसार वही कहेंगे। सुतरां दिखाई देता है, कि 'गुरु' शब्द बहुत मामूली नहीं है। हम यदि अपरा-विद्या की बुद्धि से पराविद्या को समझने चलें, अर्थात् यदि बुद्धावस्था में यदि मुक्तावस्था की बातें सोचने की कोशिश करें, तो अवश्य बड़े झगड़े में पड़ जायेंगे।

बिहार-उड़ीसा के गवर्नर और श्रीगौड़ीय मठ

(निज संवाद-दाता का तार)

पटना, अदालतगञ्ज—१७-१-३३

कलकत्ता, मद्रास, इलाहाबाद आदि स्थानों के श्रीगौड़ीय मठ के समूह के साथ सम्पर्कित श्रीविश्व-वैष्णवराज-सभा के अन्यतम सम्पादक पण्डित प्रवर श्रीपाद अतुलचन्द्र बन्द्योपाध्याय भक्तिशास्त्री भक्तिसारङ्ग महोदय ने बिहार और उड़ीसा प्रदेश के माननीय गवर्नर महोदय के पास पटना गवर्नमेण्ट हाउस में श्रीचैतन्यदेव के उदार प्रेम धर्म की वाणी का कीर्त्तन किया। पण्डितजी के लाट-भवन में उपस्थित होते ही माननीय गवर्नर महोदय ने उनके लिये सादर अभ्यर्थना प्रकट की और उन्हें यथायोग्य सम्मान दिया। पण्डितजी के श्रीमुख से श्रीगौराङ्गसुन्दर के औदार्य लीलामृत को कर्णकुहर से पान कर गवर्नर महोदय इतने सन्तुष्ट हुए हैं, जिसकी सीमा नहीं। आपने सहानुभूति के साथ अपनी यह इच्छा प्रकट की है, कि चैतन्यराज्य का यह उपदेशामृत सर्वसाधारण में प्रचारित हो।

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्द्वान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जाननगर, बर्द्वान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ; बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ; कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ; बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
अगस्त्यकुण्ड, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना-शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीश्यामगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० ४३ हनुमान रोड, न्यू देहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपुरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाज़ार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुलो चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्द्वान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकोंदा चीरकुण्डा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरोलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

(३१) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ
कव्वुर, वैष्ट गोदावरी, मद्रास

(३२) ग्वालपाड़ा प्रपन्नाश्रम, आसाम

(३३) त्रिदण्डी-गौड़ीय मठ भुवनेश्वर, पुरी

(३४) श्रीसारस्वत-गौड़ीय मठ हरिद्वार

Registered No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)
२—श्रीशिक्षादशकमूलम्—सटीक ।)
३—श्रीमध्वग्रन्थगारांशवर्णनम ≡)
४—श्रीसिद्धान्तसरस्वतीदिग्विजयः ॥)
५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचयः -)
६—श्रीतत्त्वसूत्रम ।)

संस्कृत बँगला अक्षरों में

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)
२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत-भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)
३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत खंडों में प्रकाशित प्रति खंड १)
५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द २)
६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्रीरूपगोस्वामी प्रभु-कृत उपदेशामृतसहित ।≡)
७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बँगला अनुवाद सहित ॥)
८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित १)
९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
१०—सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी-कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)
एकादश स्कंध से प्रति खंड ।≡)
१२—युक्तिमल्लिका गुणसौरभ वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

वंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित ≡)
१४—नवद्वीपशतक बँगला अनुवाद -)
१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत =)
१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती-कृत =)
१७—नवद्वीपभावतरंग ।)
१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)
१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद कृत २)
२०—सगीतमंजरी ।)
२१—शरणागति -)
२२—कल्याणकल्पतरु -)॥
२३—गीतावली -)
२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)
२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत ॥≡)
२७—जैव धर्म २)
२८—साधककंठमाला ।)
२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ५)
३०—महाप्रभु की शिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ५)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

24th Feb. 1933

गोविन्द
वृन्दावन,
गौराब्द
४४७

फाल्गुन
अमावास्या
संवत
१९८९

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥



क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा ।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा ॥

ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्तसरस्वती
गोस्वामी महाराज

प्रति संख्या -) } सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन { वार्षिक सडाक १॥)

Editor: Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है ।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १।) है ।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये । जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे ।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन छपाई की दर नीचे लिखी है:—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम	८)
आधा ,, १ ,,	५)
चौथाई ,, ३ ,,	३)
२ इंच ,, ४ ,,	१॥)
१ ,, ,, ८ ,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये—

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

सेठ रामयश रोड, नरही, लखनऊ.

All communications are to be addressed to -

The Manager 'Bhagwat'

Seth Ramjas Road,

Narhe,

LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

श्री परमहंस मठ, नैमिषारण्य

वर्ष [illegible] (फाल्गुन अमावास्या, गौराब्द ४४७, सं० १९८९ वि०, २४ फरवरी सन १९३३ ई०) संख्या १

सूचना

आगामी २ री मार्च बृहस्पतिवार से नौ दिन तक नवद्वीप के नौ द्वीपों में श्रीधाम परिक्रमा होगी। आप लोगों के कृपा कर परिक्रमा में योगदान करने से परमानन्द का विषय होगा। परिक्रमा का विवरण धारावाहिक रूप में नीचे प्रकाशित किया जाता है।

(१) अन्तर्द्वीप—(श्रीचैतन्य-मठ, श्रीगौर-जन्म-भीटा, श्रीवास और श्रीधर के दोनों आँगन, चाँद काजी की समाधि और श्रीअद्वैत-भवन)
२ री मार्च, बृहस्पतिवार को।

(२) सीमन्तद्वीप (सिमुलिया, सरडाङ्गा, शोणडाङ्गा, मेघा का चर, बेलपुकुर)—३ री मार्च शुक्रवार को।

(३) गोद्रुमद्वीप—(गादीगाछा, महेशगञ्ज, सुवर्ण विहार, स्वरूपगञ्ज, हरिहर क्षेत्र देपाड़ा) ४ थी मार्च, शनिवार को।

(४) मध्यद्वीप (मजीदा, हाटडाङ्गा, आनन्द वास, वामनपुरा)—५ वीं मार्च रविवार को।

(५) कोलद्वीप—(नवद्वीप शहर, गदखाली का कोल और चर, तेघरी का कोल, कोल अमाद, कोल का गञ्ज, कोल का दह)—६ ठी मार्च, सोमवार को।

(६) ऋतुद्वीप—(राहुतपुर, चम्पाहट्ट या चाँपा हाटी में श्रीगौरगदाधर का श्रीमन्दिर)—७ वीं मार्च, मंगलवार को।

(७) जह्नुद्वीप—(विद्यानगर, जान्नगर)—८ वीं मार्च, बुधवार को।

(८) मोदद्रुमद्वीप—(मामगाछी, अर्कटीला या एकडाला मातापुर)—९ वीं मार्च, बृहस्पतिवार को।

(९) रुद्रद्वीप (रुद्रपाड़ा, शङ्करपुर, इन्द्राकपुर, गञ्जका डाङ्गा)—१० वीं मार्च, शुक्रवार को।

११ वीं मार्च, शनिवार से तीन दिन तक श्रीधाम-मायापुर योगपीठ में श्रीगौराङ्ग-जन्मोत्सव होगा।

(सम्पादक)

श्रीश्रीगुरुगौरांगौ जयतः

ॐ विष्णुपाद

परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य्य अष्टोत्तरशतश्री-

श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज के

ऊनषष्टितम आविर्भाव-वासर में

विज्ञप्ति-कुसुमांजलि

मुहुः स्तौमि [illegible] पदं [illegible]

[illegible]

आज हमलोग [illegible] प्रकट करने के लिये जो सुयोग [illegible] हमलोगों के सामने उपस्थित हुई है, [illegible] इसलिये [illegible] हम प्रणामाञ्जलि प्रदान करते हैं। [illegible] हमारे हृदय में नित्य [illegible] श्रीगुरुदेव [illegible] की [illegible]-लीला की याद करा के हमारी [illegible] इन्द्रियों को [illegible] के लिये [illegible] कर देती है।

[illegible], आज जिस सौभाग्य को प्रदान करने के लिये आपके अभय पादपद्म हमारे सामने उपस्थित हुए हैं, वह केवल आज के लिये ही नहीं, [illegible] आपने कृपाकर अपने ललाम चरणों में हमारे मस्तकों को आकृष्ट किया है, तभी से हमारे लिये [illegible] वर्तमान है। आपकी चरण-पूजा के अतिरिक्त हमलोगों के लिये और कौन कर्तव्य हो सकता है? तथापि आज की विशेषता यह है कि [illegible] हमलोगों ने आपकी कृपा [illegible] आज उसी के स्मरण का दिन है।

हमलोगों की बाहर की ओर दौड़नेवाली इन्द्रियों को आप [illegible] अपनी जगत्-उद्धार-लीला की सहायता के लिये यत्नपूर्वक नियुक्त किया है सही, फिर भी [illegible] चिर-अभ्यस्त स्वभाव को त्याग नहीं सकती हैं। आप हमलोगों की दुर्दशा को देखकर बहुत दुःख करते हैं, कितने उपदेश देते हैं और कितने कौशलों का [illegible] कृष्णोन्मुख करने का यत्न करते हैं, किन्तु "सुनते हैं भी सुनें न कान, जाने हू नहिं आन प्रान, नहीं ठहरता गुरु को निश्चय।"

हमलोगों की आँखों को तृप्त करने के लिये मायिक रूप के दर्शन में आसक्त होने की वजह आप हमलोगों को अलौकिक पारमार्थिक प्रदर्शनी को दिखाकर आँखों को तृप्त करने के साथ ही साथ कृष्णपादपद्म के दर्शन की आकांक्षा को बढ़ा देते हैं। सुमधुर सङ्गीत के श्रवण से हम अपने कानों को तृप्त करने की लालसा रखते हैं, इसलिये आप हमलोगों की कर्ण-कुहर में कर्ण-रसायन हरि-कथा सुधा की वर्षा करके जड़ सङ्गीत के सुनने की प्यास को बुझा देते हैं। जिह्वा के चर्व्य, चोष्य, लेह्य और पेय इन चार प्रकार के रस के ग्रहण करने से, जीभ का चटोरापन बढ़ाकर हमें संसार के समुद्र में निमज्जित कर देती है, इसलिये आप हमें [illegible] महाप्रसाद प्रदान कर जिह्वा की तृप्ति के साथ ही साथ जीभ के चटोरापन को जीत, उसे परमार्थ की राह में लगाते हैं। सदा बहिर्मुख प्रत्येक इन्द्रिय को महाराज अम्बरीष की तरह [illegible] समय सब प्रकार से कृष्णसेवा में नियुक्त करने की कोशिश करके हम लोगों के प्रति [illegible] कृपा का वर्षण करते हैं। उसके बदले हमलोग आपके चरणों में नमस्कार करने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकते हैं?

हे जगत् के मंगल-विधाता, आप प्रह्लाद महाराज का आदर्श दिखाकर,—"प्रायेण देवमुनयः स्वविमुक्तिकामा मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः" इस श्लोक के अनुसार निर्जन भजन को त्यागकर हमारे जैसे 'कृपण' को 'ब्राह्मण' बनाने के लिये श्रीनृसिंह के चरण में सदा विज्ञप्ति करते हैं—

नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥

हे करुणा-वरुणालय आचार्यदेव, आप अनभीप्सु अन्ध हमलोगों को वैराग्ययुक्त भक्तिरस पिलाने के लिये कितनी ही कोशिशें करते हैं, परन्तु हमलोग आपके हितोपदेश में लापरवाही दिखा, आपके

आदर्श-आचरण का अनुसरण करने के बदले बाह्य विषयों की ओर अग्रसर होते जाते हैं, और आप नये नये रूप और नये नये कौशल से हमारी बहिर्मुख-इन्द्रियों को कृष्ण की सेवा में लगाने की कोशिश करते हैं।

विगत साढ़े चार सौ वर्ष पहले जिन अवतार महापुरुष ने प्रेम-सागर से जगत् को प्लावित करते हुए अचैतन्य जगत् को चैतन्य-विधान किया था, काल के प्रभाव से जगत उन चैतन्य प्रभु की करुणा-माधुरी की याद को भूल जाने पर, आप उच्च-गम्भीर निनाद से चैतन्यचरण की महिमा का कीर्तन करके प्रत्येक जीव के हृदय में और चैतन्यपादाङ्कित स्थानों में चैतन्य-चरण प्रतिष्ठित करने के लिये यत्नवान हो रहे हैं और सब प्रकार की दया से चैतन्यचन्द्र की अमन्दोदया-दया की विशेषता, नाना युक्ति, विचार तथा उदाहरण के द्वारा स्थापित कर, सब लोगों को सूचना देते हैं:—

"चैतन्य चन्द्र की दया का करो विचार।
विचार करो तो देखो चित्त-चमत्कार॥"

पतितपावन प्रभुपाद, आप 'पादौ हरेः क्षेत्र पदानुसर्पणे' श्लोक का आदर्श दिखाने के लिये प्रति वर्ष नवद्वीप अर्थात् गौर-धाम 'चैतन्यदेव' की लीला-भूमि की परिक्रमा कराकर अन्त में वृन्दावन क्षेत्र की परिक्रमा करा के प्रति जीव के हृदय में श्रीराधाकृष्ण के पादपद्म को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। इसके द्वारा आप ने पश्चिम के मूढ़, अनाचारी लोगों को साधु-आचरण का दर्शन और शिक्षा का सौभाग्य प्रदान किया है। भाग्यवान पश्चिमीय लोग आपकी इस अहैतुकी कृपा से धन्य हो आपके प्रति कृतज्ञता प्रकाश किया था। राधाकुण्ड, बरसाना, काम्यवन, डीग, गया, गोकुल प्रभृति व्रजमण्डल के अन्तर्गत स्थानों के अधिवासिगण ही इसके प्रमाण हैं। कितने ही सम्भ्रान्त, शिक्षित तथा उच्च पदस्थ व्यक्ति आपके श्रीचरण में आकृष्ट हो, आपकी कृपा लाभकर धन्य हुए। किन्तु वृन्दावन के अधिवास का अभिमान करनेवाले मूढ़ वैष्णव निन्दक नारकी लोगों ने दुर्भाग्य से आपके अलौकिक प्रभाव को देख न सकने की वजह नरक की राह बना ली है।

आपने पश्चिम-प्रदेश के समस्त तीर्थ-क्षेत्रों में तथा चैतन्यचरणाङ्कित स्थानों में चैतन्यमठ के शाखा-मठों की स्थापना कर हमलोगों के लिये श्रीचैतन्य-पादपद्म के गुण-कीर्तन करने की सुविधा प्रदान की है। काशी, प्रयाग, नैमिषारण्य, श्रीवृन्दावन, दिल्ली, कुरुक्षेत्र प्रभृति स्थानों में प्रचार-केन्द्र स्थापित होकर आपके पादपद्म की निर्मल कीर्ति की घोषणा करते हैं और साधु हो सकने वाले बहुतेरे पुण्यात्मा व्यक्ति सेवा का सौभाग्य प्राप्त कर धन्य होते हैं। आपकी कृपा से ... श्रीव्रज के परिक्रमा में सारस्वत गौड़ीय मठ सेतुओं से ... सिद्धान्त वाणी प्रचारिणी सहा ... प्रकाशित ... कर्मवीरों का वास्तविक मङ्गल-साधन ... ।

हे कृष्ण-प्रियतम प्रभुवर, आप कृष्ण का प्रदान कर सकते हैं, इसलिये हमलोग आपके शरणागत हैं। आप हमारे पालक और रक्षक हैं, हमलोग कृष्ण पादपद्म के अपूर्व सौन्दर्य के दर्शन के अभाव से अन्यान्य विषयों में आसक्त हो रहे हैं; आप कृपा-कर हमारे सामने नये-नये रस के आधार श्रीकृष्ण-चन्द्र के अपरूप-रूप का दर्शन दिलाकर इन अशोक अभय-अमृत पादपद्म में आकृष्ट कीजिये, यही हमारी प्रार्थना है। किन्तु हम में ऐसी कोई योग्यता नहीं, जिससे हमलोग परम सौभाग्य का होने की आशा कर सकें। सुतरां आज आपके विश्वास-गान को गाकर ही आपके चरण कमलों में भिक्षा माँग रहे हैं:—

गुरुदेव,
कृपाबिन्दु दै करिय दास कौ तृन हूँ ते अति हीन।
सकल सहन कौ बल दै लीजै सकल गर्व छीन॥
नाथ, यथायथ ये बल दीजै करूँ सकल सम्मान।
तब सुख सों गावौं हरिनामहि करि पापन्ह परित्राण॥
कबहिं कृपा को लहि यह सेवक कितारथ हो नाथ।
शक्ति-बल हीन दीन मैं अति ही लीजै अपने साथ॥
अति अयोग्य कुछ हो नहिं पायो तुम्हरी दरसादार।
जौ करुणा नहिं होय, रोग नाम न रहहि मैं पार॥

आपके श्रीचरण-कमलों के आश्रित,
युक्तप्रान्तीय भक्तवृन्द

श्रीश्रीनित्यानन्द-प्रभु

(गताङ्क से आगे)

भगवान् की लीला अचिन्त्य है—सेवोन्मुख गम्भीर मनुष्य ही भगवत्-लीला के तात्पर्य भगवत्-कृपा से समझ सकते हैं।

जगाई-मधाई वैकुण्ठ के द्वारपाल जय-विजय थे। उनमें कभी भक्त या भगवान् के प्रति विद्वेषभाव रह नहीं सकता; किन्तु, पहले जैसे भगवान् ने अपनी युद्ध वृत्ति को चरितार्थ करने के लिये सनकादि ऋषि के हृदय में प्रेरणा कर जय विजय को अभिशाप दिलवाकर शत्रु के रूप में उन्हें पृथिवी में अवतीर्ण किया था, उसी प्रकार औदार्यमयी गौर-लीला में जो हतारि-गतिदायक श्रीकृष्ण ने द्वापर युग की लीला में भी नहीं दिया, उन्हें वह सुदुर्लभ प्रेम प्रदान करने के लिये श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु ने मधाई के हृदय में प्रेरणा कर अपने माथे पर ठिकरा चलाने की लीला और उससे रक्तपातादि का अभिनय दिखाकर तथा उससे अपनी और जगाई की प्रीति कराकर उसे गौरसुन्दर का प्रीतिभाजन बनाया था। 'दैववश गिरा रक्त दुःख नहीं पाई,—नित्यानन्द प्रभु के इस वाक्य में ही प्रकृत तथ्य का सङ्केत है। वास्तव में मधाई ने नित्यानन्द प्रभु के शरीर पर आघात नहीं किया या उस आघात ने नित्यानन्द प्रभु के अप्राकृत देह का स्पर्श भी नहीं किया। प्राकृत इन्द्रजाल के देखने से जब किसी मनुष्य के सिर कटने या उससे रक्तपात प्रभृति मिथ्या घटनायें लोगों की आँखों के आगे सत्य की तरह जान पड़ती हैं, तब अघटन-घटना पटीयसी योगमाया चिच्छक्ति का शक्तिमत्तत्त्व भगवान् का लोगों की आँखों के सामने ऐसी घटना को प्रदर्शन करना कोई विचित्र नहीं।

ऐसे सिद्धान्त पर कोई-कोई यह कह सकते हैं, कि यदि रक्तपातादि का व्यापार सत्य नहीं, तो श्रीमन्महाप्रभु ने उसे अपनी आँखों कैसे देखा? व्यासावतार ठाकुर वृन्दावन ने ही उसका वर्णन कैसे किया? श्रीमन्महाप्रभु और श्रीमन्नित्यानन्दप्रभु अलग मूर्ति होने पर भी एक ही वस्तु हैं। इन दोनों को ही दोनों के हृदय के भाव अवगत हैं। सुतरां लोगों की आँखों के सामने एक का आचरण प्रदर्शन और दूसरे का दर्शन—ये दोनों कार्य ही अचिन्त्य हैं।

श्रीकृष्णलीला के व्यास ने जैसा श्रीमद्भागवत में लिखा है, कि मौषललीला मायिकी होने पर भी नित्या है, वैसा ही विचार चैतन्यलीला के व्यास का भी समझना चाहिये।

आचार्यरत्न श्रीचन्द्रशेखर के भवन में श्रीमन्महाप्रभु के कृष्णलीला के नाटक का अभिनय करने पर नित्य सिद्ध गौरभक्तों ने विभिन्न वेष धारण कर आचार्य के आँगन में नृत्य किया था; उस समय श्रीमन्नित्यानन्द-प्रभु ने राधाकृष्ण के मिलन-प्रयासिनी योगमाया बुढ़ी का वेष धारण किया। श्रीमन्नित्यानन्द-प्रभु के स्वयं स्वरूप शक्ति योगमाया का वेष धारण करने पर उन्हें शक्तितत्त्व समझकर किसी-न किसी को भ्रम हो सकता है; किन्तु ठाकुर वृन्दावनदास आदि व्यासावतारगण ने श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु का शक्तिमत्तत्त्व के रूप में निरूपण किया है। जैसे शचीनन्दन श्रीगौरहरि ने स्वयं भगवान् होकर भी अपनी अन्तरङ्गशक्ति श्रीमतीराधिका के भाव को अङ्गीकार कर आचार्य के आँगन में नृत्य किया था, वैसे ही नित्यानन्द प्रभु ने भी रेवती-रमण अभिन्न बलदेव या शक्तिमत्तत्त्व होकर भी चिच्छक्ति का वेश ग्रहण किया था, किन्तु इसीसे उन्हें कभी शक्तितत्त्व कहा नहीं जा सकता।

'नित्यानन्द-चरित' आदि आधुनिक नकली पुस्तकों से कोई-कोई नित्यानन्द के वंश अभिमानी अतात्त्विक मनुष्यों ने जो तत्त्व का विरोध कर नित्यानन्द का वर्णन शक्ति तत्त्व के रूप में किया है, वह नित्यानन्द के चरण में अपराध मात्र है।

इस प्रकार श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु के श्रीधाम नवद्वीप में सपार्षद अपने प्रभु श्रीगौरसुन्दर के साथ नाना क्रीडारङ्ग में कुछ दिन रहने के बाद एक दिन श्रीमन्महाप्रभु ने नित्यानन्द प्रभु के साथ एकान्त में

संन्यास की युक्ति ठहराई। बाद को जब श्रीमन-महाप्रभु संन्यास ग्रहण कर महाप्रेम के आवेश में राढ़ देश में तीन दिन तक भ्रमण करते रहे, तब श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु महाप्रभु को बहाने से अद्वैत आचार्य के घर शान्तिपुर में ले आये और शची माता तथा गौर के विरह से कातर भक्तों को समाचार देकर नदीया से शान्तिपुर में बुला कर उनके विरहदुःख को बहुत कुछ घटा दिया। श्रीमन्महाप्रभु ने अद्वैत आचार्य के घर शान्तिपुर में भक्तों के साथ कीर्तन के आनन्द में कई दिन तक अवस्थान कर नित्यानन्द, जगदानन्द पण्डित, दामोदर और मुकुन्द के साथ आटिसारा ग्राम, वराहनगर, अम्बुलिङ्ग, छत्रभोग, उत्कल में प्रयाग घाट, सुवर्णरेखा जलेश्वर, रेमुना, याजपुर, वैतरणी, दशाश्वमेध घाट, कटक, महानदी, भुवनेश्वर, कमलपुर, अट्ठारह नाला प्रभृति होते हुए श्रीनीलाचल में प्रवेश किया। राह में कमलपुर में आकर श्रीमन्महाप्रभु ने भार्गी नदी में स्नान किया और फिर वे कपोतेश्वर के दर्शन को जाते समय अपने दण्ड को श्रीमन्नित्यानन्द के हाथ दे गये। नित्यानन्दप्रभुने उस दण्ड के तीन टुकड़े कर भार्गी नदी में फेंक दिया। कपोतेश्वर के दर्शन से लौटकर श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु से अपना रक्षित दण्ड माँगा। जब श्रीनित्यानन्द प्रभु ने महाप्रभु को दण्डभङ्ग का हाल सुनाया, तब वे बाहरी दुःख और नित्यानन्द प्रभु पर क्रोधलीला प्रकाश कर उन लोगों को छोड़ अकेले नीलाचल की ओर चले। नित्यानन्द प्रभु की यह दण्डभङ्ग लीला बहुत ही गम्भीर है; इसके सम्बन्ध में श्रीकविराज गोस्वामी प्रभु ने श्रीचरितामृत में लिखा है,—(म० ५ म १४७-१४८)—

दण्ड इन्होंने भङ्ग किया क्यों उनने क्यों तोड़वाया ?
तुड़वाके फिर क्रोध किया यह भी तो दोष कहाया ?
दण्डलीला यह है परम गँभीर।
बूझे सोई भक्ति जिन्हों दोनों पदवीर ॥

श्रीनित्यानन्द प्रभु द्वारा दण्ड के तीन टुकड़े करने का मतलब यह है, कि काय, वाक्य और मन को दण्डित कर उन्हें हरिसेवा में नियुक्त करने के लिये त्रिदण्ड ग्रहण करना ही जीव के लिये उचित है। किन्तु महाभागवत-लीलाभिनयकारी या विष्णुतत्त्व श्रीमन्महा प्रभु को उसका प्रयोजन ही नहीं। कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस—संन्यास की इन चार अवस्थाओं में कुटीचक और बहूदक की अवस्था में दण्ड रखना चाहिये हंस और परमहंस अवस्था में दण्ड परित्याग करने की रीति है; चतुर्दश भुवनपति गौर हरि के लिये संन्यासी का नरक न्यूनाधिकार दिखाने की आवश्यकता नहीं, इसीसे नित्यानन्द ने उसे तोड़कर फेंक दिया। फिर वे श्रीमन्नित्यानन्द के प्रति क्रुद्ध इसलिये हुए, कि इस प्रकार दण्ड परित्याग करने के अयोग्य विधिवाध्य संन्यासियों की योग्यता से पहले वैदिक विधि शिथिल हो जायगी। जगत् के अन्यान्य लोग महत् के आचरण पर ही चलते हैं; इसलिये श्रुति, स्मृति, पुराणादि में कहे हुए भक्ति के अनुकूल वैधमार्ग की अवहेलना कर उसके तात्पर्य को न समझ, जो लोग विशृङ्खल मार्ग को अनुराग की राह या अवधूत का आचार समझते हैं, उनके भटके हुए मन की और असुविधा होगी;—यही श्रीमन्महा प्रभु की क्रोध-प्रदर्शन-लीला है।

नित्यानन्द आदि साथियों से बाहरी क्रोध दिखाकर श्रीमन्महा प्रभु उन्हें परित्याग कर अकेले नीलाचल चले गये और वहाँ श्रीजगन्नाथ-दर्शन से प्रेमाविष्ट हो मूर्छित हो गये; उस समय वासुदेव सार्वभौम उन्हें अचेतन अवस्था में ही अपने घर ले गये। श्रीनित्यानन्द आदि भक्तगण नीलाचल में आकर लोगों के मुख से सुना, कि महाप्रभु सार्वभौम के घर हैं, तब वे लोग सार्वभौम के बहनोई गोपीनाथ आचार्य के साथ सार्वभौम के यहाँ जाकर महाप्रभु से मिले। कुछ दिन महाप्रभु के साथ नीलाचल पर रहकर महाप्रभु की आज्ञा से फिर वे नाम-प्रचार के लिये भक्तों के साथ गौड़देश में आये। गौड़देश आने की राह में श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु सपार्षद पानीहाटी ग्राम में राघवाचार्य के घर आये, वहाँ वासुदेव घोष और माधव घोष के कीर्त्तन में अपूर्व नृत्य आरम्भ करने पर श्रीमन्महाप्रभु नित्यानन्द प्रभु का नृत्य देखने के लिये, सब लोगों के

अलक्षित भाव से, श्रीनीलाचल से राघव के घर आये। इसी राघव-भवन में श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु का अभिषेक हुआ था। श्रीचैतन्यभागवत में कहा है,—

जो कुछ कि है प्रेमभक्ति के विकार।
सबको प्रकट करके नृत्य किया अपार॥
कुछ देर बैठे वे खाट के ऊपर।
आज्ञा हुई अभिषेक अब उनका कर॥
राघव पण्डित आदि पार्षदगण।
अभिषेक करने लगे उस क्षण॥
सहस्र-सहस्र घड़े लाये गङ्गा-जल।
नाना सुगन्ध से सुवासित सकल॥
सन्तोष से सभी दिया श्रीमस्तकों पर।
चारों ओर सभी बोले श्रीहरि श्रीहरि॥
सभी पढ़ें अभिषेक मन्त्र औ गीत।
परानन्द से सभी हुए आनन्दित॥

(चै० भा० अ। ५)

राघव भवन से श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु खड़दह ग्राम में पुरन्दर पण्डित के देवालय में आये और वहाँ से सप्तग्राम में त्रिवेणी के किनारे उद्धारण ठाकुर के घर आ ठाकुर के साथ तमाम वणिक-वंश और आसपास सभी को प्रेमभक्ति वितरण किया। श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु ने उद्धारण ठाकुर और सेवोन्मुख सुवर्ण-वणिक-वंश को अपनी सेवा का अधिकार दे अपने पतितपावन नाम को सार्थक कर दिखाया। पतितपावन श्रीमन्नित्यानन्द ने श्रीउद्धारण ठाकुर के सम्बन्ध में उस समय सेवोन्मुख लोगों को सुवर्ण वणिक वंश से उद्धार कर कृपापूर्वक उन्हें सेवा का अधिकार दिया था, इसीसे आधुनिक विष्णु वैष्णव-अपराधी जातिवादी प्राकृतसहजिया सम्प्रदाय की किसी एक शाखा-विशेष के लोग श्रीमन्नित्यानन्दप्रभु को सुवर्ण वणिक कुल में उत्पन्न मान कर प्रमाण देते और प्रचार करने की चेष्टा करते हैं; यह श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु के चरणों में अपराध का ही परिचय है। वास्तव में नित्यानन्द प्रभु साक्षात् बलदेव और उद्धारण ठाकुर उनके अन्तरङ्ग निज-जन थे। उद्धारण ठाकुर को सुवर्ण-वणिक-सम्प्रदाय के अन्तर्गत समझना या परम विष्णु-तत्त्व नित्यानन्द प्रभु को प्राकृत जीवों की तरह ब्राह्मण या सुवर्ण-वणिक आदि समझना दोनों ही नरक की राह बनाना है।

श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु व्रज के श्रीबलदेव थे; सुतरां उनके सब पार्षद वृन्द सभी व्रज के गोपाल-भावाश्रित सख्य रस के भक्त थे। इनमें द्वादश गोपाल सबसे प्रधान हैं। उनके नाम हैं,—(१) श्रीअभिराम ठाकुर, (२) श्रीउद्धारण ठाकुर, (३) श्रीकमलाकर पिप्पलाई, (४) श्रीकाला-कृष्णदास, (५) श्रीगौरीदास पण्डित, (६) श्री-धनञ्जय पण्डित, (७) श्रीपरमेश्वरदास, (८) श्रीपुरुषोत्तमदास य नागर पुरुषोत्तम, (९) श्री-पुरुषोत्तम पण्डित, (१०) श्रीमहेश पण्डित, (११) श्रीश्रीधर, (१२) श्रीसुन्दरानन्द ठाकुर।

श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु के अनुगमन में ठाकुर वृन्दावन ने अपने को उनके (नित्यानन्द के) सबसे अन्तिम भृत्य के नाम से परिचय दिया है।

श्रीउद्धारण ठाकुर के घर से श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु अद्वैत आचार्य के घर शान्तिपुर में आये और वहाँ से नवद्वीप में जाकर शचीमाता के पास श्रीमन्महाप्रभु की कथा का कीर्त्तन कर उनके दुःख भाव को बहुत कुछ कम किया। नवद्वीप में रहने के समय श्रीनित्यानन्द प्रभु अपने अङ्ग में भाँति भाँति के मूल्यवान अलङ्कार पहनते थे; उस समय दो चोरों ने नित्यानन्द के अङ्ग से अलङ्कारादि अपहरण करने की कोशिश किया; तब श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु ने अपनी कृपाशक्ति के प्रभाव से उन दोनों चोरों के चित्त को पवित्र बनाकर प्रेमभक्ति प्रदान की।

एक दिन नित्यानन्द के अङ्ग पर वस्त्र आदि विविध विलासिता का चिह्न देखकर किसी ब्राह्मण को संशय उत्पन्न हुआ, उन्होंने महाप्रभु से इसके बारे में प्रश्न किया, उसके उत्तर में महाप्रभु ने कहा,—(चै० भा० अ० ७)

सुनो विप्र, यदि महा अधिकार पाय।
तो दोषगुण उसमें कुछ न जन्माय॥
कमल-पत्ते पर जैसे न टिके जल।
वैसे ही नित्यानन्द स्वरूप निर्मल॥

परमार्थ में कृष्णचन्द्र उनके शरीर।
निश्चय जानो विप्र सदा रहते स्थिर॥
अधिकारी बिना करें उनका आचार।
दुःख पाये, वही होये पाप जन्म भार॥
रुद्र बिना और यदि करे विषपान।
सर्वथा वो मरे सर्व पुराण प्रमान॥

इस प्रकार श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु नवद्वीप में कई दिन अवस्थान कर शचीमाता से विदा हो महाप्रभु के दर्शनार्थ फिर सपार्षद नीलाचल में गये। गौड़देश में सर्वत्र नाम प्रेम का प्रचार करने के लिये श्रीमन्महाप्रभु ने नित्यानन्द प्रभु को फिर गौड़देश में भेज दिया। गौड़देश में रहने के समय सर्व शक्ति के अधीश्वर श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु ने सालिग्राम के निवासी सूर्यदास सरखेल की वसुधा और जाह्नवी नाम की दो कन्याओं को अङ्गीकार किया। नित्यानन्द के अप्राकृतत्त्व में अविश्वासी तुच्छ स्वार्थ के लिये नित्यानन्द को एक प्रकार का नया प्राकृत सहजिया सम्प्रदाय कहता है, कि व्यवसायी आचार्य अभिमानी और प्राकृत सहजिया के विस्तार के लिये महाप्रभु ने श्रीनित्यानन्द प्रभु को विवाह करके वंश बढ़ाने की आज्ञा दी थी। किन्तु ऐसी बातें किसी प्रामाणिक ग्रन्थ में लिखी नहीं है और इस बात की सार्थकता भी कहीं दिखाई नहीं देती। क्योंकि इतिहास इस बात का स्पष्ट प्रमाणित करता है, कि अनिरुद्ध विष्णु वीरभद्र प्रभु के शुक्रवंश से कोई है ही नहीं।

नित्यानन्द की सन्तान के नाम से परिचय देने से ही यदि उन्हें गुरु के योग्य आसन प्रदान करना हो, तो मत्स्य, कूर्म और वराहदेव जगत् में आविर्भूत हो प्रकट-लीला के बाद बहुतेरी सन्तान छोड़ गये हैं; किंवदन्ती है, कि लव-कुश से उदयपुर के राजा का वंश है, पृथिवी के गर्भ से कृष्ण-सन्तान नरकासुर उत्पन्न हुआ था,—यह सभी विष्णु के सन्तान हैं, तब क्यों न उन्हें ही गुरुजनोचित सम्मान दिया जाय? 'श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु का वंश' कहने से उनके अनुगत गण को ही समझना चाहिये।

श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु श्रीकृष्ण के वैभव-प्रकाश-विग्रह श्रीबलदेव हैं। श्रीबलदेव से वैकुण्ठ में श्रीनित्यानन्द प्रभुरूपी-सङ्कर्षण विराजित हैं। सङ्कर्षण के इशारा से ही तीनों अंशावतार की लीलाएँ प्रकटित हुई हैं; इस त्रिविध विष्णु तत्त्व में बहुलता के होने पर जीव प्राकृत भोगमूलक बुद्धि से मुक्त होता है। किन्तु संन्यास के बाद नित्यानन्दप्रभु की गृहस्थ-लीला का अभिनय देख जिन्हें अपनी भोग परायणा प्रवृत्ति को बढ़ाने का सुयोग मिल जाता है, वे सब प्राकृत सहजिया लोग नित्यानन्द प्रभु को एकमात्र भोक्ता के रूप में न पहचान सकने की वजह, उनके चरणों में अपराधी होने के बदले नरक की कैद में पड़ जाते हैं। जीव के कल्याण के लिये श्रीमन्महाप्रभु के द्वितीय स्वरूप श्रीस्वरूपगोस्वामी प्रभु ने कड़चा (Note) में श्रीनित्यानन्द के तत्त्व को श्लोक के आकार में लिख रखा है।

एक दिन श्रीनित्यानन्द प्रभु ने स्वप्न में श्रीजीव गोस्वामीप्रभु को दर्शन दिया। श्रीजीव गोस्वामी श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु के पादपद्म के दर्शन के लिये अत्यन्त व्याकुल हो पड़े। तब उन्होंने पढ़ने के बहाने नवद्वीप में आकर श्रीनित्यानन्द प्रभु के चरण का दर्शन किया। श्रीनित्यानन्द प्रभु ने श्रीजीव के प्रति कृपाकर उन्हें श्रीधाम नवद्वीप के नवों द्वीपों की परिक्रमा और गौरलीला के स्थान दिखाये। इसके बाद श्रीवृन्दावन और श्रीनवद्वीप के तत्त्व का उपदेश कर श्रीजीवगोस्वामी प्रभु को उन्होंने श्रीधाम वृन्दावन में भेज दिया।

श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु शक्तिमत्तत्त्व हैं, शक्तितत्त्व नहीं। वे समस्त शक्ति के प्रभु होनेपर भी श्रीकृष्ण की ह्लादिनीशक्ति के साथ सम्मिलित शक्तिमान के सन्धान प्रदर्शक अनुगत सेवक हैं। शक्तिमत्तत्त्व श्रीनित्यानन्द प्रभु शक्ति से भिन्न नहीं हैं, इसलिये मधुर रसाश्रित भक्तगण उन्हें वृषभानु-नन्दिनी की छोटी बहन श्रीअनङ्गमञ्जरी के रूप में देखते हैं। वे स्वयं विषयजातीय विग्रह अर्थात् सेव्य विष्णु होकर भी विष्णु के आश्रयजातीय अर्थात् सेवक की लीला प्रकट करते हैं; इसलिये वे जगद्गुरु हैं। आश्रयविग्रह श्रीगुरुदेव श्रीनित्यानन्द प्रभु के प्रकाश अर्थात् गुरुदेव नित्यानन्द से अभिन्न

होने पर या विषयजातीय आश्रयविग्रह नहीं हैं। जो गुरुदेव को नित्यानन्द मानना नहीं चाहते, वे "आचार्य्यं मां विजानीयात्"—भागवत के इस श्लोक के अनुसार गुरु को मरणशील मनुष्य समझ गुरुअवज्ञाकारी नामापराधी होते हैं। जगद्गुरु श्रीनित्यानन्द और उनके वैभव प्रकाश वैष्णवगुरु के पदाश्रय में नित्य कल्याण होता है। श्रीकविराज गोस्वामी ने कहा है

जय-जय नित्यानन्द नित्यानन्द राम।
जिनकी कृपा से मिले वृन्दावन धाम॥
जय-जय नित्यानन्द जय कृपामय।
जिनसे मिला रूप सनातन का आश्रय॥

× × ×

जय-जय नित्यानन्द चरणारविन्द।
जिनसे मिले हैं श्रीराधागोविन्द॥

(चै० च० आ ५ । २००, २०१, २०४)

नित्यानन्द की कृपा ही जीवको जड़ानन्द से मुक्त कर अप्राकृत तद्रूप वैभव का प्रदर्शन कराती है—

संसार से हो पार जो भक्ति के सागर।
डूबेगा सो भजे नित निताई चंद्र॥

(चै० भा०)

जगद्गुरु नित्यानन्द की कृपा से वञ्चित होने से ही, जो शास्त्र में लिखा नहीं जिसे गोस्वामीगण भी नहीं जानते, ऐसे सब असत्-मत—असत्य में सत्य का भ्रम उत्पन्न करता है। इसीसे श्रीठाकुर महाशय ने गाया है,—

निताई पद कमल, कोटिचन्द्र - सुशीतल,
जिसकी छाया जगत् जुड़ाय॥
उन निताई बिना भाई, राधाकृष्ण कोई न पाई,
दृढ़ करि धरो निताई पाय॥
से सम्बन्ध नहीं जिसका, वृथा जन्म गया उसका,
सोई पशु बड़ा दुराचार॥
निताई न कहे मुख से, डूबा हो संसार सुख से,
विद्याकुल क्या करे कार॥
अहंकार में मत्त होके, निताई पद याद खोके,
असत्य को सत्य करि मान॥
निताई की कृपा पाओ, व्रज-राधाकृष्ण पाओ,
करो निताई चरण ध्यान॥
निताई के चरण सत्य, उनके सेवक नित्य,
निताई पद सदा करो आस॥
नरोत्तम बने दुखी, निताईजी करो सुखी,
रखो रसिक-चरण के पास॥

गुरु के घर हरिशरण

चौथा दिन

आज भी प्रसाद-सेवन करने के उपरान्त श्रीगुरुदेव के साथ हरिशरण और भक्तिसिन्धु आदि भक्तगण मृदङ्ग और करताल के साथ श्रीहरिनाम महामन्त्र का कीर्त्तन करते हुए सुवर्णविहार की ओर चले। राह में कितने ही लोग इनके साथ शामिल हो लिये। सुवर्णविहार में पहुँच खूब नृत्य-कीर्त्तन करने के उपरान्त सब लोग विश्राम के लिये बैठे; तब गुरुदेव कहने लगे,—

"भक्तगण, इस ग्राम का नाम सुवर्णविहार है। सत्ययुग में यहाँ सुवर्णसेन नामक एक बड़े राजा थे। सुवर्ण अर्थात् धन पर ही उनका ध्यान लगा रहता था। अपना सारा जीवन उन्होंने धन बढ़ाने की चिन्ता में ही खो दिया। वे बुढ़ापे में भी चिन्ता को छोड़कर श्रीभगवान की याद में मन लगा न सके। एक दिन राजा पर बड़ी कृपा कर देवर्षि नारद उनके महल में आये। राजा ने भी बड़े आदर से उनका सम्मान और सेवा की। उनके सम्मान से देवर्षि बहुत ही प्रसन्न हुए और उनकी मङ्गल-कामना से एक दिन उन्हें एकान्त में ले गये। वहाँ उन्होंने उन्हें बड़े ही यत्न के साथ हृदय को खींचकर देह-गृह-धन-जन आदि जगत् के हरेक पदार्थों की अनित्यता, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष आदि चारों वर्ग की हेयता और श्रीमद्भगवद्भजन होने की उपादेयता

और सर्वश्रेष्ठत्व को अच्छी तरह समझाकर कहा,—"महाराज आप बड़े भाग्यवान् हैं, क्योंकि आप श्रीनवद्वीप धाम में निवास करते हैं। मेरे जीवन-सर्वस्व परमेश्वर स्वयं भगवान् वंशीधारी श्रीहरि कलि में यहाँ अपनी गौराङ्गलीला प्रकट करेंगे। वह लीला बहुत ही अद्भुत और विचित्र होगी।"

इतना कहके देवर्षि नारद वीणा के ऊपर हृदय और कान के लिये रसायन-स्वरूप श्रीगौर के गुण की गाथा गाने लगे; जिसके सुनने से महाराज में भावान्तर उपस्थित होने लगा। वे देह-गृह-धन आदि जगत् के सब पदार्थों को अनित्य और हेय तथा हरिभजन में नित्यता और चरमोत्कर्षता को समझ गये। देवर्षि के चले जाने पर महाराज स्वयं चित्त लगाकर श्रीगौराङ्ग के भजन में प्रवृत्त हुए। एक दिन निद्रा में उन्होंने स्वप्न देखा, कि सपार्षद श्रीगौरहरि उनके आँगन में "हरे कृष्ण" नाम ले लेकर बहुत ही सुमधुर कीर्त्तन कर रहे हैं। एकाएक नींद खुल जाने पर, अभीष्ट-देव-सम्बन्धीय स्वप्न के हट जाने से, महाराज उदास हो बैठ रहे; उस समय देववाणी हुई—महाराज, कलि में गौराङ्ग-लीला प्रकट होने पर आप 'बुद्धिमन्त खाँ' नाम से प्रसिद्ध हो श्रीगौराङ्ग की सेवा प्राप्त करेंगे।

यह दैववाणी सुनकर महाराज बहुत आह्लादित हुए और उन्होंने अपना बाकी जीवन श्रीगौरहरि के भजन में बिताया।

श्रीगौर के भाव को जगाने वाली यह नवीन कहानी सुन, सब लोग श्रीहरिध्वनि करके कीर्त्तन करने लगे। कुछ देर नृत्य और उच्चकीर्त्तन करने पर सब लोग देवपल्लीग्राम में आये। सब लोग वहाँ के नृसिंह-मन्दिर में जा श्रीनृसिंहदेव को दण्डवत-प्रणाम कर बैठ गये। श्रीगुरुदेव ने कहा,—

"भक्तगण, ये नृसिंहदेव सत्ययुग से यहाँ वर्त्तमान हैं। हिरण्यकशिपु का विनाश करके उन्होंने भक्तराज प्रह्लाद की रक्षा करते हुए इसी जगह विश्राम किया था; इसी से इस ग्राम का नाम नृसिंहक्षेत्र है। ब्रह्मादि देवगण ने यहाँ आकर जगह-जगह अपने रहने का स्थान बनना इसे गाँव को बसाया था, इसीसे इस गाँव का दूसरा नाम देवपल्ली है।

हर देवता ने मन्दाकिनी के तट पर एक-एक टीला बनवा कर श्रीनृसिंह की उपासना में रत हुए थे। यहाँ से पश्चिम उस स्थान पर सूर्य-टीला था और उधर, गणेश-टीला आदि कितने ही टीले थे। अब उन सब स्थानों का कोई चिह्न नहीं है।

इस स्थान पर ब्रह्मा ने देवता के लिये पत्थर के मकानों की बस्ती बनाई थी। समय से सब का लोप हो गया। मन्दाकिनी भी सूख गई। अब सिर्फ कई टीले रह गये हैं और असंख्य शिला-खण्ड, जिनसे विश्वकर्मा ने देवताओं की बस्ती बनाई थी, वह सब, वह देखो—पड़े हुए हैं। थोड़े ही दिन हुए, श्रीनृसिंहदेव की कृपा से, किसी भक्तवर ने बड़ा मन्दिर बनवा कर फिर से श्रीनृसिंहदेव की सेवा जारी कर दी है। सोलह कोस परिमित महामहिमान्वित श्रीनवद्वीपधाम की पूर्व सीमा में यह ग्राम अवस्थित है।"

इसके बाद नृसिंह देव को फिर से दण्डवत् प्रणाम कर सब लोग वहाँ से रवाना हो श्रीगोद्रुम द्वीप की ओर धीरे-धीरे चलने लगे। कुछ दूर आने पर गुरुदेव ने सबको सम्बोधन कर कहा,—

"भक्तगण, जहाँ तुम लोगों को मैंने सुवर्णविहार दिखाया था, वहीं मन्दाकिनी से अलकानन्दा निकली है। उस अलकानन्दा के पूर्व पार गण्डक के किनारे श्रीहरिहर-क्षेत्र वर्त्तमान है। समय पाकर वहाँ श्रीमूर्त्ति प्रकट होगी और वह स्थान मनोहर उद्यान से सुशोभित होगा। अलकानन्दा के पश्चिम वह देखो काशी है। उस स्थान में शैव और शाक्तगण मुक्ति नाम की भगवत् दासी को भजते हैं। वाराणसी से भी इस स्थान की महिमा असीम है। यहाँ धूर्जटी पिनाकधर शिव हैं। वे स्वयं श्रीगौर के प्रेम में मतवाले हो अपने भक्तों को श्रीगौर-प्रेम प्रदान कर कृतार्थ करते हैं। हजार वर्ष काशीवास करते हुए संन्यासी लोग, जिस मुक्ति को पाते हैं, उसे यहाँ चरण से ठेल कर भक्त लोग श्रीगौराङ्ग की उपासना में निमग्न होते

हैं। शिव यहाँ अन्तिम समय जीवों का श्रीगौर नाम से उद्धार करते हैं। इसीसे इस स्थान का नाम महावाराणसी है।

इस तरह बातें करते-करते श्रीगोद्रुमद्वीप उपनाम गादीगाछा ग्राम में पहुँचने पर, सब लोग मृदङ्ग और करताल पर कीर्तन करते हुए धीरे-धीरे आगे बढ़े। राह के एक किनारे श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर के श्रीस्थान-स्वरूपानन्द कुञ्ज के सामने आकर सब लोग ऊँचे स्वर से कीर्तन करने लगे और साथ ही नाचने लगे। उस समय श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर उस कुञ्ज में भजन कर रहे थे। कीर्तन की आवाज सुनकर वे भी कुञ्ज से बाहर निकल उसमें शामिल हो गये। वहाँ कुछ देर कीर्तन और नृत्य करने के बाद सब लोग समीप ही के सुरभि-कुञ्ज में बैठकर विश्राम करने लगे। श्रीगुरुदेव कहने लगे —

"भक्तगण, इस ग्राम का नाम श्रीगोद्रुमद्वीप है। गो-शब्द का अर्थ गऊ और द्रुम शब्द का अर्थ वृक्ष है। इस ग्राम का नाम ऐसा क्यों पड़ा, वह कहता हूँ सुनो।

एक दिन देवराज इंद्र अहङ्कार से फूले न समा कर, अपने गौरव से श्रीगोकुल को जल से तबाह रहे थे। उस समय भगवान श्रीकृष्ण ने गोवर्द्धन गिरि धारण कर श्रीगोकुल की रक्षा करते हुए इन्द्र के दर्प को चूर-चूर किया था। तब देवराज इन्द्र श्रीकृष्ण को सर्वशक्ति के आकर श्रीभगवान के रूप में पहचान कर अपना अपराध धोने के लिये उनके श्रीचरण युगल को पकड़कर क्षमा भिक्षा माँगने लगे। श्रीकृष्ण ने उन्हें अभयदान किया। फिर भी शचीपति इन्द्र का भय दूर न हुआ। उन्होंने अपनी कामधेनु से जाकर पूछा 'हे सुरभि! मैं भगवान श्रीकृष्ण की लीला को न समझ सकने के कारण बहुत ही बड़ा अपराध कर बैठा हूँ। सुना है, श्रीभगवान् व्रजेन्द्रसुत नदिया में अद्भुत लीला प्रकट करेंगे। कहीं उस समय भी मैं मोहित हो कोई अपराध न कर बैठूँ, इसी भय से तुम्हारे पास आया हूँ। तुम सब जानती हो, कृपा कर इसकी सलाह दो।'

सुरभि ने कहा,- 'देवराज, तब चलिये, हम दोनों ही उस नवद्वीपधाम में श्रीगौरराज के चरण को भजें।'

सुरभि की सलाह से देवराज सुरभि के साथ इस स्थान में आकर श्रीगौराङ्ग को भजने लगे। कुछ दिन बाद परमदयालु श्रीगौराङ्ग ने देवराज को दर्शन देकर कहा, 'इन्द्रदेव, मैं आपका मतलब समझ गया हूँ। मेरे प्रकट होने में अब कुछ ही काल बाकी है, अपने इस स्वरूप में मैं आप को मायाजाल में न फँसाऊँगा।' यह कहकर श्रीगौराङ्गदेव अन्तर्धान हो गये। देवराज भी स्वर्ग में जाकर राज करने लगे। किन्तु सुरभि देवी उसी स्थान में एक पीपल के पेड़ के नीचे बैठ गौराङ्ग की सेवा किया करती थी। इसी से इस स्थान का नाम श्रीगोद्रुम है। जो लोग इस स्थान में कुटी बनवाकर भजन करते हैं, वे श्रीगौराङ्ग के चरण-कमल को अनायास ही प्राप्त करते हैं।

यहाँ का और एक अद्भुत हाल कहता हूँ, सुनो। मृकण्डु के पुत्र मार्कण्डेय नामक महामुनि ने सात कल्प की आयु पाई थी। प्रलयकाल में संसार के जल मग्न होने पर, हाय, मैंने क्यों ऐसा वर लिया कहते हुए दुःख करते करते पानी में डूबते उतराते हुए चले। अन्त में पानी की लहरों से वे धीरे-धीरे अचेत हो पड़े। उस समय भगवान की इच्छा से सोलह कोस का यह नवद्वीप-धाम पानी के ऊपर हो पानी में डूबते हुए भक्तों को विश्राम दे रहा था। सुरभि ने मार्कण्डेय ऋषि की ऐसी दुर्दशा देख उन्हें यहाँ खींच लिया। बहुत देर बाद चैतन्य होने पर मुनि ने भूख से व्याकुल हो सुरभि से दूध माँगा। सदय होकर सुरभि ने उन्हें दूध दिया। बाद को कुछ अच्छे होने पर मुनि ने सुरभि से कहा, 'हे भगवति, तुम मेरी माता हो। तुम्हारी माया से यह जगत् मोहित है। मैंने बिना जाने सात कल्प तक की परमायु का वर ले लिया था। अब देखता हूँ, कि प्रलय के समय बड़ा ही दुःख होता है। हे मेरी माता, कृपाकर यह बताइये कि इस भयानक दुःख से कैसे छुटकारा पाऊँगा।'

तब सुरभि ने कहा,- 'देखो मुनिवर, यह नवद्वीप धाम प्रकृति के बाहर है। इसका कभी विनाश नहीं

होता। इन चर्म-नेत्रों से देखने में यह सोलह ही कोस का है, किन्तु यह परम वैकुण्ठ और सदा निर्दोष है। यहाँ सब तीर्थ विराजमान हैं और सर्व देवता तथा सब ऋषि यहाँ निवास करते हुए श्रीगौराङ्ग की आराधना किया करते हैं। तुम यहाँ बैठकर भुक्ति-मुक्ति देनेवाले कपट धर्मों को छोड़ श्रीगौरांग का भजन करो। ऐसा करने से भगवद्भक्ति के लाभ से धन्य होगे।'

सुरभि की यह बात सुनकर मुनि ने पूछा,—'माता! मैं जब श्रीगौराङ्ग का भजन करूँगा, तब मेरे भाग्य में क्या होगा?'

सुरभि ने उत्तर दिया,—'मुनिवर, श्रीगौराङ्ग का भजन करने से कोई दुःख रह नहीं जाता। सभी कर्मफल विनाश को प्राप्त होते और संसार की सब यातनायें नष्ट हो जाती हैं।'

सुरभि के कहने से मार्कण्डेय मुनि श्रीगौराङ्ग का भजन करते हुए इस स्थान में गौर प्रेम लाभकर धन्य हुए थे।"

इसके बाद सब लोगों ने वहाँ कुछ देर नृत्य कीर्त्तन किया। उस समय सन्ध्या उपस्थित हुई।

श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर के विशेष आग्रह प्रकट करने पर सब लोग श्रीस्वानन्दसुखद-कुञ्ज नामक उनके भजन-स्थान में उनके साथ हरिकथा में रात बिताने के उद्देश्य से गये, सारी रात उनके साथ श्रीहरिकथा और श्रीहरिकीर्त्तन में बिता दी। सौभाग्यवान् पाठक महोदय, उन लोगों ने जितने कीर्त्तन किये थे, उनमें से एक कीर्त्तन मुझे याद है, उसे आप लोगों की जानकारी के लिये नीचे उद्धृत करता हूँ।

गोद्रुमधाम भजन अनुकूल।
माथुर नन्दीश्वर समतूल॥
तेहि महँ सुरभिकुञ्ज कुटीर।
बैठहुँ मैं सुर - तटिनी तीर॥
गौर - भक्त प्रिय वेश दयाल।
तुलसी तिलक सुशोभित भाल॥
चम्पक बकुल कदम्ब तमाल।
रोपित निरमित कुञ्ज विशाल॥
माधवी मालती लगाऊँ वहाँ।
छाया - मण्डप करहुँ जहाँ॥
रोपूँ वहाँ कुसुम वन - राजि।
जुही जाति मल्लिका साजि॥
मञ्च रहैं तुलसी महरानी।
कीर्त्तन साज धरै तहँ आनी॥
वैष्णव जन सँग गाऊँ नाम।
जय गोद्रुम जय गौरांग धाम॥
विनोद - सेवक भाव अनुकूल।
मिले कुञ्ज सुरसरि के कूल॥

सत्‌शिक्षा-प्रदर्शनी की शिक्षामाला

[ढाका, जनवरी १९३३ में उद्घाटित]

उद्देश्य जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की अपरिहार्य प्रयोजनीयता है, उस स्वरूप के देश गोलोक के विषय को भूलोक के जीवों को समझाने के लिये यह "सत्‌शिक्षा-प्रदर्शनी" हुई है। हम लोगों के नित्य देश में जाने की राह में जो प्रतिकूल और अनुकूल विषयादि हैं, उन्हें प्रकट कर जीव के परम मङ्गल के राजकीय पथ को निरापद बनाने के लिये प्रदर्शनी में प्रतिकूल और अनुकूल—इन दोनों ही प्रकार के आदर्श दिखाये गये हैं।

प्रयोजनीयता—यह सत्‌शिक्षा-प्रदर्शनी रङ्ग तमाशा, या वन-विहार जैसे इन्द्रियभोग का सामान नहीं है। हम लोगों ने जिन देशों का दर्शन, घ्राण और आस्वादन-स्पर्शन नहीं किया, उनके नाम, रूप, गुण, क्रिया को जैसे हम भौगोलिक नक्शों द्वारा सीखते हैं, वैसे ही गोलोक वैकुण्ठ के जिन

सब कामों में वर्तमान समय हम लोगों का किसी प्रकार भी प्रवेशाधिकार नहीं है, उन वास्तव-राज्य के विषयों को उस देश में ही रहकर हम लोगों को समझाने के लिये ही इस प्रदर्शनी की विशेष प्रयोजनीयता है। नक्शे की प्रयोजनीयता को अस्वीकार करने या नक्शे को फाड़ कर फेंकने से जैसे भौगोलिक स्थानों की शिक्षा मिल नहीं सकती, अथवा उन नक्शों को फाड़ कर कोई विभिन्न देशों के वास्तविक स्थानों को नष्ट नहीं कर सकता, वैसे ही सत्शिक्षा प्रदर्शनी के आदर्श समूह जिस उद्देश्य से हैं, उन्हें समझाने की चेष्टा न कर उनकी ओर से उदासीन रहने से या उनकी प्रयोजनीयता का प्रतिवाद करने से हम लोगों का जो नित्य स्वदेश है, उसके बारे में अनजान बन हमें माया के अधीनता-पाश में ही बँधे रहना पड़ेगा, पर इससे वास्तविक वस्तु की कोई क्षति न होगी। जो बहुतेरे देशों में गये हैं, उनके अङ्कित मानचित्र जैसे अन्यान्य भ्रमणकारियों के लिये बहुत आवश्यक हैं, वैसे ही जो नित्य देश में जाना चाहते हैं, उनके लिये इस पारमार्थिक प्रदर्शनी का आदर्श बहुत ही आवश्यक है।

कैसे देखना—"सच में ही हम परमार्थ लाभ करेंगे, अपने मङ्गल का वरण करेंगे, हमें नित्य देश में जाना पड़ेगा ही, सुतरां उसके सब विषयों में—सब संस्थानों का सन्धान अवश्य ही लेना चाहिये"—ऐसा समझ कर जो लोग नक्शे को देखते हैं, वे ही समझ सकते हैं, कि नक्शा किस उद्देश्य से बनाया गया है। किन्तु ऐसा ख्याल न करने से मानचित्र केवल गिचपिच "लिखावट" या कितनी ही टेढ़ी सीधी रेखाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, ऐसा समझ में आता है। सत्शिक्षा प्रदर्शनी के आदर्श-समूह भी ऐसे ही हैं। जो मङ्गल के प्रार्थी हैं,वे इसके वास्तविक उद्देश्य को समझेंगे, नहीं तो इसे खेल-तमाशा या पुतली-पुतले समझेंगे। जैसे शिक्षक के पास पहले कान से सुन कर बाद को मानचित्र देखने पर ज्ञान पुष्ट होता है, वैसे ही सुनने के बाद ही प्रदर्शनी के आदर्श देखने लायक हैं। आत्मा की श्रद्धापूर्ण सेवा की वृत्ति ही इन सब आदर्शों के देखने की स्वजातीय वृत्ति है; इन्द्रिय तृप्ति करने की इच्छा विजातीय वृत्ति है—इससे वास्तविक उद्दिष्ट विषय का दर्शन नहीं होता।

१ दश-अवतार

शिक्षा—भगवान् जगत् में अपने वैकुण्ठ के नित्यरूप समूह का अवतार प्रकट करते हैं; वे माया के साथ मिश्रित या सगुण नहीं होते। इसके द्वारा Anthropomorphism (परमेश्वर में मानव धर्म का आरोप) और Zoomorphism (परमेश्वर में जन्तुधर्म का आरोप)—इन दोनों मतवादों का निरास हुआ है।

२ रात में लालटेन से सूर्य देखने की चेष्टा

शिक्षा—मनोधर्म द्वारा चालित हो केवल युक्ति के साहाय्य से जड़-वैज्ञानिक लोग, मायावादी लोग और जगत् के अहङ्कार से मतवाले विभिन्न श्रेणी के लोग भगवान् के तत्त्व, अस्तित्व और भगवद्वचनों के विषय पर कुतर्क करते हैं, यही लालटेन से सूर्य देखने की चेष्टा है। किन्तु भगवान् के शरणागत भक्त भगवान् की कृपा की रोशनी से सहज में ही भगवान् के समस्त तत्त्व को अच्छी तरह समझ सकते हैं। (भा० १०।१४।६)

३ रावण का स्वर्ग की सीढ़ी

शिक्षा—जो भगवान् की शरणागति के सत्य पथ को छोड़कर रावण की तरह मुक्ति के राज्य में चढ़ना चाहते हैं, वे बहुत ऊँचे चढ़कर जगत् के लोगों को विस्मय में डालने पर भी, शरणागति के अभाव से भ्रष्ट हो नीचे गिरते हैं।

(भा० १०।२।३२)

४ भगवान की भिक्षुक लीला

शिक्षा—बनावटी गुरुगण अपने पुत्र-पौत्रादि के भोग के लिये शिष्य को नाहक का उपदेश देते हैं, किन्तु शिष्य उसे न सुनकर भगवान् की सेवा में देह,मन, वाक्य और मस्तक अर्थात् सर्वस्व समर्पण करने में पीछे पैर नहीं रखते। जो भगवान् के शरणागत हैं, वे भगवान् के चरण में सर्वस्व बलि

देकर "भगवान् ही हर समय मेरी रक्षा और पालन करें"—ऐसा विचार करते हैं।

(भा० ८ । १८—२१ अ०)

५ चार प्रकार के व्यक्ति हरिकथा नहीं सुनते

शिक्षा—(१) जो काम-वश बुरी बातों और साधुओं की निन्दा में ही आनन्द मानते हैं, ऐसे लोग अथवा ऐसे लोगों के आदर के व्यक्ति वास्तविक भगवद्भक्तों के मुख से हरिकथा श्रवण या उनकी कृपा ग्रहण करने को तैयार नहीं होते। (२) जो लोग जगत् में श्रेष्ठता, सुख या मलिनता को सर्वाङ्ग में लगा कर आनन्द का उपभोग करते हैं, वे वास्तविक भगवद्भक्तों के मुख से कृष्ण और कृष्णभक्तों के गुण तथा प्रशंसा को सुनना नहीं चाहते। (३) जिन्हें तरह तरह के कुविषयों के काँटे खाने का स्वभाव है, वे मुख के कट फट जाने पर भी अपने स्वभाव को छोड़ नहीं सकते। उनके लिये विषय का काँटा ही परम सुख का खाद्य है और मङ्गलमयी हरिकथा कड़वी जान पड़ती है। (४) जो लोग बहुतेरे शास्त्रों के अनुसार विसर्ग का उपयोग करके भी शास्त्र के सार शिरोमणि श्रीमद्भागवत के तात्पर्य, निर्मल विष्णुभक्ति के स्वरूप को हृदयङ्गम कर नहीं सके, अथवा जो लोग प्रायश्चित्तादि के व्यवस्थापकों के पालित पशु के रूप में केवल लोगों के पाप मलिन वमन अर्थात् जीव के स्थूल सूक्ष्म देहरूपी आवरण की मलिनता के बोझ को ही वहन करते हैं, उन्हें अकपट हरिकथा के सुनने की रुचि नहीं होती।

(भा० २ । ३ । १९)

६ समुद्र मन्थन

शिक्षा—जगत् में देवता और असुर—यह दो ही प्रकार की सृष्टि है। देवतागण—वैष्णव हैं; और असुरगण—अवैष्णव। वैष्णवगण ही भगवान् के प्रसाद-भाजन हैं। (भा० ८ । ६ । ११ अ०)

७ [क] श्रीचैतन्यदेव के आविर्भाव से पहले देश की सामाजिक अवस्था

भोगसर्वस्व व्यवहार में मतवाला जगत् 'श्रीचैतन्य-चन्द्रोदय नाटक', 'श्रीचैतन्यभागवत', 'श्रीचैतन्यचरितामृत' प्रभृति ग्रन्थों में महाप्रभु के आविर्भाव से पहले, उस समय के लोगों की चित्तवृत्ति की हालत का वर्णन है। उस समय के लोग बिल्ली का विवाह, गुड्डी-गुड्डों का विवाह और तरह-तरह के खेल-तमाशों की प्रतियोगिता में रुपये खर्च करते थे। (चै० भा० आदि २ य अ०)

शिक्षा—भगवान् की सेवा में जो अर्थ, चित्त, स्त्री, पुत्र आदि के साथ नियुक्त हैं, वे ही यथार्थ गृहस्थ हैं। सबके द्वारा सब अवस्था में सब समय श्रीहरि का सेवन ही जीव का एकमात्र कर्तव्य है।

८ [ख] पाण्डित्य के अभिमान का कुतर्क

शिक्षा—भगवान की सेवा में रति ही विद्या और पाण्डित्य का चरम फल है। (श्री चै० भा० आदि २य और मध्य १म अध्याय)

९ [ग] कृत्रिम योगाभ्यास

शिक्षा—कृत्रिम योग, तपस्या, कठोरता, वैराग्य आदि द्वारा मन जीता नहीं जा सकता। धर्मध्वजिता कभी भी सत्यवस्तु नहीं। भक्तियोगी ही वास्तविक योगी है।

१० [घ] वृथा तपस्या

शिक्षा—अकपट भगवद्भक्तों के मुख से हरिकथा श्रवण और कीर्तन द्वारा ही जीवों की सब इन्द्रियाँ अनायास और स्वाभाविक भाव से संयत तथा चरम और नित्यकल्याणमयी भगवत्-सेवा में नियुक्त होती हैं। (श्री चै० च० नाटक २य अङ्क)

११ प्रेम के वश भगवान

शिक्षा—केला मूली बेच के श्रीधर ने पाया जो।
कोटि कल्प में कोटीश्वर भी न देखेंगे सो॥

(चै० भा० आ० २य अ०)

१२ मालाकाररूपी श्रीचैतन्यदेव का आपामर सबको कृष्णप्रेमफल का वितरण

भगवान् के लिये सभी सम्भव है। इसलिये श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वयं प्रेम कल्प-वृक्ष हैं, फिर स्वयं ही उसके मालिक भी हैं। जैसे वृक्ष में मूल, स्कन्ध, शाखा, पत्र, पुष्प प्रभृति हैं, वैसे ही प्रेम कल्पतरु

के प्रथम मूल श्रीमाधवेन्द्रपुरी हैं। इन माधवेन्द्रपुरी ने ब्रह्ममाध्वसम्प्रदाय में कृष्णप्रेम के विषय का प्रचार किया। माधवेन्द्रपुरी के शिष्य श्रीईश्वरपुरी हुए। जीव को शिक्षा देने के लिये जगद्‌गुरु श्रीनित्यानन्द और श्रीअद्वैताचार्य ने श्रीमाधवेन्द्रपुरी के शिष्य होने की लीला दिखाई थी। स्वयं भगवान महाप्रभु ने श्रीईश्वरपुरी को गुरु के रूप में ग्रहण करने की लीला दिखा ब्रह्म-माध्व-सम्प्रदाय को स्वीकार किया था। इसलिये महाप्रभु का अनुगत सम्प्रदाय "माध्वगौड़ीय सम्प्रदाय" के नाम से विख्यात है। श्रीधाम मायापुर-स्थित श्रीचैतन्य मठ की शाखा मठ ढाका के श्रीमाध्वगौड़ीय मठ का नाम भी इसी के अनुसार हुआ है। उसने प्रेम कल्पवृक्ष के अंकुर श्रीईश्वरपुरी से वृद्धि लाभ किया है। श्रीमाधवेन्द्रपुरी के शिष्य तो संन्यासी इस प्रेम कल्पतरु के तो मूल हैं। श्रीमन्महाप्रभु स्वयं वृक्ष के स्कन्ध और सब शाखाओं के आश्रय हैं। मूल-स्कन्ध के दोनों तरफ दो स्कन्ध हैं—श्रीनित्यानन्द और श्रीअद्वैताचार्य। शिष्य प्रशिष्यरूप शाखा उपशाखा से इस वृक्ष ने विस्तार लाभ किया है। श्रीचैतन्यमाली ने केवलमात्र जीव के सरल और व्याकुल आकांक्षा के मूल्य में जाति-वर्ण का कोई खयाल न कर सबको इस प्रेम फल का वितरण करते हैं। यहाँ तक कि अयाचक के दर्वाजे दर्वाजे जाकर उपयाचक बनकर भी प्रेम फल का वितरण करते हैं। चैतन्यवृक्ष के सभी अङ्ग चेतनमय हैं। कृष्ण-अवतार में केवल योग्य परम मुक्त व्यक्ति ही प्रेमास्वादन कर सके थे। किन्तु श्रीचैतन्यदेव की कृपा इतनी उदार है, कि अयोग्य व्यक्ति भी योग्यता प्राप्त कर प्रेमफल के ग्रहण करने के अधिकारी होते हैं। इसीसे वे सब को प्रेम के समाचार का प्रचार करने के लिये बुला रहे हैं। सब जीवों का उपकार करने के लिये, भगवान् की सेवा के प्रचार जैसा और कोई उपकार ही नहीं है।

शिक्षा "भारत-भू में हुआ मनुष्य-जन्म सार।
जन्म सफल करो करके पर-उपकार॥"
(श्रीचै० च० आ० ९ प०)

१३ काशीस्थ प्रकाशानन्द के कुविचारों का स्मरणकर नवद्वीप में भक्त मुरारी के पास महाप्रभु का क्रोध-प्रकाश

(चै० भा० मध्य ३ य अध्याय)

शिक्षा सर्वशक्तिमान् भगवान नित्य सच्चिदानन्दमूर्त्ति है।

१४—मायावादियों का ईश्वर-मानना कैसा है ?

शिक्षा—वेद को न मान बौद्ध होय तो नास्तिक।
वेदाश्रय में नास्तिक्यवाद बौद्ध से अधिक॥
(चै० च० म० ६४ प०)

सच्चिदानन्द मूर्त्ति भगवान् सदा माया के उस पार निवास करते हैं। प्रकाशानन्द ने भगवान की शक्ति का विकृत प्रतिबिम्ब देख तलवार से उन्हें काट डालने की चेष्टा की। किन्तु भगवान् की पूर्ण सच्चिदानन्द देह को तलवार छू ही न जाती। इससे प्रकाशानन्द आप ही वञ्चित हुए।

१५ महाप्रभु का पशु, पक्षी, वृक्ष, लता आदि को भी प्रेम दान

शिक्षा—योग, तपस्या, कर्म या ध्यान-जपादि से सब जीवों का मङ्गल नहीं होता। जो जप करते हैं, केवल उनका ही मङ्गल हो सकता है; किन्तु कीर्त्तन के द्वारा अपने साथ ही साथ पशु, पक्षी, तृण गुल्म और लता का भी मङ्गल होता है। इस कीर्त्तन के प्रचार के लिए ही श्रीविश्ववैष्णव-राज-सभा ने 'सत्शिक्षा-प्रदर्शिनी' और नाना प्रकार के उपायों का अवलम्बन किया है।

१६ काशी के स्मार्त्त पण्डित, सुबुद्धिराय और श्रीमन्महाप्रभु

शिक्षा—कर्म जड़ स्मार्त्तों की दी हुई प्रायश्चित्त व्यवस्था हाथी के स्नान की तरह निरर्थक है, हाथी को स्नान कराने से जैसे वह फिर धूल लपेट लेता है, वैसा ही चन्द्रायण आदि प्रायश्चित्त भी है। एकमात्र अपराधहीन श्रीहरि नाम के आभास से ही समस्त पाप दूर होते हैं; शुद्ध हरिनाम से भगवान् का प्रेम उत्पन्न होता है। जैसे अरुणोदय में अर्थात् सूर्योदय से पहले ही रात का सारा अन्धकार दूर हो जाता है,—सिंह, बाघ आदि हिंस्र-जन्तु, चोर, डाकू आदि दुष्ट

आदमी अपने अपने स्थान को भाग जाते हैं और अन्धकार तथा कुहरा कट जाता है, वैसे ही हरि-नाम रूपी सूर्योदय के आभास से ही प्रारब्ध-अप्रारब्ध—सभी पाप समूल ध्वंस हो जाते हैं। (चै० च० म० २४ श० अ०)

१७ काला कृष्णदास का भट्टचारि स्त्रियों के मोह से पड़ना और श्रीमन्महा प्रभु की कृपा से उन सब से उद्धार पाना

शिक्षा—जीव में चेतन धर्म है और उस चेतनधर्म में स्वाधीनता है। स्वाधीनता का अप-व्यवहार करने से भगवान की साक्षात् सेवा से जीव का न जाने कब पतन हो सकता है। स्वाधीनता का दुरुपयोग चाहे सरल हो या कपट — दोनों से ही पतन होता है। तब दुर्बलता के दोष से जीव को यदि कोई असुविधा होती है, तो भगवान् और भगवद्भक्तों की कृपा से दुर्बलता का परित्याग करने से ही वह अमङ्गल दूर हो सकता है। किन्तु कपटी मनुष्य का कभी मङ्गल नहीं होता। (चै० च० म ९ म प०)

१८ महाप्रभु के लिये छोटे हरिदास की भिक्षा-छलना

शिक्षा—कपटता करना — वैष्णवधर्म या महा-प्रभु की सेवा नहीं। (चै० च० अ २ य प०)

१९ छोटे हरिदास का वर्जन
(चै० च० अ० २ य प०)

शिक्षा—लोग दिखावा गौर भजना तिलक मात्रधार।
गौर ने पकडा चोरी, करते छिपके अत्याचार ॥
(प्रेमविवर्त्त)

२० प्रयाग की त्रिवेणी में छोटे हरिदास का देह-त्याग

शिक्षा—कपटता का प्रायश्चित्त आत्महत्या है। (चै० च० अ० २ य० प०)

२१ छः रिपु के आकर्षण से अजितेन्द्रिय मनुष्य की अवस्था

शिक्षा—छः सपत्नियों (सौतों) की तुलना—वाक्य-वेग, मन-वेग, क्रोध-वेग, जिह्वा-वेग, उदर-वेग और इन्द्रिय-वेग के साथ हो सकती। अथवा शोक, मोह, जरा, मृत्यु, क्षुधा और प्यास—इन्हें षड़-ऊर्मि कह सकते हैं। अथवा अत्याहार, प्रयास, प्रजल्प, नियमाग्रह, जनसङ्ग और लौल्य ये छः दोष भी कहे जा सकते हैं। (भा० ११। १० म अ०)

२२ छः रिपु, छः वेग, छः दोष, छः ऊर्मि को जीतने वाले जितेन्द्रिय गोस्वामी

शिक्षा—वे ही 'गोस्वामी' हैं, जिन्होंने अपनी समस्त इन्द्रियों को भगवान की सेवा में लगा दिया है। जो छः रिपु या छः वेग अजितेन्द्रिय मनुष्य को परेशान कर डालते हैं, किन्तु जो सदा भगवान का नाम लेते हैं, सब इन्द्रियों के द्वारा सब समय भगवान की सेवा करते हैं, वे सब उनके चरणों में प्रणत हो, उनकी सब सेवाओं में सहायक होते हैं।

२३ जगत् में जगद्गुरु शिव की शिक्षा का प्रचार
(भा० ८। १२ पा अ०)

शिक्षा—इस लीला द्वारा जगद्गुरु महादेव ने हम लोगों को बतलाया है, कि जो लोग स्वयं पुरुष का अभिमान कर या शिव होने का अभि-मान कर भगवान को स्त्री-रूप या महामाया के रूप में देखने की इच्छा करते हैं, वे स्तव स्तुति की साधना करके भी इस प्रकार मोहित होते हैं। इसीलिये भगवान श्रीगौरसुन्दर ने भगवान के साथ शान्त सम्बन्ध, दास-सम्बन्ध, सखा सम्बन्ध, माता-पिता-सम्बन्ध और पत्नी-सम्बन्ध इन पाँच तरह के आत्मा या चेतन के नित्य सम्बन्ध की बातें कही हैं; किन्तु उन्होंने जीवात्मा के साथ भगवान के स्त्री या जननी के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है। भगवान् को स्त्री या जननी के रूप में दिखाने के लिये जीव को महामाया मोहित करती है। भगवान क्लीव या स्त्री नहीं हैं; वे पुरुषोत्तम हैं, जीवमात्र ही उनकी प्रकृति है।

ठाकुर हरिदास और वेश्या का वृत्तान्त
(चै० च० अ० ३ य० प०)

२४ [क] गोस्वामी ठाकुर हरिदास और वेश्या का छल

शिक्षा—जो नाम-आचार्य ठाकुर हरिदास के

अनुगत हो सदा गुरु सेवा में लगे रहते और श्रीभगवान में निमग्न रहते हैं उन्हें जगत् का असंख्य प्रलोभन विन्दुमात्र भी विचलित कर नहीं सकता।

२५ [ख] आचार्य हरिदास का सदा शुद्ध नाम का कीर्तन करना और वेश्या का सुनना

शिक्षा—सच्चे साधु के मुंह से हरिकथा सुनने से जीव के सब प्रकार के प्रचलित असत्, अचेतन, निरानन्द की धारणा और संस्कार दूर हो जाते हैं तथा जीव नवजीवन प्राप्त करता है।

२ [ग] आचार्य की अकपट कृपा से वेश्या की सुबुद्धि

शिक्षा—पतित पावन गोस्वामी आचार्य पतित जीवों को भगवद् भजन की सलाह देते हैं।

२५ [घ] पहले के इतिहास को भूलकर वेश्या का काय-मनो-वाक्य से हरि-भजन

शिक्षा—सामान्य असत्सङ्ग के रहते भी हरिभजन नहीं होता। वेश्या ने पहले पापवृत्ति द्वारा जो धन संग्रह किया था—वह सभी वेश्या के लिये असत्सङ्ग के समान था, इसीसे ठाकुर हरिदास ने उस धन को यथास्थान विसर्जन करा-कर अपनी शिष्या का मङ्गल किया था।

अवन्ती नगरी के त्रिदण्डी भिक्षु का इतिहास

(भा० ११। २३ श अ०)

२८ [क] कृपण गृहमेधी ब्राह्मण

शिक्षा—हरिभजनकारियों की सेवा करने के लिये ही गृही का गृहस्थाश्रम है, नहीं तो कुत्ते, बिल्ली, चूहे प्रभृति के भी घर या बिल है, स्त्री-पुत्र हैं, आहार की चेष्टा है और सञ्चय करने की चेष्टा है। जो हरिभजनकारियों की सेवा करते हैं, उन्हें गृहव्रती या गृहमेधी कहते हैं।

२८ [ख] ब्राह्मण का अर्थनाश

शिक्षा—भगवान् की सेवा में एक पैसा भी देने से जमा में से एक पैसा घट जायगा—इस आशङ्का से मनुष्य अपने धन को दाब बैठा रहता है; उस धन को या तो चोर अपहरण करते या तरह-तरह के अज्ञात आकस्मिक दैवी घटनाओं से वह धन विनष्ट होता है; अथवा जिन उत्तराधिकारियों के लिये लोग रख जाते हैं, वे उसे कुराह में उड़ा देते हैं। धन के जमा करने में उसने जो पाप किये थे, उस धन के जमा करने में और भी नये नये पाप, शठ प्रभृति का आश्रय भी उसे लेना पड़ा। इसलिये जो श्रेष्ठ वास्तव अर्थनीतिज्ञ हैं, वे एक वाक्य से कहते हैं—हरिकीर्त्तन के प्रचार में रुपये का लगाना ही धन का सबसे अच्छा व्यवहार करना है।

२८ [ग] ब्राह्मण का पछतावा

शिक्षा—जब तक लोगों को अर्थ, वित्त, रूप, यौवन, पाण्डित्य और कुलीनता प्रभृति का अभिमान रहता है, तब तक उनके कान में यह माङ्गलिक बात प्रवेश नहीं करती, कि हरिकथा के प्रचार से ही सब जीवों का मङ्गल होता है। दैवक्रम से इसमें कोई अभाव उपस्थित होने पर अपनी चेष्टा से उस अभाव का प्रतिकार न हो सकने से मनुष्य और किसी श्रेष्ठ आश्रम की खोज करता है। जो वास्तव में बुद्धिमान् मनुष्य हैं, वे चाहे कितनी ही असुविधा में क्यों न पड़े, वे अपने को भगवान् की सेवा के अनुकूल बना, भगवान् की दया जान उनके ही भजन में प्रवृत्ति होते हैं; और जो भगवान् की सेवा नहीं करते, वे इधर-उधर के बहाने कर हरिभजन न करने को ही बुद्धिमानी और चतुरता समझते हैं। जो सब आधुनिक व्यक्ति तरह तरह के बहाने कर वर्त्तमान युग में भजन के उपयोगी नहीं समझते, उनके लिये ही विशेष चिन्ता है।

(क्रमशः)

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ; बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ; कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ; बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
अगस्त्यकुण्ड, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीश्यामगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० ४३ हनुमान रोड, न्यू देहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकोंदा चीरकुण्डा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

(३१) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ
कब्बुर, वैष्ट गोदावरी, मद्रास

(३२) ग्वालपाड़ा प्रपन्नाश्रम, आसाम

(३३) त्रिदण्डी-गौड़ीय मठ भुवनेश्वर, पुरी

(३४) श्रीसारस्वत-गौड़ीय मठ हरिद्वार

Registered No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)
२—श्रीशिक्षादशमूलम् सटीक ।)
३—श्रीमन्महाप्रभोःशतनामम ≡)
४—श्रीसिद्धान्तसरस्वती दशिनाम: ॥)
५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचय: -)
६—श्रीतत्त्वसूत्रम ।)

संस्कृत बँगला अक्षरों में

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)
२—श्रीमद्भगवद्गीता - श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत-भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)
३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत खंडों में प्रकाशित प्रति खंड १)
५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द २)
६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु के शिक्षाष्टक और श्रीरूपगोस्वामी प्रभु-कृत उपदेशामृतसहित ।=)
७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद - कृत बंगला अनुवाद सहित ॥)
८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित १)
९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
१०—सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी - कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)
एकादश स्कंध से प्रति खंड ।≋)
१२—युक्तिमल्लिका गुणसौरभ वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

वंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित ≡)
१४—नवद्वीपशतक बगला अनुवाद -)
१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ≠)
१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती कृत =)
१७—नवद्वीपभावतरंग ।)
१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)
१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद कृत २)
२०—मणिमंजरी ।)
२१—शरणागति -)
२२—कल्याणकल्पतरु -)॥
२३—गीतावली -)
२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)
२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत ॥=)
२७—जैव धर्म २)
२८—साधककंठमाला ।)
२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ५)
३०—महाप्रभु की शिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ५)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

वर्ष २] श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः [संख्या १०,११

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

12-26th Mar. 1933

गोविन्द-गौरपक्ष, विष्णु-कृष्णपक्ष, गौराब्द ४४७

फाल्गुन पूर्णिमा चैत्र-अमावास्या संवत् १९८९

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥



क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्तसरस्वती गोस्वामी महाराज

प्रति संख्या -)

सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

वार्षिक सडाक १॥)

Editor:—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन छपाई की दर नीचे लिखी है:—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम	८)
आधा ,, १ ,,	५)
चौथाई ,, १/२ ,,	३)
२ इंच ,, १/४ ,,	१॥)
१ ,, ,, १/८ ,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये—

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

सेठ रामयश रोड, नरही, लखनऊ.

All communications are to be addressed to—

The Manager 'Bhagwat'

Seth Ramjas Road,

Narhe,

LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

वर्ष ७ — श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य — संख्या १०-११

फा० पू०, चैत्र अ० गौराब्द ४४७ सं० १९८९ वि०, १२-२६ मार्च सन १९३३ ई०

आत्म-निवेदन

(५)

गोद्रुमधाम भजन अनुकूल ।
माथुर नन्दीश्वर सम - तूल ॥
तेहि महँ सुरभी - कुञ्ज कुटीर ।
बैठूँ मैं सुर - तटिनी तीर ॥
गौरभक्त प्रियवेश दधाना ।
तुलसीमाल तिलक शोभमाना ॥
चम्पक बकुल कदम्ब तमाल ।
रोपित निरमित कुञ्ज विशाल ॥
माधवि - मालति लगाऊँ तहाँ ।
छाया - मण्डप करूँ जहाँ ॥
रोपूँ वहाँ कुसुम वनराजि ।
जाही जुही मल्लिका साजि ॥
मञ्च रखूँ तुलसी महरानी ।
कीर्त्तन साज रखूँ तहँ आनी ॥
वैष्णव जन सह गाऊँ नाम ।
जय गोद्रुम जय गौर - सुधाम ॥
भक्तिविनोद भक्ति - अनुकूल ।
यज कुंज मुंज सुरनदी - कूल ॥

श्रीगौर-जन्म

श्रीगौरसुन्दर, अद्वय ज्ञानतत्त्व षडैश्वर्यपूर्ण परिपूर्ण सच्चिदानन्द मूर्ति परम तत्त्व स्वयं भगवान श्रीकृष्ण के अभिन्न स्वरूप हैं। उपनिषद् का ब्रह्म उनका अस्पष्ट आविर्भाव है। परमात्मा उनकी आंशिक प्रतीति मात्र है। जीव जब केवल सन्धिनी-वृत्ति का आश्रय ग्रहण कर सच्चिदानन्द भगवान के स्वरूप की खोज करने लगता है, उसे जड़ज्ञान की आदत द्वारा अस्पष्ट आविर्भाव ब्रह्म के सिवा और कुछ भी दिखाई नहीं देता। फिर जब मनुष्य केवल सत्-चित्-वृत्ति का अवलम्बन कर चिन्मयी लीला-युक्त तत्त्व वस्तु की खोज करता है तब परमात्मा का दर्शन सम्भव होता है। यह दोनों ही प्रकार का दिखाव केवल जीव की सन्धित् शक्ति का काम है, सुतरां इस में अपूर्णता स्वाभाविक है। किन्तु जब चिद्गत संवित् शक्ति ह्लादिनी के साथ युक्त हो ह्लादिनी की कृपा को प्राप्त करती है, तभी जीव को भगवत्-तत्त्व की समझ होती है। इस भगवत्-तत्त्व के समझने में जीव की अपनी कोई स्वतन्त्रता नहीं है। केवल उसमें स्वतन्त्रता का परिपूर्ण सद्-व्यवहार, प्रणाम या शरणागति दिखाई देती है और इसीसे परम सत्य वस्तु का साक्षात्कार होता है। शरणागत जीव तब हृदय में समझता है कि श्रुति के बताये हुए चिन्ता के अतीत और अनन्त शक्ति-युक्त श्रीभगवान् ही परिपूर्ण अद्वय तत्त्व हैं। जड़ीय ज्ञान से सशक्तिक वस्तु को शक्तिहीन बनाकर देखना ही ब्रह्मदर्शन है और जगत् में अनुप्रविष्ट भगवत् अंश की अनुभूति ही परमात्म-दर्शन है। इसीलिये श्रीकविराज गोस्वामी ने ब्रह्म को भगवान के अङ्ग की कान्ति और अन्तर्यामी पुरुष परमात्मा को परम तत्त्व अभिन्नकृष्ण श्री गौराङ्गसुन्दर का आंशिक प्रकाश बताया है। सुतरां इस प्रकार अद्वयतत्त्व-वस्तु का जन्म लेना कहना जड़ीय मन से तरह तरह के कुतर्क उपस्थित करना है। किन्तु श्रीगीतोपनिषद् में श्रीभगवान् ने स्वयं अर्जुन से कहा है,—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
वीतराग-भयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥

([illegible], १०)

भगवान अर्जुन को जीव के जन्म और भगवान् के आविर्भाव का पार्थक्य बताते हैं कि अर्जुन, यद्यपि जीव और मैं दोनों ही बार-बार जगत् में आते हैं, तथापि जीव के आगमन और मेरे आगमन में आकाश-पाताल का भेद है। मैं समस्त प्राणियों का ईश्वर, जन्म रहित और अव्यय स्वरूप हूँ। मैं मायाधीश अपनी चित्-शक्ति का आश्रय ले, जीव पर कृपा करने के लिये अपने स्वरूप में जगत् में आविर्भूत होता हूँ। किन्तु माया में रहने के योग्य जीव, अनादि भगवत्-विमुखता के फल से कर्मफल के बाध्य हो लिङ्ग और स्थूल शरीर धारण करते हुए मेरी मायाशक्ति के प्रभाव से जगत् में जन्म लेते हैं। जीव का शुद्ध स्वरूप, स्थूल और सूक्ष्म विकृत देह द्वारा आवृत होता है किन्तु मेरी देह और देही में कोई भेद नहीं। मैं नित्य अव्यय हूँ, वैकुण्ठ का चिन्मयस्वरूप मैं ही अपनी अचिन्त्य-शक्ति के बल से अपने को प्रापञ्चिक जगत् में प्रकट करता हूँ। मेरी अचिन्त्यशक्ति अज्ञजन के अगम्य है। इसलिये जिनका मस्तिष्क अज्ञ विचार से भरा हुआ है, वे मेरी देह को प्रापञ्चिक या अनित्य समझते हैं। मेरी शक्ति एक होने पर भी, वह मेरे लिये चित्शक्ति और कर्म में लीन जीवों के लिये मायाशक्ति है।

अतएव जगत् में मेरे आविर्भाव और तरह-तरह की लीलाओं को जो मेरी अविचिन्त्य चित्शक्ति से उत्पन्न कार्य समझ दिव्य अर्थात् अप्राकृत मानते हैं, उनको फिर जन्म लेना नहीं पड़ता और वे हमारी नित्य सेवा प्राप्तकर धन्य होते हैं। जगत् में मेरे आविर्भाव और लीला के बारे में विचार करने को मुस्तैद हो जड़वादी, मूर्ख लोग तीन

प्रकार से प्रवृत्ति द्वारा परिचालित होते हैं। जिनकी बुद्धि जड़राग से आबद्ध है, वे चित्तत्त्व के नाम से किसी नित्य वस्तु की धारणा कर नहीं सकते। ऐसे ही लोग जड़वादी, स्वभाववादी या विधिवादी हैं। फिर कोई-कोई मनुष्य चित्तत्त्व को मुख से स्वीकार करते हैं सही किन्तु अज्ञान ज्ञान के ऊपर निर्भर कर चित्तत्त्व का विचार करने पर सविशेषता शक्तिमत्ता अथवा सर्वज्ञता और नश्वरता, अज्ञता और तन्मयता आदि दोनों तरह से विरोधी गुणों के मौजूद रहने से, अज्ञेय चित्तत्त्व में भी नाम-रूपवाली सविशेष प्राकृत वस्तु की तरह अनित्यता देखते हैं इस रूप से उसकी कल्पना निर्मल जड़ निराकार अनिर्दिष्ट आदि से करते हैं। ऐसे लोग भी स्वरूपतत्त्व से वञ्चित होते हैं। फिर जड़ के सिवा और किसी वस्तु का होना स्थिर न कर सकने की वजह मारे क्रोध के कुछ भी नहीं या 'शून्यमास्मान्' कहते हुए सबको शून्य ही समझ बैठते हैं और शून्य में लय होने या अचित् की परिणति का ही परम प्राप्य वस्तु समझ लेते हैं। किन्तु इस प्रकार जड़ विषय से अनुराग, भय और क्रोध को परित्याग कर कितने ही लोग स्वरूपज्ञानाश्रित होकर भक्त, सबकी सेवा द्वारा पवित्र होकर नित्य प्रेम को प्राप्त कर चुके हैं। अतएव श्रीगौर या श्रीगौर का जन्म आविर्भाव का रहस्यतत्त्व को एक मात्र शरणागत भक्त ही समझते हैं। श्रीगौरसुन्दर के बड़े ही अन्तरङ्ग भक्त श्रीस्वरूप-दामोदर गोस्वामी प्रभु ने श्रीगौर-आविर्भाव के तीन मूल प्रयोजन ठहराये हैं —

> "श्रीराधायाः प्रणयमहिमा कीदृशो वानयैवा-
> स्वाद्यो येनाद्भुत मधुरिमा कीदृशो वा मदीय।
> सौख्यञ्चास्या मदनुभवत कीदृशं वेति लोभ-
> स्तद्भावाढ्यः समजनि शचीगर्भसिन्धौ हरीन्दुः॥"

श्रीगौरावतार के तीन मूल कारण हैं,—

श्रीकृष्ण प्रेम के विषय विग्रह और श्रीमती राधिका आश्रय हैं। सुतरां श्रीकृष्ण को केवल विषय-सम्बन्धी सुख मिला था। उन्हें आश्रय-सम्बन्धी सुख के स्वाद की प्रबल इच्छा हुई; तब उन्होंने विचार किया, कि आश्रय-सम्बन्धी सुख का आस्वादन करने के लिये, प्रेम की आश्रय मूर्त्ति धारण किये बिना और कोई उपाय नहीं है। ऐसा ही विचार कर उन्होंने श्रीराधिका की भावकान्ति को धारण करने की इच्छा की।

द्वितीय कारण यह, कि अद्भुत अनन्त और असीम माधुर्यमयी मूर्त्ति श्रीकृष्ण ने अपनी माधुरी को श्रीराधिका के प्रेमदर्पण में देख, उसके आस्वादन की इच्छा की। उसी इच्छा से वे श्रीराधिका के स्वरूप को अङ्गीकार करने चले।

तीसरा कारण यह, कि श्रीकृष्ण ने राधिका के सङ्ग सुख का जितना आस्वादन किया, उससे अधिक श्रीमती राधिका ने श्रीकृष्ण का सुख लाभ किया। इससे यह सिद्ध होता है, कि श्रीकृष्ण में कुछ ऐसी चमत्कारिता है, कि जिसके आस्वादन के लिए राधिका का सब से अधिक सुख है। किन्तु उस सुख का आस्वादन विजातीय भाव से सम्भव नहीं। इन तीन गूढ़ इच्छाओं को पूर्ण करने के लिये श्रीचैतन्य का अवतार है,—

> "वही राधा भाव लेके चैतन्य अवतार
> युगधर्म नाम प्रेम का किया प्रचार॥"

अतएव राधाभाव से विभावित विप्रलम्भतनु श्रीगौरसुन्दर आश्रय जातीय विग्रह के लीला-प्रकटकारी स्वरूप हैं। जो उन्हें नागर समझते हैं, उनके लिए कहना चाहिये, कि वे अब भी श्रीगौराङ्ग अवतार के कारण को समझ नहीं सके। इसीसे श्रीकविराज गोस्वामी प्रभु ने कहा है,—

> हृदय में धारे जो चैतन्य नित्यानन्द।
> इस सिद्धान्त वह पायेंगे आनन्द॥
> यह सिद्धान्त मानो आम का पल्लव।
> भक्त-कोकिल को सदा ये ही वल्लभ॥
> अभक्त ऊँट के मन में न हो प्रवेश।

गौराङ्ग आविर्भाव के ये ही तीन मूल प्रयोजन हैं। जैसे कृष्णावतार में असुर संहारादि कार्य स्वयं भगवान् का मूल प्रयोजन नहीं था, क्योंकि यह सब काम तो अंशावतार द्वारा भी साधित हो सकते थे; किन्तु ऐसा नहीं, श्रीभगवान् जगत् में एकमात्र परम माधुर्यमयी प्रेमभक्ति को प्रकट करने के लिये प्रपञ्च में प्रकट हुए थे और विष्णु

होते हुए आनुषङ्गिक भाव से असुर-मारण आदि कार्य भी संघटित हुआ था; वैसे ही अभिन्न व्रजेन्द्र-नन्दन श्रीगौरावतार में भी, नाम-कीर्तन रूपी युगधर्म का प्रचार श्रीगौरसुन्दर का निजकार्य न होने पर भी आनुषङ्गिक भाव से जीव के भाग्यक्रम से संघटित हो पड़ा।

इस भाँति चैतन्य - कृष्ण पूर्ण भगवान।
युगधर्म चलाना नहीं उनका था काम॥
किसी कारण हुआ अवतार का जो मन।
युगधर्म काल हुआ उस काल मिलन॥
दोनों हेतु चुनके हैं लिये भक्तगन।
निज आस्वादन प्रेम नाम संकीर्तन॥
येहि द्वार आचण्डाल कीर्तन-प्रचार।
नाम-प्रेम माला गुँथि बाँधा संसार॥
इस भाँति भक्तभाव करि अङ्गीकार।
आपही करन लगे भक्ति का प्रचार॥

जीव के समस्त पापों को दूर करने के लिये ही श्रीगौरसुन्दर का आविर्भाव है।

चैतन्य सिंह का है नवद्वीप में अवतार।
सिंहग्रीव सिंहवीर्य सिंहसा हुङ्कार॥
'वह' सिंह बैठे जीव हृदय मझार।
कल्मष-द्विरद नाशै 'जिसके' हुङ्कार॥
(श्री[illegible] ३)

कल्मष शब्द का अर्थ है,

भक्ति का विरोधी कर्म, धर्म या अधर्म।
उसी का कल्मष नाम वही महातम॥

धर्म हो या अधर्म, भक्ति के विरोधी कर्ममात्र कल्मष हैं। श्रीगौरसुन्दर,—

जीव के कल्मष तमो नाश करन हारे।
अङ्ग औ उपाङ्ग नाम नाना अस्त्र धारे॥

ईश्वर-सम्बन्धी चतुरता से भरे कर्म जड़-स्मार्त-वाद, जो कि हर तरह से मायावाद ही है, तथा सिद्धि चाहनेवालों के परमात्मवाद इत्यादि तरह-तरह की इच्छाओं को, वे नित्यानन्द-अद्वैत आदि अङ्ग द्वारा, श्रीवासादि उपाङ्ग द्वारा, हरि-नाम आदि अस्त्रों द्वारा और गदाधर-दामोदर आदि पार्षद-वृन्द द्वारा दूर करते हैं। जो लोग श्रीमन्महाप्रभु के यथार्थ अनुगत और गौरगत-प्राण हैं, वे भी उन सब कपटता और पाप से पूर्ण धर्म को त्यागकर एकमात्र जीव के स्वरूप धर्म शुद्ध भक्ति को ही सनातनधर्म मानते हैं। इसका प्रमाण श्रीमद्भागवत ही है। इस सनातन आत्मधर्म का बहुत ही प्रकट भाव से प्रचार कर उदारता की मूर्त्ति श्रीगौरसुन्दर ने महावदान्यता का परिचय प्रदान किया है। इस सनातन भक्तिधर्म के प्रचार के समान सबसे बढ़कर उदारता का परिचय इस जगत् में और कहीं है ही नहीं या हो ही नहीं सकता। इस भक्तिधर्म के लिये जीवमात्र को अधिकार है; कर्म-ज्ञानादि में सबको ही अधिकार नहीं है। जो धनवान हैं, वे ही याग-यज्ञादि कर नश्वर स्वर्गसुख के अधिकारी हो सकते हैं। जो संसारादि परित्याग कर हिमालय की गुफाओं में पहुँच पूरक-कुम्भक-रेचक आदि द्वारा चित्त का संयम कर सकते हैं अथवा बहुतेरे शास्त्रों का अभ्यास कर वेदान्तविन् हो सकते हैं, वे ही योग या ज्ञानपथ के अधिकारी हैं। किन्तु भक्ति में, ध्रुव और प्रह्लाद जैसे पाँच वर्ष के बालकों से लेकर राजा खट्वाङ्ग जैसे मुमूर्षुव्यक्ति, विदुर जैसे दरिद्र, अम्बरीष जैसे राज चक्रवर्त्ती, गुहक, हनुमान, गरुड़ आदि जैसे अवर कुलोद्भूत जीव तथा स्वयं ब्रह्मा तक का समान अधिकार है। सुतरां श्रीगौरसुन्दर का प्रचारित धर्म ही सबसे उदार है। श्रीगौरसुन्दर द्वारा प्रचारित धर्म ही सनातन धर्म है; क्योंकि आत्मा ही एकमात्र सनातन या अविनश्वर वस्तु है। श्रीगीता में भगवान् ने स्वयं कहा है:—

"नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥"

फिर कहा है,—

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।"

श्रीगौरसुन्दर ने इस आत्मधर्म भक्ति का बहुत ही परिस्फुट भाव से प्रचार किया है। जैसे आत्मा नित्य चिन्मयधाम में रहने के समय पाँच अप्राकृत रस के एकमात्र विषयविग्रह परमात्मा श्रीकृष्ण की नये नये रूप से सेवा करते रहते हैं, वैसे ही श्रीगौरसुन्दर ने भगवान् होकर भी भक्तभाव को अङ्गीकार कर स्वयं आचरण करते हुए उसका प्रचार किया है।

वे ही एकमात्र वैदिक धर्म के समन्वयकारी और प्रचारक हैं । क्योंकि संसार में अन्यान्य जितने आचार्य हुए हैं, उनमें कितनों ही ने कितने ही प्रकार के मतवाद का प्रचार किया है और सात्वत आचार्यगण में भी किसी ने वेद का सर्वाङ्गीन प्रचार नहीं किया । इसका कारण यह है, कि भगवान् के कहे धर्म को एकमात्र भगवान् ही पूर्णरूप से जानते हैं । सुतरां जिनकी वस्तु है, वही जब जगत् में स्वयं उस वस्तु का दान करें तभी वह परम वस्तु मिल सकती है । श्रीगौरसुन्दर ने ऐसा ही किया है । उन्होंने अपने जप का प्रचार आप ही किया है, वेदशास्त्र में जीव और ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन करनेवाले मन्त्रों के साथ ही भेद-प्रतिपादक मन्त्र भी विराजित हैं । आचार्यों में अपने अपने मत के समर्थन के लिये कोई केवल अभेद प्रतिपादक और कोई केवल भेद प्रतिपादक वाक्यों को ही ग्रहण कर सके हैं, किन्तु श्रीगौरसुन्दर ने प्रमाण शिरोमणि वेदशास्त्र का समन्वय करते हुए वेद की सम्मान-रक्षा की है । उन्होंने जगत् में अचिन्त्य-भेदाभेद वाद का प्रचार किया है । जीव और ब्रह्म के चेतन-अंश में अभेद है, इसलिये "तत्त्वमसि श्वेतकेतो" "प्रज्ञानं ब्रह्म" प्रभृति श्रुतिमन्त्र हैं, फिर परिमाण-अंश में भेद जीव—अणु और ब्रह्म विभु है इसी के लिये 'द्वासुपर्णा' आदि श्रुतिमन्त्र हैं । श्रीगौरसुन्दर के प्रचारित सनातन धर्म के सार को, बहुत ही सहज बातों में श्रीगौड़ीय वैष्णव आचार्य श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर ने प्रकट किया है,—

"आराध्यो भगवान व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता ।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान
श्रीचैतन्य-महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ।"

सत्शिक्षा प्रदर्शनी

(पूर्व प्रकाशित के उपरान्त)

२१ [घ] ब्राह्मण का त्रिदण्ड-ग्रहण और चतुराभिमानी ठगों द्वारा निर्यातन

शिक्षा—संसार के भोग या संसार का त्याग इन दो कामों में ही जगत् के लोगों का देह, वाक्य और मन नियुक्त है । इन दोनों कामों से मन और वाक्य को खींच भगवान् की सेवा के काम में अर्थात् भगवान के नाम-कीर्त्तन के प्रचार में लगाना ही "त्रिदण्ड संन्यास" है । जगत् के लोग जगत् की सेवा में देह वाक्य और मन को नियोग करते हैं, सुतरां किसी को भगवान् की सेवा में नियुक्त देख, लोग ऐसे मनुष्य को अपने दल से बाहर का समझ तरह तरह से उनपर अत्याचार करते और उसकी हँसी उड़ाते हैं । अवन्ती नगरी के मलिनवास वृद्ध भिक्षुक को देख सामाजिक लोग उसको तरह-तरह की गालियाँ देने और उसे तङ्ग करने लगे । कोई त्रिदण्ड को नारायण का स्वरूप न समझ उसे बाँस की एक लट्ठी जान उसके लिये छीना छीनी करते और कोई कमण्डलु ही छीनने लगे । कोई-कोई त्रिदण्डी भिक्षुक के जप की माला; वस्त्र भोजन-पात्र आदि छीन ले गये ।

२२ [ङ] त्रिदण्डी संन्यासी को उत्पीड़न और उनकी सहिष्णुता

शिक्षा—अपने को कोई कुछ कहे, तो वैष्णव उसे सहन कर उसकी परवा नहीं करते । किन्तु सच्चे सद्गुरु या सच्चे वैष्णव के प्रति यदि कोई मनुष्य मर्यादाहीन वाक्यों का व्यवहार करे, या किसी प्रकार की निन्दा करे, अगर शिष्य उसका प्रतिवाद न करे, तो यह समझना चाहिए, कि उस शिष्य में भगवान् या भगवद्भक्तों की प्रीति अथवा वैष्णवता नहीं हुई, अर्थात् उसका काय-मनोवाक्य दण्डित नहीं हुआ ।

३३ [च] त्रिदण्डी-संन्यासी का कायमनोवाक्य से हरिभजन

शिक्षा—त्रिदण्डी संन्यासी के देह, वाक्य और मन आत्मा के साथ सदा श्रीभगवान के कथा-प्रचार में नियुक्त हैं। हरिकथा के प्रचार के सिवा उनका और कोई धर्म नहीं। हरिकीर्त्तन के प्रचार के द्वारा ही जगत के सब युग, सब देश, सब प्रकार के लोगों का प्रकृत मंगल और सब प्रकार की समस्या की मूल समस्या का समाधान होता है।

३४ त्रिदण्ड संन्यास श्रीमन्महाप्रभु और श्रीमद्भागवत से अनुमोदित है

शिक्षा और प्रमाण—श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के चतुर्विंश अध्याय में तथा अन्यान्य स्थानों में त्रिदण्ड संन्यास का विस्तृत विवरण लिखा है। मनुसंहिता के द्वादश अध्याय में भी त्रिदण्ड-संन्यास का विषय लिखा है। जाबाल-उपनिषद् के षष्ठ-खण्ड में, महाभारत के शान्तिपर्व जनक सुलभा-संवाद में हंसगीता में, पद्मपुराण में, हारीतसंहिता में, स्कन्दपुराण प्रभृति शास्त्रों में भी त्रिदण्ड संन्यास का विषय उल्लिखित है। स्मार्त्त रघुनन्दन भट्टाचार्य ने अपने एकादशीतत्त्व में कहा है,—भगवान की श्रीमूर्त्ति और त्रिदण्डी-संन्यासी को देख यदि कोई नमस्कार न करे, तो उसे उपवास द्वारा प्रायश्चित्त करना चाहिये। मुक्तिकोपनिषद् में और सात्वतसंहिता में त्रिदण्डी-संन्यासियों के १०८ प्रकार के नाम हैं। आचार्य्य विष्णुस्वामी के प्रवर्तित प्राचीन वैष्णव-सम्प्रदाय में अनेक त्रिदण्डी थे। श्रीमद्भागवत के प्रसिद्ध टीकाकार श्रीधरस्वामी विष्णु स्वामी सम्प्रदाय के ही एक त्रिदण्डी-गोस्वामी हैं। बिल्वमंगल ने (लीलाशुक) परवर्ती काल में इन विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय में ही त्रिदण्ड-संन्यासाश्रम ग्रहण किया था। श्रीमन्महाप्रभु, श्रीधरस्वामी और श्रीबिल्वमंगल इन दोनों का ही विशेष रूप से आदर और उन्होंने अपने आदर्श का अनुसरण करने के लिये सबसे कहा है। श्रीधर स्वामी केवल-अद्वैतवादी नहीं थे। वे विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय भुक्त शुद्ध अद्वैतवादी त्रिदण्डी थे। महाप्रभु ने कभी भी केवल-अद्वैतवादी का आदर नहीं किया। महाप्रभु ने केवल-अद्वैतवादियों के उद्धार के लिये बाहर से एक दण्डी संन्यासी बनकर भीतर से त्रिदण्ड के अभिमान की लीला का ही प्रदर्शन किया था।

श्रीमन्महाप्रभु के पार्षद और, अनुगत श्रीगदाधर पण्डित गोस्वामी ने क्षेत्र संन्यास या त्रिदण्ड-संन्यास ग्रहण किया था। उन गदाधर पण्डित गोस्वामी के शिष्य श्रीमाधव उपाध्याय ने बाद को उनसे ही त्रिदण्ड ग्रहण कर 'माधवाचार्य' के नाम से विख्यात हुए और वेद के पुरुष-सूक्त के मङ्गलभाष्य की रचना की। इन माधवाचार्य से श्रीवल्लभ भट्ट ने उनके देह त्याग के ३६ दिन पहले त्रिदण्ड संन्यास ग्रहण किया। श्रीमन्महाप्रभु के शिष्य श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती ने (प्रकाशानन्द नहीं) त्रिदण्डी का आदर्श दिखाया था। ये वैष्णव स्मृति के सङ्कलनकर्त्ता श्रीगोपाल भट्ट गोस्वामी प्रभु के गुरुदेव थे।

वैष्णव-आचार्यगण में श्रीविष्णुस्वामी, श्रीरामानुजाचार्य और श्रीनिम्बार्क स्वामी त्रिदण्डी थे।

श्रीरूप-गोस्वामी प्रभु ने अपने उपदेशामृत में 'त्रिदण्ड-संन्यास' का विषय कहा है। महाप्रभु के अनुगत व्यक्तियों में किसी ने बाहर से त्रिदण्डी-वेष प्रकाश किया है, किसी ने हृदय से त्रिदण्ड ग्रहण कर कायमनोवाक्य से हरिभजन किया है। जब महाप्रभु संन्यास-लीला का प्रकाश करते हुए राढ़ देश में भ्रमण कर रहे थे, तब उन्होंने श्रीमद्भागवत के त्रिदण्डी-संन्यासी के श्लोकों को गाते हुए त्रिदण्डी के नाम से अपना परिचय देने का अभिनय किया था। (चै० च० म० ३ य० प०)

३५ त्रिदण्ड ग्रहण—छः गोस्वामियों द्वारा अनुमोदित

शिक्षा—जो लोग अनुराग के साथ भगवान् की सेवा करते हैं ऐसे मुक्त पुरुषों को जबर्दस्ती संन्यास-आश्रम के गेरुए वस्त्र पहनाने की चेष्टा व्यर्थ है। किन्तु जो लोग अपने को परमहंस गोस्वामी का दास होने का अभिमान कर अपने को किसी आश्रम और वर्ण के अन्तर्गत साधक-

जीवमात्र समझते हैं, वे केवल आचार्य का अनुगत हो दीनता के साथ गेरुआ वस्त्र और त्रिदण्ड या अभिजन करने वाले द्विज का चिह्न जनेऊ धारण कर लिया करते हैं। परमहंस वैष्णवों में इस प्रकार का उपवीत या गेरुआ वस्त्र आदि वर्ण अथवा आश्रम का कोई चिह्न नहीं है। कच्ची बुद्धि के व्यक्तियों का अनुकरण कर परमहंस का रूप भरने पर जगत् में जैसा जञ्जाल उपस्थित होता है, उसे समाज के लोग आजकल के बाबाजी-वैष्णव-वेशधारी लोगों के आदर्श में ही देख रहे हैं। धर्म तो दूर की बात, सामान्य नैतिक आचार भी इनमें दिखाई नहीं देते।

३६ तीन प्रकार की शास्त्रीय दीक्षा और संस्कार

शिक्षा—प्रवृत्त व्यक्तियों की भावी योग्यता के लिये कलियुग में पाञ्चरात्रिक दीक्षा ही विहित है।

३७ चराचर सबके मूल विष्णु हैं

शिक्षा—सब देवताओं के प्राण विष्णु की पूजा करने से ही सबकी पूजा और तुष्टि होती है. "तस्मिन् तुष्टे जगत् तुष्टम्।" श्रीशालग्राम विष्णु के सिवा और किसी देवता में प्राण प्रतिष्ठा और पूजा नहीं होती; क्योंकि विष्णु ही सब देवताओं के प्राण हैं।

३८ बहुतेरे देवताओं की पूजा पत्ते पत्ते पर पानी छिड़कने की तरह है

शिक्षा—मूल विष्णु की पूजा करने से सभी सन्तुष्ट होते हैं। पेड़ के पत्तों और डण्ठलों पर पानी सींचने से उसकी पुष्टि नहीं होती। पेट में भोजन न डालकर नाक, कान, आँख प्रभृति अङ्ग में डालने से मनुष्य की न तो पुष्टि होगी, न वह खुश होगा और न उसकी भूख ही दूर होगी। ये शास्त्रीय वचन हैं—वेद-सत्य वाक्य हैं—चालबाजी या अपसाम्प्रदायिकता नहीं है। कामना के लिये किसी भी देवता की पूजा असाम्प्रदायिकता और वेदविरुद्ध है।

३९ परमेश्वर कृष्ण की आज्ञा से ग्रहगण सहित, नश्वर धर्म-कामियों के आराध्य सूर्य का कालचक्र में घूमना

शिक्षा—पञ्च-उपासकों के आराध्य सभी देवता मूल पुरुष भगवान् कृष्ण की आज्ञानुसार जगत् के सब काम करते हैं। (ब्रह्मसंहिता ५।५२)

४० परमेश्वर की स्वरूप शक्ति और उनकी छाया

शिक्षा—इस जड़ जगत् की सृष्टि-स्थिति और प्रलय करनेवाली भगवान् की मायाशक्ति स्वरूप-शक्ति की छाया है; वह परमेश्वर की आज्ञानुसार, जो मनुष्य भगवान् से जितना विमुख होता है, उसे उसी प्रकार तरह तरह के सुख और दुःख दे भगवान् की सेवा करती है। (ब्र० सं० ५।४४)

४१ सांसारिक अर्थ के सिद्धिदाता—गणेश हैं, गणेश के आराध्य और सिद्धिदाता—श्रीनृसिंह हैं

शिक्षा—जगत् के लोगों की संख्या को 'गण' (Mass) कहते हैं। गण (लोगों) का आराध्य 'अर्थ' है। जहाँ जितनी चेष्टा और चिन्तन दिखाई देती है, उन सबका प्रयोजन या मतलब अर्थ का लाभ है। अर्थ के विषय में सिद्धि देनेवाले देवता का नाम 'गणेश' है। 'गण', अर्थ के उपासक और सिद्धिदाता को ही गण के प्रभु या गणेश नाम से वर्णन किया गया है। वे गणेश, त्रिजगत् को अर्थ की सिद्धि देने के लिये शक्ति प्राप्त करने को, जिनके पादपद्म अपने मस्तक पर सदा धारण करते हैं, वे नृसिंह देव मूल पुरुष कृष्ण के ही अंश हैं। (ब्र० सं० ५।५०)

४२ शुद्ध सत्त्वमय विष्णु के मायाशक्तियुक्त तमोगुण अवतार भवानीभर्त्ता रुद्र

शिक्षा—दही दूध के सिवा और किसी वस्तु से नहीं बनता। पानी से दही नहीं होता; दूध से ही दही होता है। इसी प्रकार महाविष्णु से ही रुद्र हैं; किन्तु रुद्रत्व विष्णुत्व नहीं है। (ब्र० सं० ५।४५)

४३ शुद्ध सत्त्वमय विष्णु ही अपने रजोगुण में प्रतिफलित रूप में ब्रह्मा हैं

शिक्षा—जैसे सूर्य के आगे आतशी शीशा

दिखाकर कोई वस्तु जलाई जाती है, वैसे ही ब्रह्मा कृष्ण की शक्ति के प्रभाव से ही सृष्टि करने की शक्ति पाते हैं। ब्रह्मा में निज की स्वाधीन शक्ति है ही नहीं। कृष्ण की शक्ति के आभास से ही उनमें सृष्टिशक्ति है; अतएव कृष्ण ही मूलवस्तु हैं। (ब्र० सं० ५। ६)

४४ भगवान का गीता-उपदेश

(महाभारत भीष्मपर्व)

शिक्षा—समस्त देहधर्म और मनोधर्म को त्यागकर सब तरह से भगवान् के शरणागत होना ही जीव का नित्यधर्म है यही गीता की शिक्षा है।

४५ गुरुनामधारी का आश्रय और सद्गुरु के पदाश्रय का पार्थक्य

शिक्षा—लौकिक गुरु, सामाजिक गुरु, व्यवसायी गुरु और उनके प्रतियोगी जो सब गुरु 'सद्गुरु' के नाम से लोगों की कल्पना से विख्यात हैं, वे कायेन भगवान् की सोलहों आने इन्द्रिय तृप्ति के लिये व्यस्त नहीं हैं; सुतरां ऐसे मनुष्यों का आश्रय लेने से भवसिन्धु से पार नहीं हुआ जा सकता (भा० ११। २०। २७)

४६ श्रीव्रजमण्डल-परिक्रमा

शिक्षा—धर्म, अर्थ और काम के बहाने जीव को चौरासी लाख योनि में न घुमाकर औरों के दुःख से दुःखी महाजन भगवान् की सेवा की कामना से चौरासी कोस व्रज-मण्डल की परिक्रमा कराते हैं। श्रुति ने जिन्हें "रसो वै सः" कहा है, वे रसस्वरूप अखिल रस की मूर्त्ति श्रीकृष्ण हैं। अप्राकृत द्वादश रस की मूर्त्ति ही श्रीकृष्ण हैं। उन द्वादश रस के आदर्शस्वरूप श्रीकृष्ण का लीलाक्षेत्र द्वादश वन है। श्रीगुरुदेव के साथ सदा हरिकथा सुनते व कीर्तन करते हुए इस वर्ष बहुतेरे लोगों को द्वादश-वन के भ्रमण का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

४७ भक्ति की लता का क्रमिक आश्रय और वृद्धि

शिक्षा—श्रीकृष्ण अखिलरसामृत-मूर्त्ति हैं। एकमात्र श्रीकृष्णतत्त्व के जाननेवाले सद्गुरु की कृपा से ब्रह्माण्ड, विरजा, ब्रह्मलोक और वैकुण्ठ के ऐश्वर्यभाव इन सबको अतिक्रम कर अनिन्द्क अकपट गुरु-वैष्णव-सेवकों की भक्ति-लता श्रीकृष्ण के पादपद्म तक पहुँचती है। (चै० च० म १९ श प०)

४८ नव-विध भक्ति का पीठ—नवद्वीप है

शिक्षा—श्रीकृष्ण का श्रवण, कृष्ण-कीर्तन, कृष्ण-स्मरण, कृष्ण की पदसेवा, कृष्ण की पूजा, कृष्ण की वन्दना, कृष्ण का दासत्व, कृष्ण के प्रति मित्रभाव, कृष्ण में सब प्रकार से आत्मसमर्पण-चेतन की, इन नौ वृत्तियों का नाम "नव-विध-भक्ति" है। इन सब वृत्तियों को जड़ीय अनित्य विषय में लगाने से अमंगल और पूर्ण चेतनमय पुरुष श्रीकृष्ण की सेवा में नित्य लगाने से जीव का परम मंगल होता है। नव-विध-भक्ति की माला में आत्मसमर्पण ही मेरु या सबसे ऊपर की मणि है और श्रवण सर्व प्रथम है। पहले आत्मसमर्पण करके बाद को श्रवण से इन सब भक्तियों का याजन किया जाता है, इन नव-विध भक्तियों के पीठ रूप में ही यह नवद्वीप गोलोक से भूलोक में अवतीर्ण हुआ है।

४९ श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्ति ग्रन्थावली और प्रचार-प्रणाली

शिक्षा—श्रीगौड़ीय मठ श्रीकृष्णार्थ सब तरह से सचेष्ट है।

५० श्रीभगवान की नित्य प्रकट और अप्रकट लीला

शिक्षा—श्रीभगवान और उनकी लीलायें नित्य हैं। जब वे कृपाकर अपनी इच्छा से इस जगत् में अपनी लीला के साथ प्रकट होते हैं, तब वह भगवान् की प्रकट-लीला कही जाती है। किन्तु जब वे अपने सहित लीला को इस जगत् से हटा कर अन्य जगत् में प्रकट करते हैं, या अपने नित्य-धाम में करते हैं, तब उसे जगत् में अप्रकट लीला कहते हैं। जब इस ब्रह्माण्ड में अप्रकट-लीला होती है, तब उस जगत् में प्रकट-लीला होती है। इस ब्रह्माण्ड में प्रकट-लीला के समय भी भगवान् की अचिन्त्य-शक्ति के प्रभाव से नित्य गोलोक-वैकुण्ठ में नित्य ही लीला विराजती रहती है। भगवान के इस जगत में अवतीर्ण होने से नित्यधाम सूना नहीं हो जाता।

५१ तीर्थों का जल और रज

५२ श्रीकृष्ण की पूतना-वध लीला

शिक्षा—जो कपटी लोग गुरु और साधु का वेश तथा नाम धारण कर भोग और मिथ्या त्याग की शिक्षा देते हैं; वे सब पूतना के समान हैं। परमार्थ या वास्तविक धर्म जीवन प्राप्त करने के लिये इन सब पूतना के समान व्यक्तियों का सङ्ग सब तरह से परित्याग करना चाहिये।

५३ श्रीकृष्ण की शकट-भञ्जन-लीला

शिक्षा—मनोधर्म के कुसंस्कार, जड़ता और जड़ का अभिमान इत्यादि शकटासुर के समान हैं। हरि-भजन के आरम्भ में ये सब संस्कार पहुँच कर भजन करनेवाले को विघ्न पहुँचाते हैं। कृष्ण की कृपा से ये सब विनष्ट होते हैं।

५४ श्रीकृष्ण की यमलार्जुन-भञ्जन लीला

शिक्षा—धन, यौवन आदि अभिमान के कारण जो सब वैष्णव-अपराध हो जाते हैं, वे सब औरों के दुःख से दुःखी दयालु वैष्णव ठाकुर के शासन और कृष्ण की कृपा से निर्मल हो जाते हैं।

५५ श्रीकृष्ण की बकासुर-वध-लीला

शिक्षा—अकपट हरिभजन के विरोधी कंस जैसे लोग कपटता, धूर्तता और शठता आदि अनर्थों के द्वारा अकपट हरिभजन करनेवालों को हरिभजन करने से हटाना चाहते हैं; कृष्ण उनका ध्वंस करते हैं।

५६ कृष्ण की अघासुर-वध-लीला

शिक्षा—कृष्ण अपने साधकों के हिंसा-द्वेष आदि पाप बुद्धि और अपराधों को कृपाकर दूर कर देते हैं।

५७ श्रीकृष्ण की कालीय दमन-लीला

शिक्षा—खलता, क्रूरता, मत्सरता प्रभृति अनर्थ कृष्ण-भजन के साधकों को विघ्न पहुँचाते हैं। सद्‌गुरु के पादपद्म में सेवा बनी रहने से कृष्ण उन अनर्थों को दूर करते हैं।

५८ श्रीकृष्ण की गोवर्द्धन-धारण लीला

शिक्षा—श्रीकृष्ण सर्वशक्तिमान् और शरणागत-पालक परमेश्वर हैं। उनकी पूजा परित्याग कर इन्द्रिय के भोग साधक अन्यान्य देवताओं की पूजा करना उचित नहीं। गोवर्द्धन साधारण पर्वत नहीं,—साक्षात् भगवद्-वस्तु है।

५९ ब्रह्मा द्वारा श्रीकृष्ण का गो-वत्स हरण

शिक्षा—ऐसा सन्देह करना, कि गोप बालक श्रीकृष्ण स्वयं परमेश्वर हैं या नहीं, परीक्षा की बुद्धि और ऐश्वर्य के समादर से भगवान के माधुर्य स्वरूप की अवमानना करनेवाली बुद्धि के अपराध को भगवान इस लीला द्वारा दूर करते हैं।

६० श्रीकृष्ण द्वारा वरुण के हाथ से नन्द का उद्धार

शिक्षा—नशीली चीजों की आदत का अनर्थ कृष्ण-भजन में विघ्न डालता है। साधकगण कृष्ण की कृपा से उसे दूर करेंगे।

६१ श्रीकृष्ण की रजक-वध लीला

शिक्षा—कर्मजड़-स्मार्त्तवाद या तथा-कथित नीतिवाद जब परमा-भक्ति-नीति पर आक्रमण करता है, तब कृष्ण कृपाकर उसका विनाश करते हैं। कृष्ण स्वराट् वस्तु हैं; कंस के मालिक भी कृष्ण हैं। जगत् की समस्त सम्पत्ति कृष्ण की सेवा के लिये ही है।

६२ शिशु प्रह्लाद को पर्वत की चोटी से गिराना

शिक्षा—पर्वत-शिखर के समान अकपट भगवद्भक्तों की स्वाभाविक श्रेष्ठता को देख विषयी और मायावादी अपनी उच्च-विद्या, धन, रूप, पाण्डित्य और पुण्यादि सत्कर्म की बहादुरी दिखाकर उन्हें छोटा बनाना चाहते हैं। किन्तु विष्णु सदा ही निष्कपट शरणागत भक्तों की रक्षा करते हैं।

६३ प्रह्लाद को अग्निकुंड में गिराना

शिक्षा—जो कामिनी-काञ्चन में रत तथा भगवान् के नित्यनाम, रूप, गुण और लीला के विरोधी नास्तिक हैं, वे आस्तिकता को बाल्यावस्था को त्रिताप की अग्नि में ढकेलने की चेष्टा करते पर भी भगवान् अयाचित् भाव से शरणागत भक्त की रक्षा करते हैं।

६४ प्रह्लाद को समुद्र में गिराना

शिक्षा—कामिनी-काञ्चन में रत और मायावादी अपने दल के प्रति ममता अर्थात् जिसमें उनका वास्तविक मङ्गल है, उसकी ओर न जाने देकर भक्ति की बाल्यावस्था का ही विनाश करने के लिये उन्हें संसार-समुद्र में फेंकने अर्थात् संसारी बनाकर डुबाना चाहते हैं और जहाँ भगवान् के पादपद्म की सेवा का आश्रय नहीं है, उस अपार संसार सागर में फेंक देते हैं, किन्तु भगवान शरणागत की रक्षा करते हैं।

६५ प्रह्लाद को हाथी के पैरों तले डालना

शिक्षा—कामिनी-काञ्चन में आसक्त और भगवान के विद्वेषी मनुष्य भक्ति की आस्तिकता की प्रथम अवस्था को कुल-धन आदि के अभिमान से वैष्णवों की निन्दा-रूपी अपराध के मतवाले हाथी के पैरों-तले कुचलवाने की चेष्टा करते हैं।

६६ प्रह्लाद को कारागार में डालना

शिक्षा—कामिनी काञ्चन में रत, विष्णु वैष्णव-विद्वेषी और मायावादीलोग आस्तिकता की बाल्यावस्था को भोग के क़ैदखाने में या त्याग के क़ैदखाने में ढकेल कर विषय विष या भगवान की नित्यसेवा से दूर रखनेवाले निर्विशेष त्यागरूपी विष को खाने के साथ मिलाकर जीवन्त अर्थात् सेवावृत्ति को विनष्ट कर देने की चेष्टा करते हैं; किन्तु भगवान् अपने निष्कपट शरणागत भक्तों की रक्षा करते हैं।

६७ स्फटिकस्तम्भ से नृसिंह का आविर्भाव

शिक्षा—शरणागत भक्त सर्वत्र ही विष्णुमय चराचर जगत् देखते हैं, और भोगी तथा त्यागीलोग सभी वस्तुओं को अपने भोग या त्याग की सामग्री मान अथवा जड़ से चेतन की उत्पत्ति होना मानकर अपने निजत्व का सत्यानाश कर डालते हैं।

६८ श्रीनृसिंहदेव द्वारा हिरण्यकशिपु का वक्ष-विदारण

शिक्षा—भोगी और त्यागीलोग अपनी तपस्या के भरोसे से अपने को अमर समझ, मृत्यु की सभी राहों को बन्दकर सज्जन से विरोध रखते हैं, उन सबको विध्वस्त कर भक्तों की रक्षा के लिये भगवान् के नित्यस्वरूप का अवतार होता है। श्रीविष्णु नास्तिकता को छिन्न करते हैं।

६९ अभय वरदाता श्रीनृसिंहदेव और शरणागत प्रह्लाद

शिक्षा—जैसे लोगों के लिये सिंह भयङ्कर है, किन्तु अपने बच्चों के लिये स्नेहमय है, वैसे ही भगवान् अभक्तों के लिये भयङ्कर हैं, किन्तु शरणागत के लिये प्रेममय हैं। भक्त भगवान से उनकी सेवा के अतिरिक्त धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष नहीं चाहते।

७० आचार्यगण की पहचान

शिक्षा—परममुक्त आचार्यगण का देह और देही में कोई प्रभेद नहीं। वीरपूजा या एपोथियसिस से (Apotheosis) आचार्यपूजा पृथक् है।

(क्रमशः)

गुरु के घर हरिशरण

पाँचवाँ दिन

ह सबेरे सब लोग गुनगुनाते स्वर में श्रीहरिनाम का सङ्कीर्तन करते हुए शय्या से उठ खड़े हुए। फिर सब लोग हाथ मुँह धोने के उपरान्त हाथ में श्रीमाला धारणकर आनन्द के साथ श्रीहरिनाम का जप करते करते श्रीगुरुदेव के पास आकर बैठ गये। कुछ देर बाद श्रीहरिशरण ने श्रीगुरुदेव से पूछा,—"प्रभो! आज हम लोगों को कृपया द्वितीय नामापराध के बारे में उपदेश देकर कृतार्थ कीजिये।"

श्री गुरुदेव ने कहा,- " अच्छा बेटा, आज सबेरे ही सबेरे इस विषय की आलोचना की जाय। तीसरे पहर यदि भगवत् इच्छा से अध्वद्वीप के दर्शन को चले जायेंगे, तो फिर इस विषय में आलोचना के लिये समय न मिलेगा। सब लोग मन लगाकर सुनो।

द्वितीय नामापराध के बारे में पद्म पुराण में है

"शिवस्य श्रीविष्णोर्य इह गुणनामादिसकलम
धिया भिन्नं पश्येत स खलु हरिनामाहितकरः।"

इस श्लोक के दो अर्थ हैं। पहला अर्थ है—देवाग्रगण्य सदाशिव और श्रीविष्णु के गुणनामादि को, संसारी बुद्धि द्वारा भिन्न समझते हुए जो हरिनाम लेते हैं, वह नामापराध माना जाता है। मतलब यह है, कि सदाशिव एक पृथक् ईश्वर और विष्णु एक पृथक् ईश्वर हैं—ऐसी कल्पना से बहु ईश्वर वादिता आ जाती है। इससे भगवान् के प्रति अनन्य-भक्ति में बाधा उत्पन्न होती है, सुतरां विष्णु ही सर्वेश्वरों के ईश्वर हैं और उनकी शक्ति से ही शिवादि देवताओं में ईश्वरत्व है; इस प्रकार की बुद्धि के साथ हरिनाम लेने से अपराध नहीं होता।

"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः विष्णोर्यत् परमं पदम्" इत्यादि वेदवाक्य से मालूम होता है, कि विष्णु ही परमतत्त्व हैं और देवगण परम तत्त्व के रूप में ही सर्वदा उनका दर्शन किया करते हैं, उससे इतर रूप के क्षणभर के लिये भी दर्शन नहीं करते। उन विष्णु के ऐश्वर्य और माधुर्य के भेद से दो रूपों का विषय हम लोग अधोक्षज ज्ञान के अवलम्बन से जान पाते हैं। ऐश्वर्य रूप में वे चतुर्भुज शङ्ख चक्र-गदा-पद्मधारी वैकुण्ठनाथ लक्ष्मीपति श्रीनारायण और माधुर्यरूप में वे मोहनमुरलीधर मधुर लीला-परायण गोपीजन-वल्लभ राधानाथ श्रीवृन्दावन-चन्द्र हैं। ब्रह्मसंहिता में दिखाई देता है,—

"ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।
अनादिरादिर्गोविंदः सर्वकारण-कारणम्॥"

अर्थात् सच्चिदानन्द विग्रह श्रीकृष्ण ही परमेश्वर हैं। वे स्वयं अनादि, सबके आदि और सब कारणों के कारण हैं। मीमांसक वाक्य में भी दिखाई देता है, कि सब रसों के आधार श्रीकृष्ण में चौंसठ गुण, परव्योमपति श्रीनारायण में साठ गुण, शिवादि देवगण में पचपन गुण और जीवगण में पचास गुण के एक-एक बूँद विराजते हैं। श्रीमद्भागवत में भी अवतारों के विषय के बाद कहा है,—

"एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।"

अर्थात् अवतारावली स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के अंश और कला हैं। इन बहुतेरे शास्त्रवाक्यों से हम लोग जानते हैं, कि श्रीकृष्णतत्त्व ही सब तत्त्वों का मूल है, अवतार नारायण तत्त्व अवतारी श्रीकृष्ण का ही अंश है और कृष्णतत्त्व तथा नारायण-तत्त्व दोनों ही विष्णुवस्तु होने पर भी विष्णु का नाम लेने से प्रधानतः सबके आदि, सब कारणों के कारण परमेश्वर श्रीकृष्ण ही समझे जाते हैं।

शिवादि देवगण की संख्या निर्णय नहीं है। वह सब स्वरूपतः श्रीकृष्ण के अंश विभूति या किङ्कर हैं अथवा श्रीकृष्ण की इच्छा से वे प्रत्येक देवता मायिक जगत् में एक-एक प्रकार का आधिपत्य प्राप्त कर सृष्टि आदि कार्यों की सहायता करते हैं। माया देवी के आवरणी और विक्षेपात्मिका—इन दोनों वृत्तियों द्वारा मुग्धचित्त मनुष्यगण दुर्भाग्यवश ईशतत्त्व के ज्ञानाभाव से और वेदादिशास्त्र के दर्शनाभाव से अज्ञानवश इसे न समझ प्रत्येक देवगण को एक-एक पृथक ईश्वर समझते हुए बहुईश्वर वादिता, और अज्ञ ज्ञान के आश्रय में वेद के गूढ़ तात्पर्य को न समझ, परमेश्वर विष्णु के साथ सब देवताओं की समता समझते हुए मायावाद की अवतारणा कर श्रीकृष्ण के चरण में महा अपराध किया करते हैं। इस अपराध से वे बहुतेरे जन्म तक श्रीनाम ग्रहण करने पर भी उसका फल श्रीकृष्णप्रेम पा नहीं सकते; बल्कि भगवान से पृथक तत्त्व में आसक्त होते हैं और सर्वमंगलमय परमतत्त्व श्रीकृष्ण से विच्छिन्न रह सदा भवमहादावाग्नि में जलते रहते हैं।

यह तो तुम लोग समझ सकते हो, कि बहुईश्वरवादिता बिलकुल ही अयौक्तिक है; क्योंकि ईशतत्त्व मायिक सृष्टि की तरह कभी भी बहुत हो नहीं सकता। मायावादियों की बुद्धि भी नितान्त सङ्कीर्ण है। अखिलजगत की विशेष विचित्रता को

देख वे लोग समझते हैं, कि विष्णुतत्त्व में कोई विशेष विचित्रता नहीं। जिस विश्वास से ही वे लोग सेवा-विहीन हो, अचिन्त्य ब्रह्म की चिन्ता करते और 'एकोब्रह्म द्वितीयो नास्ति' आदि कल्पित सूत्र के अनुसार परमेश्वर विष्णु और अन्यान्य देवगण को ब्रह्म का कल्पित रूप समझ, सबको ही समान मानते हैं। ब्रह्म के अपरिच्छिन्न नाम, रूप, गुण और लीला को स्वीकार कर नहीं सकते। इसके स्वीकार करने से ब्रह्म ही विष्णु के रूप में जान पड़ते हैं। मायावाद को स्वीकार करना ही जीव का दुर्भाग्य है। शुद्ध भक्तगण इस अघोर मतवाद को दूर कर भगवत् स्वरूप से अभिन्न नाम, रूप गुण और लीला पर अचल विश्वास करते हैं। शास्त्र का कहना है,

"विरुद्धमाश्रयं ... चित्रम्।"

अर्थात् परमतत्त्व में विरुद्ध धर्मों का एकत्र अपूर्व और अचिन्त्यभाव से समावेश है। मूर्तित्व और सर्वव्यापित्व, सृष्टिकर्त्तृत्व और निर्विकारत्व, पालन कर्त्तृत्व और अकर्त्तृत्व, संहारकर्त्तृत्व और मङ्गलमयत्व, विशेषत्व और निर्विशेषत्व प्रभृति यावतीय विरुद्धगुण उस परमतत्त्व में अवस्थान करते हैं, इसलिये पर तत्त्व अद्भुत हैं। किन्तु मायावादी लोग परतत्त्व में केवलमात्र जड़ीय धर्मों का अवस्थान देखते हैं। अन्तज जगत ही उनका एक मात्र स्थल है, इसलिये पर तत्त्व में विशिष्ट धर्मों का अवस्थान वे स्वीकार नहीं कर सकते, इसीसे वे लोग स्वतन्त्र दर्शक कहे जाते हैं। पञ्चरात्र में कहा गया है,

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदैवतैः।
समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद्ध्रुवम् ॥

अर्थात् जो मायावाद के आश्रय से सर्वेश्वर के ईश्वर श्रीविष्णु को ब्रह्मा रुद्रादि देवगण के समान समझते हैं, वे पाषण्डी हैं।

"भक्तगण, तुम लोग समझ गये न, कि परम पुरुषार्थ जो भगवत् प्रेम है, उसके पाने के लिये श्रीकृष्ण ही सब ईश्वर के ईश्वर हैं और देवगण उनके अंश की विभूति या किङ्कर हैं, मायावाद नितान्त हेय है—इन सब बातों को ठीक-ठीक रूप में सद्गुरु से समझ कर बड़े ही यत्न के साथ श्रीहरि-नाम लेना चाहिये।"

भक्तगण ने समस्वर से कहा, "हाँ प्रभु, आपकी कृपा से हम लोग इस विषय को अच्छी तरह समझ गये। अब कृपया द्वितीय अर्थ बताकर कृतार्थ करें।"

श्रीगुरुदेवने कहा—"अच्छा, अब द्वितीय अर्थ कहता हूँ; मन लगा कर सुनो।

शिवस्वरूप अर्थात् सर्वमङ्गलमय श्रीभगवान के नाम, रूप, गुण और लीलादि को यदि उनके नित्य सिद्ध विग्रह से पृथक् देखते हुए श्रीनाम ग्रहण किया जाय, तो उसमें अशिव ज्ञान होने की वजह अमङ्गल रूप अपराध होता है। अतएव कृष्णस्वरूप, कृष्ण-नाम कृष्णरूप, कृष्णगुण और कृष्णलीलादि सभी अप्राकृत और परस्पर अपृथक् हैं; सद्गुरु से इसी प्रकार ज्ञान और विज्ञान का लाभ कर श्रीकृष्णनाम लेना चाहिये। नहीं तो नामापराध होगा और उसके फल से प्रेमफल पाने से वञ्चित होना पड़ेगा। सब भक्तों ने इस अर्थ को भी समझ लिया न?"

भक्तिविनोद ने कहा,—"हाँ प्रभु, समझे। किन्तु प्रभो, आजकल सब गृहस्थों के घर में नाना प्रकार के देव देवियों की पूजा होती है। इसके मूल में यह, निश्चय ही अन्तर्निहित जान पड़ता है, कि प्रत्येक देव-देवियों को एक-एक पृथक् ईश्वर या ईश्वरी माना जाता है। क्योंकि वे लोग यदि श्रीकृष्ण को ही सब ईश्वरगण का ईश्वर मानते, तो एकमात्र उनकी पूजा करते; देव-देवियों की पूजा में इतने व्यस्त न होते। इससे जान पड़ता है, कि वे लोग बहु-ईश्वर वादिता के दोष से दूषित हैं। श्रीभगवान् के नाम का आश्रय करनेवाले गृहस्थ भक्तगण इनकी तरह गृहधर्म का पालन करने पर भी इस नामापराध में पड़ जाते हैं। सुतरां कृपाकर यह उपदेश करिये कि किस प्रकार संसारयात्रा का निर्वाह करने पर वे इस अपराध से मुक्त रह सकते हैं?"

श्रीगुरुदेवने कहा,—"गृहस्थ आश्रम में वर्तमान मनुष्यगण वर्णाश्रम की व्यवस्था को ठीक तरह से प्रतिपालन करते हुए संसारयात्रा का निर्वाह

करें । पुण्यभूमि भारतवर्ष में यह वर्णाश्रमधर्म सम्पूर्ण समाज और परमार्थ-विज्ञान पर ऋषिगण द्वारा प्रतिष्ठित है । अन्यान्य देशों में यद्यपि इस व्यवस्था को शुद्धरूप नहीं मिला, फिर भी वह किसी न किसी रूप में मौजूद अवश्य है । मनुष्य का स्वभाव बिना वर्णाश्रमविभाग के सम्पूर्णता प्राप्त नहीं करता । म्लेच्छ और अन्त्यजगण सौभाग्यक्रम से अपने को अपने शुद्धाचार से निष्पाप बनाकर द्विजसंस्कार में प्रवेश करें; यही नित्यनिर्दिष्ट है । कृष्ण के संसार में रहकर जबतक वैध (विधिसाध्य) जीवन का प्रयोजन है तब तक वर्णाश्रम का प्रतिपालन अवश्य करना चाहिये । ऐसे नियम से भजन करते-करते भाव का उदय होता है । भावोदय होने से जीव का स्वभाव इतना सुन्दर हो जाता है कि विधि प्रेरणा को छोड़कर वह वैध जीवन की उच्चता को प्राप्त करता है । यह व्यवस्था साधारण जीवों के सम्बन्ध योग्य नहीं है । शुद्ध भावोदय स्वयं प्रवृत्त होता है ।

आजकल स्वामीजी के पैर चाटनेवाले, गृहमेधी, बहु-ईश्वरवादी, परमार्थ हीन लोगों की संख्या ही अधिक है । वे उच्चकुलसम्भूत होने पर भी शास्त्रतः शूद्र या अन्त्यज की आख्या पाने के योग्य हैं । पद्मपुराण में कहा है, कि केवल रजोगुण से लोग सर्वदेवाराधना रूपी भक्ति को प्राप्त करते हैं । बल्कि सत्त्वगुणसम्पन्न कृष्ण के संसार में प्रविष्ट साधु लोग जानते हैं, कि—

"यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः ।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥"

अर्थात् जैसे वृक्ष की जड़ में पानी देने से वृक्ष का स्कन्ध, शाखा, उपशाखा प्रभृति सभी पुष्ट होते हैं, और प्राण की तृप्ति से जैसे सब इन्द्रियों की तृप्ति होती है, वैसे ही विष्णुपूजा करने से समस्त देवताओं की पूजा होती है । वृक्ष की जड़ में पानी न देकर यदि शाखा-प्रशाखायें सींची जायें या भोजन को पेट में न पहुँचाकर यदि हाथ और माथे पर रख दिया जाय, तो वृक्ष और प्राण की बात तो दूर रही, शाखा-पल्लव या हाथादि का जैसे कोई उपकार नहीं होता, वैसे ही श्रीविष्णु-पूजा का त्याग कर उनकी शाखा-पल्लव आदि की तरह अन्यान्य देवताओं के पूजने से कोई फल नहीं होता । स्कन्द पुराण में लिखा है,—

"वासुदेवं परित्यज्य योऽन्यदेवमुपासते ।
स्वमातरं परित्यज्य श्वपचीं वन्दते हि सः ॥"

अर्थात् विष्णुपूजा को छोड़कर जो अन्य देवता की पूजा में मन लगाते हैं, वे अपनी माता को परित्याग कर चाण्डालिनी की वन्दना करते हैं । फिर महाभारत में कहा है—

"यस्तु विष्णुं परित्यज्य मोहादन्यमुपासते ।
स हेमराशिमुत्सृज्य पांशुराशिं जिघृक्षति ॥"

अर्थात् जो विष्णु को परित्याग कर मोहवश अन्य देव की उपासना करते हैं, वे सोने के ढेर को परित्याग कर धूल के ढेर को लालच करते हैं । और एक जगह कहा है—

"अनादृत्य तु यो विष्णुमन्यदेवं समाश्रयेत् ।
गङ्गाम्भसः स तृष्णार्त्तो मृगतृष्णां प्रधावति ॥"

अर्थात् जो विष्णु का अनादर कर अन्य देवता का आश्रय ग्रहण करते हैं, वे गंगाजल को परित्याग कर मरीचिका की ओर लपकते हैं ।

सुतरां कृष्ण के संसार में प्रविष्ट गृहस्थ साधु लोग अपने अपने घर में परमेश्वर श्रीकृष्ण की पूजनीय मूर्ति स्थापित कर अपने को कृष्ण का नित्यदास समझते हुए धन-जन-गृह आदि तथा कायमनोवाक्य द्वारा निष्काम भाव से उनकी उपासना में लगे रहें और संशय-शून्य हो मातृ-पितृ-श्राद्धादि सब कामों को विष्णु के नैवेद्य द्वारा परिपूर्ण करें । सवेरे कम से कम एक लाख शुद्ध नाम के कीर्तन की कोशिश करें । कामना-मूलक अनेक देवदेवियों का पूजन, नास्तिक बहु-ईश्वर-वादी और मायावादियों के सङ्ग को सब सूरत से परित्याग कर दें । इस प्रकार गृहस्थाश्रम में रहने से उस आश्रम का उचित धर्म प्रतिपालित होता है और नामापराध होने का भय नहीं होता ।"

एक व्यक्ति पूछ बैठे— "प्रभो, विष्णु ही परम तत्त्व हैं, और सब तेतीस करोड़ देवता कहाँ ? मैं

तो यह मानता हूँ कि समग्र विश्व ही विष्णुमय है। किन्तु मुझे पूछना यह है कि जब सब देवताओं में विष्णु ही अधिष्ठान हैं, तब सब देवताओं की पूजा से विष्णु की पूजा क्यों नहीं होती ?"

श्रीगुरुदेव ने कहा—"भक्तगण, यह ठीक है, किन्तु सब देवताओं के विष्णुमय होने की वजह वेद में और किसी देवपूजा का विधान नहीं किया गया। विष्णु के बाहरी आवरणरूपी अन्य देवता की पूजा से सब देवताओं की पूजा नहीं होती, ऐसा ही वेद में कहा है। अतएव पृथकभाव से अन्य देवता की पूजा करने की आवश्यकता नहीं। श्रीभगवान ने स्वयं श्रीमद्भगवद्गीता में उपदेश दिया है,

"येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥"

अर्थात् श्रीभगवान कहते हैं—वास्तव में सच्चिदानन्द स्वरूप में ही एकमात्र परमेश्वर हूँ। मैं अपने स्वरूप में सर्वदा अप्राकृत सच्चिदानन्द प्रपञ्च से अतीत तत्त्व हूँ। संसार में माया के गुण द्वारा मेरी प्रतिफलित, बद्धजीवों की कामना से बने देवता ही विभिन्न देवताओं के स्वरूप हैं। कामना के वश यह सब देवता मुझसे पृथक् हैं और उन्हें नित्य समझकर श्रद्धापूर्वक उनकी उपासना करने से यह सच है कि वह पूजा मेरी ही होती है, किन्तु विधि पूर्वक नहीं होती।

इससे स्पष्ट जान पड़ता है, कि एकमात्र भगवत्-पूजा के अतिरिक्त कामना के वश दूसरे देव-देवियों की पूजा मना है। जीव के हृदय से कामना का मूल जब समूल नष्ट हो जाता है, तब विष्णु ही उसके आराध्यतत्त्व हो जाते हैं; क्योंकि अन्यान्य देवताओं की पूजा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि कामनाओं के लिये है। श्रीविष्णुपूजा में कोई कामना ही नहीं। श्रीचैतन्यचरितामृत में कहा है,—

"कृष्ण भक्त निष्काम, अतएव हैं शान्त।
भुक्ति मुक्ति सिद्धिकामी सब हैं अशान्त ॥"

और एक जगह शास्त्र में दिखाई देता है,—

"वासुदेव छोड़ के जो अन्य देव भजे।
संसार में डूबे औ ईश्वर को तजे ॥"

समस्त वेदों के सुपक्व फलस्वरूप श्रीमद्भागवत का कहना है,—

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः।
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः॥
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः।
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः ॥"

अर्थात्, समग्र वेद, यज्ञ योग और समस्त कर्म विष्णु के लिये हैं अर्थात् श्रीकृष्ण की भक्ति के लक्ष्य से हैं। ज्ञान, वैराग्य और दान-व्रतादि विषयक शास्त्र, स्वर्गादि लोक-लाभ विषयक शास्त्र—सब विष्णु की ओर ही इशारा करते हैं; सभी गति विष्णु-परायण हैं।

श्रीहरिशरण ने पूछा—"प्रभो, कृपाकर यह बताइये, कि यदि मनुष्य प्रमादवश विष्णु से भिन्न किसी इतर तत्त्व में परतत्त्व समझ बैठे, तो उसका प्रतीकार कैसे हो सकता है ?"

श्रीगुरुदेव ने कहा,—"श्रीविष्णु के स्मरण से बढ़कर दूसरा कोई प्रायश्चित्त जगत् में नहीं है। विपन्न ब्राह्मण को विष्णुदर्शन का उपदेश वेदशास्त्र में सर्वत्र मौजूद है। कृष्ण-नाम का लेना और विष्णु-दर्शन करना एक ही बात है। सुतरां भ्रम के दूर हो जाने पर कायमनोवाक्य से धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष आदि कामनामूलक भगवान् से इतर देव-देवियों का पूजन परित्याग कर साधुसङ्ग में श्रीविष्णु का स्मरण या श्रीकृष्णनाम का कीर्तन करता हुआ जीव परम मंगल-स्वरूप पुरुषार्थ को प्राप्त कर धन्य होता है।"

इसके बाद सब लोग नामगुण-कीर्त्तन करने लगे,—

विश्व-उदित, नाम तपन,
अविद्या विनाश - लागि।
मागत सब, माया विभव,
साधु रहें अनुरागी ॥
हरिनाम-प्रभाकर अविद्या तिमिर-हर
तव महिमा कौन जाने।
कौन पण्डितजन, सके तव महिमा गान,
उषाम्बर ये सब बखाने ॥

तब अभास प्रथम भाय ।
भर तिमिर-कवलित प्राय ॥
सहज तिमिर नशे, हो प्रज्ञान ।
स्वांध-नयन को करें प्रदान ॥

वह प्रज्ञान विशुद्धा भक्ती ।
उपजे हरि-विषयक जो मती ॥
है अद्भुत लीला सदा तुम्हार ।
विनोद सेवक समझा सार ॥

ब्राह्मण और वैष्णव

शुद्ध वैष्णवगण, ब्राह्मण का आदर करते हैं। ब्राह्मण मात्र सच्चे वैष्णव की पूजा करते हैं। जहाँ अपनी अपनी योग्यता के अभाव का आश्रय कर जड़ का अहङ्कार आता है, वहाँ अपने अपने स्वरूप की भ्रान्ति समझना चाहिये। स्वरूप का विचार के उपयोगी होने की वजह यह प्रबन्ध लिखा जा रहा है। यह तो सभी लोग जानते हैं, कि ब्राह्मण सबके पूज्य हैं। लड़के लोग बचपन में गुरु महाशय से व्याकरण पढ़ने के समय "षष्ठी और सप्तमी की विभक्ति" के साथ-साथ यह भी पढ़ते हैं, कि "वर्णानां वर्णेषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः"—चार वर्णों में ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ हैं। बहुतेरे लोग यह नहीं जानते, कि ब्राह्मण से भी श्रेष्ठ कोई है। एक तो ब्रह्मण्य-देव कृष्ण ब्राह्मणों के पूज्य हैं, किन्तु वे स्वयं भगवान् हैं। फिर शास्त्र में दिखाई देता है, कि वे ही श्रीकृष्ण भृगु के पद-चिह्न को छाती पर धारण किये हुए हैं। सुतरां ब्राह्मण से श्रेष्ठ और कोई नहीं; किन्तु श्रीकृष्ण ने अपने ही मुख से कहा है, कि जगत् में ब्राह्मण से भी श्रेष्ठ हैं। वैष्णव ब्राह्मण से भी श्रेष्ठ हैं, वैष्णव ब्राह्मण के गुरु हैं। यह विषय साधारण लोग नहीं जानते—आश्चर्य करते हैं, कि यह नई बात कैसी! इसके अतिरिक्त आज कल लोगों में वैष्णव के सम्बन्ध में जैसी विकृत धारणा है, उससे वैष्णव का नाम लेते ही लोग अशिक्षित दुश्चरित्र, बर्बर और अब्राह्मण, असभ्य छोटे आदमी को ही समझते हैं। इसमें लोगों का कोई दोष नहीं, ऐसे लोग जो प्रत्यक्ष देखते हैं, वही मानते हैं। किन्तु शास्त्र का कहना है, कि वैष्णव ब्राह्मण से कई गुना श्रेष्ठ हैं। गरुड़ पुराण में कहा है—

> ब्राह्मणानां सहस्रेभ्यः सत्रयाजी विशिष्यते ।
> सत्रयाजिसहस्रेभ्यः सर्ववेदान्तपारगः ॥
> सर्ववेदान्तवित् कोट्या विष्णुभक्तो विशिष्यते ।

हजार ब्राह्मणों में एक याज्ञिक ब्राह्मण श्रेष्ठ है; फिर हजारों याज्ञिक ब्राह्मणों में सब वेदान्त शास्त्रों में पारदर्शी एक ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण श्रेष्ठ है; फिर ऐसे कोटि ब्राह्मणों में एक विष्णु-भक्त वैष्णव श्रेष्ठ है, सुतरां जो वैष्णव हैं, उनमें ब्राह्मणत्व का अभाव नहीं है। जैसे जिस धनी के पास एक लाख रुपये हैं, उसे एक या दश हजार रुपये का अभाव नहीं है। एक लाख रुपये में ही एक या दश हजार भरे पड़े हैं। अतएव जो विष्णुभक्त हैं, वे निश्चय ही ब्राह्मण हैं। केवल ब्राह्मण होने से ही विष्णुभक्त को कोई छोटा नहीं समझ सकता। यद्यपि विष्णु-भक्त को जगत् की छोटाई बड़ाई का कोई ध्यान ही नहीं है, वे सदा ही अपने को तृण से भी नीच समझते हैं, फिर भी सब जीवों के मङ्गलाभिलाषी विष्णु-भक्त निर्बोध मनुष्यों या मत्सर से भरे लोगों के लिये ऐसी चेष्टा करते रहते हैं, जिससे वे अपराध में न पड़ने पायें। अनेक निर्बोध आदमी या जिन्हें दूसरों का सम्मान करने में कष्ट होता है, ऐसे मत्सरी मनुष्य वैष्णव-कुलशिरोमणि साक्षात् भगवान् के पार्षद अभिन्न व्रज-परिकर श्रीरघुनाथदास गोस्वामी, श्रीनरोत्तम, श्रीभक्ति ठाकुर, श्रीश्यामानन्द प्रभु आदि वैष्णव वृन्द को भी शूद्र कहने में सङ्कोच नहीं करते। फिर कितने ही विष्णु-वैष्णव विरोधी मनुष्य उन सब महात्माओं के ब्राह्मण के शुक्र से उत्पन्न लोगों का

शिष्यत्व स्वीकार करने की वजह उनके आचरण में दोषारोपण करते हैं। जो लोग देह को ही सब कुछ समझ देह धर्म या लौकिक स्मार्त्तधर्म में अभिनिविष्ट हैं, वे वैष्णवों के माहात्म्य को कैसे समझ सकते हैं? वे शुक्र-शोणित से उत्पन्न जड़-देह के परिचय को ही सब कुछ समझते हैं। किन्तु वैष्णवगण केवल देह के परिचय से ही परिचित नहीं हैं। वे भगवान् के शुद्ध नित्यदास हैं। वे लोग जानते हैं कि हम नित्य वस्तु सच्चिदानंद भगवान के अंश और नित्य-सेवक हैं। युग-युग में वैष्णव आचार्यगण जगत् में विष्णु वैष्णव का माहात्म्य, आत्मधर्म के श्रेष्ठत्व का प्रचार और आनुषङ्गिक भाव से विष्णु वैष्णव-विरोधियों के दल की हेयता, सर्वाङ्गता और बहि-र्मुख स्मार्त्तधर्म के तुच्छत्व और जड़त्व भाव को दूर करने के लिये अन्तर्मुख स्मार्त्त के रूप में जगत् में अवतीर्ण होते हैं। श्रीमन्महाप्रभु मुसलमान-कुल में उत्पन्न हरि-दास की त्यागी हुई देह को गोद में ले नाचे थे और फिर उन्होंने स्वयं महाप्रसाद की भिक्षा कर भक्तों को साथ लेकर हरिदास ठाकुर के श्राद्ध-महोत्सव को सम्पन्न किया था। भक्तों ने हरिदास का पादोदक ग्रहण किया था। श्रीमद् अद्वैत प्रभु ने हरिदास ठाकुर को श्राद्धपात्र अर्पण किया था। एक दिन हरिदास ठाकुर ने अद्वैताचार्य प्रभु से कहा था,—

> महा महा विप्र यहाँ कुलीन समाज।
> मेरा आदर करके मन न हो लाज॥
> अलौकिक आचार तुम्हारा कहते हो भय।
> ऐसी कृपा करो जिससे तव रक्षा होय॥

इसके उत्तर में अद्वैत प्रभु ने कहा था—

> आचार्य कहते तुम मत करो भय।
> वही मैं करूँगा जो शास्त्र-मत होय॥
> तुम्हें खाये होता कोटि ब्राह्मण भोजन।
> ऐसा कह के श्राद्ध - पात्र कराया भोजन॥

(श्रीचैतन्य चरितामृत अ ३य ३।६)

वैष्णव-आचार्य श्रीपाद रामानुज के गुरु महा-पूर्ण ने किसी शूद्रकुल में उत्पन्न भक्त की त्यागी हुई देह का सत्कार किया था; इससे उस समय के विष्णु-वैष्णव विरोधी स्मार्तगण ने उनकी निन्दा की थी। किन्तु महापूर्ण इससे किसी तरह भी पीछे नहीं हटे। श्रीरामचन्द्र ने गिद्ध - योनि से उत्पन्न जटायु का संस्कार किया था। श्रीझड़ ठाकुर भुँइ-माली कुल में उत्पन्न हुए थे; किन्तु श्रीरघुनाथदास गोस्वामी के चाचा कालिदास ने उन झड़ू ठाकुर के चूस कर छोड़ी हुई आमकी गुठली को वैष्णव-उच्छिष्ट समझकर ग्रहण किया था।

> झड़ ठाकुर चरण चिह्न जहँ जहँ मिला।
> उस धूलि को कालिदास ने अपने अङ्ग मला॥

एक दिन झड़ू ठाकुर ने—

> चूस चूस गुठली पत्तल में गिराया।
> उसे लेके उनकी पत्नी ने भी खाया॥
> चूसी गुठली पत्तल में लपेट लेके।
> बाहर बतनाथ स्थान में जाके फेंके॥
> उस गुठली को लेके चूसा कालिदास।
> चूसते चूसते हुआ प्रेम का उल्लास॥

(श्रीचैतन्य-चरितामृत अन्त्य १६ अध्याय)

श्रीनारायणी - नन्दन श्रीवृन्दावनदास ठाकुर ने सर्वोच्च ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होकर भी श्रीचैतन्य भागवत में वैष्णवों का कितना श्रेष्ठत्व स्थापन किया है —

> चाहे जिस कुल में वैष्णव जन्म क्यों न लहे।
> तथापि सर्वोत्तम हैं सर्वशास्त्र कहे॥
> जो पापिष्ट वैष्णव में जाति बुद्धि करे।
> जन्म जन्म अधम योनि में डूब मरे॥

(चैतन्य भागवत मध्यखण्ड)

> विषयमदान्ध ये सब मर्म न जाने।
> विद्या धन-जाति मद से वैष्णव न पहचाने॥

(चै० भा० मध्यखण्ड)

वैष्णव विरोधी ब्राह्मणाभिमानी को अभक्त समझ श्रीचैतन्यभागवत ने उनका आदर नहीं किया।

वराहपुराण में इस वाक्य के प्रमाणादि भी हैं। जो विष्णु के भक्त नहीं हैं, वे पुण्यफल से ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न होकर भी अब ब्राह्मणों का आचार ग्रहण कर बीच-बीच में श्रोत्रियकुल में बाधा प्रदान किया करते हैं।

पद्मपुराण में महेश का वाक्य है—

किमत्र बहुनोक्तेन ब्राह्मणा ये ह्यवैष्णवाः।
तेषां सम्भाषणं स्पर्शं प्रमादेनापि वर्जयेत्॥

पद्मपुराण में महादेव का कहना है, कि जो ब्राह्मण-कुल में जन्म लेकर भी वैष्णव नहीं हैं, प्रमाद वश भी उनसे बातचीत करना और उनका स्पर्श करना परित्याग करना चाहिये।

ब्राह्मण होकर भी यदि अवैष्णव होय।
उससे बातचीत से भी पुण्य होय क्षय॥
(श्री चैतन्यभागवत आदिखण्ड)

श्रीभक्तिसन्दर्भ में (१०० संख्या में) श्रीजीव गोस्वामिपाद ने श्रीमद्भागवत का वचन उद्धृत कर दिखाया है—

विप्राद् द्विषड्-गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति सकुलं न तु भूरिमानः॥

धन, सत्कुल में जन्म, रूप, तपस्या, वेदाध्ययन, ओजः, तेज, प्रताप, बल, पौरुष, प्रज्ञा और अष्टाङ्ग-योग—ये बारह गुण अथवा शम, दम, तपस्या, शुद्धाचार, क्षमागुण, सरलता, वैराग्य, ज्ञान, विज्ञान, सन्तोष, सत्य, भगवान् के अस्तित्व में विश्वास—इन द्वादश गुणों से युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान् के चरणारविन्द से विमुख हों, तो उनकी अपेक्षा जिनका मन, वाक्य, चेष्टा, धन और प्राण श्रीभगवान् में अर्पित हुआ है, ऐसे मनुष्य चण्डाल होने पर भी उन द्वादश गुणों से युक्त गर्व में भरे ब्राह्मण से श्रेष्ठ हैं। क्योंकि वे चण्डाल के कुल में उत्पन्न होकर भी कुल को पवित्र करते किन्तु वे ब्राह्मण कुल तो दूर रहा, अपने को भी पवित्र कर नहीं सकते। यथा—

किरात-हूणान्ध्र-पुलिन्द-पुक्कशा
आभीर-कङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः
शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥(भा.२।४।१७)

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका में है—"किरातादयो ये जातित एव पापा अन्ये च ये कर्मत एव पापास्ते शुद्ध्यन्ति। सद्गुरुचरणाश्रयमात्रेणैव जातिकर्माभ्यां सकाशात् पापिनः शुद्ध्यन्तीति प्रारब्धाप्रारब्ध-पापनाशकत्वं भक्तेर्ध्वनितम्। तथापि ते तज्जातित्वेन यदाख्यायन्ते तद्व्यवहारत एव न तु परमार्थत इति ज्ञेयम्। वैष्णवे जातिबुद्धिरिति तेषु जातिबुद्धिर्निषेधात्।" किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुक्कश, आभीर, शुम्भ, यवन और खस प्रभृति जो सब पाप जाति और अन्यान्य जो सब लोग कर्मतः पापी हैं, वे भी भगवान् के आश्रित होकर अर्थात् सद्गुरु के चरणाश्रय मात्र से ही जाति और कर्मगत पाप से शुद्धि पाते हैं। भक्ति के द्वारा जीव का प्रारब्ध अर्थात् जिसके पाप का फलभोग आरम्भ हो गया है और अप्रारब्ध अर्थात् जिसके पाप का फल-भोग अब भी आरम्भ नहीं हुआ है, वह सब पाप विनष्ट हो जाता है। फिर भी उन सब सद्गुरु के चरणाश्रित व्यक्तियों को संसारी लोग जो उनकी-उनकी जाति के नाम से आख्या दिया करते हैं, वह व्यवहारगत है; परमार्थतः नहीं। क्योंकि शास्त्र का कहना है, कि जो व्यक्ति वैष्णव की जाति समझता, वह नारकी है। अतएव उनकी कोई जाति समझना निषेध है। भक्तिसन्दर्भ की १०१ संख्या में श्रीजीवपाद फिर भागवत का श्लोक उद्धृत कर दिखाते हैं,—

धिग्जन्म नस्त्रिवृद् यत्तद्धिग् व्रतं धिग्बहुज्ञता।
धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे॥
(भा. १०।२३।३२)

याज्ञिक ब्राह्मणगण कहते हैं,—हमलोग जड़ इन्द्रिय के अतीत श्रीकृष्ण से विमुख हैं। इसलिये जड़ इन्द्रिय के द्वारा उनके माहात्म्य को समझ नहीं सकते। हम लोगों के शुक्र-सम्बन्धी, सावित्री-सम्बन्धी और दीक्षा-सम्बन्धी—इन तीन प्रकार के जन्म को धिक् है, हमारे ब्रह्मचर्यादि व्रत को धिक् है, हमारी बड़ी अभिज्ञता को धिक् है, हमारे ब्राह्मणकुल को भी धिक् है, हमारे यज्ञादि कर्म की निपुणता को भी धिक् है। श्रीमद्भागवत ने इस श्लोक में कितनी ही बार धिक् शब्द के प्रयोग द्वारा अक्षज स्मार्त्तधर्म को निरास कर अधोक्षज भगवान् की भक्ति का स्थापन किया है। जो लोग स्मार्त्तधर्म के अक्षज ज्ञान में अन्ध हो वैष्णव में ब्राह्मणता, क्रिया-पटुता, ब्रह्मचर्यादि व्रत,

बहुतेरे अभिज्ञता के अभाव की कल्पना करते हैं, उन्हें सैकड़ों धिक्कार है। सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः, भगवान् के अकिञ्चन भक्तों में देवता लोग अपने समस्त गुणों के साथ विराजते हैं। सुतरां वैष्णव केवल ब्राह्मणाभिमानी मात्र नहीं हैं। यह मूर्खों की बकवाद है, कि वैष्णव ब्राह्मण नहीं हैं। वैष्णव को केवल ब्राह्मण कहना, उनका अपमान करना है। वैष्णव सम्बन्ध ज्ञानयुक्त ब्राह्मण हैं। वैष्णव परमात्मवित् योगी हैं। वैष्णव भगवत् उपासक ब्राह्मण हैं। वैष्णव ब्राह्मण और योगी के भी गुरुदेव हैं। ब्राह्मण वैष्णव के अनुगत हैं। कर्मी ब्राह्मण वर्ण और आश्रम के अन्तर्गत हैं। भक्त-ब्राह्मण या वैष्णव वर्णाश्रम से अतीत अप्राकृत वस्तु हैं। मूर्ख जड़ मनुष्यों को समझाने के लिये वैष्णव परमहंसगण वैष्णव को ब्राह्मणोत्तम ब्राह्मण या वैष्णवगुरु के दास बताते हैं। वैष्णव अपने को ब्राह्मण नहीं कहते, इसलिये मूर्ख ब्राह्मण उन्हें ब्राह्मण कहने में भी सङ्कोच करते हैं। ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण भी वैष्णव के अनुगत हैं। क्योंकि ब्रह्म, परमात्म और भगवत् की त्रिविध प्रतीति में भगवत्-प्रतीति ही सम्पूर्ण प्रतीति है। बी० ए० या उपाधि-दान से पहले ही जैसे मैट्रीकुलेशन या प्रवेशाधिकार अन्तर्निहित है, वैसे ही वैष्णवता के भीतर ही ब्राह्मणत्व अवस्थित है।

प्रायश्चित्त

इस लोक में जिन सब व्रतों के अनुष्ठान द्वारा जान में, अजान में या पूर्व-जन्म-कृत शारीरिक या मानसिक पाप दूर करने की चेष्टा की जाती है, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। मनुसंहिता के एकादश अध्याय और स्मार्त्त रघुनन्दन के अट्ठाईसवें तत्त्व में अन्यतम प्रायश्चित्त तत्त्व और पुराण, तन्त्र, संहिता आदि ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न पाप के लिये भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त की व्यवस्था है। किसी एक ही पाप के लिये समर्थ और असमर्थ के वास्ते कितने ही प्रकार के प्रायश्चित्तों की व्यवस्था दिखाई देती है। मनुसंहिता के एकादश अध्याय में कहा है,—

"अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितञ्च समाचरन्।
प्रसजंश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः॥"

अर्थात् शास्त्रविहित धर्माचरण न करने, निन्दित कर्म करने और इन्द्रियों में अत्यन्त आसक्त होने से मनुष्य प्रायश्चित्त करने योग्य होता है।

"प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य दैवात् पूर्वकृतेन वा।
न संसर्गं व्रजेत् सद्भिः प्रायश्चित्तेऽकृते द्विजः॥"

जो द्विज इस जन्म में दैवात् प्रमादवश कृत पाप से या पूर्वजन्मकृत पाप से पापों के प्रायश्चित्त के योग्य होकर भी प्रायश्चित्त नहीं करते, साधु लोगों के साथ उनका संसर्ग उचित नहीं।

कोई-कोई मनुष्य इस जन्म या पर जन्म की दुश्चरित्रता के लिये कौनख्यादि (खराब नख के) रूप से विपर्यय को प्राप्त होते हैं। अनादि बहिर्मुख जीव मनुष्य का जन्म पाकर भी रूप-रसादि के विषय में आसक्त हो तरह-तरह के पापकर्म करते हैं। भगवत्-बहिर्मुखता से ही पापबीज की उत्पत्ति होती है। वे सब पापबीज कितने ही जीवों में कितने ही आकार में बढ़ते हुए ढेर के ढेर विचित्र पापफलों को उत्पन्न करते हैं। शास्त्र में महापातक, अनुपातक, समान-पातक, उपपातक, जातिभ्रंश करनेवाला पातक, अपात्रीकरण पातक, मलावह-पातक आदि कितने ही प्रकार के पातकों का उल्लेख दिखाई देता है। चार्वाक आदि नास्तिकगण ने वेदादि-शास्त्र को सम्पूर्ण रूप से अस्वीकार करके भी उन सब पापों की कोई परवा नहीं की। देहसर्वस्व कर्मी लोग परलोक का विश्वास करते हैं और परलोक में स्वर्गादि सुख की भी इच्छा किया करते हैं। सुतरां कर्मियों

में प्रायश्चित्तादि का विशेष प्रचलन दिखाई देता है। बंगाल में स्मार्त्त रघुनन्दन के प्रायश्चित्त की व्यवस्था कर्मजड़ स्मार्त्तों में विशेष प्रचलित है। किन्तु भगवत्-सेवा की आकांक्षा करनेवाले भक्त लोग पाप या पुण्य स्वर्ग या नरक की कोई इच्छा नहीं रखते। वे अपनी इन्द्रिय की प्रसन्नता के वशीभूत हो कोई काम नहीं करते। वे सद्गुरु, साधु और सात्वत शास्त्रों से यह समझ चुके हैं, कि जीव नित्य भगवद्दास है। भगवान् की नित्य सेवा ही उनका स्वरूपधर्म है। सुतरां देह और मन के धर्म तथा पाप और पुण्य से वे सदा विरत रहते हैं। वे लोग जो कुछ काम करते हैं, वह सब भगवान् की सेवा के उद्देश्य से। इसलिये पाप उन लोगों को स्पर्श भी कर नहीं सकता। जहाँ स्वयं फल भोगने की इच्छा से पाप किया जाता है, वहाँ ही भगवत्-विस्मृति होती है और उसीके साथ पाप का अभ्युदय होता है। श्री गीता में कहा है,—(३ । १३)—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

साधु लोग यज्ञेश्वर विष्णु का अवशेष ग्रहण करते हैं, सुतरां वे पञ्चसूनादि पाप से मुक्त हैं। जो लोग भोक्ता के अभिमान में सब यज्ञों के एकमात्र भोक्ता और प्रभु श्रीकृष्ण को छोड़कर अपने लिये कर्म करते हैं, वे ही पाप के भागी होते हैं। भगवद्भक्त लोग सम्बन्ध ज्ञान विशिष्ट हैं, सुतरां उनमें स्वभावतः ही किसी निषिद्ध पापाचार की मति नहीं होती, यदि किसी कारण से पाप हो भी जाता है, तो भगवान् किसी तरह का प्रायश्चित्त न कराके उन्हें शुद्ध कर लेते हैं। श्रीचैतन्यचरितामृत के मध्य २२ शमें है,—

विधि-धर्म छोड़ भजे कृष्ण के चरण।
निषिद्ध पापाचार में न होय कभी मन॥
भूल से जो हो भी जाय पाप उपस्थित।
कृष्ण शुद्ध करें न करायें प्रायश्चित्त॥

श्रीमद्भागवत में लिखा है,—(११ । ५ । ३८)—

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य
त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चित्
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥

अर्थात् अन्यभावों को परित्याग कर जो हरि के पादमूल का भजन करते हैं, उन प्रिय मनुष्यों में यदि किसी समय किसी प्रकार का पाप उपस्थित हो, तो परमेश्वर हरि उनके हृदय में प्रविष्ट हो उस पाप को विनष्ट किया करते हैं। श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध में अजामिल के उपाख्यान में प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में ऐसी ही सुमीमांसा दिखाई देती है।

महाराज परीक्षित् ने जब शुकदेव से पूछा, कि नरक में जानेवाले मनुष्यों की राह बन्द होने का क्या उपाय है, तब शुकदेव गोस्वामी ने कहा, कि मनुष्य शरीर अथवा मन द्वारा पापाचरण करके यदि इस लोक में ही मनु आदि शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं करता, तो उसे नरक भोगना पड़ता है। जैसे वैद्य रोग की अधिकता और कमी के अनुसार औषध का विधान करते हैं, वैसे ही पाप के महत्त्व और अल्पत्व का विचार कर उसी के अनुसार प्रायश्चित्त करना उचित है। इसका उत्तर देते हुए महाराज परीक्षित् ने कहा,—

दृष्टश्रुताभ्यां यत् पापं जानन्नप्यात्मनोऽहितम्।
करोति भूयो विवशः प्रायश्चित्तमथो कथम्॥
क्वचिन्निवर्ततेऽभद्रात् क्वचिच्चरति तत्पुनः।
प्रायश्चित्तमथोऽपार्थं मन्ये कुञ्जर-शौचवत्॥

अर्थात् इस लोक में दिखाई देता है, कि मनुष्य सब शास्त्रों के कहे हुए नरकपात और राज-दण्डादि के भय से विषय को जान-बूझकर भी प्रायश्चित्त के अन्त में विवश हो फिर-फिर अपने अहितकारी पाप कार्य में रत होते हैं, अतएव द्वादश वार्षिक व्रतादि को कैसे प्रायश्चित्त कहा जा सकता है? उन सब पापों का प्रायश्चित्त करने पर भी तो पाप का बीज नष्ट नहीं होता। यदि पाप की जड़ कटी ही नहीं, तो नरक में भी अवश्य ही गिरना पड़ेगा। जैसे हाथी को स्नान करा देने पर भी वह सूंड़ को अङ्ग में धूल मल लेता है, वैसे ही आदमी प्रायश्चित्त करके भी फिर पाप करने की वजह नरक में

जाते हैं। तब श्रीशुकदेव गोस्वामी ने परीक्षित् महाराज से कहा,—

कर्मणा कर्म-निर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते।
अविद्वदधिकारित्वात् प्रायश्चित्तं विमर्शनम्॥
नाश्नतः पथ्यमेवान्नं व्याधयोऽभिभवन्ति हि।
एवं नियमकृद्राजन् शनैः क्षेमाय कल्पते॥

चान्द्रायणादि कष्टसाध्य प्रायश्चित्त द्वारा पाप की जड़ कट नहीं सकती। अविद्या का नाश न होने से प्रायश्चित्तादि से तात्कालिक पाप के क्षय होने पर भी संस्कारवश बार-बार पाप की उत्पत्ति होती है। तत्त्व-ज्ञान का उदय होना ही यथार्थ प्रायश्चित्त है। जैसे नित्य नियमित रूप से पथ्य ग्रहण करते रहने से रोग आदमी पर आक्रमण करने नहीं पाता, वैसे ही नियमित भाव से तत्त्व-ज्ञान की आलोचना करते-करते जीव की अविद्या दूर हो जाती है।

तपसा ब्रह्मचर्येण शमेन च दमेन च।
त्यागेन सत्यशौचाभ्यां यमेन नियमेन वा॥
देहवाग्बुद्धिजं धीरा धर्मज्ञाः श्रद्धयान्विताः।
क्षिपन्त्यघं महदपि वेणुगुल्ममिवानलः॥

अर्थात् धर्मज्ञ बुद्धिमान् पुरुष श्रद्धान्वित हो तपस्या, ब्रह्मचर्य, शम, दम, त्याग, सत्य, शौच, यम, नियम द्वारा काय-मनोवाक्य-कृत महत् पाप को भी आग के संयोग से बाँस की कोठी के विनाश की तरह जला डालते हैं। गीता ४-३६-३७ श्लोक में अर्जुन के प्रति भगवान् का वचन है,—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥

अर्थात् हे अर्जुन, यद्यपि तुम समस्त पापाचरण करनेवालों में सब से अधिक पापकारी हो रहे हो, तथापि ज्ञान की नौका पर सवार हो समस्त पाप-सागर से पार हो जाओगे। जैसे जलती हुई आग लकड़ियों को भस्म कर देती है, वैसे ही सब कर्मों को ज्ञानाग्नि जला देती है।

किन्तु अग्नि द्वारा बाँसों के जल जाने पर भी मट्टी के भीतर छिपी हुई जड़ नहीं जलती। अकसर दिखाई देता है, कि वर्षा का पानी पाने से उस बाँस की कोठी से फिर अंकुर निकलते हैं। जैसे पूर्व दृष्टान्त द्वारा देखा गया, कि नियमित पथ्यादि के लेने पर भी आदमियों में बीमारी का बीज रहने की वजह फिर रोग का आविर्भाव होता है। अतएव तपस्या ब्रह्मचर्य, त्याग या यम-नियमादि द्वारा भी पूरी तरह से पाप का बीज नष्ट नहीं होता। कर्ममार्गियों के कष्टसाध्य प्रायश्चित्तादि की अपेक्षा ब्रह्मचर्य, तपस्या, यम-नियमादि अधिकतर उत्तम उपाय हैं सही, किन्तु उन सबसे भी पाप का मूलीभूत कारण पूर्ण रूप से दूर नहीं होता। किन्तु,—

केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः।
अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः॥

जैसे ओस सूर्य के किरण से पूर्ण रूप से विनष्ट हो जाती है, वैसे ही किसी किसी वासुदेव-परायण भगवद्भक्तों में ज्ञान कर्मादि से अनावृत तीव्र भक्ति-योग के प्रभाव से पूर्ण चैतन्य-सूर्य श्रीभगवान् के उदय से जीव के सब पाप बीज समूल विनष्ट हो जाते हैं। अरुणोदय होते ही जैसे रात की ओस उड़ जाती है, चारों ओर आनन्द छा जाता है, बाघ आदि हिंस्र जन्तु भाग जाते हैं, वैसे ही चैतन्य-सूर्य के आरम्भ में ही आनुषङ्गिक भाव से समस्त पाप बीज और अविद्या दूर हो जाती है; सब उपाधियों द्वारा अनावृत तीव्र भक्तियोग की सुनिर्मल तीक्ष्ण किरण में जीव श्रीभगवान् के प्रेमानन्दानुशीलन में रत होते हैं।

न तथा ह्यघवान् राजन् पूयते तप आदिभिः।
यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पुरुषनिषेवया॥
सध्रीचीनो ह्ययं लोके पन्थाः क्षेमोऽकुतोभयः।
सुशीलाः साधवो यत्र नारायणपरायणाः॥

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने परीक्षित् महाराज से कहा,—हे राजन्, भक्तिमार्ग ज्ञानमार्ग से भी श्रेष्ठ है; क्योंकि पापी पुरुष कृष्ण में आत्मसमर्पण कर भगवद्भक्तों की सेवा द्वारा जैसे पवित्र हो सकते हैं, तपस्यादि द्वारा वैसे शुद्ध हो नहीं सकते।

अतएव इस लोक में भक्ति ही एकमात्र उचित पथ है। इस भक्तिपथ से ही नित्य मंगल लाभ होता है और निर्भय हुआ जा सकता है। इस भक्तिमार्ग

में सुशील, उदार, निष्काम साधुगण विचरण करते हैं। सुतरां ज्ञानमार्ग की तरह असहायता के लिये भयथ्या कर्ममार्ग में विचरणशील मत्सर मनुष्यों से किसी प्रकार के भय की आशङ्का उन लोगों में नहीं रहती। ज्ञानमार्गियों को शरणागति का अभाव है। इसके लिये श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध का ब्रह्मस्तव के "यऽन्यरविन्दाक्ष" श्लोक देखना चाहिये। कर्ममार्गीगण भोक्ता के अभिमान में रत रहते हैं, सुतरां वे मत्सर हैं। किन्तु भगवद्भक्तगण ज्ञानियों की तरह स्वयं भगवान् बनने की इच्छा न कर श्रीभगवान् की नित्यदासता या शरणागति को परित्याग नहीं करते; अथवा कर्मियों की तरह स्वर्गादि सुख के लिये भी मत्सर नहीं बनते। वे सदा सम्बन्धज्ञानविशिष्ट होते हैं। वे अपने को भगवान् का नित्यदास समझ सदा भगवान् और भगवद्भक्तों के शरणागत हो उनकी सेवा में नियुक्त होते हैं, सुतरां "जहाँ कृष्ण वहाँ नहीं माया का अधिकार" वहाँ पाप का लेशमात्र भी रह नहीं सकता। भक्ति के छः विशिष्ट लक्षणों में प्रथम लक्षण ही यही है कि "भक्ति क्लेशघ्नी" अर्थात् क्लेश-विनाशिनी है। 'क्लेश' का पाप, पाप का बीज और अविद्या, ये तीन प्रकार के अर्थ माने जाते हैं। जिन्होंने विष्णुभक्ति का आश्रय किया है, उनके जो पाप का फल अब भी आरम्भ नहीं हुआ, जो पाप फलोन्मुख है और जो कुछ पाप या अविद्या का बीज है, वह सभी धीरे-धीरे विनष्ट हो जाता है। जैसा भक्तिरसामृत-सिन्धु में कहा है,—

अप्रारब्धफलं पापं कूटं बीजं फलोन्मुखम्।
क्रमेणैव प्रलीयेत विष्णुभक्तिरतात्मनाम्॥

श्रीगीता के ९। ३०-३१-३२ श्लोक में है,—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

अनन्य शरणागत भक्तों को कोई पाप स्पर्श नहीं करता। उनका भार श्रीभगवान् ग्रहण करते हैं। जैसा, कि अर्जुन के प्रति श्रीभगवान् का वाक्य है,—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(श्रीगीता १८।६६)

सुतरां भगवद्भक्तगण ही सम्पूर्ण भाव से भगवान् के शरणागत होने की वजह सब प्रकार के पापों से मुक्त होते हैं। उन्हें अलग प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता नहीं होती। कर्मी लोग सैकड़ों कष्टसाध्य प्रायश्चित्त करके भी नारायण की शरणागति के अभाव से पाप से छुटकारा नहीं पाते। उनके प्रायश्चित्त का आचरण केवल हाथी के स्नान की तरह बार बार निरर्थक होता है।

प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम्।
न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः॥

शुकदेव ने कहा,—हे राजन्, कर्मज्ञानमय जो सब प्रायश्चित्त हैं, वह आदमी को निश्चित रूप से पवित्र कर नहीं सकते। जैसे शराब के घड़े को यदि बार-बार भी नदी में धोया जाय, फिर भी उस घड़े में कहीं न कहीं दुर्गन्ध रह ही जाती है; किन्तु ज्ञान-कर्म को छोड़ केवल भक्ति ही मनुष्य को सब तरह से पवित्र बना प्रेम तक प्रदान करती है।

सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान्
स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः॥

जो एक बार भी भगवान् के पादपद्म में मन लगाकर भगवान् के गुण में अनुरक्त हो गये हैं किन्तु उनमें प्रेमानुभव अभी तक नहीं हुआ अर्थात् भक्ति का उदय होना तो दूर रहा भक्ति का आभास मात्र हुआ है, उन्हें यम या यम के भृत्यगण का स्वप्न में भी दर्शन नहीं होता। क्योंकि सिर्फ एक बार भगवान् की भक्ति का आभास उदित होने से ही समस्त प्रायश्चित्त हो जाते हैं। सुतरां जो सारग्राही और बुद्धिमान् हैं वे क्षुद्र देह और मन के धर्म, पाप और पुण्य, धर्म और अधर्म, स्वर्ग और मोक्ष—सबको ही मामूली समझ सब धर्मों का त्यागकर एकमात्र हरिभक्त और श्रीहरि के शरणागत हो सदा हरिसेवा में नियुक्त रहते हैं।

सिद्धान्त

पूर्वपक्ष को काट के सिद्धपक्ष के स्थापन की मीमांसा को "सिद्धान्त" कहते हैं। बिना सिद्धान्त के किसी को भी अभीष्ट लाभ हो नहीं सकता। सिद्धान्त के विषय में जिसकी स्थिरता नहीं है, वह वायु के उड़ाये हुए तृण की तरह कभी यहाँ और कभी वहाँ मारे फिरते हुए अशान्ति के राज्य में ठोकरें खाते फिरते हैं। किसी भी प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये सब से पहले उस विषय के स्थिर सिद्धान्त पर पहुँचने की आवश्यकता है। कोई-कोई उदाराभिमानी मनुष्य तर्क के भय से या लोगों के मन में चोट पहुँचने की वजह सिद्धान्त के निर्णय से बाज आते हैं। उनके मत में सभी मत और सभी पथ एक-एक स्वतन्त्र सिद्धान्त हैं, क्योंकि सभी ईश्वर की इच्छा से बने हैं। ऐसे लोग गीता की बातें उठाकर कहते हैं,—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम",—

अर्थात् जिसका जैसा भाव है, उसे वैसा ही मिलता है इत्यादि। ऐसे लोग और भी कहा करते हैं, कि युग-युग में प्रयोजन के अनुसार आचार्यगण एक-एक मत का प्रचार किया करते हैं; फिर, आचार्यों में भी अनेक प्रकार के मतभेद दिखाई देते हैं, सुतरां किसी एक सिद्धान्त पर सिर-खपन न कर भगवान् को याद करना आरम्भ कर देना ही अच्छा है; कोई किसी मत या किसी पथ को ही क्यों न ग्रहण करें, सब एक ही लक्ष्य पर पहुँचेंगे। ये लोग समन्वयवादी के नाम से अपना प्रचार कर जगत् में प्रतिष्ठा अर्जन करते हैं। और भी एक श्रेणी के लोग हैं, जो आप ही आप जो स्थिर कर सके या समझ सके हैं, उसे ही एकमात्र सिद्धान्त बताते हैं। ये लोग—"विश्वास से मिलें कृष्ण तर्क से रहते दूर" इत्यादि वचन कहते हुए स्त्रियों के अन्धविश्वास को ही सिद्धान्त समझते हैं।

शास्त्रीय विचार-प्रणाली की कसौटी पर कसने से उक्त दोनों प्रकार के मनुष्य ही मनोधर्म के वशीभूत पाये जाते हैं। मनोधर्मशील जगत् के आगे उनकी बातों का चाहे कितना ही आदर क्यों न हो या उनका आसन कितने ही ऊँचे क्यों न स्थापित हो, वास्तविक सत्य विचार में सिद्धान्तसार शब्दों की प्रमाणावली के आगे उनकी बातों का कोई मूल्य ही नहीं है। जगत् के आगे जैमिनी आदि या बीस धर्मशास्त्रकार विष्णु, पराशर, हारीत प्रभृति ऋषियों की सर्व प्रतिष्ठा है। उनमें प्रत्येक एक एक महाजन और धर्मपालक के नाम से परिचित हैं। किन्तु सात्वत शास्त्रों के अग्रणी वेदान्तसार श्रीमद्भागवत में धर्मराज यम का कहना है,—

धर्मं तु साक्षाद्भगवत्प्रणीतं न वै विदुर्ऋषयो नापि देवाः।
न सिद्धमुख्या असुरा मनुष्याः कुतो नु विद्याधरचारणादयः॥

स्वयम्भुर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥

(श्रीमद्भागवत ६।३।१९-२०)

साक्षात् भगवत्प्रणीत धर्म के सिद्धान्त के संबंध में भृगु प्रभृति ऋषिवर्ग, देववृन्द, सिद्धगण, असुरगण, मनुष्यगण, विद्याधर और चारण प्रभृति कोई नहीं जानते। केवल बारह धर्मसिद्धान्तवित् हैं। ब्रह्मा, शम्भु, सनत्कुमार, नारद, कपिल, मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्म, बलि, शुकदेव और मैं (यमराज) ही केवल भगवत्प्रणीत धर्म को जानते हैं।

सुतरां अन्यान्य लोग जगत् में कितने ही विख्यात क्यों न हों, यदि वे उक्त द्वादश सिद्धान्तवित् के सिद्धान्त को न जानते हों, तो उनका सिद्धान्त अपसिद्धान्त है।

प्रायेण वेद तदिदं न महाजनोऽयं
देव्या विमोहितमतिर्बत माययालम्।
त्रय्यां जडीकृत - मतिर्मधुपुष्पितायां
वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः॥

महाजन के नाम से विख्यात जैमिनि आदि भी सत् सिद्धान्त को पहुँच नहीं सके। ऐसे महाजनों

की विवेकशक्ति दैवी माया द्वारा विमोहित है। वेद के मधुपुष्पित वाक्य से उनकी बुद्धि जड़ होने की वजह वे विस्तारशील महाकर्म के चिटकनी में बँधे हुए हैं।

अतएव मनोधर्म का कोई भी विषय सिद्धान्त के नाम से माना नहीं जा सकता। सिद्धान्त के निर्णय में अलसता या अन्यमनता एक प्रकार की भोग-प्रियता है। भगवान् को जो जिस भाव से भजते हैं, वे भी उन्हें वैसा ही फल प्रदान करते हैं। भगवान् अपने ऐकान्तिक भक्त को एक प्रकार का फल प्रदान करते और कंस जरासन्ध तथा हिरण्यकशिपु को अन्य प्रकार का फल प्रदान किया करते हैं। विचारक साधु और चोर की व्यवस्था कभी भी समान नहीं करते। अतएव समन्वय वादियों का अर्थ कदर्थ मात्र है। 'किसी के भी मन पर चोट न पहुँचाना' शब्द सुनने में बिलकुल मधुर होने पर भी परिणाम में सुफल दान नहीं करता। जो लोग सारग्राही हैं, वे दूसरे के मन दुखने के भय से सत्-सिद्धान्त के प्रचार में पीछे नहीं हटते। अवश्य ही भिन्न-भिन्न अधिकारियों के अनुसार नैमित्तिक धर्म या सिद्धान्त भी अनेक हो सकते हैं, किन्तु आखिर सिद्धान्त केवल एक ही होता है। उससे उदासीन होने से हमलोग वास्तव राज्य में प्रवेश कर न सकेंगे। अधिकार विशेष के छोटे-छोटे सिद्धान्तों में डूब रहने या नैमित्तिक सिद्धान्तों को नित्य चरम सिद्धान्त के साथ समान समझ समन्वयवादी होने से हमलोग आत्मधर्म में प्रतिष्ठित हो न सकेंगे। जननी जन्म-भूमिका स्वर्ग से भी श्रेष्ठता, गृहमेधियों के पञ्चसूना पाप को दूर करने के लिये नित्य पञ्च-महायज्ञ की व्यवस्था, मांस का पिण्डदान कर पितृगण को तृप्त करने की व्यवस्था, कितने ही प्रकार के देवता और उपदेवता की पूजा इत्यादि बहुतेरे मीमांसा शास्त्रों के छोटे-छोटे सिद्धान्त एक श्रेणी के लोगों के लिये आदरणीय हैं, दूसरी ओर एक श्रेणी के और भी मनुष्य हैं, जो तत्' 'अतत्' (अर्थात् चित् और जड़) को समान समझते हैं, अज्ञान बालक और परमब्रह्मनिष्ठ परमहंस को समान समझते हैं, चन्दन और विष्ठा का भेदज्ञान दूर करने को ही साधन की ऊँची सीढ़ी समझते हैं, सबके ईश्वर भगवान और उनके अधीन देवताओं को समान समझते हैं; देह के धर्म-कर्म, मनोधर्म-ज्ञान और आत्मधर्म भक्ति में कोई भेद नहीं—इस तरह जिसे देखो, वह एक-एक पन्थ बताता है। इन सब अपसिद्धान्तों के मूल में मायावाद तथा मूर्खता के सिवा और कुछ नहीं है। सिद्धान्तसार श्रीगीता ग्रन्थ ने, जगत् में जितने प्रकार के मत और पन्थ हैं, उनके पहले के स्वरूप की अवतारणा कर आत्मधर्म की श्रेष्ठता को ही संस्थापन किया है। श्रीगीता के आदि, मध्य और अन्त में आत्मधर्म भक्ति या भगवान् की शरणागति को ही सबसे गुह्यतम सिद्धान्त ठहराया है। श्रीगीता के तृतीय अध्याय में पूर्व पक्ष के रूप में कर्म की खूब प्रशंसा दिखाई देता है, किन्तु सिद्धान्त होता है,—

> यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
> तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥

शङ्कराचार्य की टीका है,—यज्ञो वै विष्णुरिति श्रुतेर्यज्ञ ईश्वरस्तदर्थं यत् क्रियते तद्यज्ञार्थम्।

अर्थात् विष्णु के लिये कर्म किया जा सकता है, इसके अतिरिक्त और जितने कर्म हैं, सभी कर्म-बन्धन का कारण हैं।

सात्वत शास्त्र का भी कहना है,—

> सुरर्षे विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया।
> सैव भक्तिरिति प्रोक्ता यया भक्तिः परा भवेत् ॥

हरि के उद्देश्य से होनेवाली क्रिया ही भक्ति है। वही परिणाम में पराभक्ति के स्वरूप में परिणत होती है।

श्रीगीता के चतुर्थ अध्याय में ज्ञानयोग की प्रशंसा दिखाई देती है, किन्तु शुष्क ज्ञान की प्रशंसा नहीं है।

> तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
> उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं'—'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति'। श्रद्धा, प्रणाम, प्रश्न और सेवा के बिना ज्ञान हो नहीं सकता। सुतरां यह

सिद्धान्त हुआ, कि ज्ञान भी भक्ति का ही उद्देशक है। सात्वतशास्त्र में भी ऐसा ही कहा है,—

"ज्ञानं यत् तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम्।"

अर्थात्—"भक्तिमुख-निरीक्षक कर्म, योग, ज्ञान है" फिर छठे अध्याय में योग की खूब प्रशंसा दिखाई देती है, किन्तु उक्त अध्याय के अन्त का सिद्धान्त है,—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

भगवान् ने अर्जुन से कहा,—"तुम योगी हो, क्योंकि तपस्वी की अपेक्षा योगी श्रेष्ठ हैं। सांख्य ज्ञानी की अपेक्षा योगी श्रेष्ठ हैं, सकाम कर्मी की अपेक्षा भी योगी श्रेष्ठ हैं। सिद्धान्त है—जितने प्रकार के योगी हैं, उन सबकी अपेक्षा भक्तियोगावलम्बी योगी ही श्रेष्ठ हैं। जो श्रद्धा के साथ मुझे भजते हैं, वे ही मुझसे सबसे अधिक युक्त हैं। श्रीगीता के सातवें अध्याय में दिखाया गया है, कि माया भगवान् की अधीना शक्ति-विशेष है। जीव का उस अलौकिकी माया से पार पाना कठिन है। एकमात्र जो भगवान् के शरणापन्न होते हैं, वे ही माया के हाथ से मुक्त हो सकते हैं। चतुर्विध दुष्कृत मनुष्यगण भगवान् का भजन नहीं करते, चतुर्विध सुकृत मनुष्य ही भगवान् का भजन करते हैं। उनमें ज्ञानी ही सबसे श्रेष्ठ हैं। किन्तु रूखे निर्विशेषवादी ज्ञानी नहीं हैं, जो सम्बन्धज्ञान-विशिष्ट हो मुक्ति की इच्छा छोड़ एक भक्ति ही करते हैं, वे ही श्रेष्ठ हैं। सुतरां सिद्धान्त होता है,—

"तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।"

कैसे ज्ञानी श्रेष्ठ हैं? बाद के श्लोक में कहा जाता है,—

"वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥"

"जो सर्वत्र ही वासुदेवमय देखते हैं, अतएव यहाँ भी उत्तमा भक्ति का सिद्धान्त ही ठहरता है।

फिर श्रीभगवान् ने अन्य देवताओं के पूजनेवालों के पूर्वपक्ष की अवतारणा की। भगवान् ने कहा—"अन्तर्यामी स्वरूप मैं जो जैसी मूर्ति चाहता, उसी में उसकी श्रद्धा के अनुसार अचला श्रद्धा का विधान करता हूँ। वे मनुष्य श्रद्धापूर्वक उस देवता की आराधना कर अभीष्ट पाते हैं।" फिर नवें अध्याय में कहते हैं,—"जो अन्य देवता की पूजा करते हैं, वे भी मेरी ही पूजा करते हैं।" यह सुन कर शायद कोई सिद्धान्त कर बैठें,—फिर क्या? देवता की पूजा करना ही ठीक है। वे समझ बैठे कि देवता, और भगवान् में नाम और रूप का फर्क है, वास्तव में दोनों एक ही हैं। किन्तु भगवान् ने ही सिद्धान्त रख दिया,—

"अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।"

जो अन्य देवताओं की पूजा करते हैं, वे मूर्ख हैं, उनका फल नश्वर है। भगवान् ने ही तो कहा है,—

"देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।"

अर्थात्,— जो लोग देवता की आराधना करते हैं, वे देवलोक, और मेरे भक्त मुझको पाते हैं। यही सही, यदि हमें देवलोक ही मिला तो क्या क्षति है? सिद्धान्त होता है,—अवश्य क्षति है: क्योंकि वे सब लोक नश्वर हैं, देवता भी नश्वर हैं। किन्तु मैं 'अव्ययम्' हूँ और—

"आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥"

अर्थात् मैं सर्वोत्तम और अद्वय हूँ। ब्रह्मलोक सहित सब लोक अनित्य हैं। उन सब लोकों से पुनरावृत्ति होती है, किन्तु जो केवला भक्ति के विषय रूप मेरा आश्रय करते हैं उनका पुनर्जन्म नहीं होता। इसके बाद के लगातार श्लोकों में भगवान् ने कहा है,—

"यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥"

मेरे परम धाम को प्राप्त हो जीव फिर नहीं लौटता उस धाम की प्राप्ति का उपाय है,—

"पुरुषः सः परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।"

वे परम पुरुष एकमात्र अनन्या भक्ति द्वारा प्राप्त होते हैं। पहले ही कहा गया है, कि जो लोग श्रद्धा के साथ अन्य देवता की पूजा करते हैं, वे मेरी ही पूजा करते हैं। तब अन्य पूजा में दोष क्या है?

सिद्धान्त होता है,—पूजक के लिये यथेष्ट दोष है; क्योंकि "ते यजन्त्यविधिपूर्वकम्"—उनकी पूजा अविधि के साथ होती है।

अविधि क्या?—"येन विधिना गतागतिनिवर्त्तका मत्-प्राप्तिः स्यात् तं विधिं विनैव" अर्थात्—जिस विधि के द्वारा भगवत्-सेवा की प्राप्ति होती है और फिर ब्रह्माण्ड में लौटना नहीं पड़ता; उस विधि के अतिरिक्त और सब विधि 'अविधि' है। ऐसे लोग फिर संसार में आते हैं। तब भगवान् की पूजा कैसे हुई? "मामेव यजन्ति" शब्द की सार्थकता क्या है? इसके जवाब में वे बाद के श्लोक में कहते हैं,—

"अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥"

अर्थात् मूल में मैं एकमात्र परमेश्वर हूँ। सुतरां मेरे अतिरिक्त स्वतन्त्र और कोई देवता नहीं है; सुतरां जो कुछ पूजोपकरण है, वह मुझ में वर्त्तती है। किन्तु अन्य देवता के लिये उसकी पूजा अविधि हो जाती है। जैसे एकछत्र राजा और उसके असंख्य सेवक। वह सब दास राजा की दी हुई शक्ति से शक्तिमान् हैं। किन्तु यदि कोई उन सब सेवकों को राजा समझ या भृत्य ही समझ कर सम्मान करे, तो वास्तव में वह सम्मान राजा के लिये ही किया जाता है। किन्तु जो लोग—'ये राजा के सेवक हैं, इसलिये इनका सम्मान करते हैं' सोचकर उन सब सेवकों का सम्मान करते हैं, वे तत्त्वज्ञ हैं—वे विधिपूर्वक सम्मान प्रदान करते हैं; और जो सेवक को राजा समझकर उसका सम्मान करते हैं, उनके सम्मान-प्रदान का काम अविधि पूर्वक होता है। अतएव विधि और अविधि जीव के ही लिये है। इसीलिये बाद के श्लोक में कहते हैं, कि एकमात्र मेरे अनन्य भक्त का विनाश नहीं है।

"कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।"

इस प्रकार श्रीगीतोपनिषत् में श्रीभगवान् ने स्वतन्त्र कर्म, ज्ञान, योग-पन्थ, स्वतन्त्र देवता की आराधना, सांख्य का प्रकृति-पुरुषवाद, जैमिनि का अभ्युदयवाद, निर्विशेषवाद प्रभृति यावतीय मत को पूर्वपक्ष बना सर्वत्र भगवद्भक्ति के सिद्धान्त को स्थापित किया है।

"मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" (९-१०) इत्यादि वाक्यों द्वारा सांख्य के 'अचेतनत्वेऽपि क्षीरवत् चेष्टितं प्रधानस्य' (३ अ० ५९ सूत्र),—प्रकृति का स्वतः कर्त्तत्व खण्डित होता है।

"ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम्।
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति॥"

द्वारा जैमिनि का "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (१ अ० १ पाद २ सूत्र) खण्डित हुआ है। फिर १८ वें अध्याय में केवल निर्विशेषवाद की अकिञ्चित्-करता दिखाते हुए कहा है,—

"ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा ... मद्भक्तिं लभते पराम्।"
"भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः॥"

ब्रह्मभूत होकर यदि भक्ति का याजन करे, तो वह परा-भक्ति लाभ कर सकता है और भक्ति के बल से ही मेरे स्वरूप, मेरे चिन्मय आकार को तत्त्वतः जान सकता है। यह ब्रह्मज्ञान ही गुह्य उपदेश है। इसके बाद परमात्म-ज्ञानरूप गुह्यतर उपदेश देते हैं—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।"

अर्थात् सब जीवों के हृदय में मैं परमात्मरूप में अवस्थित हूँ।

"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।"
"तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥"
"इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।"

सब प्रकार से परमात्मा की ही शरण ग्रहण करो। उनके प्रसाद से पराशान्ति और पूर्ण शाश्वत स्थान पा सकोगे। यह गुह्यतर उपदेश है।

अब गुह्यतम उपदेश कहते हैं। अर्जुन बहुत ही प्रियतम और शरणागत हैं; इससे उनके हित के लिये यह सर्वश्रेष्ठ उपदेश देते हैं,—

"सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥"

इसीवार श्री भगवान् स्वयं प्रतिज्ञा कर कहते हैं— "तुम मेरे भक्त हो, सब प्रकार के छोटे-छोटे नैमित्तिक धर्म को त्याग कर एक मात्र मेरे ही शरणागत हो। मैंने पहले के अध्यायों में जो कर्म, ज्ञान, योग और वर्णाश्रम आदि की बातें कही हैं, उन सब को छोड़ एक मात्र भगवत्-प्रपत्तिरूप केवला भक्ति का आश्रय ग्रहण करने में यदि कुछ बाधा पड़े, तो उससे मैं ही रक्षा करूँगा। इसके लिए तुम्हें शोक करने की कोई वजह नहीं।"

इस प्रकार श्रीगीता, श्रीमद्भागवत, वेदान्त, उपनिषदावली और शब्द-प्रमाणसमूह में यदि कोई सारग्राही हो विचार करें तो देखेंगे, कि चरम सिद्धान्त में भगवद्भक्ति ही स्थापित की गई है। जो लोग शब्द-प्रमाण के ऐसे सु सिद्धान्त को भी मत-वाद समझते हैं, वे दैवीमाया से मोहित हो स्वयं ही मतवादी हो पड़े हैं। वैदिक मीमांसा शास्त्र दो भागों में विभक्त है। इस मीमांसा शास्त्र को पूर्व मीमांसा के नाम से जैमिनी ने "अथातो धर्मजिज्ञासा" सूत्र की अवतारणा करते हुए जिस अभ्युदय को ही धर्मसिद्धान्त के नाम से स्थापित किया है, उत्तर मीमांसा में वेदव्यास ने उसे ही पूर्वपक्ष बना "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" सूत्र की अवतारणा करते हुए परमेश्वर के भजनरूप निः-श्रेयस को ही सिद्धान्त के नाम से संस्थापित किया है; और सबके अन्त में "अनावृत्तिः शब्दात्" सूत्र के द्वारा निःश्रेयस-लब्ध मनुष्य की जो पुनरा-वृत्ति नहीं होती, उसे शब्द प्रमाण द्वारा प्रदर्शन किया है। उसी के साथ-साथ सब मतवाद भी खण्डित होते हैं। अतएव सनातनधर्म सत्सिद्धान्त या सत्य-विचार पर सुप्रतिष्ठित है। इसीलिये श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी प्रभु ने सिद्धान्त या विचार की आवश्यकता के सम्बन्ध में चरिता-मृत के आदि २ य परिच्छेद के अन्त में कहा है:—

सिद्धान्त लेने के चित्त में न करो अलस।
इससे कृष्ण में लगे सुदृढ़ मानस॥

फिर अन्यत्र कहते हैं,—

चैतन्य चन्द्र की कृपा का करो विचार।
विचार किये चित्त पैहौ चमत्कार॥

अतएव जो लोग अन्ध विश्वास का ही सम्मान करते हैं, वे केवल प्राकृत सहजिया या वेषोप-जीवियों के दल की वृद्धि कर नरक में जाने की राह को साफ करते हैं। फिर कोई-कोई मनोधर्म के वशीभूत हो जड़ समन्वय-वादी या भारवाही साम्प्रदायिक हो वास्तव सत्य से बहुत दूर जा पड़ते हैं। भार्गवीय मनुसंहिता के अन्त में भृगु ऋषिगण से कहते हैं,—

"आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥"

जो वेद और वेदमूलक स्मृति आदि धर्मोपदेश को वेदशास्त्र के अविरोधी तर्क के द्वारा अनुसन्धान करते हैं, वे ही धर्म को जानते हैं।

श्रीठाकुर महाशय ने कहा है,—

"मध्यस्थ श्रीभागवत पुराण।
साधु शास्त्र गुरुवाक्य, हृदय में करके ऐक्य,
और न करो मन मे कुछ आशा॥"

हम लोग अनेक समय मन में सोचते हैं, कि सामाजिक आभिजात्य-सम्पन्न मनुष्य को बहुतेरे लोग एक वाक्य से जो कहते हैं, वही एकमात्र सिद्धान्त है। किन्तु हम लोग यह विचार भूल जाते हैं कि ऐसे लोग जगत् के आगे लब्ध-प्रतिष्ठ होने पर भी परमार्थ-राज्य में उनके लिये कोई स्थान नहीं। इसलिये भृगु ने कहा है, कि देश के मूर्त्तिमान् विग्रह वेदवित् द्विजोत्तम एक मनुष्य जिस धर्म का निर्णय करें, वही सिद्धान्त है, परन्तु लाख-लाख मनोधर्मियों की बात न मानना चाहिये।

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥

कुल्लूक भट्ट ने अपनी टीका में लिखा है,— 'सावित्र्यादि-व्रतरहितानां मन्त्रवेदाध्ययनरहितानां ब्राह्मण - जातिमात्र - धारिणां बहुनामपि सहस्राणां मिलितानां परिषत्वं नास्ति धर्मनिर्णयः सामर्थ्या-भावात्" अर्थात् जिनका गुरु-सेवा, ब्रह्मचर्य, भगवद्भक्ति प्रभृति सावित्र्य-संस्कार के धारण का व्रत नहीं है, जिनका वेदाध्ययन नहीं है, जो केवल जातिमात्र को ब्राह्मण के नाम से परि-चित हैं, ऐसे सहस्र-सहस्र लोग भी यदि

मिलकर परिषद् अर्थात् सभाकर किसी विषय का सिद्धान्त करें, तब भी उनका सिद्धान्त सत्-सिद्धान्त के नाम से माना जा नहीं सकता, क्योंकि उनमें धर्म-निर्णय की सामर्थ्य ही नहीं है, वे सिद्धान्त कैसे करेंगे ? अतएव भेड़िया-धसान की तरह बहुतेरे लोगों को एक ओर जाते देख अन्ध से चालित अन्धों की तरह सत् सिद्धान्त से दूर रहना बुद्धिमान् का काम नहीं। शास्त्र-सिद्धान्त, धर्म-सिद्धान्त एकमात्र सततयुक्त हो प्रीतिपूर्वक भगवद्भजन करनेवाले हरिभक्तों के हृदय में ही प्रकाशित होता है, औरों का सिद्धान्त मनोधर्ममात्र है। इसलिये श्रीचैतन्य-चरितामृत में कहा है,—

> चैतन्य नित्यानन्द की कृपा जब तुम पर होये।
> यह सब सिद्धान्त तब तुम में स्फूर्ति पायें॥

नित्यधर्म और संसार

सरस्वती-किनारे सप्तग्राम नामक एक प्राचीन वणिक नगर था। वहाँ बहुत दिन से हजारों सुवर्णवणिक निवास करते चले आते थे। श्रीउद्धारणदत्त के समय से वह सब वणिक प्रभु नित्यानन्द की कृपा से हरिनाम के सङ्कीर्त्तन में रत हुए। चण्डीदास नामक एक वणिक रुपये खर्च होने के भय से नागरिक लोगों के हरि-सङ्कीर्त्तन में शामिल नहीं होते थे। उन्होंने कञ्जूसी से बहुत सा धन एकत्र कर लिया था। उनकी पत्नी दमयन्ती भी उनके ही जैसे स्वभाव की थी और अतिथि या वैष्णवों का कुछ भी आदर नहीं करती थीं। युवावस्था में ही इन वणिक दम्पती के चार पुत्र और दो कन्यायें हुईं। कन्याओं का विवाह करके अब इन्होंने पुत्रों के लिये खूब धन इकट्ठा कर रक्खा है। जिस घर में वैष्णवों का समागम नहीं होता, उस घर के लड़कों में दया-धर्म सहज ही कम होता है। लड़के जैसे-जैसे बड़े होने लगे, वैसे-वैसे वे सब स्वार्थी बन रुपये के लालच से माता-पिता की मृत्यु की कामना करने लगे। वणिक-दम्पती के दुःख की सीमा न रही। क्रम से पुत्रों का विवाह भी हो गया। बहुएँ भी बड़ी होने लगीं, वे सब भी अपने-अपने पति के स्वभाव के साथ मिलकर मालिक और मालकिन के मरने की कामना करने लगीं। अब पुत्र भी सयाने हो गये हैं, खूब अच्छी तरह दूकानदारी करते हैं। पिता के रुपये से सब अच्छी तरह काम-काज चलाने लगे।

एक दिन चण्डीदास ने सबको एकत्र कर कहा,—"देखो, मैंने बचपन से कञ्जूसी करके तुम लोगों के लिये इतने रुपये रख छोड़े हैं। कभी भी हमने अपने लिये अच्छे खाने और अच्छे कपड़े की परवा नहीं की। तुम्हारी माता ने भी इसी तरह समय बिताया है। अब हमलोग प्रायः वृद्ध हुए, अब तुम लोग आदर के साथ हम दोनों का प्रतिपालन करो,—यही तुम लोगों का धर्म है। किन्तु तुम लोग हम दोनों का बड़ा अनादर करते हो; यह देखकर हम दोनों बहुत ही दुःखी हैं। हमारे पास कुछ गुप्त धन भी है, उसे मैं उसी को दूँगा, जो अच्छी तरह हम दोनों की सेवा करेगा।"

पुत्र और बहुओं ने चुपचाप यह सब बातें सुन लीं। इसके बाद उन सबने अलग सलाह कर यह सिद्धान्त किया, कि मालिक और मालकिन को विदेश भेज गुप्त धन को हरण कर लेना चाहिये। क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता, कि वे किसे वह धन देंगे। सबकी यही सलाह ठहरी, कि वह धन मालिक के सोने की कोठरी में गड़ा हुआ है।

बनिया के बड़े पुत्र हरिचरण थे। उन्होंने एक दिन सवेरे पिता से कहा,—"पिता ! आप और माताजी एक बार श्रीधाम-नवद्वीप का दर्शन कर आइये— मनुष्य-जन्म सफल होगा। सुना है, कि कालिकाल में और कोई तीर्थ श्रीनवद्वीप के समान

शुभप्रद नहीं है। नवद्वीप जाने में कष्ट या खर्च भी न होगा, यदि पैदल न जा सकें, तो गङ्गा की नाव पर चले जा सकते हैं। आप लोगों के साथ एक वैष्णवी भी वहाँ जाना चाहती हैं।

चण्डीदास ने अपनी पत्नी से सलाह ली, तो वह बहुत प्रसन्न हुई। दोनों ने आपस में राय पक्की की, उस दिन की धमकी से लड़के ठिकाने आ गये हैं। हमलोग इतने कमजोर थोड़े ही हैं, कि चल न सकेंगे। श्रीपाट कालना शान्तिपुर से श्रीधाम नवद्वीप को चले चलेंगे।

सुदिन देख दोनों ने यात्रा की। चलते-चलते दूसरे दिन अम्बिका में उपस्थित हुए। वहाँ दोनों एक दूकान में रसोई बनाकर खाने बैठे, इसी समय सप्तग्राम के एक आदमी ने कहा, कि तुम्हारे लड़कों ने कोठरी का ताला तोड़ सब धन ले लिया; अब वे सब तुम्हें घर में भी घुसने न देंगे, तुम्हारे गुप्त धन को चारों ने मिलकर बाँट लिया है।

यह सुनते ही चण्डीदास अपनी पत्नी सहित धन के शोक से उदास हो पड़े। उस दिन खाना-पीना हो न सका—रोते-रोते दिन बीत गया। साथ की वैष्णवी ने समझाया कि घर की फिक्र न करो; चलो तुम दोनों साधु होकर अखाड़े में रहो। जिनके लिए यह सब किया, जब वे ही शत्रु बन गये हैं, तब अब घर लौटने की आवश्यकता नहीं। चलो नवद्वीप में ही रहना, वहाँ भिक्षा करके खाना भी अच्छा है।

पत्नी सहित चण्डीदास पुत्र और उनकी बहुओं का व्यवहार सुन बार-बार यही कहने लगे, कि मर जायें, तो ठीक किन्तु अब घर न जायेंगे। अन्त में दोनों अम्बिका ग्राम में एक वैष्णव के वहाँ दो-चार दिन रह श्रीपाट शान्तिपुर का दर्शन कर श्रीधाम नवद्वीप चले। श्रीमायापुर में एक बनिये का कुटुम्ब था, वे उन्हीं के घर रहे। दो चार दिन वहाँ रहकर वे लोग श्रीनवद्वीप के सप्तपल्ली और गङ्गा पार हो तथा कुलिया ग्राम के सप्तपल्ली को देखते, सुनते घूमने फिरने लगे। कई दिन के बाद पुत्र और बहुओं पर फिर माया हुई।

चण्डीदास ने कहा,—चलो, हमलोग सप्तग्राम चलें; क्या लड़के हमलोगों का कुछ भी स्नेह न करेंगे? साथ की वैष्णवी ने कहा,—तुम्हें लज्जा नहीं है? अब वे सब तुम लोगों को मार डालेंगे। यह सुनकर दोनों के मन में आशङ्का हुई। इन दोनों ने कहा,—वैष्णवी ठकुरानी, तुम अब अपनी जगह जाओ, हमलोग समझदार हो गये। किसी अच्छे आदमी से मन्त्र का उपदेश लेकर अब हमलोग भिक्षा द्वारा जीवन-निर्वाह करेंगे।

साथिन वैष्णवी चली गई। अब वणिक दम्पती घर की आशा छोड़ कुलिया ग्राम में छः कौड़ी चट्ट की ज़मींदारी में एक घर बनवाने की चेष्टा करने लगे। बहुतेरे भले आदमियों से चन्दा ले दोनों वहाँ घर बनाकर रहने लगे। कुलिया ग्राम अपराध-भञ्जन का पाट है। वहाँ निवास करने से पहले के किये सब अपराध दूर होते हैं; लोग ऐसा ही कहते हैं।

एक दिन चण्डीदास ने कहा,—हरिया की मा, अब और क्या बाकी रहा? लड़कों का अब नाम न लो। उनकी याद भी न करो। हम दोनों ने बड़े-बड़े पाप किये हैं, इसीसे बनिया के घर जन्म पाया है। जन्म के दोष से कञ्जूस होकर हमलोगों ने कभी अतिथि-वैष्णवों की सेवा नहीं की। अब यहाँ कुछ रुपये मिलें तो अतिथि-सेवा करूँ—दूसरे जन्म में भला होगा। मेरा विचार है, कि बनियई की एक दूकान खोल दूँ। भले आदमियों से पाँच रुपये माँग यह रोजगार कर लूँ। कई दिन की मेहनत में चण्डीदास ने एक दूकान खोल दी। नित्य कुछ न कुछ लाभ होने लगा। पति-पत्नी नित्य एक अतिथि की सेवा के साथ-साथ अपना पेट भरने लगे। पहले की अपेक्षा चण्डीदास का जीवन अच्छी तरह बीतने लगा।

चण्डीदास पहले के ही कुछ लिखे-पढ़े थे। जब उन्हें फुर्सत मिलती तो दूकान में बैठे ही बैठे गुणराजखान-कृत श्रीकृष्ण-विजय ग्रन्थ पढ़ा करते थे। न्याय के साथ दूकानदारी और अतिथि-सेवा करते थे। इस तरह पाँच-छः महीने बीत गये। कुलिया के सभी लोग चण्डीदास के इतिहास को जान उनपर कुछ श्रद्धा करने लगे।

वहीं पर यादवदास का स्थान है। यादवदास गृहस्थ वैष्णव हैं। वे श्रीचैतन्यमङ्गल का पाठ करते हैं। चण्डीदास भी कभी-कभी सुनते हैं। अपनी पत्नी के साथ यादवदास सदा वैष्णव-सेवा में लगे रहते हैं। यह देख चण्डीदास और दमयन्ती को भी वैष्णवसेवा की रुचि हुई।

एक दिन चण्डीदास ने श्रीयादवदास से पूछा, कि संसार क्या वस्तु है? यादवदास ने कहा, कि गङ्गा के पूर्व किनारे श्रीगोद्रुम द्वीप में बहुत से तत्त्वज्ञ वैष्णव रहते हैं; चलो, वहाँ चलकर यह प्रश्न करें। मैं बीच-बीच में वहाँ जाकर बहुत शिक्षा लाभ करता हूँ। आज कल श्रीगोद्रुम में ब्राह्मण पण्डितों की अपेक्षा वैष्णव-पण्डितगण शास्त्र के सिद्धान्त में बड़े निपुण हैं। उस दिन श्रीवैष्णवदास बाबाजी के साथ शास्त्रार्थ में ब्राह्मण पण्डितगण पराजित हुए हैं। तुम्हारा जैसा प्रश्न है, उसकी मीमांसा वहीं अच्छी तरह होगी।

तीसरे पहर यादवदास और चण्डीदास गङ्गा पार जाने को तैयार हुए। दमयन्ती अब शुद्ध-वैष्णवों की सेवा करती हैं, उनके हृदय की कृपणता दूर हो गई है। उन्होंने कहा,—मैं भी आप लोगों के साथ श्रीगोद्रुम चलूँगी। यादवदास ने कहा,—वहाँ के वैष्णव लोग गृहस्थ नहीं हैं, प्रायः ही निरपेक्ष गृहत्यागी हैं। तुम्हारे साथ जाने से वे लोग दुःखी हो सकते हैं; मेरी ऐसी ही आशङ्का है। दमयन्ती ने कहा,—मैं दूर से उन लोगों को दण्डवत् प्रणाम कर लूँगी; उनके कुञ्ज में न जाऊँगी। मैं वृद्धा हूँ, मुझपर वे लोग कभी नाराज न होंगे। यादवदास ने कहा,—वहाँ कोई स्त्री जाने नहीं पाती। तुम उसके समीप के किसी स्थान में बैठी रह सकती हो, हम लोग लौटने लगेंगे तो तुम्हें साथ ले लेंगे।

तीसरे पहर के बाद वे तीनों गङ्गा की रेती पार कर प्रद्युम्न कुञ्ज के पास पहुँचे। दमयन्ती कुञ्ज के दर्वाजे पर दण्डवत् प्रणाम कर एक पुराने वट-वृक्ष के नीचे बैठ गई। यादवदास और चण्डीदास ने कुञ्ज में प्रवेश कर मालती-माधवी मण्डप में बैठी वैष्णव-मण्डली को भक्ति के साथ दण्डवत्-प्रणाम किया। श्रीपरमहंस बाबाजी बैठे हैं। उनके चारों ओर श्रीवैष्णवदास, लाहिड़ी महाशय, बाबा अनन्तदास आदि बहुतेरे लोग बैठे हैं। वहीं जाकर यादवदास भी बैठ गये; यादवदास के पास ही चण्डीदास जा बैठे।

बाबा अनन्तदासजी ने पूछा,—यह नये आदमी कौन हैं? यादवदास ने चण्डीदास का सब हाल कहा। बाबा अनन्तदास ने कुछ हँसकर कहा,—हाँ, संसार इसे ही कहते हैं। जो संसार को पहचानते हैं, वही बुद्धिमान हैं। जो संसार के चक्र में पड़ते हैं वही शोचनीय हैं।

चण्डीदास का मन क्रमशः निर्मल हो रहा था। नित्य सुकृत करने से अवश्य मङ्गल होता है। वैष्णव-सत्कार, वैष्णवग्रन्थ-पाठ और श्रवण इत्यादि नित्य सुकृत हैं। इनके करने से चित्त निर्मल हो जाता है और अनन्यभक्ति से सहज ही श्रद्धा का उदय होता है। उस दिन चण्डीदास श्रीअनन्तदास बाबा की बातें सुन आर्द्र-हृदय से कहने लगे,—आज मैं आपसे यह प्रार्थना करता हूँ, कि मुझे संसार के बारे में स्पष्ट उपदेश दीजिये।

श्रीअनन्तदास ने कहा,—चण्डीदास, तुम्हारा प्रश्न गम्भीर है। मेरी इच्छा है, कि बाबा परमहंस जी महाशय, या बाबा वैष्णवदासजी महाशय इस प्रश्न का उत्तर दें।

बाबा परमहंसजी ने कहा,—प्रश्न जैसा गम्भीर है; वैसे ही बाबा श्रीअनन्तदासजी महाशय भी उत्तर देनेवाले हैं। आज हम सभी लोग बाबाजी के उपदेश सुनेंगे।

अनन्त०—जब आप लोगों की आज्ञा है, तब अवश्य ही मैं जो कुछ जानता हूँ, वह अवश्य कहूँगा। कहने से पहले मैं भगवत्-पार्षद-प्रवर प्रद्युम्न ब्रह्मचारी श्रीगुरुदेव के पादपद्म का स्मरण करता हूँ।

जीव की दो दशायें स्पष्ट दिखाई देती हैं—मुक्त-दशा और संसार-बद्ध दशा। शुद्ध-कृष्णभक्त जीव जो कभी माया में नहीं पड़े या कृष्ण की कृपा से मायामय-जगत् से छुटकारा पा गये हैं, वे ही मुक्त-जीव हैं और उनकी दशा ही मुक्तदशा है। कृष्ण से विमुख होने से जो अनादि माया के कवल में

पड़ गये हैं, वे बद्धजीव हैं और उनकी दशा ही संसारदशा है। मायामुक्त जीव चिन्मय और कृष्ण की दासता ही उनका जीवन है। जड़जगत् में उनकी अवस्थिति नहीं है। वे किसी विशुद्ध चिज्जगत् में उनकी अवस्थिति है। उस चिज्जगत् का नाम गोलोक, वैकुण्ठ, वृन्दावन इत्यादि है। मायामुक्त जीवों की संख्या अनन्त है।

मायाबद्ध जीवों की संख्या भी अनन्त है। कृष्ण-बहिर्मुखता के दोष से कृष्ण की छाया-शक्ति माया उन्हें अपने सत्त्व, रज और तमोगुण में आबद्ध कर रखा है। गुण के हिसाब से बद्ध जीवों की अवस्था बहुत ही विचित्र है। विचित्रता का विचार करके देखिये—जीव के शरीर की विचित्रता, भाव की विचित्रता, रूप की विचित्रता, स्वभाव की विचित्रता, स्थान की विचित्रता और गति की विचित्रता है। जीव ने संसार में प्रवेश कर एक नये प्रकार के "मैं" पन का आश्रय किया है। शुद्धावस्था में "मैं कृष्णदास हूँ" के मैं-पन का अभिमान था। आजकल मैं मनुष्य, मैं देवता, मैं पशु, मैं राजा, मैं ब्राह्मण, मैं चण्डाल, मैं बीमार, मैं भूखा, मैं अपमानित, मैं दाता, मैं पति, मैं स्त्री, मैं पिता, मैं पुत्र, मैं शत्रु, मैं मित्र, मैं पण्डित, मैं रूपवान्, मैं धनी, मैं दरिद्र, मैं सुखी, मैं दुखी, मैं वीर और मैं कमज़ोर हूँ—इस प्रकार का ममत्व आ गया है। इसका नाम 'अहंता' है। 'ममता' के नाम से और वस्तु है। मेरा घर, मेरी चीज़, मेरा धन, मेरा शरीर, मेरी सन्तान, मेरी पत्नी, मेरे पति, मेरे पिता, मेरी माता, मेरा वर्ण और जाति, मेरा बल, मेरा रूप, मेरा गुण, मेरी विद्या, मेरा वैराग्य, मेरा ज्ञान, मेरा कर्म, मेरी सम्पत्ति, मेरे अधीन मनुष्य इत्यादि कितने प्रकार का ममत्व है। मैं और मेरा के बहाने जो सब प्रकाण्ड काम दिखाई देते हैं, उसी का नाम संसार है।

यादवदास—हम लोग बद्ध अवस्था में 'मेरा' और 'मैं' देखते हैं। किन्तु क्या मुक्तावस्था में 'मैं' और 'मेरा' रह नहीं जाता?

अनन्त०—मुक्तावस्था में मैं और मेरा सब चिन्मय हो निर्दोष हो जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने जीव को जैसा बनाया है, उसी का शुद्ध परिचय उसमें है। उसमें भी बहुत प्रकार का "मैं-पन" है। कृष्णदास होने पर भी उसमें चिद्रस के भेद बहुत तरह के हैं। रस के जितने प्रकार के चिन्मय उपकरण हैं, वह सभी "मैं-पन" का है।

यादव०—तब बद्धावस्था में मैं और मेरे के बहुत प्रकार होने में क्या दोष है?

अनन्त०—दोष यह है, कि शुद्ध अवस्था में जो सत्य है, वही मैं और मेरा है। संसार में जितने प्रकार के मैं और मेरा हैं, वे आरोपित हैं, अर्थात् वास्तव में जीव के लिये सत्य नहीं हैं, परन्तु मिथ्या-परिचायक मात्र हैं; सुतरां संसार का सब परिचय ही अनित्य, अप्राकृत और क्षणिक सुख-दुःखप्रद है।

यादव०—क्या माया-संसार मिथ्या है?

अनन्त०—माया-जगत् मिथ्या नहीं है, कृष्ण की इच्छा से यह जगत् सत्य है। किन्तु इस जगत् में प्रविष्ट होकर जितने प्रकार के प्रायिक "मैं और मेरा" हैं, वह सब मिथ्या है। जो जगत् को मिथ्या कहते हैं, वे मायावादी हैं, सुतरां अपराधी हैं।

यादव०—हम लोग क्यों इस मिथ्या सम्बन्ध में पड़े हैं?

अनन्त०—जीव चित्कण है। जड़-जगत् और चिज्जगत् की मध्यसीमा में जीव का प्रथम अवस्थान है। यहाँ जो सब जीव कृष्ण के सम्बन्ध को नहीं भूले, वे चित्शक्ति का बल पाकर चिज्जगत् में आकृष्ट हुए—नित्य-पार्षद होकर कृष्ण-सेवा का आनन्द प्राप्त करने लगे। जिन्होंने कृष्णविमुख हो माया के प्रति भोग की इच्छा की, उन्हें माया ने अपने बल से खींच लिया। इसीसे हमारी संसार-दशा हुई। संसार-दशा होते ही सत्य का परिचय भाग गया और "मैं माया का भोक्ता हूँ"—इस अभिमान से मिथ्या का परिचय आकर विचित्र रूप से हम लोगों को घेर लेता है।

यादव०—चेष्टा करने पर भी हम लोगों में सत्य का स्वभाव क्यों नहीं उदित होता?

अनन्त०—चेष्टा दो प्रकार की है,—उपयुक्त और अनुपयुक्त। उपयुक्त चेष्टा करने से अवश्य

ही मिथ्या-अभिमान दूर हो जायगा। अनुपयुक्त चेष्टा करने से कैसे फल हो सकता है ?

यादव०—यह कहिये, कि अनुपयुक्त चेष्टा किसे कहते हैं ?

अनन्त०—कर्मकाण्ड के द्वारा चित्त को शुद्ध कर निर्भेद ब्रह्मज्ञान का अवलम्बन करते हुए जो चेष्टा की जाती है, कि 'माया को छोड़ दूँगा'—यह अनुपयुक्त है। अष्टाङ्गयोग द्वारा समाधियोग से चिन्मय हो जाऊँगा—यह भी अनुपयुक्त चेष्टा है। इस प्रकार तरह-तरह की अनुपयुक्त चेष्टायें हैं।

यादव०—यह सब चेष्टायें अनुपयुक्त क्यों हैं ?

अनन्त०—इसलिये अनुपयुक्त हैं, कि उन सब चेष्टाओं द्वारा वाञ्छित फल के मिलने में बहुतेरे व्याघात हैं और सम्भावना बहुत कम है। जिनका अपराध करने से हमारी यह दशा हुई है, बिना उनकी कृपा से हमारी यह दशा दूर न होगी और अपनी शुद्ध दशा प्राप्त न होगी।

यादव०—उपयुक्त चेष्टा क्या है ?

अनन्त०—साधुसङ्ग और प्रपत्ति। साधुसङ्ग के लिये भागवत में (११।२।३०) कहा है:—

> अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भगवतोऽनघाः।
> संसारेऽस्मिन् क्षणार्द्धोऽपि सत्सङ्गः सेवधिर्नृणाम् ॥

अर्थात्,—हे निष्पाप ऋषिगण, भगवद्भक्तों का दर्शन बहुत ही दुर्लभ होने की वजह से आपलोगों से परम मङ्गल का विषय पूछता हूँ। इस संसार में क्षण काल के लिये भी साधुसङ्ग होने से उससे मनुष्यों का सब अभीष्ट होता है।

यदि तुम पूछो, कि इस संसारदशा को प्राप्त जीवों का आत्यन्तिक मङ्गल कैसे होता है, तो मैं कहूँगा, कि आधे क्षण के लिये भी यदि सत्सङ्ग हो, तो ऐसे मङ्गल का उदय हो सकता है।

प्रपत्ति के बारे में गीता के सातवें अध्याय में १४ श्लोक में कहा है,—

> दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
> मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

'यह सत्त्व, रजः और तमोगुणमयी मेरी माया है। मनुष्य अपनी चेष्टा से इस माया से पार पा नहीं सकता। अतएव माया से पार पाना बहुत कठिन है। जो मेरे प्रपन्न अर्थात् शरणागत होते हैं, सिर्फ वे ही इस माया से पार पा सकते हैं।

चण्डीदास—ठाकुर, मैं आपकी इन सब बातों को अच्छी तरह समझ नहीं सका। केवल इतना ही समझ में आता है, कि हमलोग पवित्र वस्तु हैं; कृष्ण को भूलने से हमलोग माया के हाथ पड़ गये। इसीसे हम इस जगत् में कैद हैं। कृष्ण की कृपा होने से फिर हमलोगों का उद्धार हो सकता है, नहीं तो इसी दशा में पड़े रहेंगे।

अनन्त०—हाँ, तुम अभी इतना ही विश्वास करो। तुम्हारे शिक्षक यादवदास महाशय इन बातों को अच्छी तरह समझते हैं। उनसे ही धीरे धीरे समझ लेना। 'श्रीप्रेमविवर्त्त' ग्रन्थ में पार्षद-प्रधान श्रीजगदानन्द ने कहा है,—

> चित्कण है जीव, कृष्ण चिन्मय भास्कर।
> नित्य कृष्ण देव—कृष्ण को करें आदर ॥
> कृष्ण से विमुख होके भोग इच्छा करें।
> पास खड़ी माया उसे झपट के धरे ॥
> पिशाची के धरे मानो मतिछन्न होय।
> मायाग्रस्त जीव का हो वैसा ही उदय ॥
> 'मैं सिद्ध कृष्णदास' यह बातें भूल।
> माया का दास हो के चिर दिन हूल ॥
> कभी राजा, कभी प्रजा, कभी विप्र शूद्र।
> कभी दुःखी, कभी सुखी, कभी कीट क्षुद्र ॥
> कभी स्वर्ग, कभी मर्त्य, नरक में भी कभू।
> कभी देव, कभी दैत्य, कभी दास प्रभू ॥
> इस रूप संसार भ्रमत कोई जन।
> साधुसङ्ग निज तत्त्व अवगति जान ॥
> निज-तत्त्व जाने, फिर संसार न भाय।
> काहे माया लिपटान, करे हाय हाय ॥
> रोके कहे अहो कृष्ण मैं तो तेरा दास।
> तुम्हरे चरण भूल हुआ सत्यानास ॥
> विनति से कृष्ण को बुलाये एकबार।
> कृपाकर कृष्ण उसका छुड़ाते संसार ॥
> माया रानी पिछे रख कृष्ण को तकाय।
> भजते-भजते कृष्ण पादपद्म पाय ॥
> कृष्ण उसे देते अपनी चिच्छक्ति का बल।
> माया आकर्षण छोड़े होके दुर्बल ॥

"साधुसङ्ग-कृष्णनाम" यही तो बस चाही।
संसार जितने को और कोई वस्तु नाहीं ॥

यादव०—बाबाजी महाशय ने जो साधुसङ्ग की बात कही तो साधु भी तो इसी संसार में ही मौजूद हैं और वे भी संसार-पीड़ा से जर्जरित हैं; वे कैसे और जीवों का उद्धार कर सकते हैं ?

अनन्त०—साधु भी इस संसार में मौजूद हैं सही, किन्तु साधुओं के संसार में और माया द्वारा मोहित जीव के संसार में विशेष भेद है। संसार देखने में एक ही है, किन्तु भीतर से बहुत फर्क है। साधुलोग सदा जगत् में ही रहते हैं, किन्तु असाधु लोग उन्हें पहचान नहीं पाते; इसीसे साधु संग दुर्लभ होता है। जो सब मनुष्य माया के फन्दे में पड़े हैं, वे भी दो भाग में विभक्त हैं। कुछ लोग माया के तुच्छ सुख से मतवाले हो संसार का बड़ा ही आदर करते हैं, कुछ लोग माया से सुख न पाकर अधिक सुख की आशा से विवेक का अवलम्बन करते हैं। सुतरां संसारी मनुष्य दो प्रकार के हैं, विवेक शून्य और विवेक युक्त। कुछ लोग इनमें एक को विषयी और दूसरे को मुमुक्षु कहते हैं। यहाँ मुमुक्षु शब्द का अर्थ—निर्भेद ब्रह्मज्ञानी न समझ लेना चाहिये। जो संसार की ज्वाला से जलकर अपने तत्त्व का अन्वेषण करते हैं, उन्हें ही वेदशास्त्र में मुमुक्षु कहते हैं। मुमुक्षु लोगों की मुमुक्षा को परित्याग कर भजन (नाम-जप) करना ही शुद्ध भक्ति है। मुमुक्षा—अर्थात् मुक्ति की इच्छा। मुमुक्षु मनुष्य को कृष्ण-तत्त्व और जीवतत्त्व का ज्ञान होने पर, वे मुक्त होते हैं। भागवत में कहा है, (६।१४।३-५)

"रजोभिः समसंख्याताः पार्थिवैरिह जन्तवः।
तेषां ये केचनेहन्ते श्रेयो वै मनुजादयः ॥
प्रायो मुमुक्षवस्तेषां केचनैव द्विजोत्तम।
मुमुक्षूणां सहस्रेषु कश्चिन्मुच्येत सिध्यति ॥
मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥

जैसे बालू के कण गिने नहीं जा सकते, वैसे ही जीवों की भी संख्या हो नहीं सकती। उनमें कितने ही लोग नित्य-मङ्गल ढूँढ़ते फिरते हैं। अधिकांश विषयी, जड़ीभूत और सामान्य इन्द्रिय सुखादि में मतवाले हैं। जो लोग अपनी भलाई खोजते हैं, उनमें कोई-कोई मुमुक्षु अर्थात् जड़ातीत अवस्था के माननेवाले हैं। हजार-हजार मुमुक्षु लोगों ने कोई-कोई तत्त्व सिद्धि लाभकर मुक्त होते हैं। कोटि-कोटि सिद्ध मुक्तों में कोई-कोई प्रशान्तात्मा-नारायण के भक्त होते हैं। अतएव नारायण के भक्त सुदुर्लभ हैं। उनकी अपेक्षा भी कृष्णभक्त दुर्लभ हैं। मुमुक्षु को अतिक्रम कर जो मुक्त हो चुके हैं, उनमें ही कृष्ण-भक्त हैं। शरीर रहते कृष्णभक्तों का संसार में रहना विषयी लोगों के रहन-सहन से अलग है। कृष्ण-भक्त की अवस्थिति दो प्रकार की है।

(क्रमशः)

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ; बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ; कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ; बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
अगस्त्यकुण्ड, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० ४३ हनुमान रोड, न्यू देहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकोंदा चीरकुण्डा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलियां पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

(३१) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ
कर्वुर, वैष्ट गोदावरी, मद्रास

(३२) ग्वालपाड़ा प्रपन्नाश्रम, आसाम

(३३) त्रिदण्डी-गौड़ीय मठ भुवनेश्वर, पुरी

(३४) श्रीसारस्वत-गौड़ीय मठ हरिद्वार

Registered No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१ —श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)
२ —श्रीश्रीदशमूलम् —सटीक ।)
३ —श्रीमध्वग्रन्थ-श्रवणाशवर्णनम् ≡)
४ —श्रीसिद्धान्तसरस्वती दिग्विजयः ॥)
५ —श्रीगौड़ीयमठस्य परिचयः -)
६ —श्रीतत्त्वसूत्रम् ।)

संस्कृत बँगला अक्षरों में

१ —श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)
२ —श्रीमद्भगवद्गीता —श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत-भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)
३ —भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
४ —भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत खंडों में प्रकाशित प्रति खंड १)
५ —गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द २)
६ —साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्रीरूपगोस्वामी प्रभु-कृत उपदेशामृतसहित ।=)
७ —तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बंगला अनुवाद सहित ॥)
८ —श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित १)
९ —अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
१० —सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
११ —श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी - कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)
एकादश स्कंध से प्रति खंड ।≤)
१२ —युक्तिमल्लिका गुणसौरभ वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

वंगभाषाग्रन्थ

१३ —नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित =)
१४ —नवद्वीपशतक बंगला अनुवाद -)
१५ —नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत =)
१६ —नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती कृत =)
१७ —नवद्वीपभावतरंग ।)
१८ —गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)
१९ —श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद कृत २)
२० —मणिमंजरी ।)
२१ —शरणागति -)
२२ —कल्याणकल्पतरु -)॥
२३ —गीतावली -)
२४ —श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ।।।)
२५ —वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)
२६ —प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत ॥=)
२७ —जैव धर्म २)
२८ —साधककंठमाला ।)
२९ —चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ५)
३० —महाप्रभु की शिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ।।।)
३१ —श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ४)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow

भागवत

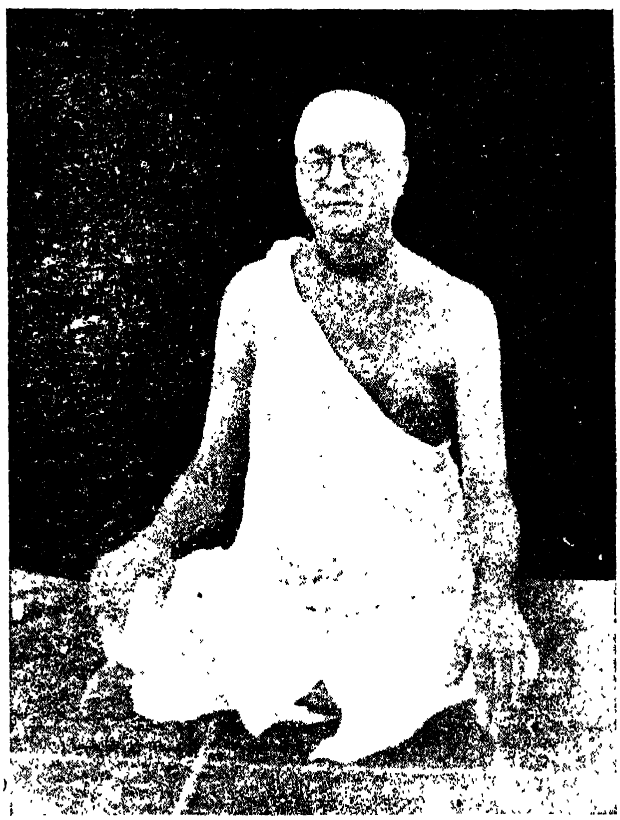
एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

10th April 1933

विष्णु गौरपक्ष चैत्र-पूर्णिमा

गौराब्द ४४७ संवत् १९९०

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥



क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा ।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा ॥

ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्तसरस्वती गोस्वामी महाराज

प्रति संख्या -) } सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन { वार्षिक सडाक १॥)

Editor:—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन छपाई की दर नीचे लिखी है:—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम	८)
आधा ,, १ ,,	५)
चौथाई ,, १/२ ,,	३)
२ इंच ,, १/४ ,,	१।।।)
१ ,, ,, १/८ ,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये—

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

सेठ रामयश रोड, नरही, लखनऊ.

All communications are to be addressed to—

The Manager 'Bhagwat'

Seth Ramjas Road,

Narhe,

LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य

वर्ष २ | चैत्र पूर्णिमा गौराब्द ४४७, सं० १९९० वि०, १० अप्रैल सन १९३३ ई० | संख्या १२

आत्म-निवेदन

(८)

शुद्ध - भक्त - चरण रेणु,
भजन के अनुकूल ।
भक्त - सेवा, परमसिद्धि,
प्रेम - लता का है मूल ॥
माधव तिथि, भक्ति - जननि,
आदर पालन करूँ ।
कृष्ण - बसति, बसति करूँ,
प्रेम - सहित वरूँ ॥
गौर मेरे, जिन स्थानों,
किये भ्रमण रंग ।
वे सब स्थान, देखूँगा मैं भी,
प्रणयी भक्त - संग ॥
मृदङ्ग - वाद्य, सुनने को मन,
अवसर सदा याचे ।
गौर - विहित, कीर्त्तन सुनूँ,
आनन्द - हृदय नाचे ॥

युगल मूर्त्ति, दरशन कर,
परम - आनन्द होय ।
प्रसाद - सेवन, करते ही हो,
सब प्रपञ्च जय ॥
जिस दिन घर, भजन होये,
घर में गोलोक होय ।
चरण सीधु, देख के गङ्गा,
सुख न सीमा पाय ॥
तुलसी देखि, शीतल - मन,
माधव - प्रिया जानि ।
गौर - प्रिय, शाक - सेवन,
जीवन सार्थक मानि ॥
भक्ति - विनोद, कृष्ण - भजन,
अनुकूल पाये जिसे ।
नित्य - दिवस, परम - सुखी,
स्वीकार करे उसे ॥

सत् शिक्षा-प्रदर्शनी की शिक्षामाला

पूर्वप्रकाशित के आगे

७१ लङ्गर-पड़ी नाव को चलाने की प्रबल चेष्टा

शिक्षा—पार्थिव-विषय की आसक्ति पानी की तह में मट्टी में धँसा हुआ लङ्गर है। उसका अनाड़ी मल्लाह विषय में डूबा हुआ 'गुरु' कहलानेवाला है। वर का पिता और डाँड़ा खेनेवाले वैसे ही विषयी गुरुओं पर विश्वास रखनेवाला शिष्य सम्प्रदाय है। विवाह होना भगवान् के साथ जीव का सम्बन्ध - स्थापन है। शुभलग्न—सुदुर्लभ और अनित्य मानव - जीवन है। डाँड़ा खेना—साधन-भजन का अभिनय है।

जड़भोग में आसक्त 'गुरु' कहलानेवाले लोगों के शिष्य अपनी आसक्ति को बनाये रखकर साधन-भजन का जो मजेदार तमाशा दिखाते हैं, उससे भगवान् के साथ किसी तरह भी सम्बन्ध स्थापन हो नहीं सकता; केवल सुदुर्लभ और अनित्य मनुष्य जीवन का उद्देश्य व्यर्थ हो जाता है।

७२ [क] मल्लाह का कटीली राह से गुन खींचना

[ख] काँटों पर लिहाफ डाल के गुन खींचना

प्रथम दृश्य—काँटों के ऊपर से नाव के गुन की डोर खींचने से एक मल्लाह के पैर लहू-लुहान हो गये। उसने मन में सोचा कि अच्छा नाव खींचते - खींचते कभी वह अमीर होगा, तब नदी की कटीली राहों में लिहाफ बिछवाकर गुन खींचा करेगा; तब उसे इतना कष्ट न होगा।

द्वितीय दृश्य—मल्लाह धनी हो गया। अब वह नदी के किनारे गुलगुले लिहाफ बिछवाकर गुन की डोर खींचता है।

शिक्षा—इस दृश्य द्वारा परमेश्वर में मानव-धर्म का बहाना (Anthropomorphism) और परमेश्वर में प्राणी-धर्म का बहाना (Zomorphism) लगाना मना है। धनवान् होने पर फिर उसे गुन की डोर खींचने की ज़रूरत ही क्या है? जैसे लिहाफ बिछवाकर गुन खींचना मूर्खता मात्र है, वैसे ही जागतिक अभाव और हेयताओं को वैकुण्ठ राज्य में कल्पना के प्रभाव का आरोप या वहन कर ले जाना भी वैसी ही मूर्खता है। यह मानो To carry burnt coal or ashes to Newcastle के समान है।

७३ अष्टाङ्गयोगी और भक्तियोगी

शिक्षा—लकड़हारा अष्टाङ्ग योगी है। वन में जाकर बाघ मारने के लिये लाठी संग्रह करना—आसन-प्राणायाम द्वारा इन्द्रियों को जीतने की चेष्टा करना, डाल टूटने से पहले ही बाघ के पंजे में आना, इन्द्रियों को जीतने से पहले ही इन्द्रिय रूपी जानवरों के पंजे में पड़ना है, किन्तु भक्तियोगी त्रिदण्डी हैं। वे कृत्रिम उपाय से रिपुदमन या सिद्धि पाने के लिये कोई कुंद अस्त्र नहीं जुटाते; उनका अस्त्र अव्यर्थ, अमोघ और सदा तैयार रहता है। वे भगवत्-प्रीति द्वारा सब अनर्थों को सहज ही में दूर कर शत्रु को भी मित्र बना लेते हैं।

७४ कर्मफलभोगी कर्मी और फलत्यागी निर्भेदज्ञानी का मायातीत वास्तव वस्तु की प्राप्ति में असमर्थता

शिक्षा—पहला अफीमची फलभोगी कर्मी का आदर्श है। दूसरा अफीमची फलत्यागी निर्विशेष ज्ञानी का आदर्श है। ये लोग जिस किनारे बैठे हैं, वह यही जड़-जगत् है। जिस किनारे आग जल रही है, वहाँ वैकुण्ठ है। बीच में बहुत बड़ी नदी बाधा के रूप में मौजूद है। नशे के रूप में वेद के मधु-पुष्पित वाक्य का नशा है (कर्मी का); बहिर्मुख लोगों का त्याग-वञ्चनामय मायावाद का नशा है (ज्ञानी का)। वह अग्नि—(कर्मियों के लिये) याग-यज्ञादि की अग्नि है और (ज्ञानियों के लिये) ब्रह्मलोक की ज्योतिर्मय अग्नि है; (भक्तों के लिये) सप्तजिह्वा - युक्त श्रीनाम

सङ्कीर्तन-अग्नि है। कर्मी और ज्ञानी लोग माया मय जगत् के विचार के सम्बल से मायातीत जगत् की सिद्धि या मुक्ति का स्वप्न देखते हैं। एक मात्र भगवत् सेवोन्मुख होकर मायातीत, नित्य शुद्ध- पूर्ण, सच्चिदानन्द श्रीहरिनाम-सङ्कीर्तन की अग्नि का स्पर्श मिलने से ही मायातीत नित्य तत्त्व की कृपा प्राप्त होती है।

७५ इन्द्र का शूकर होना

देवताओं के राजा और स्वर्ग के अधिपति इन्द्र हैं; देवराज इन्द्र के गुरु 'बृहस्पति' हैं। एक दिन बृहस्पति इन्द्र को उपदेश देने के लिये स्वर्ग में गये। किन्तु इन्द्र गुरुदेव की अभ्यर्थना और पूजा करने के बदले अप्सराओं के साथ आमोद-प्रमोद में लगे रहे। गुरु, ब्राह्मण और अतिथि का सत्कार न कर स्त्री सम्भोगादि तुच्छ काम में भूले रहने की वजह इन्द्र को शूकर होना पड़ा।

शिक्षा— जगत् के क्षणिक सुख में भूले वैष्णव विमुख विषयों के भोग का यही परिणाम है।

७६ शूकर रूपी इन्द्र का शूकरी के साथ विहार

स्त्री-सम्भोगादि तुच्छ विषयों का सुख, जैसे स्वर्ग के राजा को है, वैसा ही ग्रामीण शूकरों के हक में भी है। फर्क इतना ही है, कि "कोई पुण्य कोई पाप से कर विषय भोग"। जिस प्रकार इन्द्र ने स्त्री-सम्भोगादि की कामना की थी, उनके भाग्य से वही मिला। "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी"। शूकर होकर इन्द्र ने एक शूकरी को साथ ले उससे विहार करते हुए बहुतेरे बच्चे-बच्चे प्राप्त किये। सबके सब एकत्र मिल विष्ठा-भोजन और सांसारिक तुच्छ इन्द्रियों की क्षणकालिक दुःखान्त को ही 'सुख' मान विष्ठा और कीचड़ से भरे घर का मालिक और भोक्ता अपने को ही समझने लगे।

शिक्षा—विषयियों के परम आदरणीय चरम सुख का यही स्वरूप है।

७७ शूकर रूपी इन्द्र के पास ब्रह्मा का आना

स्वर्ग के अधिकारी इन्द्र की शूकर-देहप्राप्ति और विष्ठाभोजन रूपी दुर्दशा देख पराये दुःख पर दुःख प्रकट करनेवाले ब्रह्मा ने शूकर रूपी इन्द्र के पास आकर कहा,—"अहो इन्द्र! तुम स्वर्गराज्य के अधिकारी हो। तुम स्वर्गीय अमृत-भोजन को छोड़कर यहाँ विष्ठा क्यों खा रहे हो? तुम स्वर्ग छोड़कर विष्ठा से दूषित इस घर में क्यों निवास करते हो?" ब्रह्मा की यह बात सुन ग्राम्य-शूकर रूपी इन्द्र ब्रह्मा को भयानक रूप से मारने दौड़ा। ब्रह्मा शूकर-रूपी इन्द्र को जहाँ तक उनके वास्तविक स्वरूप को समझाने की चेष्टा करते, वहाँ तक इन्द्र उन्हें अपना शत्रु ही समझते जाते थे। उसकी समझ में विष्ठाभोजन और तरह-तरह से ग्राम्यसुख भोगना ही उसका नित्यधर्म है; शूकरी, उसके कच्चे बच्चे और शूकरों का झुण्ड ही आत्मीय-स्वजन और इष्ट-मित्र हैं; विष्ठा-दूषित घर ही उसका शान्तिमय स्थान है, यही उसका स्वदेश है— अपनी उन्नति करना ही उसका धर्म-कर्म है।

शिक्षा—सद्गुरु वैष्णव लोग दूसरे लोगों की अविद्या से उत्पन्न दुःखराशि को अकपट भाव से दूर करने में ही सदा व्यस्त और दुःखित रहते हैं। वे अपने रूप को भूले हुए जीव को हरिकथा सुनाकर, यह जता देना चाहते हैं, कि जीव का वास्तविक नित्यस्वरूप (कृष्ण का नित्यदास) और नित्यधर्म (कृष्ण-भक्ति) है; किन्तु इन्द्रिय-सुख चाहने वाले मनुष्य मङ्गलकामी वैष्णवों को शत्रु समझते हैं।

७८ ब्रह्मा द्वारा शूकर का संसार-विनाश

शूकर रूपी इन्द्र को दुःखपूर्ण सामयिक सुख में बहुत ही मत्त और किसी तरह भी अपने स्वरूप-वास्तविक स्वदेश और राज्य की बातें न समझ सकने पर, ब्रह्मा ने अहङ्कार से उत्पन्न, नित्यसुख में विघ्न पहुँचाने वाले और अन्त में क्लेशदायक इन्द्रियों की आसक्ति को जड़ से उड़ा देने की चेष्टा की। आसक्ति के कारणों को दूर न करने से शूकर की समझ में नित्यस्वरूप और नित्यधर्म की बातें न आयेंगी, ऐसा ही विचार कर ब्रह्मा ने एक-एक कर सब बच्चों और अन्त में शूकरी को भी इस जगत् से उठा दिया। एक एक बच्चे की मृत्यु पर शूकर की छाती फटती गई, वह परममङ्गलकारी ब्रह्मा

को दाँतों से काटने दौड़ा। अन्त में एकमात्र आश्रय शूकरी के मर जाने से अपने को बिलकुल ही आश्रयहीन समझ, शूकर इस विपद् में, मधुसूदन की शरण आया; तब उसे एकाएक ब्रह्मा की बातें सुनने की इच्छा हुई।

शिक्षा—संसार में विपद् पड़ने पर हमलोग उस अवस्था में यह समझते हैं, कि हमारे प्रति भगवान की यह करता है, किन्तु वास्तव में हमारी वास्तविक मङ्गलप्राप्ति का वही एक महान अवसर है। जीव जब अपने को जगत् में आश्रय हीन समझता है, तब एकमात्र पराश्रय भगवान् की कथा सुनने की उसकी इच्छा होती है। संसारी कुलीनता, ऐश्वर्य, पाण्डित्य, सौन्दर्य प्रभृति के अभिमान से मतवाले बने रहने से साधुओं की बातें अच्छी नहीं लगतीं। ये सब बातें वाहियात जान पड़ती हैं।

७६ शूकर का फिर से इन्द्ररूप पाना और स्वर्ग को जाना

अपने को बिलकुल ही आश्रयहीन समझकर शूकर ने ब्रह्मा की बातों का विश्वास किया, तब वह समझ गया, कि शूकर-देह उसकी नित्य-देह या स्वरूप नहीं है, वह नित्य स्वरूप में भगवत्-सेवक इन्द्र है। इन्द्र का काम ही उसका धर्म है। तब वह ब्रह्मा की कृपा से उस रूप से छुटकारा पा इन्द्र के रूप में स्वर्ग आया।

शिक्षा—शरणागत जीव वैष्णव गुरु से हरि-कथा सुनने के फल से समझ जाता है, कि मनुष्य या पशु-पक्षी का शरीर उसका नित्य-स्वरूप नहीं या यह जगत् उसका नित्य स्वदेश नहीं। इस जगत् में सुख-दुःख और उन्नति अवनति के लिये चेष्टा करना भी उसका नित्यधर्म नहीं। जीवमात्र ही स्वरूपतः कृष्ण का नित्यदास है। कृष्णधाम गोलोक ही उसका नित्यदेश है। कृष्ण की सेवा ही उसका नित्यधर्म है। गुरु की कृपा से ऐसा दिव्य ज्ञान होने पर जीव भगवान् की लीला में प्रवेश कर हरि-सेवा के आनन्द में नित्य काल निवास करता है। एकमात्र हरिसेवा के अतिरिक्त अन्यान्य सब विषयों के काम विष्ठा में विहार मात्र है।

८० स्वच्छ बोतल में शहद और मूर्ख मधुमक्खी

एक मधुमक्खी ने साफ बोतल में कुछ शहद देख उस शहद को चाटने की इच्छा की। मूर्ख मधुमक्खी यह न समझी, कि शहद काँच के आवरण के भीतर बन्द है, वह उसे चाटने की चेष्टा करने लगी। बार-बार अकृतकार्य होने पर भी वह समझी, कि मैं मधु के पास पहुँच गई। किन्तु वास्तव में शहद की मिठास पाना तो दूर रहा, वह उसे छूने भी न पाई।

शिक्षा—प्राकृत-सहजिया (भेभसिया) संसारी प्रत्यक्षवादी लोग यह समझते हैं, कि हम भगवद्रस का आस्वादन कर चुके, किन्तु वे अप्राकृत वस्तु का स्पर्श भी करने नहीं पाते। "अप्राकृत वस्तु नहीं प्राकृत के गोचर।" (चै० च० मध्य, ६ म० प०)

८१ गौड़ीय अस्पताल

शिक्षा—गणमत वालों को जो अच्छा लगता है, उसमें राय न देकर गौड़ीय मठ परम मङ्गल की बातें कहता है, लोग गणमत में भ्रान्त होने की वजह गौड़ीय मठ के प्रचार को 'हिंसा' समझते हैं किन्तु वास्तव में गौड़ीय मठ का प्रचार जीव के नित्य स्वास्थ्य लाभ की अमोघ चिकित्सा है।

८२ नश्तर के फल से बालक का आरोग्य और स्वास्थ्य-लाभ

शिक्षा—सद्गुरु प्रेम और भलाई की बातें कहते हैं। इससे भविष्यत् में जीव का नित्यस्वास्थ्य-लाभ और परम उपकार होता है।

८३ रामभक्त हनुमान द्वारा रावण की स्वर्णलङ्का को जलाना

शिक्षा—लोगों का साधारण भ्रम (Common Errors) यह है, कि वैष्णवों में किसी भी असत्य के प्रतिवाद की क्षमता नहीं है, यहाँ तक कि कोई दुष्ट मनुष्य वास्तविक गुरु, वैष्णव और भगवान् की निन्दा करते हैं, फिर भी उसे सह जाना ही वैष्णवता है। किन्तु रामभक्त के आदर्श हनुमान् ने दिखाया है कि वही वास्तविक वैष्णव हैं, वास्तव में उन्हें ही भगवान्, गुरु और वैष्णवों के प्रति यथार्थ प्रेम हुआ—जिन्होंने हरि-गुरु-वैष्णव की

निन्दा किसी तरह भी नहीं सही। वैष्णव लोग अपने ऊपर होनेवाली हिंसा के लिये उसका बदला नहीं लेते, किन्तु गुरु, वैष्णव पर होनेवाले विद्रोह को वे सह नहीं सकते। यही उनका वैष्णव-विद्वेषियों के प्रति कृपा, प्रकृत तृणादपि सुनीचता और सहिष्णुता धर्म है। विष्णु वैष्णव विद्वेषी की सोने की लङ्का जल जाने पर अर्थात् भोग में खाक पड़ने पर वे उस अहङ्कार से मुक्त होते हैं।

८४ पिता दक्ष के मुँह से परम वैष्णव शम्भु की निन्दा सुनकर सती का देह त्याग

(भा० ४ । ४ । २२)

शिक्षा—समर्थ होने पर प्रकृत गुरु-वैष्णवों की निन्दा करने वालों की जीभ काट लेना चाहिए। यदि ऐसा न हो सके, तो अपना प्राणत्याग कर देना चाहिए। यदि ऐसा भी न हो सके, तो अपने कान को बन्द कर उसी समय वहाँ से हट जाना चाहिये। (भा० ४ । ४ । १७)

'मैं और मन'

(श्रीयुत अवधबिहारीलाल कपूर एम. ए., भक्तिलाट लिखित)

(पूर्व-प्रकाशित से आगे)

मैं:—शुद्ध सनातन जीव भगवान् से प्राप्त अपनी स्वतंत्रता के दुरुपयोग के कारण मायाधीन हो जाता है। मायादेवी अज्ञानता की बेड़ियाँ उसके पैरों में पहना जगत् रूपी कारागार में दीर्घकाल तक कठिन कैद भोगने के लिये डाल देती है। यहाँ शरीर रूपी काल कोठरी रहने को मिलती है और मनलाराम! तुम से भी यहीं मुलाकात होती है, अज्ञानता वश माया की प्रेरणा से जीव तुम्हें अपने से अभिन्न मान लेता है और तुम्हारे कुसंग के कारण संसार के दारुण दुःखों से भेंट करता है। यमराज इस जेलखाने के जेलर हैं, इसके अंदर भिन्न-भिन्न प्रकार की ८४ लाख काल-कोठरियाँ हैं, यमराज भगवत् विमुख-जीव रूपी कैदी को उसके कर्मानुसार इनमें घुमाते हैं, सुख दुःख के कोड़े तड़ातड़ पीठ पर लगाये जाते हैं, व्याकुलता रूपी घावों से शरीर चलनी हो जाता है, चिन्ता रूपी रक्त की धारा निरंतर बहती है, तिस पर भी पापी मन! तेरे साथ विचारे कैदी को कर्म की चक्की पीसनी ही पड़ती है, तृष्णा रूपी मूँज की रस्सियाँ बटनी ही पड़ती हैं। अनेकों बार कैदखाने के दुखदाई जीवन से घबड़ाकर वह भागने की सोचता है, परन्तु भागे कैसे? चौबीसों घण्टे तो तू संतरी की भाँति उसके सिर पर सवार रहता है। बहुतेरे उपाय करने पर जब जीवात्मा की तेरे आगे कुछ नहीं चलती तो वह हार मानकर तुझे अपना बंधु बना लेता, तेरी हाँ में हाँ मिलाता और तेरे ही इशारों पर नाचता है, सरकस का सिंह जैसे सरकस मास्टर पर कभी कभी गुर्रा पड़ता है, पर उसके कोड़े की फटकार सुनते ही दुम दबा लेता और फिर वैसेही खेल करने लगता है।

मन:—फिर यही तो मैं भी कहता हूँ कि मैं बड़ा बलवान हूँ, मुझसे जीत न पाओगे, जब तक इस काल कोठरी पर मेरा पहरा है, तुम इसके बाहर कदम न रख सकोगे। व्यर्थ हाथ पैर फेंकने से क्या लाभ होगा? यदि भगवत् चरणों में अपराध करने से तुम्हें यह दण्ड प्राप्त हुआ है तब तो तुम्हें भोगना ही पड़ेगा, अपराध का प्रायश्चित्त करना ही होगा, "जैसी करनी वैसी भरनी," यदि मेरी दासता और संसार रूपी कारावास ही तुम्हें दण्ड स्वरूप में मिला है, तो तुम्हें यहाँ रह कर मेरी गुलामी अवश्य

करनी होगी. क्या इसके अतिरिक्त कोई और भी चारा है ? फिर बताओ तुमने क्या विचारा है ?

मैं निःसंदेह मैं अपराधी हूँ, और साधारण अपराधी नहीं किसी की गठरी नहीं चुराई, किसी की जेब नहीं काटी किसी के डाका नहीं मारा, किसी निर्दोष जीव की हत्या नहीं की, पर अखिल ब्रह्माण्ड के सम्राट और प्रतिपालक श्री भगवान् से विरोध कर उनकी पवित्र सृष्टि पर अपना अधिकार जमाने की निकृष्ट चेष्टा की. किस लिये ? अपनी भोगतृष्णा रूपी अग्नि की प्रज्वलित ज्वाला में आहुति देने को। भूल गया कि वे ही एक मात्र समस्त जगत् के भोक्ता हैं, सृष्टि उनकी है और मैं भी उनका हूँ। मैं सेवक हूँ वे स्वामी हैं. उनकी सेवा ही मेरा नित्य धर्म है और भक्तवत्सलता तथा भक्त के सुख की चिंता करना ही उनका पवित्र नियम है, हाय ! कितनी बड़ी भूल ! कैसा घोर अपराध ! पर अब अपराध तो हो चुका, दण्ड-स्वरूप मैं कैद सा हो गया, अब छुटकारा कैसे मिले ? भवबंधन कैसे कटे ? भगवत् चरणों की प्राप्ति कैसे हो ? सब कुछ तो यत्न कर चुका, अब क्या कोई उपाय नहीं ? अभी आशा का दीपक नहीं बुझा, निराशा का अँधियारा नहीं छाया, भवबंधन से मुक्ति पाने के लिये अभी आखिरी अपील बाकी है, भगवान् के दरबार में करुणा (Mercy) की दरख्वास्त करनी है, जब मुलजिम हर तरफ से कोशिश करके हार जाता है तो अंत में करुणा (Mercy) की दरख्वास्त राजा के यहाँ पेश करता है और क्षमा प्रार्थना करता है, यदि उसकी प्रार्थना सच्ची समझी जाती है, तो उसे कैद से मुक्ति मिल जाती है. भगवान् पतितपावन, गरीब-निवाज और करुणासागर हैं, मेरी पुकार सुनकर अवश्य दया करेंगे. दिन रात उनसे ही प्रार्थना करूँगा, उनके ही आगे अपना रोना रोऊँगा:—

"हे दीनबन्धो, दयानिधे, कृपासिंधो, प्रभो ! मुझे किस कारण भूल बैठे ? इस गरीब से क्योंकर निगाह फेर ली ? मैंने सुना है कि तुम पतितपावन हो, गिरे हुओं को सहारा देनेवाले हो, पापियों का उद्धार करनेवाले हो, यदि तुम्हारी यह प्रशंसा झूठी नहीं है तो मुझसे अधम, पतित जीव का उद्धार क्यों नहीं करते ? अपनी बड़ाई का परिचय क्यों नहीं देते ? इससे अच्छा अवसर तुम्हें कब मिलेगा ?

मैं हरि, पतित-पावन सुने ।
मैं पतित तुम पतित-पावन दोउ, बानक बने ॥

अपनी दयालुता और मेरी दीनता को जानते हुए भी यदि दीन दयालु ! तुम मुझे भूल जाओ तो इससे अधिक अचंभे की बात और क्या हो सकती है ? इसलिए कहना यही पड़ेगा कि या तो वेदों ने वृथा ही तुम्हें 'पतित-पावन' की पदवी दी है।

काहे ते हरि मोहि बिसारो ।
जानत निज महिमा मेरे अघ, तदपि न नाथ सँभारो ॥ १ ॥
पतित-पुनीत, दीनहित असरनसरन कहत स्रुतिचारो ।
हौं नहिं अधम सभीत दीन ? किधौं, बेदन मृषा पुकारे ? ॥२॥

परन्तु मेरी दीनता में तो कोई संदेह हो ही नहीं सकता । यदि यमराज सब काम-काज छोड़कर सिर्फ मेरे ही पापों का हिसाब किताब लगायेंगे तो भी मेरे दुर्गुणों का लेखा न चुकेगा ।

तऊ न मेरे अघ अवगुन गनि हैं ।
जौ जमराज काज सब परिहरि, इहै ख्याल उर आनि हैं ॥

तुम्हारी दयालुता पर भी कैसे संदेह करूँ ? तुम निराधार के आधार हो, निर्धन के धन हो, जिसका कोई नहीं उसके तुम सब कुछ हो ।

जग जगदीश घर घरनि घनेरे हैं ।
निराधार के अधार गुनगन तेरे हैं ॥

माया व्यापित अनेक जीवों को तुमने संसार-सागर से पार उतारा है, उनकी गिनती कौन कर सकता है ?

व्याध गनिका गज अजामिल साखि निगमनि भने ।
और अधम अनेक तारे जात कापै गने ॥
जानि नाम अजानि लीन्हें नरक जमपुर मने ॥
दास तुलसी सरन आयो राखिये अपने ॥

तुम्हारी दयालुता और अपनी दीनता दोनों ही पर मुझे दृढ़ विश्वास है, जैसे अन्य पापियों का तुमने सहज ही उद्धार किया है, वैसे ही मेरे ऊपर भी दीन जानकर दया करोगे; गज को जैसे ग्राह से

छुड़ाया वैसे ही पापी मन के फंदे से मुझे छुड़ाकर भव-बंधन से मुक्त करोगे।

मैं तो हूँ पतित आप पावन पतित नाथ,
पावन-पतित हौ तौ पातक हरोइगे।
मैं तो महा दीन और दीनबंधु दीनानाथ,
दीनबंधु हौ तौ दया जीय में धरोइगे॥
मैं तो हूँ गरीब आप तारक गरीबन के,
तारक गरीब हौ तौ बिरद बरोइगे।
मेरी करनी पै कछु मुकर न काज कान्ह,
करुनानिधान हौ तौ करुना करोइगे॥

इसी प्रकार निरंतर प्रार्थना करूँगा, दयामय के दरबार में अर्जियों की झड़ी लगा दूँगा, कब तक उनका हृदय न रीझेगा? सांसारिक व्यवहारों से चित्त हटाकर एक उनकी ही खुशामद करूँगा, अब जो कुछ सर्वनाश होना था, वह हो चुका; अधिक सर्वनाश न करूँगा, भगवान् की कृपा से वैराग्य उत्पन्न होकर अब संसार रूपिणी रात्रि बीत चली है, मोह की निद्रा से जागकर अब फिर भ्रम में न पड़ूँगा, नाम रूपी सुंदर चिंतामणि मुझे प्राप्त हो गया है, हृदय रूपी हाथ में उसे सम्हाल कर रक्खूँगा, मन के विकारों से चित्त को साफ़ कर श्यामसुंदर के पवित्र रूप का ध्यान करूँगा, उनके रूप की कसौटी बनाकर अपने चित्त रूपी सोने की शुद्धता उस पर कस देखूँगा। जब तक मैं मन का गुलाम रहा, इन इन्द्रियों ने मेरा खूब उपहास किया। पर अब मन तथा इन्द्रियों को वश में कर के अपनी हँसी न कराऊँगा। जैसे भौंरा कमल-कोश में बस जाता है, उसी प्रकार अपने मन को भगवान् के चरणों में लगा दूँगा।

अब लौं नसानी अब न नसैं हौं।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे पुनि न डसैं हौं॥ १॥
पायौं नाम चारु चिंतामनि उरकर ते न खसैं हौं।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहिं कसैं हौं॥ २॥
परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन, निज बस ह्वै न हँसैं हौं।
मन मधुकर पन कै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैं हौं॥ ३॥

मनः—कितना ही प्रयत्न करो मैं तुम्हारी एक न सुनूँगा, भगवत्-चरणों में भला मैं कैसे टिक सकता हूँ, मैं तो अपनी वही मस्तानी चाल चलूँगा, जो मुझे आती है। भोग, विलास, स्त्री, पुत्र, धन इत्यादि में सदा लिप्त रहूँगा, इन्हीं से जब मुझे छुट्टी न मिलेगी, तो भगवत्-भजन कैसे होगा? सांसारिक भोगों से मुझे खींचकर भगवत्-भजन में लगाना तुम्हारी ताक़त के बाहर है, यह मैं, बार बार तुम्हें समझा चुका हूँ। संतों ने भी मेरी प्रबलता को पूर्णतया स्वीकार किया है। देखो कबीरदासजी क्या कहते हैं,—

मन के बहुतक रंग हैं छिन छिन बदले सोय।
एकै रँग में जो रहै ऐसा बिरला कोय॥

× × ×

मन गयंद मानै नहीं चलै सुरत के साथ।
दीन महावत क्या करै अंकुश नाहीं हाथ॥

भगवान् ने भी गीता में (६।३५) निज मुख से मेरी प्रशंसा की है:—

"असंशयं महाबाहो! मनो दुर्निग्रहं चलम्॥"

मैंः मनस्माराम! तुम्हारा कहना नितान्त सत्य है, किसी की सामर्थ्य नहीं कि तुम्हें परास्त कर सके। जो अपने भरोसे तुम्हें क़ाबू में लाने का प्रयत्न करते हैं, वह मतवाले हाथी को कच्चे धागे से बाँधना चाहते हैं, इसी लिये उनकी चेष्टायें निष्फल हो जाती हैं। परन्तु जो भगवान् की शरण लेकर भगवत्-कृपा द्वारा तुमसे जीतना चाहते हैं, उनकी अवश्य ही विजय होती है। वैसे तो साधन अनेक हैं। ज्ञान, कर्म, योग, तप इत्यादि सभी तुम्हें रास्ते पर लाने के उपाय हैं। परन्तु इनमें मुख्य भगवत्-कृपा ही है। इसके बिना सारे साधन निरर्थक हैं। जब तक हरि-कृपा नहीं होती मन और माया के फंदे से छूटना असंभव है।

माधव असि तुम्हारि यह माया।
करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं, जब लगि करहु न दाया।

× × ×

ज्ञान-भक्ति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाहीं।
तुलसिदास हरि कृपा मिटै भ्रम, यह भरोस मन माहीं॥

अब तो मैं दयामय भगवान् की असीम कृपा के ही भरोसे चुपचाप बैठा हूँ। आपत्ति आने पर उन्हीं की ओर सहायता के लिये निहारूँगा, जब

कभी तू सांसारिक विषयरूपी गड्ढों में मुझे ढकेलना चाहेगा, उन्हीं को ऊँचे स्वर से पुकारूँगा:—

दीनबंधु सुखसिंधु कृपाकर कारुनीक रघुराई।
सुनहु नाथ! मन जरत त्रिबिध ज्वर, करत फिरत बौराई॥१॥
कबहुँ जोगरत, भोग निरत सठ हठ बियोग बस होई।
कबहुँ मोहबस द्रोह करत बहु, कबहुँ दया अति सोई॥२॥
कबहुँ दीन मतिहीन रंकतर, कबहुँ भूप अभिमानी।
कबहुँ मूढ़ पंडित बिडंबरत, कबहुँ धर्मरत ज्ञानी॥३॥
कबहुँ देव! जग धनमय रिपुमय कबहुँ नारिमय भासै।
संसृति-सन्निपात दारुन दुख, बिनु हरि कृपा न नासै॥४॥

हे दीनबंधु, आनंदरूप, करुणामय, भगवान! सुनिये, मेरा मन संसार के त्रिताप से ग्रसित हो कर पागलों की भाँति बौराया हुआ घूमता है। कभी योगाभ्यास करता, कभी भोगों में फँसता और कभी वियोग के वश हो जाता है। कभी माया-वश नाना प्रकार के द्रोह करता और कभी बड़ा दयावान बन जाता है। कभी दीन, कभी मूर्ख, कभी कंगाल, कभी घमंडी राजा, कभी मूढ़, कभी पंडित, कभी धार्मिक एवं ज्ञानी बनता है। कभी संसार को धनमय देखता है, कभी शत्रुमय और कभी स्त्रीमय। यह संसाररूपी सन्निपात ज्वर का असह्य दुःख बिना तुम्हारी कृपा के दूर नहीं हो सकता।

इस भाव को हृदयंगम कर के कि:—

संजम जप तप नेम धर्म व्रत, बहु भेषज समुदाई।
तुलसिदास - भव रोग रामपद प्रेम - हीन नहिं जाई॥

मैंने अब अपने छिन-छिन पर मचलनेवाले मन की बाग-डोर तुम्हारे ही हाथ सौंप दी है, योग, जप, ज्ञान, कर्म इत्यादि सब कुछ त्यागकर एक मात्र तुम्हारे ही चरणों का सहारा लिया है, तुमने भी तो अर्जुन को संकेत करके प्राणी मात्र को यही उपदेश दिया है। पहले नाना प्रकार के साधन बतला कर अंत में यही तो कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

सब धर्मों को छोड़कर केवल एक मेरी ही शरण में आ जाओ, मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूँगा, तुम कुछ शोच मत करो।

जब तुम यह पवित्र प्रतिज्ञा कर चुके हो, तो मैं क्यों इधर उधर भटकूँ, अब मुझे यह देखना है कि तुम कहाँ तक अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करते हो।

तुम अपनायो, तब जानिहौं जब मन फिरि परि है।
जेहि सुभाउ बिषयनि लग्यो तेहि,
सहज नाथ सों नेह छाँडि छल करि है॥
सुत की प्रीति प्रतीति मीत की नृप ज्यों डर डरि है।
अपनो सो स्वारथ स्वामी सों चहुँ बिधि,
चातक ज्यों एक टेक तें नहिं टरि है॥
हरषिहै न अति आदरे निदरे न जरि मरि है।
हानि लाभ दुख सुख सबै समचित,
हित अनहित कलि कुचाल परिहरि है॥
प्रभु गुन सुनि मन हरषि है नीर नैननि ढरि है।
तुलसीदास भयो राम को बिस्वास,
प्रेम लखि आनँद उमँगि उर भरि है॥

आस्तिकता

(१)

जो लोग षडैश्वर्य पूर्ण भगवत्तत्त्व के अस्तित्व को पूर्ण रूप से स्वीकार करते हैं, उन्हें 'आस्तिक' कहते हैं। आस्तिक लोग अपने को श्रीभगवान् से उत्पन्न अधीन-तत्त्व समझते हैं और उनकी वाणी समझ वेदादि सात्वत शास्त्रानुसार पवित्र भाव से जीवन बिताते हुए क्रमशः नित्य-कल्याण की ओर अग्रसर होते रहते हैं। इनलोगों से विपरीत भाववाले और एक श्रेणी के मनुष्य हैं, जिन्हें शास्त्र में असुर, पाषण्ड, म्लेच्छ या नास्तिक इत्यादि कहते हैं। ये नास्तिक लोग भगवद्भक्तों के अस्तित्व में विश्वास स्थापन करने और शास्त्र के अनुसार जीवन-गठन की

प्रयोजनीयता को समझने में बिलकुल ही अक्षम हैं। सुतरां वे लोग स्वेच्छाचार की राह पकड़ आहार, निद्रा और मैथुन रूपी तुच्छ कामों में मदमत्त रहते और सदाचार का अनुशीलन न कर सकने की वजह देहान्त में यमदूतों द्वारा रौरव नामक भीषण नरक में डाले जाते तथा वहाँ असह्य दुःख भोगने को बाध्य होते हैं।

यह न समझना चाहिये, कि नास्तिक लोग केवल शरीरान्त होने पर ही भयानक दुःख भोगा करते हैं। जीवित दशा में भी वे कदाचार उच्छृंखलता में लिप्त रहने के कारण से आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक ताप से बार-बार दग्ध होते हैं। पृथ्वी में रहने के समय 'शारीरिक पीड़ा, स्वजन-गण का वियोग, धन सम्पत्ति का नाश, स्वार्थ की वजह आपस में झगड़ा इत्यादि तरह-तरह की घटनायें अकस्मात् उपस्थित होती हैं। "कौन इनका प्रेरक है और किस विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिये ये सब यहाँ भेजे गये हैं," इस रहस्य के समझने में असमर्थ नास्तिकगण उपरोक्त घटनाओं से उत्पन्न दुःख से अधीर हो मोहित होते और बहुत ही क्लेश पाते हैं। आस्तिक लोग जानते हैं, कि भगवत् सेवा से विमुख रहने की अवस्था में बँधे जीवों के संशोधित करने के अभिप्राय से भगवत्-दासी माया द्वारा उक्त घटनायें बार बार प्रेरित होतीं और वे लोग भी "प्रियतमा के दिये उपहार" समझ उसे बड़ी ही प्रीति की दृष्टि से देखते हैं। जिस समय नारद महाराज की माता ने सर्पाघात से इस लोक का परित्याग किया था और "सप्ताह के अन्त में सर्प के काटने से देहान्त होगा", ऐसे अभिशाप-वचन को श्रीपरीक्षित महाराज ने सुना था, उस समय वे दोनों ही उसे भगवत् कृपा समझने में समर्थ हुए थे। श्रीकुन्ती देवी भी कहती थीं,— "विपद् पद-पद पर उपस्थित हो तो अच्छा है। उनके ऐसा कहने का मतलब यह, कि विपद् के समय भगवान् की स्मृति आप ही जाग उठती है। कुन्ती देवी इसकी पक्षपातिनी नहीं थीं, वैषयिक सुखास्वादन के समय भगवत् स्मृति होती है। अतएव जान पड़ता है, कि ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के ताप ही भोग्य हैं और उनका निवारण करने के लिये आस्तिक्य-बुद्धि-सम्पन्न होने के सिवा और कोई राह नहीं।

दिखाई देता है, कि वर्तमान कलियुग में कितने ही लोग आस्तिकता की सीमा को विशेष रूप से न समझ सकने की वजह अन्ध विश्वास वश अपने को अयथा रूप से आस्तिकता के नाम से परिचित कराने के लिये व्यस्त हैं। इस प्रकार आस्तिक्याभिमानी मनुष्य लोग अपनी-अपनी सङ्कीर्ण धारणाओं के उत्पन्न मोह से मोहित होकर "स्वयं-पर्याप्त" भावापन्न होते और उन्हीं सब तुच्छ धारणाओं को अधिक मानते हैं। सुतरां वह लोग कुसंस्कार-दुष्ट धारणाओं का शोधन करने के लिये निष्किञ्चन भागवतगण के शरणापन्न होने और शास्त्रोज्ज्वल तत्त्व की मीमांसा की बातें सुनने का प्रयोजन समझ नहीं सकते। ऐसा दिखाई देता है, कि संसार-चक्र के बवण्डर के थपेड़ों से कुचले गये नास्तिकदल के कोई कोई लोगों ने शुद्ध भक्तों के आगे आत्मनिवेदन किया है किन्तु आस्तिकप्रवरों में किसी में भी ऐसा परिवर्तन प्रायः दिखाई नहीं देता। अतएव स्थिर होता है, कि भगवत्तत्त्वानभिज्ञ नास्तिकों की अपेक्षा भगवत्तत्त्व को स्वीकार करनेवाले आस्तिक्याभिमानी ही अधिकतर अपराधी हैं और अपराध की अधिकता की वजह उनको उचित है, कि वृथा अभिमान को छोड़कर वे शीघ्र ही किसी शुद्ध भागवत के चरण का आश्रय लें और उनके आज्ञाधीन हो विमल आस्तिक्य-बुद्धि के प्राप्त करने में यत्नशील हों। आत्मोन्नति के लिये नासमझ नास्तिकों की तरह आस्तिक्याभिमानी का उदासीन होना अधिकतर विपद्-जनक है और यह उनका कर्त्तव्य ही नहीं।

उच्च और नीच कुल में जीव का जन्म होने और एक ही प्रकार का कर्म होने से साधक-भेद से विभिन्न प्रकार के फलों की उत्पत्ति होते हुए जीवात्मा का नित्यत्व और फलदाता परमात्मा का अस्तित्व आप ही स्वीकृत हो पड़ता है। गीतोपनिषद् में भगवान् ने स्वयं कहा है,—"विष्टभ्याहं इदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" अर्थात्

यह नश्वर संसार उनके एक अंश में अवस्थित है। क्योंकि समस्त विश्व में भगवान् का एक पादमात्र विभूति दर्शन के योग्य है, इसलिये भोग-मोक्ष दायक अनित्य-कर्म या फलदातृत्व रूपी जो ऐश्वर्यमिश्रित भाव है, वह भगवत्तत्त्व की आंशिक उपलब्धि के सिवा सेवापरायण शुद्ध भक्तों के लिये लब्ध नित्यानित्य दोनों ही धाम के अधीश्वर सर्वसम्पूर्ति सम्यक् या परिपूर्ण भगवद्-ज्ञान कभी भी स्वीकृत किया जा नहीं सकता। सुतरां यह स्पष्ट है, कि एक देश-दर्शिता होने के कारण भोग मोक्ष-परायण कामुक मनुष्य भगवद्-ज्ञान को बहुत ही सामान्य अंशमात्र समझते हैं। पूर्ण भगवद्-ज्ञान पाने के लिये उक्त दोनों वासनाओं को विसर्जनकर निष्किञ्चन भक्तमण्डली का आश्रय ग्रहण करने के सिवा उनके लिये और कोई दूसरी राह ही नहीं और आत्मसम्भाविता या स्वयं-पर्याप्त भाव रूपी परम शत्रु ही उनके उन्नत अधिकार प्राप्त करने में विघ्न डालने वाला है। जो लोग इसकी तुलना समझने में अक्षम हैं, उनके अपने को बुद्धिमान् समझने पर भी, बुद्धिमान लोग उन्हें मूर्ख कहने में जरा भी संकोच नहीं करते।

विश्व के ऊपरी भाग में नित्य-पदार्थ-समन्वित दिव्य आनन्दमय धाम अवस्थित है। उस दिव्य-धाम में भगवान् परमानन्द देनेवाली नित्य-विभूति का विस्तार करते हुए बहुत ही अद्भुत सच्चिदानन्द-घनस्वरूप में भक्तों के साथ सेव्य-सेवक-सम्बन्ध से युक्त हो नित्यकाल अलौकिक लीलाओं का अभिनय किया करते हैं। हेय अनित्य पदार्थ युक्त कुम्हालय के समान यह विश्व बहिर्मुखी जीवों के साथ काल के प्रभाव से उदित होता है और कुछ दिन अवस्थान करने के बाद अवशिष्ट बद्ध-जीवों के साथ फिर अव्यक्त भाव में परिणत हो जाता है। भोगमोक्षपरायण जीवगण के स्वेच्छानुरूप बद्धभूमिका में बार-बार विचरण करने और दुःख-द्वार में संशोधित कराने की इच्छा करने पर भगवान् ऊपर कहे दिव्यधाम में अवस्थान करते हुए अचिन्त्य-शक्ति के प्रभाव से, एक दिये से दूसरे दिये के जलाने की तरह, समशक्तिमान् एक द्वितीय रूप प्रकट करते हैं। मूलरूप से प्रकट होने के कारण इस द्वितीयरूप को भगवान् के अंश की विभूति कहते हैं। भगवान की माया शक्ति जो त्रिगुणात्मिका अनित्य विषय-प्रसविनी शक्ति है, वही इस अंशरूपी प्रथमपुरुषावतार या कारणार्णवशायी विष्णु के दर्शन द्वारा शोभित होती है। इसके उपरान्त शोभिता माया भगवान् इच्छा के अनुसार अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड गठित करती है। ब्रह्माण्ड-समूह की सृष्टि के उपरान्त उनके सामञ्जस्य विधान के लिये वह कारणार्णवशायी विष्णु अपने मायाधीश्वर रूप भगवदंश-भाव को ब्रह्माण्ड समूह के बहिर्भाग में ऊपर कहे अनुसार, कायम रख, दिये से दिया जलाने की तरह, द्वितीय अंश के रूप में प्रत्येक ब्रह्माण्ड के भीतर प्रवेश करते हैं। प्रत्येक जीव के हृदय में अन्तर्यामी के रूप में भगवदंश रूपी जो अंश सदा विराजमान रहता है, उसे क्षीरोदकशायी परमात्मा, या व्यष्टि विष्णु कहते और समग्र विश्व या ब्रह्माण्ड में लिपटे हुए जो भगवदंशरूप सदा क्रियाशील हैं उसे गर्भोदकशायी या समष्टि-विष्णु कहते हैं। कोई-कोई स्थूल बुद्धिवाले मनुष्य इस बाहरी विश्व को ही चिन्मय परमात्मा का विराट् रूप समझते और हठयोगिगण विश्व में संलिप्त परमात्मतत्त्व को ही परतत्त्व के पूर्ण विकास की भूमिका समझते हैं। जो भगवान् दिव्य-धाम में सदा पूर्ण रूप में अवस्थान करते हैं, जिनके अंश तत्त्व से अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड पलक झपकते उत्पन्न होता और लय को प्राप्त होता है, वे अंशांश तत्त्व-द्वय के रूप में विश्व के सामञ्जस्य-विधान के कर्त्ता हैं, उनकी ही तुच्छ मायाशक्ति के द्वारा विमोहित मनुष्यगण सुष्ठु रूप में उनके सुगंभीर तत्त्व को समझने में अक्षम हैं। अतएव मायामुग्ध जीवगण अज्ञानता की वजह जो महिमा घटानेवाली असम्यग् भगवद्धारणा का पोषण करते हैं, वह ठीक ही है। भगवान् मायाशक्ति का आश्रय कर असुर-मोहिनी-लीला का प्रकाश करते हैं और उस असुर-मोहिनी-लीला के ही फलस्वरूप असम्यग् भगवद्धारणा बद्ध-जीवों के हृदय में स्थान पाती है। सुर मोहिनी लीला इसके विपरीत है; जैसे—

"ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्।"

अर्थात् सूरि या शुद्ध भक्तगण भगवान के श्रेष्ठ रूप या दिव्य आविर्भाव को सर्वदा आँखें खोलकर देखा करते हैं।

दिव्य-धाम और विश्व के सन्धि-स्थल में विरजा नाम की नदी मौजूद है। जिन्होंने भोग-मोक्षरूपिणी दो अनित्य वासनाओं का विसर्जन किया है, वे पवित्र हृदय-सम्पन्न होने की वजह विरजा नदी के ऊपरी भाग में अवस्थित दिव्य-धाम के अन्तर्गत परव्योमस्थ ब्रह्मयोनि का दर्शन सबसे पहले पाते हैं। इस ब्रह्मयोनि को सात्वत शास्त्र में कृष्ण की अङ्ग-कान्ति कहते हैं। यह जड़-भाव-परिशून्य विशुद्ध चिन्मात्रतत्त्व है; सोऽहं वादियों का ध्येय सूक्ष्म आकाशादि के समान जड़ पदार्थ नहीं। जो एक बार इसका आभास पा जाते हैं, वे फिर जड़ पदार्थ में आसक्त हो नहीं सकते। भक्तगण जहाँ तक उस ब्रह्मयोनि के चित्-सौन्दर्य पर मुग्ध होते हैं, वहाँ तक ब्रह्मज्योति भी उनके आगे स्फुटतर भाव से अपने स्वरूप को प्रकाश करती है; जिसके फल से वे लोग परव्योम के भीतर अवस्थित जरा-मरण-भयशून्य चिदानन्दमय वैकुण्ठ धाम और भक्तों के साथ बहुत ही अद्भुत ऐश्वर्य भाव से प्रबल लीला रसास्वादनकारी श्रीनारायण का दर्शन पाने में समर्थ होते हैं। अनित्य वैषयिक सुख की अपेक्षा भगवद्भक्ति के द्वारा कोटि-कोटि गुण अधिक आनन्द अयाचितभाव से नित्य काल सम्भोग किया जाता है और भगवान् ऐसे प्रबल प्रतापान्वित हैं, कि उनके भक्तों पर अत्याचार करने में स्वयं यमराज भी साहस नहीं करते—ऐसे भक्तिभाव के बढ़ानेवाले अत्याश्चर्य ऐश्वरिक शक्ति के विकाश को वैकुण्ठगत ऐश्वर्यभाव कहते हैं। बार बार इस ऐश्वर्यभाव का दर्शन करते करते भक्तों के हृदय में जब विशुद्धभाव का आविर्भाव होता है, उस समय वे लोग वैकुण्ठ की दूसरी बगल में अवस्थित गोलोकवृन्दावन और वहाँ की गोपियों से वेष्टित माधुर्य-लीला रसास्वादन से मतवाले हो मुरली बजानेवाले श्रीकृष्ण का दर्शन करते हैं। माधुर्यभाव में प्रीति के भाव ही प्रबल होने के कारण भक्त लोग ऐश्वर्य की ओर ध्यान नहीं देते और इसीलिये वे लोग श्रीकृष्ण को ऐश्वर्यगत विभुत्व के बदले प्रेमास्पद समझते हैं। यह प्रेमास्पदभाव चार प्रकार के हैं,—दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। नश्वर जगत् में जो दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुरभाव दिखाई देते हैं, वह कामज (अर्थात् स्वार्थ-परता के प्रकार भेद) हैं और गोलोक के पवित्र चारों भावों के मायान्तर्गत विकृत प्रतिबिम्ब मात्र हैं। भौम व्रजलीला के अभिनय के समय ऐश्वर्यभाव को छिपाये हुए माधुर्य प्रबल रसराज की मूर्ति में श्रीकृष्ण जब गोप-बालकों के साथ एक संग भोजन करते थे और सखा के भाव से सखावृत्ति के प्रबल आवेग में सुमिष्ट समझकर जब गोप-बालकगण जूठे फल-मूलादि को उनके मुँह में डाल देते थे, उस समय, जिनके मुँह से वेद-समूह निकले थे, वे ब्रह्मा भी उन्हें पहचान नहीं सके। ब्रह्मा की धारणा थी, कि पवित्र भाव से विधि पूर्वक आहारादि की सामग्री भगवान् को निवेदन करना चाहिये; किन्तु जब गोपाल-बालक निर्भय होकर श्रीकृष्ण के मुँह में जूठा डाल रहे हैं, तब यह भगवान् हो नहीं सकते। अंत में जब श्रीकृष्ण ने ऐश्वर्य भाव का कुछ परिचय दिया, तब ब्रह्मा ने हाथ जोड़कर क्षमा प्रार्थना की थी और ब्रह्मसंहिता नामक अपने रचित ग्रन्थ में "ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः। अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥" कहते हुए घोषणा करने को बाध्य हुए थे। अत एव दिखाई देता है, कि जब ब्रह्मा को भी श्रीकृष्ण पर श्रद्धा स्थापन करने में देर हुई थी, तब भोग मोक्षपरायण सामान्य कपटी मनुष्यगण अचानक कृष्ण पर विश्वास स्थापन कर सकेंगे, यह कभी सम्भव नहीं।

अमोघ की कहानी

यह बहुत दिन की पुरानी बात है, जिस समय श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्र में श्रीमन्महाप्रभु संन्यास लीला का अभिनय कर रहे थे, उस समय वैष्णवों के घर की स्त्रियाँ भी सच्ची सहधर्मिणी कहलाने लायक थीं। एक दिन सार्वभौम भट्टाचार्य महाशय के आग्रह से श्रीगौरसुन्दर उनके घर भिक्षा करने को राजी हुए। भट्टाचार्य ने बड़े आनन्द से श्रीमन्महाप्रभु के लिये गौड़ीय और उत्कल देश की प्रथा के अनुसार तरह-तरह के व्यंजन, खीर, हलुआ आदि तैयार करने के लिये षाठी की माता को नियुक्त किया। षाठी की माता बड़े ही यत्न से भोग राँधने लगीं, स्वयं भट्टाचार्य भी रसोई के काम में लगे। श्रीगौरसुन्दर की भिक्षा के लिये भट्टाचार्य ने एकान्त में एक नया मकान बनवाया था; उस मकान में दो दर्वाजे थे, एक महाप्रभु के प्रवेश के लिये और दूसरा परोसने के लिये। श्रीचैतन्यचरितामृत में कविराज गोस्वामी प्रभु के वर्णन से जान पड़ता है कि षाठी की माता उत्कल और गौड़ीय प्रथा के अनुसार भाँति-भाँति के सुस्वादु व्यंजन, हलुआ, खीर आदि बनाने में बहुत होशियार थीं। भट्टाचार्य की गृहिणी श्रीगौरसुन्दर पर अत्यन्त स्नेह करती थीं। आज उन्होंने वात्सल्य रस से अभिषिक्त हो प्रसन्न चित्त से शचीनन्दन श्रीगौरसुन्दर के लिये बहुत बड़े अखण्ड केले के पत्ते पर पीले सुगन्धित घृत से चावल सिझकर बहुतेरी तरकारी-चटनी आदि से सजाया। दस तरह की तरकारी, नीम मिले तीन स्वाद का रस्सा, मिर्च की चर्पर्री, छेने का बड़ा, दही बड़ा, कद्दू की खीर, कुम्हड़े की खीर, उत्कल देश का प्रसिद्ध प्रसिद्ध व्यंजन बेसन लाफरा, मोचाघण्ट, मोचा भाजा, साकुरा नामक मीठे स्वाद के कई प्रकार के व्यंजन कुम्हड़ौरी के तरह-तरह के व्यंजन, फुलौड़ी, तला हुआ बैंगन, परवल, कुम्हड़ा तली हुई मूंग, उरद की दाल, पाँच-छः प्रकार की मिठाई आदि बनाई। इसके बाद उन्होंने सब पकवानों को मट्टी की रकाबी में सजा दिया। दूध में चपटा केला और आम का रस निचोड़ दिया। दही सन्देस आदि के बाद श्रीजगन्नाथ का प्रसाद मृन्मय गुटिका और मीठा शरबत बनाया। श्रीमन्महाप्रभु ने सार्वभौम के मनोभाव को समझ मध्याह्न में अकेले उनके घर शुभागमन किया। श्रीगौरसुन्दर भट्टाचार्य के घर इतनी तैयारी देख कहने लगे, कि इतना अन्न-व्यञ्जन दो पहर भर में कैसे तैयार हो गया? सौ मनुष्यों द्वारा सौ चूल्हे पर भी इतने थोड़े समय में इतना अधिक सामान बनना असम्भव है। भट्टाचार्य की लड़की का नाम षाठी और दामाद का नाम अमोघ। अमोघ बड़ा ही निन्दक आदमी था। श्रीगौरसुन्दर को भोजन पर बिठा भट्टाचार्य परोस रहे थे, बीच में अमोघ की निगाह बचाने के लिये हाथ में लाठी लेकर दर्वाजे पर बैठ चारों ओर सतर्क दृष्टि रखे हुए थे। श्रीगौरसुन्दर को जगन्नाथ का प्रसाद देने के समय भट्टाचार्य का ध्यान कुछ बट गया, इसी अवसर में अमोघ ने भोजन-सामग्री देख ली और निन्दा आरम्भ कर दी। कहा कि इतने सामान से दस-बारह आदमी तृप्त हो सकते हैं। अकेले संन्यासी के लिये इतना अधिक भोजन क्यों रक्खा गया? यह सुनते ही भट्टाचार्य लाठी तान कर उसे मारने चले। अमोघ मार के डर से भागा। श्रीमन्महाप्रभु अपना यह अपमान सुन हँसने लगे। भट्टाचार्य खूब नाराज हुए, षाठी की माँ अमोघ को शाप देने लगी। षाठी की माता हाथों से सिर और छाती कूटना आरम्भ किया; साथ ही कहती जाती थी—"षाठी शीघ्र विधवा हो।' सपत्नीक सार्वभौम का यह दुःख देख दयालु ठाकुर श्रीगौरसुन्दर ने दोनों को धैर्य दे भोजन समाप्त किया। सार्वभौम दण्डवत् कर बड़े ही दैन्य-वचनों में श्रीमन्महाप्रभु के अभयामृत श्रीपद में बहुत-बहुत क्षमा-प्रार्थना करते हुए श्रीगौराङ्ग सुन्दर के साथ-साथ चले। असीम करुणासिन्धु गौरसुन्दर ने सार्वभौम को धीरज दे घर लौटा दिया। सार्वभौम ने गृहिणी से कहा, कि जिसके मुख से श्रीचैतन्यदेव की निन्दा निकले, उस निन्दक का वध

करने से ही वह दुःख दूर होता है; अथवा अपने ही मर जाने से। किन्तु हाय, इन दोनों में एक काम भी हो नहीं सकता। क्योंकि यह दोनों ही देह ब्राह्मण की हैं। अब मैं इस निन्दक का मुँह नहीं देखूँगा, षाठी से कहो कि ऐसे पतित पति को वह भी त्याग दे।

अमोघ उस रात कहीं बाहर ही छिपा रहा; दूसरे दिन का सबेरा होते ही अमोघ को शीतला निकल आई। अमोघ का कोई भरोसा न सुन भट्टाचार्य ने कहा—दैव ही मेरे सहाय्य हुए। यह ईश्वर के अपराध का बदला मिले हैं। आयु, यश, धर्म, लोक और आशीर्वाद, ये सभी श्रेय वस्तुएँ मनुष्य के अहंकार से विनष्ट हो जाती हैं, शास्त्र में ऐसा ही कहा है।

सबेरे श्रीपाद गोपीनाथ आचार्य श्रीमन्महाप्रभु के दर्शन को गये। अन्तर्यामी प्रभु ने सार्वभौम का समाचार पूछा। आचार्य ने बतलाया, कि भट्टाचार्य और षाठी की माता निन्दक दामाद द्वारा श्रीचरण में अपराध होने के भय से बड़े दुःख के साथ उपवास कर रहे हैं। अमोघ शीतला के प्रकोप से मरने मरने हो रहा है। भक्त-वत्सल श्रीगौरहरि इस समाचार से स्थिर रह न सके। पहले वे अमोघ के पास पहुँचे और उसकी छाती पर श्री-हस्त फेरकर कहा,—"अमोघ! ब्राह्मण का हृदय सरलता से पूर्ण होना चाहिये। सरलता ही ब्राह्मण का लक्षण है। जहाँ सरलता है, वहाँ ही कृष्ण निवास करते हैं। द्रोह करना चण्डाल का स्वरूप है; सुतरां हृदय में चण्डाल को बैठाकर पवित्र स्थान को अपवित्र क्यों करते हो? सार्वभौम के सङ्ग के प्रभाव से तुम्हारे पापों का क्षय हो गया है। पापों के मिटने पर मनुष्य कृष्णनाम लेता है, अतएव अमोघ! तुम शीघ्र उठो और कृष्ण का नाम लो, भगवान् शीघ्र ही तुम पर कृपा करें।"

श्रीमन्महाप्रभु की इस आश्वास-वाणी को सुन अमोघ प्रेमोन्माद से मतवाले हो उसी समय उठकर 'कृष्ण-कृष्ण' कहने और नाचने लगे। अमोघ बार-बार श्रीमन्महाप्रभु के चरण में बहुत दीनता के साथ अपराध की क्षमा माँग, अपने हाथों ही अपना मुँह पीट कर लाल कर लिया। गोपीनाथ आचार्य ने अमोघ का हाथ पकड़ लिया। परम दयालु पतित-पावन श्रीगौराङ्गसुन्दर अमोघ के शरीर पर हाथ फेरते हुए, हर तरह के वचनों से उसका प्रबोध कर कहने लगे—"सार्वभौम के सम्बन्ध से तुम मेरे स्नेहपात्र हो; तुम्हारी तो बात ही और, सार्वभौम के घर के दास-दासी, पशु पक्षी सभी मुझे प्रिय हैं। तुम्हारा कोई अपराध नहीं, तुम कृष्ण का नाम लो।"

इसके बाद श्रीगौराङ्गसुन्दर सार्वभौम के पास आये। सार्वभौम प्रभु को देख साष्टाङ्ग दण्डवत् हो प्रभु के श्रीचरणों में लोट गये। श्रीमन्महाप्रभु ने सार्वभौम को उठ कर उनका आलिङ्गन किया और आसन ग्रहण किया। प्रभु ने कहा "भट्टाचार्य! अमोघ बालक है, उसका कोई दोष नहीं, तुम क्यों नाहक क्रोध में पड़कर उपवास कर रहे हो? उठो, शीघ्र नहा-धोकर श्रीनीलाचलसुन्दर के श्रीमुख का दर्शन कर, शीघ्र लौट के प्रसाद ग्रहण करो; तभी मैं सुखी होऊँगा। जब तक तुम प्रसाद न ग्रहण करोगे, तब तक मैं यहीं बैठा रहूँगा।"

भट्टाचार्य ने प्रभु के अभयपद में प्रणाम कर कहा,—"प्रभो! अमोघ को मरने देते, उसकी रक्षा आपने क्यों की?"

प्रभु ने कहा,—"अमोघ बालक है। क्या पिता कभी लड़के के दोष को मानता है? अब वह वैष्णव हो गया है, इसलिये उसमें कोई दोष रह नहीं गया; तुम उस पर प्रसन्न हो।"

इस पर भट्टाचार्य ने प्रेम-गद्गद स्वर से कहा,—"प्रभो, आप श्रीजगन्नाथ दर्शन में विजय कीजिये, मैं स्नान करके अभी आता हूँ।"

श्रीगौरसुन्दर ने गोपीनाथ आचार्य प्रभु को आज्ञा दी, कि वे यहाँ रहें, भट्टाचार्य के भोजन कर लेने पर समाचार दें। भट्टाचार्य बहुत शीघ्रता से स्नान-भोजन कर श्रीमन्महाप्रभु से जा मिले।

इस कहानी में सार्वभौम की सहधर्मिणी की अलौकिक भगवत्-निष्ठा जगत् में आदर्श स्थानीय है। हम इस संसार में माया से विमोहित जीव हैं, जड़ सम्बन्ध को चिरस्थायी समझ बैठे हैं। हमारी

समझ में नहीं आता, कि स्नेहमयी जननी ने कैसे प्राण से भी बढ़कर प्यारी कन्या के वैधव्य का अभिशाप दिया? और चैतन्यदेव की दया का विचार करो, विचार में लाते ही चित्त गद्गद हो जाता है। श्रीमन्महाप्रभु के भक्तगण भगवत् सम्बन्ध में गौरक-सम्बन्ध हैं, इसीसे वैष्णवगण मुमुक्षुओं तो जगत् निवासियों के स्मरणीय, वन्दनीय और पूजनीय हैं। मैं नहीं जानता, कि वैष्णव की घरवालियों की यह उज्ज्वल सुचरित्रता वर्तमान समय की पाश्चात्य शिक्षाभिमानिनी बहनों की आँख में कैसी जँचेगी। पौराणिक युग में नारियाँ ऋग्वेद के मन्त्र की रचना करती थीं, जैसे, विश्ववारा अत्रि कन्या अपाला, सूर्य-कन्या, लोपामुद्रा इन्द्राणी या शची, राज-कन्या घोसा, सर्पराज्ञी आदि बहुतेरी महिलाएं ऋषि मानी जाती थीं। किन्तु उस समय भी अवतार शिरोमणि श्रीमन्महाप्रभु के प्रकट होने के समय की जैसी भक्तिमती कृष्णकरुणा विदुषी नारियाँ जगत् में दुर्लभ ही थीं।

इस कहानी में हमारी शिक्षा के लिये अनेक बातें हैं। श्रीगौरसुन्दर ने यह दिखाया, कि सरलता ही ब्राह्मण का लक्षण है। मात्सर्य (डाह) चण्डाल का लक्षण है। उन्होंने हमें दूसरी शिक्षा दी है,—

भगवान् सबका ही करते उद्धार।
एक-न वैष्णव निन्दी दुराचार॥

भगवान् श्रीगौरसुन्दर ने अमोघ के ईश्वर-अपराध को क्षमा किया। किन्तु वैष्णव-निन्दकों के लिये कड़ा शासन है। इस प्रसङ्ग में अम्बरीष और दुर्वासा का दृष्टान्त याद आता है। तीसरे भगवान् भक्तों पर इतनी करुणा करते हैं, कि एक मात्र भक्त सार्वभौम के लिये ही उन्हें अमोघ को क्षमा करना पड़ा। चौथे यह, कि वास्तविक वैष्णवगृहिणी या वैष्णव गृहस्थ विष्णु और वैष्णव की निन्दा सुनने से प्राण से भी प्रिय सम्बन्धियों का भी अमङ्गल सोचने या उनका साथ छोड़ देने में ज़रा भी नहीं हिचकते।

भक्त के अधीन भगवत् की लीला सिद्ध गुरु की कृपा से ही समझ में आ सकती है। श्रीशचीनन्दन गौरहरि ने जगत् में प्रेम का सागर लहरा दिया है।

दैव वर्णाश्रम

सिद्धान्त सार श्रीगीता के षोड़श अध्याय में दैव और आसुर वर्णाश्रम का चित्र वर्णित हुआ है। शुद्धसत्त्व जीव मायाप्रवाहित होकर इस जगत् में आता है। बद्ध अवस्था में जीव की शुद्ध सत्ता या निर्गुण अवस्था प्राकृतगुणान्वित होकर प्रकाशित होती है। जैसे दर्पण के ऊपर बाहरी धूलिराशि के आ पड़ने से प्रतिबिम्ब के दर्शन में व्याघात होता है, किन्तु शीशे की सफाई में कोई खराबी नहीं होती। धूलि पोंछने ही फिर उसमें पहले की तरह साफ प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, वैसे ही विशुद्ध सत्त्वस्वरूप जीव में जब प्राकृत जगत् की मलिनता से मैला पड़ जाता है, तब जीव के हृदय में परेश का अनुभव करने में व्याघात उपस्थित होता है। फिर शुद्धसत्त्व रूपी स्वरूप के पाने से जीव को स्वास्थ्यावस्था की प्राप्ति होती है। जिन सब स्वभाव और जिन सब अवस्थाओं में अवस्थित होने से शुद्ध सत्त्व-स्वरूप की उपलब्धि में सहायता मिलती है, उन्हें दैव वर्ण और दैव आश्रम कहते हैं, और जिनके द्वारा स्वरूप की उपलब्धि में व्याघात होता है, वे आसुर-वर्ण और आसुर-आश्रम के नाम से परिचित हैं। बुद्धिमान् मनुष्य दैव वर्णाश्रम के लाभ की चेष्टा करते और पशु स्वभाव मनुष्यों में आसुर-वर्णाश्रम की ही चाह दिखाई देती है। जैसा श्रीगीता में कहा है (१६—६),—

"द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।"

इस जगत् में दो प्रकार की भूत-सृष्टि दिखाई

देती हैं एक दैव और दूसरी आसुर। श्रीगीता में दैववर्ण का लक्षण कहा गया है,—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

सत्त्व की संशुद्धि ही जीव की अभय अवस्था है। वहाँ से फिर पतन नहीं होता। अर्थात् जीव जब अपने स्वरूप और भगवत् स्वरूप को समझते हुए भगवान् के साथ सम्बन्ध-ज्ञानविशिष्ट हो उनकी सेवा करता है, तब परम साम्य का लाभ करता है। अतएव जिस पुरुष को दान, इन्द्रियनिग्रह, भगवदुद्देशक कर्म शास्त्र पाठ, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, परनिन्दा-वर्जन, दया, निर्लोभता, मृदुता, लज्जा, अचपलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, अनभिमानता प्रभृति दैवी सम्पद् लाभ होते हैं, उन्हें दैव वर्णाश्रमी कहते हैं। और असुर स्वभाव के मनुष्य,—

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥
इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥

वे प्रवृत्ति और निवृत्तिरूपी धर्मभेद को समझते ही नहीं। शौच, आचार और सत्यनिष्ठा उनमें है ही नहीं। वे शत-शत आशापाश में बद्ध हो काम क्रोध-परायण होकर भी काम-भोग के लिये अन्याय्य उपाय से अर्थ-संचय की चेष्टा करते हैं। वे यही सोचा करते हैं, कि आज इतना अर्थ लाभ होगा, यह कामना पूरी होगी। इतने रुपये हैं, फिर इतना धन मिलेगा। इस प्रकार केवल धन की प्राप्ति को ही गिना करते हैं। फिर मन में सोचते हैं, कि मैं ही ईश्वर हूं, सब वस्तुयें मेरे ही भोग के लिये सृष्ट हुई हैं, मैं सिद्ध हूँ, मैं ही सुखी हूँ। मैं सम्पन्न आदमी हूँ, मैं कुलीन हूँ। मेरे समान और कौन है? वे लोग अपनी देह और परदेह में अवस्थित परमेश्वर-स्वरूप मुझसे द्वेष करते और साधुओं के गुण पर दोषारोपण किया करते हैं।

पद्मपुराण में श्रीगीतोपनिषद् की बातें संक्षेप में कही हैं,—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
विष्णुभक्तः स्मृतो दैव आसुरस्तद्विपर्ययः॥

जिनकी विष्णु में भक्ति है, वे दैव और जो जड़ में फँसे जीव हैं वे आसुर प्रकृति हैं। क्योंकि श्रीमद्भागवत का कहना है, कि भगवान् में जिनकी अकिञ्चना भक्ति है, उनके पास देवता लोग सब गुणों के साथ विराजते हैं। जिनमें हरि की भक्ति नहीं है, उनमें महत्-गुण कहाँ? क्योंकि उनके मनोरथ बुरे विषयों की ओर दौड़ते हैं। भगवद् भक्तिविहीन लोगों का आभिजात्य, शास्त्र-अध्ययन, जप और तप केवल संसारी लोगों का रञ्जन कर सकता है। जैसे मरी हुई सुन्दरी ललना के शरीर पर भाँति-भाँति के जेवर-कपड़े निरर्थक हैं, वैसे ही यह भी है। भगवद्भक्ति ही जीव का प्राण स्वरूप है। चमड़े के मृग और लकड़ी के सिंह को जादू घर में रखकर रुपये कमाये जा सकते हैं, किन्तु उनसे मृग या सिंह का काम लिया नहीं जा सकता। अतएव गुण का ही आदर सब जगह है। मूर्ख मनुष्य ही भस्म, कृमिकीट या विष्ठा के रूप में परिणत होनेवाली देह का आदर करते हैं। श्रीभगवान् ने गुण और कर्म के अनुसार चारों वर्णों की सृष्टि की है। पिता के कार्य की प्रणाली की नकल ही सुपुत्र लोग किया करते हैं- यदि भगवान् का ऐसा ही अभिमत होता कि गुणकर्म का विधान सिर्फ एक बार के स्थिर कर लेने से ही सर्वदा चलता रहेगा अर्थात् प्रत्येक ब्राह्मण या क्षत्रियसन्तान अपने-अपने गुण से सम्पन्न ही होंगे, तो ऐसा विपर्यय दिखाई न देता। यदि ऐसा होता, तो ब्राह्मण विश्वश्रवा का पुत्र रावण विष्णु-

द्वेषी न होता। दूसरी ओर दैत्यपुत्र प्रह्लाद परम विष्णुभक्त न होते। वेद आर्जवगुण को देखकर गोत्र का निर्णय न करते। पौराणिक लोग गुण देखकर वर्ण का निर्णय न करते। श्रीमद्भागवत स्वभाव देखकर वर्ण निर्णय करने का आदेश न देते। जब तक दैव वर्णाश्रम संस्थापित न होगा, तब तक परमार्थ या जगत् के किसी भी महत्कार्य में कोई भी सिद्धि न पा सकेगा। इसीलिये श्रीमन्महाप्रभु रामानन्द के मुख से दैव-वर्णाश्रम को ही परमार्थ के राज्य में प्रवेश करने की पहली सीढ़ी बताया है-

विष्णु पुराण का श्लोक --

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम॥

वर्णधर्म और आश्रम धर्म-आचार से युक्त पुरुषों द्वारा ही परम पुरुष विष्णु आराधित होते हैं। सिवा इसके विष्णु-प्रीति की प्राप्ति का और कोई उपाय नहीं।

शुद्ध वैष्णव-समाज मुकुटमणि वर्त्तमान शुद्ध-भक्ति स्रोत के मूलपुरुष, सत्य के एक निष्ठ उपासक श्रीभक्ति विनोद ठाकुर ने अपने कृष्ण संहिता ग्रन्थ में जो लिखा है, उसका कुछ अंश उपसंहार के रूप में दिया जाता है। "प्राचीन ऋषिगण स्वप्न में भी नहीं जानते थे, कि स्वभावज धर्म क्रमशः वंशज हो पड़ेगा। महत्-पुरुषों का सन्तान महत् होगा ही, यह भी बहुत कुछ स्वाभाविक है, किन्तु यह किसी हालत में भी व्यवस्था कहला नहीं सकती। ऐसी अन्ध-परम्परा की राह से संसार का उद्धार करने के लिये स्वभावज वर्णाश्रम - धर्म की व्यवस्था की गई थी, किन्तु दुर्भाग्यवश स्वार्थी और तत्त्व के न समझने वाले स्मार्त्तों के हाथ धर्मशास्त्र पड़ जाने से, जिस विपद के आने की आशंका से व्यवस्था की गई थी, उसी विपद ने व्यवस्थित विधि पर आक्रमण किया। सुविधान में जो मैल बैठ गई है, उस मैल को दूर करना ही स्वदेशहितैषिता का लक्षण है। अतएव हे स्वदेश हितैषी महात्मागण, आप लोग इकट्ठे होकर अपने पूर्व पुरुषों की निर्दोष व्यवस्थाओं को निर्मल बनाते हुए प्रचलित करें। निर्दोष रूप से वर्णाश्रम की व्यवस्था फिर से प्रचलित होने पर भारत की सब प्रकार की उन्नति हो सकेगी, बस मेरा इतना ही कहना बहुत है। ईश्वर भाव से भरे कर्मानुष्ठान के द्वारा सवर्क्ष ही आत्मा क्रम से उन्नति करती रहेगी, यही वर्णाश्रम-धर्म का एक मात्र उद्देश्य है।"

निवेदन

(सूरसुधा से उद्धृत)

बिनती सुनो दीन की चित दै कैसे तव गुण गावै।
माया नटिनी लकुटि कर लीने कोटिक नाच नचावै॥
दर दर लोभ लागि लै डोलति नाना स्वाँग करावै।
तुमसों कपट करावति प्रभु जू मेरी बुद्धि भ्रमावै॥
मन अभिलाष-तरंगिनी करि करि मिथ्या निशा जगावै।
सोवत स्वप्ने में ज्यों संपति त्यों दिखाय बौरावै॥
महा मोहिनी मोह आत्मा मन करि अघहि लगावै।
ज्यों दूती पर बधू भोरि कै लै पर पुरुष दिखावै॥
मेरे तो तुमहीं पति, तुम गति, तुम समान को पावै।
सूरदास प्रभु तव किरपा बिनु को मो दुख बिसरावै॥

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ; बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ; कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीमदाई गौरांग मठ; बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
अगस्त्यकुण्ड, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० ८३ हनुमान रोड, न्यू देहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकोंदा चीरकुण्डा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

(३१) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ
कर्व्वुर, वैष्ट गोदावरी, मद्रास

(३२) ग्वालपाड़ा प्रपन्नाश्रम, आसाम

(३३) त्रिदण्डी-गौड़ीय मठ भुवनेश्वर, पुरी

(३४) श्रीसारस्वत-गौड़ीय मठ हरिद्वार

Registered No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)
२—श्रीशिक्षादशकमूलम् सटीक ।)
३—श्रीमध्वग्रन्थसारांशवर्णनम् ≡)
४—श्रीसिद्धान्तसरस्वती दिग्विजयः ॥)
५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचयः -)
६—श्रीतत्त्वसूत्रम् ।)

संस्कृत बँगला अक्षरों में

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)
२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत-भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)
३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत खंडों में प्रकाशित प्रति खंड १)
५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द २)
६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्रीरूपगोस्वामी प्रभु-कृत उपदेशामृतसहित ।=)
७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बँगला अनुवाद सहित ॥)
८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित १)
९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
१०—सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी - कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)
एकादश स्कंध से प्रति खंड ।≡)
१२—युक्तिमल्लिका गुणसौरभ वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

वंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित ≡)
१४—नवद्वीपशतक बँगला अनुवाद -)
१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत =)
१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती-कृत =)
१७—नवद्वीपभावतरंग ।)
१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)
१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद कृत २)
२०—मणिमंजरी ।)
२१—शरणागति -)
२२—कल्याणकल्पतरु -)॥
२३—गीतावली -)
२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ।॥)
२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)
२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत ॥=)
२७—जैव धर्म २)
२८—साधककंठमाला ।)
२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ५)
३०—महाप्रभु की शिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ।॥)
३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ५)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof. Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by B. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow.

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

24th April 1933

मधुसूदन कृष्णपक्ष गौराब्द ४४७

वैशाख अमावास्या संवत् १९९०

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥



क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा ।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा ॥

ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्तसरस्वती
गोस्वामी महाराज

प्रति संख्या -) } सम्पादक–त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन { वार्षिक सडाक १॥)

Editor: - Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन छपाई की दर नीचे लिखी है:—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम		८)
आधा ,,	१/२ ,,	५)
चौथाई ,,	१/४ ,,	३)
२ इंच ,,	१/८ ,,	१॥)
१ ,, ,,	१/१६ ,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये—

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

सेठ रामयश रोड, नरही, लखनऊ.

All communications are to be addressed to -

The Manager 'Bhagwat'
Seth Ramjus Road,
Narhe.
LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भागवत

वर्ष २ | श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य | संख्या १३

वैशाख-अमावास्या गौराब्द ४४७, सं० १९९ (?) वि०, २४ अप्रैल सन् १९३३ ई०

आत्म-निवेदन

(६)

राधाकुण्ड - तट - कुञ्ज - कुटीर ।
गोवर्द्धन - पर्वत यमुना तीर ॥
कुसुम - सरोवर मानस - गङ्गा ।
कलिन्द - नन्दिनी विपुल तरङ्गा ॥
वंशीवट गोकुल धीर - समीर ।
वृन्दावन तरु - लतिका का नीर ॥
खगमृग - कुल और मलय बतास ।
मयूर भ्रमर और मुरलि - विलास ॥
वेणु शृङ्ग पदचिह्न मेघमाला ।
वसन्त शशाङ्क शङ्ख करताला ॥
युगल विलास में अनुकूल जानि ।
लीला - विलास उद्दीपक मानि ॥
यह सब छोड़ कहीं नहिं जाऊँ ।
इन सब छोड़े प्राण गँवाऊँ ॥
भक्तिविनोद कहे सुन कान ।
तू उद्दीपक मेरा प्रान ॥

प्रह्लाद के उपदेश

हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद थे। 'सोने' को संस्कृत भाषा में 'हिरण्य' और 'बिछौना' या 'आत्माच्छादन' को 'कशिपु' कहते हैं। सुतरां 'हिरण्यकशिपु' का अर्थ है—'कनक-कामिनी'। हिरण्यकशिपु सदा कनक-कामिनी में रत रहा करता था। केवल इतना ही नहीं, उसने दिव्य एक सौ वर्ष तक पानी को भी छोड़ उग्र तपस्या की थी। ढेर की ढेर चींटियाँ चारों ओर लगकर उसके चमड़े, मांस, मेद और खून को चाट रही थीं, केवल हड्डियों में प्राण रह गया था, उसकी पलक तक खुलती-मुँदती न थी, वह समाधि में था। ब्रह्मा ने उसकी तपस्या को देख आश्चर्य के साथ कहा था,—"नैतत् पूर्वर्षयश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे" (भा० ७। ३। १६)। अर्थात् पूर्वकाल में ऋषिगण भी ऐसी तपस्या कर नहीं सके, इसके बाद भी कोई कर न सकेगा। सुतरां हिरण्यकशिपु की तपस्या की यथेष्ट प्रतिष्ठा भी थी।

जिनके हृदय में सच्चा आह्लाद या आनन्द विराजता है, वही प्रह्लाद हैं। प्रह्लाद के हृदय में परिपूर्ण नित्य आनन्द-मूर्त्ति श्रीविष्णु विराज रहे थे। बहुत बचपन से ही भगवान् के प्रति प्रह्लाद की स्वाभाविकी मति थी।

हिरण्यकशिपु ने बालक प्रह्लाद को अपने गुरु शुक्राचार्य के पुत्र षण्ड और अमर्क के पास शिक्षा ग्रहण करने को भेज दिया था। प्रह्लाद की उम्र के अन्यान्य दैत्य बालक भी षण्ड और अमर्क की पाठशाला में विद्याभ्यास करते थे।

प्रह्लाद की बिलकुल इच्छा न होती कि वे स्त्री पुत्र की चिन्ता में फँसे, कपटी, आचार-भ्रष्ट, देहासक्त गुरुओं से विद्या पढ़ें, फिर भी पिता की आज्ञा से अनिच्छा रहने पर भी नाममात्र को उनसे विद्या पढ़ लेते थे। उनका मन सदा ही विष्णु और वैष्णव की पद-चिन्ता में लगा रहता था। एक दिन वे दोनों गुरु अपने घराऊ काम से कहीं चले गये। प्रह्लाद ने विष्णुभक्त देवर्षि नारद से जो सब उपदेश सुने थे, उपयुक्त समय देखकर उन सबको सहपाठी बालकों को सुना दिया।

जो लोग सोचते हैं, कि बुढ़ापे में इन्द्रियों के शिथिल होने पर हरिभक्ति का काम किया जायगा; हरिभजन के उद्देश्य से हरिसेवा के अनुकूल स्वर्गादपि गरीयसी जननी, स्वर्ग जैसे पिता, अन्धकूप जैसे मकान, छोटा सा स्वदेश या ममतारूपी असत्सङ्ग को त्याग देना अन्याय या शास्त्र-विरुद्ध काम है; जो समझते हैं, कि शरीर का पोषण, देश और समाज की उन्नति ही मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य है; जिनकी धारणा है, कि भक्ति की तरह कर्म, ज्ञान, योग, तप प्रभृति से भी परा-शान्ति के मिलने का एक अलग रास्ता है; जो लोग सर्वेश्वरेश्वर स्वतन्त्र पुरुष, एकमात्र सेव्य या विषय-तत्त्व विष्णु के साथ उनके अधीन सेवक और आश्रय तत्त्व देवताओं को एक समान मानते हैं, उनकी अदूरदर्शिता, दूसरी ओर मन को खींचनेवाली क्षुद्र-भ्रान्त-धारणा, पाँच वर्ष के बालक के उपदेश सार-ग्रहण करने से दूर हो जायगी। तब उनकी समझ में आ जायगा, कि जीव के लिये एकमात्र सबसे पहले और सर्वप्रधान कर्त्तव्य भक्ति ही है।

प्रह्लाद ने बालकों को इकट्ठा करके कहा,—"भाइयो, जब मनुष्य बच्चा होता है, उस समय उसकी अज्ञानावस्था होती है; सुतरां उस समय वे हरिकथा का श्रवण कीर्त्तन कर नहीं सकते; किन्तु लड़कपन दूर होते ही कौमार अवस्था उपस्थित होती है। पाँच वर्ष तक कौमार अवस्था है। उस कौमार अवस्था में ही ज्ञानोदय के होते ही हरिकथा का श्रवण-कीर्त्तन रूपी भक्तिधर्म ग्रहण करना ही बुद्धिमान् मनुष्यों का कर्त्तव्य है। कारण यह, कि मनुष्य का जन्म बहुत दुर्लभ है, चौरासी लाख के फेरे में पशु, पक्षी, कीट-पतङ्ग, कृमि, वृक्ष-लता और न जाने कितने वन-मनुष्य आदि होकर भोग के फल से मनुष्य जन्म होता है। फिर, इस दुर्लभ जन्म को पाकर भी छुटकारा नहीं, कोई ठीक

नहीं, कि किसकी मृत्यु कब होगी। मनुष्य जन्म, कमल के पत्ते पर पानी के बूँद की तरह चञ्चल है सही, किन्तु एकमात्र इसी जन्म में ही परम प्रयोजन पूर्ण होता है।

"सुतरां इस जन्म में भगवान् श्रीविष्णु के चरण की सेवा ही सबसे श्रेष्ठ और मङ्गल-जनक कार्य है। क्योंकि और सभी वस्तुएँ नश्वर हैं। एकमात्र विष्णु ही सब जीवों के प्रिय आत्मा हैं, बन्धु हैं और वही सबके ईश्वर हैं।

हे दैत्य-बालकगण, अगर तुमलोग यह सोचो, कि अभी तो जीवन का आरम्भ है, भोग-सुख की आशायें भरी हैं, अभी से क्यों ये सब छोड़ बैठें? इसका उत्तर यह है, कि सुख-भोग के लिये यत्न करना ही व्यर्थ है। क्योंकि जैसे कोई दुःख को बुलाने न जाय, फिर भी अदृष्टवश यथासमय दुःख उपस्थित हो जाता है, वैसे ही सुख को भी समझो। यह सुख आदि भोग कुत्ता, शृगाल, शूकर आदि जन्म में भी मिलता है।

"सुतरां सुख की चेष्टा करना, नाहक परमायु गँवाना है। मुकुन्द की चरण सेवा द्वारा जैसा मङ्गल होता है, वैसा और किसी तरह हो नहीं सकता। अतएव संसार में आकर जब तक देह स्वस्थ और सतेज रहे, और जब तक वह विनष्ट न हो जाय, तब तक सबसे पहले नित्यमङ्गल की चेष्टा करना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है।

"मनुष्य की परमायु सिर्फ सौ वर्ष की है। उनमें जो जितेन्द्रिय नहीं हैं उनकी आयु आधी होती है; क्योंकि वे रात का समय स्त्री-सङ्ग और निद्रा में बिता देते हैं। उस आधी परमायु में भी बचपन अज्ञानावस्था में बीत जाता है, पाँच वर्ष तक कैशोर काल होता है—जो खेल-कूद में बीत जाता है; पाँच से दस वर्ष तक पौगण्डकाल है, जो कुछ खेल और कुछ विद्याभ्यास में जाता है; ग्यारह वर्ष से सोलह वर्ष तक कैशोर अवस्था है, यह विद्या और उपार्जन में बीत जाती है; इसके बाद जवानी स्त्री-सङ्ग और धन कमाने की चेष्टा में बीत जाती है। जवानी के बाद अधेड़ अवस्था आती है जो गृहस्थी और स्त्री-पुत्र के लिये धन की चिन्ता में बीत जाती है। वृद्धावस्था में देह में जरा लग जाता है, उस समय कुछ अच्छा ही नहीं लगता। इतने दिनों तक जो गैरजरूरी काम हुए, उनकी याद आकर उस समय हृदय में तरह तरह की अशान्ति देती है। उस समय अतृप्त काम और बलवान मोह इन दोनों के द्वारा वह पुरुष घर में आसक्त हो पड़ता है, इसलिये वह समय भी बीत जाता है। अतएव उन्हें सारे जीवन में कोई समय नहीं मिलता।

हे बालकगण, यदि तुमलोग यह कहो कि और कुछ दिन संसारादि का सुख भोग लें, बाद को हरि-भजन होता रहेगा, तो तुम्हारी यह समझ वृथा है, क्योंकि एक बार गृहस्थी में फँस जाने पर फिर उससे छुटकारा पाना सहज नहीं। प्रवृत्ति-युक्त गृहधर्म लोगों को अजितेन्द्रिय बना देता है। फिर कौन ऐसा मनुष्य है, जो माता-पिता, भाई-बन्धु, देश समाज के स्नेह-पाश में बँधे और गृहस्थी में फँसे मन को वहाँ से हटाने की हिम्मत कर सकता है?

ऐसा कौन है, जो उस समय दुर्दमनीय धन-तृष्णा को त्याग सकता है? उस समय तो धन प्राण से भी प्रिय जान पड़ता है, धन के लिये प्राण जाने का ख्याल छोड़कर मनुष्य धन कमाने की सेवा से पागल हो उठते हैं। कभी चोर बनकर रात को धनी लोगों के घर में घुसते हैं, बनिया बनकर विपद् से भरे समुद्र में जाते हैं या कहीं राजा के सेवक बन लड़ाई पर जाते हैं।

जो प्रियतमा पत्नी कितने ही तरह के शारीरिक सुख स्वच्छन्दता प्रदान करती हुई सदा हृदय पर अधिकार जमाये हुई है, उसके सङ्ग के रहस्य और मनोहर बातचीत के याद आने पर कौन मनुष्य है, जो उसे छोड़ देना चाहेगा? माता पिता और सङ्गी साथियों के स्नेह-पाश की याद आने पर कौन मनुष्य उनका सङ्ग—हरिभजन के प्रतिकूल असत्-सङ्ग होने पर भी, छोड़ सकता है? छोटे-छोटे शिशु-सन्तानों के तोतले बोल, उनकी मृदु-मधुर हँसी को सुन और देखने में मन लगाकर फिर कौन मनुष्य उस मोह-जाल को तोड़ने में समर्थ होगा?

नाबालिग सन्तानों की असमर्थ अवस्था और

योग्य लड़के की निपुणता को देख; ससुराल में असहाय कन्या की याद कर; वृद्ध, रोगी या सन्तान आदि के वियोग से शोक-कातर माता-पिता की अवस्था देख; भाई-बहन और सम्बन्धी लोगों की बातें याद कर, तरह तरह के साज-सामानों से भरे पैतृक मकान या अपने हाथ से बनवाया हुआ मकान या कुटी, कुल-परम्परा से लगी हुई रोजी, अपने हाथ के पाले जानवर, अपने हाथ से लगाये फल देने या आते हुए वृक्ष, विश्वासी नौकर-चाकर आदि की याद आने पर, यह जान कर भी, कि यह सब हरि सेवा में विघ्न डालनेवाले सङ्ग हैं, उन्हें कौन छोड़ने में समर्थ होगा ? जैसे रेशम का कीड़ा अपना घर बनाते-बनाते बाहर निकलने का दर्वाजा भी नहीं छोड़ता, अपने जाल में आप ही फँसकर प्राण दे बैठता है, वैसे ही वह सब गृहस्थ मनुष्य अतृप्त-काम से लोभ वश लगातार गृहस्थी का काम ही चलाये चलते हैं। हरि, गुरु और वैष्णव-सेवा का काम कर ही नहीं सकते। सुतरां मोहान्ध मनुष्य को कैसे दिखाई देगा, कि इन सब कामों में कितने दोष हैं। वह, गृहस्थी के कामों को ही जीवन का कर्त्तव्य कर्म या ईश्वर का निर्दिष्ट किया हुआ कर्त्तव्य समझ असली बात को चुराते हुए लोहार को लोहे के स्थान के टुकड़े से धोखा देने की तरह आप ही सदा के लिये वञ्चित, लाञ्छित और त्रिताप-तप्त तथा काम-क्रोध के दास हो, सदा उसके लात और झाड़ू से अपमानित होते हुए अनन्त नरक-पथ के पथिक होते हैं। वे लोग इन्द्रिय और जीभ की खुजली मिटाने जैसे, तुच्छ और परिणाम में क्लेशकर अकिञ्चित्कर सुख का ही सम्मान करते हैं, सुतरां वे कैसे अत्यन्त मोह के हाथ से छुटकारा पा सकते हैं ?

गृहस्थ मनुष्य अन्त के बुरे मोह में ऐसे पागल हो उठते हैं, कि वे सब कुछ जानकारी रखते हुए भी यह नहीं समझ पाते, कि कुटुम्ब के भरण में अपनी परमायु का क्षय होता है और सारा पुरुषार्थ विनष्ट हो जाता है। तब वह मनुष्य त्रिताप से जर्जर हो दुखी होने पर भी अपने को दुखी नहीं समझता। अपने कुटुम्ब के भरण को ही सुख मानता है।

ऐसे अजितेन्द्रिय कुटुम्ब के भरण में रत मनुष्यों के चित्त-वित्त के लिये यही उदाहरण है, कि जो पराया धन हरण करने से परकाल में नरक और इहकाल में राजदण्ड का मिलना जानकर भी लोभ का दास हो पराया धन हरण करता है।

हे प्रिय दैत्य बालकगण, विद्वान् और शास्त्रज्ञ लोग यदि गृहस्थी में फँसकर कुटुम्ब-पोषण में प्रवृत्त होते हैं, वे यही ढूँढने में अन्धे रहते हैं, कि उनका वास्तविक नित्य-स्वरूप क्या है ? वे भी 'यह अपना यह पराया' करते हुए माया के आवरण में पड़ जाते हैं। चाहे वे विद्वान् ही क्यों न हों, बुद्धिमान, दार्शनिक, वैज्ञानिक, पण्डित या शास्त्रज्ञ क्यों न हों, गृहस्थी में फँसने से कोई कभी आत्मा को मुक्त नहीं कर सकता। तब वे मनुष्य कामिनियों के हाथ के पुतले बन जाते हैं और कामिनियों की सन्तान-सन्तति, उनके पैरों की बेड़ी होती है।

अतएव हे दैत्य-बालकगण, यदि तुम अपना नित्य मङ्गल चाहते हो, तो दुःसङ्ग परित्याग कर नित्य सत्य वस्तु नारायण और नारायण के एकान्तिक भक्तों का सङ्ग करो।

गुरु के घर हरिशरण

छठा दिन

कल तीसरे पहर में सन्ध्या होने के बाद तक प्रबल आँधी-पानी रहा। इस लिये मध्यद्वीप के दर्शन को कोई जा न सके। आज सवेरे सब लोग हाथ मुँह धोकर पहले की तरह मृदङ्ग और करताल के सहारे भैरव राग में निम्न लिखित कीर्तन करते हुए चले।

जीव जागो, जीव जागो, गौरचन्द कहते।
माया पिशाची की गोद कैसे निद्रित रहते॥
भजन का वादा करके आये संसार।
अविद्या के फेर पड़ सब रहे बिसार॥
तुम्हरे हि हेतु हम लीनो अवतार।
हमसे भी बन्धु कौन है बड़ा तुम्हार॥
माया नाश की मैं दवा लाया तुम लागि।
हरिनाम महामन्त्र लेओ मुझसे माँगि॥
विनोद - सेवक प्रभु-पद शिर देय।
सोई हरिनाम मन्त्र भिक्षा माँग लेय॥

कुछ दूर चुपचाप चलने के बाद फिर गाना आरम्भ हुआ—

हरि बोलो, हरि बोलो, हरि बोलो भाई रे।
हरिनाम ला के दीन्हों गौराङ्ग निताई रे॥
(मुझे दुःखी देख रे)
हरिनाम बिना जीव कोई धन नाई रे।
हरिनाम शुद्ध कीनो जगाई मधाई रे॥
(महापापी भेख रे)
वृथा मायाबद्ध हो के जीवन कटाई रे।
(हम हमार भाहीं रे)
आशापाश भूल-भटक अब कहाँ जाई रे॥
(आशा अन्त नाई रे)
हरिबोल, आशा-मुख कारिख लगाई रे।
(निराशा सुख सोये रे)
भोग-मोक्ष लोभ छाँड़ि हरिनाम गाई रे॥
(शुद्ध सत्त्व होय रे)
बिन माँगे नाम गुण सब फल पाई रे।
(तुच्छ फल आशा मारि रे)
[विनोद] सेवक कहे नाम विपद लेके मर जाई रे॥

इस प्रकार सुमधुर कीर्त्तन करते और रास्ते के लोगों के मन को हरिभजन की ओर आकृष्ट करते हुए धीरे-धीरे सब लोग मध्यद्वीप में आ पहुँचे। वहाँ एक प्रकाण्ड वट वृक्ष की छाया में बहुत देर तक नृत्य के साथ कीर्त्तन करके सब लोग विश्राम करने को बैठ गये। कुछ देर तक विश्राम के बाद श्रीगुरुदेव कहने लगे—

"भक्तगण, इस स्थान का नाम मध्यद्वीप है, जुलाने का नाम माजिदा ग्राम है। सत्ययुग में, एक दिन ब्रह्मा के सात पुत्र सप्तर्षि ने अपने पिता से प्रयोजन-तत्त्व के सम्बन्ध में प्रश्न किया। आदि गुरु ब्रह्मा ने उन्हें अच्छी तरह समझा दिया, कि श्रीकृष्ण-प्रेम ही चरम प्रयोजन है। प्रयोजन तत्त्व जानने के बाद ऋषि-गण ने अपने पिता से अभिधेय-तत्त्व (उस प्रेम के पाने का उपाय) पूछा। तब ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर उन्हें उपदेश दिया,—

'वत्सगण, तुम लोग श्रीनवद्वीप धाम में जाकर श्रीगौर का गुण गाओ, इससे श्रीधाम की कृपा और साधुसङ्ग, दोनों के मिलने पर श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र की कृपा पा सकोगे और उनका प्रेम प्राप्त कर धन्य होगे। इस प्रयोजन प्राप्त करने का इससे अच्छा और कोई उपाय नहीं है।'

पिता से यह उपदेश लेकर सप्तऋषि ने यहाँ आगमन कर श्रीगौराङ्ग की उपासना में लग गये और दीनता के साथ श्रीगौराङ्ग से यह प्रार्थना करने लगे,—'हे गौरहरि, हम लोग अब तक हर तरह की साधनायें कर आपके परम-वाञ्छित श्रीपद युगल का अपराध ही किया है। अब जान पड़ा, कि आपके श्रीचरण-युगल में भक्ति ही एक मात्र सार है। कृपा-पूर्वक एकबार शरणागत दासों को दर्शन दे कृतार्थ करें।'

इस प्रकार सप्तर्षियों ने कठोर तपस्या आरम्भ

की। कुछ खाते और सोते भी नहीं थे, दिन-रात श्रीगौराङ्ग के गुण गाते और कातरता के साथ यही प्रार्थना करते थे। परमदयालु, शतसूर्य-प्रभा-विशिष्ट, भक्तगण-चित्तहारी, कमललोचन, श्रीगौराङ्गदेव श्रीमन्नित्यानन्द, श्रीअद्वैत, श्रीगदाधर और श्रीवासादि अपने पार्षदगण के साथ एक दिन दोपहर के समय सप्तर्षियों के सामने उपस्थित हुए। ऋषिगण उनके अपरूप रूपलावण्य को देख स्थिर नेत्र से निर्वाक् और निष्पन्द हो रहे। कुछ देर बाद रोते-रोते उन्होंने उनके श्रीचरणयुगल को धर प्रेम की प्रार्थना की। श्रीगौराङ्गदेव ने कहा,

'अहो ऋषिगण, और सब अभिलाषाओं को छोड़ और ज्ञान कर्मादि पाश को छोड़ अनुकूल भाव से श्रीकृष्ण का अनुशीलन करते रहो। कुछ ही दिन बाद इस नवद्वीप में मेरी प्रकट लीला होगी, तब तुम सब लोग उस लीला को देख सकोगे। इस बात को अभी गुप्त रखना। कुमार-हाट में जाकर वहाँ श्रीकृष्ण का भजन करो।'

ऐसा कहकर श्रीगौराङ्ग देव अदृश्य हो गये। सप्तर्षि कुमारहाटी में जाकर वहाँ सात टीले तैयार कर श्रीकृष्ण की उपासना में नियुक्त हुए। वह जो समीप ही कुमारहाटी का ग्राम दिखाई दे रहा है, उसमें अब तक सात टीला का स्थान मौजूद है। चलो, उस ग्राम में चलकर उन स्थानों का दर्शन करें।"

कीर्त्तन करते हुए सब लोग कुमारहाटी में पहुंचे, तब श्रीगुरुदेव कहने लगे,—"भक्तगण, तुम लोगों ने आकाश में सप्तर्षि के होने की बात अवश्य सुनी होगी। यह स्थान उसी मण्डल के समान है। यहाँ शुद्धान्तःकरण से निवास करने से यम नियम आदि का साधन न करने पर भी श्रीगौराङ्ग के चरण प्राप्त कर सकते हैं। इस स्थान की बड़ी महिमा है। इसका नाम गोमती है, और यह देखो नैमिषारण्य क्षेत्र है। प्राचीन समय में कलि के प्रबल होने पर शौनकादि ऋषिगण ने श्रीसूत के मुँह से नैमिषारण्य क्षेत्र में श्रीगौराङ्ग-भागवत सुन कर कलि को जीता था। इस स्थान में जो लोग कार्तिक महीने में पुराण पढ़ते हैं, उनके सब क्लेशों का नाश हो जाता है और वे श्रीकृष्ण-प्रेम को प्राप्त करते हैं। किसी समय श्रीपञ्चानन ने अपना वृषवाहन त्यागकर श्रीहंसवाहन पर सवार हो अपने भक्तों के साथ यहाँ पुराण श्रवण कर प्रेमानन्द से नाचते हुए श्रीगौराङ्ग के गुण का गान किया था।'

दोपहर होते देख सबने उस नैमिषारण्य के एक बहुत बड़े वटवृक्ष के नीचे रसोई बनाकर प्रसाद लिया। तीसरा पहर होते-होते सब लोग फिर कीर्त्तन करते हुए श्रीब्राह्मणपुष्कर की ओर चले। वहाँ पहुँचने पर मैदान में बैठ सब लोग कीर्त्तन करने लगे। गाँव के बहुतेरे लोगों ने जमा हो कीर्त्तन का साथ दिया। कुछ देर कीर्त्तन करने के बाद सब लोग गुरु गौराङ्ग और ब्राह्मण पुष्कर तीर्थ की जय-जयकार कर चुप हो रहे। कुछ देर ठहर श्रीगुरुदेव सबको सम्बोधन कर कहने लगे —

"भक्तगण, इस ग्राम का नाम ब्राह्मणपुष्कर है, बुलाने का नाम बामन पुकुर है। यहाँ एक बहुत ही गोपनीय रहस्य है। उसे कहता हूँ, सुनो। सत्ययुग में दिवोदास नामक एक ब्राह्मण गृह त्यागकर सब तीर्थों का दर्शन करते फिरने लगे। अनेक तीर्थों का दर्शन करते हुए वे पुष्कर तीर्थ में पहुँचे। सब तीर्थों की अपेक्षा पुष्कर तीर्थ के दर्शन से उनके मन में बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने सोचा, कि जीवन के अवशिष्ट दिन वे वहाँ ही बितायेंगे। किन्तु अभी उन्होंने सब तीर्थों का दर्शन समाप्त नहीं किया था। इसी से वे फिर भ्रमण के लिये बाहर निकले। भ्रमण करते-करते वे इस स्थान में आ उपस्थित हुए। जिस दिन वे इस स्थान में पहुँचे, उसी दिन रात को उन्हें एक अपूर्व स्वप्न दिखाई दिया; मानो स्वयं श्रीभगवान् उनसे कहते हैं,—'हे विप्र, तुम यहाँ ही निवास करो, अपने नित्य धन को पाओगे।'

तब से वृद्धावस्था तक वे यहीं कुटी बनाकर रहे। एक बार बुढ़ापे में उन्हें पुष्कर तीर्थ देखने की इच्छा हुई। किन्तु चल सकने की ताकत न होने से वे पुष्कर के दर्शन पाने का सौभाग्य पा नहीं सकते थे। इससे वे मारे दुःख के रोने लगे।

पुष्करराज ने सदय हो वृद्धरूप में उनको दर्शन देकर कहा, —'हे दिवोदास, तुम न रोओ। तुम्हारे सामने जो सुन्दर कुण्ड है, उस तीर्थ में स्नान करने से तुम्हें पुष्कर तीर्थ का दर्शन होगा।'

इस बात को सुनकर उन्होंने पुष्कर-तीर्थ में स्नान किया और दिव्य चक्षु प्राप्त कर पुष्कर का दर्शन किया। दिवोदास ने रोकर पुष्करराज से कहा,—'हे द्विजश्रेष्ठ, इस हतभाग्य के लिये आपको बड़ा कष्ट हुआ। मुझे क्षमा कीजिये।'

तब पुष्करराज ने कहा, —'हे भाग्यवान् द्विजवर, मैं कहीं दूर से नहीं आया हूँ; मैं सदा यहाँ ही निवास करता हूँ। यह नवद्वीप धाम सर्व तीर्थमय है। समस्त तीर्थ इस नवद्वीप धाम की सेवा करते हैं। मेरा एक स्वरूप बहुत दूर पुष्कर तीर्थ के नाम से विख्यात है, किन्तु मैं स्वयं यहाँ ही नित्य निवास करता हूँ। उस पुष्कर तीर्थ में सौ बार स्नान करने से जो फल होता है, इस कुण्ड में एकबार स्नान करने से वही फल होता है। श्रीनवद्वीप धाम की महिमा अनन्त है। मूर्ख लोग ही इस नवद्वीप को छोड़ अन्य तीर्थों में जाने का लोभ करते हैं। सब तीर्थों में भ्रमण करने के फल से मनुष्य इस श्रीनवद्वीप धाम में निवास करने का सौभाग्य पाता है। वह जो हाट के समान ऊँचा स्थान दिखाई दे रहा है, उसमें कुरुक्षेत्र और ब्रह्मावर्त्त वर्तमान है। उसके दोनों किनारे सरस्वती और दृषद्वती शोभमाना हैं। हे विप्र, तुम से और एक गूढ़ विषय कहता हूँ, सुनो।

'श्रीमायापुर धाम श्रीशची के घर श्रीगौराङ्ग सुन्दर प्रकट होकर जब जीवगण को अकातर श्रीनाम प्रेम का वितरण करेंगे, तब इन सब स्थानों में वे भक्तों के साथ सङ्कीर्त्तन के रस में मतवाले हो नृत्य करते फिरेंगे। सब अवतारों में जो-जो भक्तगण थे, वे सभी इस कीर्त्तन में उपस्थित रहकर प्रेम की बाढ़ से जगत् को प्लावित करेंगे। सिर्फ कुतार्किक लोग उस प्रेम से वञ्चित रहेंगे। जो इस धाम में निष्ठापूर्वक निवास करेंगे, वे निःसन्देह गौराङ्ग के पद को प्राप्त होंगे। दुर्जन मनुष्य करोड़ों वर्ष तक श्रीकृष्ण का भजन करके भी श्रीनाम में रति नहीं पाते, किन्तु वे यदि उदार मूर्त्ति गौराङ्ग का भजन करें, तो शीघ्र ही उनका दुष्ट भाव दूर हो जाता है और कुछ ही दिन में सिद्ध देह प्राप्त कर सखी के आश्रय में व्रजधाम में श्रीराधा-कृष्ण की सेवा को प्राप्त कर धन्य हो सकते हैं। अहो विप्र, तुम यहाँ ही रहकर भजन करो, तुम सपार्षद श्रीगौराङ्ग चरण का दर्शन पाओगे।'

यह कहकर पुष्करराज चले गये तब आकाशवाणी हुई, "दिवोदास युगों के सार कलि में तुम फिर जन्म लेकर श्रीगौराङ्ग के कीर्त्तन-प्रेमसागर में गोते लगाओगे। यह सुनकर दिवोदास बहुत ही प्रसन्न हुए। वे दून उत्साह से कुण्ड के किनारे रहते हुए भजन करने लगे।"

इसके बाद सब लोग फिर महाआनन्द से कीर्त्तन करते हुए उच्चहाट कुरुक्षेत्र में गये और वहाँ कुछ देर ऊँचे स्वर से कीर्त्तन और नृत्य करने के बाद सब लोगों के बैठने पर श्रीगुरुदेव ने कहा,—

"भक्तगण, यहाँ सब देवता, ब्रह्मावर्त्त और कुरुक्षेत्रादि में जितने तीर्थ हैं, वह सब तथा पृथुदकादि विराजते हुए श्रीनवद्वीप धाम की सेवा करते हैं। सौ वर्ष कुरुक्षेत्र तीर्थ में निवास करने से जो फल होता है, वह फल यहाँ एक रात रहने से ही होता है। देवगण यहाँ हट्ट (गोल बाँध) कर श्रीगौर के विषय की आलोचना करते हैं, इसी से इस स्थान का नाम हट्टडाँगा है। यह हट्टडाँगा ही श्रीनवद्वीप धाम की दक्षिण सीमा है।"

यह सुनकर सब लोग प्रेमानन्द से हरिध्वनि कर उठे और ऊँचे स्वर से श्रीहरिनाम महामन्त्र का कीर्त्तन करते हुए नृत्य करने लगे। वह कीर्त्तन इतना मधुर और हृदयग्राही हुआ, जिसका वर्णन करने में हम असमर्थ हैं। कीर्त्तन के समय हमारे मन में आया मानों वहाँ के सब देवगण अदृश्य रहकर उस कीर्त्तन में योगदान करते हुए भक्तों के साथ एक स्वर से गा रहे थे—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

विरह

प्रिय वस्तु के मिलने पर चित्त सुखाकार में परिणत हो जाता है। इसी सुखाकार की परिणति को सम्भोग-रस कहते हैं। सम्भोग के विपरीत भाव से चित्त के परिणत होने का नाम विरह या विप्रलम्भ भाव है और यह प्रिय वस्तु के न दिखाई देने पर अपना स्वरूप प्रकट करता है। प्रिय वस्तु के न दिखाई देने में जितना समय बीतता है, उतना विरह भी तीव्र होता जाता और भयानक रूप धारण करता है। अन्त में विरही जब देखते हैं, कि अपनी प्रिय वस्तु के साथ फिर मिलना कठिन है, तो उस समय वह किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो पागल हो जाते हैं। हमारे प्राणवल्लभ श्रीगौरसुन्दर का गम्भीरा में मुँह रगड़ना, चटक पर्वत से उतर श्रीयमुना समझ कर समुद्र में गिरना; 'कहाँ जाऊँ कहाँ पाऊँ व्रजेन्द्रनन्दन' इत्यादि खेदोक्ति प्रकट करना,—भगवत्-विरह के भाव से उत्पन्न दिव्य उन्माद लीला का ज्वलन्त दृष्टान्त है।

विरह दो प्रकार के हैं, प्राकृत और अप्राकृत। अनित्य धन-जन आदि के अभाव से जिस विरह का भाव उत्पन्न होता है, उसे प्राकृत (संसारी) कहते हैं और जिसमें सर्वगुणाकर समस्त जीवों के एकमात्र सुहृद, असामान्य रूप-लावण्यशाली नित्य प्रभु भगवान् श्रीकृष्ण को न देखने का विरह भाव उत्पन्न होता है, उसे अप्राकृत (पारमार्थिक) कहते हैं। संसारी विरह में केवलमात्र दुःख का ही अनुभव होता है। जिन्होंने एकबार भी इस दुःख देनेवाले प्राकृत विरह के रस को चखा है, वे उसे हेय पदार्थ समझ, फिर उसके मिलन का उपभोग करना या उसके स्वरूप को स्मृति की सहायता से स्मरण करना नहीं चाहते। पुत्र वियोग-कातरा जननी को उसके घरवाले सदैव किसी न किसी चिन्ता में निमग्न रखने की चेष्टा करते हैं और इससे वे भी विरह के दुःख को भूलने में समर्थ होती हैं। विरह-वेग के शान्त हो जाने पर, उस जननी के आगे फिर कोई कभी उसके मृत पुत्र की याद दिला दे, तो वह उसी को मना करती है और कहती है, कि भूली बात की याद दिलाना नाहक को कष्ट देना है और यह अनुचित है। पुत्र की जीवित दशा में माता उसके कमनीय मुख-मण्डल को देखने, कोमल शरीर का स्पर्श करने, और तोतली तोतली मधुर वाणी के सुनने से बड़ी ही आनन्दित होती है। इसीसे मृत्यु के बाद उससे होनेवाले आनन्द के मिलने का सुयोग न होने और पुत्र की याद आने से आनन्द के बदले दुःख आ उपस्थित होता है (अर्थात् सुख के लोभी जीव के स्वार्थ में बाधा पड़ती है); इसलिये अब मृत पुत्र की बातें भी माता सुनना नहीं चाहती। यदि कोई अब उस माता से यह कहे, कि तुम्हारा पुत्र मरकर प्रेतयोनि में चला गया है, तो वह इसके सुनते ही अपनी रक्षा के लिये घबरा उठेगी। पाठक ही विचार करें,—जीवित अवस्था में जो पुत्र अत्यन्त प्रिय था, आज वही भयानक काल का स्वरूप जान पड़ता है। अतएव दिखाई देता है, कि संसारी प्रेम के मूल में स्वार्थी-पन छिपा रहता है और इसी की ओर इशारा करते हुए, सर्वसाधारण पर प्रकट करने के अभिप्राय से, उपनिषद् ने कहा है,—

न वा अरे पुत्रस्य कामाय पुत्रः प्रियो भवति।
आत्मनस्तु कामाय पुत्रः प्रियो भवति॥

अर्थात् पुत्र को सुखी करने के लिये कोई पुत्र को सुख नहीं देता। पुत्र द्वारा अपनी इन्द्रियों की तृप्ति होती है, इसी से लोग पुत्र से प्रेम करते हैं।

प्राकृत वस्तु नश्वर है, इसलिये एकबार ध्वंस हो जाने पर फिर वह मिलनेवाली नहीं। सुतरां चिर-नैराश्य का भाव संसारी विरह का आश्रय कर विरही के हृदय में नाचता है। यह नैराश्य का भाव यदि संसारी विरह का सहचर न होता, और पुनर्मिलन का भाव उसकी जगह पर अधिकार कर लेता, तो फिर आशा के आनन्दपूर्ण हिलोरे से विरह की वेदना तेजोहीन हो जाती और विरही दुःख से मोहित न होता। अनित्य पदार्थ की

तरह नित्य-पदार्थ नश्वर नहीं है। जिसका नाश असम्भव है, उसे ही नित्य पदार्थ कहते हैं। जब नित्य पदार्थ का विनाश है ही नहीं, तब उसके सम्बन्ध में विरह का होना तात्कालिक सत्यता है; वास्तव में सत्यता नहीं। जैसे अणुवीक्षण यन्त्र से छोटा कीड़ा भी देखने लायक हो जाता है वैसे ही भक्तिपूर्ण अन्तर्लोचन द्वारा नित्य निरवयव भगवत्-मूर्ति का दर्शन किया जा सकता है। बिना अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता के जैसे मनुष्य छोटे-छोटे कीड़ों के होने पर भी उन्हें देख नहीं सकता, वैसे ही जड़ नेत्रों से नित्यसत्य ईशतत्त्व दिखाई नहीं देता। भगवत्-दर्शन के अयोग्य मनुष्यों में जब तक नास्तिक बुद्धि प्रबल रहती है, तब तक वे अप्राकृत रस का स्वाद नहीं पाते। किन्तु ईशतत्त्व के नित्य अस्तित्व के जान जाने पर एक न एक दिन वे कृपा करके दर्शन देंगे ही; इसी विश्वास से आस्तिक्य बुद्धि-सम्पन्न भगवत्-विरही लोग आशा बाँधते हैं और उत्कण्ठा के साथ भगवान् के नाम-रूप-गुण-लीला के कहने-सुनने में रुचि प्राप्त करते हैं। अप्राकृत भगवत्-विरह में नैराश्य-जनित ताप के बदले आशा से बँधे हुए लगातार आनन्द का अनुभव होता रहता है; जो भविष्यत् में भगवान् का दर्शन कराके उस विरह को सम्भोग-रस में परिणत कर देता है। पूर्णब्रह्म—श्रीरामचन्द्र के वनवास की लीला अथवा श्रीप्रह्लाद महाराज की अग्नि-परीक्षा लीला सुनने के समय, यद्यपि भक्तलोग मारे दुःख के रोने लगते हैं, किन्तु वे बार बार उसी भक्ति-वृद्धिकारी लीला के इतिहास को सुनने के लिये आग्रह प्रकट करते हैं। आग्रह का इस आतिशय्य भाव की ओट में विमल आनन्द की रोशनी जगमगा रही है। और उसके ही प्रभाव से दाँत-तोड़े विषधर के समान विरह का भाव जलाने में समर्थ नहीं होता। साँप के काटे का जहर न चढ़ने पर भी जैसे काटने की वजह घाव में कुछ ज्वाला जान पड़ती है, वैसे ही भगवान् का दर्शन न मिलने से जो विरह-वेदना होती है, उसे कुछ समय के लिये भक्तों को सहना ही पड़ता है। भगवद्विरह के प्रभाव से चित्त तन्मयभाव धारण करता है और उसकी वजह इतर वासनायें जगत् से मिलने से चित्त में प्रवेश कर नहीं सकतीं। विषय-वासना की प्रबलता नष्ट होने पर मन बिना कुछ उपद्रव मचाये आत्मा के वश होने को तैयार हो जाता है और आत्मा के इशारे से भगवत्सेवा में प्रवृत्त हो उठता है—जहाँ तक विषयासक्ति रहती है, [illegible] मात्र [illegible] और भगवत्-विरह को [illegible] दिखाई देता है, कि भगवत्-विरह [illegible] उसकी [illegible] शोक में [illegible] वेदना का दूर करने के लिये और किसी उपाय का आश्रय लेना नहीं पड़ता।

जिन्हें अप्राकृत भगवान् का विरह [illegible] होता है, वे अत्यन्त सौभाग्यवान् हैं; [illegible] द्वारा हो नहीं सकता। जिसके [illegible] हृदय कलुषित हो जाता है, उसके उद्धार के लिये श्रीभगवान् का भेजा हुआ अप्राकृत-विरह [illegible] में आता है और किसी न किसी साधु-सज्जन के संग के प्रभाव से उन भाग्यवानों के हृदय में प्रवेश करने में समर्थ होता है। एक पश्चिमोत्तर निवासी राम भक्त का कहना है,—

"विरह राम भेजा साधुन के परसादि"

अर्थात् भक्तों को परमानन्द में निमग्न करने के लिये अप्राकृत भगवत्-विरह, श्रीभगवान् की इच्छा से बद्धजीव के हृदय में प्रवेश करता है। उन्हीं महात्मा ने फिर कहा है,—

"जा घट विरह नहीं वह घट को जानु मसान"

अर्थात् जिसके हृदय में भगवद्भक्ति को कभी स्थान ही नहीं मिला, वह हृदय श्मशान के समान है। श्मशान में सदा जीव नष्ट होते रहते हैं; इस लिये वहाँ हिंसावृत्ति सदा जागती रहती है। हिंसा या मत्सरता की आवास-भूमि में सत्संग-हीन मनुष्यों की स्वच्छ भगवद्भक्ति का अङ्कुर अङ्कुरित हो नहीं सकता। जहाँ भगवद्भक्ति अङ्कुरित नहीं होती, वहाँ भगवत्-दर्शन को सिद्ध करनेवाला अप्राकृत विरह कैसे ठहर सकता है? अतएव यह स्थिर होता है, कि जब तक संस्कार के क्षय होने का समय नहीं आता, तब तक भक्तों का सङ्ग नहीं मिलता

और अनादि [illegible] विरह के रस का स्वाद मिलने नहीं पाता।

[illegible] का स्वरूप है नित्य-कृष्ण-दास।
[illegible] और भेदाभेद प्रकाश॥
[illegible] दोहीं प्रकार।
एक नित्य [illegible], एक नित्य संसार॥
नित्य [illegible] नित्य [illegible]-चरण [illegible]।
[illegible] पार्षद [illegible] सेवा [illegible]॥
[illegible] नित्य [illegible]।
नित्य संसार भुंजे [illegible]॥
[illegible] होके [illegible] माया।
[illegible] रस कहीं [illegible] वैष्णव [illegible]॥
[illegible] उपदेश [illegible] [illegible]।
[illegible] पावे [illegible]॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के उपरोक्त सिद्धान्त-वचन से जान पड़ता है, कि जीवमात्र ही कृष्ण के दास हैं। उनमें कितने ही भगवान के नित्य सेवा-परायण पार्षद और कितने ही भगवत्-सेवा-विमुख माया द्वारा [illegible] हैं। जिस समय वह जीव-गण भगवान को भूल जाने की वजह माया द्वारा त्रिताप से दुःख [illegible], उस समय भी उनमें भगवान के दासता का स्वरूप ज्यों का त्यों रहता है, अर्थात् रूपान्तरित नहीं होता। बुद्धि के फेर से चाहे कोई रस्सी को सांप समझ बैठे, किन्तु रस्सी का रूप ज्यों का त्यों रहता है; ऐसे ही बद्धावस्था में जीव अपने को चाहे जो क्यों समझे, उससे उसके शुद्ध स्वरूप की कोई हानि नहीं होती। अनजान में बड़े पुण्य के संचय से अथवा बार-बार संसारी-विरह की तीव्र वेदना सहते सहते, जब जीव के हृदय में उससे घृणा होती है और सत्-संग के प्रभाव से आस्तिक बुद्धि विकसित होती है, तब वह समझ जाता है, कि भगवत् सेवा भूलने की वजह उसको अनेक दुःख भोगने पड़े हैं, और तब वह इस बात की खोज करने लगता है, कि कैसे फिर सेवा बुद्धि प्राप्त हो। इसी समय से भगवद्विरह का भाव उसके हृदय में आने लगेगा। दूध का दही बन जाने पर जैसे फिर वह दूध हो नहीं सकता, वैसे ही बद्धावस्था [illegible] यदि [illegible] [illegible] होगा, तो [illegible] [illegible] वैराग्य [illegible] [illegible] फिर भग-वत् [illegible] [illegible] होता। [illegible] दिखाई देते हैं, [illegible] भगवान्-[illegible] [illegible] की तरह [illegible] [illegible] [illegible] नहीं।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] अपने [illegible] [illegible] करते हैं।

[illegible] हृदय के स्वभाव [illegible] [illegible] आनन्द [illegible] [illegible] [illegible] विरही भगवत्-विरह [illegible] [illegible] सकेंगे। जीवमात्र को शुद्ध-स्वरूप में [illegible] करने के लिये ही [illegible] के रूपों में इस [illegible] हुए हैं और समय समय पर उन्होंने [illegible] भेजा है। क्योंकि अनादिकाल से बद्ध जीवगण भगवत्-विमुखता-की [illegible] में [illegible] रहे हैं, कारण यह, कि अपने पार्षदों के साथ भगवान के [illegible] होने के समय वे भी निश्चय ही किसी न किसी योनि में मौजूद थे। दुःख से रहने से शायद श्रीभगवान्, श्रीमहाप्रभु और उनके पार्षदों का संग कर नहीं सके, या उनके मुख से निकले, परमार्थ के वचनों को सुनकर भी उन पर [illegible] कर नहीं सके थे। इस [illegible] कलियुग में कुछ ही दिन पहले। (अर्थात् प्रायः ४४० वर्ष पहले) श्रीगौरचन्द्र ने अपनी [illegible]-लीला की थी। और [illegible] वर्ष पहले उनके पार्षद-प्रवर भक्तिविनोद ठाकुर महोदय बङ्गदेश में प्रकट होकर भी [illegible] में

आज तक थोकेदार [illegible] शैतान अड़े पड़े हैं। ऐसे बड़े-बड़े आलोचों और [illegible] को देखने से [illegible] पड़ता है कि केवलमात्र पुरुष के अधीन [illegible] और उनके पारिश्रम [illegible] परमार्थ सब [illegible] सकेंगे। कितने ही [illegible] युग में [illegible] [illegible] [illegible] सुख [illegible] ? [illegible] समाज [illegible] । [illegible] में [illegible] उस [illegible] अमावों से फिर [illegible] की शिक्षा प्राप्त [illegible] स्वाद [illegible] मातृभूमि [illegible] में [illegible] वर्तमान [illegible] के [illegible] पहुँचेंगे।

शास्त्र में सम्भोग और [illegible] दोनों को ही रस तत्त्व [illegible] । [illegible] विरह में केवल दुःख का ही अनुभव होने की वजह उसे आनन्द का [illegible] मानना [illegible] चाहिये। [illegible] दुःखसंयोग-वियोगं योगसंज्ञितम्" गीता [illegible] श्लोकार्द्ध की टीका में श्रीधर स्वामीपाद ने विषय-सम्भोग जनित सुख को दुःख के अन्तर्गत कहा है। उनके ऐसा कहने का मतलब यह, कि जिसके अन्त में दुःख आ उपस्थित होता है वही दुःख का बीज है अर्थात् विषयों का सुख ही दुःख का अवस्थान्तर मात्र है। अतएव [illegible] सम्भोग का सुख रस-तत्त्व की नामावली में माना नहीं जा सकता। काम की गन्ध भी रहता है, तो उससे [illegible] सम्भोग या विरह भाव उत्पन्न होता है। क्योंकि [illegible] भगवत्-विरह में काम का नाम मात्र भी नहीं रहता। [illegible] वह [illegible] आनन्द का उदय करता है। [illegible] की [illegible] भी [illegible] पार कर गई है, [illegible] को [illegible] [illegible] [illegible] काय-[illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं [illegible] यह [illegible] मालूम [illegible] चाहिये कि उनके [illegible] इसी में [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] करते हैं, वे जानते हैं, कि [illegible] अपने कल्याण की ओर [illegible] की दृष्टि नहीं रहती और भगवान् की [illegible] निगाहों में पड़ जाना है, [illegible] करने के लिये [illegible] होती है। [illegible] की तरह [illegible] के विरुद्ध आचरण करना नहीं पड़ता। भगवान् [illegible] के [illegible] उत्तम [illegible] आत्मा से विचार करो [illegible] । पूर्ण आनन्द के आलय श्रीकृष्ण में किसी प्रकार के आनन्द का अभाव नहीं है। एक दिन श्रीराधिका की विरह दशा का [illegible] श्रीकृष्ण को [illegible] की [illegible] हुई; इसलिये उन्होंने [illegible] उसका स्वाद लेने के लिये [illegible] में प्रकट हुए थे। [illegible] से [illegible] के [illegible] दो शिक्षायें मिलती हैं – ( ) मिलन से पहले या बाद की उत्कण्ठा का विरह-भाव से मिलन जनित सम्भोग [illegible] स्वाद [illegible] नहीं [illegible] अर्थात् "जिसका जो भाव वही है उत्तम" प्रमाणित होता

है और (४) सम्भोग-रस की विकल अवस्था में विप्रलम्भ-रस का स्वाद लेने की प्रबल इच्छा होने पर, यह [illegible] भी अधिक सुस्वादु ज्ञात पड़ता है, अर्थात् [illegible] विचार करने से तारतम्य का भाव दिखाई देता है [illegible] । इस विषय के [illegible] दिव्य विप्रलम्भ-रस के [illegible] की भी [illegible] सहायता से नहीं [illegible] [illegible] प्राप्य-वरान् निबोधत ।"

[illegible] ने कृष्ण-दर्शन [illegible] पर [illegible] विचार से [illegible] जाते हैं, वैसे ही [illegible] और विप्रलम्भ-रस हेतुकी दृष्टि से [illegible] ज्ञात पड़ने पर भी भक्तिपूर्ण [illegible] आत्मक पदार्थ ज्ञात पड़ता है । नित्यमुक्त जीवगण भगवत्-पार्षद के रूप में अवस्था [illegible] भगवत्-सेवा में रत रहते हैं । [illegible] । उनको विप्रलम्भ-रस [illegible] मिलने पर भी सम्भोग-रस की ही पुष्टि होती है । भगवत्-सेवा को छोड़कर नित्यबद्ध जीव के रूप में जो इस धराधाम में आकर अपने [illegible] में व्यस्त रहते हैं, वे ही वास्तव में [illegible] के पात्र के रूप में सृष्ट हुए हैं । क्योंकि [illegible] त्रिताप की [illegible] भगवान् की याद नहीं आती और इससे पहले विप्रलम्भ भाव के माधुर्य का स्वाद सूचित नहीं होता । जीव के बन्धन की योग्यता विचित्र लीलायें दिखानेवाली परमाशक्ति ने बनाया है, यह बात आप ही सिद्ध होती है । पाठकवर्ग ! एक बार विचार करके देखिये, कि जब हम इस बद्ध संसार में आये हैं, तब हमारे लिये कौन सा कर्त्तव्य बाकी है ? क्या [illegible] के लिये सु-मधुर [illegible] विप्रलम्भ-भाव में डूबना ही यह बाकी बचा कर्त्तव्य नहीं है ? यदि कुछ भी विलम्ब न कर हम भगवद्विरहरूपी सुशीतल समुद्र में कूद पड़ें तो शीघ्र ही भोगमोक्ष की प्यास शान्त हो जायगी और "अयि दीनदयार्द्रनाथ, हे मथुरानाथ कदावलोक्यसे" — ऐसी ही प्रार्थना करते हुए जीवन के बाकी बचे दिन को बिताकर, शरीर का अन्त होने पर नित्यलीला में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त कर सकेंगे । "आज भी वह लीला करें गौर राय । कोई कोई भाग्यवान् उसे देख पाय ॥" इस प्रवचन से हमलोग जानते हैं कि हमारे प्राण-वल्लभ गौरसुन्दर आज भी दिव्योन्माद-दशा में इधर-उधर दौड़ रहे हैं । हमलोगों को विप्रलम्भ-रस का पात्र जानकर ही उसके प्रति [illegible] करने की शिक्षा देने की इच्छा से, उन्होंने धराधाम में प्रकट हो अपनी लीला का कुछ अंश दिखाया था । आओ, हमलोग उनकी चरित-लीला का अनुशीलन करते हुए शरीर का अन्त होने पर उनके निजगण में सम्मिलित हों, सेवा के लिये उनके पीछे-पीछे चलने को मुस्तैद हो जायँ ।

हरिः ॐ तत्सत् ।

आस्तिकता

(२)

जिस [illegible] अंकित [illegible] पदार्थ के स्वरूप को जाना जाता है, उसे 'ज्ञान' या 'सम्वित' शक्ति कहते हैं । किसी अपरिचित [illegible] को देखने से पहले वह एक सामान्य आदमी सा ज्ञात पड़ता है । बाद को उसकी गुणावली सुनने पर क्रमशः ऊँची श्रेणी का मनुष्य ज्ञात पड़ने लगता है । अन्त में जब महाभागवत जान लिया जाता है, तब उसके शरणापन्न होने के लिये व्याकुलता का भाव दिखाई देता है । जीव के लिये महाभागवत अवस्था के अतिरिक्त और कोई ऊँची पदवी नहीं है और वही जीवन का परम लक्ष्य है । परिचय के लगाव से जैसे किसी मनुष्य को हमलोग

विभिन्न भाव से देखने को बाध्य होते हैं, वैसे ही पर तत्त्व की निर्णायक बातों को सुनने के लगाव से भी हम लोग तरह-तरह के सिद्धान्तों पर पहुँचा करते हैं। जिनकी भोग-मोक्ष की वासना बहुत प्रबल है, वे परतत्त्व विषयिणी बातों के सुनने का सुयोग ही नहीं पाते। सुतरां इन दो प्रकार की वासनाओं का कुछ दमन होने से भगवत् कथा के सुनने का सुयोग मिलना सम्भव है। सुयोग मिलने पर भी बिना निष्किञ्चन महाभागवत के सङ्ग के विशुद्ध तत्त्वज्ञान का होना असम्भव है; क्योंकि एक अन्धा दूसरे अन्धे को किस प्रकार राह दिखा सकता है? सुतरां इसी में सत्संग का प्रयोजन है, जिसमें यत्नपूर्वक महाभक्त का सङ्ग मिले और जो इसे जहाँ तक करते हैं, उनकी वासना उतनी ही सुमार्जित होकर भगवत् कथा की रुचि को बढ़ाती तथा इतर जिज्ञासाओं से निवृत्त कर उदय करती है। क्रमशः जब भक्त का संग छोड़ प्रबल भोग-मोक्षलोलुप मनुष्यों के साथ वास करने की प्रवृत्ति सम्पूर्ण रूप से विगलित हो जाती है, उसी समय संसार दशा छूट जाती और गृहत्याग करते हुए आखीर दम तक भक्त-समाज में निवास मिलता है। भक्त-समाज में रहते हुए गृहत्यागी मनुष्यों के हृदय के सूक्ष्म-सूक्ष्म पापबीज क्रमशः ध्वंस होते रहते और देहान्त के बाद स्वरूप-सिद्धि की वजह-दिव्य धाम में गमन और नित्यकाल भगवत्-सेवा के सुख-आस्वादन का सुयोग उपस्थित होता है; उसे फिर बद्ध-जीवों की भाँति बहिर्मुख भाव से इस अनित्य-धाम में आकर दुःख भोगना नहीं पड़ता। जीवों का उद्धार करने के लिये यदि भगवत् इच्छा के अनुसार इस लोक में आना भी पड़े, तो बद्ध जीवों की तरह उसे अज्ञान से आवृत या उसकी वजह माया का दासत्व करना नहीं पड़ता। कपटतापूर्ण आस्तिकता के द्वारा छिप-छिप भगवद्-विद्वेष होता है, उसके द्वारा शुद्ध-भक्तों को मिलनेवाला गोलोकविहारी का नित्य सेवन कभी मिल नहीं सकता। अतएव पंगुल के पहाड़ लाँघने की कोशिश की तरह आस्तिक अभिमानी मनुष्यों के हेय उद्यम को दिव्य-धाम की प्राप्ति का सहायक न समझ, संसार से सदा सौरभ की ओर ले जानेवाली सीढ़ी समझना चाहिये।

वही कृष्ण गोलोक वृन्दावन में मधुर-रस-कृष्ण-रूप में, सिद्ध भक्तों द्वारा परम कमनीय प्रेमास्पद श्यामसुन्दर के रूप में, और वैकुण्ठ में ऐश्वर्य-समारूढ़ स्वरूप सिद्ध भक्तों द्वारा महामहिमान्वित नारायण के रूप में सेवित होते हैं, और फिर वही परव्योमस्थ अङ्गकान्ति से शून्य निर्-ज्योति के रूप में सायुज्यार्थी साधकों के आगे प्रथमावस्था में ध्येय माने जाते और बद्ध-जीवों के आगे भोग-मोक्ष के सुख की आशा से कारणार्णवशायी विष्णु या सृष्टि स्थिति-प्रलय के कर्त्ता जगदीश्वर के रूप में, गर्भोदकशायी विष्णु हिरण्यगर्भ या परमात्मा के रूप में। क्षीरसागरशायी विष्णु अथवा हृदय-आकाश के अन्तर्यामी पुरुष के रूप में पूजित होते हैं। जैसे मैदान की कमी दूरी के अनुसार एक ही गऊ बहुत दूर से चावल के टुकड़े जैसी, कुछ और नजदीक से आनेपर सफ़ेद कुछ और समीप होने से गऊ के रूप में तथा बिलकुल ही समीप आने पर "हमारी ही श्यामा" गऊ के रूप में दिखाई देती है, वैसे ही जड़-संस्कार की दृढ़ता के हिसाब से सम्वित्शक्ति के विकास का तारतम्य संघटित होता है। जितने ही व्यक्तियों द्वारा जितने ही मतवाद उत्पन्न हुए हैं। यदि कुसंस्कार द्वारा बाधा न पहुँचे, तभी सम्वित्शक्ति पूरी तरह से वस्तु-प्रकाशन में समर्थ होती है। इस सर्वोच्च भूमिका में कुसंस्कार के न रहने से सत्यज्ञान लहराता रहता है तथा सत्यज्ञान की सहायता से यह समझ में आ जाता है, कि भेदबुद्धि अज्ञानता से भरी है और इसके रहते से एकनिष्ठ-भाव का आस्वादन असम्भव है। कृष्ण मेरे हैं और जगत् में जितनी पराई वासनायें हैं, वह सभी कृष्ण की ही किसी न किसी विभूति को प्रकट करनेवाली है। ऐसा ज्ञान उन्हें ही होता है, जिनके हृदय में सम्वित् शक्ति पूरी तरह से काम करती है, जैसा श्रीचैतन्य चरितामृत में लिखा है,

"भगवत् ज्ञान कृष्ण से, यह सम्वित का सार।
ब्रह्मज्ञान इत्यादि सब, है उसके परिवार॥

"जीव का स्वरूप है कृष्ण-नित्य दास" चैतन्य-चरितामृत के इस सिद्धान्त-वाक्य तथा "गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्" इस गीता के [illegible] ज्ञात पड़ता है कि भगवान के निरन्तर [illegible] उनकी सेवा में लगे रहना ही [illegible] सेवा का एक मात्र कार्य है। सुहृद् और स्वामी भगवान के ऊपर ही जीव के भरण पोषण के कार्य का भार है। अतएव जीवगण का उचित है, कि वे स्वयं भगवान् के [illegible] होकर रहें और [illegible] की [illegible] भी चिन्ता न करें। [illegible] उन्हें [illegible] और [illegible] पद को [illegible] और उनकी चिन्ता के [illegible] अर्थात् [illegible] करके [illegible] शरीर की चिन्ता को परित्याग करने में कुछ [illegible] नहीं होता। इस काम का भार [illegible] भगवान के ही [illegible] जीवों के लिये [illegible] नहीं [illegible] जीव के [illegible] बनाते हैं, [illegible] हैं। जब [illegible] अवस्था [illegible] भीतर [illegible] और [illegible] बहुत ही निकट अन्तर्यामी के रूप में समष्टि और व्यष्टि-भाव से अवस्थित हैं, तब हमलोगों को उनकी चिन्ता परित्याग करने में ही सुविधा है। जो लोग चिन्ता को त्यागने में असमर्थ हैं, वे भगवान की भक्ति के अधिकारी नहीं। भगवान के स्वामित्व पर अविश्वास करते हुए कोई भी आस्तिक हो सकता है? इसे आस्तिक लोग ही समझ सकते हैं। भक्तलोग इस प्रकार की आस्तिकता को "सोने की पथरी" के समान हानिकर समझते हैं।

देखने में आता है, कि [illegible] जीवगण "अपने" सुख के लिये दिन रात "कोल्हू के बैल" की तरह संसाररूपी कोल्हू के चक्कर में घूमा करते हैं।

यह "अपना" वस्तु क्या है और उसे जो जातीय सुख देने को व्यस्त है, उसका वह पक्षपाती है या नहीं, इस विषय में विचार करने का यत्न करने पर ज्ञात पड़ता है, कि "अपना" शब्द जीवतत्त्व का लक्ष्य करके कहा जाता है। जिसमें भोक्तृत्व का कुछ भी सद्भाव नहीं और सद्भाव न होने की वजह भोग का पक्षपाती होना, बिना शिर के शिर पीड़ा की तरह, उसके लिये स्वाभाविक नहीं। भोक्तृत्व एकमात्र भगवत्तत्त्व में ही पर्यवसित होने की वजह, भगवान ही भोग करने में समर्थ हैं। क्योंकि भगवान ही भोक्ता हैं, इसलिये सभी पदार्थ उनके ही भोग का उपकरण हैं और शास्त्रविधि के अनुसार तदनुकूल रूप से निवेदन करना ही जीवतत्त्व-गत सेवक भाव का कर्त्तव्य है। जो लोग निवेदन के अन्त में प्रसाद-बुद्धि से भगवान का कृपा अन्न-व्यञ्जनादि ग्रहण करते हैं, वे प्रसाद का सम्मान करते और उसके द्वारा सेवकत्व की रक्षा करके और लगातार भगवद्भक्ति को बढ़ाने में समर्थ होते हैं। शास्त्र का कहना है, कि जो लोग अपने [illegible] देह को भरने के लिये [illegible] को [illegible] समझते हुए खाते हैं, वे पाप को ही खाते और उसके फल से देह का अन्त होने पर महारौरव आदि नरक में जाने को बाध्य होते हैं। सुतरां दिखाई देता है कि "अपना" शब्द के यथार्थ ज्ञान के परिस्फुट होने से भक्तगण दुनियाँ में रहने के समय जिस प्रकार शक्ति का सञ्चालन किया करते हैं, उसके द्वारा वे नित्य-कल्याण के फलस्वरूप को प्राप्त होते हैं, उक्त शब्द के अवास्तविक अर्थ को, मढ़िया-मसान की तरह, लौकिक पन्था को प्राप्त हो, जो लोग पाप-भोजन में प्रचुर शक्ति का सञ्चालन करते हैं, वे नित्य कल्याण के बदले दीर्घकालव्यापी दुःख के गड्ढे में ही पड़ते हैं। जब तक हम लोग "अपना" शब्द के यथार्थ ज्ञान लाभ के लिये कमर कस लेंगे, तब तक आस्तिकता किसे कहते हैं, उसे अच्छी तरह समझने में समर्थ न होंगे।

पुराणादि शास्त्रों में हम लोगों को असुर और राक्षसादि शब्द के बहुत से उल्लेख दिखाई देते हैं। साधारण श्रेणी के नासमझ मनुष्य उन सब शब्दों के

अर्थ में जैसे "किम्भूत किमाकार" अर्थ समझते हैं वैसे ही अद्भुत जीव को न देख सकने की वजह से मन में समझते हैं, कि ऐसे जीव अन्य अन्य युग में मौजूद थे और वर्तमान युग की उत्पत्ति होने के पहले ही उनका नाश हो जाने से हमलोग अब उन्हें देख नहीं सकते। जैसे कि अन्यान्य युगों में गऊ, भैंस, घोड़े और मनुष्यादि भी मौजूद थे, और काल प्रभाव से इनका लोप पूर्णरूप से नहीं हुआ, तब केवल [illegible] और असुरों का सम्पूर्णरूप से ध्वंस हो गया, ऐसी कल्पना करना उचित नहीं। सुतरां पृथिवी में पहले जितने प्रकार के जीव थे, अब भी उतने ही प्रकार के जीव कम व अधिक मौजूद हैं, ऐसा ही समझना उचित है। यहाँ प्रश्न हो सकता है, कि यदि असुर और राक्षसादि आज भी मौजूद हैं, तो वे दिखाई क्यों नहीं देते? इसके उत्तर में यह कहना है, कि उनके अदृश्य न होने की धारणा कर लेना ही उनके न दिखाई देने का मूल कारण है। एक बार बालकगण कितनी ही बार चंद्र को देखकर भी यह न समझ सकने के कारण कि किसे चंद्र कहते हैं, किसी वृद्ध से चंद्र के दिखाने का अनुरोध किया। उस वृद्ध आदमी ने कहा, कि रात के समय आकाश में ज्योतिष्मान पदार्थों के बीच जो सबसे बड़ा थाली के समान दिखाई देता है, उसे ही चंद्र कहते हैं, तो लड़कों ने हँसकर कहा, कि इसे तो हमलोग बहुत बार देख चुके हैं, किन्तु न जानने की वजह पहचान नहीं सके। इसी तरह असुर और राक्षसादि के देखने पर भी न देख सकने की धारणा बालकों की तरह ना समझ मनुष्यों में मौजूद है [illegible] उसका ज्ञान खुलने पर वे भी वैसे ही [illegible] और असुर तथा राक्षसों को देख सकेंगे। [illegible] सन्तान या कुछ मनुष्य के अतिरिक्त और कोई प्राणी हो नहीं सकता। प्रह्लाद के पिता हिरण्यकशिपु [illegible] अथवा [illegible] राजा बलि और बलि राजा के पुत्र [illegible] प्रकृति असुर, राक्षस और दैत्य के नाम से [illegible] पर भी मनुष्य के अतिरिक्त और कोई अद्भुत प्राणी नहीं है। [illegible] लोगों का यह असमझ सूचक भाव [illegible] भोग में मत्त होने वाले नास्तिक और आस्तिक अभिमानी तथा मोक्ष-सुख की आशा से स्वर्ग सुख [illegible] था। निषिद्ध [illegible] राक्षसादि समाज के अन्तर्गत हैं। आधुनिक समाज में जो वर्णाश्रम धर्म प्रचलित है, वह शुद्ध वर्णाश्रम का बिगड़ा हुआ रूप है, उसका आश्रय लेने से नरक-दर्शन अनिवार्य है। अतएव यत्न के साथ राजा बलि [illegible] के समान [illegible] और विभीषण की तरह लङ्का के राक्षसों के समाज के लगाव को शीघ्र त्याग देना ही उचित है।

नित्यधर्म और संसार

(पूर्व प्रकाशित के आगे)

या [illegible] देव० आपने विवेकी मनुष्यों की चार अवस्थायें बताईं। इनमें किस-किस अवस्था में स्थित मनुष्यों के सङ्ग को साधुसङ्ग कहते हैं?

अनन्त० - विवेकी, मुमुक्षु, मुक्त या सिद्ध और भक्त—ये चारों विवेक की अवस्थायें हैं। उनमें विवेकी और मुमुक्षु के साथ विषयी का सङ्ग करना अच्छा है। मुक्तों के दो विभाग हैं,—चिद्-स्वाग्रही मुक्त और सिद्ध मायावादी मुक्ताभिमानी। चिद्‌स्वाग्रही मुक्तों का सङ्ग अच्छा है। सिद्ध मायावादी अपराधी हैं। उनका सङ्ग सबके ही लिये मना है। श्रीमद्भागवत के दशम में कहा गया है,—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-,
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः,
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥

अर्थात्—हे अरविन्दाक्ष, जो यह अभिमान करते हैं, कि मैं मुक्त हो गया हूँ, आप में भक्ति-शून्य होने से, वह उनकी अविशुद्ध बुद्धि है। बड़े ही कष्ट से वे मायातीत परम पद ब्रह्म तक चढ़कर, भगवद्भक्ति का अनादर करने के कारण अधःपतित होते हैं।

चतुर्थ भगवद्भक्त दो प्रकार के हैं,—ऐश्वर्य पर और माधुर्य पर। भगवद्भक्तों के सङ्ग में सब तरह की भलाई है। विशेषतः माधुर्य पर भगवद्भक्तों का आश्रय लेने से हृदय में विशुद्ध भक्तिरस का आविर्भाव होता है।

यादव०—आपने कहा, कि भक्तों की दो प्रकार की स्थिति है। ज़रा साफ़-साफ़ कहिये, तो हमारे जैसे मोटी बुद्धि के मनुष्य अच्छी तरह समझ सकते हैं।

अनन्त०—अवस्थिति के भेद से भक्त दो प्रकार के हैं,—गृहस्थभक्त और गृहत्यागीभक्त।

यादव०—अनुग्रह कर यह बताइये, कि गृहस्थ-भक्तों का संसार से कैसा सम्बन्ध है?

अनन्त०—घर बना के उसमें रहने से ही कोई गृहस्थ हो नहीं जाता। उपयुक्त पात्री का पाणिग्रहण कर घर में निवास करनेवाले गृहस्थ माने जाते हैं। उस अवस्था में जो भक्त होते हैं, वे गृहस्थ भक्त हैं। मायाबद्ध मनुष्य अपनी जड़ देह के पाँचों ज्ञान द्वारा जड़ विषय में प्रवेश करता है, आँखों से आकार और वर्ण दिखाई देता है। कान से सुनाई देता है, नाक से गंध लिया जाता और त्वचा या चमड़े से स्पर्श का ज्ञान होता है, जीभ से रस का स्वाद लिया जाता है। मनुष्य इन पाँच दर्वाज़ों से जड़-जगत् में प्रविष्ट हो, उसमें आसक्त होते हैं। वे जड़ पर जितना आसक्त होते, उतना ही प्राणनाथ कृष्ण से दूर होते जाते हैं। इसी का नाम बहिर्मुख संसार है। जो इस तरह संसार में लिप्त हैं, उन्हें विषयी कहते हैं। जो गृहस्थ-भक्त होते हैं, वे विषयियों की तरह विषय से इन्द्रिय-तर्पण से मतलब नहीं रखते। उनकी धर्मपत्नी कृष्ण की दासी है। पुत्र-कन्या सब कृष्ण के परिचारक परिचारिकाओं में हैं। उनकी आँखें, कृष्ण के श्रीविग्रह और उनकी सम्बन्धीय वस्तुओं को देखकर ही तृप्त होती हैं। उनके कान हरिकथा और साधुजीवनी सुनकर परितृप्त होते हैं। उनकी नासिका कृष्णार्पित तुलसी और सुगन्ध द्रव्यों को ग्रहण कर आनन्द लेती है। उनकी जीभ कृष्णनाम और कृष्णनैवेद्य का स्वाद लेती है। उनके चर्म भक्तों के अंगस्पर्श से सुख पाते हैं। उनकी आशा, क्रिया, वाञ्छा, अतिथि-सेवा, देव-सेवा—यह सभी कृष्णसेवा के अधीन है। उनका समस्त जीवन ही 'जीवदया' 'कृष्णनाम और 'वैष्णव-सेवन' आदि महात्म्यमय होता है। अनासक्त रहकर विषय-भोग केवल गृहस्थ-भक्त ही कर सकते हैं। कलिकाल के मनुष्यों को गृहस्थ-वैष्णव होना ही उचित है। इसमें पतन की आशङ्का नहीं है। भक्ति की समृद्धि भी इसमें सम्पूर्ण रूप से हो सकती है। गृहस्थ वैष्णवों में कितने ही सर्वज्ञ गुरु हैं। प्रभु की सन्तान में जो शुद्ध वैष्णव हैं, वे ही गृहस्थ-भक्त हैं—अतएव उनका सङ्ग मनुष्य के लिये बहुत ही अच्छा है।

यादव०—गृहस्थ-वैष्णवों को स्मार्तों के अधीन रहना पड़ता है, ऐसा न करें, तो समाज में उन्हें क्लेश होता है। ऐसी अवस्था में कैसे शुद्धभक्ति रह सकती है?

अनन्त०—कन्या-पुत्र के विवाह और पितृगण की और्द्धदेहिक क्रिया तथा अन्यान्य कई कामों से अवश्य ही उनका सम्बन्ध रहता है। कामनाओं का काम करने की उन्हें ज़रूरत नहीं। देखिये, शरीर-यात्रा-निर्वाह के लिये सबको ही पराधीन होना पड़ता है। जो अपने को निरपेक्ष बताते हैं, वे भी पराधीन हैं। बीमार होने पर औषध-सेवन, भूखे होने पर आहार-संग्रह और शीतनिवारण के लिये वस्त्र-संग्रह, धूप-वर्षा से बचने के लिये घर-मकान इत्यादि विषयों की आवश्यकता और भरोसा हर एक शरीर-धारी को है। (क्रमशः)

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्यमठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर, योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीचाँद काजी की समाधि-पाठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
स्वरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ; बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपुर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ; कमलापुर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ; बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
अगस्त्यकुण्ड, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० ८६ हनुमान रोड, न्यू देहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपुरम कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलालनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पाट
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकोंदा चोरकुण्डा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० वासुदेवपुर, जि० मेदनीपुर

(३१) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ
कव्वुर, वेष्ट गोदावरी, मद्रास

(३२) ग्वालपाड़ा प्रपन्नाश्रम, आसाम

(३३) त्रिदण्डी-गौड़ीय मठ भुवनेश्वर, पुरी

(३४) श्रीसारस्वत-गौड़ीय मठ हरिद्वार

Registered No. A. 2191.

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow.

वर्ष २]

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

[संख्या १४

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

9th May

मधुसूदन
गौरचन्द्र
गौराब्द
४४७

1933

वैशाख
पूर्णिमा
संवत्
१९९०

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥



क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती
गोस्वामी महाराज

प्रति संख्या -)

सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

वार्षिक सडाक १।।)

Editor:—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा ‒) है

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन छपाई की दर नीचे लिखी है:—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम		८)
आधा ,,	$\frac{1}{2}$,,	५)
चौथाई ,,	$\frac{1}{4}$,,	३)
२ इंच ,,	$\frac{1}{8}$,,	१॥।)
१ ,, ,,	$\frac{1}{16}$,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये—

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

सेठ रामयश रोड, नरही, लखनऊ.

All communications are to be addressed to—

The Manager 'Bhagwat'
SethRamjas Road,
Narhe,
LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भागवत

पारमार्थिक

पाक्षिक

वर्ष २ — श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य — संख्या १४

वैशाख-पूर्णिमा गौराब्द ४४७ सं० १९९० वि०, ९ मई सन् १९३३ ई०

सूर-कविता

(१)

भजि मन नन्दनन्दन-चरन ।

परम पंकज अति मनोहर सकल सुख के करन ॥

सनक शंकर ध्यान ध्यावत निगम अवरन बरन ।

शेष शारद ऋषि सु नारद संत चिंतत चरन ॥

पद-पराग प्रताप दुर्लभ लोक के हित करन ।

परसि गंगा भई पावन तिहूँ पुर धर धरन ॥

चित्त चिंतन करति कीरति अघ हरन जगतरन ।

गये तरि लै नाम केते पतित हरि पुर धरन ॥

जासु पदरज परसि गौतम-नारि गति-उद्धरन ।

तासु महिमा प्रगट केवट धोइ पग सिर धरन ॥

सोइ पद मकरन्द पावन अरु नहीं सर वरन ।

सूर भजि चरणारबिन्दनि मिटै जीवन-मरन ॥

प्रचार-प्रसंग

श्री विश्व वैष्णवराज-सभा के सभापति परमहंस श्रीभक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद के कृपा-आदेश से, पाश्चात्य देशमें भी श्रीगौरसुन्दर की अमन्दोदया दया का वितरण करने के लिये, श्रीगौड़ीयमठ के अन्यतम प्रचारक, त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्तिप्रदीप तीर्थ महाराज, भागवत-पत्र के सम्पादक त्रिदण्डीस्वामी भक्तिहृदय वन महाराज तथा श्रीयुक्त सच्चिदानन्द दासाधिकारी एम. ए. भक्तिशास्त्री महोदय ने गत १० वीं अप्रैल को 'विक्टोरिया' जहाज़ से विलायत की यात्रा की है।

विश्व वैष्णवराज-सभा के सभापति और आचार्य परमहंस श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज ने, मिशन के सभ्यगणवृन्द, श्रीचैतन्यमठ के दर्शक लोग और राजसभा के और भी बारह सदस्यों को साथ ले दोनों स्वामीजी की यात्रा के समय, सादर विदाई का अभिनन्दन प्रदान किया।

भारत की जातीय महासभा के सम्पादक मिस्टर अमूल्य नाहटा के अनुरोध से जेनेवा में दोनों स्वामीजी "अद्वय ज्ञानतत्त्व और अचिन्त्य भेदाभेद वाद" के सम्बन्ध में कई वक्तृताएं देनेवाले हैं।

त्रिदण्डी स्वामी भक्तिहृदय वन महाराज ने गत २ री अप्रैल को बम्बई महानगरी के 'थियासोफ़िकल' हाल में 'श्रीकृष्णचैतन्य देव की शिक्षा' के विषय पर अँगरेज़ी भाषा में एक गवेषणा पूर्ण वक्तृता दी। कर्नाट-ब्राह्मण विश्वेश्वर एस मासकेकर, फीरोज़ शा रुस्तमजी वाच्छा, मिस्टर अल जमशेदजी करचवाला, सिकन्दरी ट्रेनिङ्ग कॉलेज के प्रोफ़ेसर मिस्टर ए० एम० मोदी एम० ए० एम० टी० सी० डी० प्रभृति बड़े बड़े शिक्षित लोग उस सभा में उपस्थित थे। स्वामीजी की वक्तृता सभी के लिये चित्ताकर्षक हुई। स्वामीजी द्वारा नई रोशनी की झलक देख श्रोताओं ने शतमुख से उनकी प्रशंसा की।

ऊपर जिन सज्जनों के नाम का उल्लेख किया गया है; उन सबने दूसरे दिन अर्थात् चौथी अप्रैल के सबेरे ८ बजे के समय परमहंस श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद के पादपद्म में उपस्थित हो प्रायः साढ़े तीन घण्टे तक Personality of the Absolute (अद्वय ज्ञान-तत्त्व के विशेषत्व) के सम्बन्ध में हरिकथा सुनी। गोस्वामी प्रभुपाद ने उन लोगों के प्रसङ्गक्रम से श्रीगौरसुन्दर की अप्राकृत लीला, श्रीरूप-सनातन-चरित, प्रयाग में श्रीरूप का और काशी में श्रीसनातन का महाप्रभु से सिद्धान्त की शिक्षा लेना, चार प्रकार की अभक्ति, भक्तिमार्ग के क्रमिक उन्नतरस के चारों प्रकार विशेषतः पुरुषोत्तम-लक्ष्मी-नारायण और श्रीरामसीता के उत्तरोत्तर रस के तारतम्य को विशेष रूप से कहा।

गत चौथी अप्रैल को भागवत पत्र के सम्पादक भक्तिहृदय वन महाराज ने उक्त थियासोफ़िकल हाल में "वर्त्तमान विपद की समस्या और उस पर गीता का समाधान" के विषय पर ४५ मिनट तक वक्तृता दी। सभा में बड़े बड़े गण्यमान्य शिक्षित लोग उपस्थित थे। वक्तृता सुनकर सब लोग बहुत ही सन्तुष्ट हुए।

बम्बई के गवर्नर के आगे भागवत-सम्पादक की हरिकथा

बम्बई ८-४-३३

बम्बई के सुप्रसिद्ध सौदागर श्रीकिशनचन्द-चेलाराम ने तार द्वारा समाचार दिया है - गौड़ीय मठ के अन्यतम प्रचारक तथा भागवत-पत्र के सम्पादक त्रिदण्डीस्वामी श्रीमद्भक्तिहृदय वन महाराज ने गत ८ वीं अप्रैल को बम्बई के महामान्य गवर्नर सर फ्रेडरिक साइकस से मुलाकात कर बहुत देर तक हरिकथा कही। जिसे सुनकर माननीय गवर्नर साहब ने प्रशंसा करते हुए कहा, कि स्वामीजी महत् और अतुलनीय उद्देश्य को लेकर यूरोप की यात्रा कर रहे हैं और त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्तिहृदय वन महाराज तथा त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्ति-प्रदीप तीर्थ महाराज के महाप्रभु श्रीगौरसुन्दर के शुद्धभक्ति-धर्म और सुविस्तृत आस्तिकवाद के प्रचारार्थ यूरोप जाने के उपलक्ष में आन्तरिक सहानुभूति प्रकट की।

मतवाले का गाना

आज होली की पूर्णिमा है। विष्णुदास के घर बार-बार होनेवाली हरिध्वनि दिशाओं को कँपाती हुई अनन्त आकाश में फैल रही है। विष्णुदास श्रीतुलसी चौरे में बैठे श्रीचैतन्यचरितामृत पढ़ रहे हैं। पूर्ण चन्द्र की उज्ज्वल चाँदनी जड़ जगत् की छाती पर छिटक पड़ी है। जड़ जगत् के जड़ भावापन्न जीवगण उस चाँदनी को देख कल्पना के विमान पर सवार हो कितने ही चन्द्रलोक, सूर्यलोक, ... लोक और परलोक का दर्शन कर रहे हैं। सुन्दर कविता की सृष्टि कर, कितने ही लोग अञ्जलि प्रदान कर रहे हैं। किन्तु जिस प्रस्तरमय गिरिगह्वरपूर्ण श्रीहीन चन्द्र की क्षणिक उज्ज्वल किरणों से जगत् उद्भासित और जगत्-निवासी उल्लासित हैं, आज परम श्री व कैरव-चन्द्रिका वितरणकारी श्रीगौर-चन्द्र का उदय अपने स्वरूप को प्रकट करने पर उद्यत है।

तुलसी चौरे के चारों ओर विष्णुदास के मित्रगण बैठे हैं। वे सब लोग भावनिर्जित चित्त से, विशुद्ध मन से श्रीचरितामृत के और श्रीगौरसुन्दर के संसार में आविर्भाव की चर्चा सुन रहे हैं, इसी समय रास्ते में मृदंग और करताल पर मधुर कण्ठ से कीर्त्तन करते हुए कुछ लोग आये। उच्च कीर्त्तन की ध्वनि से पाठ किसी को सुनाई न दिया। सुतरां विष्णुदास कुछ देर के लिये मन ही मन पाठ करने लगे।

इसी समय विष्णुदास का पुत्र कौतूहलवश पूछ बैठा,—"प्रभो, यह किसका गाना है?"

विष्णुदास—मतवाले का गाना।

पुत्र—मतवाले इतना अच्छा गा सकते हैं? उसकी आवाज़ में तो मतवाले-पन के कोई लक्षण नहीं पाये जाते। खूब अच्छा गाना हो रहा है। तब आप उसे मतवाला क्यों कहते हैं? गले की आवाज़ से जान पड़ता है, कि हमारे ज़िला-स्कूल के द्वितीय शिक्षक रायसाहब मदनदास वंद्योपाध्याय और उनके साथ मृदंग बजाने वाले शायद लम्बे-लम्बे बालोंवाले ब्रजवासी हैं। ज़रा देख आऊँ? (यह कहकर पुत्र दौड़ के देखने गया, फिर लौट आ के उसने कहा). —हाँ प्रभो! वही हैं। वही रायसाहब हैं और ब्रजवासी। तब आप इन लोगों को मतवाला क्यों कहते हैं?

विष्णुदास—मतवाले क्या करते हैं, जानते हो? अपने स्वरूप, स्वभाव, स्वधर्म आदि सबको भूल जो विरूप के धर्म का अवलम्बन करते हैं, उन्हें ही मतवाला कहते हैं। लोग नशीली चीज़ें पीते हैं, मतवाले बनते हैं, उनके शरीर के कितने ही तमाशे हम लोगों को दिखाई देते हैं। किन्तु इस संसार में अधिकांश जीव मायादेवी की मोहमदिरा को पीकर मतवाले बन बैठे हैं। जीव अपने कृष्णदास का स्वरूप, कृष्णदासस्वरूपी अपने धर्म, कृष्णभाक्तस्वरूपी स्वाभाविक कृत्य, कृष्ण-दास्य सूचक अपने परिचय को भूल, माया के आकर्षण में पड़ अपने स्वरूप को भूल गये हैं,—स्वधर्म को छोड़ बैठे हैं स्वनाम का परिचय त्याग चुके हैं।

पुत्र—क्यों प्रभो, गले में माला पहन कर "श्रीकृष्ण चैतन्य और प्रभुनित्यानन्द" कहते हुए नृत्य और मधुर कीर्त्तन कर रहे हैं, वह क्या जीव का धर्म नहीं है? जो ब्रजवासी मृदंग बजा रहे हैं, वह क्या जीव का धर्म नहीं है?

विष्णुदास—नहीं, क्या मतवाला चलना फिरना या गाना नहीं जानता? किन्तु वह चलना फिरना या गाना मतवालापन नहीं है, उसके चलने फिरने या गाने में क्या मतवालापन दिखाई नहीं देता? समझदार आदमी की भाँति मतवाले भी सब कुछ करते हैं। किन्तु उसमें मतवाले पन का एक विशेष लक्षण होता है। इसी से मतवाले का कोई काम काम नहीं माना जाता। ठीक है न?

पुत्र—हाँ, किन्तु मैं आपकी बात का मतलब नहीं समझ सका। आप एकाएक रायसाहब जैसे एक श्रेष्ठ और गण्यमान्य मनुष्य को विशेषतः जिनका कीर्त्तन सुनने के लिये कितने ही ज़मींदार,

वकील, एटर्नी, कितनी ही हरिसभायें, स्तुति सभा, साहित्य सभा सदा लालायित रहते और जिनका कीर्त्तन न होने से उस सभा के सभी काम उत्साह-हीन रहते हैं, उन्हें आप मतवाला बना रहे हैं। यह बात कुछ विचित्र सी जान पड़ती है।

विष्णुदास—हाँ, ऐसा ही है; केवल तुम्हीं नहीं;—जन्म, ऐश्वर्य, पाण्डित्य और रूप इन चारों प्रकार या इनमें से किसी एक प्रकार की मदिरा पीकर जो लोग मतवाले होते या जिनकी इस प्रकार मदिरा-पान की बढ़ती के साथ-साथ मतवालापन भी बढ़ता जाता है, वे रायसाहब ही क्यों न हों, रायबहादुर, सर, के. सी. आई. ई. ही क्यों न हों, उद्भिद विद्याविद् और विज्ञानविद् क्यों न हों सभी इस मतवालेपन की बातों को सुन नाराज़ और क्रुद्ध हो अपने को अपमानित समझेंगे। किन्तु यदि वे लोग इन चारों प्रकार की मदिराओं को अपने घर में न रख मदिरा बेचने वालों के यहाँ रखकर इस मदिरापान की परिणति मतवालेपन को समझने की इच्छा करें, तो वे हमारी इस बात के मर्म को समझ सकेंगे।

पुत्र—तब क्या हमारे कॉलेज के दर्शन शास्त्र के अध्यापक मिस्टर दास भी कीर्त्तन रूपी मतवालापन दिखाते हैं? अभी उस दिन हमारे "टाउन हाल" में साहबों के साथ तमाम सभ्य और विज्ञ लोगों ने उनका कीर्त्तन सुन वाहवाही की है और उनका कीर्त्तन सुनने के लिये कितना आग्रह प्रकट करते थे, तो क्या वे सब के सब भ्रान्त ही हैं? वे सब मतवाले ही हैं?

विष्णुदास—देखो, जीव की जब तक देह में आत्मबुद्धि अर्थात् मैं स्त्री, पुरुष, धनी, निर्धन, प्रोफ़ेसर, वैज्ञानिक, स्वदेशभक्त, स्वाधीन, पराधीन, इत्यादि की बुद्धि रहती है, तब तक यह समझो, कि जीव में मतवालापन मौजूद है। साधारण रूप से जिन्हें मतवाला कहते हैं, उनकी वक्तृता और गाने कौन सुनता है? मतवाले का गला बहुत ही सुरीला होने पर भी कोई उसकी वक्तृता या कीर्त्तन नहीं सुनता, वरं लोग उसकी उपेक्षा कर चले जाते हैं या हँसी उड़ाते हैं; ठीक इसी प्रकार जो लोग उपरोक्त चार प्रकार के मद्यपान से विरत हैं, और जिनके घर किसी कोने में भी ऐसी मदिरा की बोतलें पाई नहीं जातीं, उनके लिये इस प्रकार के मतवालों की वक्तृता या कीर्त्तन का सुनना तो दूर रहा, वे इस काम को कुकार्य कहते और उसे जीव के लिये घोर अहितजनक तथा नित्य मंगललाभ में सबसे प्रधान बाधा समझ भक्तिपथ के यात्रियों को सब तरह से सदा सावधान और सतर्क करते हैं।

पुत्र—प्रभो, वैष्णवशास्त्र में वैष्णवों के लक्षण में कहा गया है, कि वैष्णव तृण से भी सुनीच हैं, वृक्ष के समान सहिष्णु हैं, अमानी और मानद हैं। अन्यान्य सम्भ्रान्त और सम्मानित मनुष्यों को इस प्रकार पागल या मतवाला कहने से क्या वैष्णवता में कमी नहीं होती?

विष्णुदास—नहीं, ऐसे विचार के अवलम्बन से सब प्रकार के आचरण का न करना ही अवैष्णवता है। मतवाले को मतवाला कहने में किसी प्रकार का सङ्कोच या दुविधा करना, मतवाले का धर्म, मतवाले के कुकार्य, मतवालापन, मतवालेपन का कारण, मदिरा का परिचय, मदिरा के उपादान आदि सब बातों में श्रद्धाहीन हो—निरपेक्ष होकर सब कुछ कहना चाहिये। इस मतवालेपन को समझा देना ही वैष्णवता है, क्योंकि वैष्णव विषय-मदिरा के मद में अन्धे मतवाले नहीं हैं और दूसरों का मतवालापन देख कृपा कर उसकी मत्तता को दूर करने में सदा सचेष्ट रहते हैं। सुतरां जो लोग उच्चकुल में उत्पन्न, धनी या क्षमताशाली, पण्डित या रूपवान् अथवा अमुक के पिता, पुत्र, स्वामी, भाई इत्यादि के रूप में परिचित या भारतवासी, अण्डमन-वासी, साइबेरिया निवासी के नाम से स्वाधीन या पराधीन समझ अपने को बिलकुल कुछ नहीं समझते, वे ही वैष्णव हैं—वे ही निष्किञ्चन हैं। वे भारतवर्ष में विचरण करते हुए भी भारतवासी नहीं हैं, अण्डमन में रहकर भी अण्डमन-प्रवासी नहीं हैं। वे लोग वृन्दावनवासी—व्रजवासी हैं। वे लोग मोटर गाड़ी में बैठकर, बिजली के पंखे के नीचे बैठकर सुदृश्य भवन में सोकर भी मतवाले नहीं होते,

लाख-लाख रुपये भी इन्हें मतवाला नहीं बना सकते। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का एक कण भी उन्हें ललचा नहीं सकता। सुतरां 'जन्मैश्वर्यश्रुतश्री' की मदिरा पीने से मतवाले रात दिन शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धमय विषय भोग के लिये लालायित रहकर गले में माला पहन, पदावली को याद कर सुललित स्वर बनाकर श्रीराधागोविन्द के गोप्य लीलारस को हाट-बजार में वितरण करने की विष-जनक और आत्म विनाशक भी कोशिश से जो अभिनय करते हैं, वह सहज शब्दों में मतवालेपन की पराकाष्ठा से और कुछ नहीं है। शुद्ध शब्दों में 'मत्त', 'मोहग्रस्त' कहते और साधारण भाषा में मतवाला कहते हैं। पूर्ण रूप से मतवालेपन को छोड़कर कीर्त्तन करना चाहिये। नहीं तो सारी कोशिश व्यर्थ है।

पुत्र — बुआ, यह मतवालापन कैसे दूर होगा? इससे तो ज्ञान पड़ता है, कि सभी मतवाले हैं। जो लोग शरीर में आत्मबुद्धि किये बैठे हैं, क्या वे इस प्रकार कीर्त्तन आदि करने से नशे के पंजे से छुटकारा पा नहीं सकते?

विष्णुदास — नहीं, करोड़ों जन्म में भी नहीं। मतवाली हालत में —

कोटि जन्म करे यदि श्रवण-कीर्तन।
तबु भी न पाय कृष्णपद प्रेमधन॥

ये सब मतवाले शुद्ध वैष्णवों को अपनी ही जैसी मतवाली अवस्था में भ्रान्त और विकल तुला से तौलते हुए वैष्णव-अपराध कर बैठते हैं। एक तो मतवाले, उसपर वैष्णव अपराधी। इस प्रकार के अपराधियों का मतवालापन दूर नहीं होता। फिर भी जो लोग अभिमानवश वैष्णव-अपराध नहीं करते, परन्तु मतवाले हैं, उनके उद्धार की चिन्ता श्रीनित्यानन्द प्रभु करते हैं। उनके दर्शन, स्पर्शन और चिन्तन से ही सब मतवालों का मतवालापन दूर होता है। बङ्गाल का आज परम सौभाग्य और भारत के लिये आज परम आनन्द का दिन है। समस्त विश्व में आज महोत्सव का समय उपस्थित है; क्योंकि—

"अक्रोधी परमानन्द नित्यानन्द राय"

विश्वासियों के मोह को दूर करते हैं, उनके सब पापों को धो बहाते हैं, चण्डाल को भी आग्रह के साथ प्रेम प्रदान करते हैं।

श्रीजगदानन्द पण्डित गोस्वामी

पण्डित श्रीजगदानन्द श्रीमहाप्रभु के बहुत ही प्रिय-पार्षद थे। आदि कवि श्रीठाकुर वृन्दावनदास ने मध्य-खण्ड के प्रायः प्रति अध्याय के मंगलाचरण में श्रीगौरसुन्दर के लिये "जय-जय श्रीजगदानन्द प्रिय अतिशय", "जय श्रीजगदानन्द के जीवन" इत्यादि वाक्यों से स्तुति की है। श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी ने भी "पण्डित जगदानन्द प्रभु के प्राणरूप" इत्यादि वाक्यों द्वारा यह वर्णन किया है, कि श्रीजगदानन्द श्रीमन्महाप्रभु के एक बड़े ही प्रिय पार्षद थे। कवि कर्णपुर-रचित श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक में भी जगदानन्द पण्डित के साथ श्रीगौराङ्गसुन्दर की प्रेम-लीला का उदाहरण दिखाई देता है। कवि कर्णपुर ने अपने श्रीगौर-गणोद्देश-दीपिका में जगदानन्द को सत्यभामा-स्वरूप बताया है, —

'केनापान्तरभेदेनभेदं कुर्वन्ति सात्वताः।
सत्यभामाप्रकाशोऽपि जगदानन्द पण्डितः॥"

(गौ० ग० ५१ संख्या)

श्रीप्रेम-विवर्त्त ग्रन्थ में श्रीजगदानन्द ने जो आत्म-परिचय प्रदान किया है, उससे ज्ञान पड़ता है, कि जगदानन्द बहुत ही बचपन से श्रीगौर-

सुन्दर के एक प्रधान संगी थे। बचपन में वे दोनों एक साथ पाठशाला में पढ़ते और दोनों एक साथ मिलते। इसी प्रकार के खेल खेला करते थे। जगन्नाथ मिश्र और शची देवी दोनों ही जगदानन्द को पुत्र की तरह प्यार करते और निमाई तथा जगदानन्द को एक साथ पाठशाला में भेजते थे। निमाई भी जगदानन्द के घर जाकर अकसर भोजन आदि किया करते थे। जब श्रीमन्महाप्रभु नित्यानन्द, गदाधर, मुकुन्द, गोविन्द और ब्रह्मानन्द आदि भक्तों के साथ नीलाचल पर आये, उस समय जगदानन्द भी उनके साथ थे। श्रीमन्महाप्रभु ने गदाधर पण्डित को टोटा गोपीनाथ की सेवा और जगदानन्द को समुद्र के किनारे गिरिधारी की सेवा प्रदान किया। गौड़ देश से जो सब भक्त आते उन्हें श्रीमन्महाप्रभु जगदानन्द के पास रहने को कहते थे। श्रीगौरसुन्दर के द्वितीय स्वरूप, स्वरूप दामोदर और जगदानन्द दोनों ही, दोनों के प्रियतम थे। जब जगदानन्द ने 'प्रेम-विवर्त्त ग्रन्थ' की रचना की, तब श्रीस्वरूप गोस्वामी ने भी जगदानन्द को श्रीमन्महाप्रभु के जीवनचरित के सम्बन्ध में लिखने के लिये उत्साहित किया था।

श्रीगौरसुन्दर के नीलाचल आने के समय जगदानन्द ने श्रीमन्महाप्रभु के दण्ड को वहन किया था। सुवर्णरेखा के समीप जगदानन्द श्रीमन्महाप्रभु के दण्ड को नित्यानन्द के पास रख भिक्षा की खोज में चले गये। इसी अवसर में अवधूत नित्यानन्द ने गौरसुन्दर के दण्ड-भङ्ग की लीला कर डाली। जगदानन्द पाक-कार्य में बहुत ही सुदक्ष थे। श्रीचैतन्यभागवत और श्रीचैतन्यचरितामृत में स्थान-स्थान पर इनका परिचय मिलता है।

श्रीप्रेमविवर्त्त ग्रन्थ से दिखाई देता है, कि जगदानन्द ने बचपन में शिवानन्द सेन से गीता और भागवत आदि शास्त्रों का अध्ययन किया और शिवानन्द सेन के घर भोग के लिये रसोई बनाते-बनाते पाक बनाना सीखा।

एक दिन नीलाचल पर जगदानन्द सनातन प्रभु के साथ मिले, सनातन ने उनसे अपने दुःख का निवेदन करते हुए कहा, "पण्डित, मैं नीलाचल पर अपना दुःख दूर करने को आया, किन्तु महाप्रभु मेरे जैसे अस्पृश्य के मना करने पर भी मेरा आलिङ्गन किया करते हैं। विशेषतः मेरे शरीर में खाज हो गया है, वह प्रभु के शरीर में भी लग सकता है, इससे मुझे बड़ा अपराध होता है।' जगदानन्द ने श्रीसनातन से कहा,—"आप वृन्दावन में जाकर निवास करें, वहीं आपके लायक वास-स्थान है।" एक दिन महाप्रभु ने बलपूर्वक सनातन का आलिङ्गन किया। श्रीसनातन ने बहुत ही दुःखित हृदय से महाप्रभु से कहा, "प्रभो! मुझे वृन्दावन जाने की आज्ञा दीजिये। जगदानन्द पण्डित ने भी मुझे वृन्दावन जाने की सलाह दी है। क्योंकि यहाँ रहकर मैं आपकी सेवा में विघ्न पहुँचाता हूँ।" यह बात सुन महाप्रभु ने जगदानन्द के प्रति तिरस्कार लीला दिखाते हुए कहा,—"कल का छोकरा जगा" इतना अहङ्कारी हो गया, कि गुरु तुल्य तुम्हें भी उपदेश देने की हिम्मत करता है। तुम मेरे भी उपदेशक हो, किन्तु उस दिन का बालक जगदानन्द तुम्हें उपदेश करता है? "आप ही भक्त की महिमा समझते और भगवान की गूढ़ लीला को हृदयङ्गम कर सकते हैं। हम बहिर्मुख बद्ध जीव अप्राकृत रस को भी प्राकृत के समान ही समझते हैं।" श्रीसनातन महाप्रभु के पैर पकड़ कर कहने लगे,—आज मैं जगदानन्द के सौभाग्य को समझ गया। जगदानन्द बड़े ही भाग्यवान् और मैं बड़ा ही अधम हूँ।

> आपके सौभाग्य का आज हुआ ज्ञान।
> जगत् में नहीं जगदानन्द सम भाग्यवान॥
> जगदानन्द को पिलाओ आत्मीयता सुधारस।
> मुझे पिलाओ गौरव स्तुति निम्ब-निशिन्दरस॥

एक साल रथयात्रा के बाद शची माता के लिये प्रसाद वस्त्र लेकर जगदानन्द गौड़ देश में आये। शची माता भी भक्त जगदानन्द को पाके बहुत ही आनन्दित हुईं। जगदानन्द अद्वैत आचार्य, वासुदेव, मुरारी गुप्त प्रभृति भक्तों के साथ मिलने को गये। सभी लोग जगदानन्द के मुख से उत्कण्ठा के साथ श्रीगौरसुन्दर की लीला-कहानी सुनते हुए विह्वल हो उठे।

चैतन्य के प्रेमपात्र जगदानन्द धन्य।
जिनसे मिलें वहीं जाने मेरे श्रीचैतन्य॥

जगदानन्द शिवानन्द सेन के घर ठहरे। वहाँ से 'चन्दनादि तेल' तैयार कराके एक बड़े घड़े में भरकर बड़े ही यत्न के साथ महाप्रभु के वास्ते नीलाचल पर ले आये। महाप्रभु के सेवक गोविन्द के पास उसे रख उन्होंने महाप्रभु के मस्तक पर उसके मले जाने का अनुरोध किया। श्रीगौरसुन्दर स्वयं सत्य पुरुष होने पर भी लोकशिक्षक थे; उन्होंने गोविन्द से कहा, कि "तेल के व्यवहार का संन्यासियों को अधिकार नहीं, उस पर यह सुगन्धित तेल है। अतएव यह तेल जगन्नाथदेव के प्रदीप के लिये दिया जाय।" गोविन्द ने जगदानन्द से यह बात कही। गोविन्द ने फिर दस दिन बाद महाप्रभु से जगदानन्द पण्डित के अनुरोध को प्रकट किया। महाप्रभु ने गोविन्द से कहा,—"यदि मैं सुगन्धित तेल का व्यवहार करूँ तो लोग 'दारी-संन्यासी' कह कर मेरा उपहास करेंगे।" प्रातःकाल जब जगदानन्द महाप्रभु के पास आये, तब गौरसुन्दर ने कहा,—"जगदानन्द, तुम यह तेल जगन्नाथ देव के प्रदीप में जलाने के लिये दे दो। इससे तुम्हारा सारा परिश्रम सफल हो जायगा। मैं संन्यासी होकर कैसे तेल का व्यवहार करूँगा?" यह सुनकर जगदानन्द मन ही मन बहुत दुःखी हुए; उन्होंने अपने अभीष्ट देव की सेवा न कर सकने की वजह प्रेम के कोपवश कोठरी में से तेल का भरा घड़ा उठा कर महाप्रभु के सामने ही आँगन में ला पटका; इसके बाद अपनी कोठरी में जा किवाड़ बन्द कर सो रहे।

यह जानकर, कि जगदानन्द इस प्रकार उपवास कर पड़े हुए हैं, तीसरे दिन श्रीमन्महाप्रभु जगदानन्द के घर के दर्वाज़े पर जा आवाज़ देकर कहने लगे, "आज दोपहर में मैं तुम्हारे यहाँ भिक्षा करूँगा, तुम रसोई बनाओ।" यह सुन जगदानन्द ने उठकर बहुत प्रकार के व्यञ्जनादि बना बड़े शौक़ से महाप्रभु को खिलाया और फिर महाप्रभु के बार-बार अनुरोध करने पर उनका प्रसाद ग्रहण किया। इस प्रसंग में श्री कविराज गोस्वामी प्रभु ने लिखा है,—

जगदानन्द प्रभु प्रेम चले यहि भाँत।
सत्यभामा कृष्ण कथा जैसे भागवत॥
जगदानन्द-सौभाग्य की कैसा करें सीमा।
जगदानन्द सौभाग्य की वही है उपमा॥
जगदानन्द प्रेमवार्ता सुने जो जन।
प्रेम का स्वरूप जाने पायें प्रेम-धन॥

नीलाचल पर विरत की मूर्ति श्रीगौरसुन्दर केले के छिलकों पर सोते हैं, यह देखकर जगदानन्द के मन में बहुत ही कष्ट हुआ। उन्होंने महाप्रभु के लिये गद्दा और तकिये तैयार करवाये। किन्तु लोकशिक्षक श्रीमन्महाप्रभु ने उसे ग्रहण नहीं किया। बाद को स्वरूप गोस्वामी ने केले के रेशे निकाल, निकालकर गद्दा और तकिये तैयार करा दिये, बड़ी आपत्ति करने के बाद महाप्रभु उन्होंने स्वीकार किया। यह देख औरों को सुख होने पर भी जगदानन्द की इच्छा पूर्णरूप से पूरी न होने पर वे भीतर और बाहर से बहुत ही दुःखित हुए।

बहुत दिनों से मन के दुःखी रहने से जगदानन्द की इच्छा वृन्दावन जाने की थी। किन्तु महाप्रभु की आज्ञा न देने से वे वृन्दावन जा नहीं सकते थे। दुःख का कारण यही था, कि वे जो सर्वदा प्राणपति की सेवा करते न पाते थे। सेवा के लालची सेवकों में ऐसा ही भाव होता है।

प्रभु कहें मथुरा जैहो हमसे रोष करी।
मुझे दोष देके तुम होओगे भिखारी॥

जगदानन्द ने अभिमान के साथ प्रभु के चरणों में गिरकर कहा,—"प्रभो, पहले भी मैंने वृन्दावन जाने के लिये इच्छा प्रकट की थी, किन्तु आज्ञा नहीं मिली; अब अनुमति दीजिये।"

किन्तु महाप्रभु ने किसी तरह भी जगदानन्द को नहीं छोड़ा। क्योंकि महाप्रभु जानते थे, कि जगदानन्द उस वृन्दावन में जाना नहीं चाहते। जगदानन्द भी जानते थे, कि जहाँ महाप्रभु हैं, वहीं वृन्दावन है। अभिन्न व्रजेन्द्रनन्दन श्रीगौरसुन्दर जहाँ विराजते हैं, उसी जगह स्वरूप-चैतन्य वृन्दावन परिषद्गण के साथ वर्तमान है। महाप्रभु के पास से लौटकर तब जगदानन्द पण्डित श्रीस्वरूप गोस्वामी के पास आये। जगदानन्द ने श्रीस्वरूप

गोस्वामी प्रभु से कहा, "महाप्रभु मुझ पर क्रोध प्रकाशित कर कहते हैं, कि जाओ; किन्तु सरल चित्त से आज्ञा नहीं देते। अतएव आप प्रभु से आज्ञा दिला दीजिये।" श्रीस्वरूप गोस्वामी प्रभु की बातों पर महाप्रभु ने आज्ञा दे दी और उन्हें बुलाकर समझा दिया, कि किस राह से कैसे जाना चाहिये और किस राह में कैसे डाकुओं और चोरों का भय है। और भी समझा दिया, कि मथुरा में जाकर सदा सनातन के साथ रहना। मथुरा के रहनेवालों पर दूर ही से भक्ति रखना, उनका सङ्ग न करना। जिन्होंने रागमार्ग नहीं पाया, उनके लिये व्रजवास करना उचित नहीं; व्रज का दर्शन करके शीघ्र चले आना ही उचित है। सनातन प्रेमी भक्त हैं, सुतरां प्रणयी भक्त के साथ ही श्रीकृष्ण के लीलास्थान वनादि का दर्शन करना चाहिये। गोपाल के दर्शन के लिये गोवर्द्धन पर न चढ़ना गोवर्द्धन साक्षात् भगवान् की श्री-मूर्त्ति हैं। सनातन से कहना, कि मैं भी शीघ्र ही वृन्दावन आऊँगा। मेरे लिये जगह ठीक रखेंगे। महाप्रभु ने यह सब उपदेश दे जगदानन्द का आलिङ्गन कर उन्हें विदा किया। जगदानन्द भी महाप्रभु के चरणों में प्रणाम कर भक्तों की आज्ञा लेकर वन की ओर चले। धीरे धीरे काशी में आ पहुँचे, वहाँ तपनमिश्र और चन्द्रशेखर से मुलाक़ात हुई, उन लोगों से उन्होंने महाप्रभु की बातें कहीं। कुछ दिन में जगदानन्द मथुरा में आकर श्रीसनातन गोस्वामी प्रभु से मिले। दोनों ही कृष्ण-चर्चा के रङ्ग में आनन्द से दिन बिताने लगे। श्रीसनातन ने जगदानन्द को द्वादश वन के दर्शन कराये। दोनों ही महावन का दर्शन कर गोकुल में रहे। सनातनजी गुफा में रहते थे, उन्हींके साथ जगदानन्द पण्डित भी रहे। श्रीसनातन कभी महावन, कभी देवालय और कभी व्रजवासियों की मधूकरी में मिली रोटी के टुकड़े ग्रहण कर जीवन निर्वाह करते थे। किन्तु जगदानन्द पण्डित बिना भात के काम न चलने से नित्य देवालय में जाकर रसोई बनाते थे। व्रज के देवालयों में दाल-भात का प्रसाद नहीं होता। श्रीसनातनजी ही पण्डित के लिये अन्नादि माँग लाते और सामान जुटा देते थे।

एक दिन जगदानन्द पण्डित ने श्रीसनातन प्रभु को निमन्त्रण दिया। पण्डित ने नित्य-क्रिया समाप्त कर रसोई चढ़ाई, इसी समय सनातनजी मुकुन्द सरस्वती नामक एक संन्यासी के दिए हुए गेरुआ वस्त्र को माथे पर बाँध जगदानन्द के घर के दर्वाजे पर आ बैठे। पण्डित ने मन में समझा, कि यह गेरुआ वस्त्र निश्चय ही महा-प्रभु का प्रसाद-वस्त्र है। सुतरां उस वस्त्र को देख महाप्रभु की याद आने से पण्डित प्रेमाविष्ट हो पड़े। पण्डित ने सनातनजी से पूछा, कि यह रँगा वस्त्र आपने कहाँ से पाया? सनातन ने मुझे कहा,—इसे मुकुन्द सरस्वती नामक एक संन्यासी ने दिया है। सनातनजी की यह बात सुन जगदानन्द पण्डित क्रोध से भात की हाँडी लेकर उन्हें मारने को तैयार हुए और क्रोध के साथ कहने लगे कि सनातन प्रभु, आपने महाप्रभु के प्रियतम और प्रधान पार्षद होकर दूसरे संन्यासी के वस्त्र को शिर पर धारण किया है। आपके इस दीनता प्रकट करनेवाले काम को देख इसे कौन सह सकेगा? सनातनजी ने कहा,—जगदानन्द, यह चैतन्यनिष्ठा आपके ही योग्य है। आप यदि इस प्रकार गौरनिष्ठा न सिखायेंगे, तो हम लोग कैसे सीखेंगे? मैंने जो दूसरे का वस्त्र माथे पर बाँधा था, उसका उद्देश्य सफल हो गया। आज मैंने अपूर्व प्रेम को प्रत्यक्ष देखा। वैष्णवगण परमहंस हैं—वे वर्ण और आश्रम-धर्म के अतीत हैं, सुतरां वैध संन्यासियों के पहननेवाले गेरुआ वस्त्र को पहन कर उन्हें आश्रम का निर्देश करना नहीं पड़ता; फिर भी समय-समय पर (माधवेन्द्र पुरी आदि) परमहंस वैष्णव भी जो गेरुआ वस्त्र धारण करते हैं, यह उनका दैन्य-प्रकाश है। वे अपने को वर्णाश्रम से अतीत परमहंस वैष्णव के वेश के अयोग्य समझ दीनता के साथ वैष्णवों के अयोग्य आश्रमोचित गेरुआ वस्त्र पहना करते हैं। किन्तु मैं बहुत ही दीनहीन हूँ, मेरे प्राण-प्रभु श्रीगौरहरि ने जिस वेश को स्वीकार किया है, उनका किङ्कर होकर मैं उनके समान वेश धारण कर नहीं सकता।

अतएव मैं इसे किसी विदेशी को दे देता हूँ; इसकी मुझे कोई आवश्यकता नहीं। जगदानन्द ने रसोई तैयार कर श्रीचैतन्य को निवेदन किया और इसके बाद दोनों ने बैठ कर महाप्रसाद का सम्मान किया। कुछ दिन बाद जगदानन्द नीलाचल की ओर चले। श्रीसनातन ने जगदानन्द को रासस्थली की बालू, गोवर्द्धन का पत्थर, सूखे और पके पीलूफल और घुँघचियों की माला भेंट में दिया। श्रीसनातन द्वादश आदित्य के टीले पर एक पुराना मठ पा गये; उन्होंने महाप्रभु के लिये उसी मठ को साफ करा रक्खा। श्रीमन्महाप्रभु और भक्तगण जगदानन्द को फिर नीलाचल पर पाके बहुत ही आनन्दित हुए। श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीगौरसुन्दर हर साल वात्सल्यरस से भरी विरह-कातरा अभिन्न यशोमति श्रीशचीदेवी की सान्त्वना के लिये जगदानन्द पण्डित के हाथ श्रीजगन्नाथ देव के गोपवंश-सम्बन्धी प्रसाद-वस्त्र के साथ नीलाचल से गौड़ में भेजते थे। वे जगदानन्द से कह देते थे, कि मा से कहना, —

तव सेवा छोड़ि मैंने लिया संन्यास।
पागल होके मैंने किया है धर्मनाश॥
यह अपराध तुम न गिनो हमार।
तुम्हरे अधीन हूँ मैं पुत्र हूँ तुम्हार॥
+ + +
मातृभक्तगण में प्रभु होके शिरोमणी।
संन्यास ले के भी सदा सेवें जननी॥

मनोधर्मी, अतत्त्वज्ञ, भारवाही संसारी लोगों में कोई-कोई श्रीगौरसुन्दर की इस लीला के मर्म को न समझ अपने-अपने संसारी विचार से यह कहा करते हैं, कि महाप्रभु ने संन्यास लेकर अन्याय किया था इसे उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया है। और कोई-कोई कहते हैं,—जगद्गुरु महाप्रभु जब संन्यासी होकर भी माता के लिये ममता और मातृ-सेवा का निदर्शन दिखा गये हैं, तब वह हम लोगों के लिये भी अनुकरणीय है अर्थात् हम लोगों को भी अपने मातापिता के प्रति आसक्त होना चाहिये।

इन्द्रिय की ताड़ना से ताड़ित, गृहासक्त और देहासक्त, अज्ञान रूपी अन्धकार में पड़े हुए, अविद्या से आच्छन्न, दैवीमाया के कराल ग्रास से ग्रस्त, द्वितीयाभिनिविष्ट माया के किङ्कर बद्धजीव हमलोग "आत्मवत् मन्यते जगत्" के न्याय के अनुसार श्रीभगवान् के साथ अपनी समानता मानना चाहते हैं। मायावश जीव और मायाधीश श्रीनारायण को समान समझना क्या हम लोगों की पाषण्डता या नास्तिकता का चरम दृष्टान्त नहीं है? श्रीगौरसुन्दर साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन और उनकी माता साक्षात् यशोमति —इनका अप्राकृत वात्सल्यरस और प्राकृत मातापुत्र का जड़ीय योनी-सम्बन्ध क्या कभी समान हो सकता है? क्या हम काम और प्रेम को एक ही वस्तु कह सकते हैं?

'काम' 'प्रेम' दोनों के है विभिन्न लक्षण।
लोहे-सोने जैसा होना स्वरूप विलक्षण॥
(चै० च० आदि ४ र्थ)

लोहे और सोने के रूप में जैसा अलगाव है, वैसे ही एक जातीय होने पर भी काम और प्रेम के लक्षणों में अलगाव है। श्रीभगवान् ने चै० च० आदि ४ र्थ में कहा है,—

मेरे पुत्र, मेरे सखा, मेरे प्राणपति।
एहि भाँति मुझसे करे जो शुद्धभक्ति॥
अपने को बड़ा माने मेरे सम हीन।
एह भाँति होता मैं उसके अधीन॥

अतएव हम संसारी जीव यदि माया के राज्य में रहते हुए भोग का चश्मा पहन, शुद्ध-वात्सल्यरस का सौन्दर्य देखने को आगे बढ़ें, तो अप्राकृत वस्तु को प्राकृत के समान ही देख बैठेंगे।

अप्राकृत वस्तु को भोग की आँखों से देखने के कारण ही जगत् में प्राकृत सहजिया, आउल-बाउल प्रभृति कितने ही कृष्ण-विमुख भोगी कुसम्प्रदायों की सृष्टि हुई है। इस लीला द्वारा जगद्गुरु श्रीगौरसुन्दर एक ओर अपने मर्मी तत्त्वज्ञ भक्तों को, शची देवी के साथ अपने शुद्ध वात्सल्यरस के माधुर्य और सौन्दर्य को दिखला रहे हैं और दूसरी ओर, बद्ध जगत् को भी अर्जुन के आगे गीता के चरम श्लोक में जो उपदेश दिया और उद्धव-गीता में श्रीउद्धव को (११। ४। ३७ श्लोक में) जो कुछ कहा है, उसकी शिक्षा दे रहे हैं। अर्थात् कृष्ण के शरणागत होने के लिये यदि

किसी को मातृ सेवा-पितृसेवा रूपी गृहस्थाश्रम-धर्म को परित्याग भी करना पड़े, तो कोई रुकावट नहीं। श्रीमद्भागवत में है,—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां
न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम्।

अर्थात्, मनुष्य यदि काम का परित्याग कर एक मात्र शरण्य श्रीकृष्ण के चरणों की शरण आते हैं, तो उनका देवता, ऋषि, अन्यान्य मनुष्य, आत्मीय और पितृ-गण का ऋण न चुकाये जाने पर भी चुकता हो जाता है। स्वयं श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है,—(चै० च० मध्य २२। २३)

काम त्यागि कृष्ण भजे शास्त्राज्ञा मानी।
देव ऋषि-पितृ-ऋण, रहे नहीं ऋणी॥

श्रीगौरसुन्दर ही यथार्थ मातृभक्त-शिरोमणि हैं। उन्होंने सन्यास लेने से पहले माता से कहा था,—

औरों के तनय लावें रजत कञ्चन।
मैं लाके दूँ माता, कृष्णप्रेम धन॥

श्रीगौरसुन्दर ने अपनी माता की ऐसी ही सेवा की थी। उन्होंने माता को उपदेश देते हुए और भी कहा था,—

सोई हैं परम बन्धु सोई माता पिता।
कृष्ण के चरण जो हैं प्रेम-भक्ति दाता॥
सकल जनम माता पिता सब पाय।
कृष्ण-गुरु नहिं मिलें, भजो मननाय॥

जो माता के द्वारा लालित और पुष्ट शरीर पाकर हरिभजन करते हैं, उनके ही शरीर द्वारा यथार्थ में शुद्धरूप से माता की सेवा होती है; नहीं तो केवल माता-पुत्र का अङ्गीय भोगी देह का सम्बन्ध लगने से जीव को कर्ममार्ग में जाना पड़ता है। कवि तुलसीदास ने अपने किसी दोहे में कहा है, कि मूत्र और पुत्र के निकलने की राह एकही है; यदि श्रीराम का भजन करे, तो वही माता का यथार्थ पुत्र और उसकी ही गर्भधारिणी धन्य है। यदि ऐसा न करे, तो वह पुत्र मूत्र के समान त्याज्य और घृण्य है। भगवान सदा ही भक्त के वश होते हैं। वैसे ही श्रीगौरसुन्दर भी शुद्ध वात्सल्य से शचीदेवी के नित्य अधीन थे।

जगदानन्द शचीदेवी के यहां एक महीने रहे। उन्होंने शची माता को श्रीगौरसुन्दर के गुण सुना-सुनाकर धैर्य दिलाया। जगदानन्द अद्वैत आचार्य आदि भक्तों से भी मिले। बाद को उन्होंने शची माता और अद्वैत प्रभु की आज्ञा लेकर नीलाचल को लौट जाने का उद्योग किया।

युगधर्म

पूर्वकाल के शास्त्रकारों ने मनुष्य के हृदय में भगवद्भाव के उदय काल से अब तक क्रम-उन्नति का जैसा लक्ष्य किया है, उसी की आलोचना करते हुए युगभेद से तारक ब्रह्म का भी क्रम विकाश दिखाया है। सत्य युग के तारक ब्रह्म का नाम है,—

नारायणपरा वेदा नारायणपराक्षरा।
नारायणपरा मुक्ति नारायणपरा गतिः॥

इसका मतलब यह, कि विज्ञान, भाषा, मुक्ति और चरम गति—इन सब विषयों के आस्पद नारायण हैं। ऐश्वर्यगत परब्रह्म का नाम नारायण है। वैकुण्ठ और जिन पार्षदों का वर्णन है, उस में नारायण रूप भगवद्भाव पूर्णरूप से दिखाई देता है। इस अवस्था में शुद्ध शान्तभाव दिखाई देता है।

रामनारायणानन्त मुकुन्द मधुसूदन।
कृष्ण केशव कंसारे हरे वैकुण्ठ वामन॥

यह त्रेतायुग के तारक ब्रह्म का नाम है। इसमें जिन नामों का उल्लेख है, उनमें ऐश्वर्यगत नारायण

के विविध विक्रम सूचित होते हैं। ये शान्त और दास्यभाव-परायण हैं।

हरे मुरारे मधुकैटभारे,
गोपाल गोविन्द मुकुन्द सौरे।
यज्ञेश नारायण कृष्ण विष्णो,
निराश्रयं मां जगदीश रक्ष॥

ये द्वापर युग के तारक ब्रह्म के नाम हैं। इसमें जिन सब नामों का उल्लेख है, उनसे निराश्रित मनुष्यों के आश्रयरूप कृष्ण का महत्व होता है। इसमें शान्त, दास्य और गौरव-मिश्र भाव का प्राबल्य दिखाई देता है।

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

ये कलियुग के तारक ब्रह्म के नाम हैं। इसे ही सब से अधिक ममताविश्रम्भ भाव-प्रकाशक नाम मन्त्र समझना चाहिये। इसमें कोई प्रार्थना नहीं। ममता युक्त समस्त रसों का उद्दीपन इसमें दिखाई देता है। भगवान् के किसी प्रकार के ऐश्वर्य या मुक्तिदातृत्व का परिचय नहीं है। केवल इतना ही व्यक्त है, कि आत्मा परमात्मा-द्वारा किसी अज्ञात प्रेम सूत्र से आकृष्ट हो रहा है। अतएव माधुर्य-आश्रित विश्रम्भ-सेवा के प्रार्थी मनुष्यों के सम्बन्ध में यह नाम एक मात्र मन्त्र स्वरूप है। हर समय इसकी आलोचना ही एक मात्र उपासना है। सारग्राही मनुष्यों के लिये यज्ञ, व्रत, अध्ययन आदि सभी पारमार्थिक अनुशीलन इसी नाम में है। इसमें देश-काल और पात्र का विचार नहीं है। इस घोर पापाच्छन्न कलियुग में मनुष्यों को अल्पायु, क्षुद्र-बुद्धि, हीनबल, मन्दमति देखकर कलिक-मषहर पतित पावन श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र ने नवद्वीप-धाम में श्रीगौराङ्ग के रूप में अवतीर्ण हो कलियुग के एकमात्र आश्रय श्रीहरिनाम का प्रचार पामर से लेकर समस्त श्रेणी के दर्वाजे-दर्वाजे किया था। उन्होंने स्वयं भक्त भाव को अंगीकार करते हुए नाम रस का स्वाद लेकर मनुष्यों को भी स्वाद लेने के लिये उपदेश दिया है। श्रीचैतन्यचरितामृत में कहा है,—

"युगधर्म प्रवर्त्ताऊँ नाम-संकीर्त्तन।
चार भाव भक्ति देके नचाऊँ भुवन॥
आप ही करूँ मैं भक्ति भाव अङ्गीकार।
आप ही आचरि भक्ति सिखाऊँ संसार॥
आप न करे से धर्म सिखाया न जाय।
यही सिद्धान्त गीता-भागवत गाय।"

यही श्रीमद्भगवद्गीता के ४ र्थ अध्याय ८ वें श्लोक में है,—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे॥

साधुओं की रक्षा, दुष्टों का विनाश और धर्म-स्थापन के लिये मैं युग युग में प्रकट होता हूँ। युगधर्म के प्रचार का कार्य भगवान् के अंशावतार द्वारा पूर्ण होता है। पृथिवी का भार हरने के लिये असुरों को मारना आदि काम, स्वयं भगवान् का काम नहीं है। श्रीचैतन्य-चरितामृत में कहा है,—

"पहले जो पृथिवी का भार हरनहार।
कृष्ण अवतीर्ण हुए शास्त्र में प्रचार॥
स्वयं भगवान् कार्य नहीं भार हरण।
स्थितिकर्त्ता विष्णु करें जगत पालन॥
पूर्ण भगवान अवतार जेहि काले।
और सब अवतार आके उनमें मिले॥
"अतएव विष्णु तहाँ कृष्ण के मँझार।
विष्णु द्वारा कृष्ण कीनों असुर संहार॥"
"युगधर्म-प्रवर्त्तन अंश से ही होय।
मुझ बिन अन्य नहीं व्रजप्रेम देय॥
इससे निज भक्तों को लेके निज सङ्ग।
पृथिवी में अवतरि करूँ नाना रङ्ग॥
यही सोच कलिकाल प्रथम सन्ध्याय।
अवतीर्ण हुए कृष्ण नदिया में जाय॥"

(चै० च० आदि ३ य परि०)

जैसे कलियुग में जीवगण सब दोषों के आकर हैं, वैसे ही हरिनाम सर्वगुणाकर है; जैसे जीव अत्यन्त शक्तिहीन हैं, वैसे ही हरिनाम सर्वशक्तिमान है; जैसे जीवगण कठिन संसार की महाव्याधियों से पीड़ित हैं, वैसे ही हरिनाम उसका एक मात्र महौषध है। इसी से शास्त्र ने कलि के जीवों के लिये युगधर्म एकमात्र हरिनाम की ही व्यवस्था

की है। ऐसा ही श्री चैतन्यचरितामृत के मध्य २० वें परिच्छेद में है,—

"शुक्ल-रक्त कृष्ण-पीत क्रम से चार वर्ण।
चार वर्ण धरि कृष्ण करें युगधर्म॥
आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनुः।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः॥

(भा० १०।८।९)

सत्ययुग में शुक्लयुगावतार, त्रेतायुग में रक्त-युगावतार, द्वापरयुग में कृष्णयुगावतार और कलियुग में पीतावतार है। कृष्ण ने चार प्रकार के वर्ण धारण कर युगावतार धर्म की रक्षा की।

सत्ययुग ध्यानधर्म करें शुक्ल मूर्ति धरि।
कर्दम को वर दीन्ह जिन कृपा करि॥
कृष्ण ध्यान करें लोग ज्ञान अधिकारी।
त्रेताधर्म यज्ञ करायें रक्तवर्ण धारी॥
कृष्णपदार्चन हुआ द्वापर का धर्म।
कृष्णवर्ण करें लोग कृष्णार्चन कर्म॥

(चै० च० मध्य २० परि०)

नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः॥

(भा० ११।५।२८)

एहि मन्त्र द्वापर कियो कृष्ण अर्चन।
कृष्णनाम सङ्कीर्तन कलियुग-धर्म॥
पीत वर्ण धारि कियो धर्म प्रवर्त्तन।
प्रेम भक्ति दियो सबै लियो भक्तगण॥
धर्म प्रवर्त्तन करि व्रजेन्द्र नन्दन।
गायें नाचें प्रेम से सब करें संकीर्त्तन॥
तीन युग ध्यानादि से जो फल आवे।
कलियुग कृष्णनाम सोई फल पावे॥

सब दोषों के स्थान कलि में एक बहुत बड़ा गुण है; इसे श्रीशुकदेव गोस्वामी महाराज ने परीक्षित् से कहा था; श्रीमद्भागवत में लिखा है,—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥
कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्य्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात्॥

(भा० १२।३।५१-५२)

हे राजन्, कलियुग को दोषों का सागर मानने पर भी उस में एक ऐसा प्रधान गुण है, जिसकी वजह कलि को अन्यान्य युगों की अपेक्षा बढ़कर बताने में भी अत्युक्ति नहीं होती। क्योंकि कलियुग में भगवान् वासुदेव के गुणों का कीर्त्तन करने से ही जीव संसार-बन्धन से छुटकारा पाकर परमपद को पहुँच जाता है; इसमें कोई सन्देह नहीं। सत्ययुग में प्राणायाम आदि द्वारा योग का अनुष्ठान करते हुए भगवान् का ध्यान करने से जो फल होता था, त्रेतायुग में बड़े खर्च से बहुत दिन तक मेहनत के साथ ज्योतिष्टोमादि यज्ञ करने से जो फल होता था और द्वापर में बड़े समारोह के साथ पूजन करने से जो सिद्धि होती था, कलिकाल में श्रीहरि के सङ्कीर्त्तन से ही वह फल मिलता है; इस में कोई सन्देह नहीं।

काशीवासी मायावादी संन्यासियों के एक मात्र गुरु प्रकाशानन्द सरस्वती के साथ श्रीमन्महाप्रभु के मिलन और बातचीत से ही हमलोग समझ चुके हैं, कि एक मात्र हरिनाम ही इस कलियुग का युगधर्म है और बिना इस के, इस अपार भवसागर से पार होने का दूसरा कोई उपाय ही नहीं। प्रभु ने स्वयं कहा है,—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(बृहन्नारदीय वचन)

हरिनाम हरिनाम हरिनाम सार।
कलिकाल नाम बिना नहीं गति पार॥

इस वर्त्तमान कलियुग में परमदयालु पतितपावन श्री गौराङ्गदेव के श्रीचरणों में एकान्त भाव से आश्रय लेना ही प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है। श्रीगौराङ्गदेव की कृपा के अतिरिक्त इस भवसागर से पार होने के लिए और कोई उपाय ही नहीं। वे ही इस कलियुग के एकमात्र पतित-उद्धारण अवतार हैं। उनके निकट जाति, धन कुल, मान, विद्या, यश, स्त्री-पुरुष, लुञ्ज, बहरे, आदि विकलाङ्ग और आश्रमादि का कोई विचार नहीं। जो एक मन होकर उनके अभयपद की शरण लेंगे, वे बिना किसी बाधा के इस अपार अकूल भवसागर को गो-खुर बराबर गड्ढे की तरह लाँघ जाते हैं। ऐसे पतितपावन अवतार

श्रीगौराङ्गदेव में जिनकी भक्ति नहीं होती, उनके उद्धार की कोटि-कोटि युग में भी सम्भावना नहीं। इसीसे कवि नयनानन्द कह गये हैं:—

कलि घोर तिमिर गरासल जगजन, धरम करम रहे दूर।
असाधन ही चिन्तामणि, विधि मिलायल आनि,
गोरा बड़े दया के ठाकुर।
भाई रे भाई, गोरा गुण कहलो ना जाय।
केते शत आनन, केते चतुरानन, वरणि ओर नाहिं पाय!
चार वेद षट दर्शन पढ़ के जो गौराङ्ग न भजे।
वृथा उसका अध्ययन, लोचन हीन मानो,
दरपन से क्या काम आवे॥
वेद विद्या जो दुहूँ न जानत,
सो यदि जाने गौराङ्ग सार।
नयनानन्द कहें सोई सब जाने,
सर्व सिद्धि करतल ओहि धार॥

श्रीमन्महाप्रभु स्वरूप दामोदर और रामानन्द राय से ही अपने हृदय के गोपनीय भावों को बीच-बीच में प्रकट किया करते थे और व्रज के निगूढ़ रस का आस्वादन उन्हींके साथ करते थे। श्रीचैतन्य चरितामृत में कहा है,—

चण्डीदास विद्यापति, राय के नाटक-गीति,
कर्णामृत श्रीगीतगोविन्द।
स्वरूप रामानन्द सङ्ग, महाप्रभु रात दिन,
गावें सुनें परम आनन्द॥

एक दिन महाप्रभु ने कलि के जीवों को उपदेश देने के बहाने दयालु ठाकुर, स्वरूप दामोदर और रामानन्द राय को सम्बोधन कर कहा—"अहो! स्वरूप दामोदर, अहो रामानन्द राय, कलियुग का युगधर्म एकमात्र हरि-संकीर्त्तन है। हरि-संकीर्त्तन से ही जीवों की सब सिद्धियाँ होती हैं। जो बुद्धिमान् हैं, वे हरि-संकीर्त्तन-यज्ञ में श्रीकृष्ण की आराधना किया करते हैं।" श्रीचैतन्यचरितामृत—अन्त्य २० श परिच्छेद में कहा है—

"हर्षित प्रभु कहें सुनो स्वरूपरामराय।
नाम संकीर्त्तन कलि में परम उपाय॥
संकीर्त्तन-यज्ञ कलि में कृष्ण आराधन।
सोई बुद्धिमान पाय कृष्ण के चरन॥"

"कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥"
(भा० ११।५।३०)

"नाम संकीर्त्तन में होता सर्वानर्थ नाश।
सर्व शुभोदय हो कृष्ण-प्रेम के उल्लास॥
संकीर्त्तन में जाय पाप संसारनाशन।
चित्तशुद्धि सर्वभक्ति उद्गम - साधन॥"

कंगालों के ठाकुर श्रीगौरहरि ने साक्षात् व्रजेन्द्र-नन्दन होने पर भी कलिहत जीवों में हरिनाम की दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये अपने को जीव समझ निम्नलिखित श्लोक पढ़ा था: यथा-पद्यावल्यां—१६ सं० भूतः श्रीकृष्णचैतन्य देवस्य शिक्षाष्टकस्य २ य श्लोक,—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन्ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः॥
अनेक लोगों की वाञ्छा अनेक प्रकार।
कृपा कर कहे अनेक नाम के प्रचार॥
खाते-सोते जहाँ तहाँ नित्य नाम लेय।
काल देश-नियम नाहीं सब सिद्धि देय॥
सर्व शक्ति दियो नाम करिके विभाग।
दुर्दैव नाम से नहीं मेरा अनुराग॥
जैसे नाम लेने सदा प्रेम उपजाय।
उसके लक्षण श्लोक सुनो स्वरूप रामराय॥
तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः॥

इसका अर्थ है,—

उत्तम होके अपने को माने तृणाधम।
हर भाँति सहनशील बने वृक्षसम॥
वृक्ष जैसे काटने से भी कुछ न चिल्लाय।
सूख के मरे तो भी पानी नहीं चाय॥
जो कोई माँगे उसे देय निज धन।
धूप वृष्टि सहे करे औरन रक्षन॥
उत्तम वही वैष्णव जो होय निरभिमान।
देवे जीव सम्मान जानि कृष्ण अधिष्ठान॥
ऐसा ही होके जो सदा कृष्णनाम लेय।
कृष्ण के चरण उसका प्रेम उपजय॥

गृहस्थ-भक्त और वैरागी

"घर में रहे कि वन को जाये, हा गौराङ्ग कह टेर बुलाये,
नरोत्तम माँगे उसका सङ्ग।"

श्री ठाकुर महाशय के इस उपदेश से जान पड़ता है, कि शुद्ध भक्त सब आश्रमों में ही रह सकते हैं। वे ब्रह्मचारी हो सकते गृहस्थ रह सकते, वानप्रस्थ हो सकते और सन्यासी हो सकते हैं; फिर भी वे इनमें से एक भी नहीं हो सकते। परम कारुणिक स्वयं अवतारी भगवान् श्री गौरसुन्दर शुद्ध भक्त के स्वरूप में कह गये हैं,—

"नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिल परमानन्द-पूर्णामृताब्धे-
र्गोपीभर्त्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः॥"

मैं स्वरूप में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र नहीं, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या यति भी नहीं, ये सब अभिमान देह की आत्मबुद्धि रूपी विवर्त्त से पैदा हुए हैं। मैं स्वरूप में श्रीकृष्ण के चरण-कमल के दास का दासानुदास हूँ। सुतरां शुद्धभक्त स्वरूप में अधिष्ठित परमहंस-तत्त्व हैं, वे वर्णाश्रम के अतीत हैं। सिर्फ़ देह-धारण के समय वर्णों और आश्रमों में से किसी एक में दिखाई देते हैं। वे ब्राह्मण और संन्यासी के गुरु हैं; उन्हें ब्राह्मण या संन्यासी से अश्रेष्ठ समझनेवाले वैष्णवगण के पास अपराधी और प्राकृत-सहजिया मात्र हैं। सुतरां भक्ति से हीन भगवान् से विमुख-रहने वाले लोग इनका सङ्ग न करें। शुद्ध भक्त अपने मुँह से सरल-हृदय से निकली हुई दीनता क्यों न दिखायें, अपना परिचय चाहे जिसे क्यों न दें वे ही ब्राह्मण-मुकुट-मणि और संन्यासी-कुल-तिलक हैं।

वे शुक्र द्वारा ब्राह्मण के अतिरिक्त किसी भी कुल में क्यों न हुए हों, ब्राह्मण-श्रेष्ठ हैं; वे गृहस्थाश्रम में दिखाई देने पर भी श्रेष्ठयति हैं। जो लोग शुक्र से उत्पन्न होनेवाले दर्प से फूले न समा श्रीमन्महाप्रभु के पारषद्-वर षड्गोस्वामी के अन्यतम दास गोस्वामी को ब्राह्मण से हीन समझ उनके सम्मान में दण्डवत् प्रणाम करने से विमुख अथवा त्यागिशिरोमणि श्रीरामानन्दराय के आचार के मतलब को न समझ उनके आदर्श पर अपना जीवन गढ़ने के बहाने जो भक्ति का अभिमान करनेवाले व्यभिचारी होते हैं, उनका सङ्ग कुसङ्ग समझकर वैष्णवों को छोड़ देना चाहिये। आचार्य और वंश के नाम से गर्वित मनुष्यों को हम श्रीदासगोस्वामी के निवेदित श्रीश्रीमहाप्रसाद का अपमान करते देख चुके हैं। यह सब प्राकृत सहजिया का व्यवहार किसी तरह भी शास्त्र सङ्गत नहीं।

कितने ही लोग समझते हैं, कि गृहस्थी में भक्त होना सहज है, अतएव अभक्त भी गृहव्रत बने रहकर गृहस्थ और भक्त बनना चाहते हैं। किन्तु वे यह नहीं समझते, कि श्रीमहाप्रभु के दासों में कोई भी गृहस्थ नहीं है, गृह धर्म अर्थात् गृहिणी का मनोरञ्जन ही उनका व्रत नहीं है, वे गृहस्थ होकर भी वैरागियों में प्रधान हैं। श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी प्रभु ने लिखा है,—

महाप्रभु के भक्तों में है वैराग्य प्रधान।
जिसे देख प्रसन्न होते, गौर भगवान॥

चाहे कोई किसी आश्रमी के नाम से परिचित क्यों न हो, वे ही प्रधान-वैरागी हैं। औरत के अञ्चलाश्रित स्त्रैण स्त्री-सङ्गी कभी गृहस्थ भक्त हो नहीं सकता। गृहस्थ-भक्त ही यथार्थ में वैरागी है। सुतरां क्या गृहस्थ-भक्त होना सन्यासी भक्त होने की अपेक्षा कठिन नहीं है? गृहस्थ भक्तराज श्रीवास पण्डित ने त्याग का जो आदर्श दिखाया था, वह क्या विरक्त संन्यासी के लिये भी आदर्श नहीं है? जिस समय श्रीवास के आँगन में श्रीमहाप्रभु कीर्त्तन-आनन्द कर रहे थे, उसी समय उनका पुत्र परलोक को प्राप्त हुआ। कीर्त्तन का रस-भङ्ग होने के भय से श्रीवास घर के सब लोगों को शोक-प्रकट करने से मना कर बहुत रात तक कीर्त्तन के आनन्द में लगे रहे। कहिये, गृहस्थ भक्त का यह आदर्श कैसा है?

कोई-कोई समझते हैं, कि वैरागियों के धर्म गृहस्थ-वैष्णव के लिये नहीं हैं।

"ग्राम्य चर्चा न सुने न ग्राम्य चर्चा कहे।
अच्छा न खाय न तो अच्छा पहन रहे॥
अमानी मानद कृष्णनाम सदा लेय।
व्रज राधा-कृष्ण-सेवा मन धरि लेय॥"

श्रीदामोदर गोस्वामी को दिये जानेवाला महाप्रभु का उपदेश गृहस्थ, संन्यासी, ब्रह्मचारी, और वानप्रस्थी—सबके ही लिये आवश्यक है; यह केवल विरक्त निःआश्रमी भक्तों ही के लिये पालनीय नहीं। भगवान् श्रीमहाप्रभु कहते हैं,—

"वैरागी हो के करे जिह्वा लालसा।
परमार्थ जाके यह रस में फँसा॥
वैरागी का काम सदा नाम संकीर्तन।
शाक-पात फल मूल उदर पूरन।
जिह्वा की लालच जो इधर उधर धाय।
शिश्नोदर परायण वह कृष्ण नहिं पाय॥
(चैतन्यचरितामृत, अन्त्य ६४)
वैरागी गृही में कहैं ऐसे गोरा राय।
देखो भाई नाम बिना दिन नहिं जाय।"
(प्रेमविवर्त)

ये सब उपदेश भक्तों के लिये ही पालनीय हैं, क्योंकि वेश की बनावट न होने पर भी भक्तमात्र ही वैरागी-प्रधान है।

गृहस्थ भक्ताभिमानी मनुष्य खूब सोच-समझ कर अपना-अपना आचरण बनायें और उसमें आदर्श दिखाकर हमारे वरणीय हों; यही प्रार्थना है।

नित्यधर्म और संसार

(पूर्व प्रकाशित के उपरान्त)

निरपेक्ष होना केवल ज़रूरत की ये घटना मात्र है। वास्तव में शरीर रहते कोई निरपेक्ष रह नहीं सकता। जहाँ तक निरपेक्ष रहते बने, वहाँ तक अच्छा है और यही भक्ति का पोषक होता है। पूर्वोक्त सब कामों का सम्बन्ध कृष्ण के साथ जोड़ देने से उनका दोष जाता रहता है। जैसे विवाह में सन्तान की कामना या प्रजापति की उपासना न कर केवल कृष्ण की गृहस्थी बनाने का सङ्कल्प करते हुए कृष्णदासी का संग्रह करने से भक्ति के अनुकूल होता है। अपने विषयी सम्बन्धी और पुरोहित आदि चाहे कुछ ही क्यों न कहें, मनुष्य के अपने सङ्कल्प से ही अपने को फल मिलता है। श्राद्ध का दिन आने पर श्रीकृष्ण को भोग लगाये हुए प्रसाद के पिण्ड से पितृगण का श्राद्ध करना और ब्राह्मण-भोजन की जगह गृहस्थ-भक्तों का भोजन ही भक्ति के अनुकूल होता है। समस्त स्मार्त्त-क्रियाओं में भक्ति को मिला देने से ही कर्म का कर्मत्व जाता रहता है। शुद्ध भक्ति के साथ वैधकर्म करने से भी वह भक्ति के प्रतिकूल नहीं होता। अनासक्त और विरक्त भाव से व्यवहार में व्यावहारिक क्रियायें करना चाहिये। परमार्थ के पारमार्थिक काम भक्तों के साथ मिल कर होना चाहिये, ऐसा होने से कोई दोष नहीं। देखिये, श्रीमन्महाप्रभु के अधिकांश पार्षदगण ही गृहस्थ-भक्त हैं अनादिकाल से भक्त राजर्षि देवर्षि आदि होते आये हैं। ध्रुव, प्रह्लाद, पाण्डव आदि सभी गृहस्थ-भक्त थे। गृहस्थभक्त को जगत् में पूजनीय समझना चाहिये।

यादव०—यदि गृहस्थ भक्त ऐसे पूजनीय हैं और सबके प्रेम के अधिकारी हैं, तब कोई-कोई भक्त गृहत्यागी क्यों होते हैं?

अनन्त०—गृहस्थ-भक्तों में ही कोई-कोई गृहत्यागी वैष्णव होने के अधिकारी हैं। जगत् में उनकी संख्या कम है और उनका सङ्ग भी विरल है।

यादव०—यह बताइये, कि कैसे गृहत्यागी होने का अधिकार होता है?

अनन्त०—मनुष्य में दो प्रवृत्तियाँ हैं—बहिर्मुख-प्रवृत्ति और अन्तर्मुख-प्रवृत्ति। वैदिक-भाषा में इन्हें पराक् और प्रत्यक् वृत्ति कहते हैं। शुद्ध चिन्मय आत्मा अपने स्वरूप को भूल, लिङ्ग देह में मन को आत्मा समझ अभिमान करता है और मन इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषयों की ओर दौड़ता है; इसी का नाम बहिर्मुख-प्रवृत्ति है। जड़-विषय से मन में और मन से आत्मा के प्रति प्रवृत्ति का स्रोत जब फिर बहने लगता है, तब अन्तर्मुख-प्रवृत्ति होती है। जब तक बहिर्मुख-प्रवृत्ति प्रबल रहे, तब तक साधु-सङ्ग के फल से समस्त प्रवृत्तियों को निरपराध रखते हुए चलाने की ज़रूरत है। कृष्णभक्ति के आश्रय से वह प्रवृत्ति आप ही घट कर सङ्कुचित हो अन्तर्मुख हो जाती है। प्रवृत्ति जब पूर्णरूप से अन्तर्मुखी होती है, तभी गृहत्याग का अधिकार होता है। इससे पहले गृहत्याग करने से फिर पतन होने की विशेष आशङ्का है। गृहस्थ अवस्था जीव के आत्मतत्त्व के उत्पन्न करने और शिक्षा मिलने की पाठशाला है। शिक्षा प्राप्त हो जाने पर पाठशाला छोड़ना चाहिये।

यादव०—गृहत्यागी भक्तों के अधिकार का क्या लक्षण है?

अनन्त०—स्त्री-सङ्ग की इच्छा कभी न हो; सब जीवों पर दया बनी रहे; रुपये-पैसे के व्यवहार को तुच्छ समझें, केवल भोजन कपड़े के लिये संग्रह करने का यत्न करें; कृष्ण में विशुद्ध रति हो, बहिर्मुख सङ्ग-साथ को तुच्छ मानें; मान-अपमान में समान बुद्धि रखें। बड़े आडम्बर से दूर रहें और जीवन-मरण में सुख-दुःख न करें। शास्त्र ने लक्षण बताते हुए कहा है,—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

(भा० ११ । ४२)

अर्थात् जो भागवत हैं, वे सर्वभूत में आत्मा के आत्मास्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र को ही देखते हैं और आत्मा के आत्मास्वरूप श्रीकृष्ण में सर्वभूत को देखते हैं। और कहा है,—

मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम्।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजन-बान्धवाः॥

(भा० ३ । २५ । २२)

कपिलदेव साधु के मुख्य लक्षण कहते हैं,—साधुगण, ब्रह्मरुद्रादि अन्य देवताओं के प्रति आसक्त न हो, एकमात्र आत्मा के भगवत-स्वरूप की अनन्य भाव से भक्ति करते और समस्त वर्णाश्रम धर्म के कर्म तथा स्त्री, पुत्र, बन्धु, बान्धव आदि का त्याग कर देते हैं।

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्-
हरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरसनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥

(भा० ११ । २ । ५५)

अर्थात्—अनायास या किसी भी प्रकार से, जिनके नाम का अपराधशून्य उच्चारण करते ही जीवों का सब पाप दूर हो जाता है, उन हरि के पादपद्म में जिन्होंने प्रेम की डोर से हृदय को बाँध रक्खा है, वे ही भागवत-प्रधान कहे जाते हैं।

यह सब लक्षण जिन गृहस्थ भक्तों में मौजूद हों, वे कर्म के लायक नहीं रहते, इसलिये वे गृहत्यागी हो पड़ते हैं। ऐसे निरपेक्ष भक्त बहुत ही विरल हैं। जीवन भर में यदि कभी ऐसे भक्त का सङ्ग हो जाय तो अपना सौभाग्य समझना चाहिये।

यादव—आजकल देखने में आता है, कि कोई कोई थोड़ी उम्र में गृहत्याग कर वेश ग्रहण कर लिया करते हैं; इसके बाद एक अखाड़ा बाँध कर देव-सेवा करते हैं। धीरे-धीरे उनमें स्त्री सङ्ग का दोष आ लगता है। फिर भी वे हरिनाम नहीं छोड़ते। जगह-जगह से भीख माँग कर अखाड़े का खर्च चलाते हैं। ये लोग निरपेक्ष हैं या गृहस्थ भक्त?

(क्रमशः)

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
स्वरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्द्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्द्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ; बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ; कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ; बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
अगस्त्यकुण्ड, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० ४३ हनुमान रोड, न्यू देहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथेड्ल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पाठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्द्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकोंदा चीरकुण्डा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरालिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

(३१) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ
कव्वुर, वेष्ट गोदावरी, मद्रास

(३२) ग्वालपाड़ा प्रपन्नाश्रम, आसाम

(३३) त्रिदण्डी-गौड़ीय मठ भुवनेश्वर, पुरी

(३४) श्रीसारस्वत-गौड़ीय मठ हरिद्वार

Registered No. A. 2101.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्री[illegible] =)

२—[illegible] सटीक ।)

३—श्री[illegible]स्तोत्रम् ≡)

४—श्री[illegible] ॥)

५—श्री[illegible] —)

६—[illegible] ।)

संस्कृत बँगला अक्षरों में

१—श्रीहरिनामामृत[illegible] ≈)

२—श्रीमद्भगवद्गीता [illegible] विद्याभूषण-कृत-भाष्य और भक्तिविनोद ठाकुर-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द ≈) अजिल्द १॥)

३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद कृत ॥)

४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत खंडों में प्रकाशित प्रति खंड १)

५—गौड़ीय वैष्णव शास्त्रसमाधिनिग्रह सजिल्द ≈)

६—[illegible] श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्रीरूपगोस्वामी प्रभु कृत उपदेशामृतसहित ।=)

७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद - कृत बँगला अनुवाद सहित ॥)

८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत [illegible]नन्द सरस्वती-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित १)

९—[illegible] [illegible]-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित —)

१०—[illegible] [illegible]-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित —)

११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी - कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों का पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची, अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २≈) एकादश स्कंध से प्रति खंड ।≈)

१२—श्रीमन्मध्वविजय [illegible] वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

बंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखण्ड अनुवाद सहित ≡)

१४—नवद्वीपशतक बँगला अनुवाद —)

१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ≈)

१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती-कृत =)

१७—नवद्वीपभावतरंग ।)

१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)

१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद कृत २)

२०—[illegible]मंजरी ।)

२१—[illegible] —)

२२—कल्याणकल्पतरु —)॥

२३—गीतावली —)

२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)

२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत प्रति खंड ३)

२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि कृत ।≈)

२७—जैव धर्म २)

२८—[illegible]माला ।)

२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदास-कृत और श्रीमद्भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ४)

३०—महाप्रभु की शिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ।॥)

३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ४)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow.

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

24th May 1933

त्रिविक्रम कृष्णपक्ष गौराब्द ४४७

ज्येष्ठ अमावास्या संवत् १९९०

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥



क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्तसरस्वती गोस्वामी महाराज

प्रति संख्या ‐)

सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

वार्षिक सडाक १॥)

Editor:—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १ᐧ।।) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन छपाई की दर नीचे लिखी है:—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम	८)
आधा ,, १ ,,	५)
चौथाई ,, $\frac{१}{२}$,,	३)
२ इंच ,, $\frac{१}{४}$,,	१।।।)
१ ,, ,, $\frac{१}{८}$,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये—

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

सेठ रामयश रोड, नरही, लखनऊ.

All communications are to be addressed to—

The Manager 'Bhagwat'

Seth Ramjas Road,

Narhe,

LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक [illegible]

वर्ष [illegible] | [illegible] | संख्या १५
ज्येष्ठ अमावास्या गौराब्द [illegible] मई सन [illegible] ई०

आत्म-निवेदन

(१०)

हरि हो !

अर्थ के सञ्चय, विषय-प्रयास में,
अन्य विषय प्रजल्पन ।
अन्य अधिकार, नियम के आग्रह,
असत् सङ्ग संघटन ॥
अस्थिर सिद्धान्त में, रहा डूब के,
हरि भक्ति भई दूर ।
हृदय भरा है, परहिंसा, मद,
प्रतिष्ठा, शठता, क्रूर ॥

ये सब आफत, छोड़ सका नहिं,
अपने हि दोषन मारि ।
जनम निफल, हो गया है अपना,
अब क्या करूँ हे हरि ॥
मैं हूँ पतित, पतित के पावन,
तव पवित्र है नाम ।
इसी भरोसे, चरण तुम्हारे,
शरण लियो मैं श्याम ॥

सामयिक प्रसंग

कि श्रीविश्ववैष्णवराज-सभा के पात्रराज प्रवर परमहंस श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद मद्रास गौड़ीय मठ के "श्रीकृष्ण-कीर्त्तन हाल" का द्वार-उद्घाटन कर विगत २ वीं मार्च सन् १९३३ को मद्रास मठ से सपार्षद बम्बई शहर में शुभ पदार्पण किया है। श्रीप्रभुपाद के श्रीपादपद्म-दर्शन और उनके श्रीमुख से हरिकथा श्रवण करने की इच्छा से बम्बई शहर के बहुतेरे सज्जन और शिक्षित मनुष्य श्रीप्रभुपाद के समीप आकर उनके श्रीपादपद्म दर्शन और श्रीमुख से निकली आत्म-कल्याणकारिणी वैकुण्ठ-वाणी सुनकर परम मङ्गल की प्राप्ति का सौभाग्य वरण कर रहे हैं।

बम्बई थियासोफिकल सोसाइटी के प्रेसिडेण्ट सालीसिटर मिस्टर गिरवाला, उक्त सोसाइटी के सेक्रेटरी मिस्टर श्रीड, दो अमेरिकन यात्री, जमींदार सेठ धरमदास-त्रिभुवनदास और सुप्रसिद्ध सौदागर केशवलाल सेठ श्रीप्रभुपाद के श्रीपादपद्म के दर्शनार्थी हो उनकी सभा में उपस्थित हुए; श्रीप्रभुपाद ने उन सबके सामने बहुत देर तक शास्त्र-प्रमाण सहित हरिकथा सुनाकर यह बताया, कि प्रत्येक जीवात्मा का एकमात्र धर्म शुद्ध भक्ति का अनुशीलन है और उसका ही ग्रहण करना सबका कर्त्तव्य है। श्रीप्रभुपाद के श्रीमुख से वीर्यवती हरिकथा सुनकर वे सब लोग बहुत आनन्दित हुए। वेष्ट-इण्डिया रशियन आयल डिस्ट्रिब्यूशन कम्पनी के प्रसिद्ध व्यवसायी मिस्टर सवाल मोटरगाड़ी आदि प्रदान कर प्रचारक-गण को हरिकथा के प्रचार में सहायता दे रहे हैं। बम्बई शहर में सर्वत्र हरिकथा का प्रचार करने के लिये श्रीप्रभुपाद ने कृपा कर इस प्रदेश में एक मठ स्थापित करना स्वीकार किया है।

जो सब महात्मा बम्बई में श्रीप्रभुपाद की सेवा का सौभाग्य प्राप्त कर धन्य हुए हैं, उनमें सिन्धु देश के अधिवासी सुप्रसिद्ध धनाढ्य व्यवसायी श्रीयुक्त किशनचन्द चेलाराम अन्यतम हैं। अपनी इच्छा से ये सज्जन श्रीप्रभुपाद को सपार्षद अतिथि के रूप में ग्रहण कर अपने को कृतार्थ समझ रहे हैं और सदा इस चेष्टा में रहते हैं, कि प्रभुपाद और उनके साथ के लोगों को किसी प्रकार की असुविधा न हो। बम्बई-नगर के विभिन्न स्थानों में हरिकथा के प्रचार की सुविधा के लिये उक्त सौदागर महाशय ने अपनी इच्छा से उन्हें एक सुन्दर मोटरगाड़ी प्रदान की है। इसके अतिरिक्त उनके कर्मचारी लोग भी सपार्षद श्रीप्रभुपाद की सेवा में नियुक्त हैं। बम्बई नगर-प्रान्त अँधेरी के निवासी और एक सौभाग्यशाली सज्जन भूतपूर्व आनरेरी मजिस्ट्रेट, प्रसिद्ध ज़मींदार और व्यवसायी श्रीयुक्त कल्याणजी करमसीदासजी हैं। ५।६ वर्ष पहले जब भागवत पत्र के सम्पादक त्रिदण्डीस्वामी श्रीमद्भक्तिहृदयवन महाराज और श्रीपाद कीर्त्तनानन्द ब्रह्मचारी महोदय बम्बई में प्रचार करने के लिये गये थे, तब ये ही महाशय तरह-तरह से प्रचार में सहायता कर धन्य हुए थे। उनकी परम भक्तिमती बड़ी बहन ने तरह-तरह के उपचारों द्वारा शुद्ध भक्तों की सेवा करने का सङ्कल्प किया था। इस बार इन भाग्यवती महिला ने श्रीचैतन्य-चरित-प्रचारित भगवत् प्रेम का प्रचार करनेवाले युरोप-यात्री त्रिदण्डी स्वामी पादद्वय को अपनी इच्छा से प्रबल शीत प्रधान स्थान के योग्य शीतवस्त्र आदि प्रदान किया है। श्रीगुरुगौराङ्ग के मनोऽभीष्ट—जगत् में सर्वत्र कृष्णप्रेम वितरण के काम में तरह-तरह से विशेष सहायता देने के कारण शुद्ध भक्तसमाज वैष्णव-जगत् की ओर से इन लोगों से विशेष धन्यवाद के साथ कृतज्ञता प्रकट की गई।

कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति

श्रीचैतन्यप्रभुं वन्दे बालोऽपि यदनुग्रहात्।
तरेन्नानामतग्राह - व्याप्तं सिद्धान्तसागरम्॥

उपरोक्त विषय की आलोचना करने से पहले हम श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु की वन्दना करते हैं। उनकी कृपा से अनजान बालक भी नाना मतवाद रूपी मगर आदि हिंस्रजन्तुओं से पूर्ण सिद्धान्त के सागर से अनायास ही पार होते हैं।

शास्त्र में कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति—ये चार प्रकार की बातें दिखाई देती हैं। किसी ने कर्म, किसी ने ज्ञान, किसी ने योग और किसी ने भक्ति की श्रेष्ठता दिखाने की कोशिश की है, तो किसी ने उक्त चारों प्रकार के मार्ग में से हरेक को ही एक-एक स्वतन्त्र रास्ता बताते अर्थात् यह कहते हैं, कि इनमें से किसी एक मार्ग पर चलने से अभीष्ट लाभ हो सकता है। अब यह देखना चाहिये कि सात्वतशास्त्र और आचार्य लोगों का इस विषय में क्या सिद्धान्त है?

श्रीमद्भागवत सब शास्त्रों में चूड़ामणि है। वेद के चार भाग, चौबीस भाग, सौ भाग और सहस्र भाग में विभक्त करने पर तथा पञ्चम वेद इतिहास-पुराण महाभारतादि शास्त्रों की रचना करने पर भी जब व्यासदेव के हृदय को शान्ति न मिली, तब नारददेव के आदेश से, पूर्णरूप से समाधिस्थ अमल आत्मा में पूर्णपुरुष की झलक देख लोगों के मङ्गल के लिये उन्होंने सात्वतसंहिता (भागवत) की रचना की। (भा० १ । ७ । ६) दूसरे श्रीमद्भागवत को ब्रह्मसूत्र का अकृत्रिम भाष्य तथा प्रमाण शिरोमणि-रूप से कलियुग-पावन-अवतार श्रीकृष्णचैतन्य ने निर्दिष्ट किया (चै० च० मध्य २५ श)। ऐसी अवस्था में अन्यान्य शास्त्र या मतवादी मनुष्य चाहे कुछ ही सिद्धान्त क्यों न करें, नैमित्तिक उपयोगिता होने पर भी उसमें नित्य उपयोगिता नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति के सम्बन्ध में सुन्दर मीमांसा दिखाई देती है। विचार में प्रवृत्त होने से पहले ही उक्त चारों प्रकार के शब्दों का पारिभाषिक अर्थ समझ लेना हम लोगों के लिये आवश्यक है, नहीं तो एक की जगह और समझ में आ जाता है। फल - भोक्ता देह या मन अभिमान के साथ जो करता है, उसे 'कर्म' कहते हैं। कर्म साधारणतः दो प्रकार के हैं,—निष्काम और सकाम। निष्कामकर्म सात्त्विक और सकाम कर्म राजसिक या तामसिक हैं। ज्ञान पाँच प्रकार के हैं, - (१) इन्द्रियार्थज्ञान (अक्षज ज्ञान), (२) नैतिक ज्ञान, (३) ईश्वर - ज्ञान, (४) ब्रह्म-ज्ञान और (५) शुद्ध ज्ञान।

इन्द्रियार्थज्ञान को अंग्रेज़ी भाषा में (Emperic Knowledge) कहते हैं। इन्द्रियार्थज्ञान में जगत् के मङ्गल-अमङ्गल का विचार द्वारा किसी भी नीति-तत्त्व का योग करने से ही नैतिक ज्ञान का उदय होता है। नैतिक ज्ञान में नाम मात्र को धर्माधर्म और पाप पुण्य का विचार है। नैतिक ज्ञान में जीवितावस्था में शारीरिक, मानसिक और सामाजिक तथा मरने के बाद यश और अपयश का विचार रहता है।

मनुष्य की वृत्तियाँ जब सृष्टि के कौशल आदि को देख विमुग्ध हो किसी एक शक्तिमान श्रेष्ठत्व को स्वीकार करने में बाध्य होतीं और कृतज्ञता की वजह उसकी पूजा करना कर्त्तव्य समझती हैं, तब ईश्वर - ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। इस ज्ञान में जीव का नित्य सिद्ध स्वरूप का बोध (सम्बन्ध-ज्ञान) नहीं होता।

ऐसे ज्ञान में अवस्थित पुरुषों में कोई-कोई इसकी क्षुद्रता को समझते हुए और युक्ति को रगड़ते हुए कल्पना की दौड़ में यह समझ बैठते हैं, कि जगत् में वस्तु का आकार होने की वजह प्राप्यवस्तु उसके विपरीत अर्थात् निराकार है, जगत् की वस्तुओं में गुण होने की वजह प्राप्यतत्त्व निर्गुण और विशेषता होने की वजह वह निर्विशेष है। ऐसी जगह ईश्वर-ज्ञान वास्तव में ब्रह्मज्ञान हो पड़ता है। इस ज्ञान की संक्षेप धारणायें इस प्रकार हैं,—

१—ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं—

जो दिखाई देता है, वह मिथ्या है, व्यावहारिक प्रतीति मात्र है।

२—जीव नहीं है, यदि है भी तो ब्रह्म का विकार या विवर्त्त है।

३—जो जीव के नाम से अभिमान करते हैं, वे यदि उस अभिमान को त्याग दें, तो ब्रह्म हैं।

४—ऐसी निर्भेद ब्रह्मोपलब्धि ही चरमप्रयोजन है।

५—ब्रह्म निर्गुण अर्थात् निःशक्तिक है।

श्रीभक्तिविनोद ठाकुर ने श्रीचैतन्य शिक्षामृत में शुद्ध ज्ञान को पांच प्रकार से विभक्त कर दिखाया है; जैसे—(१) परेशानुभव, (२) स्वानुभव, (३) स्वधर्मगुह्य, (४) फलानुभव और (५) विरोधानुभव। परेशानुभव ज्ञान तीन प्रकार के हैं—(१) ब्रह्मानुभव, यह परेश तत्त्व का स्वरूप नहीं है पर यह परेश तत्त्व का निर्विशेष आविर्भाव मात्र है, इसमें अद्वैतभाव का दोष न रहने से इसके द्वारा कुछ परेश के सम्बन्ध का अनुभव होता है। सनकादि महात्मागण इसी रति में नियुक्त रहकर शान्त रति के आश्रयरूप में उदाहरण हुए हैं। (२) परमात्मा का अनुभव ही द्वितीय परेशानुभव है। बद्ध जीव के कर्मफल-दाता, सब कर्मों के प्रयोजक कर्ता, जगत् में अनुप्रविष्ट परेश-भाव का नाम परमात्मा है। (३) भगवान् का अनुभव ही तृतीय और चरम परेशानुभव है। नित्य अप्राकृत स्वरूपविशिष्ट सर्वशक्तिमान् समस्त गुणाधार परेश-तत्त्व ही भगवान् हैं। भगवत् का अनुभव भी प्रधानतः दो भागों में विभक्त है। ऐश्वर्यप्रधान भगवत्-अनुभव अर्थात् श्रीनारायण के स्वरूप की पहचान और माधुर्य-प्रधान अनुभव या कृष्ण के स्वरूप की पहचान।

(२) स्वानुभव शब्द से सम्बन्ध ज्ञान अर्थात् इसकी जानकारी होती है, कि मैं नित्य विष्णुदास या कृष्णदास हूँ।

(३) स्वधर्मानुभव शब्द से यह जानकारी होती है, कि शुद्ध जीव (जीवात्मा) का नित्यधर्म भगवत्-प्रीति ही है।

(४) फलानुभव शब्द से यह जानकारी होती है, कि प्रेम ही जीवात्मा का एकमात्र प्रयोजन है। पुण्य कर्मों से प्राप्त होने वाले स्वर्गादिसुख, जीवात्मा के लिये प्रयोजनीय हो नहीं सकता; क्योंकि उसमें भगवत्-प्रीति या जीवात्मा की प्रीति नहीं है। ब्रह्मज्ञान भी चरम फल हो नहीं सकता; क्योंकि इसमें ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता, ये तीनों विनष्ट होते हैं; वहाँ फलभोक्ता कोई नहीं, सब निर्विशेष है। यदि कहा जाय, कि ब्रह्म में एक हो जाना ही फल है, पर ब्रह्म सायुज्य की प्राप्ति से जीव के सत्यानाश रूप फल की प्राप्ति होती है; तो क्या इस फल के लिये यत्न करना चाहिये? बहुत बड़े भगवत्-अपराध की वजह कंस और शिशुपाल आदि ने जो फल पाया था, उसे क्या शिष्ट लोग कभी पूछ सकते हैं? अतएव ज्ञान का फल बहुत ही तुच्छ है। इसी से श्रीचैतन्य चरितामृत के राय रामानन्द-संवाद में कहा गया है,—

> मुक्ति-भुक्ति माँगे, इन दोनों की कहाँ गति।
> स्थावर देह देव देह जैसे अवस्थिति॥
> अरसज्ञ काक चूसे ज्ञान-निम्ब फल।
> रसज्ञ कोकिल चर्वे प्रेमाम्र मुकुल॥
> अभाग्य ज्ञानी चर्वे केवल शुष्क-ज्ञान।
> कृष्ण-प्रेमामृत पान करे भाग्यवान॥

जैसे योग का फल विभूति अनित्य होने की वजह अग्राह्य है, वैसे ही शुद्ध ज्ञान फल का अनुभव करनेवाले मनुष्य के और कैवल्य का फल भी तुच्छ है। अनेक शास्त्रों ने सालोक्य, सार्ष्टि और सामीप्य को ईश्वरज्ञान जनित फल बताया है। ये सब वास्तविक फल नहीं हैं, क्योंकि इस के चरम फल-स्वरूप में भगवत्-सेवा ही है।

चित्तवृत्ति के निरोध को ही पतञ्जलि ऋषि ने 'योग' बताया है। अष्टाङ्ग योग को जाननेवाला मनुष्य ही योगी है। योगी साधारणतः दो प्रकार के हैं, हठयोगी और राजयोगी। हठयोगी लोग शारीरिक प्रक्रिया में आसक्त रहते और सिद्धि या विभूति की खोज में रहते हैं। राजयोगियों को ईश्वर में सायुज्य का ही प्रयोजन है। श्रीगीता के छठे अध्याय में राजयोगियों के विषय में आलोचना दिखाई देती है। पातञ्जल-दर्शन के साधनकाण्ड के सूत्र में ऐसा दिखाई देता है,—

"क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्ट-पुरुषविशेष ईश्वरः। तत्र निरतिशयं सार्वज्ञबीजम्। स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।" अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक और आशय, इन चारों स्पर्शों से जो अछूता है, उसी पुरुष-विशेष का नाम ईश्वर है। उसमें बहुत ही श्रेष्ठ सर्वज्ञता का बीज अवस्थित है। वे सबसे पहले के व्यक्तियों के भी गुरु हैं क्योंकि काल से अनवच्छिन्न हैं। पतञ्जलि के ऐसे ईश्वर सम्बन्धी उल्लेख को देख लोग समझते हैं, कि वे भी ईश्वर के एक भक्त थे। किन्तु जिन्होंने पतञ्जलि के योगशास्त्र की विशेषरूप से आलोचना की है, वे ऐसी भूल नहीं करते। कैवल्यपाद में लिखा है,—"पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।"

भोजवृत्ति ने इस सूत्र की टीका में लिखा है,—"चिच्छक्तेर्वृत्तिसारूप्यनिवृत्तौ स्वरूपमात्रेऽवस्थानं तत् कैवल्यमुच्यते" अर्थात् चिच्छक्ति का स्वरूपावस्था में अवस्थिति का नाम कैवल्य है। अब यहाँ प्रश्न यह होता है, कि कैवल्यप्राप्त जीव के लिये कोई काम रहता है या नहीं? जीव के कैवल्य प्राप्त करने पर साधना की दशा में ईश्वर के साथ उसका क्या सम्बन्ध रहता है? इसके बारे में यह शास्त्र निरुत्तर है। इस शास्त्र के पढ़ने से जान पड़ता है, कि साधन काण्डोक्त ईश्वर केवल कैवल्यसिद्धि के लिये कल्पितवस्तु विशेष हैं। सिद्धावस्था में फिर वे नहीं मिलते। क्या यहीं से ईश्वर-वाद या निरीश्वर की धारणा है? पाठकगण ध्यानपूर्वक इसका विचार करें।

'भक्ति' शब्द का अर्थ सेवा है। भक्ति शब्द सेवाभिधायी है। भज इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः। तस्मात् सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिशब्देन भूयसी॥ शाण्डिल्यसूत्र में भक्ति-शब्द के अर्थ में भगवान् में परानुरक्ति बताया गया है। भक्तिरसामृतसिन्धु ने भक्ति-शब्द का निम्नलिखित अर्थ किया है—अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्। आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥ सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्। हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥ अर्थात् कृष्णेतर विषय में अभिलाषशून्य (निर्भेद-ब्रह्मानुसन्धान सम्बन्धज्ञान नहीं है)। स्मृति में कहे गये नित्य-नैमित्तिकादि कर्म (भजनीय वस्तु की परिचर्यादि नहीं क्योंकि वह भजन के लिये भगवत्-अनुशीलन है) और आदि शब्द से वैराग्य योग सांख्याभ्यास प्रभृति द्वारा अनाच्छादित, आनुकूल्य अर्थात् श्रीकृष्ण में रोचमाना प्रवृत्ति के साथ श्रीकृष्ण का अनुशीलन (ब्रह्मानुशीलन, परमात्मानुशीलन, दूसरे देवता का अनुशीलन नहीं, क्योंकि उसके अनुशीलन से नित्य सेवा नहीं है), यही उत्तमा भक्ति है। भागवत के तृतीय स्कन्ध में कहा है,—

'अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।'

भक्ति में छः विशेषतायें हैं,—

क्लेशघ्नी, शुभदा, मोक्ष-लघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

(१) क्लेशघ्नी—क्लेश-शब्द का अर्थ है पाप, पापबीज और अविद्या। हृदय में शुद्ध भक्ति का उदय होने पर पाप, महापाप और अतिपाप प्रभृति दूर हो जाते हैं। पापबीज या पापकार्य की वासना हृदय में नहीं रहती, अविद्या अर्थात् स्वरूपविभ्रम दूर हो जाता है। हृदय में सम्बन्ध ज्ञान अर्थात् पता जान पड़ता है कि मैं भगवान् का नित्यदास हूँ और भगवत्सेवा ही मेरा एक मात्र धर्म है।

(२) शुभदा—हृदय में भक्ति का उदय होने से सब प्रकार के सद्गुण जीव के हृदय में उदित होते हैं। भक्ति सब प्रकार के सुख—जैसे विषयसुख, स्वर्गसुख, निर्विशेष-ब्रह्मगत सुख, सिद्धि और मुक्ति प्रभृति सभी दे सकती है किन्तु भक्तिदेवी इन सब अनित्य सुख और आत्मविनाशक सुख के द्वारा शुद्ध भक्त को प्रलुब्ध न करके भक्तिसुख प्रदान करती है।

(३) भक्ति मोक्ष को हीन बनाती है, "स्वर्ग मोक्ष कृष्णभक्त नरक सम मानें।" कृष्ण भक्त स्वर्ग और मोक्ष को नरक के समान समझते हैं।

(४) सुदुर्लभा—क्योंकि भजन चातुरी के अभाव से हज़ारों साधन करने से भी भक्ति प्राप्त नहीं होती। भगवान् भोग और मोक्ष देकर कितने ही

लोगों का सन्तोष-विधान करते हैं, किन्तु अनधिकारी को भक्ति नहीं देते। भक्ति की राह तलवार की धार की तरह तीक्ष्ण है। एक पैर इधर हटने से कर्ममार्ग या मिश्रा भक्ति में पतन होता है इधर और पैर हटने से निर्विशेष ज्ञान या योगमार्ग में पतन हो जाता है।

(५) सान्द्रानन्द विशेष-स्वरूप,—

"सुखानि गोष्पदायन्ते ब्राह्माण्यपि जगद्गुरो।"

(६) श्रीकृष्णाकर्षिणी—शुद्धा भक्ति जिस प्रकार कृष्ण का आकर्षण करती है, उस प्रकार योगादि साधन, सांख्य ज्ञान, पुण्य कर्म, वेदाध्ययन, तपस्या और त्याग कोई भी कृष्ण को वशीभूत कर नहीं सकते। भक्ति के द्वारा 'अजित्' भगवान् जित् होते हैं। (भा० ११। १४। २)

अब कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति के सम्बन्ध में शास्त्रीय विचार की आलोचना होनी चाहिये। श्रीगीता के तृतीय अध्याय में कर्म की प्रशंसा है। किन्तु वह कर्म यदि विष्णु के लिये न हो, तो वह कर्म-बन्धन की सृष्टि करता है। गीता में कहा है (गीता ३। ९),—

"यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः"

यज्ञ शब्द का अर्थ विष्णु है (यज्ञो वै विष्णुरिति-श्रुतेः) विष्णु की प्रसन्नता के लिये कर्म का आचरण करना ही कर्त्तव्य है; नहीं तो उस कर्म को बन्धन समझना चाहिये। नारद-पञ्चरात्र में भी कहा गया है,—हे नारद! हरि के उद्देश से जो कर्म होता है, वही कनिष्ठ अधिकारी की याजित भक्ति है; वह धीरे-धीरे पराभक्ति में परिणत हो जाती है। और भी कहा है, कि लौकिकी हो या वैदिकी ही हो, हरिसेवा के अनुकूल कर्म भक्ति के इच्छुक मध्यमाधिकारी लोग करते हैं। अम्बरीषादि उत्तम अधिकारीगण सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त, कृष्णपरत्व और अन्याभिलाषिताशून्य, ज्ञान-कर्मादि के द्वारा अनावृत निर्मल-हृदय में समस्त इन्द्रियों के द्वारा हृषीकेश के हरि-मन्दिर आदि का मार्जनादि कार्य करते हैं।

भक्तिसन्दर्भ के १३३संख्या में श्रीजीवपाद ने लिखा है,—अथ साक्षाद्भक्तेर्निर्गुणत्वं वक्तुं भगवदर्पित कर्मादीनां सर्वेषां तावत् सगुणत्वमाह एकेन (भा० ११। २५। २३),—

मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत्।
राजसं फलसंकल्पं हिंसाप्रायादि तामसम्॥

मयि अर्पणं यस्य मदर्पितमित्यर्थः। निष्फलं = निष्कामम्। आदि-शब्दाद्दम्भमात्सर्यादिभिः कृतम्। अथागुणानानन्तराणां त्रिगुणान्तर्गतत्वं वदन् चतुर्थ-कक्षायां साक्षाद्भक्तेर्निर्गुणत्वमाह अर्थात् साक्षाद्भक्ति को निर्गुण प्रकाश के लिये भगवदर्पित कर्म से आरंभ कर सब सगुणत्वों के लिये एक श्लोक में कहते हैं,—हे उद्धव, अपने जो दास समझते हुए भगवान् की प्रीति के उद्देश्य से जो निष्काम अर्पण है, वही सात्त्विक अर्पण है। अपने फल लाभ या सङ्कल्प के उद्देश्य से जो कर्मार्पण होता है, उसे राजस कहते हैं। प्राणिहिंसा या दम्भमात्सर्य आदिसे जो कर्मार्पण होता है, वह तामस है। सात्त्विक अर्पण हो या राजस, तामस, सभी त्रिगुणान्तर्गत हैं; किन्तु साक्षात् भगवद्भक्ति निर्गुण है।

कनिष्ठाधिकारी भक्त दासाभिमान से कृष्ण को जो कर्म अर्पण करते हैं, वह सात्त्विक होने पर भी साक्षात् शुद्धभक्ति नहीं है। अनेक समय निर्भेद ब्रह्मानुसन्धान-तत्पर और कैवल्य की इच्छा रखनेवाले भक्त चित्त-शुद्धि आदि फल पाने के लिये कर्मादि कर उसकी निष्कामता प्रतिपादन करने के लिये जो भगवदर्पण का "बहाना" दिखाते हैं, वह राजस कर्मार्पण है। उसके द्वारा हरितोषण या जीवात्मा के स्वरूप की वृत्ति प्रकट नहीं होती, उससे आत्मविनाशरूपी अमङ्गल होता है। आज कल कितने ही लोग इस राजस कर्मार्पण को निष्काम कर्म बताते हुए इसका प्रचार करते हैं।

प्राणिहिंसा, दम्भ, मात्सर्यादि से किये जानेवाले यज्ञादि कर्म का अर्पण ही तामसिक है। इस कर्म का उद्देश्य भगवान् की प्रसन्नता के लिये नहीं है; यह तो भगवान् को 'बेगार' बनाकर अपने सुख के संग्रह की चेष्टा करना है। आजकल के अक्षजवादी सम्प्रदाय में कितनों ही की यह धारणा है, कि कर्म करते-करते आपही भक्ति का उदय होता है। श्री-

मन्महाप्रभु और श्रीमद्भागवत ने एक वाक्य में इसका निषेध किया है, –

कर्मनिन्दा कर्मत्याग सब शास्त्र बना।
कर्म से प्रेमभक्ति कृष्ण की न पावे॥

(चै० च० मध्य ९ म)

श्रीमद्भागवत ११ । ११ । ३२ में है,—

आज्ञायैवं गुणान् दोषान्मयादिष्टानपि स्वकान् ।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान्मां भजेत स च सत्तमः ॥

श्रीगीता १८ । ६६ में है —

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।"

असत्-कर्म से सत् कर्म श्रेष्ठ है। किन्तु उस श्रेष्ठ कर्म द्वारा कृष्ण की प्रेमभक्ति उत्पन्न हो नहीं सकती। कर्म ही जीव के सुख या दुःख पाने का कारण है। जीव के सुख या दुःख प्राप्त करने से भक्ति का उदय हो नहीं सकता। कृष्ण को खुशी करने के लिये उनकी सेवा करना ही भक्ति है। श्रुति ने भी कर्म की निन्दा की है,

न ह्यध्रुवैः प्राप्यते ध्रुवं कर्मभिः । (कठ० २ । १०)

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः (मुण्डक० १ । २ । ७)

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। (मुण्डक० १।२।१२)

उच्छृङ्खल असत्-कर्म करनेवाले मनुष्य को सत्कर्म में लगाकर बाद को उसकी मति पलट देने के लिये ही शास्त्र में कर्म की व्यवस्था है। श्रीमद्भागवत (११ । ३ । ४४-४६) में कहा है,—

कर्माकर्म विकर्मेति वेदवादो न लौकिकः ।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः ॥
परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् ।
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥
नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः ।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ॥
वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे ।
नैष्कर्म्यं लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ॥

अर्थात् कर्म, अकर्म और विकर्म के नाम से जो वितर्क होता है, वह भी वेदवाद है। वेद स्वयं ईश्वर हैं, सुतरां उनमें जितना ही पण्डित लोग शिर खपाते हैं, उतना ही मोह में पड़ते जाते हैं। वेद स्वयं परोक्षवाद है, यह मूर्ख लोगों के लिये अनुशासन है। क्रम और मोक्ष के तात्पर्य से ही कर्म प्रकट हुआ है। बीमार आदमियों का रोग दूर करने के लिये जैसे दवा की व्यवस्था होती है, वैसे ही कर्मरूपी बीमारी के लिये ही कर्म का विधान है।

मूर्ख, अजितेन्द्रिय मनुष्य यदि वेदोक्त कर्म का आचरण नहीं करते, तो विकर्म के फल से अधर्मरूपी मृत्यु के द्वारा मृत्यु को प्राप्त होते हैं। फिर भी कर्म के फल की इच्छा न कर और उस कर्म को ईश्वर के अर्पण करते हुए जो वेदोक्त कर्म का आचरण करते हैं, वे कर्म से मुक्त हो निष्काम सिद्धि प्राप्त करते हैं। निष्कर्म सिद्धि ही कर्म का वास्तविक फल है, बाकी जो फल की बातें हैं, वह केवल निष्काम-कर्म में रुचि उत्पन्न कराने के लिये ही कही गई हैं। श्रीगीता में (३ । २६) है,—

"न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्"

कर्मसङ्गी (कर्मासक्त) मूर्ख मनुष्य से यदि कहा जाय कि कर्म का तात्पर्य भक्ति उत्पन्न करनेवाला ज्ञान है, तो वह श्रद्धा के साथ उसके लिये आग्रह न प्रकट करेगा; इसलिये एकाएक कर्म की जड़ता को त्यागने का उपदेश देना उचित नहीं। क्योंकि ऐसा करने से वे सत्-कर्म से भ्रष्ट हो विकर्म करने लगेंगे। कहते हैं—"मामा न हो तो कनवें मामा सही।" किन्तु गीता का यह उपदेश असमर्थ उपदेशाओं के लिये है; जो भक्ति का उपदेश देते हैं, उनके लिये यह आज्ञा नहीं है; क्योंकि भक्ति के लिये अन्तःकरण की शुद्धि की भी कोई आवश्यकता नहीं। श्रीमद्भागवत में कहा है—(६।९।५०)

स्वयं निःश्रेयसं विद्वान् न वक्त्यज्ञाय कर्म हि ।
न राति रोगिणोऽपथ्यं वाञ्छतोऽपि भिषक्तमः ॥

जो स्वयं आत्यन्तिक मंगल के विषय में जानकारी रखते हैं वे विद्वान् पुरुष किसी मूर्ख को भी कर्म के बारे में उपदेश न दें। रोगी के कुपथ्य की इच्छा करने पर भी अच्छे वैद्य उसे कभी नहीं देते।

पहले जिस निष्कर्म का ज़िक्र किया गया, वह निष्कर्म ब्रह्मज्ञान उपाधिनिवर्त्तक होने पर भी यदि सर्वात्मा अच्युत से च्युत हो, तो उससे कोई

सुफल नहीं होता। जितनी पवित्रता गौ के गोबर में होती है, उतनी घोड़े के गोबर में नहीं; इसी तरह कर्मयोगियों के किये गये कर्म अपनी आसुरिक वृत्ति की चरितार्थता सम्पन्न करने पर भी, भगवद्विमुख चेष्टा होने की वजह बिल्कुल ही तुच्छ है। श्रीमद्भागवत में कहा है,—(१।५।१२)

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥

अर्थात् काम-गमय कर्महीन ब्रह्मज्ञान उपाधि-निवर्त्तक होने पर भी अच्युतभाववर्जित अर्थात् भक्तिविरहित होने से शोभा नहीं पाता; तब स्वभावतः अमङ्गलजनक जो कर्म है, वह निष्काम होने पर भी ईश्वर में समर्पित न होने से अर्थात् हरि को प्रसन्न न कर सकने से कैसे शोभा पायेगा? श्रीमद्भागवत में (३।२३।५६ श्लोक में) फिर कहा है—

नेह यत्कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते।
न तीर्थपदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः॥

जिसका कर्म धर्म के लिये अनुष्ठित नहीं होता, जिसका धर्म वैराग्य-पूर्ण ज्ञान के उद्देश्य से किया नहीं जाता, जिसका वैराग्यपूर्ण ज्ञान भगवान् पाद-पद्म की सेवा में नियुक्त नहीं होता, वह जीते ही मृतक के समान है। सुतरां आज कल जगत् में अनात्मिक लोग जिस बन्या, दुर्भिक्ष-दमन और दरिद्र को नारायण (!) समझ बद्धजीवों के देह की सेवा प्रभृति अथवा देश, समाज उद्धार आदि कार्य को निःस्वार्थपर कर्म बता रहे हैं, वह अच्युत भाव अर्थात् हरि को प्रसन्न करनेवाला न होने की वजह जीवन-रहित प्राकृत चेष्टा मात्र है। श्रीमद्भागवत में नारद ऋषि व्यास देव से कह रहे हैं,—

(भा० १।५।३२-३५)

एतत् संसूचितं ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सितम्।
यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम्॥
आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत।
तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम्॥
एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः।
त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे॥
यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम्।
ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम्॥

अर्थात् सर्वनियन्ता भगवान् को जो कर्म समर्पित होता है, वही कर्म आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—यह तीनों ताप का निवर्तक या उपशमकारक कहे जाते हैं। जिन जिन चीजों के भोजन से लोगों को जो जो रोग उत्पन्न होते हैं, केवल उन सब रोगों को उत्पन्न करनेवाली चीजों के भोजन से वे सब रोग कभी दूर नहीं होते; बल्कि उन सब रोगजनक घृतादि द्रव्य, अन्य द्रव्य या औषधों के साथ मिलने पर उनके सेवन से रोग दूर होता है। इसी प्रकार मनुष्यों के नैमित्तिक काम्य-कर्म आदि संसार-बन्धन या योनिभ्रमण के कारण हैं, किन्तु उन सब कर्म ईश्वर में समर्पित होने से भगवत्-विमुख अहंकार का विनाश करने में समर्थ होते हैं। हरि की प्रसन्नता के लिये जो कर्म होते हैं, वही भक्ति है। जहाँ कर्म केवल शुद्ध भक्ति की सेवा के लिये किया जाता है, वहाँ उसका कर्मत्व दूर हो जाता है।

(क्रमशः)

वानप्रस्थ

आज कल यथार्थ वर्णाश्रम-धर्म का निशान भी नहीं है। इसका कारण भगवत्-भजन से च्युत होना है। वर्णधर्म और आश्रमधर्म के मूल में हरितोषण ही प्रधान है; बिना इसके उन धर्मों की कोई स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं; हम लोगों को उसका फल भी वैसा ही दिखाई देता है। भगवान की विशेष कृपा पाने वाली यह भारतभूमि ही हरि-भजन और वर्णाश्रम-धर्म की उत्पत्ति और अवस्थिति का स्थान है; किन्तु हाय! आज उसी भारत वर्ष से भगवद्भजन दूर चला गया है, सुतरां वर्णाश्रम धर्म के लिये और जगह ही कहाँ है? पहले भारत-वासी जिन विदेशियों को यवन, म्लेच्छ आदि बताते थे, उसके मूल में विदेशी विद्वेष का झगड़ा नहीं था। जो लोग भगवद्भजन मूलक वर्णाश्रम-धर्म का पालन नहीं करते थे, वे ही अन्त्यज, यवन, म्लेच्छ आदि कहलाते थे। भगवद्भक्ति-मूलक वर्णाश्रम के अभाव से ही भारत से बाहर रहनेवाले इन्हीं नामों से परिचित थे। किन्तु आज कल हम लोग क्या हैं? यदि सच्ची बात सुनने से हम नाराज न हों—वास्तव में हम नाराज ही हो बैठते हैं—

साँच कहे तो मारा जाय।
झूठ कहे तो जग पतियाय॥

यदि हम सच्ची बात को समझ सकें, तो हमें साफ नजर आयेगा, कि प्रायः हम सब के सब अन्त्यज हो पड़े हैं। हरि-भजन की शिक्षा के अभाव से, आज हम लोग ब्रह्मचर्य के पालन से मुँह मोड़ आश्रम धर्म को खो बैठे हैं और वर्ण-धर्म का बलवा मचा रहे हैं। किन्तु हम लोग निश्चय जानते हैं, कि चाहे राजनीति की कितनी ही उन्नति क्यों न हो, भारत का पूर्व गौरव, पहले की सभ्यता—जो भारत की अपनी सम्पत्ति थी—उसके फिर से पाने की आशा हम तब तक नहीं कर सकते, जब तक भारत में विष्णु की प्रसन्नता का कारण वर्णाश्रम-धर्म फिर से स्थापित नहीं होगा। हम लोग भोग-वञ्चना से बँध गये हैं। इस समय हम लोगों में आप ही आप भगवद्-भजन के अनुराग के बढ़ने की सम्भावना बहुत कम है; इसलिये विधि-वश ही हम लोगों को भगवद्भजन में लगना पड़ेगा। इस अवस्था में वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन करने के सिवा और किसी तरह हम लोगों के मङ्गल की आशा नहीं है।

भोग और सेवा—ये दोनों ही विरुद्ध कार्य हैं। सेवा—आत्मा का धर्म है। भोग देह और मन का धर्म है। भोग के भ्रम ने ही हम लोगों को बाँध रक्खा है। जब भजन के बल से भोग की इच्छा हम लोगों से छूट जायगी, तभी हम लोग भगवत्-सेवा के अधिकारी हो सकेंगे। सेवा की वृत्ति बढ़ने पर भोग का नशा उतर जायगा। भोग की इच्छा के घटने का नाम ही संयम है। वर्णाश्रम धर्म उस संयम की शिक्षा की भूमिका है। शास्त्र का यही विधि है; कि हम लोग बचपन से गुरु के घर निवास करके ब्रह्मचर्य पालन करते हुए उस संयम की शिक्षा आरम्भ करें। इसके बाद आवश्यकता हो, तो प्रवृत्ति के बाँध के टूटने के भय से कुछ कुछ भोग स्वीकार करते हुए गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करके भी उस संयम का पालन करते रहें—यही शास्त्र की आज्ञा है। नियम के साथ गृहस्थ धर्म का पालन करने से हम रजोवृत्ति को दबाकर सत्त्व पर अधिकार कर सकेंगे। उम्र की आधी राह तक ऐसे ही व्यवस्था है। इस अवस्था में भोगवासना का परित्याग कर हमलोग वनवासी या वानप्रस्थ होते अर्थात् गृहस्थों की बस्ती से दूर होकर, जहाँ भोग से घृणा करनेवाले साधुगण हरि-भजन करते हैं, वहाँ उनके ही साथ रहते हुए निःसङ्ग भाव से हरि-सेवा में लग जाते हैं।

श्रीमद्भागवत में श्रीभगवान् ने कहा है,—

"वनं तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतन्तु निर्गुणम्॥"

तरह-तरह के अवैध भोग का लीलाक्षेत्र, रङ्गालय (थियेटर आदि), खेल की जगह, हरि-सम्बन्धी के अतिरिक्त अन्यान्य नाट्य और नाच, वेश्या-बाजार, जुआ आदि तामसिक मनुष्यों के तथाकथित नाच के स्थान हैं; सब तरह से इन सबका त्याग न कर सकने से मनुष्यता से बाहर होना पड़ता है। नगर में रहनेवाले गृहस्थ लोग संयत रूप से प्रवृत्ति को रोके हुए राजसवृत्ति के अधीन हो जाते हैं। फिर धीरे - धीरे बल संग्रह कर नगर का राजस-निवास और नागरिक व्यवहार छोड़ कर सत्त्व आश्रय लेने का नाम ही वान प्रस्थ-आश्रम ग्रहण करना है।

कहते हैं,—कि किसी किसी विरक्त पुरुष ने स्त्री के साथ वानप्रस्थ आश्रम का आश्रय लिया था। हमलोग शास्त्र के—"सस्त्रीको धर्ममाचरेत्" उपदेश को जानते हैं। शास्त्र कदम-कदम पर हम लोगों को भोग की प्रवृत्ति घटाते हुए निवृत्ति की राह पर चलना सिखाते हैं। स्त्री पुरुष के मिलन की उच्छृङ्खलता को दूर करने के लिये विवाह की व्यवस्था द्वारा शास्त्र सस्त्रीक धर्म के आचरण का उपदेश करते हुए हमको संयत करना चाहते हैं। नियम के साथ ब्रह्मचर्य का पालन करने पर भी जिनमें भोग की प्रवृत्ति का कुछ लेश रह जाता है, उन्हीं के लिये यथाविधि समावर्त्तन पूर्वक विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हुए उसमें भी शास्त्र की आज्ञा से उम्र के चौथाई हिस्से में सस्त्रीक धर्माचरण करके नाममात्र को भोग भोगना है। इसके बाद वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने के समय यदि सहधर्मिणी भी स्पृहा के त्याग करने में समर्थ हुई हो, तो एक साथ आश्रमोचित धर्म के पालन के लिये दोनों ही वानप्रस्थ आश्रम का आश्रय लेते हैं। दोनों ही का संसार से अलग हो, विषयियों के सङ्ग को त्यागकर साधुसङ्ग और हरि-भजन में प्रवृत्त होना ही वानप्रस्थ-आश्रम का ग्रहण करना है, इस अवस्था में दोनों ही की भोग-प्रवृत्ति दूर हो जाना चाहिये; यदि ऐसा न हुआ तो आश्रम नष्ट हो जाता है; वन में जाकर भी गृहस्थ जैसा आचरण करने से "वान्ताशी" या के-भोजी की तरह सबके आगे घृणित होना पड़ता है। आसक्ति के रहते हुए कोई भी वानप्रस्थ या वनवासी हो नहीं सकता, होता भी है, तो अवैध गृहस्थ हो जाता है; उस "गीता की गृहस्थी" की तरह गृहस्थ होना अत्यन्त घृणा का कार्य है।

"गीता" को लेकर एक आदमी ब्रह्मचारी हुए, वन में फूस की कुटी बनाकर उसी में गीता पाठ करने लगे। धीरे धीरे उस कुटी में चूहों का उपद्रव होने लगा, गीता के दफ्तर को चूहों ने कुतर दिया। तब उन्होंने सोचा, कि अब बिल्ली की आवश्यकता है, एक बिल्ली भी मिल गई। अब बिल्ली क्या खाय? वन में दूध संग्रह की आवश्यकता पड़ने पर एक गौ भी ले आये। धीरे धीरे गौ की देख-भाल करने के लिये एक नौकर और उस नौकर के प्रबंध के लिए फिर से एक गृहिणी भी आ धमकी। सन्तान सन्तति की भी कमी न रही। पूछने पर उन्होंने ने जवाब दिया, "यह मेरी गृहस्थी नहीं है—गीता की गृहस्थी है।" इस प्रकार गीता की गृहस्थी असंयत पुरुष ही किया करते हैं। संयम के अभाव से हरि-भजन में अरति होती है। सुतरां दिखाई देता है, कि जो लोग निष्कपट भाव से साधु-गुरु के चरणों का आश्रय कर हरि-भजन में प्रवृत्त नहीं होते, वे कभी वनवासी हो ही नहीं सकते। इतना ही नहीं, यथार्थ गृहस्थ होने की योग्यता भी उनमें नहीं है। हरि-भजन के सहारे गृहस्थ आश्रम में निवास कर, संयम को सीखने के बाद वनवासी हुआ जा सकता है। इस अवस्था में हरि-भजन और भी पुष्ट होता है, तब भोग रहित अवस्था का होना सम्भव है। भोग के सामानों से दूर रहकर हरि-भजन करने का नाम ही वानप्रस्थ आश्रम का धर्म है।

सस्त्रीक वानप्रस्थ बहुत ही कठोर आश्रम है, जिनके हृदय में जरा भी कमजोरी नहीं है, जिनके हृदय में भगवान् के अवस्थान होने से हृदय में होनेवाले कामादि, सूर्य के उदय से अन्धकार की तरह, या सिंह को देखकर हाथी की तरह, दूर भाग गया है, उनके अतिरिक्त और कोई भी सस्त्रीक वनचारी होने की कभी चेष्टा न करें। अकेले ब्रह्मचारी होना

ही उचित है। साधुसङ्ग में सदा श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण रूपी भजनाङ्ग का पालन करने से इस आश्रम का धर्म सुरक्षित होता है। जो समझते हैं, कि हम दुर्बल हैं, हम गृहस्थ ही बने रहें, वे गृहस्थ नहीं, गृहव्रती हैं। सुतरां नित्य अपना मङ्गल चाहनेवाले साधु के सङ्ग मठादि में निवास कर हरि-भजन में प्रवृत्त होना चाहिये, ऐसा होने से क्रमशः भोग की प्रवृत्ति दूर हो जायगी। तब वे यथार्थ वनवासी या मुनि हो सकेंगे।

यह वानप्रस्थ आश्रम हरि भक्ति के मूल में युक्त-वैराग्य की शिक्षा की पाठशाला है। इस पाठ के समाप्त होने पर फिर लोगों के सङ्ग से दूर न रहना पड़ेगा। तब भोग की इच्छा के दूर हो जाने पर हृदय पूरी तरह से निर्मल हो जायगा, सुतरां विषयों को देखते ही पैर फिसलने की आशङ्का नहीं है। तब उनमें परिव्राजक के रूप में पृथ्वी-पर्यटन की योग्यता हो जाती है।

अनेक वनवासी को जो गृहस्थी जमाते दिखाई देते हैं, अनेक ऋषिबालक और ऋषिकन्याओं की जो चर्चा सुनाई देती है, उसका कारण फल्गु वैराग्य के अभ्यास का पतन है। हरि-सेवा बुद्धि का आश्रय न कर वनवासी होने से अवश्य पतन होता है। इसलिये हमें सदा याद रखना चाहिये, कि सब आश्रमों के मूल में हरि-भजन है। बिना हरि-भजन के आश्रम की रक्षा हो ही नहीं सकती। इसीलिये श्रीमद्भागवत ने उपदेश दिया है,—

"य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥"

बिना भगवद्भजन के आश्रम से च्युत हो अन्त्यज होना पड़ता है।

मुक्ति पिशाची क्यों है ?

पिशाची दूसरे का मांस तो खाती है, किन्तु अपने मांस को भी भक्ष जाती है। 'पिशित' शब्द का अर्थ 'मांस' और 'अश' धातु का अर्थ 'भक्षण करना' है। श्रीरूपगोस्वामी प्रभु ने, जो अभिधेय भक्ति के आचार्य थे, भक्ति-रसामृत-सिन्धु ग्रन्थ में यह श्लोक लिखा है,

भुक्ति-मुक्ति-स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्त्तते।
तावद्भक्ति - सुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

भुक्ति और मुक्ति की स्पृहा पिशाची की तरह जीव की सत्ता को ग्रास करती है। जब तक मनुष्य के हृदय में ये पिशाचियाँ निवास करती हैं, तब तक भक्ति से सुख होने की आशा बहुत दूर है। भगवत् सेवा ही जीव की नित्य स्वरूप वृत्ति है। भोग और मोक्ष की इच्छारूपिणी पिशाची जीव की सेवा-वृत्ति को खा डालती है। जीव भोग-पिशाची के कराल गाल में पड़कर स्वर्ग और नरक में आता-जाता और अन्त में तकलीफ पाता है। स्वर्ग-सुख बिलकुल ही तुच्छ है, वह बाद को दुःख का आकर बन जाता है। भुक्ति-पिशाची जीव के कान पकड़कर दुःखदायक सुख के लिये इधर-उधर दौड़ाती है। कुछ दिन के बाद बड़े कष्ट से मिले हुए स्वर्ग के सुख से गिरकर जीव मर्त्यलोक में आता और वहाँ तकलीफ में पड़ता है। कभी-कभी फिर उस तकलीफ से छुटकारा पाने के लिये मुक्ति की कामना करता है। तब जीव एक छोटी पिशाची के कवल से उद्धार पाकर दूसरी परम मायाविनी पिशाची के ग्रास में पड़ता है। पहले भुक्ति-पिशाची ने जीव के स्थूल और सूक्ष्म आवरण को ही ग्रसा था, इस बार मुक्ति-इच्छा की पिशाची जीवात्मा को ही हड़प कर जाने पर उद्यत हुई। मुक्ति-कामना-रूपिणी पिशाची के ग्रास में पड़कर जीव स्थूल-भोग से अकसर घृणा करता है, जगत् को मिथ्या और दुःख का आकर बताता और दुःख के हाथ से मुक्त होने के लिये चेष्टा करता है। इस बार यह करालवदना पिशाची अपनी मूर्त्ति धारण

कर जीव को अस्थि मज्जा सहित ग्रास कर डालती है अर्थात् तब शुद्ध जीव के सत्ता की वृत्ति निरस्त हो जाती है। इसी को श्रीचैतन्यचरितामृत मध्य ८म अध्याय में रामानन्द के संवाद में श्रीमन्महाप्रभु स्वयं प्रश्नकर्ता रामानन्द को वक्ता बनाकर कहते हैं,—

मुक्ति भुक्ति हूँढे जो कहाँ उसकी गती ?
स्थावर-देह देव-देह होये अवस्थिती।

अर्थात जो मुक्ति की कामना करते हैं, वे अन्त में पूर्ण रूप से चेतनता खोकर पर्वतादि की तरह स्थावर देह पाते और जो भोग की कामना करते हैं, वे देवदेह प्राप्त कर भगवत्-सेवाविमुख भोगी होते हैं। 'मन शिक्षा' में श्रीरघुनाथदास गोस्वामी प्रभु ने कहा है,—

कथा मुक्तिव्याघ्री न शृणु किल सर्वात्मगिलनी।

और मन, तू मुक्ति-रूपिणी बाघिन की बातें न सुन। निश्चय जान कि वह बाघिन जीव की समूची आत्मा को हड़प जाती है। श्रीमद्भागवत और शुद्ध भागवतगण ने इस 'सर्वात्म ग्रासिनी' मुक्ति वाञ्छा रूपिणी पिशाची को नरक बताया है। भागवत (६ । १७ । २८) में कहा है, कि नारायण-परायण भक्तगण स्वर्ग मोक्ष और नरक को एक समान समझते हैं। जहाँ जीवात्मा के नित्य-स्वरूप की वृत्ति भगवत्-सेवानन्द नहीं है, वह स्थान नरक है। इसीलिये भक्तों के आगे (चै० च०), —

सायुज्य की बात सुने भक्त घृणा पाते।
नरक मिले पै वे सायुज्य नहीं लेते॥

त्रिदण्डी स्वामी श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीपाद ने श्रीचैतन्यचन्द्रामृत में श्रीगौरचन्द्र का स्तव करते हुए कहा है, कि जो मनुष्य श्रीगौरसुन्दर की अनन्त वैभवयुक्त कृपा की एक नज़र भी पा गये हैं, उनके आगे योगी और ज्ञानियों का वाञ्छित कैवल्य या निर्वाणसुख नरक के समान जान पड़ता है। —"कैवल्यं नरकायते।" इत्यादि

भक्त लोग भगवान् की प्रीति या सुख के लिये ही व्यस्त होते हैं। अभक्त लोग कपट "भक्त" का बहाना करके भगवान् से अपनी प्रसन्नता या सुख लेने के लिये यत्न करते हैं। एकमात्र शुद्ध भक्त लोग कहा करते हैं,—

न धनं न जनं न सुन्दरीं
कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे
भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

हे जगदीश, मैं धन, जन या सुन्दरी कविता की कामना नहीं करता; मैं इतना ही चाहता हूँ, कि जन्म जन्म में आपकी अहैतुकी भक्ति रहे।

अभक्त लोग भगवान् को फरमाइशी समझ कर उनसे तरह-तरह की कामनाओं की चीजें माँगा करते हैं। भोग और मोक्ष की लालसा अधोक्षज में अहैतुकी और अप्रतिहता भक्ति या सेवा-वृत्ति को विलुप्त कर देती है, इसलिये भुक्ति और मुक्ति की कामना को ऐकान्तिक सेवकगण 'पिशाची' कहा करते हैं। श्रीमद्भागवत ने भगवान् की अहैतुकी भक्ति को ही जीव के लिये एकमात्र परम धर्म बताया है,—(भा० १ । २ । ६) —

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥

जिससे अधोक्षज श्रीकृष्ण में अहैतुकी और अप्रतिहता भक्ति का उदय होता है,—एकमात्र वही सब मनुष्यों का धर्म है। भगवान् की इस अहैतुकी सेवा के द्वारा ही आत्मा पूर्णरूप से प्रसन्नता लाभ करती है। सुतरां इस अहैतुकी और अप्रतिहता भगवत्-सेवारूपी आत्मा की नित्यवृत्ति में जो भोग या मोक्ष की इच्छा बाधा देने को उद्यत हो, उसे पिशाची के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? कर्मी और ज्ञानी सम्प्रदाय इस पिशाची के कराल ग्रास में पड़ते हैं। वे लोग अपने को कितना ही शास्त्रवित् पण्डित मानकर अभिमान क्यों न करें। जब वे भगवान् की अहैतुकी नित्य सेवावृत्ति में किसी और कामना को चरम समझने को तैयार हैं, तब उनका सारा परिश्रम व्यर्थ है। भागवत में कहा है,—(१ । २ । ८)

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन-कथासु यः।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

वर्णाश्रम के आचार का पालन करते हुए स्वर्ग

प्राप्ति के "धर्म" और मोक्ष प्राप्ति के "त्याग" रूपी धर्म का यथा विहित रूप से पालन करके भी यदि भगवान् की चर्चा में आसक्ति उत्पन्न न हो, तो उसका सारा ही व्यर्थ होता है। क्योंकि स्वर्ग-फल का विनाश करने वाली भगवान् की सेवा विमुखता के दण्ड स्वरूप जो सायुज्य मुक्ति असुरों को मिलती है, वह भी आत्मा के नित्य धर्म को आच्छादित करनेवाली है। इसीसे श्री-कविराज गोस्वामी ने श्रीचैतन्यचरितामृत के प्रारम्भ में और श्रीमद्भागवत ग्रन्थ ने सबसे पहले मुक्ति की लालसा के लिये अत्यन्त घृणा प्रकट की है। श्रीचैतन्यचरितामृत के आदि १म परिच्छेद में है, —

अज्ञान तम का नाम कहिये कैतव ।
धर्म-अर्थ काम वाञ्छा आदि जो सब ॥
उनमें मोक्ष - लालसा है कैतव-प्रधान ।
जिससे कि कृष्णभक्ति होये अन्तर्धान ॥
कृष्ण - भक्ति-बाधक जो शुभाशुभ कर्म ।
सो भी जीव के लिये अज्ञान-तमोधर्म ॥

श्रीगौरसुन्दर ने मोक्ष की लालसा को पिशाची के समान दुःसङ्ग बताया है, -(चै० च० मध्य २४ श प०)—

दुःसङ्ग कहिये कैतव आत्मवञ्चना ।
कृष्ण, कृष्णभक्ति बिना अन्य कामना ॥
'प्र' शब्द से मोक्षवाञ्छा कैतव प्रधान ।
श्रीधर स्वामी ने किया यही व्याख्यान ॥

सुतरां भुक्ति मुक्ति की लालसा के पिशाची होने में और सन्देह ही क्या है ?

ऐश्वर्य चाहनेवाले भक्तगण कभी-कभी श्री-नारायण की सेवा की वजह सालोक्य अर्थात् भगवान् के साथ एक लोक में निवास, सामीप्य अर्थात् भगवान् के पास रहना, सारूप्य अर्थात् भगवान् के जैसा रूप, सार्ष्टि अर्थात् भगवान् के समान ऐश्वर्य—यह चार प्रकार की मुक्ति की इच्छा किया करते हैं, किन्तु सायुज्य अर्थात् भगवान् में मिल जाने की कामना कभी नहीं करते। क्योंकि उससे नित्य भगवत् - सेवा की वृत्ति दूर भागती है। जो असुरों की तरह भगवद्विरोधी नास्तिक हैं, वे ही ऐसी सायुज्य मुक्ति रूपी पिशाची के ग्रास में पड़ने के लिये कठोर साधनायें किया करते हैं। ऐश्वर्य परायण भगवद्भक्तों की वाञ्छित चार प्रकार की मुक्ति शुद्ध भक्तों के पास आती भी है, तो वे उसे लौटा देते हैं। श्रीनारद पञ्चरात्र का कहना है, -

हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादि सिद्धयः ।
भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिका - वदनुव्रताः ॥

जैसे दासियाँ भय और सम्भ्रम के साथ राज-रानी के साथ चलती हैं, वैसे ही मुक्ति आदि समस्त सिद्धियाँ और अपूर्व भोगादि कृष्णभक्तिरूपी महा देवी के साथ रहती हैं।

ज्ञानतः सुलभा मुक्तिर्भुक्तिर्यज्ञादि-पुण्यतः ।
सेयं साधनसहस्रैर्हरिभक्तिः सुदुर्लभा ॥

निपुणता के साथ ज्ञान की आलोचना आदि के करने से मुक्ति सुलभ होती है, यज्ञादि पुण्यकर्म से भी इह लोक और परलोक में भोगसुख मिल सकता है, किन्तु हजार-हजार साधन से भी भक्ति मिल नहीं सकती: भक्ति भगवान् की परमगोप्य सम्पत्ति है इसी से श्रीमद्भागवत के (५ । १६ । १८) में कहा है, कि भगवान् कभी मुक्ति दे देते हैं, किन्तु भक्ति योग कभी प्रदान नहीं करते। हरिभक्तिसुधो-दय में प्रह्लाद ने श्रीनृसिंह देव से कहा है,—"सुखानि गोष्पदायन्ते ब्राह्माण्यपि जगद्गुरो"—अर्थात् कृष्ण-सेवा के आनन्द-सागर के आगे ब्रह्मानन्द भी गोष्पद के समान है। श्रीभगवान् ने उद्धवगीता में कहा है,—(११ । २० । ३४)—

न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥

मेरे एकान्तिक बुद्धिमान् साधु भक्त-गण जगत् का कुछ भी नहीं चाहते, यहाँ तक कि यदि मैं उन्हें योगियों का प्रिय कैवल्य या जन्म-मरण-रहित मोक्ष भी प्रदान करूँ, तो वे उसे भी नहीं चाहते।

श्रीमद्भागवत (३ । २६ । १३) में कपिलदेव ने माता देवहूति से कहा है—

सालोक्य-सार्ष्टि सारूप्यसामीप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

कृष्ण सेवा - परायण शुद्ध भक्तगण सालोक्य (वैकुण्ठवास), सार्ष्टि (नारायण के समान ऐश्वर्य),

सारूप्य (चतुर्भुज आकार), सामीप्य (नैकट्य लाभ) और एकत्व (सायुज्य या अभेद गति) के मिलने से भी उसे नहीं लेते । वे मेरी अप्राकृत सेवा के अतिरिक्त और कुछ चाहते ही नहीं ।

नवम स्कन्ध (९।४।४६) में श्रीभगवान् ने दुर्वासा से कहा है,—

मत्सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादि चतुष्टयम् ।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविप्लुतम् ॥

मेरी सेवा द्वारा सालोक्यादि चारों मुक्तियों के स्वयं उपस्थित होने पर भी जब मेरी सेवा में मन लगाये हुए मेरे शुद्ध भक्तगण उसे ग्रहण नहीं करते, तब काल के द्वारा नष्ट होनेवाले मायामय भोग और सायुज्य मुक्ति को वे कैसे चाहेंगे ? श्रीहनुमान् ने रामचन्द्र से कहा है,—

भवबन्धच्छिदे तस्मै स्पृहयामि न मुक्तये ।
भवान् प्रभुरहं दास इति यत्र विलुप्यते ॥

'हे प्रभो,' जिसके द्वारा 'आप प्रभु और मैं दास'—इस नित्य स्वरूप-सम्बन्ध का विलोप होता है, वह मुक्ति चाहे भवबन्धन का छेदन करनेवाली ही क्यों न हो, मुझे उसकी लालसा नहीं ।

मुक्तिकामी निर्विशेष-वादियों की यह धारणा है कि दास्य और सख्य आदि पाँचो रस मुक्ति की पहली अवस्था में उदित होते हैं,—सविकल्प समाधि के राज्य में जीव 'भगवान् के दास" —ऐसे ही एक भाव को ग्रहण करता हुआ उपासना करता है, निर्विकल्प या चरमावस्था में फिर दास्यादि भाव रह नहीं जाता; सुतरां उनके मत से दास्यादि-रस मुक्ति की प्रागावस्था का विषय है । श्रीमद्भागवत आदि सिद्धान्त शास्त्रों का कहना है, कि अमुक्त के मुख से निकली दास्यादि रस की बातें केवल बातें ही बातें हैं, बिना मुक्त हुए उस रस का अधिकारी कोई हो ही नहीं सकता । सम्पूर्णरूप से अनर्थमुक्त मनुष्य ही नित्य सिद्ध दास्यरस का अधिकार पा सकता है । श्रीगीता (१८ । ५४) में भगवान् ने अर्जुन से यही बात कही है,—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥"

श्रीभागवत (६ । १४ । ४) में कहे जाने पर भी जान पड़ता है, कि कोटि-कोटि मुक्त और सिद्धों में नारायण-परायण प्रशान्तात्मा पुरुष अत्यन्त दुर्लभ हैं । भागवत (१ । ७ । १०) के श्लोक से भी जाना जाता है, कि श्रीहरि के ऐसे गुण को आत्माराम मुनिगण सब प्रकार के बन्धन से मुक्त होकर भी उरुक्रम श्रीकृष्ण में मोक्षादि फलाभिसन्धान-रहिता हेतु-रहिता भक्ति का याजन करते हैं । निर्विशेषवादियों के आगे असुरों के प्राप्य आत्म विनाश ही परम-श्लाघ्य वस्तु है, सुतरां वे पहले उपासना, भक्ति या भगवान् की बातों को मुँह से स्वीकार करके भी अन्त में सायुज्य मुक्ति पिशाची की गोद में विश्राम करने के लिये ही लालायित होते हैं । हाय ! हाय ! निर्विशेषवादियों की कैसी दुर्दशा है ! उन्होंने इह-काल में भी दुःख भोगा —कितने कष्ट साध्य साधन कर कितने कष्ट सहे, अन्त में उन्हें मिला पर्वतादि आच्छादित-चेतन स्थावर जैसे आत्मवृत्ति सेवा की विलुप्त करनेवाली अचेतनप्राय गति ।

भगवत्-सेवा ही आत्मा की नित्य वृत्ति है, वह वृत्ति यदि पिशाची के हाथ से विनष्ट हो गई, तो इससे बढ़कर और क्या दुर्दशा हो सकती है ? इसी से भागवत लोगों ने मुक्ति की लालसा को कैतव (कपटता) बताया है—श्रीकविराज गोस्वामी ने उसी भागवत की आवाज से आवाज मिलाकर कहा है,—

अज्ञान तम का नाम कहिये कैतव ।
धर्म-अर्थ-काम-वाञ्छा आदि जो सब ॥
उनमें मोक्ष लालसा है कैतव - प्रधान ।
जिससे कि कृष्ण भक्ति होये अन्तर्धान ॥

सुतरां जो जादूगरनी अच्युत भक्ति को भी विनष्ट करने को उद्यत होती है, उस मुक्ति की लालसा को पिशाची राक्षसी प्रभृति न कहें तो और क्या कहें ?

नित्य धर्म और संसार

(गतांक से आगे)

अनन्त०—तुमने कितनी ही बातें एक साथ पूछी हैं। मैं एक-एक बात का उत्तर दे सकता हूँ। थोड़ी उम्र या अधिक उम्र की कोई बात नहीं। पूर्व संस्कार और वर्त्तमान संस्कार के बल से किसी-किसी गृहस्थ भक्त को कम उम्र में ही गृहत्याग का अधिकार हो जाता है। शुकदेवजी ने जन्मते ही इस अधिकार को पाया था। केवल इतना ही देखना चाहिये कि वह अधिकार नकली न हो। वास्तव में निरपेक्षता उत्पन्न होने पर कम उम्र से कोई बाधा नहीं पड़ती।

यादव०—वास्तव और कृत्रिम निरपेक्षता किसे कहते हैं?

अनन्त०—यथार्थ निरपेक्षता दृढ़ है, वह किसी समय में टूटती नहीं। कृत्रिम निरपेक्षता प्रतिष्ठा की आशा, धूर्तता और शठता से प्रकट होती है। निरपेक्ष गृहत्यागी भक्तों का सम्मान पाने की आशा से किसी किसी में नकली अधिकार प्रकट होता है। वह निरर्थक और बहुत ही अमङ्गलजनक है। गृहत्याग करते ही फिर वह अधिकार-लक्षण दिखाई नहीं देता। तब दौरात्म्य उपस्थित होता है।

यादव०—क्या गृहत्यागी भक्त को वेश लेना पड़ता है?

अनन्त०—अच्छी तरह गृहस्पृहा दूर हो जाने पर चाहे वे वन में रहें या घर में, निरपेक्ष अकिञ्चन भक्त जगत् को पवित्र करते हैं। उनमें कोई-कोई भिक्षुक का परिचय पाने के लिये कौपीन और कन्था ग्रहण करते हैं। कौपीन और कन्था ग्रहण करने के समय कितने ही लोग गृहत्यागी वैष्णवों की साक्षी देकर अपनी प्रतिज्ञा को दृढ़ करते हैं। इसीका नाम भिक्षाश्रम-प्रवेश या वैराग्य ही वेश धारण करना है। यदि इसीको तुम वेश लेना कहते हो, तो इसमें दोष ही क्या है?

जगत् में भिक्षाश्रमी के नाम से परिचित होने पर फिर वह अपने परिवार के लोगों से सम्बन्ध न रखेगा, उन्हें सहज में ही छोड़ देगा और स्वयं भी फिर घर में प्रवेश करने की इच्छा न करेगा। सहज निरपेक्ष प्रवृत्ति के साथ उसमें लोकाशङ्का भी उपस्थित होगी। परिपक्व निरपेक्ष गृहत्यागी भक्तों के लिये वेश का आश्रय चाहे किसी काम का न हो, किन्तु किसी-किसी के लिये वेश का आश्रय कुछ काम कर जाता है। 'स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठितम्' (भा० ४। २६। ४७)—ऐसे लक्षण वाले भक्तों के लिये वेश का आश्रय है ही नहीं। उनके लिये तो लोगों की अपेक्षा भी प्रयोजनीय है।

यादव०—किससे वेश का आश्रय लेना चाहिये?

अनन्त०—गृहत्यागी वैष्णवों से वेश का आश्रय लेना उचित है। गृहस्थ-भक्त ने गृहत्यागी के व्यवहार का स्वाद लिया नहीं, इसलिये उन्हें किसी को भी वेश का आश्रय न देना चाहिये। क्योंकि शास्त्र में लिखा है,—

अपरीक्ष्योपदिष्टं यत् लोकनाशाय तद्भवेत्।

(ब्रह्मवैवर्त)

अर्थात्—स्वयं आचरण न करके धर्मोपदेश करने से वह जगत् में उत्पात का कारण कहाता है।

यादव०—जिसने वेश का अर्पण किया, उन गुरुदेव को किस-किस विषय पर विचार करना चाहिये?

अनन्त०—पहले गुरुदेव देखें कि शिष्य उपयुक्त पात्र है या नहीं? उसने गृहस्थ भक्त होकर कृष्ण-भक्ति के बल से शमदमादि ब्रह्म-स्वभाव प्राप्त किया है या नहीं? स्त्रीसङ्ग की आदत दूर हो गई है या नहीं? धन की प्यास और अच्छा खाने पहनने की इच्छा निर्मूल हो गई है या नहीं? वे कुछ दिन शिष्य को अपने पास रख अच्छी तरह उसकी परीक्षा करें। जब उसे उपयुक्त पात्र समझें, तब शिक्षाक्रम का उपदेश दें। इससे पहले किसी तरह भी न दें।

अनुपयुक्त पात्र को वेश देने से गुरु अवश्य पतित होंगे।

यादव०—अब आप कहते हैं कि वेश लेना कोई जुबानी जमा खर्च नहीं, बहुत ही कठिन बात है। इसे अनुपयुक्त गुरुओं ने व्यावहारिक बना डाला है। अभी तो आरम्भ हुआ है, नहीं मालूम अन्त में क्या होगा?

अनन्त०—श्रीमन्महाप्रभु ने इस पद्धति को पवित्र रखने के लिये बहुत ही थोड़ा दोष करनेवाले हरिदास को दण्ड दिया था। जो हमारे प्रभु के अनुगत हैं, वे सदा हरिदास के दण्ड को याद रखें।

यादव०—वेश लेकर अखाड़ा जमाना और देव सेवा करना क्या उचित कहते हैं?

अनन्त०—उपयुक्त रीति भिक्षाश्रम में प्रवेश कर प्रतिदिन भिक्षा द्वारा जीवन निर्वाह करें। अखाड़ा आदि का आडम्बर न करें। किसी तरह किसी एकान्त कुटी में या गृहस्थ के देवालय में रहें। धन के लिये जो हो, उसे न करें। सदा निरपराध रहकर कृष्ण नाम लें।

यादव०—जो अखाड़ा जमाकर गृहस्थ की तरह रहते हैं, उन्हें क्या कहते हैं?

अनन्त०—उन्हें वान्ताशी कहते हैं। अर्थात् एक बार वमन करके फिर उसी को खानेवाले।

यादव०—क्या वे वैष्णव नहीं रहते?

अनन्त०—जब उनका व्यवहार विधि के अनुसार नहीं है, और वे वैष्णव-विरोधी हैं, तब उनका सङ्ग कैसा? वे शुद्ध भक्ति त्याग कर शठता का अवलम्बन करते हैं। उनमें वैष्णवता का सम्बन्ध कहाँ?

यादव०—जब उन्होंने हरिनाम का त्याग नहीं किया, तब कैसे कहा जाय कि उन्होंने वैष्णवता छोड़ दी है?

अनन्त०—हरिनाम और नामापराध पृथक् वस्तु है। नाम के बल से जहाँ पाप दिखाई दे, वहाँ समझना चाहिये, कि नामापराध है। नामापराध से बहुत दूर भागना चाहिये।

यादव०—क्या उनकी गृहस्थी को कृष्ण-संसार कह नहीं सकते?

अनन्त०—कभी नहीं। कृष्ण-संसार में शठता नहीं है, पूरी तरह से सरलता है। वहाँ अपराध है ही नहीं।

यादव०—तब शायद वे गृहस्थ भक्त से भी हीन हैं?

अनन्त०—जब वे भक्त ही नहीं हैं, तब किसी भक्त के साथ उनकी बराबरी का विचार नहीं।

यादव०—उनका उद्धार कैसे होगा?

अनन्त०—जब वे उन सब अपराधों को छोड़ सदा नाम लेने का समय पा पड़ेंगे, तब वे फिर भक्तों में गिने जायेंगे।

यादव०—बाबाजी महाराज! गृहस्थ भक्तगण वर्णाश्रम के आश्रय में रहते हैं; क्या वे वर्णाश्रम छोड़कर गृहस्थ वैष्णव हो नहीं सकते?

अनन्त०—आहा! वैष्णवधर्म बहुत ही उदार है। इसका एक नाम जैवधर्म है, सब मनुष्यों को ही वैष्णवधर्म का अधिकार है। अन्त्यज लोग भी वैष्णवधर्म ग्रहण कर गृहस्थ हो सकते हैं। उनके वर्णाश्रम है ही नहीं। वर्णाश्रम से संन्यास-भ्रष्ट लोग बाद को साधुसङ्ग में शुद्धभक्ति प्राप्त कर गृहस्थभक्त हो सकते हैं उनके लिये भी वर्णाश्रम की कोई विधि नहीं। बुरे काम के लिये जो लोग वर्णाश्रम से च्युत हैं, वे और उनकी सन्तानें यदि साधुसङ्ग से शुद्ध भक्ति का आश्रय कर गृहस्थ भक्त हों, तो उनके लिये भी वर्णाश्रम नहीं है। अतएव गृहस्थ भक्त भी दो प्रकार के हैं—वर्णाश्रम-धर्म-युक्त और वर्णाश्रम धर्म-रहित।

यादव०—इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है?

अनन्त०—जिनमें अधिक भक्ति है; वे ही श्रेष्ठ हैं। भक्ति हीन होने की वजह व्यावहारिक मत से दोनों में वर्णाश्रमी श्रेष्ठ है, क्योंकि उनमें धर्म है; दूसरा अन्त्यज है। परमार्थ में दोनों ही अधम हैं, क्योंकि भक्तिहीन हैं।

(क्रमशः)

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्द्वान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्द्वान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ; बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपुर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ; कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ; बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
अगस्त्यकुण्ड, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० ४३ हनुमान रोड, न्यू देहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपुरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्द्वान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकोंदा चीरकुण्डा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरोलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपुर

(३१) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ
कर्वुर, वेष्ट गोदावरी, मद्रास

(३२) ग्वालपाड़ा प्रपन्नाश्रम, आसाम

(३३) त्रिदण्डी-गौड़ीय मठ भुवनेश्वर, पुरी

(३४) श्रीसारस्वत-गौड़ीय मठ हरिद्वार

Registered No. A. 319

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by B. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow.

वर्ष २]

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

[संख्या १६

भागवत

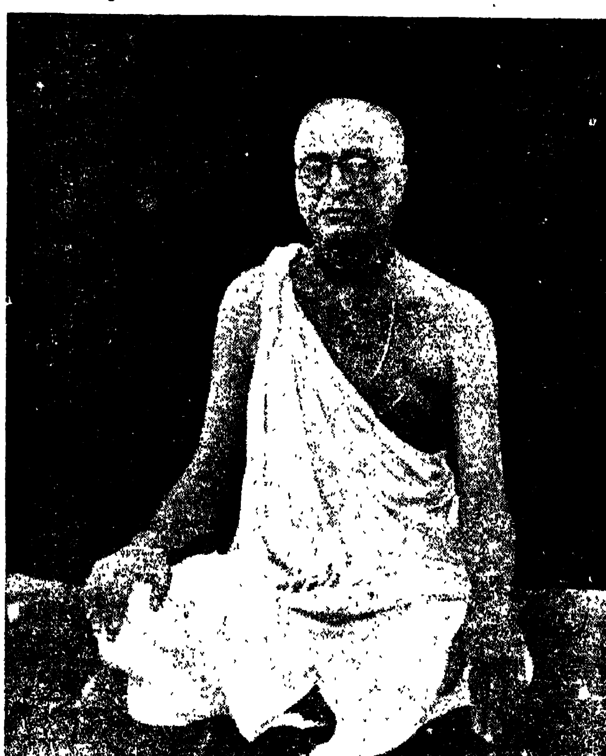
एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

8th June. 1933

त्रिविक्रम
गौरपक्ष
गौराब्द
४४७

ज्येष्ठ
पूर्णिमा
संवत्
१९९०

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥



क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्तसरस्वती गोस्वामी महाराज

प्रति संख्या -) } सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन { वार्षिक सडाक १।।)

Editor:—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन छपाई की दर नीचे लिखी है:—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम	८)
आधा ,, १ ,,	५)
चौथाई ,, ½ ,,	३)
२ इंच ,, ¼ ,,	१॥)
१ ,, ,, ⅛ ,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये—

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

सेठ रामयश रोड, नरही, लखनऊ.

All communications are to be addressed to—

The Manager 'Bhagwat'
Seth Ramjas Road,
Narhe,
LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भागवत

वर्ष ७ | श्री परमहंस मठ, नैमिषारण्य
ज्येष्ठ-पूर्णिमा गौराब्द ४४७, सं० १९९० वि०, ८ जून सन १९३३ ई० | संख्या १६

भजन-गीत

भजहु रे मन श्रीनन्दनन्दन अभय चरणारविन्दु रे ।
दुर्लभ मानव - जनम, साधुसंग करि तरहु भव सिन्धु रे ॥
सीत आतप वात बरसात दिन अरु जामिनि जागि रे ।
विफल है सेवन कृपन दुर्जन चपल सुखलव लागि रे ॥
ये धन यौवन पुत्र परिजन यहाँ है किसकी प्रतीति रे ।
कमल-दल जल जिमि जीवन है टलमल भजहु हरि पद नीति रे ॥
श्रवन कीर्तन स्मरण बन्दन पादसेवन और दास्य रे ।
पूजन सखिजन आत्मनिवेदन गोविन्द दास की अभिलाष रे ॥

लण्डन में श्रीगौड़ीय मठ का प्रचार-कार्यालय

(बन महाराज का तार समाचार)

लण्डन ११-५-३५.

लण्डन, ट्वीन ब्रुक्स गार्डेन्स, केनसिंगटन, एस्. डब्लू० टेन—इस पते पर लण्डन में श्रीगौड़ीय मठ का एक प्रचार-कार्यालय स्थापित हुआ है। भारत सेक्रेटरी आफ स्टेट सर फिण्डलाटर स्टुअर्ट महाशय से मिलकर हम कृतार्थ हुए हैं। इन्होंने हमारे प्रचार कार्य में सब तरह से सहायता देने का वचन दिया है। × × × प्रचार आशाप्रद है। हमलोग सेक्रेटरी आफ स्टेट महाशय को मठ में निमन्त्रित कर रहे हैं। × × श्रीमान् सच्चिदानन्द डाक्टर (लण्डन विश्व-विद्यालय की सबसे उच्च उपाधि) की उपाधि पाने के लिये भर्ती हुए हैं।



[illegible] बन महाराज

सेवा और कृपा

बिना साधु गुरु की कृपा के हरिगुरु-वैष्णव की सेवा नहीं प्राप्त होती।

महत्-कृपा बिना कोन कर्मे भक्ति नहीं होय।
कृष्ण भक्ति दूरे रहु संसार नहो क्षय॥
संसार भ्रमिते कोई भाग्यवान जीव।
गुरु-कृष्ण कृपा पाये भक्ति-लता बीज॥
साधु शास्त्र कृपा यदि कृष्णोन्मुख होय।
सेइ जीव निस्तार पाये माया अलगाय॥

(श्री चैतन्यचरितामृत)

बिना भक्त की कृपा के जब कृष्ण सेवा की प्राप्ति हो नहीं सकती, तब क्या हम लोग निश्चेष्ट होकर बैठे रहें या कृष्ण-सेवा के विरुद्ध किसी काम में

नियुक्त हों ? कितने ही लोग इस प्रश्न का समाधान न कर सकने की वजह कृष्ण-सेवा के अनुकूल विषय की खोज करने के बदले अपनी इन्द्रियों को तृप्त करनेवाले कामों में आने का अर्थ कर देते हैं और अपने भोग के कामों का समर्थन करने के लिये भगवान् और भक्तों की नकल दया के कहते हैं —"भगवान की कृपा के अभाव से ही हम विषय में मग्न हैं, भगवान् की कृपा होने पर ही सेवा बुद्धि उत्पन्न होगी।" यदि साधु लोग कृपा करके भी लोगों को कृष्ण-सेवा के अनुकूल कामों में नियुक्त होने का उपदेश देते हैं तो वे कहते हैं — "महाराज, आप की कृपा होने से ही सेवा कर सकता हूँ। न आप कृपा करते हैं और न मेरा दुर्दैव दूर होता है।"

हाय ! हम कैसे बेवकूफ हैं । सद्गुरु - भगवान्-गण ! जो भी अपनी कृपा बिखेर कर रहे हैं; हमें भटके फिरते देख वे गङ्गा की बाढ़ लाकर हमें उसमें लेना देते हैं; किन्तु हम एक ऊँचा मचान तैयार कर उस पानी से अपना आप बचाने के लिये उस पर चढ़ बैठते हैं । भगवान और भक्तों की कृपा तो लगातार भुवनधारा में बह रही है। किन्तु हम उसे ग्रहण ही कब करते हैं ? साधु वैद्य ज्वर-दमनी दवा हमारे गले के नीचे उतार देते हैं, हम गले में उँगली डाल उसे वमन द्वारा निकाल देने की चेष्टा करते हैं और साधु पर दोष देते हैं कि "मुझे दवा खिलाने के बदले वे मेरी तरफ से आप ही उसे क्यों नहीं खा लेते ? मैं दवा खाने की तकलीफ न उठाऊँगा, केवल दवा में होनेवाले आरोग्य या स्वास्थ्य लाभ के फायदे को वे तकलीफ लेना चाहता हूँ ।"

इस प्रकार अनात्मविचार के मूल में कृष्ण और कृष्ण भक्त में भोग-बुद्धि मौजूद है । ऐसे विचारों में कपटता या उसका फल अपने को धोखा देने के सिवा और कुछ नहीं । सेवा में लगना ही भगवान की कृपा है । भगवद्भक्त लोग हमें सेवा में लगाते हैं, यही उनकी अयाचित कृपा है । कृष्ण और कृष्ण-भक्त में भोग-बुद्धि रखनेवाले कपटी मनुष्य ही भक्तों की सेवा को कृपा न समझ और कुछ समझ बैठते हैं और कपटता के साथ फिर कृपा की भिक्षा का बहाना दिखाते हैं । जो वास्तव में निष्कपट हैं, वे कृपा देवी को स्वर्गीय मूर्ति के रूप में सेवा विलक्षण करने को उपस्थित पाते हैं । सब निष्कपट कृपा की इच्छा रखनेवाले मनुष्य कृपा देवी को सेवा के रूप में प्राप्त कर लगातार [illegible] उनका [illegible], सेवा के अनुकूल काम में प्रवर्तित और [illegible] के विरोधी, तथा [illegible] कृपा की भिक्षा माँगनेवाले मनुष्यों का सङ्ग छोड़, सदा सेवा-परायण और [illegible] से अतृप्त रहते हुए केवलमात्र नई नई सेवा के लिये कृपालु साधुओं की सेवा में लगे रहते हैं । सेवा ही कृपा और कृपा ही सेवा है । कृपा का अन्तिम फल सेवा और सेवा का चरम फल कृपा है । सेवा के अनुकूल कामों से ही भगवान् और भक्तों की कृपा मिलनी और सेवा का पुरस्कार निश्चित होना है । सेवा के विमुख कामों से सेवा-विमुखता का पाप जमा होता है । अतएव जो सेवा विमुख कार्य में नियुक्त होकर कपटता के साथ भी कृपा का सुख-स्वप्न देखा करते हैं, वे सदा के लिये वञ्चित रह जाते हैं —उनके भाग्य में भगवत्-कृपा की प्राप्ति हो ही नहीं ।

श्रीमद्रामानुजाचार्य के आविर्भाव के कुछ बाद, उनके बाद की शिष्य-शाखा में 'वड़गलई' और 'तेङ्गलई' नामक दो सम्प्रदायों में 'साधन' और 'कृपा' पर विवाद उठ खड़ा । दक्षिण प्रान्त के रामानुजी वड़गलई और [illegible] के तेङ्गलई नाम से प्रसिद्ध हुए । वड़गलई लोग साधन को ही भगवत् सेवा का एकमात्र उपाय बताते हुए तेङ्गलई लोगों से अलग हो बैठे, उधर तेङ्गलई लोग वड़गलई लोगों से यह मतभेद कर बैठे, कि साधन की कोई आवश्यकता नहीं, एकमात्र भगवत् कृपा से ही भगवत्सेवा प्राप्त होती है । इस तरह दोनों दल में खूब वाद विवाद हुआ । श्रीमद्रामानुज की नवीं पीढ़ी के श्रीवरवर मुनि ने दोनों ही मत को बराबर ठहरा दिया । फिर भी यह सम्प्रदाय दो भागों में अलग हो चल रहा है ।

कलियुग के पावन-अवतार श्रीगौराङ्ग-सुन्दर ने

उक्त दोनों प्रकार के एकदेश-वर्त्ती विचार की सुन्दर मीमांसा कर दी है। उन्होंने मनुष्यों को समझा दिया है, कि सद्गुरु के सङ्ग से, गुरु और वैष्णव की सेवा किये बिना बद्ध जीवों पर कृष्ण कृपा होती ही नहीं।

"तासे भजे कृष्ण, करे गुरु का सेवन।
मायाजाल छूटे, मिले कृष्ण के चरन॥

क्रिया लौकिक हो या वैदिक, वह हरि-सेवा के अनुकूल होने से ही कृष्णकृपा या क्रमशः कृष्ण में एकान्तिकी सेवा की प्राप्ति का कारण कहाती है। फिर कृष्ण भक्तों की कृपा न होने से भी कृष्ण-सेवा में निष्ठा के साथ रति नहीं होती। सुतरां कृपा और साधन, ये दोनों आपस में बराबर लिपटे हुए हैं, बिना एक के दूसरा रह ही नहीं सकता। जिनमें साधन या सेवा के लक्षण दिखाई देते हैं, उनसे ही समझना चाहिये कि उन पर कृष्ण की कृपा है। सेवोन्मुखी सुकृति (पुण्य) का सञ्चय या साधन ही परम सेवा की प्राप्ति की पहली अवस्था है; वह सेवा विमुख कर्म की चेष्टा मात्र नहीं है। सुतरां साधन या सेवा के अनुकूल ज्ञान या अनजान में होनेवाले कर्म ही भगवत्-कृपा से होनेवाले व्यापार हैं। भगवत्-सेवा की अनुकूल चेष्टा और कृपा अलग-अलग वस्तु नहीं है। अभिधेय साधन-भक्ति या सेवा ही पूर्ण सम्बन्ध ज्ञान का पिता है, फिर पूर्ण-सम्बन्ध-ज्ञान का उदय होने से ही अहैतुकी नित्य सिद्धा पराभक्ति का आविर्भाव होता है। श्रीमद्भागवत का कहना है, -(१।२।७)—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च यदहैतुकम्॥

अद्वयज्ञान भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण में परमा भक्ति का उदय कराने की चेष्टा रूपी भगवद्भक्ति के किये जाने पर ही वह शीघ्र विषयभोग का त्याग कराती और कृष्ण के सम्बन्ध ज्ञान को उत्पन्न कराती है। सुतरां साधन या सेवा के बिना किसी तरह भी कृपा मिल नहीं सकती।

अभिधेय—श्रीकृष्ण-भक्ति के आचार्य श्रीरूपपाद ने भक्ति-रसामृत-सिन्धु ग्रन्थ (पूर्व ३।८।१० संख्या) में साधन-अभिनिवेशज और कृष्ण तथा कृष्णभक्त के प्रसादज भाव का उल्लेख किया है। साधन द्वारा जो भाव उदित होता है, वही साधनाभिनिवेशज भाव है और, —

साधनेन विना यस्तु सहसैवाभिजायते।
स भावः कृष्णतद्भक्तप्रसादज इतीर्यते॥

बिना साधना के जो भाव उत्पन्न होता है, वही कृष्ण अथवा कृष्ण-भक्त की कृपा से होनेवाला भाव बताया गया है। कृष्णप्रसाद से होनेवाले भाव तीन प्रकार के हैं, वाचिक, आलोकदान और हार्द। वाचिक-प्रसादज भाव का उदाहरण नारद पुराण में नारद के प्रति भगवान् के वाक्य में दिखाई देता है—हे नारद, तुम्हारे हृदय में मेरी पूर्णानन्दमयी, सर्वमङ्गल-शिरोमणि, अव्यभिचारिणी सेवा उत्पन्न हो। स्कन्दपुराण के एक स्थान में आलोकदानज भाव का दृष्टान्त दिखाई देता है—जाङ्गलदेशनिवासी लोग कभी न देखे गये श्रीकृष्ण के दर्शन कर आर्द्रचित्त हो गये। इसलिये कृष्ण की ओर से वे अपनी दृष्टि हटा न सके। चित्त में जो प्रसन्नता होती है, वही हार्द-प्रसाद है।

शुक-संहिता ग्रन्थ में इसका उदाहरण दिखाई देता है,—हे बादरायण, तुम्हारे एक महाभागवत पुत्र उत्पन्न हुए हैं, बिना साधन ही उनमें बहुत बहुत साधन से उत्पन्न होने वाली विष्णुभक्ति का उदय हुआ है। इसके बाद कृष्णभक्त प्रसादज भगवत् रति का उदाहरण श्रीप्रह्लाद के चरित्र में दिखाई देता है,—(भा० ७।४।२८)—इस पर श्रीरूपपाद ने कहा है,—

नारदस्य प्रसादेन प्रह्लादे शुभवासना।
निसर्गः सैव तेनात्र रतिर्नैसर्गिकी मता॥

भक्तराज नारद के प्रसाद से प्रह्लाद के प्रति जो शुभ वासना है, वही यहाँ 'निसर्ग' है। वह निसर्ग या स्वभाव-जनित रति ही नैसर्गिकी (स्वाभाविकी) रति कही जाती है। विचार कर देखने से साक्षात् भगवान् और भक्तप्रसादज भगवत्-रति भगवत्-सेवा में लगे हुए मनुष्यों पर ही बरसती है। श्रीनारद के प्रति भगवान् का जो प्रसाद है, उसका कारण श्रीनारद की सेवोन्मुखता या पूर्वजन्मार्जित साधु-वैष्णव की सेवाजनित सुकृति है। जाङ्गल-

देशवासियों में श्रीकृष्ण के दर्शन से हृदय में जो आनन्द की अनुभूति हुई, वही उनके सेवोन्मुख सुकृति के उदय होने का लक्षण है और कृष्ण में रति का पूर्वाभास है। प्रह्लाद की सेवोन्मुखता को देखकर नारद का जो प्रसाद है, वही प्रह्लाद के प्रति नारद की कृपा है।

श्रीभगवान् सदा ही हम लोगों पर कृपा-वर्षण करते रहते हैं। वृहत् भूखण्ड जैसे छोटे पत्थर के टुकड़े को सदा आकर्षण करता है, सूर्यदेव जैसे वायु के सहारे ग्रह, उपग्रह आदि को सदा आकर्षण करते रहते हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण भी अणुचैतन्य विभिन्नांश जीवों को सदा आकर्षण करते रहते हैं; वे श्रौतपन्था रूपी वायु द्वारा—साधुओं के मुख से निकले वाक्यों द्वारा जीवगण को सदा आकर्षण करते रहते हैं। यह बात बिलकुल असम्भव है, कि भगवान् का कृपाकर्षण नहीं है। कृपा-पारावार श्रीभगवान् अपनी तटस्थशक्ति से उत्पन्न जीवों के लिये स्वतन्त्रता रूप जो एक अमूल्य रत्न प्रदान किया है, उस स्वतन्त्रता के दुरुपयोग से ही कितने जीव जान बूझकर भी भगवान् की कृपा से दूर हो पड़ते हैं। जो जीव उस स्वतन्त्रता का यथार्थ उपयोग करते था कर चुके हैं, वे ही भगवान् की नित्य कृपा से सदा अभिषिक्त होते हुए नित्य-सेवा और उत्तरोत्तर नित्यकृपा को लाभ करते हैं। यदि कहा जाय, कि भगवान् ने जीवों को ऐसी स्वतन्त्रता क्यों प्रदान की? असल में उस स्वतन्त्रता को देकर ही तो भगवान् ने भूल की है। उसका उत्तर यह है, कि यदि पुत्र का मङ्गल चाहनेवाला पिता स्नेहवश पुत्र के मङ्गल के लिये उसे बहुमूल्य सम्पत्ति दे दे, और पुत्र उस सम्पत्ति का सद्व्यवहार या सद्व्यय न कर असद्व्यय करने को तैयार हो, तो क्या सम्पत्ति देने के कारण पिता का पुत्र के प्रति स्नेह, कृपा या मङ्गलकामना को कम समझना चाहिये? स्वतन्त्रता चेतन का धर्म है। जीव को यदि उस स्वतन्त्रता से गिरा दिया जाय, तो वह चेतन के बदले जड़ हो पड़ेगा। इसीसे भगवान् जीव की स्वतन्त्रता पर हस्तक्षेप न कर, स्वतन्त्रता रत्न का कुछ भी सद्व्यवहार करनेवाले मनुष्यों पर स्वयं, भक्त, भागवत् प्रभृति के अन्वयमुख से कृपा करते और स्वतन्त्रता का पूर्ण असद्व्यवहार करने वालों पर मायाशक्ति के निपीड़न में डालकर व्यतिरेक भाव से कृपा करते हैं। भगवान् सदा ही जीव पर अन्वयभाव से साक्षात् कृपा करने की ही इच्छा करते हैं—जब तटस्थ जीव उस अयाचित कृपा को ग्रहण करने से उदासीन होता है, तब मायाशक्ति ऐसे अपराधी जीवों को तरह-तरह के त्रिताप द्वारा भगवत्-सेवोन्मुख बनाने की चेष्टा करती है। उन सब जीवों पर कृपा करने के लिये कभी भगवान् स्वयं आते, कभी भक्तों को भेजते हैं, कभी शास्त्रों द्वारा अपनी ओर खींचने की चेष्टा करते हैं। किन्तु हम लोग इतने सेवा-विमुख हैं, कि संसार के अन्धकूप में पड़े हम लोगों की दुरवस्था को देखकर परम कारुणिक श्रीभगवान ने हम लोगों के लिये कृपा की डोर लटका रक्खी है, कृपा करके साधुगण हमारे गृह अन्धकूप के सामने आकर बार-बार हमारे कान में ऊँचे स्वर से पुकार कर भगवत्-कृपा चर्चा से हमारी जानकारी करते रहते हैं। यहाँ तक, कि भगवान अपनी कृपा-डोर को बार-बार हमारे अङ्ग से छुलाते हैं, किन्तु फिर भी हम अपने हाथों से उस डोर को छूते नहीं। साधु लोग जहाँ तक उस रस्सी को हमारे हाथों के सामने खींच लाते हैं, उतना ही कुण्ठित होकर हम अपने हाथों को छिपाते हैं। जो कृपा रूपी डोर को हाथ से छूने का परिश्रम भी स्वीकार नहीं करते, ऐसे बिलकुल ही ईश्वर-विमुख लोग ठग जाते हैं। श्रीगीता में (१८। ६६) भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीअर्जुन को जो चरम उपदेश प्रदान किया है, उसमें भी यही सिद्धान्त दिखाई देता है।

श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभु ने अपनी टीका में लिखा है,—"शरणागतं मोक्षयिष्यामीति मिथः कर्त्तव्यता दर्शिता" अर्थात् शरणागत को मैं सब प्रकार से अनर्थ के हाथ से बचाता हूँ।—इसके द्वारा भगवान् और जीव में परस्पर की कर्त्तव्यता दिखाई गई है। जीव की तरफ से शरणागति और भगवान् की ओर से सेवा प्रदान

है। सुतरां शरणागति ही सेवा और कृपा की प्राप्ति का उपाय है। जहाँ जीव की शरणागति या सेवोन्मुखी वृत्ति नहीं है, वहाँ भगवत्-कृपा भी प्राप्त नहीं होती। श्रुति ने (मुण्डक ३।२।४) में कहा है—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो
न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वान्
तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥

बलदेव स्वरूप श्रीनित्यानन्द श्रीगुरुदेव की कृपा के सिवा जीव सेवा में अधिष्ठित हो नहीं सकता। 'प्रमाद' अर्थात् मनोधर्म, 'तप' अर्थात् ब्रह्मचर्य या ज्ञानादि का अभ्यास और 'अलिङ्ग' अर्थात् संन्यासप्राप्ति या शरणागति के अभाव द्वारा कभी आत्मतत्त्व की प्राप्ति नहीं होती। किन्तु जो बुद्धिमान मनुष्य उक्त उपायों द्वारा ही अर्थात् श्रीगुरु की कृपा, अप्रमाद अर्थात् मनःप्रमादादि से रहित श्रीसाधु गुरु के मुख से निकले वचन का श्रवण, सम्बन्ध ज्ञान या स्वरूप उद्बोधक ब्रह्मचर्य, संन्यास या शरणागति इन सब उपायों द्वारा ही—भगवत्-सेवा की प्राप्ति का यत्न करते हैं, उनकी आत्मा ही ब्रह्मधाम अर्थात् अप्राकृत भगवद्धाम में प्रवेश कर अप्राकृत नित्य सेवा को प्राप्त करती है। सुतरां श्रुतिवाक्य से भी हमें मालूम होता है, 'साधनभक्ति' और 'कृपा' इन दोनों के एक साथ मिलने से ही भगवान् की नित्य-सेवा मिलती है। भक्त-भागवत श्रीगुरु के आनुगत्य को परित्याग करने से साधन का कोई मूल्य ही नहीं; फिर कृपा की आशा से कपटतापूर्वक साधनभक्ति को छोड़ देने से भी परम सेवा का मिलना कठिन है। श्रीमद्भागवत (भा० ३।७।२०) ने कहा है,—दुरापा ह्यल्पतपसः सेवा वैकुण्ठवर्त्मसु॥ वैकुण्ठधाम के पथस्वरूप हरिजन की सेवा अल्प पुण्यशील मनुष्यों के लिये दुर्लभ है। श्रीमद्भागवत ने और भी कहा है,—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

हे भगवन्, जो तुम्हारी कृपा पाने की आशा से अपने कर्मों के मन्द फल को भी निःसंकोच काय-मनोवाक्य से तुममें आत्मसमर्पण कर जीवन बिताते हैं, वे ही तुम्हारी नित्य सेवा और आनुषङ्गिकभाव से अनर्थ की मुक्ति की अवस्था को प्राप्त करते हैं। (१०।१४।८) सुतरां सेवोन्मुखता ही भगवत्कृपा का मूल है, फिर भगवत्कृपा भी सेवोन्मुखवृत्ति को क्रमविकसित और परिस्फुट करने का कारण है। सुतरां 'सेवा' और 'कृपा' परस्पर एक सूत्र में ग्रथित हैं, एक के न होने से दूसरे की सिद्धि हो नहीं सकती।

वृन्दावन की चिट्ठी

"मेरा मन बहुत उदास हो रहा है। माता-पिता वृन्दावन चले गये हैं। वे तीर्थवास कर रहे हैं। मेरे मन में होता है, कि मैं घर में कैसे रहूँगा? माता पिता को छोड़ केवल घर में बैठ क्या करूँगा?" यह सोच ही रहा था, कि इसी समय डाकिये ने दरवाजे का कड़ा खड़-खड़ाया। मैं दौड़ के गया। देखा, कि पिताजी की चिट्ठी आई है। आह! हृदय उमड़ा हुआ। पिता के हाथ की लिखावट ही बहुत है।

"बेटा प्राणेश, हमलोग निरापद वृन्दावन पहुँच गये। किसी तरह की चिन्ता न करना। हमलोग अच्छी तरह हैं। यमुना में स्नान, श्रीराधा कुण्ड और गिरि गोवर्द्धन आदि का दर्शन कर चुके हैं। लालाबाबू के कुञ्ज, सेठ के कुञ्ज और अनेक कुञ्ज देख चुके हैं। यह सब बातें फिर

कहूँगा। आज स्नान करके लौटने के समय 'मिन्नू' के लिये जयपुरी खिलौने और 'टेपी' के लिये चूड़ियाँ खरीदी हैं। तुम्हारे लड़के के लिये झुनझुना और बाँसुरी खरीदी है। और जब जो कुछ दिखाई देता है, उस समय तुमलोग याद आ जाते हो; इसी समय कुछ न कुछ खरीद लेता हूँ। कोई चिन्ता न करना, हम स्त्री-पुरुष बुढ़ापे में तीर्थवास करते हुए भी तुमलोगों के लिये सदा ही चिन्ता करते रहते हैं। जप के समय भी तुम्हारा चन्द्र मुख भूलता नहीं। इसी वेटा प्राणेश, मदन-मोहन जी के गले का हार देख मुझे मुन्नी के मटरूद ने के माले की याद आ गई। इसी तरह हमलोग सदा तुम लोगों को याद किया करते हैं और यद्यपि हम दोनों ने यहाँ आकर दो टिकट लेकर गाड़ी पर चढ़ यहाँ चला आया है, तथापि हम दोनों सदा ही तुम्हारे समीप हैं। आज और समय नहीं है। मथुरा जाने की तैयारी हो रही है। चिट्ठी लिखते रहना। देखना, धौली गाय के पूरे दस महीने हो गये हैं, न जाने किस समय बछड़ा हो जाय। पट-नाशिया कुम्हड़े की जड़ में दोनों समय पानी देना, भूलना नहीं।

आशीर्वादक,—

श्रीचिन्तनेश शर्मा।

प्राणेश एक साँस में पत्र पढ़ गये। हृदय और भी छलकने लगा। इसी समय उन्होंने देखा, कि सामने ही उनके मित्र चिन्तामणि खड़े हैं।

चिन्ता०—क्यों जी प्राणेश, यह किसकी चिट्ठी है?

प्राणेश—पिताजी की चिट्ठी आई है।

चिन्ता०—वाहवा! तुम्हारे पिता तो तीर्थवासी हुए हैं न? तब चिट्ठी कैसी?

प्राणेश०—खूब कहा चिन्तामणि! क्या तीर्थ-वास करने से बाल बच्चों को चिट्ठी भी न लिखना चाहिये?

चिन्ता० बात तो ऐसी ही है! देखूँ, किस तरह का तीर्थवास हो रहा है। (यह कह कर उन्होंने प्राणेश के हाथ से चिट्ठी लेकर पढ़ा;) वाह! तुम्हारे माता-पिता तो खूब तीर्थवास कर रहे हैं!

प्राणेश—कहो तो, क्या हुआ?

चिन्ता०—और बाक़ी ही क्या रहा? यह भी कोई तीर्थवास है? घर की गऊ, कुम्हड़े की लता, तुम्हारी लड़की के गले की कण्ठी और टेपी के हाथ की चूड़ियों में ध्यान लगा है! वाह यार, रुपये खर्च कर इस प्रकार तकलीफ़ उठाने की ज़रूरत ही क्या थी? हम जैसे मूर्ख उसका कुछ मतलब नहीं समझते।

प्राणेश—तुम्हारी बातें बड़ी लम्बी चौड़ी होती हैं, क्या हमारे माता पिता की समझ तुमसे कम है? क्या वे बेवकूफ़ हैं?

चिन्ता० नहीं भाई, वे बेवकूफ़ कैसे हो सकते हैं? शास्त्र ने ऐसे तीर्थवासियों के लिये धिक्कार देते हुए कहा है—

कब मेरे शुभ दिन होयँगे उदय।
वृन्दावन धाम मेरा होगा आश्रय॥
दूर हो संसार ज्वाला विषय वासना।
वैष्णव के सङ्ग मेरी पूरे वासना॥
धूलि लोट करूँ कब हरिसंकीर्तन।
मत्त होके पड़ा रहूँ वैष्णव चरन॥

प्राणेश—क्या बकते हो? देखते नहीं, चिट्ठी के भीतर बाहर वृन्दावन की छाप है? फिर भी समझते हो, कि उन्हें वृन्दावन धाम का आश्रय नहीं मिला। वे सदा नामी पण्डे के साथ ठाकुरबाड़ी जाते हैं, रोज़ प्रभु का दर्शन करते हैं, फिर भी समझते हो, कि उनका वैष्णव संसर्ग नहीं हुआ?

चिन्ता०—भाई प्राणेश नाराज़ न हो, विचार कर सुन लो। तीर्थवास दाल-भात का निवाला नहीं है। ढेर के ढेर रुपये खर्च करके वृन्दावन जाके पण्डों के साथ वृन्दावन-दर्शन नहीं होता। फिर घर के साथ इतना प्रेम रखते हुए वृन्दावनवास असम्भव है।

प्राणेश—तब क्या करना चाहिये?

चिन्ता०—मुझ पै निताई की करुणा हो जब।
विषयवासना मेरे तुच्छ होयँ तब॥
विषय छोड़ होये कब शुद्ध मन।
कब हम देखेंगे वो श्रीवृन्दावन॥

श्रीनित्यानन्द प्रभु की कृपा न होने और विषय-वासना के नष्ट न होने से श्रीवृन्दावन दर्शन असम्भव है। इसी से श्रीठाकुर नरोत्तम ने कहा है,—

निताई की कृपा होने, व्रज राधाकृष्ण पायें,
दृढ़ कर धरू मैं निताई के पाय

सुतरां यदि विषय से दोनों हाथ खींच "कोटिचंद्रसुशीतल निताई के पद कमल" धर सको, तभी—

प्राणेश—तुम क्या बक रहे हो ? कहाँ वृन्दावन और कहाँ बङ्गाल देशके नित्यानन्द प्रभु ! नित्यानन्द प्रभु की कृपा से पश्चिमोत्तर भारत में, बङ्गाल से बहुत दूर, वृन्दावन में राधाकृष्ण के दर्शन होंगे ? यह सब बिलकुल ही युक्तिहीन बातें हैं। विचारवान की और काम की बातें नहीं।

चिन्ता०—भाई प्राणेश घबराते क्यों हो ? स्थिर रहो, महाजनगण की बात सुनो। तुमने तो पढ़ा है न—"महाजनो येन गतः स पन्था"—

महाजन का जो है पथ, उसमें होऊँ अनुरत,
पूर्वापर करके विचार।

सुतरां तुम पहले महाजनों की बातें सुनो। बाद को आप ही समझ जाओगे।

हरि हरि ! कब तक ऐसी दशा पाऊँ।
यह भव-संसार तजि, परम आनन्द भजि,
कब उस व्रज-भूमि जाऊँ॥
तज के ये सब निज काम, जाऊँ वृन्दावन धाम,
ये ही मेरे मन की आशा।
धन जन पुत्र दारा, तज के ये सब सारा,
निश्चिन्त होके कब जाऊँ ?
सब दुःख परिहरूँ, वृन्दावन वास करूँ,
मधुकरी सदा माँग खाऊँ॥

यदि तुम्हारे माता पिता में ऐसी आशा हो, तो यह जानते हो, कि हमारा तुम्हारा क्या कर्त्तव्य है ?

व्रजेन्द्र नन्दन जो हैं, शचीसुत हुए वो हैं,
बलराम हुए हैं निताई।
दीनहीन जितने आये, हरिनाम उद्धार पाये,
साक्षी हैं जगाई-मधाई।

श्रीराधाकृष्ण से अभिन्न श्रीगौरसुन्दर के भजन के बिना वृन्दावनवास हो नहीं सकता। गौरसुन्दर के भजन का हम कहाँ पायें ? उन्हीं से, जो रोहिणीनन्दन बलराम इस बार हमारे लिये नित्यानन्दरूप में विहार कर रहे हैं। श्रीनित्यानन्द प्रभु के आनुगत्य को सम्पूर्णरूप से ग्रहण करो, साक्षात् श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्र को पाओगे। श्रीनित्यानन्द प्रभु के आनुगत्य से श्रीगौड़भूमि और श्रीगौड़मण्डल के दर्शन की योग्यता होने पर वृन्दावन-दर्शन और वृन्दावनवास आप ही हो जायगा।

प्राणेश—अच्छा भाई, तुम्हारी बातों के अनुसार मैं बहस करने से बाज आया। किन्तु कौन से महाजन तुम्हारी इस बात का समर्थन करते हैं ? महाजन का नाम बताने से मैं इसे ध्रुव सत्य मान लूँगा।

चिन्ता०—अच्छी बात है, सुनो श्रीठाकुर नरोत्तम ने क्या कहा है:

गौराङ्ग के दोनों पद, हैं जिसके धन सम्पद,
जाने सोई भक्ति-रस-सार।
गौराङ्ग की मधुर लीला, जिन कर्ण निज मेला,
हृदय-निर्मल उन धार॥

विशेषतः अन्यान्य मनुष्यों की तरह जो जन्म-मृत्यु के अधीन कर्म फल भोगने को बाध्य नहीं हैं, उनकी समझ से—

गौराङ्ग के सङ्गी जानें, नित्यसिद्ध उन्हें मानें,
सो जाने व्रजेन्द्र सुत पास॥

और श्रीगौराङ्ग सुन्दर ने जहाँ अपनी लीला का विस्तार किया है, उन सब स्थानों को कलकत्ता, मधुपुर, दार्जिलिंग के समान न समझ के—

श्रीगौड़ मण्डल भूमि, जो माने चिन्तामणि,
उनका होता व्रजभूमि वास॥

प्राणेश—बहुत विचित्र बातें हैं। किन्तु वे नित्यानन्द प्रभु तो श्रीचैतन्य महाप्रभु के समय थे, अब हम उन्हें कैसे पा सकेंगे ?

चिन्ता०—यही तो बहुत बड़ी भूल है। श्रीगौर-नित्यानन्द का लीला-विहार नित्य है,—

आज भी सो लीला करें गौरराय।

श्रीराधाकृष्ण ही श्रीकृष्णचैतन्य हैं और श्रीबलराम ही श्रीनित्यानन्द प्रभु हैं, हमारे जैसे नामापराध करने वाले जीवों को कृष्णनाम का अधिकार देने के लिये गौड़ शैल पर श्रीगौर नित्यानन्द की जोड़ी सदा उदित है.—

चैतन्यनित्यानन्द में नहीं ये सब विचार।
नाम लेते प्रेम देते बहे अश्रुधार॥

सुतरां श्रीनित्यानन्द प्रभु की कृपा न पाकर जो अपनी बुद्धि से प्रणोदित हो अपने को नित्यानन्द के वंश का बनाते हैं, ऐसे भोगी, विषयासक्त, कनक कामिनी-प्रतिष्ठाबाधिनों द्वारा सदा आक्रान्त नकली शिष्य व्यवसायियों के उपदेश और आचरण से वृन्दावनवास या वृन्दावन-परिक्रमा के लिये जो व्यस्त हो पड़ते हैं, उनके लिये,

तीर्थ यात्रा परिश्रम, केवल है मन का भ्रम।

प्राणेश, तुम अपने माता-पिता और समस्त आत्मीयजनों से प्रकट करो, कि नाटक समय न गवों के सर्वस्वापहारक इन्द्रियलोलुप मिथ्या प्रदर्शकों के सङ्ग या आविद्याज्ञ उपदेशकों के उपदेश से जड़ बुद्धि के वशवर्ती मे वृन्दावन वास या वृन्दावनपरिक्रमा की बुद्धि का परित्याग करें।

कृष्णभक्त सङ्ग करि कृष्णभक्त अङ्ग हेरि।

और—

वैष्णव चरण रेणु, भूषण करे अपने तनु।

विशेषतः—

असत्सङ्ग सदा त्याग, छोड़ि अन्य गीतराग,
कर्मी ज्ञानी दूर परिहरि।

श्रीनित्यानन्द प्रभु के 'सत्यचरण' और नित्य निताई-सेवकों के सङ्ग करो। तब तुम समझ सकोगे कि—

मन तम तीर्थ में रो सदा रत।
अयोध्या मथुरा माया, काशी काँची अवन्तिका,
द्वारावती और है जो कत॥
तुम चाहो जनम काल, गर्दे सब बार-बार,
मुक्ति लाभ कर विचारो।
यह सब तेरा भ्रम, निरर्थक परिश्रम,
चित्त स्थिर तीर्थ नाहिं करे॥

सुतरां तुम त्वरा और विलम्ब न करके आज ही अपने माता पिता से कहो कि—

तीर्थफल साधु सङ्ग, साधु सङ्ग अन्तरङ्ग,
श्रीकृष्ण-भजन मनोहर।
जहाँ साधु तहाँ तीर्थ, स्थिर करि निज चित्त
साधु सङ्ग करो निरन्तर॥

और उन लोगों को विशेष रूप से समझा दो कि—

जेइ तीर्थे वैष्णव नाहिं, सेइ तीर्थ नाहीं जाहीं,
कौन लाभ घूमने से देश।
जहाँ हैं वैष्णवगण, वहाँ ही है वृन्दावन;
वहीं है आनन्द अशेष॥

तब तुम्हारे माता-पिता इस प्रकार मिथ्या वृन्दावन वास की असारता को समझ कर देंगे—

कृष्णभक्ति जहाँ स्थान, मुक्ति दासी वहीं जान,
वहीं ही सलिल मन्दाकिनी।
गिरि वहीं गोवर्द्धन, भूमि वहीं वृन्दावन,
आविर्भूता वहाँ ह्लादिनी॥

चौथा आश्रम

वर्णाश्रम की पराकाष्ठा होने पर हमें संन्यासी या यति दिखाई देते हैं। इससे पहले हमने तीन आश्रम की आलोचना के समय यह समझाने की चेष्टा की है, कि वर्णाश्रम के मूल हरिभजन के अभाव से आज कल के वर्णाश्रम को नहीं के समान समझें, तो भी कोई अत्युक्ति नहीं है; उसके अन्तिम यति-धर्म की तो कोई बात ही नहीं। हरिभजन के पुष्ट होने पर मनुष्य को संन्यास-धर्म का अधिकार होता है। जिनके मन से संसारी वस्तुओं के भोगने की इच्छा दूर हो गई हो, जो तुच्छ विषयों की आलस्य छोड़ हरिभजन की निष्ठा प्राप्त कर चुके हैं, ऐसे संन्यासी आजकल बहुत कम हैं। संन्यासी के नाम से परिचित कितने ही गेरुआ वस्त्रधारी संन्यासियों की आजकल भरमार है, किन्तु वे स्वभावतः किसी अन्य उद्देश्य से ही बाबाजी का वेश बनाये हुए हैं; ऐसे संन्यासियों के वेश पर धब्बा लगता है। जिनका चरित्र इतना

धूषित नहीं है; जिन्होंने कनक और कामिनी को ही जीवन का सम्बल नहीं बनाया है, उनमें भी बहुतेरे ऐसे हैं, जो यह मानने को तैयार नहीं होते, कि संन्यास का मूलमन्त्र हरिभजन ही है। वे अपने को धोखा देनेवाले असार वैराग्य के सम्मान में ही व्यस्त रहते हैं। वैराग्ययुक्त अर्थात् आसक्ति-रहित अवस्था में वस्तुओं को भगवत्-सेवा में न लगाने से, वह वैराग्य भीतर से खोखला होता और किसी के लिये मङ्गलप्रद हो नहीं सकता। श्रीमद्भागवत ने बहुत ही सत्य कहा है,—

> "नेह यत् कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते।
> न तीर्थपादसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः॥"

जिस वैराग्य के फल से भगवत् सेवा न प्राप्त हो, वे वैरागी जीवन धारण करके भी मुर्दे के समान हैं। हम लोगों का वास्तविक जीवन अर्थात् नित्य स्वरूप भगवत्-सेवा ही है; उस भगवत्-सेवा से विमुख हो हम जिस अवस्था में बँधे पड़े हैं, वही अवस्था मृत्यु के समान है। जैसे-जैसे हरि-भजन बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे भगवान् से इतर वस्तुओं में आप ही आप वैराग्य होता जाता है। भजन के पुष्ट होने पर चनव.सी की हीन लालसायें घट जाती हैं और उसे धीरे-धीरे सभी वस्तुओं में हरि का सम्बन्ध दिखाई देने लगता है, फिर वे वस्तुयें जीव के भोगने योग्य जान नहीं पड़ती, तब उपनिषद् के "ईशावास्य" श्लोक का मर्म पूरी तरह से समझ में आ जाता है। यही संन्यासी की परिपक्व अवस्था है। तब 'सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भाव मात्मनः" वाली महाभागवत परमहंस की अवस्था में "जहाँ दृष्टि पड़े वहाँ इष्टदेव मूर्त्ति" दिखाई देने लगती है।

वानप्रस्थ-आश्रम से संन्यास-आश्रम में प्रवेश करने पर मठ में रहने के समय संन्यासी की "कुटीचक" अवस्था रहती है; इसके बाद परिव्राजक या बहूदक की अवस्था होती है। तीसरी, "तीर्थमित्रास्तुमस्यात्" न्याय के अनुसार सब विषयों में ईश्वर का सम्बन्ध दिखानेवाली "हंस" अवस्था तथा चौथी विधि के समाप्त होने पर "हरिरसमदिरा-मदातिमत्ता भुवि विलुठाम नटाम निर्विशाम" और "गायति रोदिति गौति नृत्यति हसत्युन्मत्तवत्" प्रभृति के अनुसार आश्रम से अतिरिक्त "परमहंस" अवस्था होती है। ऐसी शिथिल अवस्था में आश्रम का चिह्न दण्ड आदि भी रह नहीं जाता। उस अवस्था में संन्यासियों के पहनावे गेरुआ वस्त्र आदि का व्यवहार बहुत जरूरी जान नहीं पड़ता। परमहंस, गृहस्थ के रूप में घर में भी रह सकते हैं, फिर भी वे गृहस्थ न कहलायेंगे। आश्रम का परिचय देह और मन से होता है; जो जीवन्मुक्त हैं, उनकी देह में "मैं और मेरे" का ज्ञान ही नहीं है; अतः वे किसी आश्रम के माने नहीं जा सकते। आत्मा के सम्बन्ध से परिचित होते हैं। श्रीगौरसुन्दर के वचन हैं—

> "नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
> नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
> किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे
> र्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः॥"

आत्मज्ञ महापुरुष किसी वर्ण के अन्तर्भुक्त नहीं हैं किसी आश्रम विशेष में अवस्थित नहीं हैं। वे पूर्ण चिदानन्दमय श्रीभगवान् के दास के भी दास हैं; यही उनके स्वरूप की पहचान है। वैष्णव ही परमहंस हैं; क्योंकि सच्चे वैष्णवों की यही अवस्था होती है। जो यहाँ तक नहीं पहुंचे हैं, वे वैष्णव या महाभागवत हो ही नहीं सके; अवश्य ही धीरे-धीरे रात-दिन महापुरुषों का सङ्ग करते-करते जड़ाभिमान के बिलकुल दूर हो जाने पर, वे भी परमहंस की अवस्था को पहुंच सकते हैं, उस समय वे अपने को निष्किञ्चन, तृण से भी हीन समझने लगेंगे। ऐसे संन्यासी-शिरोमणि घर में ही रहें तो क्या हर्ज है; क्योंकि उनमें गृहस्थ का धर्म तो है ही नहीं, वे सदा हरि-सेवा-मय हो जाते हैं। ऐसे महापुरुष को घर में देख हमलोग उन्हें गृहस्थ मानकर बहुत बड़ा अपराध करते हैं। उस समय हम लोग भूल जाते हैं कि—

> 'जिस दिन घर में भजन होता।
> घर ही गोलोक देखता॥'

फिर जब हम देखते हैं, कि लोग उन्हें भक्तश्रेष्ठ कहते हैं, तब अपने को समझाते हैं, कि जैसे हम

गृहस्थी करते हैं, वैसे ही वे भी करते हैं, जब वैसी ही गृहस्थी करके भी वे भक्तश्रेष्ठ के नाम से पूजित होते हैं, तब हम भी घर में रहते हुए भक्त तो कहला सकते हैं ? ऐसा समझना बहुत बड़ी भूल है।

भक्ति और गृहस्थी—एक दूसरे से बिलकुल अलग हैं। नित्य मुक्त-पार्षद महापुरुषगण को गृहस्थ की तरह रहने और वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम को विधिवत् ग्रहण न करने पर भी परमहंस कहे जाने की वजह, हम वर्णाश्रम की यथाक्रम विधि को प्रयोजनीय नहीं समझते; स्वयं गृहस्थी की अवस्था त्यागने को तैयार नहीं होते या शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले किसी आत्मीय को भी वनवासी या यति होने का उपदेश नहीं देते, किसी में यह प्रवृत्ति जागती भी है, तो हमीं उन्हें यथासाध्य बाधा देते हैं; कोई किसी आश्रम को ग्रहण करके जिन साधुओं का सङ्ग करते हैं, उनके सम्बन्ध में तरह-तरह की बुरी बातें कहकर वैष्णव-अपराध को हद तक पहुँचाकर ढेर के ढेर पाप जमा करते हैं। बद्ध जीवों के लिये ही साधन के अनुकूल वर्णाश्रम की विधि है। साधक और सिद्ध का बहाना करने से पतन अवश्यम्भावी है। यदि घर में रहकर हरिभजन करने में बाधा पड़े, तो घर को त्याग देना उचित है। हमारा आवश्यक हरिभजन है; घर भी नहीं, वनवास भी नहीं और संन्यास भी नहीं है। फिर भी जो जिस समय भजन के अनुकूल हो, उस समय उसी को मानना चाहिये; नहीं तो गृहाभिनिवेश बढ़ जाने से भजन नष्ट हो जाता है। इसलिये साधुसङ्ग के सिवा हम लोगों के लिये और कोई उपाय ही नहीं है; क्योंकि साधु अपने उपदेश रूपिणी तलवार द्वारा, न जाने कबकी हमारे हृदय में बैठी हुई विषयाभिनिवेश रूपिणी हृदय-ग्रन्थि को काटते हैं। बिना साधुसङ्ग के हमारे लिये संसार के नाश का और कोई उपाय नहीं। घर में साधु का वास असम्भव न होने पर भी बहुत ही विरल है। सुतरां सदा साधुसङ्ग के लिये घर छोड़कर साधुगण का साथ करना ही हमारा अवश्य कर्त्तव्य है। ऐसी अवस्था में हमारा गृहधर्म ठहर ही नहीं सकता। जब साधु के सङ्ग रहते हुए श्रवण-कीर्त्तन-स्मरण आदि के रूप में भजन की ओर हमारी गति होती है, तभी हममें संसारी धर्म से घृणा होती है। ऐसे सुअवसर और सुयोग को छोड़ देना किसी बुद्धिमान के लिये उचित नहीं। शास्त्र ने भी ऐसी ही आज्ञा दी है,—

'यदहरेव विरज्येत तदहरेव प्रव्रजेत्'।

जब तुच्छ विषयों से घृणा होने लगे, तभी प्रव्रज्या ग्रहण करना या गृहत्याग करना उचित है। अवश्य ही विराग के अर्थ में सम्बन्ध ज्ञान को ही समझना चाहिये, पाप का अनुभव ही विराग का मूल है। नहीं तो स्त्री से झगड़ा करके वैराग्य या श्मशान वैराग्य के होने से कोई लाभ नहीं। सम्बन्धज्ञान के अभाव से सारहीन वैराग्य कभी स्थायी नहीं हो सकता। कुछ देर या कुछ दिन के बाद ही स्त्री के लिये मन व्याकुल हो उठेगा, तब दूसरे आश्रम के ग्रहण कर लेने से 'वान्ताशी' (कै-भोजनकारी) होना पड़ेगा। किन्तु फिर भी घर में बैठे परमहंस वैष्णव कभी भी वान्ताशी की तरह घृणित हो नहीं सकते, क्योंकि उनमें गृहस्थी की लालसा नहीं, वे सदा हरि-भजन में लगे रहते हैं, यह पहले ही कहा गया है। वान्ताशी के लक्षण शास्त्र में इस प्रकार कहे गये हैं,—

"यः प्रव्रज्य गृहात्पूर्वं त्रिवर्गावपनात् पुनः।
यदि सेवेत तान् भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः॥"

(भा० ७। १५। ३६)

जो धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति के स्थान गृहस्थी को त्यागकर बाद को फिर उसी की सेवा करते हैं, वे वमन भोजी निर्लज्ज हैं। परमहंस लोग ऐसी दुर्दशा में पड़नेवाले जीव नहीं हैं। वे सदा हरिसेवा में मतवाले रहकर धर्म, अर्थ, काम के लिये कभी व्यस्त नहीं होते।

श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध के बारहवें, तेरहवें और चौदहवें अध्याय में आश्रमधर्म कहा गया है। इनमें त्रयोदश अध्याय में यतिधर्म दिखाई देता है। खोज करनेवाले पाठकगण इन अध्यायों में इसे देख सकते हैं, यहाँ इस लेख के बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है।

जो महाशय पुराण के कुछ थोड़े से वचनों का

उल्लेख करते हुए यह कहते हैं, कि कलि में संन्यास वर्जित है, वे कृपा कर भागवत पत्र की पूर्व प्रकाशित संख्या में इसी विषय के प्रबन्ध को पढ़ देखें। श्रीवल्लभाचार्य प्रणीत "संन्यास निर्णय" ग्रन्थ में दिखाई देता है, कि कलिकाल में कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग के लिये संन्यास नहीं है,—

"कर्ममार्गे न कर्तव्य सुतरां कलिकालतः।"
"अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा
पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्मात् ज्ञाने न संन्यसेत॥"

केवल भक्तिमार्ग में ही संन्यास सिद्ध हो सकता है,—

"दुर्लभोऽयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा।"
"संन्यास-वरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत॥"

भक्तिमार्ग को छोड़कर संन्यास लेने से निश्चय पतन होता है।

वैदिक संन्यासी का प्रधान चिह्न 'दण्ड' है। परमहंसगण आश्रम का चिह्न दण्डादि धारण नहीं करते। आज कल कितने ही संन्यासी नामधारी गेरुआ पहननेवाले भगवाभक्त दिखाई देते हैं, जो दण्ड धारण नहीं करते, कफनियां लुंगी पहनते हैं, नहीं मालूम कि उसके नीचे कौपीन भी है या नहीं। किन्तु यह सत्य है, कि वे वैदिक संन्यासी नहीं हैं, इस पर भी वे परमहंस हैं या नहीं, यह कौन कह सकता? इसमें परमहंस के जो लक्षण कहे गये हैं, उसके अनुसार हमारे पाठकों को कितने परमहंस दिखाई दिये? क्या कृपा कर कोई उनकी संख्या लिख कर भेज सकते हैं? कोई कोई सम्प्रदाय-वैभव ज्ञान-विहीन मनुष्य यह आपत्ति कर बैठते हैं, कि श्रीमन्महाप्रभु के भक्तों ने संन्यास ग्रहण नहीं किया हमारी समझ में वे त्रिदण्डीस्वामी प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद जैसे श्रीमहाप्रभु पार्षद भक्तों के चरित्र नहीं जानते। उनके प्रियतम पार्षद श्रीस्वरूपदामोदर, जिनका पहले आश्रम का नाम पुरुषोत्तम भट्टाचार्य था, वे किस आश्रम के थे? छः गोस्वामी किस आश्रम में रहते थे? क्या वे गृहस्थ थे? 'वेश का आश्रय लेना' किसे कहते हैं भिक्षु के आश्रम को ही वेश कहते हैं। संन्यासी लोग ही गोस्वामी हैं। आज कल जो बाबाजी माताजी दिखाई देती हैं, उनका वेश केवल श्रीमहाप्रभु के दासों के वेश का निकृष्ट अनुकरण है। वे कौपीनधारी अर्थात् स्त्रीसङ्गवर्जित थे, गृहस्थ नहीं थे। आज कल के वान्ताशी बाबाजी को देख उन महापुरुषों के सम्बन्ध में कुछ विचार कर बैठना उचित नहीं। यदि यह कहा जाय, कि वे गेरुआ वस्त्रधारी नहीं थे, उनके दण्ड धारण करने का भी प्रमाण नहीं मिलता, इस पर भी हम मान लें, कि श्रीमहाप्रभु के पार्षद भक्तगण और गोस्वामी लोग परमहंस थे। उन लोगों ने हर तरह से संन्यास आश्रम के चिह्न गेरुआ-वस्त्र और दण्ड ग्रहण नहीं किया। किन्तु उनका कौपीन और बहिर्वास संन्यास का परिचायक है। उन नित्यसिद्ध परमहंसगण के वेश की नकल कर कितने ही असिद्धों का पतन हो चुका है। जब तक संन्यास में कच्चाई रहे, तब तक परमहंस या वैष्णव का वेश ग्रहण करना नहीं चाहिये। चार आश्रम के वैष्णवदास ब्राह्मण का चिह्न शिखा-सूत्र और गले में तुलसी माला है। बिना ब्राह्मण के और कोई भी वैष्णव के दीक्षितदास हो नहीं सकते। अदीक्षित लोग क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं, मन्त्र का अर्थ न समझ सकने की वजह वे वैष्णव कहे नहीं जा सकते।

नित्यधर्म और संसार

(गताङ्क से आगे)

यादव०—क्या किसी को गृहस्थ होकर भी गृहत्यागियों का वेश ग्रहण करने का अधिकार है ?

अनन्त०—नहीं, ऐसा करने से आत्मवञ्चना और जगद्वञ्चना—यह दोनों प्रकार के दोष होते है । गृहस्थ का कौपीन आदि धारण करना केवल गृहत्यागी वेशाश्रयी मनुष्यों की दिल्लगी उड़ाना और उनका अपमान करना है ।

यादव०—क्यों बाबाजी महाशय, वेश ग्रहण करने के लिये कोई शास्त्रपद्धति भी है ?

अनन्त०—स्पष्ट नहीं ! सभी वर्ण के लोग वैष्णव हो सकते हैं । किन्तु शास्त्रमत से द्विज के सिवा और कोई भी संन्यास ग्रहण कर नहीं सकता । श्रीमद्भागवत में (७ । ११ । ३५ श्लोक में) सब वर्णों का लक्षण बताते हुए अन्त में नारदजी कहते हैं,

शम-दम आदि गुण के द्वारा ही ब्राह्मणादि वर्ण का निरूपण मुख्य है । केवल शुक्र से उत्पन्न जाति द्वारा वर्ण का निरूपण मुख्य नहीं । जिस वर्ण के जो लक्षण कहे गये, वे लक्षण यदि अन्य जाति या वर्णान्तर में दिखाई दें तो उस वर्णान्तर को लक्षण से ठहरनेवाला वर्ण ही माना जायगा । यह श्रीधर स्वामीजी की टीका है ।

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम् ।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत् ॥

अर्थात् जिसके जो लक्षण कहे गये, उन्हीं लक्षणों के द्वारा वर्ण का निरूपण करना चाहिये । इसी विधि-वाक्य के बल पर अन्य वर्णजात मनुष्य को ब्राह्मण के लक्षण से युक्त देख संन्यास देने की प्रथा बनी है । यदि यह इसी के अनुसार हो, तो उसे अवश्य शास्त्र - सम्मत कहना चाहिये । यह काम केवल पारमार्थिक विषय में बलवान् है; व्यावहारिक विषय में बलवान् नहीं ।

यादव०—चण्डीदास, तुमने जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर मिल गया न ?

चण्डी० जो सब उपदेश-वचन परम पूजनीय बाबाजी महाशय के मुख से निकले, उनसे मैं इन सब बातों को समझ गया हूँ । जीव नित्य कृष्णदास है । इसे भूलकर माया-शरीर का आश्रय करके वह माया के गुण से जड़वस्तु में सुख-दुःख भोग रहा है । अपने कर्मफल के भोग के लिये उसने जन्म जरा-मरण की माला को अपने गले में लटकाया है । मनुष्य कभी ऊँच और कभी नीच योनि में जन्म ग्रहण कर नये-नये अभिमान से तरह-तरह की अवस्थाओं में पड़ रहे हैं । लगभग शरीर में सुख-प्यासादि द्वारा काम में लगे हुए हैं । संसार में द्रव्य के अभाव से तरह-तरह के कष्ट में पड़ रहे हैं । भाँति-भाँति की बीमारियाँ आकर शरीर को जर्जर बना रही हैं । कोई-कोई घर में स्त्री-पुत्र के साथ कलह करके आत्महत्या तक कर बैठते हैं । धन के लोभ से तरह-तरह के पाप-आचरण करते हैं । राज-दण्ड, लोगों का अपमान और कितने ही प्रकार के शारीरिक क्लेश भोगते हैं । आत्मीय-वियोग, धन-नाश, चोरों द्वारा अपहरण आदि बहुतेरे दुःखों के कारण सदा ही जुटे रहते हैं । वृद्ध होने पर अपने घर के लोग सेवा नहीं करते, इससे उनको बड़ा दुःख होता है । कफ की अधिकता, वात, दर्द इत्यादि द्वारा वृद्ध-शरीर केवल दुःख का कारण हो पड़ता है । मरने पर फिर गर्भ की यन्त्रणा होती है । फिर भी शरीर रहते काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य—यह सब प्रबल हो विवेक को स्थान नहीं देते । अब मैं संसार शब्द का अर्थ समझ गया । मैं बाबाजी महाशयों को बार-बार दण्डवत् प्रणाम करता हूँ । वैष्णव ही जगत् के गुरु हैं । आज वैष्णव की कृपा से मैंने संसार में ज्ञान पाया ।

बाबा अनन्तदास महाशय के साधु-उपदेश को सुनकर समस्त वैष्णवों ने प्रशंसा के साथ हरि-ध्वनि की । क्रमशः वहाँ अनेक वैष्णवों के उपस्थित होने पर लाहिड़ी महाशय के रचे इस पद का गाना होने लगा,—

इस घोर संसार में पड़के मनुष्य न पावे सुख का शेष।
साधु सङ्ग कर भज हरि को तब अन्त होय यह क्लेश॥
विषय अनल में हृदय जल रहा अनल से बाढ़े अनल।
तजि अपराध कृष्ण नाम लो पड़े अनल में जल॥
निताई चैतन्य-चरण कमल में आश्रय लेता जोई।
कालिदास कह जीते-मरते मेरा आश्रय सोई॥

इस कीर्त्तन में चरणीदास ने बड़े ही आनन्द के साथ नृत्य किया। वह बाबाजी लोगों के चरणों की धूलि ले बड़े आनन्द से उसे माथे में रगड़-रगड़ कर रोने लगा। सबने कहा—चरणीदास बड़ा भाग्यवान है।

कुछ देर बाद बाबा यादवदासजी ने कहा—चलो चरणीदास, हम लोग पार हों। चरणीदास ने हँसी से कहा—आप पार करें, तो मैं भी पार होऊँ। दोनों प्रद्युम्न-कुञ्ज को साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करके बाहर चले गये। बाहर उन लोगों ने देखा, कि दमयन्ती साष्टाङ्ग प्रणाम करती हुई कह रही है,—"हाय! मैंने क्यों स्त्री-जन्म पाया। यदि मैं पुरुष का जन्म पाती, तो सहज ही इस कुञ्ज में जाकर महन्त लोगों के चरणों की धूलि ले अपने को धन्य बनाती। अब मैं जन्म-जन्म में इस श्रीनवद्वीप में वैष्णवों का दास हो दिन बिताऊँ।"

यादवदास ने कहा—अहो! यह गोद्रुम धाम महान् पुण्यभूमि है। यहाँ आने से ही जीव में शुद्ध भक्ति उत्पन्न होती है। यह गोद्रुम हमारे जीवनेश्वर शचीनन्दन का क्रीड़ास्थान है—गोपपल्ली है। इस तत्त्व को समझकर ही श्रीश्रीप्रबोधानन्द सरस्वती ठाकुर ने इस प्रकार प्रार्थना की है—(श्रीनवद्वीप-शतक ३६)

न लोक वेदोदित-मार्गभेदै-
राविश्य संक्लिश्यते रे विमूढाः।
हठेन सर्वं परिहृत्य गौरे
श्रीगोद्रुमे पर्णकुटीं कुरुध्वम्॥

अहो मूर्ख जीव, तुम लोक-वेदाश्रय।
आचरि अनेक धर्म रहे क्लिष्ट होय॥
हठात् छोड़ो सब पथ अनाश्रित।
श्रीगोद्रुम पर्णकुटी करो विहित॥

(ठाकुर का अनुवाद)

तब तीनों आदमी क्रम से गङ्गापार कर कुलिया ग्राम में पहुँचे। उस दिन से चरणीदास और उनकी पत्नी दमयन्ती, दोनों ही एक प्रकार का अद्भुत वैराग्य-भाव प्रकट करने लगे। ऐसा जान पड़ता था मानों माया का संसार अब उन्हें स्पर्श तक नहीं कर रहा है। वैष्णव-सेवा, सदा कृष्णनाम और सदा सब जीवों पर दया उनका भूषण बन गया। धन्य वणिक दम्पति! धन्य वैष्णव-प्रसाद! धन्य हरिनाम!! धन्य श्रीनवद्वीप-भूमि!!!

कर्म-ज्ञान-योग और भक्ति

(गताङ्क से आगे)

अब ज्ञान के सम्बन्ध में आलोचना होनी चाहिये। भक्ति-सन्दर्भ की १३४ संख्या में श्रीजीवपाद ने लिखा है,—

कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकन्तु यत्।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्॥
(भा० ११।२५।२४)

कैवल्य (अर्थात् निर्विशेष ब्रह्म के साथ शुद्ध जीव का अभेद प्रतिपादक) ज्ञान सात्त्विक है। क्योंकि पहले सात्त्विक चित्त में शुद्ध सूक्ष्म जीव-चैतन्य प्रकाशित होता है, इसके बाद चित् की एकता और अभेदज्ञान से उस सत्त्वप्रधान चित्त में शुद्ध पूर्ण चैतन्य की अनुभूति होती है। गीता (१४।१७) में भी कहा है, कि सत्त्व से ही ज्ञान उत्पन्न

होता है। वैकल्पिक अर्थात् देहादि के विषय में प्रकृतिमय ज्ञान राजस ज्ञान है; प्राकृत अर्थात् तामस बालक और मूकादि के ज्ञान जैसा ज्ञान तामस तथा मुझमें निष्ठा (कृष्णनिष्ठ) रखनेवाला ज्ञान ही 'निर्गुण' है। भागवत (६। १४। २-) में कहा है,—

> देवानां शुद्ध सत्त्वानामृषीणाममलात्मनाम् ।
> भक्तिर्मुकुन्दचरणे न प्रायेणोपजायते ॥
> मुक्तानामपि सिद्धानां नारायण परायणः ।
> सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥

शुद्ध सत्व देवगण और अमलात्म ऋषिगण को मुकुन्द के (जिस प्रेमानन्द से मुक्ति को सुख कुत्सित जान पड़ता है, उसे देने वाले) चरणों में प्रायः ही भक्ति उत्पन्न नहीं होती। हे महामुने, कोटि-कोटि सिद्धमुक्तगण में से भी प्रशान्तात्मा नारायण-परायण भक्त सुदुर्लभ हैं। अतएव सत्त्वगुण भगवत्-ज्ञान का कारण नहीं है।

> कृष्णभक्ति जन्ममूल होय साधु संग।

अन्याभिलाष-कर्म-ज्ञान-योगादि में अनासक्त, स्वर्ग और मोक्ष में तुल्यार्थदर्शी (भा० ६।१७।२८) निष्किञ्चन साधुगण के सङ्ग के प्रभाव से ही नित्यसिद्ध भगवत्-ज्ञान का उदय होता है। भक्तिसन्दर्भ की १३५ संख्या में श्रीजीव गोस्वामिपाद ने और भी कहा है,—"समःप्रिय सुहृद्ब्रह्म नित्यादौ (भा० ७। १। १) सगुणे देवादौ तस्य कृपा वास्तवी न भवति, किन्तु श्रीमत् प्रह्लादादिष्वेवेति प्रतिपादनात्मकतां निर्गुणत्वाभिव्यक्त्या तत्सङ्गस्यापि निर्गुणत्वं व्यक्तम्" अर्थात् सप्तम स्कन्ध के प्रथम अध्याय के "समप्रिय" इत्यादि श्लोक में कहा है, कि सगुण-देवादि में वास्तविक भगवत्-कृपा नहीं होती, किन्तु श्रीमत् प्रह्लादादि वैष्णवों में भगवत्-कृपा प्रतिपन्न होने से महद्गण के ही निर्गुणत्व अभिव्यक्त हुआ और उनके सङ्ग का ही निर्गुणत्व परिस्फुट हुआ। फिर (भा० ११। २५। २९)—

> सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थन्तु राजसम् ।
> तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम् ॥

यहाँ भगवत्-सुख या भगवत्-ज्ञान का निर्गुणत्व कहा गया है। फिर श्रीजीवपाद ने दिखाया है (भा० ८। २४। ३८)—

> मदीयं महिमानञ्च परं ब्रह्मेति शब्दितम् ।
> वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे संप्रश्नैर्विवृतं हृदि ॥

इति श्रीमत्स्यदेवस्य वचनेन ब्रह्मज्ञानमपि श्रीभगवत् प्रसादोत्थं श्रूयते, तत्कथं तस्य सगुणत्वमुच्यते। ब्रह्मज्ञानं द्विविधानां जायते। तत्र भगवदुपासकानामानुषङ्गिकत्वेन ब्रह्मोपासकानां स्वतन्त्रत्वेन। भगवदुपासकैस्तु भगवच्छक्तिरूपया भक्त्या किञ्चिद्भेदेनैव गृह्यते तच्च 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति' इत्यादि श्रीगीतोक्त्यनुसारेण ब्रह्मोपासकैस्तु पूर्ववदभेदेनैव गृह्यते। तत्फलस्य (भा० ३। १४। ४८) "नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसाद" मत्पुरुक्तदिशा परैरात्यन्तिकत्वेन मतस्यापि परमविद्भिरिरस्कृतत्वात्। तथा भक्तिविवेकेन भा० ६। १७। २८) "स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन" इत्युक्त्वा नरकवदपवर्गस्यापि हेयत्वात् प्रसादता एवासौ। स्वमत्यनुसारेण प्रसादतया गृह्यमाणस्तेष्वमति-कल्पितत्वात् सगुण एव।

यदि कहो, कि "परब्रह्म के नाम से कथित मेरी महिमा को जो मैंने तुम्हारे प्रश्नोत्तर में प्रकट किया है, उसे तुम मेरे अनुग्रह से हृदय से जानो" तो श्रीमत्स्य देव के इस वाक्य द्वारा ब्रह्मज्ञान भी श्रीभगवत् अनुग्रह से उत्पन्न होता है। पूछ सकते हैं, कि तब ब्रह्मज्ञान सगुण कैसे हुआ? इसके उत्तर में कहा जाता है, कि ब्रह्मज्ञान दो प्रकार से उत्पन्न होता है। इनमें भगवद्भक्तों के सङ्ग के प्रभाव से एक प्रकार और ब्रह्मोपासकों की बिना भक्ति के स्वतन्त्रता की वजह दूसरे प्रकार का। भगवान् के उपासकगण भगवच्छक्तिरूपा भक्ति का अवलम्बन कर ब्रह्मज्ञान के विषय में बहुत कुछ भेद-विचार का अवलम्बन करते हैं। फिर वह ब्रह्मज्ञान, "ज्ञान मिश्र भक्तों में ब्रह्मानुभूति के क्रम से आत्मा के प्रसन्न होने से शोक या आकांक्षा नहीं रह जाती" गीता के इस वाक्य और 'आत्माराम मुनिगण निर्ग्रन्थ होकर भी भगवान् की अहैतुकी भक्ति करते हैं' इत्यादि भगवत् वाक्य से ब्रह्मज्ञान भगवान् की परमाभक्ति के परिकर का स्वरूप सिद्ध

हुआ। किन्तु ब्रह्मोपासकगण पहले की तरह अभेद भाव से ही ब्रह्मज्ञान को ग्रहण करते हैं।

सनत्कुमार ने अनन्तदेव से कहा है,

हरिकथाकुशल रसज्ञ लोग भगवान के पादपद्म का स्मरण कर आपके अनुग्रह से मोक्षनामक पदवी का भी आदर नहीं करते, फिर स्वर्गादि लाभ—जिसमें भय भरा हुआ है, उसकी तो बात ही दूर रही। इस कही गई रीति के अनुसार परलोक के ऐसे ज्ञान के फल को आत्यन्तिक समझने पर भी परम विद्वान् लोग उसका अनादर करते हैं। "स्वर्गमोक्ष और नरक के बारे में भक्त लोग समदर्शी हैं", इस वाक्य से ब्रह्मज्ञान का फल या मोक्ष भक्ति के विरुद्ध है और हेय होने की वजह भगवान के अनुग्रह का आभासमात्र है। अपनी बुद्धि के अनुसार प्रमाद के नाम से ग्रहण करने पर, बुद्धि-कल्पित होने की वजह उसे सगुण ही समझना चाहिये। कैवल्य ज्ञान का भी ऐसा ही सगुणत्व प्रमाणित होता है। जैसा कि भक्तिसन्दर्भ के १३४ संख्या में है, ततः कैवल्यज्ञानमपि तथा। विशेषतस्तस्य गुणमय-सम्बन्धेन जन्माङ्गीकृतमिति। ननु अन्तर्बाह्ये च करणं पुरुषस्य गुणमयमेव, तदुद्भवयो ज्ञानक्रियया कथं निर्गुणत्वम्? उच्यते—ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिर्वा न तावज्जडस्य त्रैगुण्यस्य धर्मः घटस्येव। न च चिद्रूपस्यापि जीवस्य ईश्वराधीन शक्तित्वेनामुख्यत्वात् देवता विशिष्ट पुरुषस्येव। ततः परमात्मचैतन्यस्य वत्ययाति। तथोक्तं देहेन्द्रिय प्राण मनोधियोऽमी यदंशविद्धा प्रचरन्ति कर्मस्विति। तथाच श्रुतिः (बृ० अ०४ अ० ४ ब्राह्मण) प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मन इति न ऋते तत् क्रियते किञ्चनारे इत्यादिना। तदेवं सति त्रैगुण्यकार्य प्राधान्येन भवन्तौ ते गुणमयत्वेनोच्यते। परमेश्वरप्राधान्येन' तुस्वतो गुणातीत एव। तदुक्तं देवामृतपानाध्याये श्रीशुकेन (भा० ८।९।२९) "यद्युज्यतेऽसुवसुकर्ममनोवचोभिर्देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत् पृथक्त्वात्। तैरेव सद्भवति यत् क्रियतेऽपृथक्त्वात् सर्वस्य तद्भवति मूलनिषेचनं यत्॥" पृथक्त्वात् परमात्मनराश्रयत्वात्। अपृथक्त्वात्तदेकाश्रयत्वादित्यर्थः। अतो युक्तमेव ज्ञानक्रियात्मिकाया हरिभक्तेर्निर्गुणत्वम्। विशेषतस्तस्या गुणसम्बन्धेन जन्माभावश्चाङ्गीकृतः न तु ब्रह्मज्ञानस्येव गुणसम्बन्धेन जन्मभाव इति। अतोऽसौ भक्तिस्तस्यापि क्षीणत्वादि गुणेरुदाहरिष्यते। यत्तु कपिलदेवेन भक्तेरपि निर्गुणा सगुणावस्थाः कथितास्तत् पुनः पुरुषान्तःकरणगुणा एव तस्यामुपचर्यन्त इति स्थितम्।

अर्थात् कैवल्यज्ञान का भी वैसा ही सगुणत्व प्रमाणित होता है—विशेषतः उस कैवल्यज्ञान के गुण-सम्बन्ध की वजह जन्म स्वीकृत होता है। यदि कहो, कि पुरुष की अन्तर्बाह्य इन्द्रियाँ गुणमयी हैं और उनसे उत्पन्न ज्ञान-क्रिया का कैसे निर्गुणत्व सिद्ध होता है? तो इसके उत्तर में कहा जाता है, कि ज्ञानशक्ति या क्रियाशक्ति कभी भी त्रिगुणात्मक जड़ का धर्म नहीं है। फिर देवताविष्ट पुरुष की तरह चिद्रूप जीव का ईश्वराधीनत्व की वजह अपना प्राधान्य न होने से ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति जीव के अधीन धर्म नहीं। इसलिये ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति परमात्मा का धर्म है, सुतरां परमात्मा के निर्गुणत्व के कारण इन दोनों ही शक्तियों का निर्गुणत्व सिद्ध होता है। और भी कहा गया है,—"देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि—ये सब भगवान् के जिस अंश द्वारा विद्ध हो कर्म में लगते हैं, उन्हीं को परमात्मा कहते हैं।" बृहदारण्यक में भी कहा है,—"अहो, वह प्राण के भी प्राण, आँख के भी आँख, कान के भी कान और मन के भी मन हैं। बिना उनके कोई काम हो ही नहीं सकता।" ऐसा होने से ज्ञान और क्रिया की शक्तियाँ त्रिगुणात्मक कार्य की प्रधानता के कारण गुणमयस्वरूप कहलाती हैं। किन्तु वह दोनों शक्तियाँ परमेश्वर की प्रधानता की वजह आपही गुणातीत हैं। इस विषय को श्री शुकदेवजी ने अष्टम स्कन्ध के नवम अध्याय में, देवताओं के अमृतपान के प्रसंग में कहा है।

(क्रमशः)

अथ:

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ, बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
लेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ, कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीमदाई गौरांग मठ, बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
अगस्त्यकुण्ड, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० ४३ हनुमान रोड, न्यू देहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकोंदा चीरकुण्डा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरांलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

(३१) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ
कव्वुर, वेष्ट गोदावरी, मद्रास

(३२) ग्वालपाड़ा प्रपन्नाश्रम, आसाम

(३३) त्रिदण्डी-गौड़ीय मठ भुवनेश्वर, पुरी

(३४) श्रीसारस्वत-गौड़ीय मठ हरिद्वार

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम्	=)
२—श्रीशिक्षादशमूलम्—सटीक	।)
३—श्रीमन्वग्रन्थमाराशतर्णनम्	≡)
४—श्रीसिद्धान्तसरस्वतीदिग्विजयः	॥
५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचयः	−)
६—श्रीतत्त्वसूत्रम्	।)

संस्कृत बँगला अक्षरों में

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम्	२)
२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द	१॥)
३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत	॥)
४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत खंडों में प्रकाशित प्रति खंड	१)
५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द	२)
६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्रीरूपगोस्वामी प्रभु कृत उपदेशामृतसहित	।=)
७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बँगला अनुवाद सहित	॥
८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित	१)
९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य प्रणीत बँगला अनुवाद सहित	−)
१०—सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित	−)
११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी-कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों का पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक	२८)
एकादश स्कंध से प्रति खंड	।≡)
१२—युक्तिमल्लिका गुणसौरभ वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित	२)

बंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित	≡)
१४—नवद्वीपशतक बंगला अनुवाद	−)
१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत	=)
१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती-कृत	=)
१७—नवद्वीपभावतरंग	।)
१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण	।)
१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद कृत	२)
२०—मणिमंजरी	।)
२१—शरणागति	−)
२२—कल्याणकल्पतरु	−)॥
२३—गीतावली	−)
२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत	।॥)
२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड	३)
२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत	॥=)
२७—जैव धर्म	२)
२८—साधककंठमाला	।)
२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम	५)
३०—महाप्रभु की शिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत	।॥)
३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित	९)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabat. Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by B. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः [संख्या १७

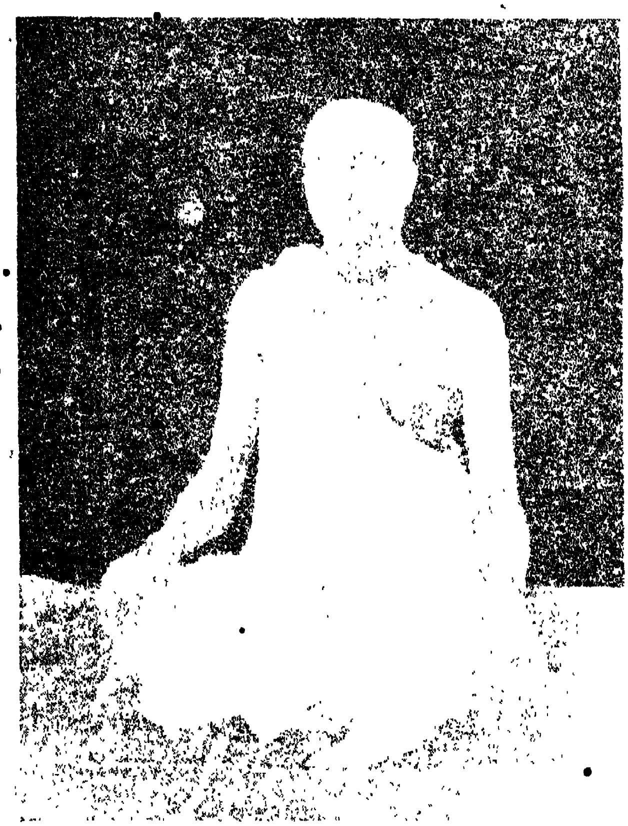
भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

...rd June 1933

श्रावण कृष्णरत्न गौराब्द ४४७

श्रावण अमावास्या संवत् १९९०



ॐ विष्णुपाद परमहंस ... गोस्वामी महाराज

प्रति संख्या -)

सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी, ...

वार्षिक चन्दा १॥)

Editor:—Tridandiswami ...

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है ।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है ।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये । जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे वे नहीं छापे जावेंगे, और लेख भी वापस न किये जावेंगे ।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन छपाई की दर नीचे लिखी है:—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम		८)
आधा	,, १ ,,	५)
चौथाई	,, ½ ,,	३)
२ इंच	,, ¼ ,,	१।।।)
१ ,,	,, ⅛ ,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये—

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

सेठ रामयश रोड, नरही, लखनऊ.

All communications are to be addressed to—

The Manager 'Bhagwat'

Seth Ramjas Road,

Narhe,

LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

न
कृष्ण-नाम-भजन-

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

वर्ष २ | श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य
आषाढ़-अमावास्या गौराब्द ४४७ सं० १९९० वि०, २३ जून सन १९३३ ई० | संख्या १७

भागवत-सम्पादक का पत्र

(लण्डन की डाक)

श्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

६, हरिंगटन स्क्वायर

लण्डन, डब्ल्यू० सी०, वन

श्री भगवच्चरण में असंख्य साष्टाङ्ग दण्डवत्-नति-पूर्वक निवेदन, परमाराध्यतम प्रभो, लण्डन के विक्टोरिया स्टेशन पर पहुँचते ही मैंने अपने निर्विघ्न पहुँचने का समाचार कलकत्ते भेजा था। आप आजकल कहाँ हैं ? नहीं मालूम, कि बम्बई में हैं या नहीं; इसीसे मैं सब चिट्ठी कलकत्ते के पते से भेज रहा हूँ। इससे आप, भारत में चाहे जहाँ रहें, वह आपके पास पहुँचती रहेंगी।

नेपल्स बन्दर में पहुँचने पर मैंने एक चिट्ठी डाक से भेजी थी। हम लोग सवेरे ७ बजे नेपल्स पहुँचे, किन्तु ९ बजे से पहले किनारे उतर न सके; क्योंकि, इटली के राज-कर्मचारी लोग यात्रियों के पासपोर्टों की परीक्षा कर, असबाब पर स्टाम्प लगाकर उतरने की अनुमति देते थे। सभी यात्री उतर गये, किन्तु मैं और श्रीपाद तीर्थ महाराज—राह के प्रत्येक मनुष्य की विस्मय से भरी दृष्टि को आकर्षित करने लगे।

हम दोनों सन्यासी के कपड़े और पहनाव, इटलीवालों के लिये एक नई चीज़ हो गई थी। जब हम लोग इटली की जातीय कारीगरी के म्यूज़ियम (अजायब-घर) देखने गये, तब राह में बालक-बालिकाओं, भद्र-पुरुष और भद्र-महिलाओं ने हम लोगों को चारों ओर से घेर लिया; इस बात को समझकर हम लोग एक गाड़ी में सवार हो गये।

नेपल्स बहुत ही सुन्दर शहर है। नगर के निवासियों में अधिकांश भले आदमी हैं। हम लोगों ने दिन के दो बजे नेपल्स-बन्दर परित्याग किया। उस समय भी समुद्र क्षुब्ध था। दूसरे दिन, सवेरे

साढ़े सात बजे जेनोआ पहुँचे। यहाँ पहुँचते ही हम लोग किनारे उतरे। पासपोर्ट आदि कस्टम हाउस के भीतर से जाँच किया गया। इसके लिये हम लोगों को एक मिनट की भी देर नहीं हुई, हमारे बड़े बाक्स भी खोले नहीं गये, बात यह थी कि केवल हमीं लोग साधारण नियम से बाहर थे। हम लोग किराये की गाड़ी से रेलवे-स्टेशन गये। अपना असबाब स्टेशन पर रख हम लोग मिलिटरी-म्यूज़ियम देखने चले गये। उस दिन इटली का जातीय दिवस था, उसी दिन रोम नगर प्रतिष्ठित हुआ था। वहाँ का दृश्य बहुत ही अपूर्व था। एक स्वाधीन देश की स्वाधीनता देखने योग्य थी। हम लोगों ने कुछ प्रसाद-सेवन का अवसर ढूँढ निकाला। एक दिन पहले बरफ़ पड़ने से इटली बहुत ठंढी हो गई थी। मार्च शीत के सच्चिदानन्द के ... आ गई थी। हम लोगों का पहनावा ऐसी ठंढक के सामने बहुत मामूली है। किसी तरह हम लोगों ने चारों ओर घूमकर शहर देखा। यह शहर नेपल्स से बहुत बड़ा है। हम लोगों ने इटली के पचास हज़ार टनवाले सबसे बड़े जहाज़ को देखा; यह जहाज़ प्रशान्त महासागर में जाने के लिये तैयार खड़ा था।

हम लोग तीन बजे ट्रेन में सवार हुए और तीसरे पहर चार बजे ... स्टेशन पर पहुँचे। यहाँ गाड़ी बदल कर हम लोग पेरिस एक्सप्रेस में सवार हुए। यह फ्रांसीसी रेलगाड़ी है। इसके तीसरे दर्जे के डब्बे भारतीय रेलवे के दूसरे दर्जे के डब्बे जैसे सुन्दर थे। प्रत्येक कमरे में 'रेडि-येटर' लगे हुए थे। हम लोगों ने शीघ्र ही मिस्टर एरिच बी आर्न्स्ट (Mr. Erich B. Ernst) नामक एक स्वीट्जरलैंड-निवासी सज्जन आदमी से जान-पहचान कर ली। वह बहुत ही सज्जन और धर्मभीरु हैं। वे हम लोगों के साथ ऐसा व्यवहार करने लगे, मानो हम लोग उनके कब के परिचित आत्मीय हैं। उन्होंने हम लोगों के लिये कुछ फल खरीदे। उनके सद्व्यवहार से हम लोगों को प्रीति हुई। गाड़ी पर बैठे हुए हम लोग दोनों किनारे बरफ़ से ढकी हुई पर्वतश्रेणी को देखते हुए चले।

हम लोग ... से रात को नौ बजे फ्रान्स की सीमा पर पहुँचे। इटली और फ्रान्स—दोनों ही ओर के राज-कर्मचारियों ने हमारे पासपोर्ट की परीक्षा की। इटालियन लोगों ने 'Exit' (अर्थात् बाहर निकलने) और फ्रान्सीसी लोगों ने 'Entrance' (अर्थात् प्रवेश) स्टाम्प (सील मोहर) लगा दिया।

हम लोग २२-४-३३ तारीख़ के सबेरे साढ़े सात बजे पेरिस पहुँचे। किराये की टैक्सी पर हम लोग शहर की प्रधान प्रधान सड़कों पर घूमे। पेरिस शहर बहुत ही सुन्दर है। हम लोगों ने वीर-वर नेपोलियन की समाधि देखी। कितनी ही गलियों में भी घूमे। शहर की प्रत्येक गली इतनी साफ़ और सुसज्जित थी, जिसे देखकर आश्चर्यान्वित होना पड़ा। असंख्य मोटर गाड़ियाँ इतनी तेज़ी से दौड़ती हैं, जिसकी कल्पना भी कलकत्ते के लोग नहीं कर सकते। टैक्सी, बस और ट्राम के अतिरिक्त हम लोगों को और कोई सवारी दिखाई नहीं दी। भारतीय सवारियों से इन सवारियों में विशिष्टता है। यहाँ की इलेक्ट्रिक लाइनें कलकत्ते की तरह ज़मीन से ऊँची नहीं, बल्कि ज़मीन से नीची हैं। पेरिस, लण्डन से भी अनेक बातों में सुन्दर है अवश्य ही इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु लण्डन शहर पेरिस से बहुत बड़ा है।

हम लोगों ने प्रसाद-सेवन की व्यवस्था कर ली, केवल दूध पिया। इसके बाद हम लोग गार्ड डी नर्ड नामक पेरिस के रेलवे-स्टेशन पर पहुँचे। टामस कुक के कर्मचारियों ने हमें समाचार दिया, कि कैले जाने के लिये कोई तीसरा दर्जा नहीं है। सुतरां हम लोगों ने १० फ्राङ्क २५ सेंटिम् अधिक देकर उसी समय दूसरे दर्जे का टिकट बनवाया। हम लोग दोपहर १२ बजे के १० मिनट पर पेरिस परित्याग कर, घण्टे में ६० मील की तेज़ी से चलकर तीसरे पहर ४ बजे कैले पहुँचे। श्रीपाद तीर्थ महाराज और मेरे बाक्स को छोड़ और सभी के बाक्सों की परीक्षा कस्टम हाउस में की गई। हम लोग ब्रिटिश जहाज़ 'कैंटरबेरी' से सन्ध्या को ६॥ बजे डोवर पहुँचे। इँगलिश चैनल पार करने में

हम लोगों [illegible] लगा। दो स्पेशल ट्रेनें यात्रियों [illegible] खड़ी थीं। एक ट्रेन विक्टोरिया जहाज़ के लिये थी और दूसरी रावलपिंडी नामक जहाज़ के लिये, जो बम्बई से ८-५-३६ तारीख को छूटी थी, मार्सेल्स बन्दर से चलकर हमारे साथ ही साथ पेरिस पहुँची थी। सौभाग्य से हमारी ट्रेन में तीसरे दर्जे की सिर्फ़ एक ही गाड़ी थी, उसमें पहले ही हम लोग अधिकार कर बैठे। यहाँ का तीसरा दर्जा, भारत के दूसरे दर्जे के समान ही सुन्दर है। हम लोग तीसरे पहर १ बजे के ४० मिनट पर डोवर से चले और घण्टे में ६० मील की तेज़ी से चलकर सन्ध्या को ८ बजे लण्डन के विक्टोरिया स्टेशन पहुँचे। पहुँचते ही कलकत्ते को एक तार दिया। यद्यपि यहाँ सूर्य ८ बजे अस्त होते हैं, तथापि सन्ध्या का अन्धकार १०॥ बजे के समय ज्ञात पड़ने लगता है।

हम लोग किराये की एक टैक्सी पर नं० ११२ गोवर स्ट्रीट में और वहाँ इण्डियन वाई. ऍम. सी. ए. द्वारा परिचालित 'इण्डियन स्टूडेण्ट्स् यूनियन' में दो रात रहे। यहाँ हरेक के लिये एक एक रात का किराया ६ शिलिंग २ पेन्स के हिसाब से देना पड़ा। खाने की व्यवस्था हम लोगों के हाथ थी, उसमें भी हम दोनों के ४ शिलिंग खर्च हुए। कल तीसरे पहर हम लोग अपना निवासस्थान बदल कर अस्थायी रूप से नं० ६ टरिंगटन स्क्वायर, लण्डन डब्ल्यू. सी. (अर्थात् वेस्ट सेण्टर) १ नं० में आ गये। हम लोगों के ३ Bed (शय्या) के दो कमरे हैं, जिनमें एक छोटा और एक कुछ बड़ा है। इसके लिये हर सप्ताह २ पाउण्ड १० शिलिंग किराया देना पड़ता है। कल रात में हम लोगों ने अपने काम की ओर ध्यान दिया है।

वर्त्तमान समय हम लोग बकिङ्घम प्रासाद और ह्वाइट हाल से प्रायः २ मील की दूरी पर ठहरे हुए हैं। अभी तक हम लोगों ने राज-प्रासाद या पार्लियामेण्ट-हाउस के भीतर नहीं गये हैं सही, फिर भी बाहर से देखने में जो समझ में आया, वह यह है कि ये न्यू-दिल्ली के वाइसरिगल हाउस और काउन्सिल हाउस से अधिक सुन्दर नहीं हैं।

गत तीन दिन से हम लोग लण्डन की ज़मीन के भीतर के रास्तों में घूम-घूमकर काम कर रहे हैं। शहर की रेलवे [illegible] ज़मीन के भीतर से चलनेवाली रेलवे स्टेशन आदि के बारे में जानकारी हासिल कर रहे हैं। [illegible] शहर [illegible] है, जहाँ सब प्रकार की सुविधायें हैं। अधिकतर लोग ज़मीन के भीतर की राह से ही आना-जाना करते हैं, इस पर भी ऊपरी सड़क पर मोटर बस और गाड़ियों की इतनी भीड़ रहती है, कि सड़क पार करने के समय पुलिस को सवारियाँ रोक कर आदमी छोड़ना पड़ता है। [illegible] हुआ जैसा दिखाई देता है। यहाँ की पुलिस बहुत अच्छी है और शिष्टाचार सम्पन्न है। [illegible] और [illegible] महिलायें विदेश से [illegible] अपरिचित लोगों से बहुत अच्छा व्यवहार करती हैं। हम लोग जब रास्ते में निकल अपने गन्तव्य स्थान के बारे में पूछताछ करते हैं, तब रास्ते के लोगों से अच्छी सहायता मिलती है। हम लोगों को अब तक एक भी ऐसा आदमी नहीं मिला, जो [illegible] से बातें न करना चाहे।

रास्ते में शहर की तमाम सड़कों घूमने के लिये बहुतेरे मोटर बस खड़े रहते हैं, टैक्सी गाड़ियाँ भी अनेक हैं। इसके अतिरिक्त ट्राम और प्राइवेट गाड़ियाँ तो हैं ही। बड़े-बड़े [illegible] घोड़े बोझ ले जाते हैं। ऊपर की आम सड़क के ठीक नीचे सुरङ्ग की सड़क में 'मेट्रोपोलिटन रेल' अर्थात् शहर के महल्लों में चलनेवाली रेलगाड़ियाँ हैं। एक-एक मील पर एक-एक स्टेशन है। रेल से जाने की इच्छा हो तो सड़क की कई सीढ़ियाँ नीचे उतरना पड़ता है; नीचे पहुँचते ही दूसरे या तीसरे दर्जे की गाड़ी मिलती है। ये रेलगाड़ियाँ बम्बई की तरह ही बिजली के ज़ोर से चलती हैं। बम्बई में ज़मीन के ऊपर से और यहाँ धरातल से [illegible] फ़ीट नीचे रेल चलती है। इसके अतिरिक्त शहर से दूर जाने के लिये भी रेल है। 'मेट्रोपोलिटन रेलवे' से [illegible] फ़ीट नीचे और एक सुरङ्ग है; यहाँ भी बिजली की रेल है। [illegible] सब ट्रेनें घण्टे में ३५ मील की तेज़ी से चलती, और बिना किसी की सहायता के आप ही चला करती

हैं। जब ट्रेन स्टेशन पर आती है, तब दर्वाज़े आपसे आप खुल जाते हैं, फिर चलने पर आप ही बन्द हो जाते हैं। दर्वाज़ों के बन्द होने के समय बहुत ही सावधानी से रहना पड़ता है। असावधानी से दब जाने की सम्भावना है। गाड़ी से नीचे उतरने-चढ़ने के लिये 'स्केलिस्टेयर्स' (चलती फिरती सीढ़ी) हैं; कोई किसी ट्यूब-स्टेशन में नीचे उतरना चाहे, तो ये सीढ़ियाँ उसे वहाँ पहुँचा देती हैं। ऊपरी आम सड़क से १०० फ़ीट नीचे उतरने के लिये भी किसी को एक क़दम पैदल नहीं चलना पड़ता। सिर्फ़ किसी 'सीढ़ी प्लेन' के ऊपर खड़े होते ही वह नीचे उतार देता है। इस के अतिरिक्त बड़े-बड़े लिफ़्ट भी हैं, जो एक बार ४० आदमी तक को उतार सकते हैं। ये नीचे से सड़क के ऊपर आने के लिये व्यवहृत होते हैं।

हाइड पार्क बहुत बड़ा स्थान है। यहाँ हज़ारों सैकड़ लोइन के रूप में सजे हुए हैं। अधिकांश लार्ड लोग इस हाइड पार्क के पास पार्क लेन में निवास करते हैं। हाइड पार्क के समीप के पिकाडेली रोड में भी अनेक लार्ड रहते हैं। ट्राफलगर स्क्वायर, नेलसन मनुमेण्ट, नैशनल पिक्चर गैलिरी, हाइट हाल, एडमिरलटी, वार आफ़िस, प्राइम मिनिस्टर्स अफ़िसियल रेसिडेन्स, गवर्नमेण्ट आफ़िस आदि, दी सिनोटाफ़ (स्मरणस्तम्भ), स्काटलेण्ड-यार्ड-पुलिस हेडक्वार्टर, वेस्टमिनिस्टर ब्रिज, पार्लियामेण्ट हाउसेस, वेस्टमिनिस्टर एबे, विक्टोरिया स्ट्रीट, विक्टोरिया स्टेशन, बकिङ्घम पैलेस, विक्टोरिया मेमोरियल, दी मल, लण्डन म्युज़ियम, सेण्ट-जेम्स पैलेस, मार्लबरो हाउस, पल मल, पिकाडिली, रायल एकाडेमी, ग्रीन एन्ड हाइड पार्क्स, पार्क लेन, अक्सफ़ोर्ड स्ट्रीट, मेनसन हाउस (लण्डन के लार्ड मेयर का वासस्थान) आदि अधिकांश प्रयोजनीय और उल्लेखयोग्य स्थान बकिङ्घम पैलेश को केंद्र बनाकर उसके चारों ओर बने हुए हैं। हम लोग आज कल विश्वविद्यालय के ठीक बग़ल में ही रहते हैं। ब्रिटिश म्यूज़ियम हमारे वासस्थान से सिर्फ़ दो मिनट के रास्ते पर है।

मिस्टर ऐलो येनरोज़ ने, जिसका जिक्र मैं पहले के पत्र में कर ... वाले के लिये दो और पोरस के लिये दो ... उनके लिखे लन्डन के दोनों मनुष्यों से हमारी मुलाक़ात हुई। इनमें एक तो साधारण आदमी और दूसरे सर जे हाग्वे थियबोल्ड सत्तर वर्ष के वृद्ध विद्वान् हैं। मैं तीर्थ महाराज को साथ ले गत २५-४-३३ तारीख को कोयकार्सेस के 'फ्रेण्ड्स हाउस' में उनसे मुलाक़ात की। वे बाहर जाने के लिये तैयार थे। उन्होंने मिस्टर जन पी० फ्लेचर सेक्रेटरी लण्डन सेण्टर आफ़ दी फ्रेण्ड्स सरविस काउंसिल महाशय के साथ हम लोगों का परिचय करा दिया। वे एक प्रवीण बुद्धिमान पुरुष हैं, प्रायः आध घण्टे तक उनसे हम लोगों की बात चीत हुई। उन्होंने कोयकर्स एसोसियेशन में हम लोगों के लिये सभा की व्यवस्था कर देने का वचन दिया। इनका एक बड़ा मकान टरिंगटन स्कायर के बहुत ही समीप वेस्टन रोड में है।

अनेवा से हम लोगों ने जो दो बड़े ट्रङ्क बुकिङ्ग कराये थे, वे अभी तक हम लोगों के पास पहुँचे नहीं हैं। हमारे क़ागज़ात उसी के अन्दर हैं। आशा है कि २८-४-३३ तक दोनों ट्रङ्क आ जायेंगे। लगेज के पाते ही हम लोगों को जिनसे मिलना है, उन्हें पत्र लिखने पड़ेंगे। पहले से तय किये बिना किसी से मुलाक़ात हो नहीं सकती, सुतरां लोगों से जान-पहचान करते प्रायः १५ दिन लगेंगे।

यदि आप यहाँ श्रीमठ का एक प्रचार-कार्यालय खोलना चाहें, परवर्ती हवाई डाक से हमें उसकी सलाह दें। हम अपने खर्च के मोटे-मोटे हिसाब का विवरण नीचे देते हैं। हम लोग वर्त्तमान समय जहाँ हैं, वह बाहरी लोगों को बुलाने के उपयुक्त नहीं है। दो-तीन वक्तृता के बाद जब स्थानीय लोगों से हमारा परिचय हो जायगा, तब यहाँ बड़ी असुविधा होगी। सुतरां एक अलग स्थान ही हम लोगों के लिये ठीक होगा। × × ×

हम तीन आदमियों का खर्च हर महीने अधिक से अधिक ५००) और कम से कम ४५०) पड़ेंगे।

यदि हम लोग वर्त्तमान स्थान में ही रहें, तो १० पाउण्ड का खर्च पड़ेगा। एक या इससे अधिक

मनुष्य के [illegible] न [illegible] और के सम्बन्ध में कोई कमी या [illegible] नहीं। प्रत्येक बिस्तर के लिये किराया निर्धारित है। वर्तमान निवास स्थान को हम लण्डन छोड़कर नहीं सकते क्योंकि इस समय हम लोगों को एक ज़मींदार लेडी के अधीन रहना पड़ता है।

किन्तु इस समय यदि हम लोग दो कोठरी सोने के लिये, एक बैठक, रसोईघर स्नानघर और पाखाना समेत एक मंज़िल का मकान किराया लें तो उसके लिये महीने में प्रायः तीन पाउण्ड का खर्च अधिक बढ़ जाता है सो पर मनोनीत होगा और मेल आदमियों [illegible] का आना [illegible]। अवश्य ही लण्डन से १४ मील दूर निकल जाने पर हमें सस्ते किराये का मकान मिल सकता है।

एक मञ्जिल के लिये हम लोगों को तीन पाउण्ड अधिक खर्च करना पड़ेगा सही किन्तु उससे बहुतेरी सुविधायें होंगी। हम लोग पूर्ण स्वतन्त्रता से इच्छानुसार काम कर सकेंगे। स्नान, पाखाना और रसोईघर भी अलग होगा। × × ×

आपका सम्मतिपत्र मिलने पर हम लोग निवासस्थान के सम्बन्ध में व्यवस्था कर सकते हैं।

डाकमहल में हम लोगों ने उतनी सर्दी पाई। आज कल लण्डन के जलवायु की अवस्था भी ठीक वैसी ही है। किन्तु यहाँ के लोगों का कहना है, कि उनके लिये यही सबसे अधिक गर्मी का समय है। सदा कुछ न कुछ वृष्टि हुआ करती है। बरफ पड़ने से अधिक ठण्डक जान पड़ने लगती है। माननीय सम्राट और सम्राज्ञी इस समय लण्डन में नहीं हैं, आगामी महीने के अन्त तक ये लोग लण्डन में लौट आयेंगे और शीघ्र ही फिर स्काटलैण्ड चले जायेंगे। प्रिन्स आफ वेल्स यहाँ के सेण्ट जेम्स प्रासाद में हैं, ड्यूक आफ यार्क १४५ नं० पिकाडिली में हैं। प्रिन्स जार्ज अपने बड़े भाई के प्रासाद के बगल के प्रासाद में हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि बकिंघम प्रासाद बहुत बड़ा है। किन्तु अन्यान्य प्रासाद भारतीय राजाओं के प्रासाद की मर्यादा और आडम्बर की तुलना में नहीं आ सकते। पार्लियामेण्ट के महल भी हम लोग देख आये हैं। ये सब अवश्य ही बहुत बड़े-बड़े महल हैं। ये सब टेम्स नदी के किनारे वेस्टमिनिस्टर ब्रिज के पास ही हैं। कल हम लोग इण्डिया आफिस, ह्वाइट हाल और हार्सगार्ड भी देखने गये थे। ये सब पार्लियामेण्ट भवन से करीब एक फ़र्लांग पर हैं। लण्डन का काउंटी हाल बहुत बड़ा है।

हम सब लोग अच्छे हैं। हम लोग अपनी कुल चिट्ठी पत्री कुञ्जदादा के पते से कलकत्ते भेजेंगे। इससे वे उन सब को पढ़कर आप के पास या आप के दूर होने से किसी और के पास भेज सकेंगे। कृपाकर हमारे सब गुरु-भाइयों और शुभाकांक्षी सज्जनों को हमारी याद दिला दीजियेगा। आपके दर्शन की इच्छा होने पर भी हम लोग इस समय दर्शन पा नहीं सकते। आपके श्रीपादपद्म में हम लोगों का साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम। इति—

आपका एकान्त दासानुदास
स्नेहाकांक्षी वन

बम्बई नगरी में श्रीगौड़ीय मठ

[गत १४ वीं मई, १९३३ के 'बाम्बे क्रानिकल' पत्र से उद्धृत]

पाश्चात्य प्रदेश में भगवत्प्रेम-भक्ति के विषय में प्रचार करने के लिये कई गौड़ीय प्रचारकगण को उस प्रदेश में भेजने को, श्रीविश्व-वैष्णवराज-सभा के पात्रराज शुद्ध गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज पहले से ही बम्बई नगरी में पधारे – यह समाचार सर्व साधारण में विदित है।

बम्बई शहर में एक स्थायी प्रचार-केन्द्र स्था-

पित करने के लिये परमहंसजी महाराज, बाबुलनाथ मन्दिर के समीप बाबुलनाथ की सड़क के किनारे ही के जेठाबिला में उच्चशिक्षित कई प्रचारकों के साथ ठहरे। बम्बई का गौड़ीय मठ पाश्चात्य देश में प्रचार करनेवाला प्रधान केन्द्र होगा।

गत दो सौ वर्ष से श्रीकृष्णचैतन्य का मामूली सम्प्रदाय उनकी वाणी का उल्टा मतलब समझ कर महाभ्रम में पड़ा हुआ है और साधारण लोगों में भी उस विगड़े रूप का ही प्रचार करता चला आ रहा है। इससे गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय में कितने ही अपसम्प्रदायों की सृष्टि हो गई है और ये लोग श्रीकृष्णचैतन्य के नाम से वास्तविक शिक्षा के बिल्कुल विरुद्ध मतवाद का प्रचार कर रहे हैं। श्रीकृष्णचैतन्य द्वारा प्रचारित शुद्ध भगवद्भक्ति के विषय को, जातिवर्ण का कोई खयाल न कर, सबको समझाने की चेष्टा करना ही परमहंस महाराज का एकमात्र उद्देश्य है। जगत् में शुद्ध भगवद्भक्ति की वाणी का प्रचार करने के लिये, श्रीचैतन्यदेव की आज्ञा से श्रीरूप गोस्वामी ने जिस पथ का आविष्कार किया है, उसके अनुसार श्रीचैतन्यदेव की आन्तरिक इच्छा पूर्ण करने के लिये परमहंसजी महाराज, श्रीकृष्ण के यथार्थ भक्तों की सहयोगिता के लिये आमन्त्रण करते हैं। श्रीरूपपाद और श्रीचैतन्यदेव के प्रचार के अनुसार, विमल प्रेम की वाणी का पृथिवी में सर्वत्र प्रचार करने के लिये शत-शत महात्मा असत्-सङ्ग के परित्याग का आदर्श दिखाते हुए परमहंस महाराज के चरण का आश्रय ले चुके हैं।

श्रीविश्ववैष्णवराज-सभा ने भारत में सर्वत्र विस्तृत रूप से प्रचार करने के लिये स्थान-स्थान पर स्थायी रूप से चालीस प्रचार-केन्द्र स्थापित किये हैं, विभिन्न भाषाओं में छः सामयिक पत्र निकाले और गौड़ीय वैष्णव-शास्त्र, दर्शन आदि बहुतेरी अमूल्य पुस्तकें अपने छापेखाने से प्रकाशित कर रहे हैं। इस सभा ने सुशिक्षित परिव्राजक संन्यासियों के नेतृत्व में प्रचारक दल तैयार कर, उन्हें प्रत्येक आदमी के दर्वाज़े-दर्वाज़े जाकर पढ़ने, व्याख्या करने और वक्तृता ... करने ... प्रेम धर्म के विषय की ... के लिये नियुक्त किये हैं।

चाहने से, सभी लोग परमहंस गोस्वामी महाराज का दर्शन कर सकते हैं। ये नित्य तीसरे पहर ४ बजे से रात के ८ बजे तक नियमित रूप से, आये हुए मनुष्यों को भगवत् विषयक कथा सुनाते हैं। सर्वसाधारण के बुलाने से इस संस्था के प्रचारकगण साधारण सभा में धर्म-विषयक वक्तृता और व्याख्या करने के लिये तैयार हैं। ये लोग इस काम के लिये कभी रुपये-पैसे नहीं लेते।

गत १७ वीं मई १९३३ को बम्बई गौड़ीय मठ के प्रचारकों ने बाबुलनाथ मन्दिर में श्रीहरिनाम का सङ्कीर्त्तन किया। बम्बई शहर में बाबुलनाथ शिव-मन्दिर बहुत प्रसिद्ध है। मन्दिर के कर्त्तागण के बुलाने से त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्तिरक्षक श्रीधर महाराज, श्रीमद्भक्तिविलास पर्वत महाराज, श्रीविश्ववैष्णवराज सभा के सम्पादक महोपदेशक पण्डित श्रीपाद अतुलचन्द्र बन्द्योपाध्याय भक्तिसारङ्ग गोस्वामी भक्तिशास्त्री, महामहोपदेशक आचार्य अध्यापक श्रीपाद निशिकान्त सान्याल एम० ए० और श्रीचैतन्यमठ के ट्रस्टी महामहोपदेशक पण्डित श्रीपाद अनंतवासुदेव परविद्याभूषण एम० ए०, आचार्य श्रीपाद परमानन्द विद्यारत्न और अध्यापक आचार्य श्रीपाद यदुवर भक्तिशास्त्री एम० ए०, बी० एल० आदि भक्तगण ने पञ्चतत्त्व और श्रीहरिनाम महामन्त्र का कीर्त्तन किया।

सब लोगों ने वैष्णवराज शम्भु के सामने—

> "वृन्दावनावनिपते जय सोम-सोम-
> मौले सनन्दन-सनातन-नारदेड्य।
> गोपेश्वर व्रजविलासियुगाङ्घ्रिपद्मे
> प्रीतिं प्रयच्छ नितरां निरुपाधिकां मे॥"

इस स्तोत्र का कीर्त्तन करते हुए कृष्ण के प्रियतम शङ्कर से अहैतुकी कृष्ण सेवा की प्रार्थना की।

निज संवाद-दाता ने तार-समाचार दिया है,—२१ वीं मई १९३३ को बम्बई के चौपाटी-सागर के

किनारे जो ... कृष्ण-नाम-प्रचार-म... उसमें बम्बई के श्रीगौड़ीय मठ के ...-वृन्द "भागवत धर्म" पर उपदेश करने के लिये विशेष रूप से आमन्त्रित किये गये थे।

बम्बई गौड़ीय मठ के प्रचारक त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्ति रक्षक श्रीधर महाराज ने विराट जनसभा में ललकार कर कहा कि राजनीति या और किसी सांसारिक विषय के साथ मठ का कोई सम्बन्ध या विरोध नहीं है। मठ के लोग एकमात्र शुद्धभक्ति के प्रचारक हैं, जो समस्त चेतन प्राणियों का धर्म है और सनातन सार्वजनीन धर्म है। जीव का भगवान् को भूल जाना ही जगत् में सब कुछ अभाव-असुविधाओं का मूल कारण है। हम लोग भगवान् को भूल गये हैं, इसीसे तरह तरह के उपद्रव और झगड़े उपस्थित होते हैं। भागवत धर्म के द्वारा ही नित्य शान्ति का सूत्रपात हो सकता है। यह अधोक्षज परमेश्वर का प्रेम है,—जीव के देह-देह या मन-मन में प्रेम की (?) तुलना या प्रेम-विरोध नहीं है।

इसके बाद स्वामीजी महाराज ने "हरिजन" शब्द का सच्चा अर्थ और वर्त्तमान समय इस शब्द के अपव्यवहार के विषय पर शास्त्रयुक्ति के अनुसार आलोचना की। श्रीमद्भागवत के "अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्" श्लोक से विदित होता है कि चाहे कोई किसी भी कुल में क्यों न पैदा हो, जिसकी जीभ पर अधोक्षज श्रीहरि का नाम विराजता है, वे ही श्रीहरि के जन हैं। जो लोग श्रीनाम को प्राकृत शब्द समझ के हरिनाम के बहाने लोगों को ठगते या धोखा देते हैं, वे ही प्रकृति जन हैं। श्रीचैतन्यदेव इस अतिक्रान्त प्रेम के समाचार को जगत् में ले आये हैं। सभा में श्रीयुक्त राजगोपाला चारी आदि जन-नेता उपस्थित थे।

हरि-सभा

'स' उपपद में 'भा' धातु के क्विप् प्रत्यय द्वारा 'सभा' शब्द बना है। 'भा' धातु का अर्थ है दीप्ति पाना अर्थात् जहां जनमण्डली किसी कार्य के उद्देश्य से दीप्ति पाती है उसे 'सभा' कहते हैं। सभा, परिषद्, संसद्, गोष्ठी आदि सब एक ही पर्याय के शब्द हैं। सभा, परिषद् या गोष्ठी अनेक प्रकार से हो सकती हैं। जैसे—साहित्य-सभा, विज्ञान-सभा, शास्त्र-सभा, सामाजिक सभा, राज-सभा, धर्म सभा, हरि सभा इत्यादि। किन्तु हरि-सभा से इन सब अन्यान्य सभाओं से विशेष प्रभेद है। क्योंकि शास्त्र का कहना है "हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्"—हरि साक्षात् गुणातीत वस्तु है, जिस सभा में हरि-विषयक आलोचना होती है, उसके साथ गुणमय प्राकृत जगत् की आलोचना की बराबरी हो नहीं सकती। किन्तु आज-कल जगत् में चिज्जड़ समन्वय-वादियों का प्रादुर्भाव होने से हरि-भक्ति-प्रदायिनी सभा के नाम से भी साहित्यालोचना, दरिद्र भण्डार चिकित्सागार, काव्यालोचना आदि सामाजिक विषय, जैसे विधवा-विवाह इत्यादि के विषय में भी आलोचना होती है। कहीं कहीं स्वदेश की उन्नति की आलोचना, मोह राज आदि की उन्नति के विषय में भी आलोचना होती है। सांसारिक विचार से अज्ञजनों की धारणा में यह सब काम सदनुष्ठान समझे जा सकते हैं, किन्तु हरि-भक्ति-प्रदायिनी सभा इन सब विषयों की आलोचना का स्थान नहीं। जो चिज्जड़ का समन्वय करने की चेष्टा करते और मिट्टी को एक समान बनाना चाहते हैं, परमहंस और प्राकृत बालक को एक ही श्रेणी का समझते हैं, काठ के पुतले, टेबिल, पत्थर, मानचित्र में भौतिक क्रिया से चैतन्य का आरोपण होता है, बाद को वहीं से चले जाने का विचार करते हैं, अथवा नारायण-तत्त्व को दरिद्रता में उपस्थित करते या यह कल्पना

करते हैं, कि नारायण दरिद्र के रूप में जगत् में आते हैं, उन्होंने हरिभक्ति की कथा कभी सुनी ही नहीं, उसका समझना तो बहुत दूर की बात है। बहुतेरे लोग हरि-सभा के नाम से कुश्ती का अखाड़ा, गाँजाखोरों का अड्डा, ताश और पासे खेलने की बैठक या समस्त दिन संसार के लिये गये जैसी मेहनत के बाद एक महिला सभा बनाने या ग्रामीण गप्प और अफवाह उड़ाने का स्थान बना बैठते हैं।

हरि निर्गुण वस्तु हैं, हरिभक्ति निर्गुण वस्तु है और जहां हरि के विषय में आलोचना होती है, वह स्थान भी निर्गुण स्थान है।

श्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध में श्रीभगवान् ने उद्धव से कहा है,—

वनन्तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतन्तु निर्गुणम्॥

अर्थात्, वनवास सात्त्विक वास है, ग्रामवास को राजसिक कहते हैं; जहाँ जुआ होता है, वह स्थान तामसवास है, जहाँ श्रीभगवान् और श्रीभगवद्भक्तों का वास या आलोचना का स्थान है, उस स्थान में निवास करना ही निर्गुणवास है। श्रीभगवान् ने अन्यत्र नारद से भी कहा है,—

नाहं तिष्ठामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

हे नारद, मैं अपने नित्य निवासस्थान वैकुण्ठ में नहीं रहता, ध्यान-परायण योगियों के हृदय में भी नहीं रहता, बल्कि जहाँ मेरे शुद्ध भक्तगण मेरा गुणानुवाद करते हैं मैं वहीं ही रहता हूँ अर्थात् वही वैकुण्ठ स्थान है; क्योंकि कुण्ठा भ्रम वहाँ से दूर हो गया है। सुतरां हरि-सभा शुद्ध-भक्ति की आलोचना का केन्द्र है। जहाँ भगवान् की अव्यभिचारिणी सेवा नहीं है, जहाँ एकमात्र भगवान् के सुख के लिये चेष्टा नहीं होती, अथवा जहाँ कभी अभेद ब्रह्मानुसन्धान रूपी ज्ञान की आलोचना या कृत्रिम प्राणायामादि अष्टाङ्ग योगादि की चेष्टा द्वारा भजन में बाधा हो रही है, वहाँ भक्ति है ही नहीं। जिनमें भक्ति और भगवान् की सेवा में विश्वास उत्पन्न हुआ है, वे भक्ति को कर्म-ज्ञानादि के अधीन मान नहीं सकते। भक्ति आत्मा की नित्य स्वरूप[illegible] सुतरां नश्वर इन्द्रिय के अधीन [illegible] के योग्य नहीं है; भक्ति स्वाधीन और निरपेक्ष है। जैसे गङ्गा की स्वाभाविक गति सागर की ओर ही है, अथवा जैसे पानी स्वाभाविक रूप से नीचे की ओर ही बहता है; जैसे छोटे जड़वस्तु स्वभावतः ही बृहत् जड़वस्तु से आकृष्ट रहते हैं, वैसे ही भगवान् के प्रति जीवात्मा की निरन्तर सेवावृत्ति या भक्ति भी स्वाभाविकी है। स्वभावतः ही समुद्र की ओर जानेवाली गङ्गा के सामने यदि कोई चीज़ पड़ जाय, तो जैसे वह गङ्गा के बहाव के साथ ही बहती रहती है, वैसे ही भक्ति के आगे कर्म, ज्ञान और योगादि की चेष्टा उपस्थित करना, उनके द्वारा भक्ति की स्वाभाविकी गति में बाधा पहुँचाना मात्र है। शुद्धा भक्ति आप ही बहुत शक्तिशालिनी है, अन्यान्य वस्तुओं के सहारे उसकी शक्ति को और बढ़ाने की ज़रूरत नहीं है। भक्ति को काम में लाने के लिये कर्म ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि "भक्ति का निहारें मुख कर्म-योग ज्ञान"—कर्म ज्ञानादि ही भक्ति के उद्देशक हैं अर्थात् भक्ति की सहायता के बिना कर्म ज्ञानादि निष्फल होते हैं। जो कर्म भगवत्-सेवा-परायण नहीं है, उसके द्वारा कर्म बन्धन होता है, जिस ज्ञान से भगवान् से जीव का सम्बन्ध ज्ञान उदित न हो, वरन् चिज्जड़ अभेद या निर्विशेष ज्ञान की ओर ले जाय, वही ज्ञान आत्म-विनाशक है; ऐसे ही जो योग जीव को भगवान् की सेवा में नियुक्त न करे वह भी निरर्थक है। इसी से श्रीमद्भागवत ने बारबार कई तरह से कहा है,—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥
धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥
नेह यत् कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते।
न तीर्थपादसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः॥

हम बहुतेरे सत्कार्य, महत् अनुष्ठान या धर्म-संग्रह क्यों न करें; यदि भगवान् की कथा में रुचि न हुई, तो सारा परिश्रम व्यर्थ है। एकमात्र भगवान् और भगवद्भक्तों की सेवा बुद्धि यदि न हो, तो हम

जीवित हों—————————कि जिसमें अतीन्द्रिय ... कृष्ण-नाम-प्रेम ... और कर्म योगादि का व्यवधान ... भक्ति का उदय होता है, वही प्राणीमात्र का एक मात्र श्रेष्ठ धर्म है। सुतरां हरिभक्ति-... के काम में यदि कर्म-ज्ञान-योगादि आकर बाधा उत्पन्न करें, तो वह सब तरह से परित्याज्य है। किन्तु आज कल वास्तविक आचारवान् आचार्य के अभाव से हरिसभाओं की दुर्दशा हो रही है—वह हरिभक्ति-प्रदायिनी सभा की जगह अविद्या-प्रसारिणी सभा या इन्द्रिय-तृप्तिदायिनी सभा हो पड़ी है। मनुसंहिता के द्वादश अध्याय में भृगु ने मुनिगण से कहा है, कि दश से अधिक या तीन से अधिक वृत्तिवान्, धर्मज्ञ-ब्राह्मणों की सभा से जिस धर्म का निर्णय हो, वही धर्म के नाम से स्वीकृत होगा:—

दशावरा वा परिषद् यं धर्मं परिकल्पयेत्।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत्॥

फिर कहा है, कि—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥

एक ही वेदवित् और यथार्थ द्विजश्रेष्ठ धर्म के नाम से जो व्यवस्था दें, उसे ही परम धर्म मानना चाहिये, परन्तु लाख लाख अज्ञानी जो कहें, वह धर्म का कारण नहीं—

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥

(मनु० १२। ११०—११४)

जिन्होंने सद्गुरु के पास वेदादि शास्त्र का अध्ययन नहीं किया, जो केवल जाति के ब्राह्मण हैं, किन्तु सम्बन्ध ज्ञानयुक्त परमार्थिक ब्राह्मण नहीं, ऐसे सहस्रों मनुष्यों के एकत्र होने पर भी उनमें परिषत्व या पारिषद् की योग्यता नहीं है, क्योंकि वे मनोधर्म के वशीभूत बद्धजीव हैं, सुतरां उनमें धर्म-निर्णय करने की शक्ति नहीं।

आज कल की हरि-सभायें भी इसी प्रकार आचार्यों के अभाव से कलि की सभा के रूप में बदल गई हैं। इन सब हरि-सभाओं में शुद्ध हरिभक्ति के विषय की आलोचना अथवा निःश्रेयस की आलोचना न होके केवल अपनी इन्द्रिय के प्रियकर वस्तु की आलोचनायें हुआ करती हैं। कहीं भागवत-व्यवसायी के मुँह से श्रीमद्भागवत पाठ या कीर्त्तन के बहाने काव्य पाठ, कहीं राधाकृष्ण के अप्राकृत रसलीला के श्रवण-कीर्त्तन के बहाने छिपे छिपे जड़-इन्द्रिय के तोषण की कुचेष्टायें मात्र होती हैं। अब हरि-सभाओं में हरि-सेवा के विषय की आलोचना नहीं है। कारण,—

आत्मेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा उसे कहें काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीतिइच्छा धरे प्रेम-नाम॥

हरि-सेवा में किसी प्रकार की कपटता हो नहीं सकती, वह निर्मला, अप्रतिहता और अहैतुकी है। आज कल कितने ही लोग श्रीरूपगोस्वामीपाद के भक्तिरसामृत सिन्धु और उपदेशामृत के उपदेशों को भूल हरिसभा के सभ्य बनने के इच्छुक हैं या अपने को रूपानुग बताकर प्रतिष्ठा पाने की आग्रह करते हैं। वे जानते ही नहीं, कि "अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः" श्रीकृष्ण का नाम, रूप, गुण, लीला प्राकृत इन्द्रिय से ग्रहणयोग्य हो नहीं सकता।

"सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः।"

एकमात्र सेवोन्मुख इन्द्रिय में स्वप्रकाश वस्तु श्रीनामादि का उदय स्वयं ही होता है। श्रीरूपगोस्वामी के कहे "सङ्गत्यागात् सतोवृत्तेः" अर्थात् असत् सङ्ग का त्याग और साधुओं की वृत्ति के अनुसरण से भक्ति परिपुष्ट होती है; इस बात को कितने ही लोग भूल गये हैं। श्रीकविराज गोस्वामी ने कहा है,—

असत्-सङ्ग-त्याग,—यही वैष्णव आचार।
स्त्री सङ्गी एक असाधु कृष्ण-अभक्त और॥

इस वचन को भूल कितने ही लोग आजकल कहते हैं, कि हम सदाचार या वैष्णव आचार करते हैं। और कितने ही, श्रीजगदानन्द प्रभु के वाक्य,—"असाधु के सङ्ग कृष्णनाम होय नाहीं। नामाक्षर तो निकले किन्तु नाम कभी नहीं॥"—को भूल अक्षरमात्र या नामापराध को ही नाम मानने को व्यस्त हैं। इन सब हरिसभाओं में 'अष्ट-प्रहर', 'सोलह-प्रहर', 'चौबीस-प्रहर' प्रभृति का होना तो खूब दिखाई

देता है, किन्तु उन सब अष्टप्रहर माननेवालों में कोई नाम, नामाभास और नामापराध के पार्थक्य को समझते हैं या नहीं, इसमें सन्देह ही है। इसका फल केवल चित्त की तृप्ति या अचेतन ग्रामोफोन की भाँति चिल्लाहट मात्र होता है। उनकी चित्तवृत्ति का परिमार्जित होना तो दूर की बात, असद् विषय में अभिनिवेश का हटाना और दूर की बात, उलटे उनमें नामापराध की प्रतिक्रिया और भी अधिक रूप से होती है। अष्ट-प्रहर या इसके भीतर ही—गाँजा, पान और तम्बाकू का खर्च हरिसभा के सभ्यों को अन्यान्य दिन से अधिक उठाना पड़ता है। कोई कोई आठ पहर बीतते बीतते स्त्रीपुत्र को यादकर व्याकुल हो उठते हैं। कोई-कोई प्रतिष्ठा आदि पाने के लिये सदा की रोनी आँखों से आँसू बहा देते हैं और तरह-तरह के कपट भावों का प्रदर्शन करते हैं। किन्तु श्रीरूपगोस्वामी के कहे भावों के जो मुख्य लक्षण हैं, वे उनमें खोजने से भी नहीं मिलते। फिर महोत्सवादि के समय महाप्रसाद पर दाल-भात जैसा विचार आरम्भ होता है। कहीं कहीं मारपीट होते भी दिखाई दी है। उस समय हरिसभा के सभ्यगण श्रीहरिभक्तिविलास से उद्धृत वचन—(९ म विलास १२४)—

> नैवेद्यं जगदीशस्य अन्नपानादिकञ्च यत्।
> भक्ष्याभक्ष्य-विचारश्च नास्ति तद्भक्षणे द्विजा॥
> ब्रह्मवन्निर्विकारं हि यथाविष्णुस्तथैव तत्।
> विकारं ये प्रकुर्वन्ति भक्षणे तद्द्विजातयः॥
> कुष्ठव्याधिसमायुक्ताः पुत्रदारविवर्जिताः।
> निरयं यान्ति ते विप्रास्तस्मान्नावर्तते पुनः॥

अर्थात् यह भूल कर, कि यह प्राकृत दालभात नहीं, भ [illegible] अप्राकृत वस्तु है, महाप्रसाद में [illegible] वाले में भोग-बुद्धि, वैष्णवों में जातिबुद्धि [illegible] अन्यान्य नारकीय बुद्धि में आ पड़ते हैं। सुतरां इन सब हरिसभाओं द्वारा जीव का कल्याण होना तो दूर रहा, उलटे जीव और भी नरकगामी होता है। श्रीमद्भागवत में प्रह्लाद महाराज ने हिरण्यकशिपु से कहा था (भा० ७।५।२३-२५) गुरु के उपदेश से, स्वयं ग्रन्थ के अध्ययन से या परस्पर हरिसभा प्रभृति में आलोचना द्वारा ही नहीं गृहव्रत अर्थात् देह में आत्म-बुद्धि रखनेवाले मनुष्यों में कृष्णमति हो नहीं सकती। वे इन्द्रिय के दास हैं, वे असार चर्वित वस्तु का चर्वण करते हुए ही क्रमशः अन्धतामिस्र नरक की ओर जाते हैं। कारण, उनके उपदेष्टा और गुरु बद्ध जीव हैं, एक अन्धे के सहारे चलनेवाले दूसरे अन्धे की जो हालत है, वही हालत उनकी भी है। सुतरां जब तक एकमात्र भगवान् के लिये त्यक्त-स्वजन-बान्धव, भगवान् में अखिलचेष्टायुक्त जीवनमुक्त, निष्किञ्चन साधुओं के सर्वतोभाव से आनुगत्य में हरिसभा या किसी तरह की हरिसेवा का काम न हो, तब तक जीव के आत्यन्तिक मङ्गल का पथ सुगम हो नहीं सकता। चित्तविनोद का स्थान, विश्राम का स्थान, इन्द्रियप्रीति का स्थान हरिसभा नहीं है, वैसी सभा कलि की सभा या माया की सभा है। हरिभक्ति प्रदायिनी सभा केवलमात्र श्रीहरि के प्रति निःस्वार्थ प्रीति-साधन की आलोचना का क्षेत्र है। वह हरि का वासस्थान, निर्गुण, संसार में प्रकट होनेवाला वैकुण्ठ है।

वैश्य-जगत्

आज कल पृथिवी में सब जगह जैसी हवा बह रही है, उससे आधुनिक जगत् को "वैश्य-जगत्" कहना असङ्गत जान नहीं पड़ता। अमेरिका, इँगलैंड, जर्मनी, चीन, जापान—इन सब बड़े प्रदेशों के जिन लोगों को हम बहुत ही सभ्य और भव्य मानते हैं, उन सभी में यह 'वैश्य' भाव बेतरह जाग उठा है; 'अन्न चाहिये, धन चाहिये' के शोर से सारा दिगन्त काँप उठा है। यह सब देख के भारत के लोग भी समझते हैं, कि

-हमारा देश ... न ... और देश में आकर रोजगार ... बन गये, कितने ही नगण्य लोग जाग उठे, और हम रोजगार से उदासीन हो कब तक भटकते रहेंगे ? भारत के भेड़ियाधसान मचानेवाले लोग चाहते हैं, कि जब हमारी जन्मभूमि 'सुजला-सुफला शस्यश्यामला' है तब हम भूखे क्यों मरें और मलेरिया क्यों भोगें, हम भी कृषि-वाणिज्य क्यों न करें ? इस तरह भारत आज वैश्यों के अधीन हो रहा है। भारत में एक वैश्य कर्मी उदित हुए हैं, जिन्होंने वैश्यवृत्ति के बल से देश को उन्नत बनाने का जुम्मा उठाया है। भारत में और भी कितने ही वैश्य उदित हुए। वैश्य जगत् की प्रबलता से ब्राह्मण-क्षत्रिय का विचार रह न गया। ब्राह्मण,—"मिश्रा एण्ड ब्रादर्स, दत्त-मकर्स" सूचना देकर जूते की दूकान खोल बैठे; "गोस्वामी एण्ड सन्स" के नाम से बिस्कुट, पावरोटी की दुकान खुल गई, घर के लड़के पढ़ना-लिखना छोड़ चाय बिस्कुट, पान-बीड़ी, और बिसातखाने की दूकान जमका बैठे। इतना ही नहीं ? धर्मराज्य में भी लोगों ने दूकानदारी चला दी। कहीं दूर नहीं, तीर्थस्थानों में जाने से ही दिखाई देता है, कि कोई-कोई महापुरुष नये नये फैशन के साइनबोर्ड लगा ठाकुरजी के बहाने अच्छा व्यवसाय खोल बैठे हैं। जैसे सर्कस और बायस्कोप में टिकेट के लिये पैसे देने पड़ते हैं, वैसे ही वे भी ठाकुरजी के दर्शन की 'दक्षिणा' जबर्दस्ती वसूल करते और उस धन से चौमंजिला मकान तथा अन्यान्य भोग की सामग्रियाँ इकट्ठी करते हैं। आजकल गुरु बनने का काम भी वैश्यपन या वेश्यापन के रूप में बदल गया है,—वेश्यापन इसलिये कहते हैं कि गुरुजी (?) रण्डी की तरह ग्राहकरूपी शिष्य का मान रखते रहते हैं; क्योंकि शिष्य नाराज़ होता है, तो रोज़गार में नुक़सान पड़ता है; रुपयों का आना बन्द हो जाता है। आजकल भागवत की व्याख्या का रोज़गार भी बड़े ज़ोरों पर है। कीर्त्तन करने और भागवत सुनाने का रुपया पहले ही वसूल कर लिया जाता है। अत्रि ऋषि की संहिता—धर्मशास्त्र में देखा था,—

वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं
शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठाः।
पुराणहीनाः कृषिणो भवन्ति
भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति ॥

ब्राह्मण, वेद पढ़ने में विशेष सुविधा न देख धर्मशास्त्र पढ़ने लग जाते हैं। इससे भी कुछ न हुआ, तो ब्राह्मण पुराण पढ़ने लगते और फिर भी कुछ यश और अर्थ न मिलने से खेतिहर बन जाते हैं; जब खेती में भी अधिक धन की सम्भावना नहीं रह जाती, तब वे, "यस्य क्वाऽपि गतिर्नास्ति तस्य वाराणसी गतिः" की तरह अपने को 'भागवत' अर्थात् वैष्णव का गुरु बनाकर गुरु का रोज़गार चला बैठते हैं। बहिर्मुख लोगों की रुचि के अनुकूल जो राय दी जाती है, वह जगत् में अच्छी तरह मान ली जाती है, इसीसे आजकल यह मत फैल पड़ा है कि पहले खाने-पहनने से बचे, तो फिर पीछे धर्म होता रहेगा; इससे यह साबित होता है कि धर्म के अधीन वैश्यवृत्ति नहीं है, वरं वैश्यवृत्ति के अधीन धर्म है। इसीसे कहा जाता है कि आधुनिक जगत् वैश्य-जगत् है।

वेद, भागवत् और गीता के पढ़ने से मालूम होता है कि विराट्-पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जंघे से वैश्य और चरण से शूद्र हुए थे। मुँह का काम है,—कुछ कहना—जैसे वेदपाठ या भगवान् का गुण-कीर्त्तन आदि। बाहु का काम है,—रक्षा करना, किसी को आश्रय देना और दण्ड की व्यवस्था करना इत्यादि। जंघे का काम है,—इधर उधर चलना फिरना और प्रजा की सृष्टि करना। शास्त्र का कहना है,—ये सब वर्ण हरि भजन करें, तो मुँह के काम, बाहु के काम और जंघे के काम, सभी संयतरूप में हो सकते हैं; किन्तु बिना हरिभजन के, वेद पढ़ना लोग-दिखावे हैं,—रुपये या सम्मान के लिये है; बाहु से केवल खून-खराबी और मारपीट होती है, जंघे के द्वारा केवल भोग के लिये रुपये संग्रह करने और व्यभिचार आदि होता है। पाठकगण ! ज़रा धीरचित्त हो विचार करें, कि आजकल के इस वैश्य-जगत् की क्या अवस्था है ? आजकल के समाचार-

पत्रों के स्तम्भ में केवल "रुपये और अन्न" की चिल्लाहट दिखाई देती है और दिखाई देता है,—नारी निग्रह का भयानक चित्र। क्या अब भी हमें अपनी अवस्था दिखाई नहीं देती? क्या हमें ज़रा भी यह सोचने-समझने का सौभाग्य नहीं होता, कि हम हरि से विमुख हो अथाह जलधि-जल में डूब गये हैं? हाय भारतवासी! तुम्हीं "पुण्यक्षेत्र" और "धर्मक्षेत्र" के अधिवासी के नाम से अपना गौरव समझते हो? जानते हो कि जब बालक प्रह्लाद को नृसिंहदेव ने प्रलोभन की अच्छी से अच्छी सामग्री और राज्य प्रदान करना चाहा था, तब प्रह्लाद ने क्या उत्तर दिया था? प्रह्लाद ने कहा था,—(भा० ७। १०। ४)—

यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्।

अर्थात् हे भगवन्, जो मनुष्य प्रभु के आगे प्रभु की सेवा छोड़ और किसी विषय की कामना करता है, वह दास नहीं, निश्चय व्यवसायी बनिया है। हम लोग गीता और महाभारत के देश के रहनेवाले "योगक्षेमं वहाम्यहम्" और "मामेकं शरणं व्रज"—के उपदेश को क्या नित्य नहीं सुन रहे हैं? क्या हमने महाभारत के शान्ति पर्व के इस शान्ति वचन को नहीं सुना है?—

"सर्वे वर्णा ब्राह्मणा ब्रह्मजाश्च॥"

सभी वर्ण ब्राह्मण हैं, क्योंकि ब्रह्मा से उत्पन्न हुए हैं। वृहदा... ...में हमने गुरु मुख से सुना है—

य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः।

हे गार्गी, जो अच्युत को पहचान कर इस जगत् से प्रयाण करते हैं, वे ही ब्राह्मण हैं। क्यों? इस पर भी हम लोग क्यों अपने को "कृपण" और सदा अभावग्रस्त समझते हैं? हम तो अमृत के सन्तान हैं, हम नित्य कृष्णदास हैं; हरिगुण का कीर्त्तन ही न ब्राह्मण का धर्म है? हरि की प्रसन्नता के लिए शुद्ध हरिकीर्त्तन को छोड़ हम कीर्त्तन को भी एक प्रकार का रोज़गार समझ ब्राह्मण के बदले वैश्य क्यों होते जा रहे हैं? जो फिर से हमारे ब्राह्मण-स्वभाव हरिगुण-कीर्त्तन की वृत्ति को जगाकर हमें ब्रह्मण्यदेव श्रीकृष्ण की सेवा में लगा सकें, वे ही हमारे दिव्यज्ञान-प्रदाता श्रीगुरुदेव हैं। वे हमारे कृपण कानों में दिव्यज्ञान का मन्त्र प्रदान कर कहेंगे,—"अहो जीव, तुम कृपण नहीं हो—तुम वैश्य, क्षत्रिय या प्राकृत ब्राह्मण नहीं हो—तुम दीक्षा लिये हुए सावित्र्य ब्राह्मण हो, तुम परमहंस वैष्णव के दास हो।" जिस दिन ऐसे दिव्यज्ञान की प्राप्ति का सौभाग्य होगा, उस दिन से हम अपने को वैश्य जगत् का अधिवासी समझ अभिमान न करेंगे, उस दिन हमारा सब अभाव दूर हो जायगा।

कलकत्ता—श्रीगौड़ीयमठ में श्रीप्रभुपाद

गत २३ वीं मई १९३३, मङ्गलवार के सबेरे ७॥ बजे बम्बई मेल से सपार्षद श्रीप्रभुपाद कलकत्ते के श्रीगौड़ीयमठ में पधारे।

गत २१ वीं मई को तीसरे पहर बम्बई मेल छूटने से पहले, बम्बई-शहर के प्रतिष्ठित सज्जन लोग श्रीप्रभुपाद को अभिनन्दन देने के लिये माला-फूल के साथ स्थानीय विक्टोरिया टर्मिनस स्टेशन पर उपस्थित हुए थे। त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्तिरक्षक श्रीधर महाराज के अनुवर्ती ... उन लोगों ने श्रीप्रभुपाद को पुष्प-माल्य से विभूषित किया और प्रभुपाद का आशीर्वाद लिया। २३ वीं मई मङ्गलवार के दिन श्रीगौड़ीयमठ के रक्षक महोदय के साथ श्रीमठ के भक्त, सेवक और बालियाटी के श्रीयुक्त कामिनी मोहनराय चौधरी, श्रीयुक्त मनोमोहनराय चौधरी और श्रीयुक्त सत्यमोहन राय चौधरी ज़मींदार महोदयगण श्रीप्रभुपाद की अभ्यर्थना करने के लिये हावड़ा स्टेशन पर उपस्थित हुए थे।

लण्डन में प्रचार

(निज संवाद दाता का तार)

लण्डन का तार-समाचार है, कि गत २७ वीं मई शनिवार को 'केम्ब्रिज' विश्वविद्यालय में त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्ति-हृदयवन महाराज ने जैवधर्म के सम्बन्ध में वक्तृता दी।

लण्डन विश्वविद्यालय के प्रधान अध्यापक डा० सर डेनिसन रास महाशय और उनकी पत्नी लेडी रास महाशया ने हरि-कथा सुनने की इच्छा से श्रीगौड़ीय मठ के प्रचारकगण को अपने भवन में निमन्त्रित किया है। सर डेनिसन रास महाशय के प्राईवेट सेक्रेटरी भारत में नदीया और यशोहर के ज़िला मजिस्ट्रेट थे।

भारत के सेक्रेटरी आफ स्टेट के, राइट आनरेबल सर सामुयल जान जे. जी होर, बार्ट सी-एस-आई और उनकी सहधर्मिणी लेडी होर ने भारत-आफिस (India Office) में श्रीपाद भक्ति-हृदय-वन महाराज को निमन्त्रित कर विश्व-प्रतिनिधिगण (World's Delegates) के साथ उनका परिचय करा दिया।

श्रीयुत आर ए बटलर बर्मा के लाट साहब के पुत्र और मध्यप्रदेश के गवर्नर साहब के भतीजे हैं। इनके पिता युक्त प्रदेश के भी गवर्नर थे। आपने कैम्ब्रिज में 'जैवधर्म' के प्रचार के लिये श्रीपाद वन महाराज की सहायता की है।

श्रीयुत बटलर महाशय एम० पी० पार्लियामेण्ट के मेम्बर लोगों में सब से उदीयमान कर्मवीर हैं। आप पार्लियामेण्ट के सब मेम्बरों के साथ महाराज का परिचय करा रहे हैं।

सर फ्रिगक्लिटर आपके मित्रों से वन महाराज का परिचय करा रहे हैं।

जुलाई और अक्टोबर महीने में केनसिंटन हाल में वन महाराज की वक्तृता होने का निश्चय हुआ है। जुलाई महीने में (अस्पृश्यता) के बारे में वक्तृता होगी।

कर्नल फ्रान्सिस यङ्ग हसबैण्ड के० सी० एस० आई० महाशय ने "सार्वभौम धर्मजीवन में नाटक का स्थान" विषय पर केनसिंटन हाल में आगामी १ लीं नवम्बर को श्रीपाद वन महाराज की वक्तृता देने की व्यवस्था की है।

श्रीयुक्त वन महाराज रायल इम्पायर सोसाइटी में भी निमन्त्रित हुए थे। इस सोसाइटी के सभापति स्वयं इँगलैण्ड के राजेश्वर हैं।

उस दिन टेम्परेन्स कान्फ्रेन्स में लण्डन के डिपटी लार्ड मेयर ने सभापति का काम किया। वन महाराज के उपस्थित होने पर आपने बड़े आनन्द से "Distinguished guest" (सबसे उच्चस्तर अतिथि) मानकर सभापति के आसन के समीप ही उन्हें आसन प्रदान किया था।

लण्डन के बहुतेरे सामयिक पत्रों में श्रीपाद वन महाराज का चित्र प्रकाशित हुआ है।

श्रीहरिपद की वन्दना

वन्दौं चरण-सरोज तुम्हारे ॥

सुन्दर श्याम कमल दल-लोचन ललित त्रिभंगी प्रानन प्यारे।
जे पदपद्म सदाशिव के धन सिंधु सुता उर ते नहिं टारे ॥
जे पदपद्म परसि जल पावन सुरसरि दरस कटत अघ भारे।
जे पदपद्म परसि ऋषिपत्नी बलि नृग, व्याध पतित बहु तारे ॥
जे पदपद्म रमत वृन्दावन अहि सिर धरि अगणित रिपु मारे।
जे पदपद्म परसि व्रजभामिनि सर्बस दै सुत सदन बिसारे ॥
जे पदपद्म रमत पाण्डव दल दूत भये, सब काज सँवारे।
सूरदास तेई पदपंकज त्रिविध ताप दुख हरन हमारे ॥

कर्म, ज्ञान, योग और [illegible]

(पूर्व प्रकाशित के उपरान्त)

मनुष्य देह और पुत्रादि के लिये धन-प्राण और काय-मनोवाक्य से जो-जो कर्म करते हैं, वह अद्वयज्ञान से भेद बुद्धि में अर्थात् जड़ के आनुगत्य से अनुष्ठित होने की वजह, मूल को छोड़कर शाखा सींचने की तरह व्यर्थ होता है। किन्तु अद्वयज्ञान से अभिन्न दृष्टि के साथ अर्थात् एकमात्र हरि की आनुगत्य-बुद्धि से इन सब इन्द्रियों द्वारा जो-जो काम होते हैं, वह सब सफल होते हैं। जैसे मूल के सींचने से पेड़-पत्ते सभी सिक्त जाते हैं, वैसेही ईश्वर हरि के उद्देश से कर्म करने पर अर्थात् हरि-सेवा करने से सब सफल होता है।

'पृथक्त्व' शब्द का अर्थ परमात्मा के अतिरिक्त और किसी वस्तु का आश्रय लेना अर्थात् जड़ के अनुगत होना है। 'अपृथक्त्व' शब्द का अर्थ एकमात्र हरि के अनुगत होना है। अतएव, ज्ञान-क्रियात्मिका हरिभक्ति का निर्गुणत्व ही युक्तियुक्त है। विशेषतः गुण-सम्बन्ध के कारण ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति होने की तरह गुण-सम्बन्ध के कारण भक्ति की उत्पत्ति का होना माना नहीं जा सकता। इसलिये प्रीति उत्पन्न करनेवाले गुणों के द्वारा भक्ति का उदाहरण दिया जायगा। किन्तु श्रीकपिलदेव ने भक्ति की जो निर्गुण-सगुणावस्था की बातें कही हैं, वह मनुष्यों के हृदय के गुणों का समूह मात्र है, ये सब भक्ति के परिचायक रूप में अवस्थित हैं।

अतएव यह निश्चित होता है, कि ब्रह्मज्ञान या कैवल्यज्ञान सगुण है, शुद्ध-ज्ञानरूपा भक्ति ही निर्गुण है।

अद्वयज्ञान ही भगवान का स्वरूप है; उस अद्वयज्ञान की तीन प्रकार की प्रतीति के विषय में श्रीमद्भागवत के १ । २ । ११ श्लोक में वर्णित है,

> वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
> ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

अर्थात् अद्वयज्ञान को तत्त्ववित् लोग 'तत्त्व' कहते हैं। चिन्मात्र ब्रह्म ही उस तत्त्व की प्रथम प्रतीति है, चित् विस्ताररूप परमात्मा ही उस तत्त्व की द्वितीय प्रतीति और चिद्विलासरूप भगवान् उस तत्त्व की तृतीय प्रतीति हैं। तीन अवस्था के तीन नाम हुए हैं। 'अद्वयज्ञान' निर्विशेष अद्वैतवाद समझकर कोई भूल न कर बैठें। श्रीमद्भागवत ने ब्रह्म, परमात्मा और भगवत्-प्रीति के स्वरूप का निर्णय करते हुए कहा है, (भा० ३ । ३२ । २६)—

> विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यगवस्थितम्।
> सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम्॥
> ज्ञानमात्रं परंब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान्।
> दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते॥
>
> ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेक-
> मनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम्।
> प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं
> यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति।

ब्रह्मप्रतीति इसप्रकार है,— विशुद्ध, केवल चिन्मात्र, अपने लिये चेष्टावान्, सम्यगवस्थित, सत्य, पूर्ण, अनादि, अनन्त सत्त्वादि गुणशून्य, नित्य, अव्यय अर्थात् लय-उदय-रहित। परमात्मप्रतीति इस प्रकार है,—ज्ञान की विस्तृति के क्रम से ब्रह्म की अपेक्षा अधिक विकसित परब्रह्म। जगत् में जो कुछ है, उसमें अवस्थित, उसके नियन्ता परम-पुरुष परमात्मा। भगवत्-प्रतीति इस प्रकार है,—जो कुछ या जो दृश्यादि हों, उन-उन वस्तु या व्यक्ति के पृथक्-पृथक् भाव द्वारा सर्वैश्वर्यपूर्ण एक अद्वितीय भगवान् का प्रकाश पाना।

विशुद्ध परमार्थ ज्ञान-भेद रहित, बहिरर्थशून्य, सत्य, प्रत्यक् दशावस्थ, प्रशान्त ब्रह्म को क्रोड़ीभूत कर भगवत् शब्द से शब्दित एक तत्त्व को पण्डित लोग 'वासुदेव' कहते हैं। मतलब यह, कि ब्रह्मप्रतीति और परमात्म प्रतीति को अन्तर्भुक्त कर जो परमतत्त्व प्रकाश पाते हैं, वे ही वासुदेव भगवान् हैं। शास्त्र-शिरोमणि श्रीमद्भागवत शास्त्र में शुद्ध भगवत्-

ज्ञान की ही —————————— की निन्दा दिखाई देती है। कृष्ण-नाम-प्रवर्तन

श्रीमद्भागवत २।२।५ में श्रीशुकदेव परीक्षित् से कहते हैं,—

> ज्ञानं यदा प्रतिनिवृत्त गुणोर्मिचक्र-
> मात्मप्रसाद उत यत्र गुणेष्वसङ्गः।
> कैवल्यसम्मतपथस्त्वथ भक्तियोगः
> को निर्वृतो हरिकथासु रतिं न कुर्यात्॥

अर्थात् जब ज्ञान गुणोर्मिचक्र से पलटता है, अर्थात् निर्गुण स्वरूप-ज्ञान उदित होता है, तभी आत्मा प्रसन्न होती है और गुणसंग-रहित हो आत्मा केवल चिन्मात्रस्वरूप में प्रकाश पाती है। तब कैवल्य सम्मत निर्गुण भक्तियोग उदित होता है, अतएव ऐसे सुख के लिये कौन पुरुष हरिकथा में रति न करेगा?

श्रीमद्भागवत (१।२।७) श्लोक में और भी कहा है,—

> वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
> जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च यदहैतुकम्॥

अर्थात् अद्वयज्ञान भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण में, परधर्मानुष्ठान से भक्ति का उदय करने की चेष्टा से भक्ति योग के अनुष्ठित होने पर शीघ्र ही नैष्कर्म्य अर्थात् विषयभोग का त्याग और मोक्ष अभिसन्धि-हीन अहैतुक शुद्ध अद्वयज्ञान का उदय होता है। "ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम्"—श्रवण-कीर्त्तनादि रूप भक्तियुक्त जो भागवत ज्ञान है, वह ज्ञान निश्चय ही भगवत् सन्तोषजनक कर्म का अव्यभिचारी फल है।

श्रीभगवान् ने ब्रह्मा को सृष्टि के आरम्भ में चतुःश्लोकी द्वारा विज्ञान-सहित (सरहस्य) परम-गुह्य भगवत्-ज्ञान का उपदेश दिया था। (भा० २।९।३०)—

> ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्।
> सरहस्यं तदङ्गञ्च गृहाण गदितं मया॥

हे ब्रह्मन्, विज्ञान और रहस्य (प्रेमभक्ति) के साथ मैं अपना बहुत गुह्यज्ञान तुमसे कहता हूँ। क्योंकि मेरे सिवा और किसी को भी मेरे ज्ञान के देने का अधिकार नहीं। अतएव तुम उस अधोक्षज ज्ञान को ग्रहण करो। सुतरां अतीन्द्रिय, भगवत्-ज्ञान् अधिरोहवाद के मत में प्रतिष्ठित है। आरोह-वाद के आगे ज्ञान बिलकुल ही अकार्यकर है, इसकी निन्दा सभी जगह पाई जाती है; जैसे—(भा० १०।१४।३)

> ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
> जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
> स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
> र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥

हे भगवन्, निर्भेद-ब्रह्म-अनुसन्धान-परायण ज्ञान में प्रयत्न को सम्पूर्ण रूप से त्याग कर, जो साधुओं के मुख से कही गई आप की कथा सुनते हैं और साधुता के मार्ग पर स्थित हो कायमनोवाक्य से आपके शरणागत हो जीवन यात्रा निर्वाह करते हैं, उनके लिए आप त्रैलोक्य में दुर्लभ होने पर भी सुलभ हो जाते हैं। श्रीगीता के सातवें अध्याय में भगवान ने अर्जुन से कहा है, कि उनके शरणागत भक्त ही दुष्पारा दैवी माया को अति-क्रम कर सकते हैं; किन्तु मूढ़ कर्मजड़, निरीश्वर-नैतिक या कल्पित ईश्वरवादी पण्डिताभिमानी माया के द्वारा अपहृतज्ञान सांख्यवादी या प्रकृति-वादी और निर्विशेष चिन्मात्रवादी—ये लोग कभी भी भगवान् के श्रीचरण के शरणापन्न नहीं होते। चार प्रकार के सुकृतिमान् पुरुष भगवान् का भजन करते हैं—गजेन्द्रादि जैसे आर्त्त, शौनकादि जैसे जिज्ञासु, ध्रुवादि जैसे अर्थार्थी और शुकदेवादि जैसे ज्ञानी। इन चार प्रकार के अधि-कारियों में एक भक्तिविशिष्ट ज्ञानी भक्त ही मुझे अत्यन्त प्रिय है। इसका कारण यह है, कि अन्यान्य सभी सकाम हैं, ज्ञानी निष्काम है। अन्यान्य लोगों में जड़ की प्रतीति प्रबल है, भक्ति वाले ज्ञानी जड़-प्रतीति से रहित होते हैं। जैसे शुकदेवादि मुनिगण, व्यासदेवादि की कृपा से भगवान् के श्रीचरण से भक्तिविशिष्ट होते हैं,—

> बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
> वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

आर्त्त आदि तीन प्रकार के भक्त लोग बहुत जन्म तक विषय-सुख का भोग करते-करते उससे मन

हटने पर साधुगण के सङ्ग से स्वरूप-ज्ञान प्राप्त होते और सम्बन्धज्ञान के प्राप्त होने पर वे भगवान् के श्रीचरण को प्राप्त होते हैं। जो भगवान् के श्रीचरण में जितने शरणागत होते हैं वे द्वितीयाभिनिवेशरूप मायिक दर्शन से उतने ही दूर होते हैं। वे अद्वयज्ञान युक्त हो महाभागवत अवस्था को प्राप्त होते हैं। "जहाँ जहाँ दृष्टि पड़े वहाँ वहाँ कृष्ण" दिखाई देते हैं।

नवयोगीश्वर जन्म से भी आत्मक ज्ञानी।
विधि शिव नारद के मुख कृष्ण गुण सुनी॥
गुणाकृष्ट होके करे कृष्ण का भजन॥
(चै० च० मध्य २४ प)

किन्तु जो सब मनुष्य भगवत्-चरण के शरणापन्न न होकर भगवान् के नित्य नाम-रूप गुण-लीला का अनादर कर भगवान् के श्रीचरण का परित्याग करते हैं, वे अत्यन्त कष्ट साध्य साधन के बल से परम पद के समीप पहुँच कर भी वहाँ से गिर जाते हैं। (भा० १० । २ । ३२)

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्त भावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृत - युष्मदङ्घ्रयः॥

श्रीभागवतामृत के गोलोक-माहात्म्य नामक द्वितीय खण्ड में श्रीसनातन गोस्वामी प्रभु ने कहा है:—

ज्ञानं हानिकरं तत्त्वज्ञोचितं [illegible]॥

इसकी टीका करते हुए श्रीजीयपाद ने कहा है—ज्ञानस्य चाद्वैतात्मतत्त्व बोधादिल्याग केवल भगवदीयत्वेन चात्ममननेन श्रीभगवद्भक्ति महिम-निर्द्धारणादिरिति दिक्।

अर्थात् ज्ञान सदा ही शुद्धजीव की स्वाभाविक वृत्ति भक्ति के हानिकर है। केवल सूखे ज्ञान की चर्चा और आत्मतत्त्व के बोध को ही परम फल समझने से भक्तिरस में अप्रवृत्ति होती है। अद्वैतात्मतत्त्व बोधादि का परित्याग कर, जब ज्ञान भगवदीयत्व अर्थात् मैं भगवत्-सम्बन्धी सच्चिदानन्द वस्तु हूँ—ऐसा समझ में आता है, तभी ज्ञान भक्ति द्वारा शोभित होता है। चतुःसनकादि और श्रीशुकदेवादि ज्ञानियों के लिये ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि इस प्रकार की भक्ति के द्वारा ही सुशोभित हुई थी।

[illegible] मय।
जन [illegible]
कृष्णगुण [illegible] चाले [illegible] जय॥
(चै० च० मध्य २४ प)

अतएव शुद्ध भगवत्-ज्ञान ही जीव के लिये आश्रयणीय है— अपने को विनाश करनेवाला निर्विशेष ज्ञान सब तरह से परित्याग करने योग्य है।

यदि कोई कहे, कि श्रीमद्भागवत की उद्धवगीता में और श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीभगवान् ने उद्धव और अर्जुन को कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति— इन चारों को ही मङ्गल लाभ का पथ बताया है, जैसे भागवत के एकादश स्कन्ध में श्रीभगवान् ने उद्धव से कहा है,—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥

मनुष्यों के मङ्गल विधान के लिये मैंने अधिकार-भेद से ज्ञान, कर्म और भक्ति— यह तीन प्रकार के योग का उपदेश किया है—इसके अतिरिक्त और कोई उपाय और कहीं कहा नहीं गया। इन तीनों योगों में दुःख बुद्धि-युक्त कर्म और कर्म फल से विरक्त अतएव उससे साधनभूत लौकिक और वैदिक कर्म के परित्याग करनेवाले मनुष्यों के लिए ज्ञानयोग ही अभीष्ट फल प्रदान करते हैं और कर्म में तथा कर्म-फल में दुःख बुद्धि शून्य हैं, अतएव कर्म और उसके फल से विराग शून्य मनुष्यों के लिये कर्म योग ही अभीष्ट प्रद होते हैं। कोई परम स्वतन्त्र अर्थात् ज्ञान कर्मादि की आशा रहित भगवद्भक्तों की कृपा से सौभाग्य का उदय होने पर मेरी कथा आदि में श्रद्धा रखनेवाले मनुष्य यदि उपरोक्त कर्म और कर्मफल में विरत ज्ञानियों की तरह अत्यन्त निर्विण्ण अथवा कामी कर्मियों की तरह कर्म और कर्मफल में आसक्तचित्त नहीं होते, उन्हीं के लिए भक्तियोग सिद्धि प्रद होता है।

(क्रमशः)

जयतः

श्रीश्रीवैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ; बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपीलजी मठ; कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ; बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
अगस्त्यकुण्ड, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० ४३ हनुमान रोड, न्यू देहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकोंदा चौरकुण्डा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

(३१) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ
कव्वुर, वैष्ट गोदावरी, मद्रास

(३२) ग्वालपाड़ा प्रपन्नाश्रम, आसाम

(३३) त्रिदण्डी-गौड़ीय मठ भुवनेश्वर, पुरी

(३४) श्रीसारस्वत-गौड़ीय मठ हरिद्वार,

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् । =)
२—श्रीशिक्षादशकमूलम् सटीक ।)
३—श्रीमध्वग्रन्थसारांशवर्णनम् ≡)
४—श्रीसिद्धान्तसरस्वतीदिग्विजयः ॥)
५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचयः -)
६—श्रीतत्त्वसूत्रम् ॥)

संस्कृत बँगला अक्षरों में

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)
२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत-भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)
३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत खंडों में प्रकाशित प्रति खंड १)
५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द २)
६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्रीरूपगोस्वामी प्रभु-कृत उपदेशामृतसहित ।=)
७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बँगला अनुवाद सहित ॥)
८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित १)
९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
१०—सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी - कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)
एकादश स्कंध से प्रति खंड ।≡)
१२—युक्तिमल्लिका गुणसौरभ वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

बंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित ≡)
१४—नवद्वीपशतक ... -)
१५—नवद्वीपधाममाहा... कृत ≡)
१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती कृत ≡)
१७—नवद्वीपभावतरंग ।)
१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)
१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद कृत २)
२०—मणिमंजरी ।)
२१—शरणागति -)
२२—कल्याणकल्पतरु -)॥
२३—गीतावली -)
२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)
२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत ॥≡)
२७—जैव धर्म २)
२८—साधककंठमाला ।)
२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित ... ५)
३०—महाप्रभु की शिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ५)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by B. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow

न
कृष्ण नाम-प्र नत-म

भागवत

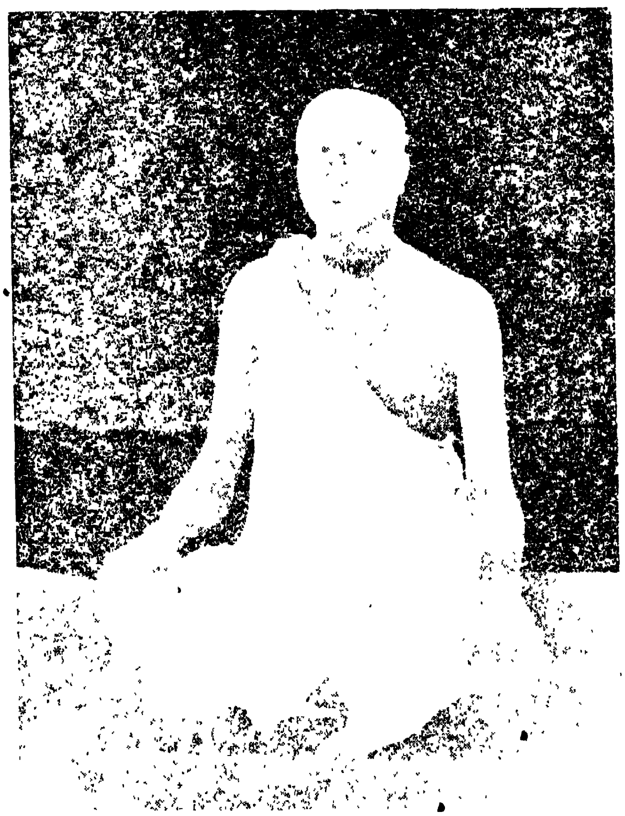
एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

7ht July 1933

वामन गौरपक्ष गौराब्द ४४७

आषाढ़ पूर्णिमा संवत १९९०

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥



क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्तसरस्वती
गोस्वामी महाराज

प्रति संख्या -) | सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन | वार्षिक सडाक १॥)

Editor:—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन छपाई की दर नीचे लिखी है:—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम		८)
आधा ,, १ ,,		५)
चौथाई ,, ½ ,,		३)
२ इंच ,, ¼ ,,		१॥।)
१ ,, ,, ⅛ ,,		१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये—

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

सेठ रामयश रोड, नरही, लखनऊ.

All communications are to be addressed to

The Manager 'Bhagwat'
Seth Ramjas Road,
Narhe,
LUCKNOW

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

कृष्ण-नाम-भजन-म[illegible]

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य

वर्ष [illegible] | आषाढ़ पूर्णिमा गौराब्द ४८७ सं० [illegible] ति० ७ जुलाई सन [illegible] ई० | संख्या १८

भजन

मानस देह गेह जो कछु मोर।
अर्प्यों चरण तोरे नन्दकिशोर॥
सम्पद विपद जीवन मरन।
हर छिन हर बिधि तोरी सरन॥
मारहु कि राखहु इच्छा तुम्हार।
नित्य दास प्रति तोरा अधिकार॥
जनम मुझे फिर चाहो यदि देना।
भक्त के घर में सुधि मोरी लेना॥
कीट होऊँ चाहे रहूँ तोरा दास।
विमुख ब्रह्म-जनम की नहिं आस॥
भुक्ति-मुक्ति-इच्छा विहीन जो भक्त।
पाय तिन संग रहूँ अनुरक्त॥
तात व मात सुत और भ्राता।
पति तुही, गुरु तुही, तुही जगत्राता॥
भक्तिविनोद कहे सुन ले रे कान।
राधानाथ तुही है मेरा जान॥

आचार और प्रचार दो, करो नाम के कार्य।
सब ही जन के तुम गुरु, तुम ही जगत के आर्य॥
(चै० च० अ० ४—१०३)

श्री सनातन गोस्वामी प्रभु ने ठाकुर हरिदास को लक्ष्य करके इस वाक्य को कहा था। आचार परायण प्रचारक ही जगद्गुरु हैं। जो केवल आचार परायण हैं, वही विविक्तानंदी (निर्जनभजनानंदी) हैं। विविक्तानंदी-गणों के पारमहंस्य धर्म का आचरण ही प्रचार है सही, किन्तु उससे उन्नताधिकारी भक्त को छोड़कर साधारण जीव उपकृत नहीं हो सकते। "प्रचार में लगते ही मेरा सर्वश्रेष्ठ भजन नष्ट होगा, इसलिये निर्जन भजन अथवा आचार का करना ही अच्छा है।" इस प्रकार के विचार हीन जन-समुदाय संसार का उपकार करना तो दूर रहा, अपना भी उपकार नहीं कर पाते। फिर जो आचार-विहीन होकर स्त्री, धन तथा प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिये ही प्रचार के पक्षपाती होते हैं वे भी जगद्गुरु के पद के अधिकारी नहीं। मान लो, किसी मनुष्य ने प्रचारक के वेश में कहीं पर भागवत पाठ या नाम कीर्तन किया और उसके बदले में धन तथा प्रतिष्ठा की इच्छा की या उसे ग्रहण किया। ऐसी दशा में उसका यह कार्य आचार नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार के आचार विहीन प्रचारक के द्वारा भी संसार में किसी प्रकार के सत्य के आदर्श की स्थापना नहीं हो सकती और न उसीका कोई पारमार्थिक लाभ हो सकता है, किन्तु उलटा श्रीभागवत तथा श्रीनाम रूपी भगवान् के चरणों में भीषण अपराध संचित हो जाता है। उसके आचार हीन प्रचार से संसार में केवल असत्य की ही स्थापना होती है। इन्हीं कारणों से इस प्रकार आचार हीन प्रचारक कभी जगद्गुरु के पद का अधिकारी नहीं हो सकता।

साधुओं के आचरण के अनुसार कार्य करना ही आचार कहलाता है और साधुओं के आचार की कथा का कीर्तन करने को ही प्रचार कहते हैं। ऊपर लिखे हुए उदाहरण में साधुओं के आचार का अनुवर्तन नहीं हुआ; अतएव आचार हीन होने के कारण ऐसे व्यक्ति का प्रचार-अभिनय भी केवल "विप्रलिप्सा" अथवा धोखा देनेवाला हुआ।

लेकिन जो 'सर्वगुरु' हैं, जो जगत् के आचार्य हैं वे नाम मात्र के गुरुओं की भाँति "आचार-विहीन प्रचारक" या दूसरे शब्दों में 'प्रतारक' नहीं हैं अथवा नाम-मात्र के आचार अभिनेता कपटी तथा निर्जन भजनानंदी नहीं हैं। पहिले प्रकार के मनुष्य पूजा, यश तथा लोभ में आसक्त हैं और दूसरे साधुसंग के अभाव से कुयोगी हैं। किन्तु आचार-परायण प्रचारक इस प्रकार के उत्पात से मुक्त रहते हैं, क्योंकि श्री भगवान् की साक्षात् आदेश-वाक्य ही महावीर सार्वभौम सम्राट की भाँति सर्वोपरि विराजमान होकर उनके समस्त विघ्नों को लोहे के गदे द्वारा काँचभाण्ड की भाँति चूर्ण विचूर्ण कर देने की सामर्थ्य रखता है।

"देखो जिसे उससे कहो श्रीकृष्ण के उपदेश को।
होकर गुरु पालन करो इस श्रेष्ठतम आदेश को॥
विषय की भीषण लहर से मुक्त तुम हो जाओगे।
बाद इसके इस जगह पर साथ मेरा पाओगे॥"
(चै० च० अ० ७-१, ८—१२८)

प्रत्येक समय कीर्तन करनेवाले व्यक्ति "कीर्तनीयः सदा हरिः" श्रुति के आचार-प्रचार-लीलाभिनय कारी कीर्तन विग्रह गौरहरि का अनुक्षण संग प्राप्त करते रहते हैं। वैष्णवी प्रतिष्ठा जड़ प्रतिष्ठा की भाँति उनकी कीर्तन सेवा में विघ्न पैदा करनेवाली न होकर सेवा में सहायता करनेवाली ही हो जाती है। अतएव आचार तथा प्रचार-परायण महानुभाव पुरुष ही जगद्गुरु हैं।

हम वर्तमान शुद्ध भक्ति प्रचार के मूल पुरुष ठाकुर भक्तिविनोद में इस "जगद्गुरुत्व" को परिपूर्ण रूप से देख पाते हैं। वे निरंतर आचार तथा प्रचार परायण थे। श्रीकविराज गोस्वामी प्रभु का कहना है कि:—

के ... न ... स सर्कीर्तन।
कृष्ण-नाम-श्रवण-म
कृष्ण शी ... को होवे कभी प्रवर्तन॥
(चै० च० म० ७।१०)

श्री गौरकृष्ण के अमन्दोदय कृपाशक्ति के अवतार थे। श्री गौरसुन्दर के 'अन्तरंग मर्मी' श्रीगौरहरि के द्वितीय स्वरूप श्रीस्वरूप दामोदर ने नीलाचल क्षेत्र में श्रीगौरसुन्दर के पदयुगल में जिस अपूर्व श्लोक रूप कमल को अर्घ्य के रूप में प्रदान किया था उसी में ही हम सर्वप्रथम गौरसुन्दर के अमन्दोदय-दया-शक्ति के रूप में भक्तिविनोद नाम के प्रथम आविर्भाव को देख पाते हैं अतएव "भक्तिविनोद" महाशय, श्रीगौरकृष्ण के अमन्दोदय दयाशक्ति हैं। जो निरन्तर जीव को भक्ति विनोदन अर्थात् जीवात्मस्वरूप को अपने स्वभाव में प्रतिष्ठित कर देती है। जीव का स्वभाव क्या है इस विषय को हम ठाकुर भक्तिविनोद की भाषा में इस प्रकार पाते हैं "**जीव के लिये कृष्ण का विच्छेदशून्य भाव ही स्वाभाविक भजन है।**"

ठाकुर भक्तिविनोद ने अपने इसी एक वाक्य में विद्वानों के विश्वास-पात्र तथा सेवा-परायण मनुष्यों के निकट अपने को प्रकाशित कर दिया है। उनके उस वाक्य की आलोचना करते ही वे कैसे थे यह भली भाँति मालूम हो जाता है। वे संभोगवादी नहीं थे किन्तु विप्रलम्भ विग्रह गौरसुन्दर के विप्रलम्भ रस के परिपोषक थे। वे स्वरूप रूप के अनुगत भक्ति सिद्धान्तविद् जगद्गुरु आचार्य थे।

ठाकुर भक्तिविनोद श्रीगौरसुन्दर के आविर्भाव क्षेत्र और लीलाभूमि नदीया जिला के अन्तर्गत उला (वर्तमान वीरनगर) नामक एक समृद्धिशाली नगर में गौराब्द ३५२, बंगाब्द १२४५ - १८ वीं भाद्र रविवार शुक्ला त्रयोदशी तिथि को कृपापूर्वक अवतीर्ण हुए।

वे जिस वंश में अवतीर्ण हुए थे उसके पूर्व पुरुषगण केवल बंगाल में ही नहीं बल्कि समस्त भारतवर्ष में विशेष मर्यादासम्पन्न, समृद्धिवान् और विविध प्रकार के लौकिक पुण्यादि कार्य में विशेष रूप से विख्यात होने पर भी, ऐकान्तिक वैष्णवता के विषय में पीछे पड़े हुए थे, किन्तु ठाकुर भक्तिविनोद ने कृपापूर्वक इसी वंश में अवतीर्ण होकर बचपन से ही अपनी नित्य-सिद्ध कृष्ण-सेवा-परायणता का परिचय दे दिया। इसी लिये विद्वान्गण उन्हें बहुधा "दैत्यकुल के प्रह्लाद" कहकर व्यंग किया करते थे।

ठाकुर भक्तिविनोद ने बाल्यकाल में ही अपनी असाधारण बुद्धिमत्ता और विद्याकला का परिचय दे दिया था। उनकी अंग्रेजी, बंगला, संस्कृत, उर्दू तथा फ़ारसी आदि भाषाओं में लिखी हुई पुस्तकें आज भी उनके असाधारण पाण्डित्य के गौरव की घोषणा कर रही हैं। वे बाल्यकाल से ही कृष्ण-विमुखिनी जड़ विद्या का आदर न करके कृष्णोन्मुखिनी परा विद्या का ही आदर करते थे। हम उनके इस विषय के कुछ भावपूर्ण वाक्यों का पद्यानुवाद नीचे दे रहे हैं:—

गुरु भक्त की चरण रेणु जो भक्ति-भाव उपजाती है;
सिद्धि प्रदायिनी भक्तजनों की सेवा प्रेम बढ़ाती है।
"वैष्णव हूँ मैं" यही भान कर देता सबको अभिमानी;
कलुषित करती यश की आशा नरकवास करते प्राणी।

दुःख जो पड़े सेवा में तुम्हारी वह भी सुख है;
सेवा के सुख दुःख पुनीत करते दूर अविद्या दुःख हैं।
सेवा-सुखों को प्राप्त कर इतिहास भूला मैं सभी;
मेरे दुःखों में हूँ तुम्हारा धन न चाहूँ मैं कभी।

जड़ विद्या, माया विभव, भजन न करने देहिं।
इस अनित्य संसार में, विमल ज्ञान हर लेहिं॥
जिस विद्या के योग से, कृष्ण भक्ति चित होय।
उसे उन्हीं की जानकर, अपना लो सब कोय॥
भक्ति भाव में भंग हो, जिस विद्या के योग॥
उसे सदा ही त्यागिये, समझ भयंकर रोग॥

कृष्ण-प्रिया है सरस्वती, कृष्ण-भक्ति से पूर्ण।
वैभव वही विनोद की, करे मोह को चूर्ण॥
(श: ३।३, क. १०—१०)

ठाकुर भक्तिविनोद ने अपने अति शैशवकाल की लीलाओं में जिन 'तृणादपि सुनीचेन' धर्म के आदर्शों का प्रदर्शन किया वे सब अत्यंत विस्मय-जनक हैं। उन्होंने शैशवकाल में ही मायावाद में विश्वास, शुद्ध भगवत् परायण व्यक्तियों में विशेष श्रद्धा, एकान्तिकता, परोपकार-प्रवृत्ति और स्वच्छ-चित्तता प्रभृति गुणों से विभूषित रहने का परिचय दे दिया था।

ठाकुर भक्तिविनोद श्रीमन्महाप्रभु की इच्छा से जिस महत्कार्य के लिये संसार में अवतीर्ण हुए थे उसे हम उनकी अति शैशव पारिपार्श्विक अवस्था से ही समझ सकते हैं। उदाहरण स्वरूप कहा जा सकता है कि उन्होंने निर्दाया जिले के जिस 'उला' ग्राम में सर्वप्रथम सूर्य के आलोक को देखा था उसी ग्राम में कर्त्ताभजा सम्प्रदाय के आदि गुरु, आउल चाँद उनके पहिले ही दिखाई पड़े चुके थे। इसलिये उस स्थान की स्मृति कर्त्ताभजा सम्प्रदाय के साथ मिली हुई थी। श्रीमन्महाप्रभु ने मानो इसी विचार से कि वे ठाकुर भक्तिविनोद के द्वारा भविष्यत् काल में स्वप्रचारित निर्मल धर्म में आये हुए कूड़े को दूर करके पुनर्वार शुद्ध भक्ति धर्म का स्रोत प्रवाहित करेंगे। बाल्य काल में ही निकटवर्ती साम्प्रदायिकों के आचरण में ठाकुर का ध्यान आकर्षित करने के लिये उन्हें उसी तरह के स्थान में आविर्भूत कराया था। ठाकुर भक्तिविनोद को शैशव से ही कर्त्ताभजा बाउल सहजिया आदि सम्प्रदाय के आचार व्यवहार को देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ था।

आप अपनी पठनावस्था में ही सामयिक अंग्रेज़ी संवाद-पत्रों में लेख लिखा करते थे और सभाओं में अंग्रेज़ी तथा बँगला में व्याख्यान दिया करते थे।

इसी समय आपने अंग्रेज़ी भाषा में एक काव्य-ग्रंथ की भी रचना की। उस समय ठाकुर भक्तिविनोद का अर्थसंकट उपस्थित हुआ। अर्थ संकट उपस्थित होने पर उनकी ग्रंथ-रचना शक्ति तथा भाषण शक्ति आदि को देखकर अनेक धनी महानुभावों ने उन्हें उनके उन सब कार्यों के लिये पारितोषिक स्वरूप धन देना [illegible] वाले ठाकुर भक्तिविनोद ने अपनी थोड़ी भी अवस्था में [illegible] व्यवसाय-सम्प्रदायों की भाँति भाषण द्वारा धन उपार्जन करना नैतिक दुर्बलता के सिवा और कुछ न समझा। उस प्रकार के धार्मिक भाषणों द्वारा धन ग्रहण करना नरक-गामी का अपराध जानकर उस प्रकार के नीति-विरुद्ध व्यवसाय को किसी भी प्रकार ग्रहण नहीं किया। धर्म के बहाने अपराध अधर्म, असत्य कभी भी धर्म नहीं है। यह विचार कर उन्होंने निर्दोष वृत्तिद्वारा अर्थ उपार्जन की चेष्टा की।

१८५६ ई० में ठाकुर भक्तिविनोद ने पुरी की ओर यात्रा की और वहाँ के विद्यालय में शिक्षक के पद पर नियुक्त हो गये। इसके पहिले कन्चड़ापाड़ा तत्काल में एक अंग्रेज़ी स्कूल की स्थापना करके और उसमें शिक्षण का कार्य कर चुके थे। आपने भद्रक हाईस्कूल में भी कुछ दिन प्रधान शिक्षक का काम किया था। उस समय आपने उड़िया के मठ समूहों का सहारा लेकर एक ग्रंथ की रचना की। उस ग्रंथ ने प्रसिद्ध इतिहासकार सर विलियम हंटर के चित्त को आकर्षित किया। फलस्वरूप सर विलियम हंटर ने अपने रचित ग्रंथ में ठाकुर भक्तिविनोद के ग्रंथ के महत्त्व की प्रशंसा की।

मेदिनीपुर में रहते समय आपने वहाँ के समाज में तीन प्रकार के मनुष्य देखे—(१) नीतिरहित मादक-द्रव्यादि सेवी धर्महीन, (२) ब्राह्मधर्मावलम्बी और (३) स्मार्त हिन्दू। (१) ठाकुर भक्तिविनोद हमेशा से ही कुनीति को कुसंग समझ कर छोड़ते चले आते थे और सबको उसी प्रकार का उपदेश भी करते थे। जो नीति रहित थे और मदिरापान, तम्बाकू, गाँजा आदि मादक द्रव्य के सेवन में तल्लीन थे, वे कदापि सद्धर्म के पालक नहीं हो सकते किन्तु आपने विशेषकर अपने ही आचरण से संसार में इसका (सद्धर्म का) प्रचार किया है। उनका आदर्श वैष्णव-जीवन सर्वथा निर्दोष था। उन्होंने कभी पान, सुपारी, तम्बाकू अथवा किसी प्रकार के कलि सहचर मादक द्रव्यों को छुआ तक भी नहीं। उनका कहना

[illegible] कृष्ण-नाम-भजन-[illegible] जीवन के लिये उपयोगी [illegible] । [illegible] मनुष्य [illegible] में [illegible] के [illegible] नहीं हो सकते। [illegible] में कभी [illegible] और न पारिवारिक [illegible] का [illegible] के कार्य को [illegible] आदि [illegible] धर्म [illegible] पारिवारिक [illegible] श्रीमन्महा-प्रभु के [illegible] सम्प्रदाय का [illegible] विषय में [illegible] विशेष [illegible] कौन [illegible] सम्बन्ध [illegible] भक्तिविनोद [illegible] के साथ [illegible] प्रकार की [illegible] [illegible] था। [illegible] [illegible] के प्रथम [illegible] दिवस में ठाकुर भक्तिविनोद का अनुमोदन प्राप्त करने के लिये [illegible] आते थे। ठाकुर भक्तिविनोद ने [illegible] संसार में [illegible] के [illegible] आदर्श का प्रदर्शित किया था। ([illegible]) [illegible] कहते थे कि [illegible] का [illegible] स्वरूप [illegible] । वे [illegible] भक्ति [illegible] थे। [illegible] जो नित्य [illegible] धर्म है। उन्होंने अपने रचित [illegible] 'जैवधर्म' नामक धर्ममूलक उपन्यास में [illegible] का विशेष रूप से विचार किया है। [illegible] स्मार्तधर्म [illegible] और मन का धर्म होने के कारण बहुत ही संकीर्ण है। ठाकुर भक्तिविनोद इस प्रकार के [illegible] साम्प्रदायिकता के पक्षपाती नहीं थे। वे समस्त जीवों के एक-मात्र धर्म परम पुरुष की उपासना तथा आत्म-धर्म या भक्तिधर्म के ही आचार परायण प्रचारक थे। किसी मित्र या स्वजन का अनुरोध, प्रार्थना, लोकप्रियता आदि कुछ भी उन्हें आत्मा के उस स्वतःसिद्ध शाश्वत निज स्वरूप से हटाकर किसी प्रकार के प्राकृत धर्म की ओर नहीं खींच सका। ब्राह्मसमाज [illegible] देवेन्द्रनाथ ठाकुर के ज्येष्ठ पुत्र द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर, नवविधान समाज के [illegible] केशवचन्द्र सेन महाशय तथा [illegible] समाज के अनेक विख्यात व्यक्ति उनके आत्मीय थे, किन्तु उन्होंने एक मात्र [illegible] परम सत्य [illegible] पादपद्मसेवा रूप आत्म-धर्म के [illegible] के लिये किसी प्रकार [illegible] के साथ आत्मधर्म के संमिश्रण करने का अवैध आदर्श नहीं स्थापित किया। अनेक समाजाचार्य [illegible] व्यक्तियों ने लोकप्रियता के कारण धर्म और अधर्म, चित् और जड़, कृष्ण और माया, आत्मधर्म और मनोधर्म का अवैध समन्वय करने की थोड़ी बहुत चेष्टा की थी। सार्वभौमिक आत्मधर्म के एकनिष्ठ प्रचारक ठाकुर भक्तिविनोद में इस प्रकार का [illegible] देखा नहीं पाया। यह आत्मधर्म-प्रचारक ठाकुर भक्तिविनोद की एक उत्तम विशेषता है।

ठाकुर भक्तिविनोद ने जिस समय भक्तिधर्म की आलोचना की थी उस समय सभ्य समाज को वैष्णव धर्म का कुछ भी पता न था। ठाकुर भक्ति-विनोद अपनी [illegible] शंकाओं में इस निश्चय तक पहुँच सके थे कि श्रीचैतन्य देव ने ही बंगदेश में निर्मल भक्तिधर्म का प्रचार किया था और उनका प्रचारित मत 'श्रीचैतन्य-चरितामृत' आदि कई एक ग्रन्थों में लिखा है; परन्तु मुश्किल की बात यह थी कि उस समय वैष्णव ग्रंथों का छपना आरम्भ नहीं हुआ था। उस समय बड़नगर आदि स्थानों से उन सब ग्रंथों के भ्रमपूर्ण [illegible] वर्तमान रहने पर भी वे शिक्षित समाज की [illegible] सीमा के बाहर थे। ठाकुर भक्तिविनोद ने बहुत अनुसन्धान के पश्चात् श्रीमन्महाप्रभु के सिद्धान्त और आचार-प्रचार-लीला प्रतिपादक हस्तलिखित ग्रन्थ समूह को भिन्न भिन्न स्थानों से संग्रह करके अपने हाथ से उन सबकी नकल कर ली थी और अपनी नित्यसिद्ध विद्वत्ता की सहा-

यता से उन सब ग्रंथों के सिद्धान्त सार की उपलब्धि करने में समर्थ हुए थे। उस समय आप उन ग्रंथों के प्रचार में विशेष रूप से व्यस्त हो गये। आजकल साधारण जनता में विशेष कर शिक्षित तथा सभ्य समाज में जिस श्रीमन्महाप्रभु प्रचारित शुद्ध वैष्णव-धर्म की आलोचना हो रही है उसके मूल प्रवर्तक एकमात्र ठाकुर भक्तिविनोद ही हैं। यह कपटहीन निरपेक्ष उक्तियां प्रत्येक व्यक्ति को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

ठाकुर भक्तिविनोद ने कुछ दिन दिनाजपुर में रहकर श्रीचैतन्य चरितामृत तथा श्रीमद्भागवत का प्रचार किया। इसी समय उनका "भागवत स्पीच"-नामक एक अंग्रेजी भाषा पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ। पश्चिमी देश के पुरुष भी इस भाषण को सुनकर सनातन धर्म का सार समझने में समर्थ हुए थे। दिनाजपुर से ठाकुर भक्तिविनोद चम्पारण और वहाँ से पुरुषोत्तम क्षेत्र को गये। प्रत्येक दिन श्रीमन्दिर में श्रीजगन्नाथ देव के दर्शन करते समय श्रीमन्महाप्रभु की मनोवृत्ति का ठाकुर के हृदय में आप ही आप उदय होने के कारण ठाकुर अप्राकृत सुख-सागर में मग्न हो जाते थे। इसी समय पुरुषोत्तम क्षेत्र में महाप्रभु के गम्भीर मानसिक भावनाओं का ज्ञाता बनकर के अनुग 'बिषकिषण'-नामक एक व्यक्ति ने अपने को अवतार कहकर बहुत से उत्पात मचा दिये थे। योग सिद्धि के बल से 'बिषकिषण' जिसको जो दवा देता या जो कुछ कहता वह सब ठीक होता था। इस मनुष्य ने अपने को 'श्रीकृष्ण' कहकर नाना प्रकार की अवैध स्त्री-संबंधिनी घटनाओं में लिप्त कर लिया था किन्तु साधारण अनभिज्ञ जनता उसी में विश्वास स्थापन करके अथवा उस प्रकार के वयोवृद्ध की योग-सिद्धि से मुग्ध होकर उसके चक्कर में पड़ जाती थी। ठाकुर भक्तिविनोद अपने धर्म में हृदय-बल, ईश्वरानुराग सहिष्णुता तथा दृढ़ता के कारण उसप्रकार के योगसिद्ध विषकिषण को राजद्वार में दंड दिलाने में समर्थ हुए थे। वैष्णवाचार्य की अप्राकृत शक्ति के सामने योगसिद्ध विषकिषण की अद्भुत शक्ति या विभूति सम्पूर्ण रूप से पराजित हो गई। श्रीठाकुर [illegible] 'वाले ठाकुर' भक्तिविनोद ने श्रीधर स्वामी की टीका सहित श्रीमद्भागवत और समय पर सन्दर्भ और भक्तिरसामृतसिन्धु का कीर्तन से प्रचार किया। श्रीकृष्णसंहिता, तत्त्वसूत्र, तत्त्वविवेक या सच्चिद नन्दानुभूति-आदि कई एक संस्कृत तत्त्व ग्रंथ और बंगला मधुर कविता में कल्याण कल्पतरु की रचना की। श्रीकृष्णसंहिता में तत्त्व विषय की आलोचना देखकर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि ठाकुर भक्तिविनोद ने इस ग्रंथ में थियोसॉफिस्ट मत का प्रचार किया है। लेकिन ठाकुर भक्तिविनोद ने उसी समय समझा दिया था कि उन लोगों का बनाया हुआ थियोसॉफिस्ट मत कदापि आत्म धर्म नहीं कहा जा सकता। कृष्ण की नित्य अप्राकृत लीलाओं का अध्यात्म व्याख्या द्वारा समर्थन करने की चेष्टा लीला-विरोधिनी नास्तिकता छोड़कर और कुछ नहीं है। लीला परमात्मस्वरूप अचिन्त्य शक्ति भगवान की नित्य नाम-रूप-गुण-लीला में अविश्वास होने ही से लोक के मनो-धर्म में इस प्रकार दुर्बुद्धि का उदय होता है, अतएव थियोसॉफी या अध्यात्मव्याख्या कदापि आत्म-धर्म का पद ग्रहण नहीं कर सकता।

श्रीजगन्नाथ देव के श्रीमन्दिर में ठाकुर भक्ति-विनोद ने एक भक्तिमण्डप स्थापित करके वहां पर भागवत आलोचना और इष्ट गोष्ठी की। श्री-रामानंद राय की भजनस्थली और श्रीमन्महाप्रभु की लीला-क्षेत्र श्रीजगन्नाथ वल्लभोद्यान में भागवत-संसद प्रतिष्ठित करके हरिकथा की आलोचना का उद्योग किया। इस संस्था में उस समय के प्रायः सभी भक्तिपरायण व्यक्ति सम्मिलित हुए थे। केवल प्रसिद्ध कौपीनधारी रघुनाथदास बाबाजी ही इसमें नहीं सम्मिलित हुए। थोड़े ही दिनों में ज्वर पीड़ा से पीड़ित होने के कारण उक्त बाबाजी भक्त चरण में अपना अपराध जानकर ठाकुर भक्ति-विनोद की कृपा के प्रार्थी हुए। इसी समय पुरुषोत्तम क्षेत्र में श्रीस्वरूपदास बाबाजी के नाम से एक निर्मत्सर पुरुष अनुक्षण कृष्ण-नाम के भजन में लगे रहते थे। वे प्रायः ठाकुर भक्तिविनोद के पास आते और उनके निकट श्रीमन्महाप्रभु

कथित निरंतर कृष्ण-नाम-भजन-माहात्म्य कीर्तन करके परमानंद का अनुभव करते थे। ठाकुर भक्तिविनोद श्रीमन्दिर में श्रीमन्महाप्रभु पदचिह्न-संरक्षित प्रांगण में श्रीटोटा-गोपीनाथ तथा अन्यान्य गौड़ीय वैष्णवों के प्रसिद्ध स्थानों में श्रीकृष्ण-नाम ग्रहण रूप आचार और प्रचार में निरंतर व्यस्त रहा करते थे। इसी प्रकार बहुदिन पुरुषोत्तम क्षेत्र में रह कर पीछे व्रजेन्द्रनन्दन की इच्छा होने के कारण आप गौड़-मण्डल से व्रज-मण्डल को चले गये। वहाँ भजनानंदी वैष्णवों के संसर्ग से आपको बड़ा ही आनंद प्राप्त हुआ। भजनानंदी वैष्णवों में सार्वभौम श्रीजगन्नाथ का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वृन्दावन यात्रा करने के पहिले ही आपने [illegible] "सज्जनतोषणी" नामक एक पत्रिका को प्रकाशित किया था।

भक्तिस्वरूपिणी सज्जनतोषणी की सेवा में विघ्न उपस्थित होता हुआ जानकर ठाकुर भक्तिविनोद श्रीधाम वृन्दावन से थोड़े ही दिनों में लौट आये और गौड़ मण्डल में आकर विश्वनाथ चक्रवर्ती कृत श्रीमद्भगवद्गीता आदि अनेक दुष्प्राप्य हस्तलिखित ग्रंथों का संग्रह करके उन्हें प्रकाशित करने के लिये उद्यत हुए।

पुरुषोत्तम क्षेत्र से आकर रामपुर में रहते समय उनका संकल्प कार्यरूप में परिणत हुआ। उसी समय श्रीचैतन्य-शिक्षामृत, वैष्णव सिद्धान्त-माला, चैतन्योपनिषद् भाष्य, आम्नायसूत्र, श्रीचरितामृत का अमृत प्रवाह भाष्य की रचना और नाम प्रचार की इच्छा से कलकत्ते में आपने श्रीचैतन्य छापेखाने की स्थापना की।

श्रीमायापुर में रहते समय आपने विश्व-वैष्णव सभा की पुनर्वार स्थापना की और श्रीगौरांग प्रचारित शुद्ध भक्ति धर्म प्रचार की इच्छा से भांति-भांति के अनुष्ठान किये। गौड़ीय वैष्णव समाज में श्रीचैतन्याब्द का प्रचलन करने के लिये श्रीचैतन्य पंजिका का प्रचार और हरिकथा के प्रचार के उद्देश्य से अनेक हरि-सभाओं तथा वैष्णव-मंडलियों में भाषण देना आदि भक्तिविनोद की अहैतुक चेष्टायें जीवों का नित्य कल्याण साधन कर रही हैं। उसी समय से श्रीगौर जन्मोत्सव बंगाल प्रान्त में जातीय पर्वों की भांति प्रत्येक घर में दिखाई पड़ता है। गौर चतुः शताब्दि के अन्त में बंगाल के भिन्न भिन्न स्थानों में श्रीगौर आलोचना की जो प्रवृत्ति दिखाई पड़ रही है उसका एकमात्र मूल कारण ठाकुर भक्तिविनोद ही हैं।

(क्रमशः)

श्रीउपदेशामृत

(गोस्वामी कौन है ?)

(अनुवादक श्रीयुत व्रजविहारीलाल कपूर एम० ए० [illegible])

श्रीरूप गोस्वामीपाद ने स्वरचित उपदेशामृत के प्रथम श्लोक में कहा है,—

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं,
जिह्वावेगमुदरोपस्थ - वेगम्।
एतान् वेगान् यो विषहेत धीरः
सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात्॥

संसार में तीन प्रकार के वेग दीख पड़ते हैं। वाक्‌वेग, मानसवेग और शरीरवेग, इन तीनों वेगों से पराजित होने पर जीव कदापि अपना मंगल नहीं कर सकता। वह सांसारिक पदार्थों के वशीभूत होकर नित्य विषय-भोगों का कीड़ा ही बना रहता है; परंतु वेग सहनशील जीव जड़ पदार्थों के अधीन न होकर सारे संसार पर विजय प्राप्त करने की सामर्थ्य रखते हैं, वाक्‌वेग कई

प्रकार का होता है, निर्विशेषवादी की शास्त्रीय कल्पनाएँ, कर्मकाण्डियों द्वारा की हुई कर्मफल की शास्त्रीय युक्तियाँ और तृष्णा भक्तिशून्य मनमाना भोग करनेवाले लोगों की निरर्थक बातें सभी वाक्वेग के अन्तर्गत हैं। केवल भगवान की [illegible] में सहायता पहुँचानेवाली [illegible] ही वाक्वेग नहीं कहा जा सकता [illegible] न शीलता का फलस्वरूप समझना चाहिये। अतएव वाक्वेग चाहे [illegible] कृष्ण के अतिरिक्त अन्य विषयों के [illegible] की चेष्टा होने के कारण, वह भी वाक्वेग का रूपान्तर ही है।

मन का वेग दो प्रकार का है: अविरोध प्रीति और विरोध युक्त क्रोध। मायावादी के विश्वास में प्रीति, कर्मकाण्डी के विश्वास का सम्मान और अन्याभिलाषी अर्थात् कृष्ण के अतिरिक्त अन्यान्य पदार्थों की कामना रखनेवाले लोगों के मन में विश्वास—यह अविरोध प्रीति के तीन प्रकार हैं। ज्ञानी, कर्मी और अन्याभिलाषी की चेष्टाओं को देखकर निश्चिन्त रहना तथा उन्हें सुधारने का प्रयत्न न करना भी अव्यक्त रूप से मन का अविरोध प्रीतिवेग है। अन्याभिलाष तथा कर्मफल लाभ की अतृप्ति और मुक्ति की अप्राप्ति के कारण क्रोध करना दूसरा प्रकार का मानसवेग है।

शरीरवेग तीन तरह का है, जिह्वावेग, उदरवेग और उपस्थवेग। छः प्रकार के रसों में किसी भी रस की लालसा से उत्तेजित होकर सभी प्रकार का पशुमांस, मछली, केकड़ा, अंडा, शुक्र और रज से उत्पन्न शव जाति के निकृष्ट-द्रव्य, वर्द्धनशील उद्भिद् लता और शाक, गाय के दूध से बने हुए अनेकों प्रकार के पदार्थ आदि ग्रहण करने की लालसा ही जिह्वावेग है।

हरीतकी, पान, सुपारी और अधिक खटाई मिर्च इत्यादि खाना; और बीड़ी, सिगरट, हुक्का और गांजा प्रभृति तथा अफीम, मदिरा आदि मादक द्रव्यों का सेवन करना सभी जिह्वावेग में सम्मिलित हैं। भगवान के प्रसादादि ग्रहण करने से शुद्ध जीव जिह्वावेग के वश में नहीं हो सकता। भगवान का सेवन अत्यन्त स्वादिष्ट होने पर भी प्रसाद सेवन करनेवाले मनुष्य के लिये जिह्वावेग नहीं। परन्तु भगवान के निवेदन की उत्तम सुस्वादु सामग्रियों का प्रसाद के बहाने अपनी भोग-वासना की तृप्ति में लगाना [illegible] जिह्वावेग के ही अन्तर्गत है। किसी धनी के घर में [illegible] बहुमूल्य परम स्वादिष्ट [illegible] की लालसा भी [illegible] जिह्वावेग का [illegible] होने की संभावना रहती है।

[illegible]
[illegible]

[illegible]

([illegible])

उदरवेग [illegible] जिह्वावेग से [illegible] होता है। [illegible] आहार करने से नाना प्रकार की [illegible] व्याधियाँ [illegible] होती हैं। भोजन अधिक करनेवाले लोग उपस्थवेग के [illegible] होते हैं, कृष्णप्रसाद की स्वल्प [illegible] तथा एकादशी आदि कुछ व्रतों का पालन करने से उदरवेग की निवृत्ति होती है।

उपस्थवेग भी दो प्रकार का है—वैध और अवैध। [illegible] लोग आयु परिपक्व होने पर शास्त्रीय विधि से [illegible] पालन कर गृहस्थधर्म की रक्षा करते हुए उपस्थवेग को संयत करते हैं, अवैध उपस्थवेग अनेकों प्रकार का होता है, शास्त्रीय समाजविधि को तिलाञ्जलि देकर परस्त्री संग करना, आठ प्रकार के इन्द्रिय सुखों की कामना, कृत्रिम मिथ्याचार और उलटी रीतियों से इन्द्रियों को तृप्त करना इत्यादि अवैध उपस्थवेग के भेद हैं।

गृहस्थ और उदासीन दोनों का ही जिह्वा, उदर और उपस्थवेग से छुटकारा पाना कर्तव्य है। श्रीजगदानन्द पंडित ने अपने "प्रेम विवर्त्त" नामक ग्रंथ में लिखा है—

वैरागी भाई ग्राम्य-कथा न सुनो कभी कान से।
न कहना कभी ग्राम्य वार्त्ता मिलना जब आन से॥
न स्वप्न में भी करना कभी किसी स्त्री का दर्शन।
याद रक्खो गृहणी को त्याग तुम आये हो बन॥
कभी अच्छा न करना भोजन अच्छा न पहरना।
बस हृदय में राधाकृष्ण की सेवा सदा करना॥

वाक्य, मन और शरीर के पूर्व कथित छः प्रकार के वेगों को जो पूर्ण रूप से सहन करने की सामर्थ्य रखते हैं वही सच्चे **गोस्वामी** हैं। जो षड्वेगों के अधीन होते हैं वह गोदास के नाम से पुकारे जाते हैं. गोस्वामीगण ही कृष्ण सेवक हैं। **गोदास** माया के दास होते हैं। सुतरां कृष्ण-भक्ति लाभ करने के लिये गोस्वामियों का अनुसरण करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं। इन्द्रिय तर्पण करनेवाले मनुष्य कदापि हरिसेवक नहीं हो सकते—प्रह्लाद ने कहा है,—

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा
मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।
अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं
पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्।
न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुं
दुराशया ये बहिरर्थमानिनः॥
(श्रीमद्भागवत)

रथ के आगे नृत्य

स जीयात् कृष्णचैतन्यः श्रीरथाग्रे ननर्त यः।
येनासीज्जगतां चित्रं जगन्नाथोऽपि विस्मितः॥

जिन्होंने श्रीजगन्नाथ के रथ के आगे नृत्य किया था उन श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्र की जय हो! उनके उस नृत्य को देख समस्त जगत् के साथ स्वयं जगन्नाथ विस्मित हुए थे। श्रीकृष्णचैतन्यदेव ने प्रिय भक्तों के साथ प्रातः स्नान कर श्रीजगन्नाथ के पाण्डुविजय दर्शन के लिये शुभागमन किया। राजा प्रतापरुद्र मित्र-परिषद् के साथ श्रीमन्महाप्रभु के भक्तों को पाण्डुविजय दर्शन कराने के लिये उपस्थित हुए। श्रीजगन्नाथ, बलराम और सुभद्रा देवी को पट्ट की डोर में बाँध कर सेवक लोग जिस प्रणाली से उन्हें सिंहद्वार के समीप श्रीरथ पर चढ़ाते हैं, उसे पाण्डुविजय कहते हैं। श्रीमन्महाप्रभु भक्तों के साथ पाण्डुविजय-दर्शन के आनन्द में अपने को भूल 'मणिमा-मणिमा' अर्थात् प्रभो प्रभो ध्वनि करने लगे। चारों ओर तरह-तरह के सुमधुर बाजों का कोलाहल हो रहा था। एक ओर राजा प्रतापरुद्र हाथ में सोने की झाड़ लेकर जगन्नाथ की रथ-यात्रा की राह को साफ करने में लगे। वे बीच-बीच में चन्दन का पानी छिड़कते जाते थे। राजा की ऐसी दीनता और सेवा-नैपुण्य देखकर श्रीशचीनन्दन गौरहरि बहुत ही प्रसन्न हुए। भाँति-भाँति की विचित्रताओं से पूर्ण कारुकार्य-विशिष्ट सुमेरु जैसे सुवृहत् हेममय रथ पर श्रीबलदेव और श्रीसुभद्रा देवी को चढ़ाकर श्रीलक्ष्मी देवी की अनुमति लेने के बाद कृष्णनिष्ठ भक्तों को आनन्द देने के लिये भक्त की इच्छा पूर्ण करनेवाले श्रीजगन्नाथ देव रथ पर चढ़कर स्वच्छन्द-विहार के लिये चले। रथ के चलने की राह यमुना की रेती की तरह सूक्ष्म श्वेत बालुओं से पूर्ण और उसके दोनों किनारे वृन्दावन जैसे कानन लगे थे। ओड़ीयगण अर्थात् उत्कल के गोपगण प्रसन्न चित्त से रथ खींचने लगे। जगन्नाथ अपनी स्वतन्त्र इच्छा से कभी तेजी के साथ और कभी धीमी गति से गुण्डीचा की ओर अग्रसर होने लगे। श्रीमन्महाप्रभु ने भक्तों को अपने श्रीहस्त से माला-चन्दन प्रदान कर भक्तों की मर्यादा बढ़ाई। श्रीपाद परमानन्द पुरी और श्रीपाद ब्रह्मानन्द भारती, श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु, श्रीपाद अद्वैताचार्य

श्रीमन्महाप्रभु के श्रीकर-कमलों के अमृतमय स्पर्श से प्रेम विह्वल हो उठे। श्रीरथ के आगे नर्त्तन-लीला के प्रधान परिकर, श्रीस्वरूप और श्रीवास पण्डित के साथ समस्त कीर्त्तन करने वालों को श्रीगौराङ्ग-सुन्दर ने अपने हाथ से माला-चन्दन प्रदान किया। कीर्त्तनकारियों को सात टोलियों में विभक्त कर श्रीमन्महाप्रभु ने रथ के आगे महा-नृत्य और कीर्तन के आनन्द से श्रीनीलाचल क्षेत्र को प्रेम की बाढ़ से भर दिया। सात टोलियों में चौदह मृदङ्ग, असंख्य करताल लिये श्रीरथ के आगे चार टोली, दोनों किनारे दो टोली और पीछे एक टोली हुई। पहली टोली श्रीमन्महाप्रभु के द्वितीय स्वरूप श्रीपाद स्वरूपदामोदर के आनुगत्य में, दूसरी टोली श्रीवास पण्डित, तीसरी मुकुन्द, चौथी गोविन्द घोष, पाँचवीं कुलीनग्राम के निवासी रामानन्द सत्यराज प्रभृति, छठी अच्युतानन्द और सातवीं खण्डवासियों के आनुगत्य में थी। इस तरह बहुतेरे भक्तों को श्रीमन्महाप्रभु ने सात टोलियों में विभक्त कर महासङ्कीर्त्तन के आनन्द से मतवाले हो उद्दण्ड नृत्य करने लगे। श्रीश्रीचरितामृत में वर्णित है-

सात टोली बजे चौदह मृदङ्ग नाल।
जाकी धुनि सुनि हुए वैष्णव निहाल॥
वैष्णवों के घटा मेघ चढ़ा ज्यों बादल।
कीर्त्तनानन्द करें सब वर्षे नेत्र जल॥
त्रिभुवन गूँजि उठी कीर्त्तन की धुनि।
अन्य बाजा के हुए स्वर अनसुनि॥

श्रीरासलीला और महिषीविलास में जैसे श्रीकृष्ण एकही समय में अनेक रूप प्रकट हुए थे, वैसे ही श्रीकृष्ण चैतन्य भी भक्तों की वासना पूर्ण करने के लिये वही शक्ति प्रकट कर हरेक टोली में अपने को एक ही समय प्रकट कर रखा। प्रत्येक टोली के भक्तों को मालूम होने लगा, कि श्रीशचीनन्दन गौरहरि हमारे ही प्रति स्नेहाधिक्यवश यहीं विराज रहे हैं। एक ही समय श्रीगौरसुन्दर सातों टोली में कीर्त्तन करते रहे। 'जय जगन्नाथ' और 'हरि-हरि बोल' की ध्वनि से नीलाचल गूँज उठा। श्रीमन्महाप्रभु के महाप्रेमोन्माद नृत्य कीर्त्तन को देख श्रीजगन्नाथ ने विस्मित हो रथ की गति बन्द कर दी। द्रष्टा और दृश्य एक ही होने पर भी लीला-विचित्रता के क्रम से इस अद्भुत रहस्य के प्रकाश को असीम कृपासिन्धु श्रीगौरसुन्दर की कृपा से राजा प्रतापरुद्र समझे। श्रीमन्महाप्रभु के महासङ्कीर्त्तन को देख जगन्नाथ देव ने अपने रथ को रोक दिया। यह अद्भुत लीला देख राजा विस्मित होकर काशी मिश्र से श्रीगौरसुन्दर की महिमा कहने लगे। उन्होंने अपने हाथ के इशारे सार्वभौम भट्टाचार्य को अपना आनन्द जनाया। काशी मिश्र ने कहा,—"राजा, तुम्हारा भाग्य सुप्रसन्न है।" राजा प्रतापरुद्र परम भक्त थे और राजा की दीनता तथा सेवाप्रवृत्ति देख श्रीमन्महाप्रभु ने सन्तुष्ट हो ब्रह्मादि के दुर्लभ रहस्य को अपनी कृपा से राजा प्रतापरुद्र को जना दिया। राजा का सौभाग्य देख सार्वभौम और काशी मिश्र विस्मित हुए। सपार्षद श्रीकृष्ण चैतन्य चंद्र इस प्रकार महाकीर्त्तन के आनंद में मत्त हो श्रीजगन्नाथ देव को रथ पर देख दोनों हाथ जोड़ स्तव करने लगे,-

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मण-हिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥
जयति जयति देवो देवकीनन्दनोऽसौ।
जयति जयति कृष्णो वृष्णिवंशप्रदीपः॥
जयति जयति मेघश्यामलः कोमलाङ्गो।
जयति जयति पृथ्वीभारनाशो मुकुन्दः॥

उन देवकीनंदन की जय हो! उन वृष्णि वंश-प्रदीप की जय हो! उन नवजलधर श्यामकोमल कृष्ण की जय हो!

जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो,
यदुवरपरिषत् स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम्।
स्थिरचर वृजिनघ्नः सुस्मित-श्रीमुखेन,
व्रजपुरवनितानां वर्द्धयन् कामदेवम्॥

जननिवास, देवकी-जन्मवाद, यदुगण के सभापति, अपनी बाहु द्वारा अधर्म का नाश करनेवाले, स्थावर जङ्गम के पापहारी, मधुर-हास्य-मुख द्वारा व्रजपुरवनिताओं के कामवर्द्धनकारी कृष्णचन्द्र की जय हो! और भी कहने लगे,-

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो,
नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे
गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः ॥

मैं ब्राह्मण या क्षत्रिय नहीं, वैश्य या शूद्र नहीं, ब्रह्मचारी या गृहस्थ नहीं, वानप्रस्थ और संन्यासी भी नहीं ! किन्तु उन्मीलित निखिल परमानन्दपूर्ण अमृतसमुद्ररूप श्रीकृष्णचन्द्र के पद-कमल के दासानुदास के नाम से अपना परिचय देता हूँ। इस प्रकार श्लोकों की आवृत्ति करते हुए वे बार-बार प्रणाम करने लगे। उद्दण्डनृत्य और हुङ्कार करके वे अलातचक्रवत् अर्थात जलते हुए अङ्गारे के बहुत ही तेज़ी से घूमने पर जैसे अविच्छिन्न जलते हुए चक्र से दिखाई दिये, वास्तव में वह जलता हुआ चक्र नहीं, इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु उद्दण्ड नृत्य करते हुए एक मूर्ति होकर भी सर्वत्र व्यापक भाव से दिखाई दे रहे थे। उद्दण्ड नृत्य के साथ जहाँ श्रीपद पड़ते थे, वहाँ सागर, पर्वत, स्थावर, जङ्गम के साथ धरती हिल उठती थी। स्वेद, स्तम्भ, वैवर्ण्य, पुलकाश्रु आदि नाना भाव श्रीअङ्ग में प्रकाशित होने पर क्षण-क्षण में वह राधाभावद्युति-सुवलित हेममयतनु पछाड़ खाकर ज़मीन में लोटने लगा। श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु गौड़ीय के सर्वस्व श्रीशचीनन्दन गौरहरि को बहुत ही व्यस्तता के साथ पकड़ने की कोशिश करने लगे। आज श्रीशची माता के जीवन-धन निमाई, जिनके श्रीअङ्ग में कृष्ण-विरह-व्याकुल चित्त हो पछाड़ खाने की वजह चोट लगने के भय से शची माता देवताओं के आगे प्रार्थना किया करती थीं—हे देवगण, मुझ अन्धे के नयन, जीवन-धन, निमाई की रक्षा तुम्हीं लोग करो; कभी वे स्नेहप्रवण मातृहृदय की व्याकुलता से रो-रोकर षष्ठी माता से प्रार्थना करतीं—माँ षष्ठी, पछाड़ खाकर जब मेरे निमाई भूमि में गिर जाते हैं, तब तुम उन्हें गोद में ले लिया करो, जिससे निमाई को चोट न लगे; उन गौरहरि का श्रीअङ्ग प्रेम के उन्माद से पछाड़ खाते-खाते धूलि-धूसरित हो गया! इस दृश्य से गौड़ीय भक्तों का चित्त व्यथित हुआ। तब श्रीगौरसुन्दर को बीच में कर लोगों की भीड़ से बचाने के लिये भक्तों ने वृत्ताकार में अपने तीन दल बनाये।

प्रथम वृत्त में अन्यान्य भक्तों के साथ श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु, प्रथम वृत्त में बीच का स्थ उसको आस-पास चक्राकार में वेष्टन कर काशीश्वर, मुकुन्द आदि और द्वितीय वृत्त को केन्द्र बना मित्र-परिषद् के साथ उसे वेष्टनकर राजा प्रतापरुद्र ने तृतीय मण्डल की रचना की। इस तरह सब ने तीन मण्डल द्वारा आवृत कर द्वितीय, प्रथम और बीच में स्थित श्रीमन्महाप्रभु को भीड़ से स्वतन्त्र कर दिया। उद्देश्य यह था कि लोगों के धक्के से तृतीय मण्डल के विपर्यस्त होने पर द्वितीय और उसके भी सम्मर्दित होने पर प्रथम मण्डल काम देगा। राजा प्रतापरुद्र हरिचन्दन के कंधे पर हाथ रख विस्मित चित्त से श्रीमन्महाप्रभु की अपूर्व नृत्यलीला को देखने लगे। गौरैकसर्वस्व श्रीवास पण्डित प्रेमाविष्ट-हृदय से राजा के सामने श्रीशचीनन्दन का नृत्य देखकर अपने को भूल गये; ऐसे समय हरिचन्दन बार-बार पण्डित के अङ्ग पर हाथ रख उन्हें ठेलते हुए कहने लगे कि एक किनारे खड़े हो। नृत्य के आवेश में मग्न श्रीवास पण्डित ने कीर्त्तन-सुख में बाधा पहुँचाने की वजह क्रोध में आ हरिचन्दन को एक थप्पड़ जड़ दिया। थप्पड़ खाकर हरिचन्दन क्रोध में आ पण्डित को डाँट-फटकार देने पर तैयार हुए। तब राजा ने उन्हें समझाकर कहा—"हरिचन्दन, तुम्हारे जैसा सौभाग्य मेरा नहीं है, तुम आज गौरगत-प्राण पण्डित के श्रीकर-कमल के स्पर्श से पवित्र हो गये हो।"

श्रीमन्महाप्रभु का ऐसा दिव्योन्माद देख श्रीजगन्नाथ देव रथ की गति रोक कर एकटक नृत्य देखने लगे। सुभद्रादेवी के साथ श्रीबलराम प्रसन्न हो श्रीमन्महाप्रभु के नृत्य को देख मुस्कुराने लगे। श्रीमन्महाप्रभु "जगन्नाथ" कहने की जगह गद्गद कण्ठ से "जज-गग", "जज-गग" ध्वनि करने लगे। श्रीनयन से फौवारे की तरह प्रेमाश्रु बरसने से चारों ओर के लोग तर होने लगे। ऐसा उद्दण्ड

नृत्य करते करते श्रीमन्महाप्रभु को कुरुक्षेत्रमिलन में श्रीराधारानी का भाव उदय हुआ। तब स्वरूप दामोदर ने श्रीमन्महाप्रभु के कृपा-आदेश को पाकर कीर्तन आरम्भ किया,—

उन्हीं प्राणनाथ को पाया।
जिनके लिये कामानल का कष्ट उठाया॥

इस प्रकार कीर्तन आनन्द में सपार्षद श्रीगौरसुन्दर श्रीहस्तयुगल से गीत का अभिनय करते हुए चले,—

गौर यदि पीछे चलें प्रभु होते हैं स्थिर।
गौर आगे चलें श्याम चलें गति धीर॥
इसी रूप गौरश्याम में होती ठेलाठेली।
हृदय रथ पै राखें श्याम गौर महाबली॥

इस प्रकार नृत्य करते-करते श्रीमन्महाप्रभु में भावान्तर उपस्थित हुआ। जैसे पूर्वकाल में गोपियाँ कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण का दर्शन पाके आनन्दित हुई थीं वैसे ही भावाविष्ट हो महाप्रभु कहने लगे,—

वही तुम, वही मैं, ये नवसङ्गम॥
तथापि मेरा मन हरे वृन्दावन।
वृन्दावन उदय कराओ अपने चरण॥
यहाँ लोकारण्य, हाथी घोड़ा रथ ध्वनि।
वहाँ पुष्पारण्य भृङ्ग पिकनाद सुनि॥
यहाँ राजवेश सङ्ग सब क्षत्रियगण।
वहाँ गोपवेश सङ्ग मुरली वादन॥
व्रज में तुम्हारे सङ्ग-सुख आस्वादन।
यहाँ सुख-सागर का कहीं एक कण॥
मुझे लेके फिर लीला करो वृन्दावन।
तब मेरी मनोवांछा होवे पूरन॥

इस प्रकार के भावावेश में श्रीमन्महाप्रभु जिन सब श्लोकों की आवृत्ति करने लगे, उनका अर्थ स्वरूप गोस्वाई के अतिरिक्त और कोई भी समझ न सका—श्रीगौरसुन्दर श्रीजगन्नाथ से कहते हैं, भोगी का मन मनोधर्म से पूर्ण है, किन्तु मेरा मन वृन्दावन से पृथक् नहीं। मन और वृन्दावन को मैं एक समझता हूँ। हे कृष्ण, अपने इस वृन्दावन जैसे हृदय में तुम्हारे अभयामृत श्रीचरणयुगल के नित्य विराजित रहने से ही मैं तुम्हारी पूर्ण कृपा मानूँगा। इस प्रकार सङ्कीर्तन के आनन्द में मत्त हो श्रीशचीनन्दन-गौरहरि ने जगन्नाथ के सेवक इत्यादि, नीलाचलवासी असंख्य यात्रियों के मन में प्रेमामृत-अर्पण कर आकर्षित कर लिया। उस समय सबके हृदय में कृष्णप्रेम का उदय हुआ, असंख्य लोग "श्रीहरि हरिबोल" ध्वनि से ब्रह्माण्ड को कम्पित कर प्रेमानन्द से नृत्य आरम्भ किया। इस प्रकार का महासङ्कीर्त्तन और महानृत्य देख, मनुष्य का तो कहना ही क्या, श्रीजगन्नाथ-बलराम भी मारे आनन्द के धीरे-धीरे चलने लगे; बीच बीच में विस्मित नेत्रों से रथ को रोक सुख से नृत्य का रंग देखने लगे। भक्तवाञ्छा पूर्णकारी अखिल-व्रजेन्द्रनन्दन श्रीगौरहरि राजा प्रतापरुद्र के सामने प्रेम के आवेश में गिर पड़ते थे, सौभाग्यवान् राजा ने अपने आराध्य देवता वाञ्छित धन श्रीगौरसुन्दर को पकड़ लिया। राजा के स्पर्श से बाह्य ज्ञान हुआ। यद्यपि राजा को दीनता के साथ जगन्नाथ के लिये रास्ता साफ करते देख श्रीमन्महाप्रभु उन पर बहुत प्रसन्न थे, किन्तु अपने जन को सावधान करने के लिये क्रोध प्रकट कर कहने लगे,—छिः-छिः! विषयी से मेरा स्पर्श हो गया। यह सुनकर राजा के मन में त्रास हुआ। किन्तु सार्वभौम ने राजा को समझा कर कहा,—तुम पर श्रीगौराङ्गसुन्दर की बड़ी कृपा है, तुम अपने चित्त में किसी तरह का संशय न करो। तुम्हारा लक्ष्य कर उन्होंने अपने लोगों को शिक्षा दी है। जो हो, शुभ अवसर देखते ही मैं तुमसे निवेदन करूँगा। उसी समय तुम उनसे मिलना। श्रीमन्महाप्रभु रथ की प्रदक्षिणा कर अपने श्रीमस्तक से रथ को ठेला, रथ बड़ी घरघराहट के साथ आगे बढ़ा। चारों ओर भक्तगण का कोलाहल और ब्रह्माण्डभेदी 'श्रीहरि-हरि बोल' की ध्वनि फैल पड़ी। श्रीमन्महाप्रभु निजगण के साथ श्रीबलदेव सुभद्रा के आगे नृत्य कर श्रीजगन्नाथ के आगे प्रेमावेश से महानृत्य करने लगे। इस प्रकार जब रथ बलगण्डी नामक स्थान में पहुँचा, तब धनी-दरिद्र आदि सभी भक्तों ने श्रीजगन्नाथ को नाना प्रकार का भोग समर्पण किया। क्योंकि वहाँ सबको ही

जगन्नाथ देव को भोग लगाने देने का अधिकार है। भोग के समय बहुत अधिक भीड़ होने की वजह श्रीमन्महाप्रभु एक बाग में प्रवेश कर प्रेमावेश में पुष्पोद्यान के मण्डप में जा पहुँचे। पवनदेव शीतल सुगन्ध-युक्त वायु द्वारा जगत्पति अभिन्न व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण चैतन्यचंद्र के नृत्य का श्रम दूर करने के लिये धीरे-धीरे चलने लगे। भक्त लोग भी एक-एक वृक्ष के नीचे बैठकर विश्राम करने लगे। इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु प्रेमावेश में बैठे थे, इसी समय सार्वभौम के कृपा-आदेश से राजा प्रतापरुद्र राजवेश परित्याग कर वैष्णव वेश में वहाँ उपस्थित हुए। सब भक्तों को हाथ जोड़ भक्तों की आज्ञा लेकर श्रीमन्महाप्रभु के श्रीअभय पादपद्म युगल को निपुणता के साथ दाबने लगे और रासलीला के श्लोक पढ़कर स्तव करने लगे। कृष्णलीला सुनकर श्रीमन्महाप्रभु ने प्रेम विह्वल चित्त से महा भाग्यवान राजा प्रतापरुद्र का आलिङ्गन कर उन्हें कृतकृत्य किया। श्रीगौरसुन्दर राजा से कहने लगे, "मेरे हितैषी तुम कौन हो? तुमने अचानक—मुझे कृष्ण लीला का अमृत पिलाया है!" राजा ने कहा,—"प्रभो, मैं तो आप का दासानुदास हूँ। कृपाकर मुझे अपने भृत्य का भी भृत्य बनाइये।" श्रीमन्महाप्रभु ने कृपाकर राजा को अपना ऐश्वर्य प्रदर्शन किया और किसी से कहने को मना कर दिया। राजा बड़े ही आनन्द चित्त से श्रीमन्महाप्रभु के श्रीचरणों में दण्डवत् कर हाथ जोड़ सब भक्तों की वन्दना कर भक्तों के साथ श्रीमन्महाप्रभु के मध्याह्न भोग के लिये प्रसाद भेजने की व्यवस्था करने को चले गये। शीघ्र ही उन्होंने सार्वभौम, रामानन्द और वाणीनाथ द्वारा बलगण्डि भोग के उत्तम उत्तम प्रसाद भेज दिये। श्रीमन्महाप्रभु ने सपार्षद प्रसाद ग्रहण किया। जो प्रसाद बचा, उससे सहस्र-सहस्र दुःखी दरिद्र तृप्त हुए और श्रीगौरहरि श्रीमुख से सबसे 'हरि-हरि बोल' कहने लगे। इधर श्रीजगन्नाथजी के रथ को बड़ी चेष्टा से भी गौड़ीय लोग चला नहीं पाते थे। घबराये हुए राजा मित्रों के साथ आये, उन्होंने अपने बड़े-बड़े पहलवानों द्वारा रथ को खिंचवाने की चेष्टा की। इससे निष्फल होने पर बड़े-बड़े मस्त हाथियों को रथ खींचने में नियुक्त किया, किन्तु रथ एक पैर भी आगे न बढ़ा; अचल हो रहा। इस समाचार को पा श्रीमन्महाप्रभु ने अपने पार्षदों के साथ वहाँ पहुँचकर देखा, मस्त हाथी अङ्कुशों की चोट से चिंघाड़ रहे हैं किन्तु रथ टसकता ही नहीं। असंख्य लोग हाहाकार कर रहे हैं। तब श्रीमन्महाप्रभु ने मतवाले हाथियों को हटा निजजन को रथ के आगे-रस्से लगाने का आदेश कर रथ के पीछे पहुँच अपने मस्तक से उसे ठेला; रथ तेज़ी के साथ गुण्डीचा की ओर चल पड़ा। भक्त लोग केवल रथ खींचने के रस्सों में हाथ भर लगाये रहे; रथ आप ही घरघराहट के साथ दौड़ने लगा। यह अपूर्व लीला देख भक्त लोग असंख्य-कण्ठ से 'जय-जगन्नाथ' की ध्वनि करने लगे। श्रीरथ आप ही क्षणभर में गुण्डीचा के द्वार पर पहुँच गया। श्रीकृष्ण चैतन्यचन्द्र का असीम प्रताप देख सब लोग आश्चर्यान्वित हो लाख लाख गले से 'जय श्रीशचीनन्दन की' 'श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्र की' जयध्वनि करते हुए नीलाचल को ध्वनित कर दिया। हम भी गलवस्त्र हो हाथ जोड़ श्रीपाद-रूप गोस्वामी प्रभु के आनुगत्य से कहते हैं,—

नमो महावदान्याय कृष्णप्रेमप्रदाय ते। कृष्णाय कृष्ण-चैतन्यनाम्ने गौरत्विषे नमः॥" महावदान्य कृष्णप्रेमदाता कृष्णस्वरूप कृष्णचैतन्य नामक गौराङ्गरूपधारी प्रभु को नमस्कार है।

लण्डन का तार

(लण्डन, ८ जून १९३३)

आज सर सैमुयेल होर ने श्रीगौड़ीय-मठ के प्रचारकगण के साथ विशेष आन्तरिक भाव से अतिदीर्घ-आलाप किया। उन्होंने धर्म्म के पुनरुत्थान के लिये हर प्रकार से सहायता पहुँचाने का वचन

दिया है; और विभिन्न संस्थाओं के साथ प्रचारकों का परिचय करा दिया है, कल सर डेनिसन राम और लेडी डेनीसन राम के सभापतित्व में एक विशेष अधिवेशन हुआ था जिसमें विशेष उत्साह-जनक रूप से सफलता प्राप्त हुई; भारत के भूतपूर्व चार महामान्य शासनकर्ता सभा में उपस्थित थे। उन्होंने भी श्रीचैतन्यदेव तथा श्रीगौड़ीय मठ के प्रचार सम्बन्ध में व्याख्यान श्रवण किया।

लण्डन का प्रचार प्रसङ्ग

(विमान-डाक से प्राप्त)

१५ जून (१९३३) को लण्डन में "Society for promoting the study of religion"-नामक समिति के हाल में श्रीगौड़ीय मठ के प्रचारकों के व्याख्यान की जो व्यवस्था की गई है उसमें महामान्य मार्क्विस आफ जटलैंड सभापति का आसन सुसज्जित करेंगे, मार्क्विस आफ जटलैंड ने श्रीगौड़ीय मठ के प्रचारकों से "त्रिदण्डी" और "गौड़ीय" शब्दों का विशद तात्पर्य्य पूछा और श्रीश्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद की जीवनी तथा उनके उपदेश के सम्बन्ध में प्रश्न किये। सुदीर्घकाल तक इन सब प्रश्नों का उत्तर सुनकर वह बहुत ही आनन्दित हुए, उन्होंने सभापति का आसन ग्रहण करके श्रीगौड़ीय मठ के प्रचारकों से इन सब विषयों को और भी विशदभाव से सुनने का आग्रह प्रकट किया है।

गत् २१ मई को लण्डन का श्रीगौड़ीय मठ के प्रचारक कैम्ब्रिज विश्व विद्यालय के अण्डर ग्रेजुयेट छात्रों द्वारा की गई एक सभा में निमंत्रित हुए थे। अध्यापक Mrs Hugh Harper M. A. लण्डन-गौड़ीय मठ के प्रचारकों को विश्वविद्यालय के द्वार ही से आदरपूर्वक ले गयी और सभापति तथा श्रोत्रमंडली से "Distinguisped Guest" कहकर उनका परिचय करा दिया, सब लोगों के बहुत आग्रह प्रकट करने पर त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्तिहृदयवन महाराज ने उक्त सभा में श्रीगौड़ीय मठ के उद्देश्य के सम्बन्ध में एक व्याख्यान दिया। व्याख्यान समाप्त होने के बाद श्रीगौड़ीय मठ की वाणी श्रवण करने के हेतु तीन विभिन्न स्थानों से विशेष अनुरोध के साथ निमंत्रण हुआ। किन्तु पहले से ही कई स्थानों में व्याख्यान तथा धर्म्म आलोचना के लिये आबद्ध होने के कारण स्वामीजी महाराज उसी समय उन निमन्त्रणों को स्वीकार करने में असमर्थ हुए।

गत २१ मई (१९३३) को Joint Select Committee के प्रतिनिधि महामान्य मार्क्विस आफ लोथियन के साथ श्रीमद्भक्तिहृदयवन महाराज ने पूर्ण एक घंटे तक भारतीय दर्शन, धर्म्मतत्व और नाना विषयों की आलोचना की। महामान्य लोथियन साहब ने श्रीगौड़ीय मठ के प्रचारक से बौद्धधर्म्म के सम्बन्ध में श्रीगौड़ीय मठ का अभिमत, गौड़ीय वैष्णवधर्म शंकर का मायावाद स्वीकार करता है या नहीं, भारत में प्रचलित कल्पित अवतार वादी, चित्‌जड़-समन्वयवादी और कर्म्मवादी लोगों के साथ गौड़ीय मठ का मतभेद कहाँ है, इत्यादि विषयों पर प्रश्न किये। स्वामीजी महाराज से इन प्रश्नों का अति सरल, सुन्दर और निरपेक्ष उत्तर प्राप्त करके joint Select Committee के महामान्य सभापति महोदय ने बहुत हर्ष प्रकट किया। इस सम्बन्ध में जो कुछ भी आलोचना हुई थी, क्रमशः 'भागवत में' प्रकाशित की जायगी. महामान्य Lord Lotpian के उत्साह से House of Commons में श्रीगौड़ीय मठ के प्रचारकों के कई व्याख्यान होने की संभावना है।

भारतसचिव महामान्य सर सैमुयेल होर की इच्छा से पार्लियामेन्ट के अन्डरसेक्रेटरी फार इण्डिया मि० आर० ए० बटलर ने लण्डन-गौड़ीय मठ

के प्रचारक का कैण्टरवरी के महामान्य प्रधान धर्म-याजक (Archbishop of Canterbury) के साथ परिचय करा दिया। और उनके निकट श्रीगौड़ीय मठ के प्रचारक ने श्रीकृष्णचैतन्यदेव के प्रचार की विशेषता के बारे में आलोचना की।

महामान्य लार्ड जेटलेण्ड, सर स्टैनली जैक्सन एवं मि० आर. ए. बटलर ने श्रीप्रभुपाद द्वारा सम्पादित ब्रह्मसंहिता के पञ्चम अध्याय का अंग्रेज़ी अनुवाद और अध्यापक आचार्य्य महाम पिंदेशक श्रीभक्तिसुधाकर प्रभु लिखित "श्रीकृष्ण चैतन्य" नामक अंग्रेज़ी ग्रन्थ प्राप्त कर विशेष आनन्द प्रकाश किया। इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में आलोचना पीछे प्रकाशित की जायगी।

कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति

(पूर्व प्रकाशित के उपरान्त)

भगवान के पूर्वोक्त वाक्य पर और चित्त से विचार करने पर दिखाई देता है, कि उन्होंने कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीनों योगों को मङ्गल-लाभ का उपाय बताने पर भी 'कर्म' और 'ज्ञान' को सास्बन्धिक अर्थात् योग्यतानुयायी मङ्गल विधान का उपाय बताया है अर्थात् कर्म और ज्ञान द्वारा जीव को नित्य और चरम मङ्गल प्राप्त नहीं होता। सत्कर्म द्वारा समय-समय पर अत्यन्त कुकर्म और विकर्म में आसक्त मनुष्यों का कुकर्म और विकर्म की प्रवृत्ति घट सकती है—इसीसे असत्कर्म की तुलना में सत्कर्म मङ्गललाभ का उपाय है। इसीलिये श्रीभगवान् ने कहा है,—"कर्मयोगश्च कामिनां"—कामियों के लिये कर्मयोग अच्छा है।

जैसे किसी पिता ने अपने दुष्ट और अशान्त लड़के की चञ्चलता अर्थात् असत्कर्म तथा दूसरों को तङ्ग करने की आदत को देखकर उसे दूर करने के लिये बालक को एक कैंची देकर कहा, "बेटे तुम नाहक के खेल न खेल इस कैंची से बाग के फल-फूल छाँट डालो; इससे तुम्हारा शरीर अच्छा रहेगा और मन प्रसन्न होगा; कितने ही फल-फूल भी खा सकोगे। इस लालच में पड़कर शायद किसी लड़के के असत्कर्म छूट सकते और अपने हितकर कामों में उसका उत्साह हो सकता है। दूसरी ओर शायद कोई पाजी लड़का कैंची लेकर बाग के अच्छे फल फूल की अच्छी डालों को काट छाँटकर पिता के बाग को बिलकुल ही नष्ट भी कर दे सकता है।" इसी प्रकार कर्म में भी सत्कर्म द्वारा कभी कभी अत्यन्त आसक्त कामी मनुष्यों का साम्बन्धिक मंगल हो सकता है,—इसी से कर्म भी भलाई का एक उपाय बताया गया है,—किन्तु कर्म आत्यंतिक भलाई का उपाय कभी नहीं है; इसके द्वारा कभी-कभी कर्म बन्धन में भी पड़ना पड़ता है। गीता (३। ६) देखना चाहिये। ज्ञान के द्वारा भी जीव को साम्बन्धिक मंगल प्राप्त हो सकता है; नित्य मंगल नहीं। जो कर्मफल से निराश हैं, उन्हें अधिकारियों के लिये ज्ञान योग की व्यवस्था है।

'कर्म' के विपरीत या व्यतिरेक विचार पर ही 'ज्ञान'-वाद है। कर्मवादी कहते हैं, खूब अश्वमेध यज्ञ करो, दान करो, कामिनी, काञ्चन, प्रतिष्ठा आदि पाने के लिए शक्ति की आराधना करके कहो,—"धनं देहि, रूपवती भार्या देहि, द्विषो जहि यशो देहि" इत्यादि, ज्ञानवादी इसी के विरुद्ध कहते हैं,—'मूढ़ जहीहि धनागमतृष्णाः', 'का तव कान्ता कस्ते पुत्रः', 'कर-धृत-कम्पितशोभित दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशा भाण्डं' ॥ इत्यादि।

जो इस प्रकार के कर्म और कर्म फल से विरक्त हैं, उनके ही साम्बन्धिक श्रेय: लाभ के लिये ज्ञान योग है, किन्तु इसके द्वारा चरम मङ्गल प्राप्त नहीं

होता। जैसा कि श्रीमद्भागवत (१०।१४।४) में कहा है,—

> श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
> क्लिश्यन्ति ये केवल-बोध-लब्धये।
> तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
> नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

हे प्रभो, तुम में अहैतुकी भक्ति ही श्रेयः पथ है। जो लोग उसे परित्याग कर भक्ति रहित निर्विशेष केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिये बहुत प्रकार के क्लेशादि सहते हैं, उनकी अवस्था वैसी ही होती है, जैसे भूसी के कूटने से चावल नहीं निकलता; केवल मेहनत ही होती है।

श्रीमद्भागवत के ११श स्कन्ध के "निर्विण्णानां ज्ञानयोगो"—इस श्लोक के बाद ही दिखाई देता है कि कर्म और ज्ञान आत्यन्तिक मङ्गल लाभ का उपाय नहीं है,—

> तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
> मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

मेरी कथा आदि के सुनने से जिनको श्रद्धा हुई है, उन्हीं के आत्यन्तिक मङ्गलोदय हुआ है। कर्म का प्रयोजन केवल कर्म फल में निर्वेद के लिये है, कर्मफल से विरक्त मनुष्यों के लिये कर्म का प्रयोजन नहीं। इसके बाद ही फिर कह रहे हैं—

> अस्मिंल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः।
> ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया॥

कर्म का उद्देश्य विशुद्ध ज्ञान लाभ है। निषिद्ध कर्म त्यागी शुद्धचित्त स्वधर्म के अनुष्ठान में रत मनुष्य इस लोक में वर्तमान रहकर विशुद्ध ज्ञान लाभ करते हैं। 'यदृच्छया' शब्द के द्वारा केवल ज्ञान से भी भक्ति के दुर्लभत्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं, कि भाग्यवश शुद्ध (अर्थात् कर्मयोगादि में अनासक्त) भक्त का सङ्ग प्राप्त होने पर मेरा भक्तियोग प्राप्त होता है। "अतएव दिखाई देता है—शास्त्र में कर्म या ज्ञान का स्वतंत्र कोई मूल्य नहीं। उनके स्वतन्त्र पथ पर चलने से ही त्रयिष्णु मुक्ति या अधःपतन और आत्मविनाश अवश्यम्भावी है। (भागवत का १०।२०।२८ श्लोक देखना चाहिये।)

किन्तु भक्ति के अधिकारी इस प्रकार भोगकामी कर्मी की तरह कर्म और कर्म फल में आसक्त नहीं होते, दूसरी ओर ज्ञानियों की तरह विरक्त भी नहीं होते; वे ज्ञानियों के सङ्ग के प्रभाव से 'मत्कथादौ' भगवान की कथा आदि में जातश्रद्ध' होते हैं। कुछ आगे चलकर भगवान ने फिर उद्धव से कहा है,—

> तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
> न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥
> यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
> योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि॥
> सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
> स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति॥
> न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
> वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥
> नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम्।
> तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत्॥

ज्ञान और वैराग्य की अपेक्षा भक्तियोग की श्रेष्ठता होने से मेरे भक्तियुक्त और मद्गतचित्त भक्तियोगी के लिये (गीता ६।४७) इस लोक में कर्म तो दूर रहा, ज्ञान और वैराग्य भी प्रायः मङ्गलमय नहीं होता। स्वधर्माचरणादि को 'कर्म' कहा जाता है। आत्मा अनात्मादि का तत्त्वबोध ही ज्ञान और विषयादि की वितृष्णा ही वैराग्य है। कर्म, ज्ञान और वैराग्यादि में जिनकी आसक्ति है, वे एकमात्र कृष्ण की आशा नहीं करते, वे समझते हैं कि निरपेक्षा भक्ति में कुछ कम सामर्थ्य है; ऐसा ही समझ और वैराग्य द्वारा उसे पूरण करने की इच्छा करते हैं। ये भगवान् की कृपा के अविश्वासी एकान्त शरणागत नहीं हैं।

(क्रमशः)

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ; बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिह

(१४) श्रीगोपालजी मठ; कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाइ गौरांग मठ; बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
अगस्त्यकुण्ड, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० ४३ हनुमान रोड, न्यू देहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपुरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकोंदा चीरकुण्डा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

(३१) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ
कर्बुर, वैष्ट गोदावरी, मद्रास

(३२) ग्वालपाड़ा प्रपन्नाश्रम, आसाम

(३३) त्रिदण्डी-गौड़ीय मठ भुवनेश्वर, पुरी

(३४) श्रीसारस्वत-गौड़ीय मठ हरिद्वार

Registered No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)
२—श्रीशिक्षादशकमूलम —सटीक ।)
३—श्रीमध्वग्रन्थसारांशवर्णनम =)
४—श्रीसिद्धान्तसरस्वतीदिग्विजय: ॥
५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचय: -)
६—श्रीतत्त्वसूत्रम ।)

संस्कृत बँगला अक्षरों में

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम २)
२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत-भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)
३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत खंडों में प्रकाशित प्रति खंड १)
५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द २)
६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्रीरूपगोस्वामी प्रभु-कृत उपदेशामृतसहित ।=)
७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बँगला अनुवाद सहित ॥)
८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित १)
९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
१०—सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)
११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी-कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)
एकादश स्कंध से प्रति खंड ।=)
१२—युक्तिमल्लिका गुणसौरभ वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

बंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित =)
१४—नवद्वीपशतक बंगला अनुवाद -)
१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत =)
१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती-कृत =)
१७—नवद्वीपभावतरंग ।)
१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)
१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद कृत २)
२०—भक्तिमंजरी ।)
२१—शरणागति -)
२२—कल्याणकल्पतरु -)॥
२३—गीतावली -)
२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
२५—वैष्णवमंजुषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)
२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि कृत ॥=)
२७—जैव धर्म २)
२८—साधककंठमाला ।)
२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ५)
३०—महाप्रभु की शिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ४)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by B. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow

वर्ष २] श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः [संख्या १६

भागवत

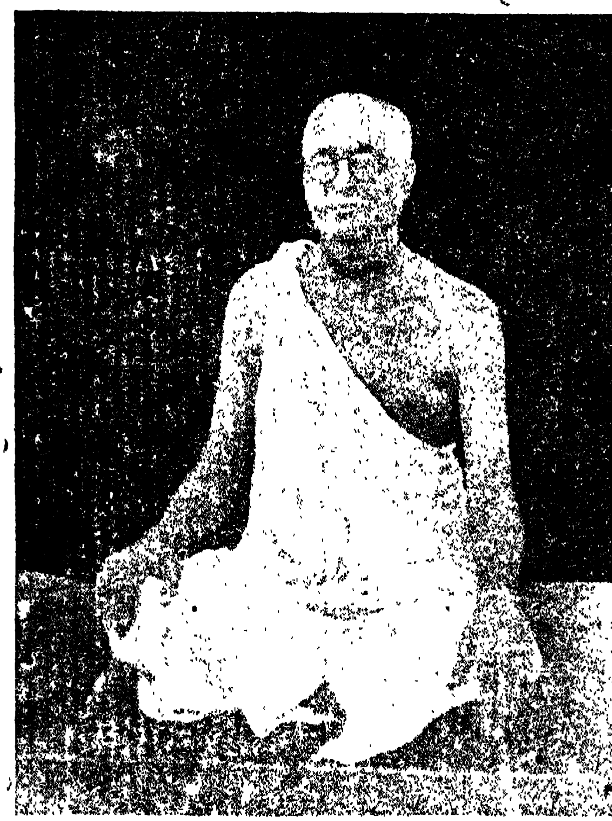
एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

22 nd July. 1933

श्रीधर कृष्णपक्ष गौराब्द ४४७

श्रावण अमावास्या संवत् १९९०

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥



क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा ।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा ॥

ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्तसरस्वती
गोस्वामी महाराज

प्रति संख्या -) } सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन { वार्षिक सडाक १॥)

Editor:—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा ~) है

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन छपाई की दर नीचे लिखी है:—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम	८)
आधा ,, १ ,,	५)
चौथाई ,, ½ ,,	३)
२ इंच ,, ¼ ,,	१॥।)
१ ,, ,, ⅛ ,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये—

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

सेठ रामयश रोड, नरही, लखनऊ.

All communications are to be addressed to—

The Manager 'Bhagwat'
Seth Ramjas Road,
Narhe,
LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भागवत

वर्ष [illegible] | [illegible] मठ, [illegible] | संख्या १६

श्रावण अमावस्या गौराब्द ४४७ सं० १९९० वि०, २२ जुलाई सन् १९३३ ई०

लण्डन में प्रचार

गत १० वीं जून १९३३ शनिवार को श्रीपाद बन महाराज ने International New Thought Alliance की सभानेत्री Mr. Ramsdale Hobble Stocker और उक्त समिति की सेक्रेटरी Miss Ruth Bradshaw के साथ Lancaster Gate मकान में साक्षात् किया। इन लोगों ने जुलाई महीने में होने वाली काँग्रेस में श्रीपाद बन महाराज की वक्तृता की व्यवस्था की है। उस दिन चार बजे Mr. और Mrs. Hunter के साथ बातचीत में पार्थिव गति और पारमार्थिक गति की मूलक आलोचना हुई।

गत १३ वीं जून मङ्गलवार को Rev. Canon Cosgrave M. A. महोदय ने सन्ध्या ४॥ बजे लण्डन गौड़ीय मठ में पदार्पण किया था। आपने संन्यासी महोदयों के साथ भगवान् के पितृत्व, बन्धुत्व, पुत्रत्व और कान्तत्व के सम्बन्ध में बहुत देर तक आलोचना की। ये पहले बिहार प्रदेश में एक कालेज के प्रधान अध्यापक थे। वर्तमान समय आप पादरी का काम करते हैं और अस्सी वर्ष के वृद्ध हो गये हैं। ये बहुत ही सम्मानित पुरुष हैं। विश्व की धर्म नैतिक महासमिति में योगदान करने के लिये आप लण्डन में उपस्थित हुए हैं।

इसी दिन प्राच्य और प्रतीच्य बन्धु-सङ्घ के सम्पादक Mr Lionel Aird B. A. महोदय के साथ भी संन्यासी महोदयों ने बहुत देर तक बातचीत की।

गत १९ वीं जून को सन्ध्या को ६ बजे Mr. A. Corbluth नामक एक जिज्ञासु भद्रपुरुष लण्डन के गौड़ीय मठ में पधारे। उन्होंने अपनी आत्मकहानी कहने के बाद कहा, कि उनके जीवन में आप ने अब तक भगवद्भक्ति की राह में निष्कपट प्रदर्शक का अभाव ही पाया है। उनके पूर्ण आग्रह को देखने से ज्ञात पड़ता है कि वे भगवद्भक्ति की बातों से बहुत ही आनन्दित हुए हैं। आशा है कि भगवदिच्छा से वे शुद्धभक्ति की राह पर अग्रसर हो सकते हैं।

"श्रीकृष्ण-चैतन्य" और उनका समादर

महामहोपदेशक अध्यापक आचार्य श्रीपाद भक्ति

सुधाकर महोदय प्रणीत "श्रीकृष्णचैतन्य" नामक ग्रन्थ के उपोद्घात में तीन श्रेणी के पाठकों का वर्णन है। प्रथम श्रेणी के पाठक उपभोग के लिये ग्रन्थादि पढ़ते हैं। द्वितीय श्रेणी के पाठक ग्रन्थ के दोषों को देखने और दिखाने के लिये पढ़ते हैं। तृतीय श्रेणी के पाठक ग्रन्थ पढ़कर अपने अभीष्ट की सिद्धि प्राप्त करते हैं। उक्त भूमिका में प्रथम दो श्रेणियों के पाठकों की प्रशंसा नहीं की गई है। अनुसन्धान करने से यह तीन प्रकार के पाठकों की श्रेणियाँ दिखाई देती हैं। "श्रीकृष्ण चैतन्य" नामक ग्रन्थ की समालोचना करने से यह न समझना चाहिये, कि सभी लोग अनिन्दनीय श्रेणी में गिने जाने में सफल होंगे। इसलिए परवर्ती काल में ग्रन्थ को पढ़कर कोई कोई ग्रन्थ की समालोचना करने में इधर उधर करते हैं।

भारत के स्थायी सहकारी मन्त्री Sir Samuel Findlater Stewart K. C. B., K. C. I. E., C. S. I. महोदय ने गत १९वीं जून को White Hall से जो पत्र भेजा है, उसका तात्पर्य इस प्रकार है:—

उन्होंने लिखा है, कि "श्रीकृष्णचैतन्य" ग्रन्थ के पढ़ने का सुयोग पाकर वे बहुत ही आनंदित हुए हैं। इस ग्रन्थ के पढ़ने का सुयोग कर देने से उन्होंने विशेष कृतज्ञता भी प्रकट की है। उन्होंने और भी कहा है,—ग्रन्थ बहुत ही सुन्दर रूप में तथा अच्छी परिपाटी के साथ प्रकाशित किया गया है और उसे पाकर वे बहुत ही खुशी हुए हैं। ग्रन्थ के सम्बन्ध में अपनी राय देने से पहले आपने ग्रन्थ को अच्छी तरह पढ़कर समाप्त करने की आवश्यकता बताई है। अपने राजकीय कार्यों की अधिकता और गुरु भार की वजह ग्रन्थ प्राप्ति के स्वीकार-पत्र के भेजने में देर होने से आपने दुःख प्रकाश किया है। साथ ही आपने यह भी लिखा है, कि इस विषय में उनका मन लगा हुआ है।

गत १४ वीं जून बृहस्पतिवार को चार बजे "धर्मज्ञान-प्रसारिणी-सभा" में श्रीकृष्णचैतन्य देव की शिक्षा के विषय में वक्तृता के लिये एक साधारण सभा बैठी। इस सभा-भवन में 17 Bedford Square W. C. I. अवस्थित थे। परम माननीय Marquess of Zetland P. C. G. C. S. I. ने सभापति का आसन ग्रहण किया। बहुतेरे सज्जन इस सभा में शामिल हुए थे। इनमें Col. Sir Francis younghusband K. C. S. I. K. C. I. E., Sir Denison Ross C. I. E., Ph. D. और इनकी सहधर्मिणी, Dr. Mrs. Rhys Davids M. A., D. litt. Dr. Marr M. A. Ph. D., Dr Page (Buddhist mission के) Miss Sharples, Mrs. George और Begum shaw Nawaz आदि विशिष्ट महिलाएँ और भद्र मनुष्यों के नाम उल्लेखयोग्य हैं। सभा के प्रारम्भ में Marquess of Zetland ने वक्ता का परिचय देते हुए कहा, कि श्रीकृष्णचैतन्य देव की अभ्युदय भूमि श्रीधाम मायापुर नवद्वीप नगर संस्कृत विद्या का केन्द्र था और अब भी है। वक्तृता के अन्त में उन्होंने श्रीपाद वन महाराज को अपनी वक्तृता के विषय में अलौकिक अभिज्ञ और पूर्ण पारदर्शी बताते हुए उनकी प्रशंसा की; आपने और भी कहा, कि स्वामीजी अपनी वक्तृता लिख देंगे तो उनका लिखा हुआ वह प्रबंध साधारण पाठकों के लिये प्रकाशित करा दिया जाय, जिससे इंगलैंड के दार्शनिक लोग पढ़कर उस पर विचार कर सकें। सभापति महोदय ने और भी प्रकट किया कि स्वामीजी अपनी वक्तृता के प्रतिपाद्य विषय में एक निष्कपट वक्ता हैं। वक्तृता के अन्त में Sir Denison Ross ने सभापति Marquess of Zetland महोदय को धन्यवाद प्रदान किया। वक्तृता के आरम्भ में श्रीपाद वन महाराज का मङ्गलाचरण और इसके बाद वक्तृता को सुनकर श्रोतागण बहुत ही आनंदित हुए। लण्डन की साधारण सभा में श्रीपाद वन महाराज की यह प्रथम वक्तृता हुई। इससे प्रचारक लोगों को विशेष आशा हुई है।

उसी दिन (१४ वीं जून को) सन्ध्या साढ़े छः बजे श्रीपाद वन महाराज ने कुछ देर के लिए Oxford Group Movement में भी वक्तृता दी।

(एडवांस ... जून १९३३ का तात्पर्य)

गौड़ीय मिशन

उपदेशक व्यक्तियों में और भी समादर-प्राप्त

लण्डन, २० वीं जून

प्रचार के उद्देश्य से लण्डन पहुँचे हुए कलकत्ता गौड़ीय मठ के प्रचारकगण ने Marquess of Zetla-nd से मुलाकात की। मार्कुइस महोदय प्रचारकगण से त्रिदण्ड संन्यास गौड़ीय वैष्णव-धर्म, विशेषतः गौड़ीय-सम्प्रदाय के वर्तमान मूल आचार्य प्रवर परमहंस श्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद के विषय में पूछ-ताछ कर और इंगलैण्ड में भविष्यत् में उनके आगमन का अनुमानिक समय जानकर बहुत ही आनन्दित हुए।

लार्ड जटलैंड महोदय ने उनको ऋषी और त्यागियों से पृथक् बहुत ही धर्मपरायण माना है और उनके प्रचार-कार्य के लिये सहायता देने का वचन दिया है।

इसके बाद प्रचारकगण ने भारतीय कांग्रेस कमिटी के सभापति मार्कुइस आफ लोदियन से भी मुलाकात की। इन्होंने मिशन के काम में विशेष आग्रह प्रकट किया है और श्रीगौड़ीय मठ के सन्यासियों के साथ एक घण्टे से भी अधिक देर तक बातचीत की। लार्ड लोदियन का यह प्रश्न था, कि गौड़ीय वैष्णव धर्म की तुलना में बौद्ध धर्म, शङ्कर का मायावाद और भारत के अन्यान्य बहुतेरे सम्प्रदायों का स्थान क्या है?

बातचीत के बाद लार्ड लोदियन ने सहानुभूति प्रकट किया और यह भी राय दी, कि यदि प्रचारकगण ग्रेट ब्रिटेन निवासियों की आत्मा को जागृत कर धार्मिकता के आदर्शों से उन्हें अनुप्राणित कर सकें, तो ब्रिटिश जाति का बड़ा उपकार हो।

लार्ड लोदियन अन्य क्षमता प्राप्त मनुष्यों से प्रचारकगण का परिचय करायेंगे। वे विश्वविद्यालय और पार्लियामेण्ट के हाउस आफ कामन्स में वक्तृता की व्यवस्था कर रहे हैं।

('अमृत बाज़ार पत्रिका' २७वीं जून १९३३ का तात्पर्य)

श्रीगौड़ीय मठ के प्रचारकगण का लण्डन में विशेष सम्मान

लण्डन, २६वीं जून

लन्दन में अवस्थित श्रीगौड़ीय मठ के प्रचारकगण ने हाल में ब्रिटिश जन साधारण के मन को अपनी ओर विशेष आकर्षित किया है। लण्डन के बहुतेरे समाचार पत्रों के संवाददातागण नित्य इनसे मुलाकात करते हैं। वक्तृता देने के लिये ग्रेट-ब्रिटेन, आयर्लैण्ड के विश्वविद्यालयों और फ्रांस, जर्मनी आदि के विशिष्ट विश्वविद्यालयों और पाश्चात्य देश की बहुतेरी सुशिक्षित प्रधान समितियों से आमन्त्रण आने की विशेष सम्भावना दिखाई देती है। इस समय तक इन लोगों को निम्नलिखित विश्वविद्यालयों से आमन्त्रण मिल चुका है:—(१) केम्ब्रिज विश्वविद्यालय, (२) आक्सफ़ोर्ड, (३) एडिनबरा, (४) लिवरपूल, (५) लीड्स, (६) साउदाम्पटन, और (७) साउथ वेस्ट एक्सिमटर।

श्रीभक्तिविनोद गोस्वामी

पूर्व प्रकाशित से आगे

सन १८८७ ई० में ठाकुर भक्तिविनोद ने माथुर मण्डल में यमुना के तट पर किसी एकान्त वन में भजन करना निश्चित किया। इसी समय एक दिन रात में श्रीमन्महाप्रभु ने स्वप्न-योग से उनसे कहा- "तुम वृन्दावन जाओगे? किन्तु तुम्हारे घर के निकटवर्ती श्रीधाम नवद्वीप में जो काम पड़ा हुआ है उसके लिए क्या सोच रक्खा है?" इस स्वप्न को देखकर ठाकुर भक्तिविनोद ने अपना पूर्व संकल्प त्याग दिया और अपने प्रभु के आदेश का पालन करने में विशेष रूप से लग गये। आप कृष्णनगर गये और

वहीं पर रहकर प्रभु के लीला-स्थानों को देखने के लिये तरह तरह की खोज करने लगे। उस समय स्थानीय जन समुदाय घोर विलास में इतना लिप्त था कि ठाकुर भक्तिविनोद की अत्याग्रह चेष्टा में तनिक भी सहायता न पहुंचा सका। एक दिन संध्या के पश्चात् घोर अंधकारमयी रात्रि में ठाकुर भक्तिविनोद गंगाजी के तट पर एक मकान की छत पर खड़े और वहां से गंगाजी की उत्तर दिशा में उन्हें एक आलोकमय अलौकिक मकान दिखाई पड़ा। खोज करने के बाद मालूम हुआ कि उसी ओर बल्लालदीघी नामक एक ग्राम है। दूसरे ही सप्ताह में बल्लालदीघी में रात्रि बिता कर पैदल ही उन सब आलोकमय स्थानों में भ्रमण किया और पुराने लोगों से यह मालूम कर लिया कि वही श्रीप्रभु की प्रकट भूमि है। बाद में ठाकुर परमानन्द और नरहरि चक्रवर्ती की परिक्रमा, श्रीभक्तिरत्नाकर और श्रीचैतन्यभागवत की आलोचना करते समय भी उन्हें इन सब ग्रामों का उल्लेख दिखाई पड़ा। इसी समय श्रीनवद्वीपधाम-माहात्म्य की रचना की गई। बंगला १३०० सन के माघ महीने में कृष्णनगर की एक सभा में श्री-नवद्वीपधाम-प्रचार की व्यवस्था हुई और श्रीमायापुर में सेवा प्रकाश द्वारा निश्चित हुआ। इसी साल फाल्गुनी पूर्णमासी को श्रीमायापुर योगपीठ में श्रीगौरविष्णुप्रिया श्रीमूर्ति, श्रीश्रीराधागोविन्द-युगल-विग्रह के साथ महासमारोह से प्रतिष्ठित हुए।

ठाकुर भक्तिविनोद अपनी स्वलिखित जीवनी के २०२ पृष्ठ में इस प्रकार लिखते हैं—"प्राचीन नवद्वीप का प्रकाश होने पर आधुनिक कुलिया नवद्वीप में विकट द्वेष भाव उत्पन्न हो गया। लोग तरह तरह की बातें करने लगे, गौरांग भक्तों को भाँति भाँति की गालियाँ देने लगे, परन्तु जिन्होंने गौरांग के चरणों में अपना शरीर समर्पित कर दिया है वे भला शैतानों की बातों से कैसे हृदय से मस्त हो सकते थे। वे बहिर्मुख लालची मनुष्यों की बातें न सुनकर देव सेवा तथा मन्दिरों की स्थापना में लग गये। आपने अपनी प्रकाशित श्रीसज्जन तोषिणी पत्रिका के आठवें भाग में (बँगला सन् १३०३ में प्रकाशित) इस [illegible] और भी कुछ लिखा है, आश्चर्य का विषय यही है कि बहुत दिनों से श्रीमायापुर की यथार्थता छिपा कर कुछ मनुष्य धन-दौलत के संग्रह में लगे हुए थे। जिस मुहूर्त से श्रीमायापुर का माहात्म्य प्रकाशित होने लगा उसी मुहूर्त से वे सब कलि के चेले नाना भाँति तथा नाना प्रकार के छल से ग्राम के माहात्म्य को छिपाने की चेष्टा करने लगे किन्तु परमात्मा और उनका सत्य प्रकाशित है। इसीलिए दो ही वर्षों में उनकी लीला देख [illegible] जगत् अब उनकी बातों का विश्वास नहीं करता। अतएव वे स्वयं हतबुद्धि हो गये हैं। कलियुग का कैसा खेल है! श्रीमायापुर को [illegible] कहकर उन्होंने उसमें अपनी अनेक क्रियाओं को आरम्भ कर दिया। परन्तु लोगों ने अब तक उनकी चालों को पहिचान लिया और सब लोग उनकी हँसी हो रही है।" (स० तो० ८।१०)

सन १८९६ ई० के [illegible] महीने में ठाकुर भक्तिविनोद श्रीश्रीहरिनाम प्रचार करने के लिये त्रिपुरा जिला के भिन्न भिन्न स्थानों में और दूसरे साल [illegible] तहसील व [illegible] आदि अनेकों स्थानों में गये थे। इसी समय श्रीरामानुज सम्प्रदाय के [illegible] श्रीराघवाचार्य नामक एक पंडित के "वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्" श्लोक के अनुसार वर्णाश्रम के श्रेष्ठ अभिधेय व को स्थापना करने की चेष्टा करने पर ठाकुर भक्तिविनोद ने उन्हें गौर के बताये हुए कीर्तन की सर्वश्रेष्ठता भली-भाँति समझा दी।

ठाकुर भक्तिविनोद अपनी व्रज-विजय के बाद सर्वदा ही नाम-भजन में लगे रहते थे। फिर भी शुद्ध भक्त सज्जनों ने उनके करकमल-लिखित अनेक ग्रंथों को प्राप्त कर ही लिया था। उनमें से जैव-धर्म, भागवतार्क-मरीचिमाला, भजन रहस्य, श्रीहरिनामचिन्तामणि का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

ठाकुर भक्तिविनोद ने दुःसंग त्यागने, शुद्ध वैष्णवाचार का आदर्श प्रदर्शित करने तथा जड़ासक्त प्राकृत सहजिया मतों की विषय प्रवृत्ति दूर करने की इच्छा से सन् १९०८ ई० में प्रकाश्यरूप से

भागवत धर्म निष्ठा ग्रहण कर लिया। इस समय आपने 'स्वनियमद्वादशकम्' नामक एक ग्रंथ की रचना की थी। हम ठाकुर भक्तिविनोद की भाषा में देखते हैं कि,—

"वैष्णव चरित पवित्र सदा है जो इसकी निन्दा करते।
भक्तिविनोद मौन हो उनसे नहीं कभी कुछ भी कहते॥"

इसीलिए ठाकुर ने नित्यकृष्ण बहिर्मुख जगत की स्वाभाविकी रुचि देखकर इस बार साधारण जनता के सामने व्यावहारिक दृश्य प्रकाश करने के बहाने मौनावलम्बन करने की इच्छा प्रकट की। हमारे प्रभुपाद ने लिखा है:—

"श्रीगौर विमुख भाव राजाकर्षण प्रेमाभाव,
भक्तिविनोद जब देखते संसार में;
देख देख विवर्जित कृष्णभक्ति हीनताहि,
मौनी बने अत्याधिक दुःख के प्रहार में।
'जड़ता को छोड़ो नहीं छोड़ो गुरु ब्रजधाम',
यही बात बार बार कहते प्रचार में;
कृष्णभक्तिहीन जन देख दौड़ी आई जग
कर लो भजन अब दुख सुखकार में।
जानते न मूर्खजन कटु अभिमान वश,
करते हैं अपराध भक्तजन पाय के;
क्षुद्र अधिकार माहिं देखना चहत भक्त,
करें पुनः अपराध धर पै युलाय के।
जीवों की दुर्गति देख स्वतः भक्तराज बोले,
भलीभाँति सोच अत्याचार को बढ़ाय के;
शुद्ध भक्ति परचार तथा गौर-हरि-काज,
करो शुद्धाचार आदि सबको दिखाय के।
सहसा किसी ने कहा दास की सेवा ही लिए,
गोरीधन कृष्ण जी की कथा का ही कीरतन।
सुधा बरसानेवाली मन सरसानेवाली,
वृत्ति के सहारे करो परचार अतिछन।
विनोद चरण-रज ध्यान धर करी मैंने,
सुधासम वृत्ति की ही अनुवृत्ति प्रनयन,
अष्टलोक हुए ज्योंही त्योंही जीत लिया मैंने,
भकति विनोदवर से ही सारा मज बन।"

१३२१ बंगाब्द की ६ वीं आषाढ़ को दोपहर के समय श्रीश्रीगदाधर पण्डित गोस्वामी की अप्रकट तिथि को रूपानुग गौर जनों में श्रेष्ठ ठाकुर भक्तिविनोद रूपानुगजनों के एकान्त ईप्सित राधाकुण्ड तटस्थित स्वानंद-सुखद-कुंज नामक माध्याह्निक कृष्ण विहार-स्थली में विजयी हुए।

हमने पहिले ही श्रीठाकुर भक्तिविनोद को महावदान्य श्रीगौरसुन्दर की असन्दोदय दया शक्ति के अवतार के रूप में निर्देश कर दिया है। पाठकगण आश्चर्य से पूछेंगे कि ठाकुर भक्तिविनोद ने संसार में किस प्रकार की दया का वितरण किया है? इसके उत्तर में हम अपनी ओर से कुछ न कहकर स्वयं प्रकाश वैष्णवाचार्य ने अपने को जिस प्रकार लिखा है हम उसी को उद्धृत करेंगे। ठाकुर भक्तिविनोद ने श्रीचैतन्य भागवत के एक छन्द का उल्लेख करके दया के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है।

"बिना भक्ति के कर्म में, फल न लहत जन कोय।
परहिंसा जिसमें बसे, कर्म भक्ति बिन सोय॥"

दयाहीन मनुष्य भक्त नहीं हो सकता। संसार में भक्तिहीन जो दयालुता दिखाई पड़ती है वह केवल चित्त की आर्द्रता का संकुचित रूप छोड़कर और कुछ नहीं है। संकोच के दूर होते ही भक्ति और जीव में दया एक ही सी प्रतीत होती है। अतएव चैतन्यभागवत में महाप्रभु का उपदेश यही है:—

"प्रभु कहते हैं ब्राह्मणों, छोड़ बहु अभिमान।
सकल भूत पर कर दया, भजो कृष्ण भगवान॥"

समस्त भूतों पर दया तीन प्रकार की है। जीव के स्थूल देह से सम्बन्ध रखती हुई जो दया की जाती है वह सत्कर्मों में गिनी जाती है। भूखे को भोजन कराना, रोगी को दवा देना, प्यासे को जल पिलाना, जाड़े से काँपते हुए को आश्रय देना—ये सब देहसम्बन्धी दया में शामिल हैं। विद्या का दान ही मन सम्बंधी दया है किन्तु जीव की आत्म सम्बन्धी दया ही सर्वश्रेष्ठ है। उसी दया से ही जीवों को कृष्णभक्ति देकर संसार के दुःख से उद्धार करने का यत्न किया जाता है। कर्मकाण्डीय व्यक्तिगण जीव के नित्य मंगल की उतनी चिन्ता नहीं करते जितनी देह सम्बन्धी तथा मन संबंधी दया की चिन्ता करते हैं और उसे शुभ मानते हैं। ज्ञानकाण्डीय व्यक्तिगण मन सम्बन्धी दया का ही

अधिक आदर करते हैं। कुछ भक्तगण भक्ति के प्रचार से जीव के नित्य मंगल साधन की विशेष चेष्टा करते हैं। दया कदापि भक्ति से भिन्न नहीं है। मूलवृत्ति प्रेम है। वही प्रेम कृष्ण में मिल जाने पर भक्ति, भक्तजन से मिलने पर मित्रता, अमंगल प्राप्त जीव से मिलने पर दया, और विद्वेषी अर्थात् दृढ़ असद् व्यक्ति से मिलने पर उपेक्षा के रूप में ही पाया जाता है।" (भा: तो: [illegible])

ठाकुर भक्तिविनोद इन्हीं चारों प्रकार के भावों में ही प्रेम याजन करके तथा संसार में भक्तिविनोदन के कार्य का आदर्श स्थापन करके कृतकृत्य हो गये हैं और उनका नाम भी सार्थक हो गया है। एक ओर इनमें जिस प्रकार की श्रीगौरकृष्ण के प्रति अपनी अटल प्रेम भक्ति पाई जाती है उसी प्रकार दूसरी ओर शुद्ध भक्त के प्रति मित्रता, अमंगल प्राप्त जीवों के प्रति अमन्दोदय दया तथा भक्ति और भक्त-विद्वेषियों के प्रति उपेक्षा एवं दया के अनेक उत्तम दृष्टान्त पाये जाते हैं।

ठाकुर भक्तिविनोद के गौरकृष्ण प्रेम का आदर्श

ठाकुर भक्तिविनोद एकान्त गौरैकनिष्ठ गौर जन होने पर भी श्रीगौरांग सुन्दर का परात्परत्व, अवतारित्व अथवा स्वयं रूपत्व तथा गौरमंत्र में गौरपूजा आदि सभी भांति स्वीकार करने पर भी आप श्रुति-स्मृति पुराणादि शास्त्र विधि का उल्लंघन करके उत्पात स्वरूपिणी एकान्तिकी गौर-भक्ति दिखाने नहीं गये। उन्होंने गौरसुन्दर के अन्तरंग निजजन श्रीस्वरूप रूप के अनुगत होकर भी गौरैकनिष्ठा का परिचय प्रदान किया था। उन्होंने गौर कृष्ण में भेदभावी गौरभजा या गौरनागरी मत को "गौरभक्ति" कहकर कदापि स्थान नहीं दिया। यह बात उन्हीं की लेखनी से स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो जाती है। आप लिखते हैं,—"आजकल कुछ मनुष्यों में इस प्रकार का विश्वास जमता जा रहा है कि कलिकाल में श्री गौरांग सिवा और दूसरी गति नहीं है। उनका नामस्मरण और उनके मंत्र की उपासना छोड़कर दूसरी और उपासना नहीं [illegible] ग में गौर के बिना गति नहीं है—यह [illegible] अक्षरशः सत्य है किन्तु कलिकाल में श्रीगौरांग-चरण का आश्रय लेकर जो कृष्ण भजन करते हैं, संसार में वही धन्य हैं। दुर्भाग्य का विषय यह है कि श्रीगौरांग की दुहाई देकर श्रीकृष्ण-भजन को छोड़ देना जिनका मत हुआ है वे श्रीगौरांग की आज्ञा का पालन नहीं करते। गौर और कृष्ण में कोई भेद नहीं है। जिन लोगों का विचार है कि गौरांग-चरण में आश्रय लेने से कृष्ण के नाम का स्मरण न करना पड़ेगा, उनमें गौर तथा कृष्ण का भेद ज्ञान दिखाई पड़ता है। कृष्णलीला और गौरलीला में कोई भेद नहीं है। दोनों ही लीला एक है। कृष्णलीला में भजन-विषय बतलाया गया है और गौरलीला में उसी भजन की प्रणाली बतलाई गई है। प्रणाली छोड़कर भजन और भजन छोड़कर केवल प्रणाली कदापि सम्पूर्ण नहीं हो सकती। श्रीगौरांग-चरित्र जितना ही पढ़ा जाता है उतना ही कृष्णलीला में प्रेम बढ़ता है। श्रीकृष्ण-लीला जितनी पढ़ी जाती है उतनी ही गौरलीला की याद आती है। कृष्ण छोड़कर गौर और गौर छोड़कर कृष्ण कदापि भले नहीं जँचते। जब गौरांग को परोपास्य के रूप में माना जाता है उस समय श्रीगौरांग की कृष्णलीला का पूर्णरूप से उदय होता है। ये सब बातें परम गोपनीय होने पर भी इन्हें बड़े दुःख के साथ प्रकट करना पड़ रहा है। "हम गौरभक्ति करेंगे और कृष्ण का नाम तक भी न लेंगे" ऐसे विचार दौरात्म्य में गिने जाते हैं। उसी प्रकार "कृष्ण की भक्ति करेंगे और गौर का नाम तक भी न लेंगे" यह भी महा दुर्भाग्य कहा जायगा। श्रीगौरलीला और श्रीकृष्णलीला दोनों ही कलियुग के जीवों के लिए परमामृत से भरी हुई उद्भूत हुई हैं। श्रीकृष्णशून्य गौर-उपासना एक नई प्रथा है। वह श्रीगौरांग की अनुमोदित नहीं है। देखिये, श्रीगौरांग के परिकरगणों ने किस प्रकार की उपासना की है। श्रीगौरांग को प्राणस्वरूप जानकर श्रीकृष्ण संकीर्तन से श्रीगौरांग को सन्तुष्ट किया है। जो श्रीचैतन्यचरितामृत का उपासना तत्त्व समझ सकते हैं उन्हें फिर कोई

सन्देह नहीं। [illegible] अभक्त गोस्वामी मंडली के उपदेश की अवज्ञा करते हुए जो केवल गोस्वामी हैं उनको एक नई पंथा है यही कहना पड़ेगा।" (स: तो: १।६।१६)

"गौरसुन्दर को कृष्ण से [illegible] भिन्न न समझना। नवद्वीप में अवतीर्ण होकर उन्होंने एक पृथक् भजन लीला दिखाई है इसलिये उन्हें 'नवद्वीप नागर' जानकर ब्रजभजन [illegible] न छोड़ना किन्तु हृदय में ऐसा भाव उत्पन्न करना कि ब्रजस्वामी में [illegible] राधावल्लभ के रूप में एकमात्र भजन के योग्य हैं और शचीनन्दन के रूप में उसी भजनरस के एकमात्र गुरु के रूप में प्रकट हुए हैं। अष्टकालीय कृष्णलीला की उद्दीपक [illegible] गौरलीला को सभी लीलाओं के पहिले स्मरण करना चाहिये। (जैवधर्म ३९ अ)

१—ठाकुर का गौरकृष्णैकनिष्ठा रूपी प्रेम

करूँ न उसका संग कभी जिसमें नहिं भक्ति तुम्हारी,
गौरांग-विरोधी जन की दृष्टि नहीं मुझको प्यारी;
रहूँ न कभी उन स्थानों में भक्ति विरोधी जो हैं,
अप्रिय कार्य भक्ति के मेरा चित्त कदापि न मोहें।
भक्ति विरोधी ग्रंथों को मैं कभी नहीं पढ़ सकता;
भक्ति विरोधी भाव मुझे आकृष्ट नहीं कर सकता,
श्रीगौरांग निषिद्ध धर्म को कभी नहीं मानूँगा,
ज्ञान, भक्ति का बाधक जो है तुच्छ उसे जानूँगा।
समय भक्ति का बाधक हो जो उसे नहीं अपनाऊँ,
भक्ति हीन आत्मीय जनों को मैं नित दूर भगाऊँ,
भक्ति बाधिका इच्छा को भी जगह नहीं मैं दूँगा,
भक्ति हीन के लिये अन्न को जग में कभी न लूँगा।

२—ठाकुर का शुद्ध वैष्णवों में मित्रता रूपी प्रेम

निःसंग या प्राकृत भजन क्या है?

"शास्त्र में निःसंग होने का जो उपदेश किया गया है—वह केवल साधु संग को ही कहा जाता है। * * * केवल ग्रंथ-चर्चा, अप्राप्त प्रेम व्यक्ति का उपदेश और शारीरिक योगादि द्वारा प्रतिष्ठा की आशा कदापि दूर नहीं हो सकती। विशुद्ध वैष्णव-संग और वैष्णव सेवा से ही वह निश्चित रूप से दूर हो सकती है। हम विशेष यत्न के साथ विशुद्ध वैष्णव को खोज कर उनके संग तथा उनकी सेवा करेंगे। यही हम लोगों का प्रधान कर्तव्य है। वैष्णव के संग से हम लोगों के हृदय में दया का उदय होगा और [illegible] हो जायगी। हृदय निर्मल होने पर उसी साधु चरित्र के प्रेम सूर्य की किरणें हमारे हृदय में पड़ेंगी, फल स्वरूप हमारे हृदय में भी प्रेम की मात्रा बढ़ जायगी। इस उपाय को छोड़ कर दूसरा और उपाय नहीं है। साधु संग का यही स्वाभाविक उपाय है। अन्य प्रकार के सभी यत्न विफल हो जाते हैं।" (जैव धर्म [illegible] अध्याय और स: तो: [illegible])

३—ठाकुर की शुद्ध भक्ति-प्रचार रूपी [illegible] दया

धर्म एक है या अनेक?

"वैष्णव धर्म को छोड़कर और दूसरा धर्म नहीं है। दूसरे जितने प्रकार के धर्म हैं या होंगे वे सभी वैष्णवधर्म के सोपान या विकृत रूप हैं। सोपान होने के कारण उनका यथोचित सम्मान करना चाहिये। विकृत रूप होने पर द्वेषहीन होकर अपने भक्ति तत्त्व की आलोचना करनी चाहिये। किसी दूसरे पंथ की निन्दा न करनी चाहिये। जब जिसके अच्छे दिन आयेंगे तब वही सरलता से [illegible] हो जायगा, इसमें संदेह नहीं।" (जैवधर्म ८वाँ अध्याय)।

विष्णु की उपासना ही क्या शुद्ध वैष्णवधर्म है?

"पंच उपासना के मध्य जो विष्णु की उपासना है उसमें दीक्षा तथा पूजा आदि समस्त विष्णु विषयक हैं। किन्तु [illegible] विषयक होने पर भी वह शुद्ध वैष्णवधर्म नहीं है। इस प्रकार के विद्ध वैष्णवधर्म को पृथक् करने से जिस शुद्ध वैष्णवधर्म का उदय होता है वही अकृत्रिम वैष्णवधर्म है। कलिकाल के दोष से अनेक मनुष्य शुद्ध वैष्णवधर्म को न समझकर विद्ध वैष्णवधर्म को ही वैष्णवधर्म कहते हैं।" (जैवधर्म ९ वाँ अध्याय)।

वैष्णवता क्या वंश परम्परागत है?

सांसारिक व्यवहार निबाहने के लिये वर्णधर्म

या जातिधर्म चल रहा है। उससे परमार्थधर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। परमार्थधर्म सर्वदाही व्यक्तिनिष्ठ रहता है। ... "वैष्णव वंश" के नाम से किसी अर्थ का बोध नहीं होता। वंश परम्परा के कारण किसी वंश का हर एक मनुष्य वैष्णव होगा यह आवश्यक नहीं है। हम देखते हैं कि अनेक वैष्णव वंशों में अनेकों कुलकलंक पैदा होते हैं और दानवों की भाँति व्यवहार करते हैं। पुनश्च चाण्डाल और म्लेच्छ वंश में अनेक महापुरुष उत्पन्न होते हैं जो कि शुद्ध भक्ति के प्रभाव से वैष्णव हो जाते हैं। वैष्णवाचार्यों के वंश में भी अनेक अवैष्णव पाये जाते हैं और नितान्त अधार्मिकों के वंश में बहुत से वैष्णवों का जन्म हुआ है। अतएव "वैष्णवजाति" या "वैष्णवधर्म" या "वैष्णवाचार्यवंश" के नाम से हम जो सम्मान देखते हैं, उसमें वैष्णवधर्म का गौरव नहीं होता बल्कि अवैष्णवता का साहस बढ़ जाता है। स्वार्थपरता और अयोग्यता ही इसका मूल है।" (सः तोः ६। ६। २)।

"गोस्वामी वंश में जन्म ग्रहण करने पर भी हम सरल गौर भक्ति अर्जन नहीं कर सकते। अभ्यागत वैष्णवों के निकट भेष धारण करने पर भी हम केवल संसार की उपासना करते रहते हैं। कलियुग ही हम लोगों के सब उत्पातों का एक मात्र कारण है। वही हम लोगों को धोखा देता है।"

"आदि में मंत्राचार्य गोस्वामी महोदयगण अपने अपने चरित्र को निर्दोष बनाने का विशेष प्रयत्न करें। परस्त्री, परधन, परसम्पत्ति—इन सब बातों का तनिक भी लोभ न करें। जो वास्तव में वैष्णव हैं, वे स्वभावतः उन सब बातों में लिप्त नहीं होते। पाखण्डी और धोखेबाज़ ही "मंत्राचार्य" पद के बहाने विविध प्रकार के पाप करते रहते हैं।" (सः तोः ५। १०। १६१)।

कृष्ण-नाम भोगियों के लिये क्या रोजगार की वस्तु है?

"हरिनाम बेचकर पैसा संग्रह करना और उसी पैसे से जीविका चलाना नितान्त अन्याय और भक्ति-विरुद्ध कार्य है। इससे मंत्र देनेवाले और मंत्र सुननेवाले अर्थात् ... को ही प्रेम-फल-प्राप्ति की सम्भावना नहीं रहती बल्कि उल्टा पाप की मात्रा बढ़ती जाती है। पैसा हरिनाम का मूल्य नहीं है। श्रद्धा ही एक मात्र इसका मूल्य है। अतएव श्रद्धा पूर्वक नाम कीर्तन तथा श्रवण करना ही प्राणिमात्र का उचित कर्म है।" (सः तोः ८। ५। २५२)

प्रचारक के योग्य कौन है?

"शुद्ध भक्ति क्या है इसका ज्ञान प्राप्त कर जो सज्जन बिना किसी अपराध के नाम रूपी रस का सेवन करते हैं वही वास्तव में प्रचारक के योग्य हैं। प्रचारकों को अपराधों के नाम भली भाँति जान लेना चाहिये। उन्हें भली भाँति जान लेने से वे कदापि पाप न करेंगे और उपयुक्त नाम प्रचारक हो जायँगे। नाम-प्रचार के साथ ही साथ अपराधों से सदा बचे रहने का उपदेश भी करना होगा नहीं तो प्रचारकगण स्वयं अपराधी हो जायँगे।" (सः तोः १०।१।२४)।

प्रकृत मानव धर्म क्या है?

"केवल वैष्णव का ही सम्मान होना। 'वैष्णव-सन्तान' यदि शुद्ध वैष्णव हों तो उनकी भक्ति की उच्चता सम्मान की उच्चता की अधिकारिणी हो सकती है। 'वैष्णव-सन्तान' यदि व्यावहारिक मनुष्य हों तो व्यवहारिक मनुष्यों में ही उनकी गणना करनी चाहिये। उन्हें वैष्णव कहकर वैष्णवों में गिनती करना अथवा वैष्णवों की भाँति उनका सम्मान करना सर्वथा अनुचित है। जो वास्तव में वैष्णव हों उन्हें वैष्णवोचित सम्मान की दृष्टि से देखना चाहिए। जो सच्चे वैष्णव नहीं हैं उन्हें मानवोचित सम्मान की दृष्टि से देखना उचित है। दूसरे का सम्मान न करने पर कोई भी मनुष्य हरिनाम का अधिकारी नहीं हो सकता।" (जैवधर्म ८ वाँ अध्याय)।

कलि के सेवक कौन हैं?

"कुछ आदमी कपट भक्ति दिखाकर धन-संचय करते हैं। हरिनाम-कीर्तन अच्छा काम है यह दिखाकर हरि-संकीर्तन का वृन्द बनाकर कुछ मनुष्य लोग, महामारी तथा अन्यान्य पापों की निवृत्ति के उद्देश्य से स्वार्थ-साधन की इच्छा करते

नगर-... ने ... कर्म काण्डियों ने अर्थप्राप्तिमूलक ... करके "कृष्णार्पणमस्तु" कहकर एक कपट पंथ की सृष्टि की है। नास्तिक गण शून्य या शून्यप्राय कल्पित ब्रह्म की प्रतिष्ठा करके अपने आपको धार्मिक के नाम से प्रसिद्ध करना चाहते हैं। संसार में प्रत्येक दिन इस प्रकार की कपट क्रियाएँ चल रही हैं। इस पर उन सबों का कहना है कि भक्ति वस्तु का ढोंग भी अच्छा है। इसी उपदेश से वे सब कपट वैष्णवों की संख्या बढ़ा कर कलियुग की सेवा कर रहे हैं।" (सज्जन तोषणी ०)।

शुद्ध भक्ति के साधक की निरपेक्षता किस प्रकार की है?

"केवल दीक्षादि द्वारा पृथक भक्ति-अंग का अनुष्ठान करने से ही श्रीकृष्ण प्रसन्न होंगे, यह कोई बात नहीं है। अनन्य भक्ति में जिनकी अनन्य श्रद्धा है वही प्रभु की प्रसन्नता लाभ कर सकते हैं। जिनके हृदय में ऐसी श्रद्धा उत्पन्न हुई है वही शुद्ध भक्ति के पथ में दृढ़ हो सकते हैं। जहाँ पर शुद्ध भक्ति की चर्चा नहीं होती वहाँ पर वे न जाते हैं, न बैठते हैं। जहाँ शुद्ध भक्ति की आलोचना होती है वहाँ वे बड़े हर्ष के साथ अवस्थान करते हैं। सरलता, दृढ़ता और एकान्त वास ही शुद्ध भक्त का स्वभाव है। लोगों को प्रसन्न करने की इच्छा से वे कदापि भक्ति विरुद्ध बातों में सम्मति नहीं देते। ऐसी दशा में शुद्ध भक्तगण सर्वदा निरपेक्ष रहते हैं। आजकल ऐसे अनेक मनुष्य हैं जो इस प्रकार के अपराधों से नहीं डरते। भक्त को देखते ही आनंद के आँसू बहाने लगते हैं कभी कभी कथा आलोचना की भी नौबत आ पहुँचती है और जब कभी आध्यात्मिक सभा में आध्यात्मिक बातों की चर्चा होती है, वह उसमें सहायता पहुँचाने का यत्न करते हैं। विषयाविष्ट होकर फिर विषय-चेष्टा में नितान्त पागल का सा बर्ताव करते हैं। प्यारे पाठको! इस प्रकार के मनुष्यों की कैसी निष्ठा हो सकती है? हमारे विचार में प्रतिष्ठा लाभ की आशा के निमित्त ही वे भक्तों के निकट भक्ति-भाव के लक्षण दिखाया करते हैं। किसी स्थान में प्रतिष्ठा लाभ की इच्छा और कहीं पर किसी अन्य पार्थिव पदार्थ के लालच के अधीन होकर वे इस प्रकार के बहुरूपी व्यवहार करते हैं। दुःख का विषय यह है कि उस प्रकार की शिक्षा देकर वे शुद्ध-भक्ति के प्रति अपराध करते हैं। इतना ही नहीं बल्कि संसार के जीवों का सर्वनाश भी करते हैं।" (सः तोः ८। १०। २८१)।

दैव वर्णाश्रम धर्म किस प्रकार का है?

शूद्रों के घर में यदि शम, दम आदि से युक्त किसी मनुष्य का जन्म हो तो उसे ब्राह्मण कहकर पुकारना चाहिए अर्थात् जन्म के कारण कोई भी मनुष्य वास्तविक ब्राह्मण या शूद्र नहीं होता केवल व्यवहारिक संज्ञा प्राप्त होता है। इसी प्रकार तत्व-ज्ञान तथा स्वभाव विहीन होने पर ब्राह्मण-संतान को उनके गुण-कर्म के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र कहा जा सकता है। इसे मनुजी ने भी स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।" (तत्व. सूत्र १०८ पृष्ठ)

वर्णाश्रम धर्म का विरोधी आचार कैसा है?

"भक्त संन्यासियों का वर्णाश्रम लोप रूप धर्म प्रवर्तन तथा नेड़ा, बाउल, कर्ताभजा, दरवेश, कुम्भपटिया, अतिबाड़ी, स्वेच्छाचारी कपट भक्त, तथा ब्रह्मवादियों की वर्णाश्रम विरुद्ध चेष्टाएँ अत्यंत अहितकर हैं। इन सब कार्यों से वे जिस पाप को प्रचलित करते हैं वह संसार का नाश कर देने वाला है। सहजिया, नेड़ा, बाउल, कर्ताभजा आदि में जो अवैध स्त्री संसर्ग देखा जाता है वह नितान्त धर्म विरुद्ध है।"

सहजियागणों की चेष्टा किस प्रकार की है?

"चित् शरीर में जीव को जिस गोपी देह की प्राप्ति और कृष्ण-संग का लाभ होता है वह प्रकृति के चौबीसों तत्वों के परे है। उक्त सम्प्रदाय में प्राकृत शरीर से पुरुष और स्त्री में भेद होने पर भी चित् शरीर में सभी स्त्री हैं। बाहिरी संसार में पुरुष और स्त्री सर्वदा ही पृथक् रहें। स्त्रियों के लिए भजन स्थान भिन्न हो। क्योंकि एक साथ रहने पर रस तत्व में प्रवेश किये हुए व्यक्तियों में क्रमशः जड़ स्त्री-पुरुष-गत भाव उपस्थित हो जाता है। साथ

ही सब शास्त्रों के वाक्यों का दूसरा अर्थ लगाकर अपने चरित्र को बचाने की चेष्टा करनेवाले मनुष्य उत्तम साधु पुरुषों की निन्दा करने लगते हैं। इन्हीं गुप्त रसिक जनों में अधिकांश पतित होकर साधारण लम्पट स्त्री पुरुषों की भाँति संसार में घृणा के पात्र बन जाते हैं। कृष्ण-भजन करनेवालों का चरित्र साधुओं का सा होना चाहिए। स्त्रियाँ पुरुषों का संग न करें और न पुरुष ही स्त्रियों का संग करें। जड़-चिन्ता और जड़-धर्म को दूर करके धीरे धीरे चेतन धर्म की उन्नति करने से व्रज में गोपी के रूप में जन्म होता है। गोपी हुए बिना कृष्ण भजन नहीं हो सकता।

(सः तोः २० । ६ । १७)।

केवल शास्त्र पढ़कर क्या शुद्ध वैष्णवता प्राप्त हो सकती है ?

"केवल शास्त्र पढ़कर या सिद्धान्त सुनकर कोई भगवत् प्रसाद लाभ नहीं कर सकता। सभी प्रकार के ज्ञान, कर्म तथा चेष्टाओं का परित्याग कर भगवान् की शरण ग्रहण करना ही विशुद्ध भजन का मूल है। उसी से कृष्णप्रेमरूप परम पुरुषार्थ का लाभ होता है।"

(सः तोः ११ । ७ । २)।

४—ठाकुर भक्तिविनोद की अमर वाणी

"जब तक भक्ति-विपरीत वासना दूर नहीं होती तब तक उन्हें चाहे कितना ही सदुपदेश प्रदान करो; सब व्यर्थ होगा क्यों कि वे एक कान से सुनेंगे और दूसरे से निकाल देंगे। सदुपदेश हृदय तक पहुँच भी न पायेंगे।"

(सः तोः १३ । १ । २)।

"वैष्णव-चरित पवित्र सदा है, जो इसकी निन्दा करते।
भक्ति विनोद मौन हो उनसे, नहीं कभी कुछ भी कहते ॥"

(कल्पतरु)।

"केशव जगत विचित्र बड़ा है।
कर्म विपाक विश्व-वन भ्रमकर देखा रंग बिरंग पड़ा है ॥
जबसे भूले चरण तुम्हारे क्लेश-अग्नि में जलते हैं;
कपिल पतंजलि बौद्ध आदि सब आकर हाथ पकड़ते हैं।
भुक्ति मुक्ति निज मत से कहकर माया-जाल बिछाते हैं;
किन्तु तुम्हारी भक्ति-विमुख हो विषम-विषाद बढ़ाते हैं।
वंचक बड़े इसीसे उनको शीश झुकाते दूर खड़े;
भक्ति विनोद भक्त के पद में समझ सार अब आय पड़े।"

(शरणागति)।

उपदेशामृत

(भक्ति मार्ग के कंटक क्या हैं ?)

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमाग्रहः ।
जनसङ्गश्च लौल्यञ्च षड्भिर्भक्तिर्विनश्यति ॥ २ ॥

अर्थात् अत्याहार, प्रयास, प्रजल्प नियमाग्रह, जनसंग और लौल्य इन छओं से भक्ति का नाश होता है। भक्ति मार्ग के यही कंटक हैं।

अत्याहार का अर्थ है ज्ञानियों का अधिक ज्ञान संग्रह, कर्मफलवादियों का फल-सञ्चय और अन्याभिलापियों की नाना प्रकार पदार्थों को एकत्र करने की वृत्ति। ज्ञानियों की ज्ञानाभ्यास-विधि कर्मकाण्डियों के तपस्या व्रतादि और अन्याभिलापियों के स्त्री-पुत्र-अर्थादि विषय में प्रयास है। ज्ञानियों का शास्त्रीय वितंडा अर्थात् अपना मत स्थापन न करके केवल दूसरों का मत खण्डन करने के लिये पाण्डित्य, कर्म्म-काण्डियों की अनुष्ठानप्रियता और अन्याभिलापियों की इन्द्रियप्रीतिमूलक वाक्यावली प्रजल्प है। मुक्तिप्राप्ति के उद्देश्य से ज्ञानशास्त्र की नियमावली पालन करने की चेष्टा, इस लोक और परलोक में भी सुख भोग-प्राप्ति के लिये कर्म्म-

शास्त्र ... भक्ति, और तात्कालिक सुखप्र... से यूटिलिटेरियन लोगों की भाँति निज अवस्थोचित विधि के प्रति मर्यादा स्थापित करना ही नियमाग्रह है, नि मामग्रही उन भक्ति प्राप्ति के नियमों से उदासीन रहते और यथेच्छाचार को अनुराग मार्ग बतलाकर अपने ग्रहण करने योग्य अवस्था की ही प्रशंसा करते हैं, परन्तु श्रीहरिभक्तिविलास में लिखा है,— श्रुति-स्मृति-पुरानादिपञ्चरात्रविधिं विना, एकान्तिकी हरेर्भक्ति-रुत्पातायैव केवलम।" अर्थात् श्रुति-स्मृति-पुराणादि पञ्चरात्र विधि के अनुसार के अतिरिक्त ऐकान्तिकी हरिभक्ति की तुलना केवल उत्पात मात्र है।

निर्विशेष ज्ञानी व मुक्तिवादी का संग, फलकामी कर्म्मी का संग और इन्द्रियपरायण लौकिक लोगों का संग जनसंग है। हरिजनों का संग लाभ कर लेने से विपरीतजनसंग आप ही दूर हो जाता है। भुक्ति मुक्ति तथा लौकिक इन्द्रिय-सुख की चेष्टा-वृत्ति को कहते हैं "लौल्य।" इन छः प्रकार के साधनों से कृष्णानुगत्य की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। माया के राज्य में स्वामी तथा सर्वश्रेष्ठ बन कर रहने की वासना बढ़ती है, और कृष्ण-भक्ति ही सबसे उत्तम है, यह समझने की शक्ति पर्य्यन्त लोप हो जाती है। कृष्ण की सेवा में इन सब साधनों को नियुक्त करने से भक्ति की वृद्धि होती है, परन्तु अन्य विषयों के हेतु इन्हें लगाने से भक्ति-मार्ग से शीघ्र ही पतन हो जाता है।

भागवत सम्पादक की विशेषता

(लेखक—श्रीपाद अधोक्षज भक्ति कोविद)

पाश्चात्य देश में अण्ड, पक्षी, मत्स्य और मांस खानेवाले मनुष्यों की अवस्थिति होने की वजह और हिंसा के विचार से कोई दोषारोप नहीं होता। शीतप्रधान देश में इन चीजों का होना स्वाभाविक होने पर भी भारतीय यतिगण में इस प्रकार का व्यवहार हर तरह से दोषयोग्य माना जाता है। अधिकांश भारतवासियों का यह संस्कार है, कि जीवहिंसा के साथ धर्म जगत् का विशेष अलगाव वर्त्तमान है।

श्रीपाद वन महाराज गौड़ीय मठ के प्रचारक होने की वजह हर तरह से सदाचार का पालन कर रहे हैं। यहाँ तक कि शीतप्रधान पाश्चात्य भूमि में भी उन्हें और उनके साथी श्रीपाद भक्ति-प्रदीप तीर्थ महाराज तथा भक्तिशास्त्री महाशय को किसी प्रकार की जीवहिंसा को प्रश्रय देने का अवकाश नहीं मिला और न मिलेगा।

भगवद्भक्त भक्तियोगी लोग अत्यन्त विपद् पड़ने पर भी जीवहिंसा या मनुष्य हिंसा नहीं करते। रजस्तमोगुण से ताड़ित हिन्दू लोग जैसे धर्म याजन के साथ मनुष्यों के उपकारार्थ पशुहिंसा किया करते हैं, वैसे ही भक्त लोग कदापि नीतिविरुद्ध काम नहीं करते।

भारत में सभी जगह पशुक्लेश निवारिणी सभा भगवद्भक्तों के सौजन्यमार्गिदत अहिंसा में पूर्ण रूप से सहायता पहुँचा रही है। रजस्तमोगुण-विशिष्ट पवित्र हिन्दू लोग भी एक वाक्य से भक्तिपरायण निर्मल शुद्ध सात्त्वत हिन्दुओं को बहुत ही ऊँचा आसन दिया करते हैं। बुद्धिमान् लोग इस बात को जानते हैं, कि रजस्तमोगुण से शासित लोग शुद्ध-भक्ति का अवलम्बन कर नहीं सकते। निष्ठुरता भक्त के आदर की चीज़ न होने की वजह वे निष्ठुर मनुष्यों की तरह हिंसा-वृत्ति को बढ़ाते हुए मानव जाति के महत्त्व के निकृष्ट आदर्श का प्रदर्शन नहीं करते। काम, क्रोध, लोभ, मोहादि छः शत्रुओं के हाथ में पड़े पापप्रवण मनुष्य-समाज जैसे भगवद्भक्तों का छिद्रानुसन्धान करते हैं, वैसे छिद्रों की अकिञ्चित्करता और भ्रान्त धारणा को गौड़ीय मठ के प्रचारक शीघ्र ही पहचान लेते हैं।

श्रीयुक्त वनमहाराजजी की असीम सहिष्णुता

जगत् लक्ष्य करने योग्य है । भगवत्-सेवापरायण लोग मनुष्य जाति के प्रति सदा करुण रहते हैं । उनकी दया की सीमा नहीं । जब उनकी दृष्टि के सामने निष्ठुरता का कोई अभिनय होता है, तब वे उसमें बाधा देने के लिये हर तरह से व्यग्र होते हैं । यही भगवद्भक्तों का एक महत् गुण है ।

साम्प्रदायिक झगड़ा खड़ा कर वे लोग समय नष्ट नहीं करते । उनमें अपने सत् सम्प्रदाय की महिमा को बनाये रखने की चेष्टा पूर्ण रूप से मौजूद है । सुतरां किसी तरह के पापकार्य में उनकी मति नहीं होती; नीतिविरुद्ध जीवहिंसा जहाँ सङ्कोच के साथ बन्द होती है, उसमें भगवत्-सेवा-परायण मनुष्यों को प्रचुर उत्साह होता है ।

पशुक्लेश-निवारिणी सभा और सात्त्वतगण में अहिंसा नीति की समता होने पर भी भगवत्-सेवा-परायण लोग साधारण भगवत्-विमुख नीति-परायण मनुष्यों से श्रेष्ठ हैं । सुतरां त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्तिहृदयवन महाराज पाश्चात्य देश में, अपने व्यावहारिक जीवन में पशुहिंसा आदि के विचार से बिलकुल अलग हैं ।

लोगों को वे ये समझा रहे हैं, कि दैव वर्णाश्रम धर्म पृथिवी के सब समाज में ही बहुत आशाप्रद है । एक दिन श्रीरामानुजाचार्य और श्रीवैष्णवाचार्य श्रीमद् आनन्दतीर्थपाद ने यह प्रकट किया था, कि विष्णुभक्तिहीन अदैव वर्णाश्रम धर्म की विधि से भगवद्भक्तियुक्त वर्णाश्रम श्रेष्ठ है; इसीसे वर्तमान समय भारत के विभिन्न प्रदेशों में उन दोनों आचार्यों के आश्रित भगवद्भक्तगण, और प्राणियों की हिंसा तो दूर रही, श्रेष्ठ प्राणी मनुष्य जाति की भी कायमनोवाक्य से हिंसा नहीं करते ।

जो लोग प्रादेशिक जाति-विभाग, तरह-तरह के रोज़गारियों का विभाग, तरह-तरह की धर्म-प्रणालियों का श्रेणी-विभाग आदि का वृथा वितर्क खड़ा कर आपस में हिंसा करते हैं, उनके ऐसे निन्दित वर्णाश्रम-विचार से कभी सुफल हो नहीं सकता ।

Semites लोगों में जो-जो भली बातें प्रचलित हैं, उनका आदर करने में भी कोई गौड़ीय भगवत्-परायण मनुष्य संकोच नहीं करता । भगवान् के नाम को भगवत्-सेवा नहीं [illegible] जो लोग हैं, अपने भोग के मतलब से उस नाम को ग्रहण करने का ढोंग करते हैं, उनमें पाप और अपराध से मनुष्य जाति का छुटकारा कभी हो ही नहीं सकता ।

मनुष्य जाति में हिंसा की जो प्रवृत्ति, जाति-विभाग और श्रेणी विभाग में घुस गई है, उसका कुफल दूर करने के लिये Semites लोगों में मिथ्या साक्ष्य देना पाप माना जाता है ।

श्रीमद्भक्तिहृदय वन महाराज किसी प्रकार के भी मिथ्या साक्ष्य को प्रश्रय नहीं देते । जो मिथ्या साक्ष्य देते या दिलाते हैं, उनके आचार-व्यवहार का वे कभी आदर नहीं करते । और जो अज्ञजन की दृष्टि से उपासना की चीज़ को अपने भोग की चीज़ समझ, उपासना की चीज़ से अपना भोग पूरा करते हैं, उन पौत्तलिक लोगों का भी वन महाराज आदर नहीं करते ।

पौत्तलिक लोग अपनी विचार-प्रणाली से विष्णु कलेवर, श्रीमूर्त्ति या प्रेमावतार श्रीगौरसुन्दर, उनके लेख और उनके वर्णन को बद्ध जीवेन्द्रिय का भोग्य विषय नहीं मानते । श्रीमूर्त्ति की उपासना मानसिक ही नहीं है । मनोधर्मसेवी लोग भोगायतन प्राकृत जगत् को सेवक समझते और अपने को सेव्य मानते हैं । किन्तु श्रीमद्वन महाराज की प्रचार-प्रणाली में किसी तरह की पौत्तलिकता का लगाव नहीं है ।

Semites लोगों के विचार से जो 'निराकार', 'निर्विशेष' आदि बातें हैं, उनमें चिद्विशेष और चिद्वैचित्र्य के साथ उनके सम्बन्ध का जो विचार-दोष प्रवेश कर जाता है, उसे समझने और समझाने में वन महाराज का आचार और व्यवहार जगत् को किस प्रकार सत्पथ पर ले आता है, इसकी आलोचना आवश्यक है ।

आदर्श चरित श्रीयुक्त वन महाराज अशिक्षित नहीं हैं । वे संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, बँगला, उत्कल और अँगरेज़ी प्रभृति भाषाओं के जानकार हैं । इन सब भाषाओं में उनकी वाग्मिता को भारत के नाना प्रदेशों के नगर और ग्रामवासी देख रहे हैं ।

जगत् के हितसाधन के लिये उनकी अकृत्रिम

जेण ... ... थे हैं। उन्होंने हर तरह से मनुष्यजाति के सुख स्वच्छन्दता-विधान के लिये जीवन अर्पण कर दिया है। उनके जैसे Altruist (परार्थ पर) जगत् में विरल हैं। सुतरां पाश्चात्य देश में प्रचारकार्य के लिये उनकी योग्यता सर्ववादिसम्मत है।

जो मन में हिंसा रखकर महामहोपदेशक भक्ति-सुधाकर प्रभु की सार्वजनीन कृपा को लक्ष्य नहीं करते, वे उन महाराज की परोपकारिता की बातों को समझ नहीं सकते।

हिंसाजीवी परद्रोही दाम्भिक मनुष्यों की संकीर्णता से ही गौड़ीय भक्तों की सहिष्णुता का परिचय मिलता है। जो गौड़ीय मठ के क्रियाकलाप को विकृत कर आत्मवञ्चना के लिये अवस्थित होते हैं, उनके ही लिये षड्रिपु की दासता का दण्ड है। गौड़ीय मठ के प्रचारकगण मठ के प्रति आक्रमण करनेवाले मनुष्यों के साथ विरोध नहीं करते, किन्तु मनुष्यजाति रजस्तमोगुण से शासित हो अपने व्यवहार जीवन में ऐसे भोजन को ग्रहण करते हैं, जिससे उनमें, निरपेक्षता का अभाव हो जाता है। निरपेक्ष न होने से काम क्रोधादि शत्रुओं के वश में होना पड़ता है।

लोभ के हाथ से छुटकारा पाने के आदर्श स्वरूप हम लोगों ने श्रीगौराङ्ग सुन्दर के प्रकट होने के समय गोपीनाथ पट्टनायक का राजकोष में अवैध लोभ और गौरांग सुन्दर की निरपेक्षता का दृष्टान्त देख चुके हैं। इस आदर्श के सीखने से व्यावहारिक जीवन में मनुष्य गुरु की ताड़ना के हाथ से छुटकारा पा सकता है। छोटे हरिदास के वर्जन के दृष्टान्त से मनुष्य कामुकता और गुप्त व्यभिचार के हाथ से छुटकारा पा सकता है।

जागतिक नीति का अतिक्रम करने से Semites लोगों की प्रतिपाद्य मानवोपकारिता किसे कहते हैं—इसके बारे में संसार समझता है,—

> चैतन्यचन्द्र की दया करिये विचार।
>
> विचार किये से चित्त आवे चमत्कार॥

षड्रिपु के दास कर्मकाण्ड में फँसे मनुष्य जिसे धर्म का ज़िक्र करते हैं, जिस अर्थ का संग्रह करते और जिस काम की परितृप्ति के विषय में आबद्ध रहते हैं, वह भक्तश्रेष्ठ के पवित्र जीवन में कभी दिखाई नहीं देता। जिनकी दृष्टि छोटी है, वे उसे समझ ही नहीं सकते। कर्मियों के प्रस्ताव से पापियों का दण्ड विहित होता है। किन्तु दण्ड का विधान करनेवाले के विचार में दोष के प्रवेश से वास्तव में समाज का मङ्गल हो नहीं सकता। इसी से मनुष्य-जीवन की सम्पूर्णता का साधन करने के लिये एक मात्र भक्तिपथ ही ग्रहण करने योग्य है, कर्मज्ञानादि और उससे मिश्रित पथ उतना काम दे नहीं सकते।

आपातदर्शन, अन्तर्दर्शन और सुष्ठु दर्शन में पार्थक्य है। इस पार्थक्य को देखने के लिये जिनमें निरपेक्षता नहीं है, उनके विचार भ्रम से पूर्ण हैं। वे ही ईश्वर के विश्वास से रहित और अपने क्षुद्र बल पर अभिमान करते हैं। सहिष्णुता के अभाव से उनकी शिक्षा गुरु द्वारा ताड़ित है।

वैरागी

आजकल 'वैरागी' कहने से ही यह धारणा होती है कि सेवादासी को साथ लिये वेशधारी बाबाजी अथवा बाबाजी या सेवादासी की सन्तान या उनके ही वंश के कोई होंगे। हम लोगों का दुर्भाग्य है कि ऐसी श्रेणी के जो लोग 'वैरागी' के नाम से अपना परिचय देते हैं, उनके 'वैरागी' नाम को सुन कर ही हमें मुँह फेर लेना पड़ता है। किन्तु 'वैरागी' या 'बाबाजी' बहुत ही उच्च अर्थ के शब्द हैं।

प्रकृति-प्रत्यय गत अर्थ करें, तो हमारी समझ में 'विराग' शब्द से ही 'वैरागी' शब्द की उत्पत्ति है;

तब इस शब्द का सच्चा अर्थ यही है कि जो विराग-विशिष्ट हैं, वे ही सच्चे 'वैरागी' हैं। यदि वैराग्य शब्द का यही अर्थ हमारे मन में उदित होता, तो हमें नाक-भौं चढ़ाने का अवसर न मिलता। कुछ दिन से लगातार ऐसी घृणित श्रेणी के लोगों पर—जो शास्त्रीय और सामाजिक सब तरह की शृङ्खलाओं में ही विरागविशिष्ट और उच्छृङ्खल भोग में बहुरागविशिष्ट हैं, उन्हें 'बहुरागी' न कहकर 'वैरागी' के नाम से परिचित देख—हमें 'वैरागी' शब्द से ही विराग हो गया है।

अतएव किस विषय में विराग युक्त होने से वैरागी माना जा सकता है, यही हमारे लिये आलोचनीय है।

श्रीमद्भागवत में भक्ति की क्रमोन्नति के बारे में कहा है,—

"भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः।"

जहाँ तक भगवत्-ज्ञान प्राप्त होगा, उतना ही हृदय में भक्ति का उन्मेष होगा, इसी के साथ-साथ इसके लक्षण के रूप में 'अन्यत्र' अर्थात् भगवत् प्रतीति के अतिरिक्त इतर विषयों में विरक्ति या विराग की उत्पत्ति होती है। कृष्ण से इतर विषयों में कैसे विरक्ति होती है, यही यहाँ आलोचनीय है। जो जहाँ तक कृष्णोन्मुख हैं, वे वहाँ तक उन से इतर विषयों में विरागी हैं। जहाँ जितनी रोशनी होती है, वहाँ उतना ही अन्धकार भी होता है—यह स्वतःसिद्ध बात है। सुतरां यथार्थ वैरागी होने के लिये कृष्णोन्मुख होना चाहिए। कृष्णोन्मुख शब्द का अर्थ, कृष्णसेवा में तत्पर होना समझना चाहिये। जिन्होंने कृष्णसेवा को ही अपने जीवन का एक मात्र व्रत बना दिया है, वे ही भोगवासना को परित्याग कर इतर विषयों से मन को हटा सके हैं।

अनेक स्थलों में यह विचार उत्पन्न होता है, कि 'वैरागी' का किसी आश्रम-विशेष या वेश की ओर लक्ष्य है। हमने यह देख लिया, कि कृष्णोन्मुख होने से ही वैरागी हो सकते हैं, केवलमात्र वेश बनाने से ही कोई वैरागी हो नहीं सकता। वेश से जीवन चलाने [illegible] की दोहाई देनेवाला वैरागी [illegible], वैरागी नाम के अपव्यवहार की वजह लोगों के आगे इसका अर्थ ही बदल गया है। इससे यह विदित होता है, कि अनेक स्थलों में वेश वैराग्य का बाहरी दिखाव होने पर भी हर समय वैराग्य का अभ्रान्त लक्षण नहीं है। वेश आश्रम के चिन्ह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, वैरागी और बाबाजी का जो वेश कौपीन और बहिर्वास है, वह संन्यास-आश्रम का चिह्न है। वैरागी आश्रमयुक्त नहीं हैं, वे आश्रमातीत पुरुष हैं, क्योंकि उनकी कृष्णोपलब्धि ही प्रबल है। आश्रमादि की व्यवस्था केवल कृष्ण-विमुख लोगों के शासन के लिये है। जो आप ही कृष्णोन्मुख हैं, उन्हें उस शासनविधि के अधीन रहने की आवश्यकता नहीं। वे किसी आश्रम का चिन्ह धारण करके भी उस आश्रम के कोई नहीं हैं; वे आश्रमातीत परमहंस हैं। वे घर में रहने पर भी गृहस्थ नहीं हैं। वे गृहत्यागी होकर घूमते रहने पर भी संन्यासी नहीं हैं; वन में रहकर हरिभजन करने पर भी वे वानप्रस्थ नहीं हैं, परमहंस गुरु के पास रहकर भजन में लगे रहने पर भी वे ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्तर्गत नहीं हैं। वे चाहे किसी भी अवस्था में क्यों न रहें, उनमें ब्रह्मचर्य का अभाव नहीं है। उनमें गृहस्थोचित संयम की कमी नहीं दिखाई देती; वे वनचारी की तरह मुनिधर्म से भ्रष्ट नहीं हैं और संन्यासी की तरह उनमें प्रापञ्चिक वस्तु में भोगबुद्धि के अभाव भी दिखाई नहीं देते। पार्थक्य इतना ही है; कि ये सब सद्गुणावली उनमें सहज ही हैं, इनकी प्राप्ति के लिये कुछ नियमों की समष्टि के पालन में व्यस्त नहीं होना पड़ता; सब नियम आप ही आप पालित होते हैं। सुतरां वैरागी किसी भी आश्रम विशेष का मनुष्य नहीं है। उन्हें नियम के आग्रह का बोध ही नहीं है। नियम में आग्रह भी नहीं, नियम का अग्रह या व्यभिचार अथवा उच्छृङ्खलता भी नहीं है। वे परमहंस हैं। "स्वलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः" यही उनका लक्षण है।

परमहंस वैरागी घर में भी रहते हैं। किन्तु ऐसा

हो सकते ... परमहंस या वैरागी का दल बाँध नहीं सकते। "मौक्तिकं न गजे गजे।" कोई परमहंस मुक्त पुरुष घर में थे, इसलिये हम भी घर में रहकर परमहंस या गृहव्रत धर्म में लगे रहने से भी परमहंस हो जायेंगे, ऐसी धारणा हम लोगों की दुर्बुद्धि है,—दुर्भाग्य है! गृहमेधी धर्म बद्धतामूलक है, उसमें निवृत्ति न होने से—अनासक्ति न होने से भागवत धर्म का याजन हो नहीं सकता। इसीसे गीता में श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है,—"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" अक्सर लोग कहावत कहा करते हैं,—"कुल छोड़ सो राखे श्याम।"

वैराग्य का मूल अनासक्ति है। जिन सब वस्तुओं में भगवान् से इतर बुद्धि होती है, उन्हीं में हमारी भोगबुद्धि प्रबल है। भोगबुद्धि ही हमारे लिये बद्धता है उस भोगबुद्धि से रहित होने पर ही हमारी आसक्ति जाती है; हम अनासक्त या मुक्त होते हैं। इस भोगबुद्धि के त्याग के लिये कृष्ण-ज्ञान का होना आवश्यक है। नहीं तो कृत्रिम भाव से भोगबुद्धि दूर नहीं होती। बड़े कष्ट से भोग बुद्धि को दूर करते-करते फिर हम लोगों का पतन होता है। सुतरां जगत् की सब वस्तुओं में ही यदि हम उपनिषद् के "ईशावास्य" उपदेश के अनुसार भगवत्-सम्बन्ध को देखने की योग्यता प्राप्त कर सकें, तभी हम यथार्थ वैरागी हो सकते हैं—युक्त वैराग्य का आचरण कर सकते हैं। इसी से गोस्वामीराज ने कहा है,—

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः।
निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते॥

फिर भी, भारत में दिखाई देता है, कि सम्भ्रान्त वैरागी वंश भी हैं। जैसे छुइखादान के देशीय राजा महन्त महाराज बहादुर वैरागी वंशोद्भव हैं। यहाँ वैरागी का यह मतलब है, कि परमहंस वैष्णव (वैरागी) घर में रहते हुए ही हरिसेवा में निरत थे। जैसे इस देश में श्रीवास पण्डित, श्रीजगदीश पण्डित प्रभृति—ऐसों की ही सन्तान थे। फिर भी, इनके लिये वैरागी शब्द का न होना ही अच्छा था; क्योंकि इन सब वंशों के सभी लोग सर्वतोभाव से कृष्णोन्मुख और इतर विषयों में पूरे वैरागी नहीं हैं।

वैरागी के घर में रह सकने की वजह उनके वंशवाले भी वैरागी-वंश हो नहीं सकते। शुक्र की पद्धति चलाने की दुर्नीति हम लोगों में अत्यन्त प्रबल है; इसी से वैरागी वंश के नाम से एक वंश स्थापित हो गया है। अवश्य ही भारत में वैरागी या गोसाईं वंश का नाम लेने से लोग साधारणतः घृणित वंश ही समझते हैं। जिन सब वंशधारी बाबाजी लोगों ने सेवादासी को साथ में रख वंश का विस्तार किया है या जो वेश लेकर भी फिर गृहस्थी में फँस सन्तानादि छोड़ गये हैं,—ये सब उसी वंश के हैं। भारत में अब इनका आदर नहीं रह गया है, और शायद कहीं इनका आदर होना उचित भी नहीं है। भागवत शास्त्र में ऐसे बाबाजी, वैरागी गोसाइयों को 'वान्ताशी' अर्थात् "कै-भोजन-कारी" कहा गया है, यह गौरव की बात नहीं।

कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति

(गतांक से आगे)

सु... तरां इनकी शुद्धभक्ति सिद्ध नहीं होती। अब भक्ति की सर्व शक्तिमत्ता और श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन कर भगवान् कहते हैं,—यज्ञादि कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, त्यागधर्म और अन्य तीर्थव्रतादि द्वारा जो कुछ लाभ नहीं होता, वह सभी एकमात्र मुझ में भक्तियोग द्वारा मेरे भक्त सहज ही प्राप्त कर सकते हैं। यद्यपि मेरे भक्तों की कोई इच्छा नहीं, तथापि यदि वे मेरे भजन की परिपुष्टि के लिये चित्रकेतु आदि की तरह स्वर्ग, मोक्ष या इसके अतिरिक्त वैकुण्ठधाम आदि माँगें;

तो वे उसे भी पा सकते हैं। मैं अपने ऐकान्तिक धीर और साधु भक्तों को श्रेष्ठ योगियों के वाञ्छित कैवल्य या ज्ञानियों के वाञ्छित मुक्तिपद को प्रदान करता हूँ, तो वे उसको भी इच्छा नहीं करते। क्योंकि फल पाने की इच्छा न रखनेवाले ज्ञान-वैराग्य आदि में सब तरह से अपेक्षा-शून्य निष्काम पुरुष को ही मेरी भक्ति मिलती है; अतएव निरपेक्षता अर्थात् बिना भक्ति के अन्य साधन और फल की अपेक्षा से रहित होना ही सर्वोत्कृष्ट फल है और पण्डित लोग उसे ही "निःश्रेयस" अर्थात् निश्चित चरम मङ्गल बताते हैं। इसलिये श्रीगीता के 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा' श्लोक में गुह्य 'ब्रह्मज्ञान', 'ईश्वरः सर्वभूतानां' श्लोक में गुह्यतर परम ज्ञान बताते हुए अन्त में प्रिय भक्त अर्जुन से 'मन्मना भव मद्भक्तः' श्लोक में (१८। ५-६६) 'सर्वगुह्यतम' 'परम वाक्य' उनके 'हित' के लिये कहते हैं,—

पूर्व आज्ञा वेद धर्म कर्म योग ज्ञान।
सब साधि अन्त में ये आज्ञा बलवान॥
येहि आज्ञा बल भक्त में श्रद्धा यदि होवे।
सर्व कर्म त्याग के सो कृष्ण को भजते॥

(चै० च० मध्य २२ श)

श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीसनातन गोस्वामी प्रभु के सामने कर्मकाण्ड को बर्रे के डङ्क की तरह यन्त्रणा-दायक, निर्विशेष ज्ञान मार्ग को अजगर की तरह शुद्ध जीव की सत्ता को ग्रास करनेवाला और योग-मार्ग को यक्ष की तरह विभूति आदि के द्वारा प्रलोभन दिखाकर बाद को आत्मविनाश का साधन करनेवाला बताया है।

बाप का धन है ये जाने धन नहीं पाय।
सर्वज्ञ बतावे उसके पाने का उपाय॥
यहाँ पर है धन यदि दक्षिण खोदोगे।
बर्रे उड़ेगी सही धन न पाओगे॥
पश्चिम खोदे मे वहाँ यक्ष वास पाये।
विघ्न करे सही धन हाथ नहिं आये॥
उत्तर खोदे से नहीं [illegible] गा हैं।
धन नहिं मिले सबको [illegible] जाय॥
पूर्व ओर यदि थोड़ी मट्टी खोदी जाय।
धन का खज़ाना तब तेरे हाथ आय॥
ऐसे शास्त्र कहे कर्म ज्ञान योग तजे।
भक्त वश कृष्ण होयँ भक्त उन्हें भजे॥

(चै० च० मध्य २० श)

श्रीरूपगोस्वामी पाद ने श्रीउपदेशामृत के १० म श्लोक में कर्मी, ज्ञानी और भक्त का तारतम्य करते हुए बहुत ही सुन्दर भाव से विचार किया है,—

कर्मिभ्यः परितो हरेः प्रियतया व्यक्तिं ययुर्ज्ञानिन-
स्तेभ्यो ज्ञानविमुक्तभक्तिपरमाः प्रेमैकनिष्ठास्ततः।
तेभ्यस्ताः पशुपालपङ्कजदृशस्ताभ्योऽपि सा राधिका
प्रेष्ठा तद्वदियं तदीय सरसी तां नाश्रयेत् कः कृती॥

असत् कर्म में निरत उच्छृङ्खल मनुष्यों की अपेक्षा सत् कर्म निरत पुण्यवान् कर्मी अच्छे हैं। सब प्रकार से सत् कर्म में लगे पुण्यवान कर्मी से गुणत्रयवर्जित ब्रह्मज्ञानी श्रीभगवान् की ब्रह्माख्य अलम्यक् प्रतीति के सामञ्जस्य की वजह हरि के प्रिय और ज्ञानविमुक्त भक्तिप्रधान सनकादि शुद्ध भक्त श्रीकृष्ण के और भी अधिक प्रिय हैं। सब प्रकार के शुद्ध भक्तों की अपेक्षा प्रेमैकनिष्ठ नारदादि शुद्ध भक्तगण श्रीकृष्ण के प्रिय हैं। इन की अपेक्षा कृष्णगत प्राणा व्रजसुन्दरी श्रीकृष्ण के और भी अधिकतर प्रिय हैं, व्रज-ललनाओं की अपेक्षा श्रीमती राधिका कृष्ण को अत्यन्त प्रिय हैं। उनसे बढ़ कर श्रीकृष्ण के लिये प्रियतम और कोई नहीं। सुतरां उन श्रीमती राधारानी के चरणाश्रय के लिये ही माधुर्यरस के रसिक भक्तगण लालायित रहते हैं। राधा की दासता प्राप्त करने के लिये श्रीगौर नित्यानन्द की दासता आवश्यक है। सुतरां राधा की दासता के लिये जिनका चित्त आकृष्ट हुआ है, वे भला तुच्छ कर्म ज्ञानादि में कब आसक्त हो सकते हैं?

कर्मावलम्बकाः केचित् केचिज् ज्ञानावलम्बकाः।
वयन्तु हरिदासानां पादत्राणावलम्बकाः॥

श्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ; बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ; कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ; बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
अगस्त्यकुण्ड, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० ४३ हनुमान रोड, न्यू देहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकोंदा चीरकुण्डा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० बासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

(३१) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ
कव्वुर, वैष्ट गोदावरी, मद्रास

(३२) ग्वालपाड़ा प्रपन्नाश्रम, आसाम

(३३) त्रिदण्डी-गौड़ीय मठ भुवनेश्वर, पुरी

(३४) श्रीसारस्वत-गौड़ीय मठ हरिद्वार,

Registe ... संख्या ... [वर्ष— ...]

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्ति ... र्न्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)
२—श्रीशिक्षादशकमूलम् सटीक ।)
३—श्रीमध्वग्रन्थसारांशवर्णनम् ≡)
४—श्रीसिद्धान्तसरस्वतीदिग्विजय: ॥
५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचय: ―)
६—श्रीतत्त्वसूत्रम् ।)

संस्कृत बँगला अक्षरों में

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)
२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत-भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)
३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)
४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत खंडों में प्रकाशित प्रति खंड १)
५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द २)
६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्रीरूपगोस्वामी प्रभु कृत उपदेशामृतसहित ।=)
७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बँगला अनुवाद सहित ॥)
८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित १)
९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित ―)
१०—सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित ―)
११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी-कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)
एकादश स्कंध से प्रति खंड ।≡)
१२—युक्तिमल्लिका गुणसौरभ वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

बंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित ≡)
१४—नवद्वीपशतक बंगला ... ―)
१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत =।
१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती-कृत =)
१७—नवद्वीपभावनरंग ।)
१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)
१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद कृत २)
२०—मणिमंजरी ।)
२१—शरणागति ―)
२२—कल्याणकल्पतरु ―)॥
२३—गीतावली ―)
२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ।॥)
२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)
२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत ॥=)
२७—जैव धर्म २)
२८—साधककंठमाला ।)
२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ५)
३०—महाप्रभु की शिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ।॥)
३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ५)

Books in English

1. Life and Procepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by B. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow

वर्ष

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

[संख्या २०, २१

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

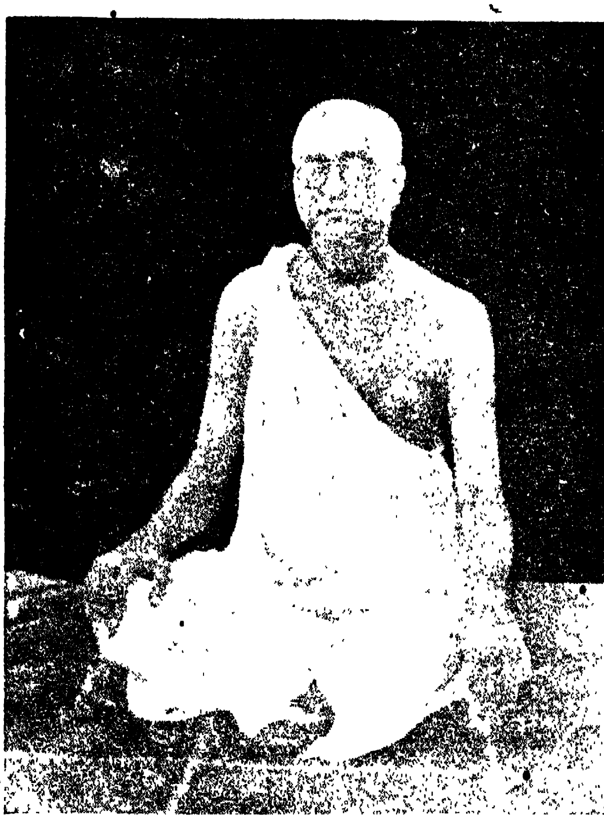
5th August
and
21st August

श्रीधर गौरपक्ष
हृषीकेश कृष्णपक्ष
गौराब्द
४४७

1933

श्रावण पूर्णिमा
भाद्रपद अमावास्या
संवत्
१९९०

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥



क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्तसरस्वती
गोस्वामी महाराज

प्रति संख्या
-)

सम्पादक—त्रिदण्डिस्वामी भक्तिहृदय वन

वार्षिक सडाक
१॥)

Editor:—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है ।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है ।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये । जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे ।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन छपाई की दर नीचे लिखी है:—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम	८)
आधा ,, १ ,,	५)
चौथाई ,, ½ ,,	३)
२ इंच ,, ¼ ,,	१॥)
१ ,, ,, ⅛ ,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये—

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

सेठ रामयश रोड, नरही, लखनऊ.

All communications are to be addressed to—

The Manager 'Bhagwat'

Seth Ramjas Road,

Narhe,

LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

अमावास्या

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य

वर्ष २ } श्रावण-पूर्णिमा गौराब्द ४४७, सं० १९९० वि०, ७ अगस्त सन् १९३३ ई० { संख्या २०

श्रीबलदेव-प्रसंग

स्थान-विद्वत्सभा, श्रीगौड़ीयमठ, उल्टाडिंगी, कलकत्ता

समय—रविवार, ५ वीं भाद्रपद १३३९ सन् बँगला श्रीश्रीबलदेव प्रकटोत्सव अधिवास

(श्रीप्रभुपाद की वक्तृतावली तृतीय खण्ड से उद्धृत)

मंगलाचरण

वांछाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च ।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः ॥
अज्ञान-तिमिरान्धस्य ज्ञानांजन-शलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥
नमो महा - वदान्याय कृष्ण-प्रेम प्रदाय ते ।
कृष्णाय कृष्णचैतन्यनाम्ने गौरत्विषे नमः ॥

जीव की प्रेयो ग्रहण-पिपासा

वर्तमान समय में हम सब इस पृथिवी में अर्थात् चर्म-चक्षुओं से देखे जानेवाले संसार में निवास करते हैं । यहाँ पर हमें दृश्य वस्तुओं में अनेक प्रकार के भेद दीख पड़ते हैं । हम जिन वस्तुओं के बाहिरी रूपों को देखते हैं उन वस्तुओं से हम अपने स्वतंत्र भाव से अधिष्ठित व्यक्तिगत स्वत्व को भी समझ सकते हैं । कभी कभी हम बाहिरी संसार की वस्तुओं के अतिरिक्त अंतर्जगत् की सूक्ष्म वस्तुओं की आलोचना करने की इच्छा से अपनी अपनी अन्तर्वृत्तियों की परिचालना करते हैं । चक्षु और नेत्र आदि इन्द्रियों से हम बाहिरी संसार के ज्ञान का संचय करते हैं । बाहिरी संसार के संचित ज्ञान को ग्रहण करके हम ज्ञान-परिचालन का जो फल प्राप्त करते हैं, उसीसे परिचालित होते हैं । किन्तु इन्द्रियों द्वारा की गई अन्तर्जगत् की आलोचना नाना प्रकार से प्रतिक्षण में विफल हो सकती है । बाहिरी संसार के संचित ज्ञान की आलोचना के फल से हम लोगों के चित्त में वस्तु के दो भाव आकर उपस्थित होते हैं । वस्तु के उन भावों में जो अच्छा लगता है उसी को हम ग्रहण करते हैं । जो नहीं अच्छा लगता उसे छोड़ देते हैं । हमें जो कुछ अच्छा लगता है, प्रारंभ में अच्छी लगनेवाली वे सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं । हमारा भावी मंगल

सचमुच किस प्रकार हो सकता है ?' यह विचार हृदय में आने ही जो अच्छा नहीं लगता उसे हम छोड़ सकते हैं किन्तु हमारी प्रेयोवस्तु ग्रहण की पिपासा प्रबल बनी रहती है। जिससे हम सबों का वास्तविक मंगल हो सकता है उस प्रकार की वस्तु को ग्रहण करने की हममें बुद्धि नहीं है। मनुष्य बहुधा प्रेयोवस्तु ग्रहण करने की असुविधा में ही पड़ जाते हैं।

अत्युक्त प्रेयः और श्रेयः पंथ

वेद शास्त्र में दो बातें पायी जाती हैं,—"प्रेयःपंथ" और "श्रेयःपंथ"। जिस प्रकार हरीतकी (हर्रे) पहले खाने में तो कड़वी लगती है पर बाद में गुणकारी होती है, उसी प्रकार मीठी वस्तु पहले तो खाने में अच्छी लगती है किन्तु परिणाम में आंव पैदा कर देती है। हममें से कोई भी अपने को अप्रिय लगने वाले व्यापार में नहीं लगना चाहते किन्तु श्रेयो-लाभ के लिए प्रेयः का परित्याग करना ही उचित है यही शास्त्र का कहना है।

प्रेयः पंथ के परित्याग में ही आत्मधर्म-ग्रहण की प्रवृत्ति होती है

प्रेयःपंथ को छोड़कर श्रेयःपंथ ग्रहण की योग्यता हम लोगों में हर समय नहीं होती परंतु जब तक प्रेयःपंथ को नहीं छोड़ते तब तक आत्मधर्म-ग्रहण की प्रवृत्ति भी नहीं होती। उपनिषद् में लिखा है (कठ २ । २३; मुण्डक ३ । २ । ३)—

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।"

श्रेयःपंथियों का ही श्रौतपंथ है

श्रेयःपंथियों के मुख से सर्वदा एक बात सुनी जाती है वह है—श्रौतपंथ। अगर सत्य वस्तु का कीर्तन हो और वह कानों में प्रवेश करे तभी हम श्रौतपंथ को ग्रहण कर सकते हैं। सुनने में यदि हम असावधान रहें तो सत्य वस्तु का पूरा ज्ञान हमें नहीं प्राप्त हो सकता।

अनुकरण और अनुसरण

श्रौतपंथ को ग्रहण करने के समय में भी हम दो प्रकार से व[illegible] अनुसरण करना प्रत्येक व्यक्ति को [illegible] होता। बहुत से मनुष्य 'अनुकरण' कार्य को 'अनुसरण' कहकर भ्रम उत्पन्न करते हैं। 'अनुकरण' और 'अनुसरण' इन दोनों के भेद को समझाने के लिए छोटा सा उदाहरण दिया जाता है। किसी अभिनय (नाटक) में 'नारद' बननेवाला अभिनेता जब 'नारद' की वेशभूषा के अनुसार अपनी वेशभूषा बनाता है तब उसका वह काम नारद का "अनुकरण" करना कहलाता है और जब कोई भक्त नारद के बताये हुए भक्ति-पथ पर चलता है तब उसका वह कार्य "अनुसरण" कहलाता है। थोड़े से शब्दों में अगर कहा जाय तो दिखावटी ढंग से नकल करने का नाम "अनुकरण" है और सच्चे दिल से महाजनों के दिखाये हुए मार्ग पर चलने का नाम "अनुसरण" है।

माया की वंचना से सावधान रहने की आवश्यकता

हम सोचते हैं कि हम अनुसरण कर रहे हैं किन्तु वास्तव में हम अनुकरण कर बैठे हैं। "अनुसरण" अर्थात् अपना आचरण। केवल "अनुकरण" कार्य से "अनुसरण" कार्य नहीं होगा। "अनुकरण" (imitation) विकृत रूप से प्रतिबिम्बित होने का एक विषय मात्र है। "अनुकरण" और "अनुसरण" ये दोनों कार्य बाहर से देखने पर एक ही ढंग के दिखाई पड़ते हैं। नक़ली सोना (मुलम्मा) (chemical gold) और असली सोना (pure gold) बाहर से देखने पर लगभग एक से ही जँचते हैं। "अनुकरण" को हम सीधी सादी भाषा में ढोंग कहते हैं। हम लोगों के हृदय में 'विप्रलिप्सा' नामक जो एक वृत्ति है उसी के द्वारा हम दूसरों को धोखा देकर अपनी प्रतिष्ठा आदि बढ़ाने के लिए उस प्रकार का ढोंग या अनुकरण करते रहते हैं। श्रौतपंथ का केवल 'अनुकरण' होने से 'अनुसरण' नहीं होता। अनुकरण कार्य से यदि अनुसरण नहीं होता तो फिर उस कार्य का कोई मूल्य नहीं है। वास्तव में

अनुसरण [illegible] अनुकरण हो या न हो उसकी कोई आवश्यकता नहीं है।

दिखावटी वैष्णवता ही अनुकरण या ढोंग है

"ये कण्ठलग्न-तुलसी-नलिनाक्ष-माला
ये बाहुमूलपरिचिह्नितशङ्खचक्राः।
ये वा ललाटफलके लसदूर्ध्वपुण्ड्रा-
स्ते वैष्णवा भुवनमाशु पवित्रयन्ति॥

अर्थात् जो कण्ठदेश में तुलसी या कमल गट्टे की माला धारण करते हैं, जो अपनी बाहुओं के मूल में शंख चक्र आदि के चिह्न दगवाते हैं, जिनका ललाट ऊर्ध्वपुण्ड्र से समुज्ज्वल रहता है वही वैष्णव इस संसार को तुरन्त पवित्र करते रहते हैं।

यह बात तो बहुत ही सत्य है परन्तु इस कार्य को कोई भी मनुष्य कपट करता हुआ भी "अनुकरण" कर सकता है बाहिरी मनुष्यों को दिखाने के लिए वह उस प्रकार सज भी सकता है किन्तु इस स्थान पर अनुकरण करनेवालों को "वैष्णव" नहीं कहा जाता। यहाँ तो भीतर और बाहर दोनों की ही चर्चा हो रही है।

भक्त की देह में चिन्मय भगवन्मन्दिर

जीव की देह भगवन्मन्दिर यानी चेतनमय मन्दिर है। ईंट, पत्थर और लकड़ी से बने हुए मन्दिर में लेप्या और लेख्या प्रतिमा रक्खी जाती हैं। भगवद्भक्त के चिन्मय देह-मन्दिर में श्रीभगवान् नित्य विराजमान रहते हैं। इसीलिए भक्त की देह को चिदानन्दमय कहा गया है। भक्त का भगवत्-प्रसाद आदि ग्रहण भगवान् के मन्दिर की रक्षा के लिए चेष्टा छोड़कर और कुछ नहीं है।

वसुदेव में बलदेव-वासुदेव का आविर्भाव

भगवान् वासुदेव और बलदेव वसुदेव में प्रकटित हुए। श्रीमद्भागवत में लिखा है (भा०४।३।२३)—

"सत्त्वं विशुद्धं वसुदेव-शब्दितं
यदीयते तत्र पुमानपावृतः।
सत्त्वे च तस्मिन् भगवान् वासुदेवो
ह्यधोक्षजो मे मनसा विधीयते॥

भागवत में बहुरूपिणी मूर्तिपूजा का नैराश्य

काठ के बने हुए ईश्वर, मिट्टी के बने हुए ईश्वर या मनःकल्पित निराकार और साकार आदि मन के धर्म से उत्पन्न हुए ईश्वर विषय की उत्तम मीमांसा इसी श्लोक में कर दी गई है।

(भा० १०।८४।१३)—

"यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि-
ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥

जो मूर्तिपूजा 'बुतपरस्ती' या बाहरी संसार के अनुष्ठानों को भगवान् की सेवा कहकर अनुमान करते हैं, उनके कार्य की निन्दा करने के लिए ही यह श्लोक है।

प्रेयःपंथी बलदेव से विमुख रहते हैं

प्रेयःपंथी इन्द्रियपरायण होते हैं। जो अधोक्षज श्रीभगवान् वासुदेव या वसुदेव-तनय बलदेव के निकट नहीं जाना चाहते, बगलें झाँककर दूसरी बातों में लगे रहना चाहते हैं, वे प्रेयःपंथी हैं।

अविनाशी सत्त्व ही वसुदेव है

रजोगुण से वस्तु की सृष्टि होती है। सत्त्वगुण से वह स्थित होती है और तमोगुण से उसका ध्वंस होता है। इन्हीं तीनों गुणों के सम्मिश्रण से सांसारिक व्यापार चलता है। परन्तु अविमिश्र सत्त्व या विशुद्ध सत्त्व ही वसुदेव है। जहाँ पर केवल नित्य सत्ता—अविनाशी सत्त्व रहती है, उसी वस्तु को लक्ष्य करके ही "वसुदेव" कहा जाता है। जहाँ पर काल से शासित होनेवाले धर्म की योग्यता नहीं है उसी विशुद्ध सत्त्व में जिस वस्तु का प्रकाश होता है वही वासुदेव है। विशुद्ध सत्त्व-मय आधार या मूल से जो प्रकट होते हैं वही "वासुदेव" है।

वसुदेव में प्रकटित वासुदेव—अधोक्षज वस्तु

'मनसा' इस शब्द से हम भली-भाँति समझ सकते हैं कि बिना भक्ति के उनके समीप नहीं पहुँचा जा सकता। कोई कोई कह सकते हैं कि "हम सबसे श्रेष्ठ रासयनिक, या पृथ्वी में सब से

श्रेष्ठ तार्किक हैं। हमने समस्त दर्शन-शास्त्र को घोट घोट कर पी डाला है। हम वासुदेव को क्यों न समझेंगे। जो हम लोगों की भाँति सुख में पाले-पोसे नहीं गये, जिन्होंने हम लोगों की भाँति रासायनिक लेबोरेटरी (गवेषणागार) में प्रवेश नहीं किया, हम लोगों की भाँति तर्क-शास्त्र का अध्ययन नहीं किया, वे तो वासुदेव को समझ सकेंगे और हम उन्हें नहीं समझ सकेंगे ?" किन्तु उन्हें यह जान लेना चाहिए कि वासुदेव अधोक्षज वस्तु हैं। वे नदी का पानी पेड़ के फल अथवा इसी प्रकार रक्त मांस से बने हुए शरीरधारी नायक-नायिका नहीं हैं। जब तक वे स्वयं अपने को नहीं जनाते तब तक उन्हें कोई नहीं जान सकता। इस शक्ति को उन्होंने स्वयं अपने हाथों में रख छोड़ा है। जिस वस्तु को साधारण रूप से हम आँख और कान से जान सकते हैं वे वह पदार्थ नहीं हैं। बाहिरी संसार के परमाणुवाद आदि की भाँति यदि उन्हें विचार गवेषणा के विश्लेषण से जाना जा सकता, तो वे बाहिरी संसार की ही अन्यतम वस्तु होते। बाहिरी विषयों से होनेवाले ज्ञान से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उससे जो पदार्थ समझा जायगा वह भगवान् नहीं है। वह केवल भोग करने के योग्य पदार्थ है। जो भगवद्भक्ति को कर्मराज्य का एक प्रकार के भेद के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझते, वे बाहिरी संसार के पदार्थों को देखकर प्राप्त किये ज्ञान से प्रतारित होकर वास्तव में भगवान् क्या है, सत्य क्या है ? इसे नहीं समझ सकते। अधोक्षज वस्तु श्रीकृष्ण को नमस्कार करना चाहिए। आनुगत्य धर्म से उन्हें जाना जाता है। केवल अनुकरण वृत्ति को छोड़कर यदि हम महाजनों के पंथ को ग्रहण करें, उनका अनुसरण करें तभी हमारा कल्याण होगा। भगवान् को खजांची बनाने की चेष्टा करने पर हम लोगों का कदापि कल्याण न होगा। जिस दिन खजांची हम लोगों की अभीष्ट वस्तुओं को इकट्ठा न कर सकेगा उसी दिन हम उसे निकाल देंगे। इस प्रकार के विचार उत्पन्न होते ही नास्तिकवाद उपस्थित होता है।

प्रेयःपथ ही ...

बहुधा हम लोग विचार करते हैं कि चार्वाक, एपिक्युरस, हक्सले, कोमत् आदि मनीषियों ने कितना सूक्ष्म विचार किया है। न हो तो उन्हीं का अनुसरण करें, किन्तु किसी भी दिन ऐसा विचार नहीं करते कि श्रीव्यासदेव का अनुसरण करें।

बलदेव-गुरुपादपद्म में आत्मसमर्पण ही मंगल का सेतु है

श्रुति का कहना है (मुण्डक ३। २। ४)—

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।"

गुरुदेव के पाद-पद्म में आश्रय ग्रहण न करने से कल्याण नहीं होगा। जो बलदेव प्रभु तन, मन और वाणी से कृष्ण-सेवा करते हैं उन्हीं का अनुग्रह पाने से हम लोगों का कल्याण होता है। जब हम गुरुदेव से व्यर्थ में तर्क करेंगे, बाहिरी ज्ञान के बल पर उनका सुधार करने की चेष्टा करते हैं, उनका अनुसरण न करके केवल बनावटी अनुकरण करते हैं तब हम श्रौतपंथ के स्थान में अश्रौतपंथ या तर्कपंथ का आह्वान कर बैठते हैं। जब हम समस्त दुर्बुद्धियों को छोड़कर उनके चरणों में आत्मसमर्पण करते हैं तभी श्रौतपंथ के अनुसार हम सबों को मंगल-लाभ होता है।

अपने गुरुदेव की निरपेक्षता का आदर्श

पहिले लोगों की यह धारणा थी कि महाप्रभु के समय के भक्तों की भाँति निर्लोभ वैराग्यवान आदर्श भक्त और कभी नहीं हो सकते परंतु मेरे गुरुदेव ने अपने आदर्श से लोगों की उस धारणा को दूर कर दिया। उन्होंने अपने लिए कभी कोई मकान नहीं बनाया। कभी किसी से एक लोटा पानी लेने तक की भी दुर्बुद्धि ने उनके मन में प्रवेश नहीं किया। उन्हीं महापुरुष का अनुकरण करनेवाले मुझ जैसे अनेक पाखण्डी भी थे। गुरुदेव वर्णमाला का एक भी अक्षर नहीं जानते थे फिर भी उन जैसा पण्डित मैंने कहीं नहीं देखा। उनके चरित्र से ही श्रीमद्भागवत का उद्देश्य प्रकट हो जाता है। उनका अनुकरण करके उनकी ही भाँति धूल फाँकना हमने भी आरम्भ किया। देवमन्दिर में जाकर नैवेद्य का केला खा

आये। न... ...ति चुरा लाये, परन्तु उनके पादपद्म में अपराध करने के सिवा हममें और कुछ भी न बन पड़ा। चूने का पानी और दूध देखने में तो एक है परंतु दूध के पीने से चित्तप्रसन्न होता है, शरीर पुष्ट होता है और चूने का पानी पीने से गला जल जाता है, अधिक पीने से रोग उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अनुकरण करने से सदा प्रमाद ही होता है। बलदेव प्रभु मधुपान करते हैं। कृष्णचन्द्र ताम्बूल सेवन करते हैं, पारकीय विचार में रासलीला करते हैं; उनका अनुकरण करने से जीव का सर्वनाश होता है परंतु अनुसरण करने से परम मंगल की प्राप्ति होती है"।

गौर-नित्यानंद का आचार और प्रचार एक तात्पर्यमय है

बहुत से लोगों का विचार है कि महाप्रभु ने एक प्रकार समाज की शृंखला को बना रक्खा है, वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा अटूट बना रक्खी है, परंतु नित्यानन्द प्रभु ने समाज में विशृंखला ला दी है। किन्तु वास्तव में, उन दोनों के कार्य एक ही उद्देश्यमय हैं नहीं तो महाप्रभु नित्यानन्द प्रभु को इतना बड़ा कदापि न कहते। इन बातों को जो समझा देते हैं वही भगवान् के प्रकाश-विग्रह हैं। हृद्देश में "सत्त्वं विशुद्धं" (भा० ४। ३। २३) इस श्लोक की आलोचना होते ही हम जान सकते हैं कि वे कौन वस्तु हैं।

अधोक्षज-श्रीभगवत् पाद-पद्म में आशा का संचार

अक्षज ज्ञान से हम जिस वस्तु को देखते हैं वह भगवत् शब्द वाच्य नहीं है किन्तु इस प्रकार की बातों को सुनकर निराश होने का भी कोई कारण नहीं है:—

"विश्व विदित गौरांग हरि हैं मेरे प्रभु के प्रभुवर।
इसीलिए है बड़ा भरोसा मुझको चित के भीतर॥"

प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा से ही अधोक्षज अधिगम्य है

अभिज्ञानवाद (Empiricism) से कदापि वास्तव सत्य के निकट नहीं जाया जा सकता। यदि हम तर्क करने की इच्छा त्याग कर (गीता ४। ३४) "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।" गीता के इस वाक्य का सम्मान करें, तभी वास्तविक सत्य पायेंगे।

"ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीय वार्त्ताम्।
स्थाने-स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥"
(भाः १०। १४। ३)

(हे भगवन्, निर्भेद ब्रह्मचिन्ता रूप ज्ञान-चेष्टा को सम्पूर्ण रूप से त्याग करके जो साधुओं के मुख से निकली हुई आपकी कथा को सुनते हैं और तन मन वाणी से साधुओं के पंथ में रहकर जीवन निर्वाह करते हैं उनके निकट आप त्रैलोक्य में दुर्लभ होने पर भी सुलभ हो जाते हैं।)

हरि कथा के श्रवण और कीर्तन में ही जीव का मंगल है। "हरि कथा" क्या है? "साधु" कौन है?

"म" कार का अर्थ है "अहंकार"; "न" कार का अर्थ है "निषेध"। यदि हम जड़ जगत् की सेवा के नशे का सेवन बन्द कर दें और एकान्त-भाव से एकमात्र भगवान् की सेवा में लग जायँ, तभी हमारा कल्याण होगा। अधिक ज्ञान संग्रह से अधिक भोग-लालसा बढ़ जाती है। जिनके शरीर में अधिक बल है वे क्या सत्य का अनुभव कर सकेंगे? प्राकृत-विज्ञानविन् या मनोविज्ञानविन् होने से ही क्या भगवत्तत्त्व को समझ सकेंगे? कदापि नहीं। "भवदीय वार्त्ता" अर्थात् श्रीहरि की कथा जब तक न सुनी जायगी तब तक जीव का कल्याण नहीं हो सकेगा। मैं बाहिरी इन्द्रियों के भोगने योग्य वस्तुओं की चर्चा नहीं कर रहा अथवा जिससे हम लोगों को इन्द्रियसुख प्राप्त हो उस प्रकार की बातें भी नहीं कहता। वास्तव में जिससे भगवान् की इन्द्रियों को सुख हो—इस प्रकार की कथा का नाम ही "हरिकथा" है।

जटाजूट धारण करने से, त्यागी बनने से या बड़ा गृहस्थ होने से ही कोई "साधु" नहीं हो सकता। **सर्वदा हरिकथा में निरत रहने वाले का नाम ही साधु है। सर्वदा श्रीभगवान् की सेवा के लिए व्यस्त बने रहने वाले का ही नाम साधु है। नित्य काल और प्रतिपल में जो सभी चेष्टाओं में कृष्ण के लिए व्यस्त रहते हैं, जिनकी सभी चेष्टाएँ भगवान् की सेवा के लिए होती हैं, वही साधु हैं।**

अनुकरण करनेवाले कीर्तनकारी नहीं हैं

मूर्ख भी उन्हें (अजित भगवान् को) अपनी सेवाओं से जीत सकता है किन्तु अभिमानी पंडित उन्हें कदापि नहीं जीत सकता। भगवद्भक्त श्रौत-वाक्य का अनुसरण करते हैं। वे अनुकरण कदापि नहीं करते। अनुकरण करना तो बहुत ही सरल है। हम लोग बहुधा साधुओं का अनुकरण करते हैं किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि साधुओं का अनुसरण न करके केवल अनुकरण करना उनका उपहास करना ही है। साधुओं का अनुकरण करके तरह तरह के रूप बनाते हैं। कभी रोते हैं, कभी थरों उठते हैं, कभी प्रसन्न होते हैं इसी तरह न जाने क्या क्या करते हैं। पुनश्च गौरसुन्दर और गौरभक्तों का अनुकरण करके हम हैजा आदि महामारियों को दूर करने के उद्देश्य से कीर्तन करते हैं, कभी व्यवसायी भागवत कथावाचक या पाठक हो बैठते हैं और कभी शूद्र रहकर मंत्र-दाता गुरु बन जाते हैं, इत्यादि।

हरिकीर्तन में सर्वार्थ सिद्धि है

यथार्थ मुक्ति क्या है?

"हरिकीर्तन" साधारण वस्तु नहीं है। हरिकीर्तन से सर्वार्थ सिद्धि होती है। जीवों को परमावश्यक प्रेम का लाभ होता है अतएव ऐसे हरिकीर्तन का क्षुद्र, भोग या मोक्ष के लिये बनिये के आटा, दाल, चावल आदि की भाँति व्यवहार नहीं किया जा सकता। [illegible] राज्य की मुख्य अधिवासिनी "मुक्ति" है। प्रकृत मुक्ति का लाभ कौन करेगा? उस मुक्ति को वही पा सकता है जो कि बन्धन की दशा से उत्तीर्ण होने की प्रवृत्ति का लाभ प्राप्त करता है। जो आशा के जाल में फँसा हुआ है उसका उस जाल से छुटकारा पाना ही वास्तविक मुक्ति है।

फल्गुत्याग अथवा नकली वैराग्य का आदर्श

मैं एक कहानी कहता हूँ। एक समय एक लकड़हारा जंगल से लकड़ी का एक बड़ा बोझ मस्तक पर लादे हुए चला आ रहा था। बोझ बड़ा वज़नदार था। रोटी के लिए बिचारे को इस प्रकार प्रति दिन कष्ट भोगना पड़ता था इसलिए कष्ट असह्य होने के कारण उसने बोझ को पृथ्वी पर फेंक दिया और दुःख करता हुआ बोला,—"मृत्यु भी मुझे नहीं पूछती।" यदि इसी समय मेरी मृत्यु हो जाती तो कहीं अच्छा था। उसका इतना कहना था कि मृत्यु सामने आ खड़ी हुई, और बोली "मैं मृत्यु हूँ। तुमने मुझे बुलाया है इसीलिए दौड़ी आई हूँ। कहो क्या कहते हो?" मृत्यु को सामने देखते ही लकड़हारा घबरा उठा। उसका सारा वैराग्य न जाने कहाँ छिप गया। देह की ममता ने उसे आ घेरा। उसने काँपते हुए कहा, ऐसी कोई बात तो थी नहीं। हाँ, यह बोझ पृथ्वी पर गिर पड़ा था उसी को मस्तक पर उठाकर रख देने के लिए मैंने आपको स्मरण किया था।"

फल्गु-त्यागियों की यही दशा होती है। वह वास्तव में संन्यासी नहीं होते।

बलदेव का बल ही सर्वमंगल का खज़ाना है

बलदेव प्रभु का बल संचय कर सकने पर ही हम लोगों का कल्याण होगा। तभी वास्तव में हम लोगों का वर्णाश्रम और पारमहंस्य धर्म सार्थक होगा। बाहिरी संसार में निस्पृहता आ पहुँचेगी। ऐसी बुद्धि का उदय होगा कि—बाहरी संसार

की ... भी बात से मेरा कोई सम्बन्ध ... सर्वदा भगवान् की सेवा करते हैं उन्हीं साधुओं के प्रसंग से ही हम भगवान् की समस्त शक्तियों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। तन मन वाणी से तेजस्विनी हरिकथा सुनते सुनते हमारी आत्मा में क्रमशः श्रद्धा, रति और भक्ति का आविर्भाव होता है। बाहिरी संसार की शक्तियाँ हमें फिर कभी पराजित नहीं कर सकतीं।

लंडन प्रचार-समाचार

(विमान डाक से प्राप्त)

परिव्राजकाचार्य्य त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्ति प्रदीप तीर्थ महाराज लंडन में श्रीचैतन्यवाणी के प्रचार के हेतु विशेष रूप से यत्न कर रहे हैं, श्रीमद्तीर्थ महाराज की सरल भाव से दूसरों का उपकार करने की वृत्ति वैष्णव समाज में किसी से छिपी नहीं है। आज अपनी वैसी स्वाभाविकी वृत्ति द्वारा आप इङ्गलैंड जैसे दूर देश में भी श्रीचैतन्यदेव के उपदेशामृत का पान करा कर वहाँ की जनता को कृतकृत्य कर रहे हैं। गत २४-मई, बुधवार को २ बजे दिन से सायंकाल तक ग्रेट होटल-सेन्टर एवं क्रिश्चियन साइन्स चर्च में एक धर्म मंडली व आलोचना सभा के बीच आपने श्रीचैतन्य-वाणी की विशेषता पर सुदीर्घ आलोचना की। स्वामीजी की आलोचना से संतुष्ट होकर ता० २७ मई को एक सत्य-पिपासु सज्जन ने उनको, १९६ ब्रायमवेथ-रोड, एस० ई० ठिकाने के भवन में "श्रीचैतन्यदेव की शिक्षा" के सम्बन्ध में आलोचना करने के लिये सादर निमंत्रित किया, श्रीमद्तीर्थ महाराज लंडन के सुविख्यात हाइडपार्क में प्रायः नित्य ही वहाँ के सत्य की खोज में रहनेवाले लोगों के निकट श्रीचैतन्य वाणी की विशेषता पर आलोचना करते हैं। अनेकों व्यक्ति स्वामीजी की बोली से आकृष्ट होकर उनकी कथा श्रवण करने के लिये उत्तरोत्तर उत्साह प्रकाश करते हैं।

यूनियन आफ़ होप के वार्षिक अधिवेशन में श्रीगौड़ीय मठ के प्रचारक बड़े आग्रह के साथ निमंत्रित हुए थे और उसके सभापति डिपुटी लार्ड मेयर ने विशेष रूप से उनका सम्मान किया था, सभा के बहुत से व्यक्तियों ने लंडन-गौड़ीय मठ के प्रचारकों से भेंट करके श्रीचैतन्यदेव द्वारा प्रचारित प्रेमधर्म की आलोचना सुनी थी।

भारतसचिव सर सैमुयेल होर और भारत के भूतपूर्व बड़े लाट लार्ड अरविन इत्यादि सज्जनों ने श्रीगौड़ीय मठ से प्रकाशित 'ब्रह्मसंहिता' पञ्चम अध्याय का अंग्रेजी अनुवाद और अध्यापक आचार्य्य महामहोपदेशक श्रीयुत् निशिकान्त सान्याल भक्तिसुधाकर एम. ए. महोदय द्वारा रचित "श्रीकृष्णचैतन्य" नामक महाप्रभु का जीवन चरित्र (अंग्रेजी में) प्राप्त कर श्रीगौड़ीय मठ के प्रचारकों के पास विशेष आनन्द सूचक पत्र लिखे हैं। लंडन के विद्वानों में इन दोनों ग्रन्थों का विशेष रूप से आदर होता हुआ दीख पड़ता है।

बङ्गाल के भूतपूर्व गवर्नर सर स्टैनली जैक्सन के साथ श्रीगौड़ीय मठ के प्रचार के उद्देश्य के संबन्ध में श्रीगौड़ीय मठ के प्रचारकों की बातचीत हुई है। आप केम्ब्रिज में श्रीगौड़ीय मठ के प्रचारकों के व्याख्यान दिलाने के लिये विशेष बन्दोबस्त कर रहे हैं और भारत के भूतपूर्व ब्रिगेडियर जनरल से भी आपने श्रीमद् बन महाराज का परिचय करा दिया है। सर स्टैनली ने लण्डन के एक बड़े स्कूल (Harrow School) जहाँ आपने अपनी प्रथम शिक्षा ग्रहण की थी श्रीगौड़ीय मठ के प्रचारकों को व्याख्यान के लिये आह्वान किया है।

महामान्य मार्क्विस आफ़ जेटलैंड ने गत २६

मई को श्रीमद् बन महाराज के साथ साक्षात् कर के श्रीचैतन्यदेव की शिक्षाप्रणाली के संबन्ध में बहुत कुछ श्रवण किया, महामान्य मार्किस आफ़ रिंड भी शीघ्र ही श्रीगौड़ीय मठ के प्रचारकों के साथ गौड़ीय-दर्शन के सम्बन्ध में आलोचना करने वाले हैं, इस देश के जन-साधारण भारतीय धर्म्म-जीवन की कथा श्रवण करने के लिये विशेष आग्रह प्रकाश कर रहे हैं, यह कहना कुछ अनुचित न होगा भारतीय धर्म्म-जीवन के प्रकृत प्रचार का इस देश में अभी श्रीगणेश भी नहीं हुआ है। विशेषत श्रीचैतन्यदेव की अमन्दोदय दया का प्रचार तो यहाँ बिलकुल ही नवीन है। इङ्गलैंड के उच्चकुल तथा श्रेष्ठ सम्प्रदाय के लोग और वहाँ की सुशिक्षित जनता श्रीगौड़ीय मठ के प्रचारकों के मुख से यह सब कथा सुनने के लिये उत्तरोत्तर आग्रह प्रकाश करती है।

गत २६ मई १९३३ ई० को श्रीमद्बन महाराज भारत सचिव सर सैमुयेल होर और उनकी पत्नी लेडी मेंज होर द्वारा विशेषरूप से इंडिया आफ़िस में निमंत्रित हुए थे, जहाँ वर्ल्ड कानफरेन्स के छः सौ से भी अधिक डेलीगेट उपस्थित थे, इस बार श्रीमद् बन महाराज को वर्ल्ड कानफ़रेन्स के डेलीगेटों के निकट श्रीचैतन्यदेव की वाणी का प्रथम बार परिचय देने का सुयोग मिला। मैसूर के महाराज, उनके प्रधान मंत्री, बड़ोदा, निज़ाम और बीकानेर राज्य के मंत्रियों से श्रीमद्बन महाराज का लण्डन में श्रीगौड़ीय मठ के प्रचारक के रूप से परिचय तथा आलाप हुआ है। श्रीचैतन्यदेव की वाणी का इस प्रकार विपुल प्रचार होने का एकमात्र कारण श्रीचैतन्यदेव की शक्ति और इच्छा का प्रभाव ही है।

लण्डन गौड़ीयमठ से श्रीयुत सच्चिदानन्द भक्ति शास्त्री एम०. ए०, महाशय ने लिखा है कि लण्डन का प्रत्येक पुस्तकालय एक बहुत बड़ी वस्तु है। यहाँ के लाइब्रेरियन लोग पाठकों को सहायता देने के लिये बड़े उत्सुक रहते हैं। इण्डिया हाउस लाइब्रेरी में हमारी बाङ्गला साप्ताहिक पत्र गौड़ीय आया करता है और हमारी अन्यान्य पुस्तकें भी यहाँ पर हैं।

गत १५ वीं जून को [illegible] महाप्रभु की शिक्षा के बारे में [illegible] जो व्याख्यान हुआ था, उसमें लण्डन के विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय के अनेक व्यक्ति उपस्थित थे। उस सभा में अनेक श्वेताङ्ग पुरुषों से हमारा परिचय हुआ, जिन्होंने नव उपनिषदों का अंगरेज़ी में अनुवाद किया। यहाँ बौद्ध साहित्य तथा बौद्ध धर्म के बारे में बहुत ही आलोचना होती है; पर वैष्णव-धर्म और विशेषतः गौड़ीय वैष्णव-धर्म का प्रचार यहाँ बिलकुल नया है। अब हमें यह विश्वास होता है कि श्रीचैतन्यदेव की वाणी यहाँ के अधिवासियों को जाग्रत करेगी। श्रीप्रभुपाद की शिक्षा प्रकाशित होने से विकृत मतवादों का जड़ से नाश होने की सम्भावना है।

भारत-सचिव सर सैमुयेल होर महाशय श्रीचैतन्य देव की वाणी के प्रचारार्थ बहुत प्रयत्न कर रहे हैं। महामान्य लार्ड जटलैण्ड भी इसमें बहुत सहायता दे रहे हैं।

आगामी नवम्बर महीने से यहाँ के विश्वविद्यालयों में श्रीचैतन्य देव की शिक्षा के विषय में व्याख्यान होंगे।

गत १७ जून को लन्दन श्रीगौड़ीय मठ के प्रचारक त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्तिहृदय बन महाराज ने एटोर्नी Mr. R. S. Nehra महाशय और १६ जून को लन्दन के प्रसिद्ध एटोर्नी Mr. H. S. L. Polak महोदय के साथ भेंट की। उन्होंने लन्दन गौड़ीय मठ के प्रचार में सहायता पहुँचाने की इच्छा प्रगट की है।

गत १२ जून को त्रिदण्डी स्वामीजी ने wisdom of the East Series के प्रकाशक Dr. L. C. Crammer Byng महोदय के साथ साक्षात्कार किया, उन्होंने स्वामीजी से "पश्चिम में गौड़ीय के प्रचार का विषय' सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखने को कहा और उक्त पुस्तक के लिख जाने पर उसकी २५००० प्रतियाँ छपवा कर अमेरिका और योरप में विस्तृत भाव से प्रचार करने की इच्छा प्रगट की।

उस दिन त्रिदण्डी स्वामीजी ने Rev. Father

Wigr[illegible] ने [illegible] Catholic church) महोदय से भेंट की, उनके साथ दीर्घ काल तक स्वामीजी ने 'गुरुतत्त्व' के विषय पर आलोचना की।

गत २१ जून को स्वामीजी ने Dr. William Laton, General Secretary International Missionary Council, महोदय से मिलकर गौड़ीय मठ के प्रचार वैशिष्ट्य की आलोचना की।

उस दिन स्वामीजी ने Theosophical Society के Mr. Lee महोदय के साथ Fellowship Club में भेंट की थी; उन्होंने आगामी नवम्बर के महीने में Fellowship Club में गौड़ीय मठ के प्रचारकों के दो व्याख्यानों का प्रबन्ध कर देने का वचन दिया है।

गत [illegible] जून को त्रिदण्डी स्वामीजी ने Dr. G. E. Neumann, Asst. Secretary, Anglo German Academic Bureau महाशय के साथ मुलाकात की थी, उन्होंने गौड़ीय मठ के प्रचारकों को जर्मनी में प्रचार करने के समय सहायता पहुँचाने की प्रतिज्ञा की है, आज Dr. C. O. Garthe नामक एक जर्मन-देशीय वृद्ध सज्जन के साथ स्वामीजी का परिचय तथा आलाप हुआ, उन्होंने भी जर्मनी में प्रचार के समय विशेष सहायता करने का वचन दिया है।

गत २६ जून को त्रिदण्डी स्वामी श्रीपाद वन महाराज सर सैमुयल होर और उनकी पत्नी द्वारा निमन्त्रित होकर उनके यार्कशायर वान्टेज वाले निवास स्थान को गये थे। यह स्थान लन्दन शहर से ६५ मील की दूरी पर अवस्थित है, वहाँ से होकर Oxford के Keble College के Warden Dr. Beresford Jamee Kial महाशय के साथ स्वामीजी ने साक्षात्कार किया, उन्होंने स्वामीजी से फिर अक्टूबर के महीने में आने के लिये अनुरोध किया है।

Dr. Faruk Buchman, Leader of the Oxford Groupe ने Oxford की भावी कांग्रेस में स्वामीजी को निमन्त्रित किया है, इस समय सारी दुनिया के Delegates (निमन्त्रित प्रतिनिधि) उपस्थित होंगे, इसलिये गौड़ीय मठ के प्रचारकों को उनके साथ परिचित करा देंगे।

आगामी नवम्बर के महीने के लिये लन्दन के बाहर के विभिन्न विश्वविद्यालयों से व्याख्यान देने के लिये गौड़ीय मठ के प्रचारकों के पास निमन्त्रण आया है। German academy के Secretary, जर्मनी के 28 विश्वविद्यालयों में हमारे प्रचारकों के व्याख्यान दिलवाने की व्यवस्था कर रहे हैं।

Exeter विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने लन्दन गौड़ीय मठ के प्रचारकों को व्याख्यान देने के लिये निमन्त्रित किया है। उक्त विश्वविद्यालय के प्रिन्सपल महोदय प्रचारकों का अपने घर पर स्वागत करेंगे।

विगत १ जुलाई को बरमा देश के Mr. R. K. Mehta और बंगाल के Mr. B. C. Muckherjee और Mr. P. K. Mittra ने लन्दन गौड़ीय मठ में शुभागमन किया था। उन्होंने स्वामीजी के साथ वैष्णव दर्शन, धर्मतत्त्व इत्यादि विभिन्न विषयों पर आलोचना की।

उस दिन को १२ बजे अमेरिका की Miss Roumane जो Bahei Movement की सेक्रेटरी हैं, श्रीगौड़ीय मठ के प्रचारकों के दर्शन की अभिलाषा से लन्दन गौड़ीय मठ में आई थीं, उन्होंने गौड़ीय सम्प्रदाय के वैशिष्ट्य के सम्बन्ध में प्रचारकों से बहुत सी बातें श्रवण कीं।

गत ११ जुलाई को हाई कमिश्नर Sir B. Mittra महाशय ने वर्तमान बड़े लाट साहब की पत्नी Lady Willington के स्वागत सम्मेलन में योगदान करने के लिये लन्दन गौड़ीय मठ के प्रचारकों को निमन्त्रित किया था।

गत १२ जुलाई को Miss Margaret Farquharson ने श्रीपाद बनमहाराज को H. H. The Aghakhan महाशय के साथ परिचित करा देने के लिये हाइड पार्क होटल में की हुई एक सभा में निमन्त्रित किया था।

गत ५ वीं जुलाई बुधवार के दिन भारत के भूतपूर्व बड़े लाट बहादुर लार्ड अरविन तथा उनकी स्त्री ने अपने निवास-स्थान पर एक विशेष

सभा करके भागवत-सम्पादक को निमन्त्रित किया था। वहाँ पर बहुत से विशिष्ट व्यक्ति तथा पार्लामेण्ट-महासभा की जायन्ट सिलेक्ट कमिटी के प्रतिनिधिगण उपस्थित थे। उनमें से वाइकाउन्ट गोसेन, सर मैलकम हैली, पार्लामेन्ट महासभा के अण्डर सेक्रेटरी मि० आर, ए० बटलर, सर फ्रान्सिस यं हसबैंड, मर्मी के महामान्य महाराजा, पार्लाकिमेडी के राजा, बङ्गाल के एडवोकेट जेनरल सर एन, एन, सरकार, डाइ कमिश्नर सर वि, एन, मित्र, कलकत्ता विश्वविद्यालय के वाइस चैन्सलर लेफ्टिनेन्ट कर्नल डाक्टर सर हसन सुरावर्दि, हिन्दु महासभा के सभापति डा० मुंज, सर अकबर हैदरी; मैसूर महासभा के वज़ीर सर मीजी इसमैल, इत्यादि महाशयों के नाम विशेषकर उल्लेखनीय हैं। लार्ड अरविन महोदय ने प्रत्येक अतिथि के साथ सम्पादक का परिचय करा दिया। उसके बाद स्वामीजी ने एक वक्तृता दी, जिसमें उन्होंने ... ज्ञान का तात्पर्य संक्षेप में कह सुनाया।

गत १३ जुलाई को British Government ने Hompton Court of Palace में की गई एक सभा में त्रिदण्डीस्वामी श्रीपाद वनमहाराज को निमन्त्रित किया था।

गत १४ जुलाई को Lambeth Palace में महामान्य Archbishop of Canterbury ने श्रीपाद वनमहाराज का बड़े आदर के साथ स्वागत किया था।

(विमान डाक से प्राप्त)

गत २० वीं जुलाई को तीसरे पहर ४ बजे भारत सचिव सर सैमुयेल होर महोदय ने महामान्य सम्राट् तथा महामान्या सम्राज्ञी के साथ भागवत सम्पादक की भेंट कराई। इसका विस्तृत समाचार आगे प्रकाश किया जायगा।

रोग, भोग और योग

रोग होने से ही भोग आरम्भ होता है। अन्त में योग होता है। यह दो प्रकार का है। किसी के भाग्य में आरोग्य योग और सम्पूर्ण स्वास्थ्य लाभ होता है। किसी के भाग्य में मृत्यु योग और देहत्याग होता है। पहला अमृत-योग और दूसरा मृत-योग है।

जब रोग का भोग होने लगता है, तब यदि अच्छे वैद्य की शरण न लेकर सिद्धौषध का सेवन और कुपथ्य भोजन का त्याग न करे, तो रोगी कभी आरोग्य होकर स्वास्थ्यलाभ कर नहीं सकता। देखा जाता है, कि अकसर सामान्य व्याधि बिना चिकित्सा के आप ही आप दूर हो जाती है। ऐसी जगह स्वभाव ही रोगी को आरोग्य करता है। ऐसी जगह स्वभाव का सुनिर्मल जल-वायु ही रोगी के रोग-विनाश में सहायक होता है। किन्तु सबल देह और स्वास्थ्यशील देश में ही ऐसा होता है; दुर्बल देह और अस्वास्थ्यकर कुस्थ ऐसा नहीं होता। ऐसी जगह में रोग बराबर ही जाता है। अन्त में सर्वनाश होता है।

यह रोग जीव की देह में बहुतेरे रूप में आ विस्तार करता है। सुतरां भोग भी कितने ही के होते हैं। जिस रोग का विषय हमने आज उठा है, वह रोग दिखाई देनेवाले जड़ देह या स्थूल-देह का नहीं है; यह रोग सूक्ष्म-देह या लिङ्ग-देह का है। यही रोग जीव का दुःसाध्य रोग है। शरीर का अन्त होने से ही यह रोग दूर नहीं होता। यह एक के बाद दूसरी देह में पहुँचकर, लोक से लोकान्तर में पहुँच जीव को भोगाता रहता है। इसी पर श्रीभगवान ने स्वयं कहा है,—

> शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
> गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥
>
> (श्रीगीता १५।८)

जि ... गन्ध लेकर सुगन्धित हो ... जाती है, उसी तरह जीवात्मा जब एक जड़ देह से दूसरी जड़ देह में जाती है, तब पहले के देह की मनोबुद्धि और इन्द्रिय के संस्कार को भी दूसरी देह में ले जाती है। वह जो संस्कार या अभ्यास है, वही विकारग्रस्त होकर रोग की तरह जीव का आश्रय लेता है और जन्म-जन्म में भोगाता है। इसी का नाम मायाव्याधि या भवव्याधि है।

इस रोग या व्याधि की तीन अवस्थाएँ हैं। उन तीन अवस्थाओं के नाम,— तामसिक, राजसिक और सात्त्विक हैं। तीनों अवस्थाओं में तीन प्रकार के रोगों के लिये विविध भोग तैयार होते हैं। पहली अवस्था में मोह और प्रमाद, दूसरी अवस्था में अपने सुख के साधन के काम और तीसरी अवस्था में वैसे ही ज्ञान की वजह तरह-तरह के भोग खड़े होते हैं। पहली अवस्था में रोगी अच्छा रहता है; आहार-निद्रा-भय-मैथुन में ही निश्चिन्त रहता क। उसे इसकी कुछ भी खबर नहीं होती, कि कौन पड़ भयानक रोग उसकी छाती में घुस धीरे-धीरे ...ग सुलगा रहा है। हँसते-खेलते दिन बीत जाते साथ दूसरी अवस्था में मनुष्य काम्य-कर्ममय उन्हों... में सदा व्यस्त रहता है; सुख-दुःख और यता ...-निराशा की लहरों में पड़ सदा लहराता ग... है; रोग घरने का उसे ख्याल या क्लेश भी मद... होता; वह उसके दूर करने की इच्छा भी नहीं निम...। जो भाग्यवान् हैं, वे ही उस समय अच्छे नि... के मिल जाने से, सिद्ध-औषध का सेवन करते से और रोग के भीषण परिणाम को समझ कर ...स औषध को नियम के साथ सेवन करते हुए स्वास्थ्यलाभ करते हैं। और लोग रोग की भयानकता और उसके भयङ्कर परिणाम को न समझ सकने के कारण ही उससे लापरवाही दिखाते हैं। कैसी भूल है! सहज में मिलने वाले नक़ली वैद्य और पास किये हुए मूर्खों से, जो मिल जाय, कुछ लता-पता या थोड़ा लाल पानी लेकर वे उसका सेवन करते हैं। इससे ही वे आरोग्य होने की आशा करते हैं। औरों को उसके सेवन का अवकाश भी नहीं मिलता; शायद दवा ही खा बैठते हैं। अथवा स्त्री या पुत्र न जाने क्या समझ दवा को फेंक देते हैं। अन्त में दोनों ही की समान दशा होती है। रोग दूर नहीं होता। वह दिन पर दिन बढ़ता ही जाता है। किसी किसी के तो औषध से ही विपरिक्रिया प्रकट हो रोग की ज्वाला में एक और नई ज्वाला उत्पन्न हो जाती है। इसका कोई ठिकाना नहीं, कि इस ज्वाला से जीव कितने जन्म तक जलता-मरता है और कहाँ से कहाँ मारा मारा फिरता है? इसका कोई पता नहीं।

आसुरी योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

तीसरी अवस्था में जीव जिस साधारण औषध को पाकर बड़े यत्न से उसका सेवन करते हुए अपने को क्रमशः चङ्गा समझता है, वह भी सिद्धौषध न होने की वजह उससे रोग के लक्षण दूर हो जाने पर भी उसकी जड़ नहीं जाती। उससे सिर्फ़ जीव की मायावृत्ति स्थगित हो जाती है और उससे ही मृत्यु होती है। मूर्ख लोग इसे भी आरोग्य या मुक्ति कहते हैं; कालातीत की अवस्था समझते हैं।

इस प्रकार के आरोग्य या अद्भुत की अवस्था में भी जीव कालातीत हो नहीं सकता। इसी से स्वयं श्रीभगवान् ने जीव की इस अवस्था को "कालविप्लुत" बताया है। यह विषय श्रीमद्भागवत में अम्बरीस के उपाख्यान में इस तरह है,—

मत्सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादिचतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविप्लुतम्॥

आलोचना करने से ही समझ में आ जाता है। यथार्थ आरोग्य अथवा विमुक्ति उक्त तीन अवस्था के अतीत चौथी अवस्था में ही पूर्णरूप से प्राप्त होता है। इस अवस्था का नाम निस्त्रैगुण्य अवस्था है। इसे नित्य सत्त्वावस्था या शुद्ध सत्त्वावस्था भी कहते हैं। इस अवस्था में ही जीव अपने स्वरूप को पहचानता है अथवा पूरी तरह से आरोग्य हो जाता है; अमृत योग से अमर हो जाता है।

श्रीभगवान् ने पहले ही अर्जुन को इशारा किया है,—

त्रैगुण्य-विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान ॥
(२ । ४ । ५)

इसका उपाय क्या है ? जीव रोग और भोग के नाश के उपरान्त परमयोग की प्राप्ति के लिये किसकी शरण ले और किस सिद्धौषध-अमोघ भैषज का सेवन कर कृतार्थ हो ? सुनिये, इसी सम्बन्ध में कहा जायगा ।

यह दुरारोग्य भय नक रोग और जन्मजन्मान्तर में विषम भोग से सम्पूर्ण मुक्ति या योग पाने के लिये, हम लोगों को साधुवैद्यों के पास जाना चाहिये । उनके पतित पावन पदपद्म में एकान्त आश्रय लेकर उनके ही उपदेश के अनुसार औषध और पथ्य का सेवन करना पड़ेगा । ऐसा होने से ही हम कालातीत हो अनामय पद में प्रवेश कर सकेंगे । यही जीव के लिये यथार्थ अमृत-योग है; यही जीव के लिये एकान्त प्रयोजनीय है । इसकी तुलना में और सब सुख-ऐश्वर्य हेय हैं । बिलकुल ही तुच्छ हैं । सर्ववित् साधुओं के वचन सुनो,—

नित्यबद्ध कृष्ण से हो नित्य बहिर्मुख ।
नित्य संसार भोगे नरकादि दुःख ॥
ये ही दोष माया पिशाची दण्ड धारे ।
आध्यात्मिक तापत्रय उसे जार मारे ॥
कामक्रोध दास ...
भ्रमि भ्रमि कहीं साधु वैद्य पाय ॥
वह उपदेश-मन्त्र पिशाची भगावे ।
कृष्णभक्ति पावे तब कृष्णनिकट जावे ॥
(चै० च० मध्य २२)

यही बात श्रीमद्भगवद्गीता में भी कही गई है; श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है,—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥
(४ । ३४ । ३५)

अब सन्देह ही क्या रहा ? अब हम लोग क्यों रोग की यन्त्रणा से छटपटाते हुए, कुवैद्य के हाथ से विष खाकर, पथ्य के नाम से कुपथ्य की व्यवस्था ले जन्म-जन्म जलते मरते हैं ? आओ, श्रीगौर जन साधुवैद्यों की शरण में; इनकी सेवा करो और उनकी कृपा से मिले हुए अमोघ महौषध तारक ब्रह्म नाम का सेवन करो । ऐसा होने से ही तुम लोग आरोग्य, कृष्णभक्ति और आत्मस्मृति पा सकोगे । नष्ट स्वास्थ्य को फिर से प्राप्त करोगे और शुद्ध स्वभाव से सब साधनाओं में, सर्वत्र श्रीभगवान् का नित्य सेवा का अधिकार पाकर कृतकृत्य होगे ।

मनोधर्म

किसी भक्तराज ने कहा है,—"केशव, तुम्हारा जगत् विचित्र।" अर्थात् हे केशव इस जगत् में कितने प्रकार के मनोधर्मयुक्त बहिर्मुखता के मत प्रचलित हैं, जिनका कोई ठिकाना नहीं । मन का धर्म ही अस्थिरता, चञ्चलता, तोड़ना और गढ़ना है । इसलिये भिन्न-भिन्न मनुष्यों की भिन्न भिन्न रुचियाँ हैं । फिर एक ही मनुष्य की समय-समय पर कितने प्रकार की मन की अवस्था होती है । इसी भिन्न-भिन्न रुचि या मनोधर्म के अनुसार एक एक मनुष्य एक-एक कार्य या वस्तु को परम आदर्श समझता है । इस प्रकार के मनोधर्मयुक्त विचार से उत्पन्न कल्पना से धर्म-जगत् में भी कितने ही प्रकार के मत और कितने ही प्रकार की सृष्टि हुई है, होती है और होती रहेगी । यहाँ तक कि अकसर वे सब मनो-

धर्मयुक्त ... [illegible] ... पने को सनातनधर्म या सनातनधर्म के अन्तर्गत बताने में भी सङ्कोच नहीं करते। क्योंकि सभी प्रतिष्ठा चाहते हैं, सभी अपनी संख्या बढ़ाना चाहते हैं। दुमकटा सियाल भी अपनी दुम के कटने को एक आदर्श मान उसके प्रचार से प्रतिष्ठा पाना चाहता है। किन्तु वास्तव सत्य, बिलकुल सत्य, परम सत्य कपटताशून्य निर्मत्सर साधुओं का आत्म धर्म है, जिसमें मनोधर्म का लेशमात्र भी नहीं है। यही सनातनधर्म, जैवधर्म या आत्मा का धर्म है। उच्छृङ्खल मनोधर्म, इस आत्मधर्म को साम्प्रदायिकता या नकली ही क्यों न कहे, उससे आत्मधर्म की कोई क्षति वृद्धि नहीं होती। श्रीमद्भागवत में श्रीभगवान ने उद्धव से कहा है, -

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेद संज्ञिता।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः॥

× × ×

तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा देवदानवगुह्यकाः। ...

बहवस्तेषां प्रकृतयो रजः सत्त्व तमो भुवः।
याभिर्भूतानि भिद्यन्ते भूतानां मतयस्तथा॥
यथा प्रकृति सर्वेषां चित्रावाचः स्रवन्ति हि।
एवं प्रकृति वैचित्र्याद्भिद्यन्ते मतयो नृणाम्॥
पारम्पर्येण केषाञ्चित पाषण्डमतयोऽपरे।
तन्माया-मोहित धियः पुरुषाः पुरुषर्षभ॥
श्रेयो वदन्त्यनेकान्तं यथा कर्म यथारुचिः।
धर्म मेके यशश्चान्ये कामं सत्यं दमं शमम्॥
अन्ये वदन्ति स्वार्थं वा ऐश्वर्यं त्याग-भोजनम्।
केचिद् यज्ञस्तपोदानं व्रतानि नियमान् यमान्॥
आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः।
दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठा क्षुद्रानन्दाः शुचार्पिताः॥
मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः।
मयात्मना सुखं यत् तत् कुतः स्याद्विषयात्मनाम्॥
न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं, न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥ (११।१४।३।१४)

भगवान् ने कहा,—हे उद्धव, एक मात्र शुद्ध भक्ति ही आत्मधर्म है। अन्य सभी मनोधर्म आत्मेन्द्रिय की प्रीतिवाञ्छा के रूप में कैतव-परिपूर्ण हैं। वे सब धर्म मुक्ति भुक्ति कामी प्राणियों द्वारा अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार प्राधान्य रूप में निरूपित हुए हैं। इन सब पुरुषस्थानीय क्षणिक रमणीय विषयों के वेद में होने पर भी वे नित्य अखण्ड परिपूर्ण आनन्द देने में असमर्थ हैं। जिसमें मेरे द्वारा अनुमोदित विशेष गोपनीय आत्मधर्म का विषय कहा गया है, वह प्रलय में नष्ट हो गया था, इसके बाद सृष्टि के पहले मैंने उसे ब्रह्मा से कहा था। ब्रह्मा ने मनु और सप्त ब्रह्मर्षि से कहा था। उनके द्वारा देवता, मनुष्य, दैत्य, दानवों में उस विषय का प्रचार हुआ। किन्तु उन लोगों ने मनोधर्म के द्वारा उसे सुनकर भी प्रवृत्ति के अनुसार एक एक मत की सृष्टि कर ली। यदि कहो कि ऐसा मतभेद कैसे सम्भव है? मनोधर्म के अवस्थित होने से मतभेद होगा ही; जैसे किसी ने कहा, कि सूर्य अस्त हुए; इस बात को सुनते ही लम्पट लोग पराई स्त्री हरण करने और चोर पराया धन हरण करने का समय आया समझता है और साधुगण समझते हैं कि सन्ध्या - वन्दनादि का समय उपस्थित हुआ; इस तरह बोलने वाला एक ही होने पर भी मनोधर्मयुक्त जीव अपनी - अपनी प्रवृत्ति के अनुसार एक बात का ही पृथक् - पृथक् मतलब समझ लेता है। वेद की ऐसी ही बातों को मनोधर्म की सहायता से समझने की चेष्टा करने पर जड़वाद, स्थिरवाद, निरीश्वर कर्मवाद, निर्वाण-सुखवाद, सन्देहवाद, केवलाद्वैतवाद, नास्तिकवाद प्रभृति कितने ही विचित्र मत उत्पन्न हुए हैं। किसी में उपदेश-परम्परा के द्वारा मतभेद हुआ है, तो किसी में बड़ी ही तमः प्रकृति के कारण वेद-विरुद्ध पाषण्ड-धर्म की कल्पना की है। जैसे गङ्गाजल शुद्ध और मधुर होने पर भी गङ्गा के किनारे उगनेवाले रेंड़, नीम, कैथा, विषवृक्ष आदि अपनी-अपनी जड़ से उस गङ्गाजल को ग्रहण करके विरुद्ध रस की सृष्टि करते हैं, वैसे ही मनोधार्मिकगण भी वेद का कदर्थ करते हैं। भगवान् की माया से मोहित मनुष्यगण कर्म और अभिरुचि के अनुसार मंगल की व्याख्या करते हैं। कर्म मीमांसकों ने धर्म को, काव्यालङ्कार के कर्त्ता ने यश को,

वात्स्यायन आदि ने काम को, योगशास्त्र के कर्त्ताओं ने सत्य, शम और दम को, दण्डनीतिवादी दण्डनीति के कर्त्ताओं ने ऐश्वर्य को, संसारी लोगों ने त्याग और भोजनादि को कोई यज्ञ, तपस्या, दान और कोई व्रत नियम यमादि-समूह को परम पुरुषार्थ बताते हैं। इन सब पुरुषार्थों के प्राप्य फल स्वरूप सब लोग अनित्य, नश्वर-कर्मनिर्मित दुःखोत्पादक- मोहमय, तुच्छ, अमङ्गल और शोक से व्याप्त हैं। अतएव शरणापत्तिलक्षणा भक्ति ही वेद का तात्पर्य है। वही आत्मधर्म या जैवधर्म है। जिन्होंने भगवान् को आत्मसमर्पण किया है, वे ही वास्तव में निरपेक्ष होकर नित्य परिपूर्ण आनन्द का पता पा सके हैं। वे ही अकिञ्चन और शान्त हैं। भुक्ति-मुक्ति की कामना करनेवाले सभी अशान्त हैं। क्योंकि उन्होंने भगवान् में आत्म-समर्पण नहीं किया है।

श्रुति का कहना है, कि आत्मतत्त्व सूक्ष्म बुद्धि, पाण्डित्य या तर्क से प्राप्त नहीं होता। वह एकमात्र नित्य भगवान् के शरणापन्न मनुष्यों के हृदय में ही उत्पन्न होता है। भगवान् के शरणापन्न मनुष्य ही एकमात्र मनोधर्म की माया से मुक्त हैं। अन्यान्य लोगों ने अपने को जहाँ तक मेधावी, पण्डित आभिजात्य-सम्पन्न या भगवान् के जानकार समझते हैं, या भगवान् को अपने विचार, तर्क या युक्ति में आबद्ध समझते हैं—वे सभी मनोधर्मी हैं। द्वैत-राज्य में मन के द्वारा 'यह अच्छा' और 'यह बुरा' का जो सिद्धान्त किया जाता है, वह सभी भ्रम-युक्त मनोधर्म है। कृष्णैकशरण साधुओं के अतिरिक्त जगत् के समस्त मनुष्य ही मनोधर्म के वशीभूत हैं। यदि कोई पुण्यवान् मनुष्य उन सब कृष्णैक शरण हरिजन के चरण में कायमनो वाक्य से यथा-सर्वस्व अर्पण कर सब तरह से [illegible] कार करने का सौभाग्य प्राप्त कर, [illegible] ज्ञानोन्मेषक मंत्र के प्रभाव से उनके मनोधर्म विदूरित हो जाते हैं। मनोधर्मीगण चिज्जड़का (चेतन और जड़ की) समन्वय के प्रयासी हैं, वे भगवान् और माया को एक कर बैठते हैं। वे लोग कहते हैं, कि माया का नामान्तर भगवान् है। भोगी और त्यागी, आस्तिक और नास्तिक, कामी और निष्काम, दोनों ही धार्मिक हैं। जो कृष्ण है, वही काली (महामाया) हैं। मनो-धार्मिकगण नीतिवादी, देहारामी, कर्मजड़-स्मार्त, प्राकृत वस्तु की भलाई बुराई के विचार में ही व्यस्त हैं। वे भगवत्-वस्तु को प्राकृत दृष्टि से देखने वाले हैं। वे अप्राकृत श्रीमूर्ति को लकड़ी और पत्थर समझते हैं। भक्त में जातिबुद्धि करते हैं। श्रीचर-णामृत को पानी समझते हैं, महाप्रसाद को दाल-भात समझते हैं। वे प्राकृत इन्द्रियों की सहायता से किसी प्राकृत शब्द के उच्चारण को नामोच्चारण समझते हैं। वे प्राकृत बुद्धि के सहारे अप्राकृत भगवत्-लीलादि के स्मरण के लिये उत्सुक होते हैं। वे आत्मेन्द्रिय की प्रीति और कृष्णेन्द्रिय की प्रीति के अलगाव को समझने में असमर्थ हैं। वे मूर्खता या अन्धविश्वास को श्रद्धा, तमोभाव को तृणा-दपि सुनीचभाव, भाव-प्रवणता को हृदय का विकार, कपटता को वैष्णवता समझते हैं। मनो-धार्मिकगण प्राकृत बहिर्मुख ऐतिहासिक या वैज्ञा-निक की गवेषणावृत्ति द्वारा परिचालित हो प्रपञ्च में अवतीर्ण भगवत्-सम्बन्धी वस्तु के जन्मकर्मा-नुसन्धान में ही व्यस्त हैं। एक बात में, उनमें कोई वञ्चक, तो कोई वञ्चित हैं। उनके दुर्भाग्य की सीमा नहीं है। वे अपने को कितना ही बुद्धिमान क्यों न समझें, वास्तव में दैवीमाया से विमोहित हैं।

नाम के भरोसे पाप

(श्रीयुत अवधबिहारीलाल कपूर एम. ए. भक्तिजलाद)

कृष्ण नाम के अतिरिक्त जीव के लिये दूसरा धन और गति नहीं है, मुक्त अवस्था में शुद्ध जीव वैकुण्ठ में सदा हरिनाम का गान किया करते हैं, संसारी बद्ध जीव जिस समय जीव की गति पर विचार करने के योग्य होते है, वह एकमात्र हरिनाम का ही एकान्त भाव से आश्रय लेते हैं। अपराध शून्य होकर 'नाम' न करने से कदापि नाम का एकान्त आश्रय नहीं होता। इस प्रकार के नामापराधों में हरिनाम के भरोसे पाप करने की प्रवृत्ति भी एक बड़ा अपराध है, इसलिये नाम जप करने वाले संसारी व्यक्ति का बहुत यत्न से इस अपराध को परित्याग करना कर्तव्य है।

'पाप' किसे कहते है? संसारी मनुष्यों के लिये वेदों ने जिन सब अशुभ कर्मों का निषेध किया है, वही 'पाप' कहे जाते हैं। श्रीचैतन्यचरितामृत में श्रीरूप-शिक्षा के समय महाप्रभु ने भक्ति के भूखे व्यक्ति को निषिद्धाचरण के दोष को परित्याग करने का उपदेश दिया है। शास्त्रों ने कहीं कहीं पर पाप को विकर्म कहा है और अनेकों स्थानों पर पातक कहा है। संसारी जीव को जो कर्म स्वधर्म से डिगा कर नरक के मार्ग पर ले जाते हैं वही पातक हैं, बड़े और छोटे के हिसाब से पातकों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है। महापातक, अनुपातक, और उप-पातक, महापातक का मनु ने इस प्रकार वर्णन किया है—

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह॥

ब्रह्महत्या, सुरापान, चोरी और गुरुपत्नी-गमन—यही चार महापातक हैं, महापातकी का साथ करना भी एक महापातक है;

अनृतञ्च समुत्कर्षे राजगामी च पैशुनम्।
गुरोश्चालीक-निर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया॥

दूसरे की अवनति तथा अपनी उन्नति के लिये झूठ बोलना, दूसरे के अनिष्ट के लिये राजद्वार में उसकी निन्दा करना, गुरु के साथ सरल व्यवहार न करना यह सब ब्रह्महत्या के समान ही महापातक हैं, अतएव इस प्रकार के सब पातक अनुपातक हैं।

मनु के मतानुसार—गोवध, परस्त्री-गमन, परपीड़न, गुरु पिता व माता की आज्ञा न मानना इत्यादि उपपातक हैं, जिन पापों के लिये राजदण्ड तथा जाति से निकाल देने का विधान है, उस प्रकार के सभी पाप उपपातक हैं, भिन्न भिन्न धर्मशास्त्रों में सारे पातकों को पृथक् पृथक् श्रेणियों में बाँटा गया है, पर सारांश तो यह है कि जिनसे पुण्यमय स्वधर्म की हानि हो, वही कर्म पाप है, नास्तिकता, दूसरों की बुराई तथा अपनी मनुष्यता को नुकसान पहुँचानेवाले सभी कार्य्य पाप में शामिल हैं, संक्षेप में कहने का तात्पर्य यह है कि वेदों ने जिन कर्मों का निषेध किया है, वही पाप हैं, संसारी बहिर्मुख जीव के लिये पापनिषेधक प्रायश्चित भी अलग अलग है, इष्टापूर्त्त, व्रत-यज्ञादि पुण्य कर्मों का विधान देखा जाता है, पुण्यजनक कर्मानुष्ठान ही विधि है, परन्तु जीव जिस समय बहिर्मुखता को त्याग कर कृष्णोन्मुख होता है, अर्थात् भोग विषयों की दासता छोड़कर कृष्ण की दासता स्वीकार करता है, उसी समय वह सहज ही पुण्य और पाप से अतीत हो जाता है। क्योंकि उस समय उसका संसारी धर्म्म बदल कर एकमात्र कृष्णदास्य ही नित्य स्वधर्म्म रूप से उदय होता है।

पाप का प्रायश्चित उन जीवों के लिये है, जो संसार में लिप्त होकर कृष्ण से विमुख हैं, परन्तु कृष्णोन्मुख व्यक्ति के लिये तो प्रायश्चित की भी आवश्यकता नहीं, प्रायश्चित भी कर्मकाण्ड का ही एक अंग है, कृष्णोन्मुख व्यक्ति का कर्माधिकार नहीं रह जाता। भागवत—

तावत् कर्म्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथा श्रवणादौ वा यावच्छ्रद्धा न जायते ॥

जब तक जीव की पुत्र, धन, यश इत्यादि की कामनाओं का नाश होकर वैराग्य नहीं उपजता अथवा हरिकथा श्रवणादि में पवित्र श्रद्धा नहीं पैदा हो जाती, तब तक जीव अवश्य ही कर्म्मानुष्ठान करता है। परन्तु हरिचर्या में श्रद्धा उत्पन्न होजाने पर वह कर्म्मानुष्ठान नहीं करता, देहयात्रा तथा निर्वाह आदि के लिये शरीर, मन, देह और समाज-संबंधी सभी क्रियायें वह हरिभक्ति के अनुकूल जान कर अंगीकार करता और प्रतिकूल जान कर त्याग देता है, इस प्रकार सब कर्मों को अंगीकार करके उनका अनुष्ठान करने पर भी कर्म्मकाण्ड में उनकी गिनती नहीं हो सकती। वास्तव में वह कर्म्मनाशक होते हैं और भक्ति का ही अंग माने जाते हैं, इसलिये इस अवस्था में पाप पुण्य कुछ भी नहीं रहता और प्रायश्चित आदि का भी कुछ प्रयोजन नहीं होता, प्रतिष्ठा की कामना से कोई कर्म्म नहीं किया जाता। सारे कर्म्म केवल निष्पाप होकर जीवन-यात्रा निर्वाह करने के उद्देश्य से होते हैं, इसलिये जबकि पुण्य कर्म्म का ही अवस्थान नहीं रहता तब अधम पाप कार्य्य कृष्णोन्मुख व्यक्ति के पास फटक ही नहीं सकते।

"कृष्णोन्मुखं स्वयं यान्ति यमाः शौचादयो नृप।"

हे नृप, कर्म्मकाण्डी लोग बहुत यत्न करके जिन यम नियमादि का अभ्यास करते हैं एवं शौचविधि का पालन करते हैं वह यम नियमादि सद्गुण या सदाचार और शौच कृष्णोन्मुख व्यक्ति को आप ही सुसज्जित करते हैं, कृष्णोन्मुख व्यक्ति को यत्न करके उनका संग्रह नहीं करना पड़ता। और भी कहा गया है—

"एते नत्यद्भुता व्याध तवाहिंसादयो गुणाः ।
हरिभक्तौ प्रवृत्ता ये न तेस्युः परतापिनः ॥"

हे व्याध, तुम पहले जिस समय बहिर्मुख संसारी थे, उस समय तुम्हारी हिंसा - प्रवृत्ति नैसर्गिकरूप से तुम्हारा आश्रय लिये हुए थी। अब तुम हरिभक्ति में लीन हो गये हो, सुतरां जीवहिंसादि पाप प्रवृत्तियाँ अब तुम्हारे पास नहीं ठहर सकतीं। कृष्णदास्य जो [illegible] स्वभाव है, वही तुम्हारा नित्य स्वधर्म्म है। वह स्वधर्म जिस परिमाण में उदय हुआ है, उसी परिमाण तुम्हारी नैमित्तिक स्वधर्म्मरूप पुण्य-प्रवृत्ति का भी नाश हो गया है, अब तुम नित्य स्वधर्म से उत्तेजित होकर जो कुछ भी कार्य्य करोगे वह सभी नैमित्तिक स्वधर्म्म वृत्तिरूप पुण्य से बहुत उच्चकोटि के महापुण्यरूप वैष्णव धर्म करते रहोगे। इसलिये तुम्हारा सामान्य पुण्य ही जब तुच्छ हो गया, तब जीवहिंसादि अति निकृष्ट कार्य्य कदापि तुम्हारी प्रवृत्तिगत नहीं हो सकते। तुम निष्पाप जीवन से जो कृष्णनाम करते हो यह कोई आश्चर्य्य की बात नहीं। ऐसा तो सभी को होना है।

अब देखिये, हरिनामाश्रित जीव की पाप प्रवृत्ति ही नहीं रह जाती। जिन्होंने हरिनाम का एकान्त भाव से आश्रय ले लिया है, वह कोई भी पाप नहीं करते, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य्य-इन छः चित्तवृत्तियों के दुरुपयोग से ही 'पाप' होता है, वैष्णव कृष्णकथा व कृष्णसेवा इत्यादि में अपने काम को नियुक्त कर देते हैं और परस्त्री-संग्रह, प्रयोजन से अधिक धन जोड़ना, प्रतिष्ठा के लिये उत्सुक रहना और ठगी चोरी इत्यादि दुष्ट कर्म्म नहीं करते, कृष्ण और वैष्णव-विद्वेषी लोगों के प्रति क्रोध को नियुक्त कर वह उनके साथ बाहरी नाता तोड़ देते हैं। इसलिये दूसरों को दुःख पहुँचाना, बदला चुकाना आदि क्रियाओं से भी दूर ही रहते हैं। उनका क्रोध वृत्त के स्वाभाविक धर्म्म की भाँति सहनशीलतारूप में परिणत हो जाता है। लोभ को कृष्णरसास्वादन में नियुक्त करके बढ़िया खाना, पहनना, सुंदर स्त्रीसंग तथा धन के ढेर लगाने की बात का वह कभी भूल कर भी नहीं ध्यान करते, मोह को चित् रस में लगाकर कृष्णलीला सौंदर्य और वैष्णव चरित्र से मोहित होते हैं। धनजन और जड़सुखआदि उन्हें मोहग्रस्त नहीं करते, झूठे सिद्धान्त से मोहित हो कर मायावाद, नास्तिकवाद, और कुतर्कप्रियता इत्यादि में अपने मन को नहीं उलझाते, मद को कृष्णदास्याभिमान में नियुक्त कर के जातिमद,

धनमद, रूपमद, विद्यामद, [illegible] और [illegible] को दूर से ही परित्याग करते हैं। [illegible] परनिन्दा द्वारा अपनी उन्नति करने की प्रवृत्ति एकदम त्याग देते हैं इस प्रकार [illegible] उदय नहीं हो सकता [illegible] है, किसी [illegible] जाता है तो वह बिना [illegible] जाता है। इस प्रकार यदि [illegible] उसे दूर कर [illegible] होता है। [illegible] अकस्मात् किसी [illegible] हो जाता है [illegible] लगाना [illegible]

[illegible]

[illegible]

हे अर्जुन, [illegible] नहीं होती [illegible] अनन्य भक्ति के [illegible] सन्मार्ग पर [illegible] यदि किसी [illegible] भी जाय और वह [illegible] बहुत नीच [illegible] नहीं करनी चाहिये, क्योंकि—

"क्षिप्रं भवति धर्मात्मा [illegible]

कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥"

हे अर्जुन, जो भक्त मेरी अनन्य भक्ति प्राप्त कर लेते हैं, उनके चरित्र में केवल दो प्रकार के पाप कुछ कुछ दिखाई पड़ सकते हैं, एक तो यह कि [illegible] भजन से किसी जीव को सत्सङ्ग के कारण कृष्ण नाम में रुचि उत्पन्न हुई, परन्तु पहले से ही उसका अवैध स्त्रीसंग, मछली [illegible], आसव सेवन इत्यादि में से किसी एक पाप का बहुत पुराना संसर्ग था। अनन्य भक्ति के उदय होने के साथ ही और सब पाप-प्रवृत्तियाँ दूर हो जाती हैं। लेकिन इस पुराने पाप को जाते जाते कुछ समय लगता है। अनन्य भक्ति तो हो गई है अर्थात् अन्य सब उपायों को तुच्छ समझ कर एकमात्र कृष्ण नाम का आश्रय ले लिया है। परन्तु यह पुराने पाप [illegible] जाते हैं, कुछ दिन [illegible] नहीं चले जायँ [illegible] भक्त का अनादर न [illegible] अनन्य भक्त सब पापों से [illegible] फिर भी [illegible] से मिली [illegible] इसी प्रकार [illegible] कोई पाप [illegible] कारण [illegible] इन दोनों प्रकार [illegible] और अनन्य [illegible] धर्मात्मा हो [illegible] है कि [illegible]

[illegible] फिर पाप प्रवृत्ति [illegible] केवल पाप किया नाम [illegible] कुछ ही दिन के [illegible] उसकी शक्ति घटती जाती है [illegible] जगाई-मधाई के चरित्र में देखा जाता है कि भक्ति लाभ करने के बाद उन दोनों व्यक्तियों की पाप प्रवृत्ति मात्र [illegible] श्रीमन्महाप्रभु ने नामापराध देख कर उनसे कहा—

[illegible] पाप।

[illegible] पाप॥

हमारे [illegible] श्रीनित्यानन्द प्रभु ने सब [illegible] धर्म-चरित्र पालन करने का उपदेश दिया है। उन्होंने डाकू ब्राह्मण का उद्धार करके उपदेश किया—

[illegible] पाप।

और [illegible] आर॥

[illegible] सब।

[illegible] नहीं आर॥

[illegible]

करो [illegible] परित्राण॥

जितने हो डाकू चोर लाओ चुना कर।
सबको ले आओ तुम धर्म के पथ पर॥

परम कारुणिक प्रभु नित्यानन्द धर्मावतार हैं; उन्हीं धर्म-मूर्ति ने यह उपदेश दिया कि जब तुम धर्मपथ पर दृढ़ रहकर हरिनाम लोगे तभी वैष्णवाचार्य होकर तुम जगत् का परित्राण करने के योग्य बनोगे, जो व्यक्ति आचार्य का पद ग्रहण करेंगे, उन्हें अवश्य ही पहले स्वयं धर्मपथ का अवलम्बन करके दूसरों को अपना चरित्र दिखला कर उनकी श्रद्धा का संग्रह करना होगा। आचार्य का ही सदाचार सब लोग आदर के साथ ग्रहण करते हैं, आचार्य को जीव-हिंसा, डाकाज़नी, चोरी, अवैध स्त्री-संग, अपवित्र पदार्थ तथा आसव सेवन इत्यादि सभी दुराचारों का परित्याग करना पड़ेगा। अपने आप लम्पट बनकर शिष्य को उपदेश देना, यह कैसे हो सकता है? सब आचार्यों के आचार्य श्रीनित्यानन्द ने अवधूत होनेपर भी अपने चरित्र में कभी कोई दुराचार नहीं दिखाया, ऐसे निर्मल चरित्र वाले प्रभु को जो दुराचारी कह कर निन्दा करते हैं, उनके जीवन पर धिक्कार है। असदाचारी मनुष्य आचार्य के चरित्र पर मिथ्या दोषारोपण करके अपने दोष को गुण के रूप में दिखलाने का प्रयत्न करते हैं। हाय कलि! तूने जैसी प्रतिज्ञा की थी, वैसा ही किया। बहुत से कपटी वैष्णव श्री-नित्यानन्द प्रभु को मत्स्य-मांसाहारी कह कर उनकी निन्दा करते हैं, और धर्ममूर्ति महाप्रभु पर स्त्रीसंग का दोषारोप करके नवरसिकों में उनकी गणना करते हैं। इसी प्रकार निर्मलचरित्र श्रीरूपगोस्वामी और रामानन्द इत्यादि के सम्बन्ध में भी मिथ्या स्त्रीसंग दोष की रचना करके संसार को धोखा देते हैं। यह सब दुष्ट कलियुग का ही कार्य है। मुख्य बात तो यह है कि कपटता त्याग करके धर्माचरण करे बिना कोई धार्मिक नहीं बन सकता। धर्म के बहाने पापाचरण करने से मनुष्य ठग बन बैठता है। जो निष्कपटरूप से हरिनाम का आश्रय लेंगे, वह बिलकुल ही पाप-प्रवृत्ति शून्य हो जायेंगे, इसमें तनिक भी संदेह नहीं, प्रह्लाद ने कहा है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।

जिसके हृदय में श्रीकृष्ण की अहैतुकी भक्ति का उदय हो गया है, उसके शरीर में समस्त देवता-गण समस्त महत् गुणों के साथ निरन्तर निवास करते हैं। भगवद्भक्ति का उदय और पाप-प्रवृत्ति का नाश यह दोनों कार्य एक साथ ही होते हैं, इस लिये श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु ने ब्राह्मण को सारे अपराधों से विमुक्त होकर यह हरिनाम लेने का उपदेश दिया था। श्रीमन्महाप्रभु का भी यह कहना है,—

'निरपराध नाम ले जो पाय प्रेम धन'

दूसरी अपराध के सहित नाम जप करने से कृष्णलाभ नहीं होता बल्कि नामापराध होता है। और नामापराध होने से नितान्त अधःपतन हो जाता है, नामाभास हो जाने के बाद साधुसंग से नामाभासत्व दूर हो जाता है और शुद्ध हरिनाम का उदय होता है, यदि इतना न भी हो, तो नामाभास से पाप नष्ट हो जाता है और चारों पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है। परन्तु नामापराध एक बड़ी ही कठिन वस्तु है, इससे छुटकारा पाना बड़ा ही दुष्कर है। नामाभासी व्यक्ति साधुसंग करके शुद्धनाम का लाभ करें और नामापराधी अपराध-परित्याग-पूर्वक साधु के चरणों का आश्रय लेकर शुद्धनाम की खोज करें, यही हमारी प्रार्थना है। यदि किसी भाग्यवान व्यक्ति को किसी सुकृति के बल से नामाश्रय मिल जाय, तो उसे यह ध्यान रखना चाहिये कि कहीं नाम के बल से पाप प्रवृत्ति न हो, हम यह तो पहले ही दिखा चुके हैं कि नामाश्रय ले लेने के बाद भी कुछ दिन तक पूर्व पाप सम्बन्धों का कुछ हिस्सा बाकी रह जाता है और दैवनावश कोई पाप भी हो जा सकता है, परन्तु पापप्रवृत्ति बिलकुल नहीं रह सकती। पापप्रवृत्ति अथवा पापासक्ति दोनों एक ही बात है, कृष्णनाम में रुचि उत्पन्न होने पर वही रुचि क्रमशः निर्मल हो जाती है और कृष्णनाम आसक्ति के रूप में परिणत हो जाती है। जब तक अन्य विषयों तथा पापकार्यों में आसक्ति बनी रहती है, तब तक कृष्णनाम में आसक्ति नहीं हो सकती, आसक्ति अनन्य प्रवृत्ति का एक लक्षण तथा गुण मात्र है, आसक्ति या तो कृष्ण में होगी नहीं तो असत् विषयों में होगी, जिसकी कृष्ण में

निष्कपटरूप से श्रद्धा है, उसकी निष्ठा, रुचि और आसक्ति श्रीकृष्ण में अनन्यरूप से अवश्य ही होगी, उसकी प्रवृत्ति और किसी पाप या पुण्य में कदापि न होगी। अनन्यरूप विशेषण से अन्याभिलाषिता दूर हो जाती। इसलिये जिनकी पाप-प्रवृत्ति बाकी है, उन्होंने अनन्य श्रद्धा से नामाश्रय नहीं लिया, उनके अन्दर चाहे और कितने दोष भी पड़े, लेकिन उनकी अनन्यनामाश्रय-प्रवृत्ति नहीं मानी जा सकती। जिनकी वास्तव में पापवृत्ति है, उनकी कृष्णनाम में पुलक और अश्रुपात दिखलाने पर भी कपटी वैष्णवों में ही गणना की जायगी। नामापराधी कदापि शुद्ध वैष्णव नहीं है, इसीलिये महाप्रभु ने उन्हें 'शुद्ध वैष्णव नहीं, शुद्ध वैष्णव के प्राय' कहकर पृथक् कर दिया है।

वहाँ 'वैष्णवप्राय' अर्थात् कहते हैं कि एक हरिनाम में जितने पाप हर लेने की शक्ति है, उतने पाप कोई पापी करोड़ों जन्म लेकर भी नहीं कर सकता, इसलिये जब हमारे पास यह हरिनाम मौजूद है तब फिर पाप करने में डर किसका? हरिनाम भी करें और पाप भी करें, उभयार्थी होकर हमारे जिम्मे कुछ भी पाप बाकी न रहेगा। इस सिद्धान्त को लेकर जो नामाश्रय के बाद और भी अधिक पाप करते हैं, उन्हें कपटी या नामापराधी कहते हैं, उदाहरण में एक गृहस्थ को ले लीजिये जिसने जीव-हिंसा परित्याग करके नामाश्रय लिया। पश्चात् किसी कुसंग के कारण उसको मांस-मछली खाने की इच्छा हो आई। अपनी प्रवृत्ति को शान्त करने के लिये उसने यह स्थिर किया कि आज दस हजार नाम जप और करके मछली खाने का पाप दूर कर लेंगे, यह सोचकर उसने मछली भोजन किया और पीछे से नाम जप कर लिया। तो यह नामापराधी हुआ। दूसरा उदाहरण यह है कि संन्यास आश्रम में रहनेवाले किसी वैष्णव को किसी सुन्दर स्त्री को देखकर लोभ उत्पन्न हुआ। पापप्रवृत्ति द्वारा उनका मन चलायमान हो उठा और उन्होंने यह स्थिर किया कि "मैं निरन्तर हरिनाम करता हूँ, इसे भी हरिनाम-शिष्या बनाकर इसकी सेवा ग्रहण करूँगा। जो कुछ पाप होता होगा, वह तो मेरा हरिनाम से अवश्य ही नाश होगा, फिर यह स्त्री तो वैष्णव हो जायगी। वैष्णव सेवा तो दुर्लभ है! और उसके साथ रहकर [illegible] बहुत शिक्षा मिलेगी, इस प्रकार का दुर्लभ सेवा और कहाँ मिलेगा।" यह सोचकर उस स्त्री को वैष्णव बना लिया और लगे वैष्णव-सेवा ग्रहण करने। यही हुई नामापराध की पराकाष्ठा, इन दोनों उदाहरणों पर विचार करके गृहस्थ वैष्णव तथा त्यागी वैष्णवगण दुष्ट नामापराध से सतर्क रहें।

कृष्णनगर-टाउनहाल में

श्री भक्तिविनोद विरह-स्मृति-सभा

गत २० वीं जून वृहस्पतिवार को नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद श्रीभक्तिविनोद गोस्वामी की तिरोभाव-तिथि के उपलक्ष्य में पूर्व-प्रकाशित प्रस्ताव के अनुसार १५ वीं जून रविवार से स्वरूपगञ्ज के श्रीस्वानन्द सुखदकुञ्ज में श्री-ठाकुर की अलौकिक जीवनी और शिक्षालोचना का उत्सव आरम्भ हुआ था।

महोत्सव के अन्तिम-दिवस (१७ वीं जून शनिवार) और उसके दूसरे दिन (१८ वीं जून रविवार) को सन्ध्या समय ६ बजे कृष्णनगर-टाउनहाल में यथाक्रम महामहोपदेशक पण्डित श्रीयुत सुन्दरानन्द विद्याविनोद बी० ए० महोदय और वाग्मिप्रवर त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिविवेक भारती महाराज ने 'गोस्वामी भक्तिविनोद' के सम्बन्ध में दो वक्तृताएँ दीं। पहले दिन कृष्णनगर के लोकप्रिय सबजज स्वधर्मनिष्ठ श्रीयुक्त 'क्षिति-

पतिनाथ मित्र महोदय और दूसरे दिन कृष्णनगर के स्वनामधन्य लब्धप्रतिष्ठ साहित्यिक और अवसर प्राप्त सिविलसर्जन रायबहादुर श्रीयुक्त दीनानाथ सान्याल महोदय ने सभापति का आसन ग्रहण किया। सभा-भवन तोरण और माला आदि से उत्तम रूप से सुसज्जित था और वक्तृता के मञ्च पर एक ऊँची वेदी के ऊपर श्रीठाकुर भक्तिविनोद का एक सुन्दर और खूब बड़ा चित्र माला आदि से विभूषित कर रखा गया था।

पहले दिन की सभा का संक्षिप्त विवरण

—यथासमय सभापति महोदय के आसन ग्रहण करते ही जय ध्वनि के साथ सपार्षद श्रीप्रभुपाद ने सभा-भवन में प्रवेश किया; सभापति ने आसन परित्याग कर स्वयं आगे बढ़कर श्रीप्रभुपाद पद्म की वन्दना की और सादर अपने बगल के स्वतन्त्र आसन को ग्रहण करने के लिये उनसे विशेष अनुरोध किया। श्रीप्रभुपाद के आसन ग्रहण करने पर श्रीचैतन्य मठ के रक्षक श्रीयुत नरहरि ब्रह्मचारी महोदय ने श्रीप्रभुपाद के गले में और श्रीयुक्त अप्राकृत भक्तिसारङ्ग गोस्वामी प्रभु ने सभापति महाशय के गले में पुष्प-माल्य अर्पण किया। इसके बाद श्रीगुरुगौराङ्ग की जयध्वनि के साथ सभा का कार्य आरम्भ हुआ। सभा के आरम्भ में निर्धारित समय पर सभापति महोदय ने वक्ता श्रीयुक्त सुन्दरानन्द विद्याविनोद महोदय से कुछ कहने का अनुरोध किया। सम्पादक महोदय ने मङ्गलाचरण कर अपनी स्वाभाविक ओजस्विनी भाषा में—श्रीठाकुर का आविर्भाव-स्थान और काल माहात्म्य; कृष्णनगर के साथ उनकी स्मृति पूजा का सम्बन्ध; ठाकुर के अतिमर्त्य आचार और प्रचार की विशिष्टता नदीया के प्रति—समग्र भारत—केवल नदीया ही क्यों, समग्र बङ्गाल—समग्र विश्व के प्रति ठाकुर का महादान; उसके सार्वत्रिक, सार्वकालिक और सर्वाङ्गीन होने का क्या कारण है; 'नदीया के ठाकुर का आश्रय लेने से ही भारतीयों की प्रकृत आत्मीयता, प्रकृत देश-प्रेमिकता और विश्व-वासियों की प्रकृत विश्व-प्रेमिकता साधित होगी—नदीया के ठाकुर के सार्वजनीन, सार्वकालिक और सार्वदेशिक अप्राकृत प्रेमधर्म में परस्पर विवदमान शास्त्रवाद और सङ्कीर्ण साम्प्रदायिक मतवाद-समूह के हाथ से छुटकारा पाने का समाधान मौजूद है—उनकी यह शिक्षा विश्ववासियों के लिये आलोच्य और उपलब्धि का विषय क्यों न होगा; कलियुग के पावनावतारी भगवान् श्रीगौरसुन्दर प्रचारित सुदार्शनिक सिद्धान्त का सर्वश्रेष्ठत्व और परात्परत्व, दर्शन के बहुत ही सूक्ष्म जटिल विषयों का सुसमन्वय और निरपराध कृष्णनाम, कृष्णधाम और कृष्णकाम-सेवादर्श के प्रचार के लिये ठाकुर की लेखनी से कैसे अमूल्य सम्पद् उत्पन्न हुए हैं, महाप्रभु के आविर्भाव-स्थान श्रीधाम-मायापुर के प्रकट हो और महाप्रभु के अन्तर्धान के परवर्तिकाल तक वैष्णवधर्म के नाम से जो सब अपधर्म उपस्थित हुए थे, या वैष्णव धर्म के सम्बन्ध में लोगों की जो सब भ्रान्त धारणाएँ थीं, उनके साथ शुद्धवैष्णवधर्म का भेद प्रकट कर ठाकुर ने वर्तमान युग का कैसा परम कल्याण साधित किया है; ठाकुर की यह सब भविष्यद्वाणियाँ कि "दैव वर्णाश्रम धर्म के संस्थापन के लिये शीघ्र ही किसी महापुरुष का आविर्भाव होगा, पृथिवी में समस्त सम्प्रदाय एक ब्रह्मसम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त होंगे,—'पृथिवी में हैं जितने नगरादि ग्राम, सर्वत्र प्रचारित होगा मेरा नाम।' महाप्रभु का यह वाक्य शीघ्र ही सार्थक होगा—सर्वत्र श्रीचैतन्य-प्रचारित वैष्णव धर्म का प्रचार होगा"—किस प्रकार सार्थक हुई हैं; ठाकुर की तिरोभाव-लीला की विशिष्टता क्या है; शुद्ध भक्ति-सिद्धान्त का प्रचार करने के लिये बहुतेरे ग्रन्थों का प्रणयन, सामयिक पत्रों का प्रचार, नाम हट्ट का स्थापन, नगर-नगर पाठ और वक्तृता के लिये प्रचारादि द्वारा ठाकुर ने किस प्रकार जगत् का कल्याण सम्पादित किया है; वर्त्तमान समय उनकी ही अभिन्नमूर्त्ति और निज जन किस प्रकार महाप्रभु के आचार और प्रचार की विशिष्टता का कीर्त्तन कर उनके मनोभीष्ट का सम्पादन कर रहे हैं,—इन सब विषयों को संक्षेप में वे सवा घण्टे तक कहते रहे।

सभापति की वक्तृता का सारमर्म

इसके बाद सभापति महोदय ने कहा, "आपलोगों ने वक्ता के मुख से श्रीठाकुर भक्तिविनोद की बहुतेरी बातें सुनीं। इन सब बातों के प्रचार की बहुत आवश्यकता है। बौद्ध और खीष्ट धर्म के प्रचार के लिये अनेक मिशन हैं। हमारे वैष्णवधर्म के प्रचार के लिये क्या ऐसा हो नहीं सकता? वक्ता ने आज उन महापुरुष के जीवन की अनेक अच्छी बातें सुनाकर हम लोगों को जिस प्रकार लाभवान किया है, उसके लिये वे हम सबके ही धन्यवादार्ह हैं; इसमें कोई सन्देह नहीं।"

सभापति की वक्तृता के बाद श्रीपाद अनन्तवासुदेव विद्याभूषण प्रभु ने श्रीठाकुर की "शरणागति" पुस्तक का '[illegible]' गीत गाया। इसके बाद श्रोताओं की ओर से कृष्णनगर अदालत के प्रवीण सर्किल श्रीयुत वेचाराम लाहिड़ी महोदय के विशेष अनुरोध से, सभाभङ्ग का समय होने पर भी, सभापति महोदय ने श्रीप्रभुपाद से कुछ हरिकथा कहने का अनुरोध किया। इस पर श्रीप्रभुपाद ने एक घण्टे से अधिक समय तक एक छोटी सी वक्तृता दी। प्रभुपाद की इस वक्तृता का संक्षिप्त मर्म नीचे उद्धृत किया जाता है, आशा है, कि समय पर हम इसे विशेष भाव से 'भागवत' में प्रकाशित कर सकेंगे।

श्रीप्रभुपाद की वक्तृता का सारमर्म

श्रीप्रभुपाद ने सम्बन्धाभिधेय-प्रयोजनीय तत्त्वालोचना करते हुए कहा, "श्रीभगवान् सर्वशक्तिमान हैं; ह्लादिनी, सन्धिनी और सम्वित्—उनकी इस त्रिविधा अन्तरङ्गा शक्ति के साथ साथ बहिरङ्गा माया-शक्ति भी विरोधिनी क्रियाविशिष्टा है; एक प्रकार की शक्ति आनन्द देती है, दूसरे प्रकार की शक्ति आनन्द में बाधा देती है, इसीसे परस्पर दो विरुद्ध व्यापार दिखाई देते हैं,—एक ओर भक्त लोग भगवान् की सेवा करते हुए उनके सुख के लिये सदा यत्नवान रहते हैं; दूसरी ओर अभक्त उसके विरुद्ध विचारवाले हैं। बहिरङ्गा मायाशक्ति का परिणाम ही यह जड़-जगत् है, इस जगत् में कृष्ण-विमुख मायामुग्ध जीव भोग और त्याग के झगड़े में पड़ कर श्रीभगवान्, भक्त और भक्तितत्त्व के ज्ञान में पूर्ण नासमझी की वजह स्वयं भगवद्भजन में उदासीन होते हुए सच्चे भगवद्भक्तों के भजन-विषय में भी आस्थाहीन होते और इससे अपने साम्य विचार से उनके भजन में दोषारोप करनेवाले होते हैं; भोगी और त्यागी—ये दोनों ही यथाक्रम जड़विलास और जड़वियोग के विचार में पड़े रहने की वजह भक्तों के कृष्ण प्रीतिमूलक चिद्विलास और [illegible] की सेवा का विचार बिलकुल न समझ कर भक्तों को अपनी ही श्रेणी के बराबर का देखना चाहते हैं। बाहरी दिखावे में भक्त लोग उच्चैश्वर्यवान हों अथवा संसारी ऐश्वर्य-युक्त या उसी प्रकार ऐश्वर्य रहित—चाहे जिस लीला का प्रदर्शन क्यों न करें, इस जगत् में उनका दर्शन करने से निश्चय ही शोभा होगी; क्योंकि—"वैष्णवों की क्रिया मुद्रा विज्ञ हू न जानें"। कर्मी और ज्ञानी उनके बाह्य-दर्शन से भक्तों को चाहे जिस रूप में क्यों न देखें, वह भक्तों का स्वरूप नहीं। ऐश्वर्यपति भगवान् सेवकों का किसी ऐश्वर्य का अभाव नहीं। फिर भी वे उस ऐश्वर्य को भगवत् सेवा में समर्पण कर कर्मी या ज्ञानी की तरह आपातिक ज्ञान से भोग या त्याग में प्रवृत्त नहीं होते, सुतरां भगवद्भक्त को किसी प्रकार के ऐश्वर्य को देखने या न देखने से उनके प्रति [illegible] करना नहीं पड़ता; जगत् के सब ऐश्वर्यों का—सब प्रकार के ऐश्वर्य का सदुपयोग एक मात्र वे ही जानते हैं। महाप्रभु के कहे हुए 'तृणादपि सुनीच' श्लोक का अनुगमन किये बिना किसी की बुद्धि अच्छी नहीं होती। (इस विषय को Ellipse और Focus के दृष्टान्त द्वारा श्रीप्रभुपाद ने समझाया); 'तृणादपि सुनीचेन', और वेदान्त के 'अहं ब्रह्मास्मि' इन दोनों वाक्यों के स्वरूपगत अर्थ में कोई अलगाव नहीं है, अर्थात् परब्रह्म भगवान् की तटस्था शक्ति से परिणत जीव का स्वरूपगत अभिमान ही तृण से भी सुनीच होकर हर समय हरिगुण गाता है। ज्ञानिगण 'अहं ब्रह्मास्मि' के विचार से जो ब्रह्म होने का यत्न करते हैं, वह बहुत ही भ्रमात्मक और

विपत्-संकुल है। Challenging or assailing mood में कृष्णों के विचार में प्रवृत्त होने से चिज्जड़-समन्वय रूपी वञ्चना ही प्राप्त होती है। भक्त भोगी भी नहीं हैं और त्यागी भी नहीं हैं, वे इन दोनों से स्वतन्त्र हो केवल कृष्णेन्द्रिय तर्पण-कारी मात्र हैं। भक्त की कृपा से ही ऐसी बुद्धि होती है; सुतरां अहंकार त्याग कर भगवत्-भक्त के श्रीपादपद्म में आत्मसमर्पण कर सदा हरिकीर्तन करने का विचार करने से ही सब प्रकार की हेय प्यास बुझ जायगी—नित्य मङ्गल प्राप्त होगा।"

श्रीप्रभुपाद की वक्तृता के बाद श्रीयुक्त हरिपद विद्यारत्न एम० ए०, बी०, एल०, महोदय ने श्रीविश्ववैष्णवराज सभा की ओर से सभापति महोदय और समवेत श्रोताओं को, तीन घण्टे तक भगवत् कथा सुनने में मन लगाने के लिये, आन्तरिक धन्यवाद दिया। इसके बाद सभा भंग हुई।

उस दिन श्रीप्रभुपाद के साथ कलकत्ते से महामहोपदेशक आचार्यत्रिक श्रीमत् कुंजविहारी विद्याभूषण भागवत-रत्न; महोपदेशक अध्यापक आचार्य श्रीयुक्त निशिकान्त सान्याल एम०, ए० भक्ति सुधाकर; महामहोपदेशक श्रीयुक्त अनन्तवासुदेव परविद्याभूषण; श्रीयुक्त जगदुद्धारण भक्तिबान्धव बी०, ए०, श्रीयुक्त सखीचरण भक्तिविजय; श्रीयुक्त रासविहारी ब्रह्मचारी भक्तिज्योतिः; उपदेशक पण्डित श्रीयुक्त प्रणवानन्द ब्रह्मचारी प्रत्नविद्यालङ्कार; श्रीयुक्त अतीन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय वेदान्तवाचस्पति; पण्डित श्रीयुक्त भवबन्धच्छिन् भक्तिसौरभ बी० ए०; श्रीयुक्त वीरेन्द्रनाथ सेन; श्रीयुक्त कीर्त्तनानन्द ब्रह्मचारी; श्रीयुक्त नवीनकृष्ण विद्यालङ्कार भक्तिशास्त्री प्रभृति भक्तवृन्द और श्रीधाम मायापुर से श्रीचैतन्य मठ के रक्षक श्रीयुक्त नरहरि ब्रह्मचारी सेवा-विग्रह; महोपदेशक पण्डित श्रीयुक्त अतुलचन्द्र वन्द्योपाध्याय भक्तिशास्त्री भक्तिसारङ्ग; महोपदेशक आचार्य अध्यापक श्रीयुक्त यदुवर भक्तिशास्त्री एम० ए०; श्रीयुक्त अतीन्द्रिय भक्तिगुणाकर; श्रीयुक्त महानन्द ब्रह्मचारी भक्त्यालोक; डा०० श्रीयुक्त कृष्णकान्ति ब्रह्मचारी भक्ति कुसुम; श्रीयुक्त मुकुन्दविनोद भक्तिमधुर; श्रीयुक्त वीरचन्द्र ब्रह्मचारी भक्तिकुशल, भक्तिशास्त्री और श्रीयुक्त अयस्कान्ति सान्याल प्रभृति भक्तगण ने इस सभा में योगदान किया था।

सभा-भवन के भीतर और बाहर लोगों की बहुत अधिक भीड़ होने पर भी सर्वत्र जैसी शान्ति विराज रही थी, वह वास्तव में प्रशंसा के योग्य थी। कृष्णनगर और उसके आस-पास के गावों के सम्भ्रान्त और शिक्षित व्यक्ति सभा में उपस्थित थे, नीचे उनमें से कुछ के नाम उद्धृत किये जाते हैं,—

रायबहादुर श्रीयुक्त दीनानाथ सान्याल; एडवोकेट श्रीयुक्त ललितकुमार चट्टोपाध्याय; श्रीयुक्त बाबू महितोष विश्वास; सिविलसर्जन डा० सी० सी० सिंह; वकील श्रीयुक्त नन्दलाल भट्टाचार्य; वकील श्रीयुक्त करुणाकुमार मुखोपाध्याय; अध्यापक श्रीयुक्त पण्डित वङ्कुविहारी; अध्यापक श्रीयुक्त सत्यचरण कहाली; डा० श्रीयुक्त कुलजारञ्जन राय; डा० श्रीयुक्त विमलचन्द्र भद्र; डा० श्रीयुक्त मनोरञ्जन समाद्दार; वकील श्रीयुक्त इन्द्रभूषण चक्रवर्त्ती; श्रीयुक्त रामगोपाल विद्याभूषण एम० ए०; श्रीयुक्त बाबू ज्ञानेन्द्रनाथ घोष; वकील श्रीयुक्त जगद्बन्धु लाहा, वकील श्रीयुक्त वेचाराम लाहिड़ी; वकील श्रीयुक्त ज्ञानचन्द्र मुखोपाध्याय; वकील श्रीयुक्त राधिकाकुमार मित्र; वकील श्रीयुक्त हिमांशुकुमार समाद्दार; वकील श्रीयुक्त प्रभासकुमार चट्टोपाध्याय; वकील श्रीयुक्त सुधीन्द्र कुमार मौलिक; वकील श्रीयुक्त उमापद चट्टोपाध्याय आदि शत-शत उच्चशिक्षित व्यक्ति उपस्थित थे।

कृष्णनगर टाउनहाल में
श्रीभक्तिविनोद-विरह-स्मृति-सभा
दूसरे दिन की सभा का संक्षिप्त विवरण

आज के सभापति—स्वनामधन्य प्रवीण साहित्यिक रायबहादुर श्रीयुक्त दीनानाथ सान्याल महोदय और वक्ता वाग्मिप्रवर त्रिदण्डीस्वामी श्रीमद्भक्तिविवेक भारती महाराज थे। पहले दिन की तरह श्रीप्रभुपाद और सभापति महोदय के यथा समय आसन ग्रहण करने पर सभा का कार्य्य

आरम्भ हुआ। सुरीले गायक श्रीयुक्त हरिपद विद्यारत्न एम्० ए० बि०, एल० महोदय ने श्रीभक्तिविनोद ठाकुर-विरचित—"करम न कीन्ह ज्ञान नाहिं पायो, सेवन कीन्ह न चरण तुम्हार"—गाना गाया। इसके बाद सभापति महोदय ने वक्ता का सम्बोधन कर आज के आलोच्य विषय के सम्बन्ध की सूचना और वक्ता का परिचय प्रदान करते हुए कहा,—

सभापति का वक्तव्य

हम लोग जिन महापुरुष की पुण्यस्मृति के उत्सव के उपलक्ष में आज दूसरे दिन यहाँ एकत्र हुए हैं, उनका सार मर्म कल के वक्ता ने हमें समझा दिया है; उसका फल होना आवश्यक है। ठाकुर के प्रेममय जीवन, श्रीमन्महाप्रभु की शिक्षा के प्रचार और महाप्रभु के जन्मस्थान श्रीधाम मायापुर के आविष्कार प्रभृति विषयों से हमें क्या लाभ हुआ? देह-शक्ति और मनन शक्ति के प्रसार की उन्नति ही सर्वत्र दिखाई देती है; किन्तु आत्मशक्ति के प्रसार के लिये हम क्या कर रहे हैं? हम जिन महात्मा की स्मृति को हृदय में धारण कर आज इस विराट् सभा में समवेत हुए हैं, उन्हीं महापुरुष की शिक्षा से हम जान सके हैं, कि भक्ति ही आत्मा की वृत्ति है; उसके अनुशीलन में अपनी Complete living आत्मशक्ति को रोगी बनाकर देह और मनन शक्ति को पुष्ट करने से काम न चलेगा; आत्मशक्ति को पुष्ट करना होगा, उससे ही सब की पुष्टि होगी। आत्मानुशीलन का श्रेष्ठ उपाय भक्ति है; श्रीभक्ति विनोद ठाकुर की जीवनी की आलोचना से और उनका अनुसरण करने से आत्मोन्नति साधित होती है। यह ज्ञान प्राप्त करना ही फल पाना है। हम लोगों का प्रार्थनीय विषय यही होना चाहिये, कि कब, किस दिन इस टाउन-हाल में कोई भागवत-रत्न आयेंगे और उनसे हम कुछ हरिकथा सुन आत्मा को तृप्त करेंगे। मैं सभापति होने की वजह आप लोगों से अलग कोई नहीं हूँ, आप लोगों के समान ही एक मनुष्य हूँ। हम सभी आज के वक्ता पूज्यपाद त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद् भक्तिविवेक भारती महाराज के मुख से कुछ भगवत्-कथा सुनकर अपना मङ्गल-विधान करेंगे।"

इसके बाद श्रीपाद भारती महाराज ने श्रीगुरु-वैष्णव भगवान् को प्रणाम कर अपनी स्वभाव सुलभ ओजस्विनी भाषा में गुरुगम्भीर वचन से सभापति महोदय के "फलश्रुति" शब्द पर धन्यवाद देते हुए कहा,—"कृष्णविमुख जीवगण पर अनुग्रह करने के लिये ही भक्त लोग मर्त्यलोक में भ्रमण करते हैं—'जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य' इत्यादि (भा० ३।५।३) हमारे जैसों को भोग-विनोद और भोग-स्पृहा से छुटकारा दिलाने के लिये ही भक्तिविनोद का आविर्भाव हुआ; Anthropomorphism और Apotheosis मतवाद, भक्त और भगवच्चरण में अपराध लानेवाला है, ऐसी बुद्धि सब तरह से परित्याज्य है; मन का उत्तम भाग आत्मा है और अधम भाग देह है—ऐसा न समझना चाहिये; आत्मा, देह और मन के अन्तर्गत कोई विशेष वस्तु नहीं है देह और मन का धर्म आत्मधर्म नहीं है, देह और मन अचेतन हैं, आत्मा चेतन वस्तु है; आत्मा की स्वाभाविकी वृत्ति ही भक्ति है, उससे विमुख होने से ही शोक-मोह और भयादि की सृष्टि होती है; यह भ्रम धारणा है, कि मनन शक्ति की उन्नति होने से आत्मोन्नति का लाभ होता है; सांख्य-दर्शी होने के बदले वेददर्शी होने से ही भक्त, भगवान् और भक्ति के स्वरूप की उपलब्धि होती है; भोग और त्याग के विचार को दूर कर युक्त-वैराग्य का विचार करना ही आत्मा की वृत्ति है; देह और मनोविज्ञान की उन्नति स्वीकार्य है—यदि वह भगवद्-भजन के अनुकूल हो; जो देह और मन भगवत्-सेवा में नियुक्त न हो वह वृथा भारमात्र है; ब्राह्मण, कृपण तथा प्राकृत-अप्राकृत प्रभृति का विचार सुनना चाहिये; महाप्रसाद, गोविन्द, नाम-ब्रह्म और वैष्णव में जाति बुद्धि नरक को ले जानेवाली है; नदीयावासी लोग नदीया के ठाकुर महाप्रभु के विषय को नहीं जानते, यह बड़े ही दुःख का विषय है; महाप्रभु या उनके नित्य-पार्षदगण को साधारण ऐतिहासिक मनुष्य समझना ही सर्वनाश का कारण है; जैसे, भगवान् की कृपा से

भगवान् और भक्तों को पहचाना जाता है, वैसे ही भक्त की कृपा से भक्त और भगवान् पहचाने जाते हैं। श्रीभगवान् के प्रियजन को संसारी देश-काल-पात्र के सङ्कीर्ण विचार में लाने से भगवत्-कृपा से चिरवञ्चित होना पड़ता है। अभक्त जन्म-ऐश्वर्य-श्रुत-श्री आदि से परिपूर्ण होने पर भी उसके उस ऐश्वर्य का मूल्य आधी कौड़ी के बराबर भी नहीं है; बाहरी दिखावे में उन सब ऐश्वर्यों को प्रकट न करने पर भी भक्त ही सब प्रकार से ऐश्वर्य सम्पन्न हैं और उससे उनके कृपा भी आतुर नहीं होता। भगवच्चरण में किये हुए अपराध को भगवान् क्षमा करते हैं, किन्तु भक्तचरण में अपराध होने से उसका उद्धार नहीं। अतः मुक्त होने के बदले भगवद्भक्त का भक्त होने की प्रार्थना ही युक्ति-युक्त है; कृष्ण की प्रसन्नता से गुरु की प्रसन्नता और गुरु की प्रसन्नता से कृष्ण की कृपा होती है। ठाकुर भक्तिविनोद की बातें किसी सम्प्रदाय-विशेष के लिये आलोच्य नहीं, बल्कि सारग्राही मात्र उसे सार्वजनीन मानते हैं। भक्तिविनोद ठाकुर नदीया वासी होने पर भी नदीया के ठाकुर के जिस शुद्ध भक्ति के सिद्धान्त को उन्होंने आज सारे संसार में वितरण किया है, उसकी स्मृति को अपने हृदय में धारण करना, नदीयानिवासियों के गौरव का विषय होना चाहिये।" इस तरह उन्होंने बहुतेरे विषयों की आलोचना की।

स्वामीजी की वक्तृता के बाद श्रीविश्व वैष्णव-राज-सभा के अन्यतम सम्पादक श्रीयुक्त अतुल-चन्द्र बन्द्योपाध्याय भक्तिशास्त्री भक्तिसारङ्ग गोस्वामी प्रभु ने सभापति महोदय के वृद्ध होने पर भी बहुत समय तक सभापति का पद स्वीकार कर भगवत्-भागवत् की कथा सुनने का सौभाग्य वरण, वाक्पटुता, असाधारण व्यवहार इस महत् अनुष्ठान के प्रति आन्तरिक सहानुभूति-प्रदर्शन, नित्य-लीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद श्रीभक्तिविनोद ठाकुर के प्रति निष्कपट श्रद्धा प्रकट करने के लिये धन्यवाद देते हुए कहा,—"हमारे गुरु-वैष्णव की पूजा में पौरोहित्य की सहायता कर आज आपने अपने और श्रोताओं के लिये जो उपहार संग्रह किया है, उसे मैं श्रीमन्महाप्रभु के वचनों में ही कहता हूँ,—

जीवे दया नाम-रुचि वैष्णव सेवन।
ये ही तो है धर्म सुनो सनातन॥

आज वाग्मिप्रवर, भक्तप्रवर, संन्यासिप्रवर ने गंगा के पवित्र प्रवाह को लानेवाले भगीरथ की तरह इस नाट-मन्दिर में शब्द-ब्रह्म-सरस्वती की धारा प्रवाहित कर, हम लोगों को जो आनन्द प्रदान किया है, वही जीव पर होनेवाली प्रकृत दया है—कृष्णकथामृत का दान करनेवाले ही जगत् में सच्चे दानी हैं। वक्ता की वाग्मिता से आज हम लोग 'हेलोद्धूलित'-पद्य श्लोक में कही गई अमन्दोदया-दया को प्राप्त कर धन्य हुए हैं। इस प्रकार शब्द ब्रह्म में प्रवेश होने से ही हम "जीव पर दया" के सच्चे विचार को समझ सकेंगे। नाम में रुचि ठाकुर के विरह में उनका गुणगान ही नाम में रुचि बढ़ाता है। श्रीभगवान् के निज-जन-गण के दर्शन, श्रवण और स्मरण के प्रभाव से ही नाम में रुचि होती है और नित्यमंगल होता है। सभापति महोदय आज हम लोगों को इस उपाय के संग्रह का सुयोग दानकर हृदय से धन्यवादार्ह हुए हैं।"

इसके बाद एकत्र सज्जन-मण्डली को धन्यवाद प्रदान कर वक्ता का लक्ष्य करते हुए गोस्वामी प्रभु ने कहा—"आज हम लोगों के हृदय से केवल यही प्रश्न निकल रहा है कि अहो! जिन्होंने हमें इतनी देर तक सुमधुर हरिकथा के सुनने का सुयोग दिया है, वाग्मिकुलभूषण, नयनाभिराम, गेरुआ वसन-धारी, त्रिदण्ड धारण करनेवाले वे महापुरुष कौन हैं? स्वामीजी! आपने अपना परिचय आप ही प्रदान किया है। आज आपने हम लोगों को शुकजी के मुख से अमृत की तरह निकलनेवाले जिस पवित्र भागवत-कथामृत के पान का सुयोग दिया है, उस पर आपको धन्यवाद देने के लिये हमारे पास कोई भाषा ही नहीं है। इसलिये आपको बार-बार नमस्कार है!"

गोस्वामी प्रभु को धन्यवाद देने के बाद श्रीयुक्त विद्यारत्न प्रभु ने "जो है लाया प्रेमधन करुणा

प्रचुर"—इस विरह गीत को गाया। इसके बाद महामन्त्र के कीर्तन के उपरान्त समाप्ति होने पर समवेत श्रोताओं को विविध विचित्रतापूर्ण महाप्रसाद वितरण किया गया। आज भी स्थानीय जनता श्री श्रीमद् भारती महाराज के साथ साथ, प्रसाद सेवन करनेवाले लोग, रह रह जयध्वनि द्वारा टाउनहाल को मुखरित कर रहे थे। इधर श्रीप्रभुपाद भी टाउनहाल के सामने के लम्बे-चौड़े मैदान में बैठकर स्थानीय वकील श्रीयुक्त वैद्यनाथ लाहिड़ी, पोस्टल सुपरिन्टेन्डेन्ट श्रीयुक्त बाबू आशुतोष सरकार आदि कई विशिष्ट शिक्षित भद्रजनों से लगातार हरिकथा का कीर्तन कर रहे थे।

कृष्णनगर कालेज के प्रिन्सिपल मिस्टर आर० एन० सेन; एडवोकेट मि० एन० के० चटर्जी; प्रोफेसर एम० एन० दास एं० एच० डी० (लन्दन); प्रवीण ज़मींदार राजर्षि श्रीयुक्त नफ़रचन्द्र पाल चौधरी भक्तिभूषण; नदीया ज़िले के सिविलसर्जन डा० सी० सी० सिंह; नदीया के सुयोग्य डी० एस० पी० रायबहादुर श्रीयुक्त महीशचन्द्र मुखोपाध्याय ओ० बी० ई०; वकील श्रीयुक्त महीतोष विश्वास; कोतवाली के कोर्ट आफ़ वार्ड्स के मैनेजर मि० पी० घोष; डाक्टर श्रीयुक्त शान्तिप्रसाद चट्टोपाध्याय एम० बी०; डा० श्रीयुक्त कुलजारंजन राय; डा० श्रीयुक्त विमलभद्र; कृष्णनगर के सब रजिस्ट्रार श्रीयुक्त सरोजरंजन सेन; वकील श्रीयुक्त करुणाकुमार मुखोपाध्याय; वकील श्रीयुक्त करुणा भट्टाचार्य; वकील श्रीयुक्त उमाप्रसन्न लाहा; श्रीयुक्त बाबू ज्ञानेन्द्रनाथ घोष; वकील श्रीयुक्त उमापद चट्टोपाध्याय; वकील श्रीयुक्त सुरेन्द्रकुमार मालिक; वकील श्रीयुक्त सरोजरंजन बसु; श्रीयुक्त रामगोपाल विद्याभूषण एम० ए०; वकील श्रीयुक्त कान्तिभूषण चौधरी आदि और भी शहर के उच्चपदस्थ बहुतेरे शिक्षित व्यक्ति सभा में उपस्थित थे।

"दे दही"

रामबाबू के लड़के के विवाह में बहुतेरे भले आदमी भोजन करने बैठे। निमंत्रित लोगों में स्थानीय डिपटी, मुन्सिफ़ आदि कितने राजकर्मचारी भी थे। इन सबको भोजन के लिये रामबाबू के दोमञ्ज़िले कमरे में स्थान दिया गया। उन लोगों के साथ नौकर के रूप में कई चपरासी भी आये थे। वे सब नीचे मकान की कोठरी के बगल में भोजन के लिये बैठाये गये। ऊपर बाबुओं को जो-जो चीज़ें मिल रही थीं, शायद चपरासियों को भी वही मिल रही थीं। इस तरह धीरे-धीरे लोगों का खाना समाप्त होने लगा। इसी समय चपरासियों ने देखा, कि उन लोगों को छोड़ कर दही परोसनेवाले दही का बर्तन हाथ में लिये ऊपर चले गये। तब वे बेचारे दही पाने की आशा में कुछ देर बैठे रहे। देखते देखते बहुत देर हुई। दही के बर्तन को प्रायः खाली किये हुए परोसनेवाले फिर नीचे आये और भूखी ललचीली निगाहों से ताकते हुए चपरासियों के सामने से निकल गये; उनकी पत्तल पर एक बूंद भी दही न पड़ा। तब एक चपरासी ने लज्जा को फटकार बताकर परोसनेवाले से कहा, "आपने हम लोगों को दही नहीं दिया; बहुत देर से हम लोग खाली पत्तल बैठे हैं।" परोसनेवाले ने कहा,—"हाँ, यात्रियों के चौकीदार पुरुष के भाग्य से सन्देश-रसगुल्ले मिले, अब दही खाने की रट लगाये हुए हैं। चपरासियों को दही खाने का शौक़ होता है। ज़रा इनका शौक़ तो देखो।" इस तरह दही परोसने के बदले कुछ डाट डपट परोसकर वे चलते बने।

संसार में इसी प्रकार रामबाबू, विवाह, डिपटी-भोज और चपरासियों के भोज का कारोबार रात-दिन चलता ही रहता है; और चपरासियों के

भाग्य में अकसर इसी प्रकार दही नहीं मिलता। इसके लिये, कोई जवाबदेह नहीं। चपरासी मुन्सिफ़ और डिपटी न होकर चपरासी क्यों हुए? जन्म, पदवी, अर्थोपार्जन और विद्वत्ता के लगाव से ही चपरासियों के दही चाखने में बाधा रहती है। ठीक है, यह लगाव चपरासी और डिपटी में होता रहे, - ऐसा होने में कोई हर्ज नहीं। किन्तु डिपटी और चपरासी के भ्रम से दही परोसने की कृपणता या लापरवाही तो अद्भुत व्यापार है।

इस संसार में मनुष्य लोग इसी प्रकार राम-बाबू, डिपटी बाबू, राम बाबू के निर्वाचित परोसनेवाले और चपरासी आदि बनकर जातीय अभिनय कर रहे हैं। करेंगे ही। देह में 'मैं' बुद्धि के फल से ही संसार नाट्य-मंदिर में इस प्रकार के अभिनय की धूमधाम है। नाट्य-मंदिर में तो यह सब होता ही है, किन्तु इस संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ ऐसा जातीय नाट्य-मंदिर न हो। इसके अभिनेता लोग मिथ्या अभिनय का मिथ्या परिचय देते हुए मिथ्या वेश में रंगमंच पर खड़े होते हैं। जहाँ भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा (धोखेबाज़ी की इच्छा), करणापाटव (इन्द्रिय की अपटुता) नहीं है; जहाँ मिथ्या का अंशाधिकार नहीं है; जहाँ नित्य सत्य वस्तु का नित्य विकाश और नित्य लीला नित्य प्रकाशित होती है; वहाँ नित्य सत्य वस्तु के साथ नित्य सत्य वस्तु का नित्य अभिनय होता रहता है। इस अभिनय का विराम नहीं, अन्त नहीं, यवनिका पतन नहीं। इस मंच के अभिनेता लोग कल्पित पहनावा या कल्पित नाम इत्यादि नहीं रखते। यह अभिनय सन्ध्या से आरम्भ होता और अन्तिम रात को समाप्त होता है।

जो संसार के अभिनेता हैं, वे इस जातीय नित्य लगातार होनेवाले अभिनय के अभिनेता या अभिनय तत्त्व के बारे में कोई जानकारी नहीं रखते। यदि अचानक इस प्रकार नित्य अभिनय करनेवाले नित्य अभिनय के प्रदर्शन के क्रम से उन अनित्य अभिनयकारियों के द्वार पर पहुँचकर उनके नित्य अभिनय की लीला को देखें, तब भी उनके दुर्भाग्य का ऐसा उदय होता है, कि वे उस नित्य अभिनय का दर्शन करना या उसे समझना नहीं चाहते। वे अपने अनित्य अभिनय का सम्मान करने की वजह नित्य अभिनयकारी के "बिना पैसे के" अभिनय को देखने या समझने में भी नाराज़ हैं। विशेषतः वे मिथ्या वस्तु का अवलम्बन कर, सम्पूर्ण मिथ्या के ऊपर पैर रख सारी रात बिजली की रोशनी जलाते, बिजली के पंखे की हवा खाते, अभिनय के अन्त में मोटर पर सवार हो इधर-उधर आते जाते, दर्शकों से रुपये ऐंठकर उससे अपनी इन्द्रिय का तर्पण करते और वे नित्य अभिनय करनेवाले, जो किसी तरह के लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा और कनक-कामिनी के लिये अभिनय नहीं करते, जिनके अभिनय में निषिद्धाचार, कपटता या जीवहिंसा नहीं है - जिनकी सब चेष्टायें कृष्ण के लिये हैं, उन निष्किञ्चन ब्रह्मचारी को मोटरगाड़ी में बैठते, बिजली की रोशनी की सहायता से श्रीग्रन्थ का पाठ करते या श्रीभगवान् के आचरित और प्रचारित जीव पर दया के वचन को प्रति मुहूर्त्त द्वार द्वार पहुँचाते देख कुछ कहने में ज़रा भी सङ्कोच नहीं करते।

इस प्रकार का वचन सदा अनित्य, व्यवसायी अभिनेताओं की ज़बान पर रखा रहता है। ये लोग सारी रात कपट और सर्व क्षयकारी अभिनय के कार्य में लगे रहते और अनित्य असद्वस्तु का सङ्ग कर दिन के समय अन्य उपायों या अन्य चिन्ता में व्यतीत करने का अवकाश नहीं पाते। पहली रात के किये कामों का नशा समाप्त होने से पहले फिर नई तैयारी से अभिनय आरम्भ करते हैं। जब वे उपरोक्त नित्य निःस्वार्थ अभिनय की खबर रखते या उसके तत्त्व को समझ जाते हैं, तब उन्हें एक मुहूर्त्त के लिये भी अवसर नहीं मिलता।

समस्त भग (सिद्धियाँ) और समस्त ऐश्वर्य श्रीभगवान् के हैं। जो श्रीभगवान् के ऐश्वर्य को भोगने और उसे अपनी सेवा में लगाने की धृष्टता या दुर्बुद्धि दिखाते हैं, उन धृष्टताकारी दुर्बुद्धि जीवों के लिये स्थान कहाँ है? और जो बहिर्जगत् के समस्त विषयों को यहाँ तक कि अपनी देह के अन्तर्गत

एकादश इन्द्रिय और देह को भी श्रीभगवान् की सेवा में लगा रखा है, उनके लिये कौनसा स्थान है? जो श्रीमद्भगवान् की वस्तुओं को अपने भोग की वस्तु समझ उन सबको अपने भोग में लगाते और जो ठीक इसका विपरीत आचरण करते हैं, उन दोनों के ही बाहरी आचरण एक प्रकार के होते हैं। अपनी इन्द्रिय के तर्पण के लिये मोटर-गाड़ी पर चढ़ना और श्रीभगवान् की सेवा के कार्य से चढ़ना—दोनों देखने में एक समान हैं। जीभ के स्वाद की लालच से बाज़ार में जाकर शाक-सब्ज़ी ख़रीदना और भक्तों का शाक-सब्ज़ी ख़रीदना दोनों एक ही है। किन्तु इन दोनों में बहुत अन्तर है। दोनों की वृत्ति और उद्देश्य सम्पूर्ण अलग-अलग हैं। भोगी लोग इस जातीय भोगगन्धहीन अनुष्ठान को और अपने भोगमय अनुष्ठान को बराबर समझ कर चपरासियों के हरी स्वांग का तमाशा देख बैठते हैं।

कलकत्ते में प्रचार

श्रीगौड़ीय मठ में—११वीं जून रविवार गौड़ीय-सम्पादक श्रीयुक्त सुन्दरानन्द विद्याविनोद बी. ए. महोदय ने श्रीगौड़ीय मठ के नाट्य मंदिर में प्रायः ढाई सौ विद्वज्जन मण्डित एक सभा में सन्ध्या ७ से रात ८॥ बजे तक डेढ़ घण्टे "अस्पृश्यता और श्रीचैतन्य देव" के बारे में एक सुगवेषणा पूर्ण वक्तृता देते हुए स्पृश्यता शब्द के विश्लेषण, 'हरिजन' शब्द का अर्थ और हरिजन का कार्य, मायाबद्ध जीवों के प्रकृतिजन को 'हरिजन' समझने की भ्रान्ति अर्थात् चिज्जड़-समन्वय-चेष्टा और श्रीमन्महाप्रभु के प्रचारित चित्समन्वय में पार्थक्य और फल के तारतम्य आदि के विचार से बहुतेरी शास्त्र युक्ति और दृष्टान्त द्वारा प्रदर्शन कर श्रोताओं के आनन्द को बढ़ाया।

गत १७वीं जून शनिवार के दिन ज़िला चित्तौर के अन्तर्गत तिरुपति संस्कृत पाठशाला के साहित्याध्यापक, उत्तरादि मठ के शिष्य द्वैतवेदान्त के विद्वान् पण्डित श्रीयुक्त सुस्वर गोपालकृष्णादि महोदय ने श्रीगौड़ीय मठ में उपस्थित हो परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद के श्रीपादपद्म की वन्दना कर श्रीप्रभुपाद से श्रीरामायण के "रामं दशरथं विद्धि"—इस श्लोक की अपनी व्याख्या के अनुमोदन की प्रार्थना की।

नित्यधर्म और व्यवहार

एक दिन श्रीगोद्रुम के वैष्णवगण श्रीगौर ह्रद के दक्षिण-पूर्व किनारे उपवनवासी वैष्णवों के निभृत कुञ्ज में प्रसाद सेवन के उपरान्त तीसरे पहर जमा हुए। लाहिड़ी महाशय ने एक भक्ति पूर्ण गाना सुनाकर वैष्णवों के हृदय में व्रज के भावों को जगा दिया।

गीत के समाप्त होने पर वैष्णवगण गौरलीला और कृष्णलीला की एकता की आलोचना करने लगे। इसी समय बड़गाछी से कई वैष्णवों ने आकर पहले गोराह्रद को और फिर वैष्णवों को साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया। स्थानीय वैष्णवों ने आदर के साथ उन्हें बैठाया। निभृत कुञ्ज में एक पुराना वटवृक्ष था। वैष्णवों ने उसी वृक्ष के नीचे एक पक्का और गोल चौतरा बनवा दिया था। सब लोग बड़े सम्मान के साथ उस वटवृक्ष को 'निताई-वट' कहते थे। प्रभु नित्यानन्द उस वट के नीचे बैठना बहुत पसन्द करते थे।

वैष्णव लोग निताई वट के नीचे बैठे बातचीत कर रहे थे। बड़गाछी से आये हुए वैष्णवों में एक कम उम्र जिज्ञासु वैष्णव थे। वे सहसा बोल बैठे,—मैं कुछ पूछना चाहता हूँ, आप में से कोई उसका उत्तर देकर मुझे परितृप्त करेंगे?

निभृत कुञ्ज के बाबा हरिदासजी महाशय बड़े ही गम्भीर पण्डित थे। वे प्रायः कहीं आते जाते नहीं थे। उनकी उम्र एक सौ वर्ष की होगी। कभी-कभी प्रद्युम्न कुञ्ज में जाकर बाबा परमहंसजी महाशय के पास बैठा करते। उन्होंने प्रभु नित्यानन्द को उस वट के नीचे बैठे अपनी आँखों देखा था। उनकी बड़ी इच्छा थी, कि इसी जगह उनका अन्त हो। उन्होंने कहा,—भाइयो, जब बाबा परमहंसजी की मण्डली यहाँ बैठी हुई है, तब तुम्हें अपने प्रश्न के लिये चिन्ता ही क्या है?

बड़गाछी के वैष्णव ने पूछा—वैष्णवधर्म नित्य-धर्म है; जो वैष्णवधर्म का आश्रय लें, उन्हें अन्य लोगों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये? इसे मैं पूर्ण रूप से जानना चाहता हूँ।

बाबा हरिदासजी ने बाबा श्रीवैष्णवदास की ओर देखकर कहा,—अहो वैष्णवदास, तुम्हारे जैसे पंडित और सुवैष्णव आजकल बंगभूमि में कोई नहीं; तुम इस प्रश्न का उत्तर दो। तुमने श्रीसरस्वती गोस्वामी का संग किया है और बाबा परमहंसजी से शिक्षा प्राप्त की है। तुम परम सौभाग्यवान् और श्रीमन्महाप्रभु के कृपापात्र हो।

बाबा वैष्णवदासजी ने विनीत भाव से कहा,—महोदय, आपने बलदेव के साक्षात् अवतार श्री-नित्यानन्द प्रभु को देखा है और अनेक महाजन के संग में कितने ही लोगों को शिक्षा दी है आज हम लोगों को भी कुछ शिक्षा देने की कृपा कीजिये। और सब वैष्णवों ने भी उस समय बाबा हरिदास-जी को ही इस प्रश्न का उत्तर देने की प्रार्थना की। लाचार बाबाजी महाशय राजी हो गये। बाबाजी महाशय वटवृक्ष के मूल में श्रीनित्यानन्द प्रभु को दण्डवत् प्रणाम कर कहने लगे—

"जगत् में जितने जीव हैं, उन सबको ही मैं 'कृष्णदास' समझ कर प्रणाम करता हूँ। (चै० चै० आदि ८।२३)—"कोई माने औ कोई न माने सबही उनके दास"—यह साधुवाक्य हमारे लिये शिरोधार्य है। यद्यपि सभी लोग श्रीकृष्ण के स्वतः सिद्ध दास हैं, तथापि अज्ञानवश या भ्रमवश उनकी दासता को नहीं स्वीकार करते, उनका एक दल है और जो उनकी दासता स्वीकार करते हैं, उनका दूसरा दल है, सुतरां जगत् में दो प्रकार के मनुष्य हैं, अर्थात् कृष्णविमुख और कृष्णोन्मुख। कृष्णविमुख लोगों की संख्या ही संसार में अधिक है। इनमें कितने ही लोग धर्म को स्वीकार नहीं करते; उनके सम्बन्ध में कुछ कहना या न कहना बराबर है; उनमें कर्त्तव्याकर्त्तव्य का तो कुछ विचार ही नहीं है। स्वार्थ और सुख ही इनका सर्वस्व है। जो धर्म को स्वीकार करते हैं, उनमें कर्तव्य का विचार है। उनके लिये वैष्णवप्रवर मनु ने लिखा है—(६।६)—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

अर्थात् धृति (सन्तोष), क्षमा (दूसरे के अपकार करने पर भी स्वयं उसका प्रत्यपकार न करना), दम (विकार का कारण होने पर भी मन की अविकृत अवस्था), अस्तेय (अन्याय से पराया धन न लेना), शौच (मट्टी और पानी से देह की सफाई), इन्द्रिय निग्रह (विषय से आँख आदि इन्द्रियों को खींचना), धी (शास्त्रादि का तत्त्व ज्ञान), विद्या (आत्मज्ञान), सत्य (यथार्थ अभिधान), अक्रोध (क्रोध का कारण होने पर भी क्रोध का न उमड़ना)—ये दश धर्म के लक्षण हैं।

इनमें धृति, दम, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी और विद्या—ये छओं अपने प्रति कर्त्तव्य के रूप में स्थिर हैं। क्षमा, अस्तेय, सत्य और अक्रोध—ये चार दूसरों के प्रति कर्त्तव्य माना गया है। हरिभजन इन दश लक्षणों में किसी में भी स्पष्ट नहीं। ये दश प्रकार के धर्म साधारण लोगों के लिये निर्दिष्ट हैं। यह नहीं कहा जा सकता, कि इस प्रकार कर्त्तव्य निष्ठ होने से ही मनुष्य-जीवन सम्पूर्ण रूप से मङ्गलमय हो जाता है। विष्णुधर्मोत्तर में कहा है,—

जीवितं विष्णुभक्तस्य वरं पञ्चदिनानि च ।
न तु कल्पसहस्राणि भक्तिहीनस्य केशवे ॥

अर्थात् इस संसार में विष्णुभक्त का पाँच दिन रहना भी मंगल-जनक है; किन्तु जिनमें श्रीकृष्ण की भक्ति का अभाव है, वे यदि हज़ार कल्प तक इस जगत् में वास करें, तब भी मंगल की जगह जगत् का अमंगल होगा।

विना कृष्णभक्ति के कोई भी मनुष्य नहीं कहा जा सकता। भक्त के अतिरिक्त और सब दो पैर के पशु में गिने जाते हैं। यथा, (भा० २। ३। १९)—

श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः ।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः ॥

अर्थात् श्रीकृष्ण का नाम जिनके कर्णपथ का पथिक नहीं हुआ, वे मनुष्य दो पैरवाले पशु कहलाते हैं। वह मनुष्य कुत्ते की तरह घृणित और नीच है, ग्रामीण शूकर की तरह अमेध्यभोजी है, ऊँट की तरह काँटे खानेवाला और संसार-मरुभूमि में सदा विचरण करनेवाले गधे की तरह सदा बोझ ढोने और स्त्री की लात खानेवाला है।

यहाँ यह नहीं पूछा जाता है, कि ऐसे लोगों के लिये क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य। इसलिये केवल यही कहा जायगा, कि जिन्होंने भक्तिपथ का आश्रय लिया है, उनके लिये कैसा व्यवहार कर्त्तव्य है।

जिन्होंने भक्तिपथ का आश्रय लिया है, वे तीन श्रेणी में विभक्त हैं, कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम। कनिष्ठ वे हैं, जिन्होंने केवल भक्तिपथ का अवलम्बन किया है, किन्तु भक्त नहीं हुए हैं। उनके लक्षण ये हैं—यथा (भा० ११। २। ४७)—

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥

अर्थात् जो हरि की प्रसन्नता के लिये श्रीमूर्त्ति की ही श्रद्धा के साथ पूजा करते हैं, किन्तु श्रीहरि के भक्त और अन्य जीवों पर वैसी प्रीति नहीं करते, उन्हें प्राकृत अर्थात् कनिष्ठ भक्त कहते हैं।

जो श्रद्धा के साथ अर्चामूर्त्ति आदि में हरि की पूजा करते हैं, किन्तु कृष्ण के भक्तों और अन्य जीवों की श्रद्धापूर्वक प्रीति नहीं करते, वे प्राकृत भक्त हैं। इससे यह सिद्धान्त होता है, कि श्रद्धा ही भक्ति का बीज है। श्रद्धा के साथ हरि की पूजा करने से ही भक्ति होती है। तथापि भक्त की पूजा के विना केवल पूजा से शुद्ध भक्ति नहीं होती; क्योंकि उसमें भक्ति के पूर्ण स्वरूप की हानि होती है; अर्थात् भक्तिकर्म के दर्वाजे में उनका प्रवेश मात्र हुआ है। शास्त्र में कहा है

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके,
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि-
ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥

(भा० १० । ८४ । १३)—

जो इन स्थूल शरीर में आत्मबुद्धि, स्त्री और परिवारादि में ममत्वबुद्धि, पत्थर आदि जड़ वस्तु में ईश्वरबुद्धि और जलादि में तीर्थबुद्धि करते हैं, किन्तु भगवद्भक्त में आत्मबुद्धि, ममता, पूज्यबुद्धि और तीर्थबुद्धि में किसी तरह का भाव नहीं रखते, वे गायों में गधा अर्थात् बिलकुल ही मूर्ख हैं।

मतलब यह कि यद्यपि मूर्त्ति-पूजा के बिना भक्ति का प्रारम्भ नहीं होता, केवल वितर्क द्वारा हृदय पिष्ट होता और भजन का विषय निर्दिष्ट नहीं होता, तथापि मूर्त्ति की सेवा के लिये शुद्ध चिन्मय बुद्धि की आवश्यकता है। इस जगत् में जीव ही चिन्मय वस्तु है। जीवों में जो कृष्णभक्त हैं, वे ही शुद्ध चिन्मय हैं। "भक्त" और "कृष्ण" ये दोनों ही शुद्ध चिन्मय वस्तु हैं। उस चिन्मय वस्तु के पाने के लिये जड़, जीव और कृष्ण का जो सम्बन्ध ज्ञान है, वह बहुत ही प्रयोजनीय है। उस सम्बन्ध ज्ञान के साथ मूर्त्ति की सेवा करने के लिये कृष्ण पूजा और भक्त सेवा—दोनों ही एक साथ होना चाहिये। जिस श्रद्धा के साथ चिन्मय तत्त्व का ऐसा आदर होता है, उसे ही 'शास्त्रीय श्रद्धा' कहते हैं। तत्त्व के यथार्थ सम्बन्ध को न जानकर केवल मूर्त्ति की पूजा करना लौकिक श्रद्धा से ही होता है। अतएव वह भक्ति का पहला द्वार होने पर भी शुद्ध भक्ति नहीं है; ऐसा ही सिद्धान्त है। भक्ति के द्वार तक पहुँचे हुए मनुष्यों के लिये शास्त्र में यों कहा है—

गृहीत-विष्णुदीक्षाको विष्णुपूजापरो नरः।
वैष्णवोऽभिहितोऽभिज्ञैरितरोऽस्मादवैष्णवः॥

अर्थात् जो यथाशास्त्र विष्णुमन्त्र से दीक्षित हो विष्णु की पूजा में लगे हुए हैं, उन्हें ही पण्डित लोग वैष्णव कहते हैं; बाकी सब अवैष्णव हैं।

वंशानुक्रम से जो लोग कुलगुरु को मान या लोगों की देखा देखी लौकिक श्रद्धा के साथ विष्णु-मन्त्र की दीक्षा लेकर मूर्त्ति की पूजा करते हैं, वे कनिष्ठ वैष्णव अर्थात् प्राकृत भक्त हैं, शुद्ध भक्त नहीं। इस श्रेणी के भक्तों में छाया भक्त्याभास ही प्रबल है। प्रतिबिम्ब भक्त्याभास नहीं है; क्योंकि अपराध में गिने जाने की वजह प्रतिबिम्ब भक्त्याभास में वैष्णवता नहीं है। यह छाया-भक्त्याभास भी बड़े भाग्य का फल है। क्योंकि यह भी क्रम से मध्यम और उत्तम वैष्णव हो सकते हैं।

जो हो, इस अवस्था के लोग शुद्धभक्त नहीं हैं। वे अर्चनीय मूर्त्ति में लौकिक श्रद्धा के साथ पूजा करते और साधारण लोगों के लिये कहे गये जो दश लक्षण धर्म हैं, उनसे ही लोगों से व्यवहार करते हैं, भक्तों के लिये जो शास्त्र निर्दिष्ट व्यवहार हैं, वे इनके लिये कहे नहीं गये हैं। अभक्तों में से भक्त को चुन लेना इनके सामर्थ्य से बाहर है। अतएव भागवत में मध्यम वैष्णवों के लिये भागवत ने निरूपण किया है,—(११। २। ४६)—

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेम मैत्री कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥

अर्थात् जो परमेश्वर कृष्ण के प्रति प्रीति करते, उनके अधीन भक्तों से मित्रता करते, सरल निर्बोध मनुष्यों पर कृपा और भगवान् तथा भक्तों के विद्वेषियों से उपेक्षा करते हैं, वे मध्यमाधिकारी वैष्णव हैं।

यहाँ जिस व्यवहार का ज़िक्र किया गया, वह नित्य धर्मगत व्यवहार है; नैमित्तिक और केवल संसारी व्यवहार की बातें कही नहीं गई हैं। वैष्णव जीवन में इस व्यवहार का ही प्रयोजन है, अन्य व्यवहार इस व्यवहार के विरोधी न हों, तो आवश्यकता के अनुसार किये जा सकते हैं।

वैष्णव-व्यवहार के पात्र चार हैं अर्थात् ईश्वर, उनके अधीन भक्त, बालिश (अतत्त्वज्ञ विषयी) और द्वेषी अर्थात् भक्ति के विरोधी व्यक्ति। इन चार प्रकार के पात्रों के प्रति प्रेम, मैत्री, कृपा और उपेक्षा करना ही वैष्णव व्यवहार है, अर्थात् ईश्वर में प्रेम, भक्त से मैत्री, बालिश पर कृपा और द्वेषियों के प्रति उपेक्षा।

सबसे प्रथम ईश्वर में प्रेम है। ईश्वर अर्थात् सर्वेश्वर जो कृष्ण भगवान् हैं। उनमें प्रेम। 'प्रेम' शब्द का अर्थ शुद्ध भक्ति है। शुद्ध भक्ति के लक्षण

इस प्रकार है,—(भ० र० सि० पूर्व लहरी १ म श्लोक)—

अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

अर्थात् अन्य अभिलाष शून्यता, अभेद ब्रह्म की चिन्ता अथवा स्मृति के कहे नित्य नैमित्तिकादि कर्म, वैराग्य, योग, सांख्याभ्यास प्रभृति धर्मों द्वारा अनावृत, कृष्ण में रोचक प्रवृत्ति के साथ, कृष्ण और कृष्ण सम्बन्धी अनुशीलन ही उत्तमा भक्ति है।

इस लक्षणयुक्त भक्ति में मध्यमाधिकारी वैष्णवों का साधन, भाव और प्रेमदशा तक दिखाई देती है। प्रथमोक्त कनिष्ठाधिकारी के सम्बन्ध में केवल श्रीमूर्त्ति में श्रद्धा के साथ पूजा करने का लक्षण मिलता है। अन्याभिलाषिता शून्य और ज्ञानकर्म द्वारा अनाच्छन्न, अनुकूल प्रवृत्ति के साथ जो कृष्ण-अनुशीलनरूपी भक्ति है, वह उनमें नहीं है। इस लक्षण से युक्त भक्ति जिस दिन उनके हृदय में उदय होगी, उसी दिन से वे मध्यमाधिकारी के नाम से सच्चे भक्तों में गिने जायँगे। जब तक इसका उदय न हो, तब तक वे प्राकृत भक्त अर्थात् भक्ताभास या वैष्णवाभास के नाम से परिचित हैं। कृष्णानुशीलन ही प्रेम है, किन्तु 'आनुकूल्येन' शब्द के द्वारा कृष्णप्रेम के अनुकूल जो मैत्री, कृपा और उपेक्षा है—वे तीनों ही मध्यम वैष्णव के लक्षण हैं।

द्वितीयतः, भगवान् के अधीन भक्तों के प्रति मैत्री अर्थात् मित्र भाव है। जिन लोगों में शुद्ध-भक्ति का उदय हुआ है, वे ही उनके अधीन भक्त हैं; कनिष्ठाधिकारी उनके अधीन शुद्ध भक्त नहीं हैं और शुद्ध भक्तों का सत्कार भी नहीं करते; मध्यम और उत्तम भक्त ही मैत्री करने के पात्र हैं। कुलीनग्रामी के प्रश्नोत्तर में श्रीमन्महाप्रभु ने जो उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ वैष्णवों के लिये आज्ञा की है, वे सभी पूर्वोक्त मध्यम और उत्तम वैष्णव के नाम से परिगणित हैं। कोई भी केवल अर्चा-पूजक रूपी कनिष्ठाधिकारी नहीं है। केवल अर्चा-पूजा करनेवालों के मुख से कृष्णनाम नहीं निकलता, केवल छाया नामाभास होता है। मध्यमाधिकारी गृहस्थ-वैष्णवों को महाप्रभु ने तीन प्रकार के वैष्णवों की सेवा करने की आज्ञा दी है। जिनके मुख से एक बार कृष्ण नाम सुनाई दे, जिनके मुख से सदा कृष्ण नाम सुनाई दे, जिन्हें देखने से स्वयं कृष्ण नाम का उदय हो—वे ही सेवा योग्य वैष्णव हैं। नामाभासी सेवा योग्य वैष्णव नहीं हैं; शुद्ध-नामाश्रयी वैष्णव ही केवल सेवा योग्य हैं। वैष्णव के तारतम्य के भेद से सेवा के भी तारतम्य का उपदेश दिया गया है। "मैत्री" शब्द का अर्थ संग, आलाप और सेवा—सभी समझना चाहिए। शुद्ध वैष्णवों को देखते ही उनकी अभ्यर्थना, उनका आदर और उनके साथ बैठकर बातचीत करना तथा उनके प्रयोजन को पूर्ण करना यही सब सेवा करना चाहिए—कभी उनसे विद्वेष न करना, उनकी निन्दा न करना, उनकी आकृति को देखकर कदाकार न समझना और बीमार देखकर उनका अनादर न करना चाहिये।

तृतीयतः बालिश पर कृपा है। 'बालिश' शब्द का अर्थ अतत्त्वज्ञ, मूढ़, मूर्ख मनुष्य इत्यादि समझना चाहिये। किसी तरह की शिक्षा नहीं पाई, मायावादादि किसी प्रकार के मतवाद में प्रवेश नहीं किया, भक्ति या भक्त पर विद्वेष करना नहीं सीखा, फिर भी अहंकार और ममता प्रबल होकर जिसे ईश्वर में श्रद्धा करने नहीं देती, ऐसे विषयी मनुष्य मात्र 'बालिश' कहे जाते हैं। पण्डित होने पर भी जिनमें ईश्वर में विश्वास रूपी उत्तम फल नहीं हो सका, वे ही बालिश हैं। कनिष्ठाधिकारी प्राकृत भक्त, भक्ति द्वार के निकट होने पर भी सम्बन्ध तत्त्व को न जानने की वजह जब तक शुद्ध भक्ति प्राप्त नहीं कर सके, तब तक वे भी बालिश कहे जाने लायक हैं। सम्बन्ध तत्त्व को जान कर जब वे शुद्ध भक्त के सङ्ग से शुद्ध नाम में प्रवृत्त होंगे, तब उनका बालिशत्व दूर होगा और वे मध्यम वैष्णव का पद पाते हैं, ऐसे बालिशों के प्रति मध्यम-वैष्णवों के कृपा व्यवहार की बहुत ही आवश्यकता है। अतिथि समझ कर यथा साध्य इनके प्रयोजन को पूर्ण करना चाहिये। इतना ही यथेष्ट नहीं है; जिससे अनन्य भक्ति में उनकी श्रद्धा

हो और शुद्ध नाम में रुचि हो, वैसा करना ही यथार्थ कृपा है। बालिश लोगों में शास्त्र की निपुणता नहीं है। अतएव कुसङ्ग से सर्वदा इनका पतन हो सकता है; उन पर कृपा कर अपने सङ्ग में उन्हें क्रमशः नाम-माहात्म्य और सदुपदेश सुनाना चाहिये। रोगी कभी अपनी चिकित्सा कर नहीं सकता। इसलिये उसकी चिकित्सा करना चाहिये। जैसे रोगी के क्रोध की बातें क्षमा के योग्य हैं, वैसे ही बालिश के अनुचित व्यवहार भी क्षमा के योग्य हैं; इसी का नाम कृपा है। बालिशों में बहुतेरे भ्रम होते हैं - कर्मकाण्ड में विश्वास, कर्मी व ज्ञानी के प्रति झोंक, ईश्वर की अर्चामूर्त्ति में अन्य आपिता के साथ पूजा, योगादि में श्रद्धा, शुद्ध वैष्णव-सेवा रूपी आनुकूल्य के प्रति उदासीनता, वर्णाश्रम आदि में आसक्ति - इस प्रकार के अनेक भ्रम होते हैं। सद्गुरु-कृपा और सदुपदेश देते हुए क्रमशः इन सब भ्रमों को दूर कर सकने से कनिष्ठाधिकारी बहुत शीघ्र मध्यमाधिकारी शुद्ध भक्त हो सकते हैं। अर्चामूर्त्ति में जब हरि पूजा आरम्भ होती है, तब इसमें सन्देह नहीं, कि सब मंगलों के भित्ति की नींव पड़ गई; उसमें मतवाद या दोष नहीं।

कटक श्रीसच्चिदानन्द मठ का वार्षिक महोत्सव

(हमारे संवाददाता का तार)

कटक जुलाई ([illegible])

कटक के श्रीसच्चिदानन्द मठ का वार्षिक महोत्सव सुन्दर रूप से हो रहा है। परमाराध्य श्रीप्रभुपाद भक्तों के साथ कल यहाँ पधारे हैं। त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिविवेक भारती महाराज ने कल सन्ध्या समय टाउन हाल में श्रीचैतन्य देव की दया के विषय में एक वक्तृता दी। स्वामीजी की यह सरस गम्भीर हृदय स्पर्शी वक्तृता ने श्रोताओं को डेढ़ घण्टे तक शान्त रक्खा। श्रीप्रभुपाद ने भी वहाँ अपने श्री चरणों को प्रकट करके सभा को अनुगृहीत कर एक घण्टे तक हरिकथा सुनाई। विराट् श्रोतृमण्डली ने निस्तब्ध भाव से ध्यान पूर्वक श्रीप्रभुपाद की वाणी सुनी। महामहोपदेशक श्रीपाद अनन्त वासुदेव परविद्याभूषण प्रभु ने उच्चस्वर से संकीर्त्तन किया। मठ के अन्यान्य ब्रह्मचारियों तथा सेवकगणों ने भी कीर्तन किया।

वक्तृता का हाल सुविस्तृत होने पर भी सब श्रोताओं के लिये यथेष्ट स्थान नहीं था। बहुतेरे व्यक्ति ऊँचे आसन पर बैठने को स्थान न पाकर ज़मीन पर ही बैठ रहे और अनेकों स्थानाभाव की वजह बाहर खड़े खड़े ही हरिकथा सुनने में तल्लीन रहे।

उपस्थित व्यक्तियों में से निम्नलिखित महानुभावों का नाम उल्लेखयोग्य है, --

कानिका के टिकायत साहब, रायबहादुर लक्ष्मीधर महान्ति, उत्कल-दीपिका पत्र के सम्पादक रायबहादुर विश्वम्भरण पट्टनायक, एडवोकेट सच्चिदानन्ददास, श्रीयुत सतीशचन्द्र वसु, ट्रेनिंग स्कूल के हेड मास्टर कृष्णचन्द्र सेन, रावेन्स कालिजियट स्कूल के हेडमास्टर विश्वम्भर मिश्र, डिपुटी मजिस्ट्रेट मि० पि, के, दास; सरवेन्ट आफ इण्डिया सोसाइटी के लक्ष्मीनारायण साहु, डिपुटी मजिस्ट्रेट सोमनाथ पट्टनायक, सब जज मि० कजार, राय बहादुर अनुकूलचन्द्र गांगुली इत्यादि। इनके अतिरिक्त शहर के प्रायः सभी विभागों के बड़े बड़े व्यक्ति उपस्थित थे।

कानिका के टिकायत साहब ने टाउन हाल में लगातार कई वक्तृतायें देने के लिये प्रार्थना की और अनेक सज्जनों ने आकर अपने धर्म सम्बन्धीय समस्याओं के समाधान के लिये गुरु महाराज से भेंट करने की प्रार्थना की।

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ; बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपूर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ; कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ; बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
अगस्त्यकुण्ड, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० ४३ हनुमान रोड, न्यू देहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नार्थ गोपालपूरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकोंदा चीरकुण्डा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरौलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपूर

(३१) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ
कब्बुर, वैष्ट गोदावरी, मद्रास

(३२) ग्वालपाड़ा प्रपन्नाश्रम, आसाम

(३३) त्रिदण्डी-गौड़ीय मठ भुवनेश्वर, पुरी

(३४) श्रीसारस्वत-गौड़ीय मठ हरिद्वार

Registered No. A. 2191.

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow.

वर्ष २
[संख्या १२

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भागवत

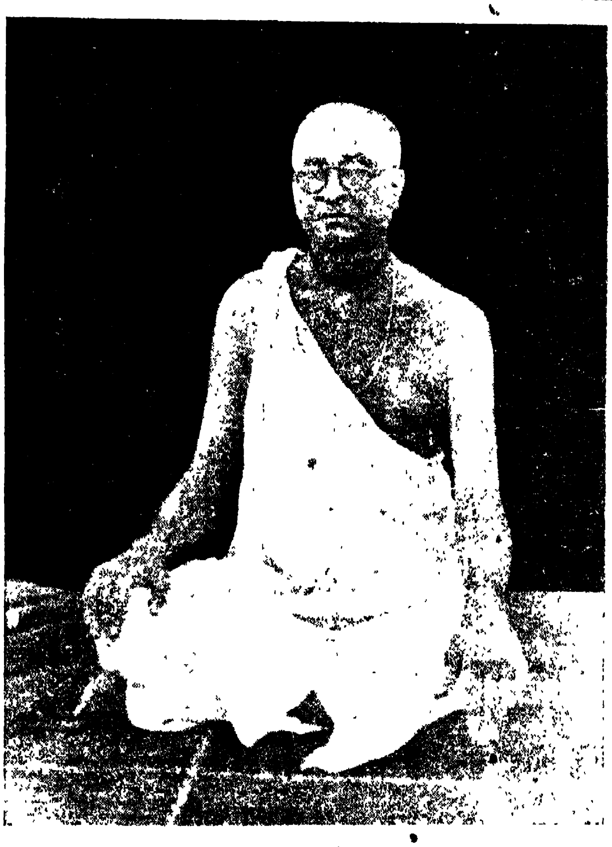
एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

4 September 1933

हृषीकेश गौरपद्म
गौराब्द
४४७

भाद्रपद पूर्णिमा
संवत्
१९९०

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥



क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

ॐ विष्णुपाद परमहंस श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्तसरस्वती
गोस्वामी महाराज

प्रति संख्या -)

सम्पादक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

वार्षिक सडाक १॥)

Editor:—Tridandiswami Bhakti Hriday Bon.

Registered No.

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १।।) है।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा -) है

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये। जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे।

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

सेठ रामयश रोड, नरही, लखनऊ.

All communications are to be addressed to—

The Manager 'Bhagwat'

Seth Ramjas Road,

Narhe,

LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक साप्ताहिक पत्र

वर्ष २ | श्री परमहंस मठ, नैमिषारण्य
भाद्रपद पूर्णिमा गौराब्द ४४७ सं० १९९० वि०, ४ सितम्बर सन् १९३३ ई० | संख्या २२

लोकप्रियता और सत्यप्रियता

स्थान — श्रीजगन्नाथ वल्लभोद्यान, श्रीनरेन्द्र-सरोवर-तीर, पुरीधाम
समय — बुधवार, अपराह्न, २० आषाढ़ १३३३ बंगला सन्
(श्रील प्रभुपाद की वक्तृतावली के तीसरे भाग से अनुवादित)

प्रेयःपन्थी और श्रेयःपन्थी की विचार-भिन्नता

पथ दो प्रकार के हैं — श्रेयः और प्रेयः। श्रेयः कथा बहुधा प्रेयः की भाँति श्रोताओं के प्राकृत हृदय और कानों को रुचिकर नहीं भी हो सकती किन्तु प्रेयः कथा सर्वदा ही इन्द्रियों को तृप्त करनेवाली होती है। प्रायः सभी स्थलों में श्रोता यही चाहते हैं कि "जो कुछ मुझे रुचता है, केवल वही वक्ता के मुख से निकले।" किन्तु श्रेयःपन्थी इसका उल्टा सोचते हैं। उनका कहना है "मानो कि कुछ विषय हमें नहीं रुचते, फिर भी निरपेक्ष सत्य-कथा से परिपूर्ण होने के कारण हम उन्हें अवश्य सुनेंगे।" प्रेयःपन्थियों की विचार-धारा केवल इन्द्रियों के तृप्ति-साधन की ओर झुकी रहती है। उनका सत्य से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहता परंतु श्रेयःपन्थी सत्य की प्रतिष्ठा को ही प्रधानता देते हैं।

बहिर्मुख रुचियों का दासत्व श्रेयःपन्थी का कर्त्तव्य नहीं है

मनुष्य की रुचि भिन्न भिन्न प्रकार की है; इसी से संसार में कुछ तो भावुक और कुछ विचारक तथा कुछ संशयात्मा या सन्देहवादी आदि श्रेणी के मनुष्य पाये जाते हैं। हम सब जिस प्रकार के समाज या संसर्ग अथवा वातावरण में पाले-पोषे गये हैं, उसी प्रकार की विचार-धारा अथवा रुचि की ओर हम लोगों का विशेष झुकाव देखा जाता है। दूसरी बातें हम लोगों के निकट बिलकुल विपरीत, (revolutionary) अनोखी और अजीब सी जँचने लगती हैं। परंतु यदि हम सब अपना कल्याण चाहते हैं तो धैर्य के साथ सभी बातों को सुनेंगे और इस बात पर निष्कपट भाव से विचार करेंगे कि हम लोगों को कौन सा पथ ग्रहण करना

चाहिये ? श्रेयःपथ या क्षणिक आनंद देनेवाला प्रेयः पथ ? यदि श्रेयःपथ चाहते हैं तो अधिकांश जन-मत को छोड़ कर भी हम 'श्रौत वाणी' अर्थात् शास्त्र-सम्मत सिद्धान्तों को ही ग्रहण करेंगे।

सद्गुरु की शरण लेने पर श्रेयःपथ की प्राप्ति

श्रुति का कहना है, "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।" श्रीमद्भागवत भी इसी बात को समस्वर से कीर्तन करके कहते हैं (११-३-२१)—

"तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥"

सद्गुरु कौन है? उनके हरि-भजन का आदर्श

वैष्णव को भी "गुरु" किया जाता है और अवैष्णव को भी गुरु कहा जाता है किन्तु—

"अवैष्णवोपदिष्टेन मंत्रेण निरयं व्रजेत्।
पुनश्च विधिना सम्यग्ग्राहयेद् वैष्णवाद् गुरोः॥"

हम उस प्रकार के गुरु का आश्रय ग्रहण करेंगे, जिनके जीवन का सम्पूर्ण भाग भगवान की सेवा में व्यतीत हो रहा है; नहीं तो हम उनके आदर्श से अपने सम्पूर्ण जीवन को श्रीहरि की सेवा में न लगा सकेंगे। श्रीचरितामृत में भी लिखा है—

स्वयं करहु धर्माचरण, पीछे सिखवहु ताहि।
बिना स्वयं बर्ते धरम, कबहुँ सिखत कोउ नाहि॥

वेतन लेनेवाला मनुष्य गुरु नहीं है

अनाचारी, लम्बी चौड़ी डींग हाँकनेवाला वक्ता (Plateform speaker) अथवा पेशेवर पुरोहित (professional priest) गुरु नहीं हो सकता। मैंने विज्ञापन में पढ़कर देखा कि सड़क पर झाड़ू लगाने के काम में मैं भागवत के पाठ से अधिक रुपया पैदा कर सकता हूँ; झट भागवत पाठ का कार्य छोड़कर सड़क पर झाड़ू लगाने के काम के लिए आवेदन-पत्र भेज दिया। ऐसी दशा में मैं सच्चा भागवत-प्रेमी नहीं हो सकता। यदि मनुष्य प्रत्येकक्षण में हरि-भजन नहीं करता, तो इससे यही प्रमाणित [illegible] नाम बल से दूसरे विषयों में [illegible] का प्रयत्न कर रहा है। वह "नाम के भरोसे पाप-बुद्धि" रखने का एक महापराध करता है। वह अपने नित्य के और दस कामों की तरह इसे भी एक साधारण काम समझ कर जिस प्रकार दस मिनट हवा खाता है, पन्द्रह मिनट भोजन करता है, बीस मिनट इष्ट मित्रों से बातें करता है उसी प्रकार भागवत पाठ आदि भी दस मिनट जैसे तैसे कर लेता है। यह वास्तविक भागवत सेवा कहलाने के योग्य नहीं है। यदि किसी को भागवत सेवा करनी है तो उसे चाहिए, कि वह प्रत्येक पद में, प्रत्येक श्वास में, तथा प्रत्येक श्वास प्रश्वास में सचाई के साथ हरि-सेवा करे। वेतन भोगी अथवा ठेकेदार मनुष्य कदापि भागवत की व्याख्या नहीं कर सकते।

पेशेवर बावाजी गुरु से अपने को सर्वदा दूर रखना चाहिए और इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि भागवत की व्याख्या करने वाले मनुष्य दिनरात के चौबीसों घंटों को भागवत की सेवा में ही लगाते हैं या कोई दूसरे कार्य में। (A stipend-holder or a contractor can not explain Bhagwat. First of all refrain from approaching the professional priest. See whether he devotes his time fully to the Bhagwat or not.)

परब्रह्म में निष्ठायुक्त पुरुष का अव्यर्थ-कालत्व; किसका संग वाञ्छनीय है?

परब्रह्म के सम्बन्ध में निष्ठ पुरुष का सारा समय सेवामय रहता है। श्रीरूप गोस्वामि-प्रभु ने कहा है:—

"सजातीयाशये स्निग्धे साधौ संगः स्वतो वरे।
श्रीमद्भागवतार्थानामास्वादो रसिकैः सह॥"

भागवत-व्याख्याता और प्राकृत शिक्षक की भिन्नता

पुराण-तीर्थ-उपाधि प्राप्त करने से ही कोई भागवत के आदर्श के अनुसार अपना जीवन बिताने

में समय ... कॉलिज के शिक्षक अथवा अध्यापक के साथ जो विद्यार्थियों का सम्बन्ध है,, भागवत-व्याख्याता के साथ हमारा वैसा ही सम्बन्ध नहीं है। जो अध्यापक रोचक ढंग से विद्यार्थियों को शिक्षा दे सकते हैं वही उत्तम अध्यापकों की श्रेणी में गिने जाते हैं। उनका जीवन अथवा चरित्र चाहे जैसा हो, उससे कोई विशेष हानि नहीं होती परन्तु भागवत-व्याख्याता के लिए यह दृष्टान्त लागू नहीं होता। 'भागवत व्याख्याता' को स्वयं 'भागवत' होना चाहिए। धन का लोभ, प्रतिष्ठा की आकांक्षा अथवा अन्य किसी भी प्रकार के प्रलोभन का परोक्ष लिखाव रहने से वे लोक-चित्त-रंजक भागवत-पाठी होने पर भी 'भागवत' कहलाने योग्य नहीं। उनके मुख से भागवत सुनकर श्रोताओं का चित्त भागवत के वास्तविक सत्य के प्रति कदापि नहीं खिंच सकता।

साधुओं का प्रसंग ही चिदिन्द्रियों के लिए रसायन है

श्रीमद्भागवत ने कहा है (३-२५-२५)

> "सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
> भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
> तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
> श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥"

"सतां प्रसंगात्"—इस वाक्यांश पर ध्यान दीजियेगा। "हृत्कर्ण-रसायन" कहने से बहिर्मुख वाली इन्द्रियों की तृप्ति के लिए नहीं बल्कि सेवोन्मुखवाली चिदिन्द्रिय रसायन अथवा सेवाभाव के लाभ के कारण।

स्वाभाविक भागवत श्रीभक्तिविनोद गोस्वामीजी का भागवताध्ययन-लीला का आदर्श

लगभग साठ वर्ष पहिले की बात है, इसी पुरी धाम में गोपीनाथ मिश्र नामक एक उत्कल पण्डित रहते थे। वे श्रीमद्भागवत-शास्त्र के धुरंधर पण्डित थे। उन्हीं से भागवत-पाठ के पाठी होकर एक स्वाभाविक भागवत (श्रीमद्भक्ति विनोद गोस्वामीजी) भागवत का अध्ययन करके विद्ध-भक्ति स्रोत की गति को बदलकर संसार में शुद्ध भक्ति प्रचार के आकर (खान) स्वरूप हो गये हैं। इन्होंने श्रीजगन्नाथ-मंदिर में श्रीमन्महाप्रभु के पादपीठ के समीप भक्तिमण्डप के तलदेश में शुद्ध भागवत की आलोचना की नींव डाली थी। वर्तमान संसार में इन्हीं के आदर्श से भागवत-पाठ और हरि-कीर्तन सम्भव हुआ है। ढोंगी अथवा कपटी समाज अपने अपने असत् अभिप्रायों को लेकर उनकी सेवा नहीं कर सकता।

किससे भागवत सुननी चाहिए?

श्रीमद्भागवत का पाठ भागवतों के यहाँ पढ़ना चाहिए। श्रीस्वरूप गोस्वामि प्रभु ने कहा है—"जाकर पढ़ो तुम भागवत वैष्णवों के स्थान पर" जो मनुष्य स्वयं 'श्रीमद्भागवत' नहीं है, उसके मुख से 'श्रीमद्भागवत' का कीर्तन नहीं होता। वह मनुष्य अपने मुख से 'श्रीमद्भागवत' का कीर्तन हो रहा है कहकर दूसरे मनुष्यों में केवल भ्रम उत्पन्न करता है। वह स्वयं वंचित है, इसीसे दूसरों को भी वंचित करता है। देश देश में अनेक मनुष्य मछली मांस और आजन्म नित्य दिन स्त्री-संग, गृहव्रत धर्म तथा नाना प्रकार के असद् आचरण करते रहते हैं। फिर भी वे अपने को 'भागवत पाठी' कहते हैं। आप ही सोचिए कि ऐसे मनुष्य किस प्रकार अभिन्न भगवद् वस्तु 'भागवत' का पाठ कर सकते हैं। जो चरित्र-भ्रष्ट हैं, जिनमें काम की चिन्ता बड़ी प्रबल है, जिनके विचार में प्रतिष्ठा और धन ही आवश्यक है, वे कदापि भागवत नहीं पढ़ सकते। श्रीमद्भागवत् पढ़ने के बहाने वे केवल आत्मेन्द्रियों को तृप्त करते हैं। फिर भी इसी प्रकार के लोगों का कहना है कि "जो सर्वदा 'भागवत' पढ़ते हैं अर्थात् सचमुच भागवत हैं उनकी हरि-सेवा का धन बन्द कर दो, रेल का किराया भी बन्द कर दो! किन्तु सभी को भागवतों की ही सेवा करनी चाहिए।

गुरु कौन है? पण्डित कौन है?

जो गुरुदेव सर्वदा हरिभजन करते हैं, मैं यदि

सौभाग्यवान होता तो उन्हीं गुरुदेव के श्रीचरणों में आश्रय ग्रहण करता। पण्डित कौन है? श्रीमद्भागवत का कहना है (११-१९-४१) "पण्डितो बन्ध-मोक्षवित्।"

द्वेषहीन साधुओं के प्रति द्वेष

हम लोग बहुधा सोचा करते हैं कि— "हमारे भागवत पढ़ने, मंत्र देने तथा देवता की पूजा करने के बहाने पेट पूजा करने के कार्य की जो निन्दा करते हैं,—जो वास्तव में भागवत पढ़ते, देवता की उपासना करते और संसार के मनुष्यों को 'शुद्ध-वैष्णव' बनाते हैं, हम उनका गला क्यों न घोटें। अपने निन्दित कार्य के समर्थन में निरुत्तर होने पर हम कह सकते हैं कि वे भी तो भिक्षा माँगते हैं और उन्हें भी तो धन की आवश्यकता होती है।' किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। जो सचमुच 'भागवत' पढ़ते हैं, देवता की उपासना करते हैं, उन्हीं को सर्वस्व अर्पण करना होगा। वही समस्त वस्तुओं के अधिकारी हैं। वे हम लोगों की भाँति भोग नहीं करते। देवता की पूजा के बहाने वे न तो आत्मवंचना करते हैं और न दूसरों को ही वंचित करते हैं अथवा भगवत-सेवा के उपकरण को प्रपंचपूर्ण जानकर उसका त्याग करके तुच्छ वैरागी की जड़-प्रतिष्ठा का भी संग्रह नहीं करते।

लोकप्रियता घट जाने के डर से शास्त्र-विरुद्ध पथ का ग्रहण करना

जन साधारण के समीप 'पक्षपातहीन सत्य' की चर्चा करने से उन्हें अप्रिय लगती है। इसी भय से यदि मैं सत्य कथाओं का कीर्तन परित्याग करूँ, तो वह श्रौतपथ त्यागकर अश्रौत-पथ ग्रहण करना होगा। ऐसा करने से मैं 'अवैदिक' और 'नास्तिक' हो जाऊँगा। तब सत्य स्वरूप भगवान् में मेरा विश्वास न रहेगा। श्रीचैतन्यचरितामृत के लेखक ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही लिख दिया है।

(भा० ११। २६। २६)

"ततो दुःसंगमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान।
सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासंगमुक्तिभिः॥"

गुरु शिष्य की प्रथा—अनुवाद ... नहीं है।

गुरु कदापि 'प्रेयःपथ' स्वीकार नहीं करते। वे श्रेयःपन्थी हैं। अपने गुरु से उन्होंने जिस प्रकार सत्य पथ पर चलने की शिक्षा ग्रहण की है, वैसी ही शिक्षा वे दूसरों को भी देते हैं। यदि कोई अपने गुरु से जाकर कहे, "गुरुदेव! मैं शराब पीना चाहता हूँ।" यदि उन्होंने शिष्य के उस कार्य में सम्मति न दी तो वह "मेरी रुचि के अनुकूल वस्तु नहीं दी" कह कर उन्हें गुरु के पद से हटा देता है, परन्तु जो हम लोगों के इन्द्रिय-यज्ञ में ईंधन प्रदान कर सकते हैं, हम उन्हीं को गुरु के रूप में ग्रहण करते हैं। हम प्रायः "गुरु" करते हैं, परन्तु अपने कल्याण या श्रेय के निमित्त नहीं केवल अपने प्रेयोलाभ के लिए। गुरु करने का कार्य आजकल एक श्रेणी के मनुष्यों में नाक छेदी रस्म की भाँति एक प्रकार का लौकिक या वंश-परम्परागत कार्य समझा जाता है। कुछ मनुष्य तो इसे एक प्रकार के "फ़ैशन" समझते हैं।

सत्य के ग्रहण में तनिक भी विलम्ब न करना चाहिए

सत्य को जानते ही हमें उसमें श्रद्धा करनी चाहिए। हम लोगों के जीवन का जितना समय बाकी है, उसका एक मुहूर्त भी विषय कार्य में न लगाकर हरिभजन में ही लगाना चाहिए। खट्वांग राजा ने जीवन का अवशिष्ट समय तथा अजामिल ने केवल मृत्यु के समय को ही हरि-भजन में लगाकर अभीष्ट प्राप्त कर लिया था। हम कह सकते हैं कि, 'हम लोगों के लिए अभी बहुत से कर्त्तव्य कर्म बाकी हैं' किन्तु 'विषयः खलु सर्वतः स्यात्।' दूसरे कर्त्तव्य सभी जन्मों में ही किये जा सकेंगे, परंतु जीव का एकमात्र कर्त्तव्य हरिभजन इस मनुष्य जन्म को छोड़कर दूसरे किसी भी जन्म में नहीं किया जा सकेगा।

ठाकुर महाशय से सत्य का श्रवण करते ही रामकृष्ण भट्टाचार्य का असत् संग त्याग का आदर्श प्रदर्शन

शिवानंद भट्टाचार्य नामक एक शक्ति-उपासक

ब्राह्मण के [illegible] नामक एक पुत्र था। दुर्गा पूजा का समय समीप आता हुआ देखकर भट्टाचार्य महाशय ने बकरे भैंसे आदि शक्ति-पूजा के आवश्यकीय द्रव्यों को खरीद लाने के लिये पुत्र रामकृष्ण को किसी दूसरे स्थान को भेज दिया था। भैंस-बकरे आदि को लेकर घर की ओर लौटते समय मार्ग में [illegible] ठाकुर से रामकृष्ण की भेंट हो गई। ठाकुर महाशय ने रामकृष्ण से बकरे और भैंसे आदि के सम्बन्ध में पूछा। रामकृष्ण ने भी [illegible] भाव से पिता के आदेश को कह सुनाया। ठाकुर महाशय के उपदेश से रामकृष्ण के चित्त में [illegible] हो गया। उन्होंने बकरों और भैंसों को छोड़ दिया और ठाकुर महाशय से कृपा लाभ करके घर को लौट आये। भट्टाचार्य महाशय उत्सुक होकर विशेषकर पूजा के बकरों और भैंसों के लिए राह जोह रहे थे। उन्होंने यह भी आशा रखी थी कि 'बेटा अबकी बार माता (दुर्गाजी) की पूजा के लिए अच्छे से अच्छे बकरे और भैंसे लेकर घर लौटेगा।" परंतु बेटे को खाली हाथ घर आते देख कर वृद्ध भट्टाचार्य महाशय को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उन्होंने पुत्र से पूछा, "रामकृष्ण! माता की पूजा के लिए क्या बकरे ले आये?" रामकृष्ण ने जवाब दिया, "पिताजी, मैंने बकरों और भैंसों को खरीदा था अवश्य किन्तु रास्ते में छोड़ आया हूँ। इसके अतिरिक्त आज एक [illegible] की कृपा लाभ कर मैं कृतकृत्य हो गया हूँ।" इस प्रकार की बातों से वृद्ध भट्टाचार्य महाशय को कितना क्रोध आया होगा वह आप लोग स्वयं अनुमान कर सकते हैं। भट्टाचार्य महाशय ने क्रोध करके कहा, "रामकृष्ण! आज तुमने पिता की आज्ञा की अवहेलना की है, माता की पूजा में विघ्न पहुँचाया है, साथ ही साथ रुपयों को भी पानी में बहा दिया। इन सब बातों के अतिरिक्त ब्राह्मण के पुत्र होकर वैष्णव के शिष्य हुए। अब तो हम समाज में मुँह दिखाने के योग्य भी न रहे। अच्छा होता कि तुम किसी शाक्त-ब्राह्मण को वैष्णव समझ कर उसके शिष्य हो जाते। तुमने आज एक अब्राह्मण को गुरु के रूप में स्वीकार किया है इससे अधिक अपमान की और कौन सी बात हो सकती है। हम लोगों के मुँह में तुमने आज चूना और कालिख पोतने के लिए क़दम बढ़ाया है। तुम कुल के कलंक हो। माता के कोप से तुम्हारा सर्वनाश होगा।" सत्यतापूर्ण बातों में श्रद्धा करने के कारण रामकृष्ण भट्टाचार्य को ये सब बातें सुननी पड़ी थीं, इसी से उन्होंने उसी समय सांसारिक कर्त्तव्यों को अति-क्षुद्र और नगण्य समझ कर त्याग दिया और केवल हरिभजन में दत्तचित्त हो लग गये।

नित्य-मंगल के प्रतिकूल आचरण करने-वाला 'स्वजन' नहीं है

हम लोगों के श्वास प्रश्वास का कोई विश्वास नहीं है। इसलिए मंगलमय कार्यों को इसी मुहूर्त में ग्रहण करना चाहिए। यदि हम मंगल चाहते हैं तो मंगल के प्रतिकूल प्रकृत संसार में किसी की भी बात नहीं सुन सकेंगे। (भा० ५।५।१८)—

'गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत् स्याश्न पतिश्च स स्यात्
न मोचयेद् यः समुपेत-मृत्युम्॥

Registered No.

श्रीभक्तिविनोद-विरहोत्सव

अनुवाद

श्री ठाकुर भक्तिविनोद के मत से "पृथिवी में जम्बुद्वीप (एशिया) सबसे श्रेष्ठ है। जम्बुद्वीप में भारतवर्ष प्रधान है। भारत में गौड़ भूमि सबसे उत्तम है। गौड़ देश में श्रीनवद्वीप मण्डल सबसे उत्तम है।" जिस स्थान में सब काव्य, साहित्य, शिल्प कला, विज्ञान, दर्शन और सब रसके अद्वितीय आधार स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र अपनी भजन-मुद्रा के विस्तार के लिये गौर कान्ति में आविर्भूत हुए थे, प्रेमामृत कल्पतरु का उस प्रथम-उद्यान नदीया नगरी के साथ और किसी स्थान की तुलना हो नहीं सकती।

इस नदीया नगर का प्रधान केन्द्र ही आजकल कृष्ण नगर है। कृष्ण नगर के समीप ही वीरनगर या उला में सन् १८३८ ई० की २ री सितम्बर, रविवार के प्रातःकाल, नदीया की बुझी हुई अद्वितीय गौरव शिखा को फिर से उद्दीपित करने के लिये जो उज्ज्वल ज्योति के साथ आविर्भूत हुए, वे ही 'श्रीभक्ति विनोद ठाकुर' के नाम से सज्जनों के जय जयकार के पात्र हुए।

ठाकुर भक्तिविनोद जिस समय नदीया के तात्कालिक समृद्ध जनपद उला में आविर्भूत हुए उस समय बङ्गदेश की अवस्था श्रीगौरसुन्दर के आविर्भाव की पूर्वावस्था की ही पुनरावृत्ति कर रही थी। गुड्डे-गुड़ी के विवाह में, पुत्र कन्या के विवाह में, वृथा आमोद-प्रमोद में रुपयों का खूब खर्च, मङ्गल-चण्डी और विषहरी की पूजा में नाचना-गाना-बजाना रात्रिजागरण, भूतसिद्धि, वशीकरण, पशुपक्षी-सामन, पञ्चदेव-आवाहन, हाथी और भैंसों का युद्ध, वेश्याओं का नाच, कवियों का शास्त्रार्थ और तरह-तरह के पाप-पुण्य अथवा विषय-भोग, देश की आर्थिक स्वच्छलता और उसके कारण मानसिक स्वतन्त्रता के अवश्यम्भावी चिरन्तन फल के रूप में प्रकट हो रही थी।

नदीया के राजा के विशेष आग्रह से ठाकुर के नाना ने उन्हें सातवें वर्ष की उम्र में कृष्णनगर-कालेज में पढ़ने के लिये भेजा। ठाकुर के छात्रजीवन और कर्म जीवन का कुछ अंश और कर्म जीवन से अवसर पाने के बाद भी अनेक समय कृष्णनगर और उसके समीप के स्वरूपगञ्ज गोद्रुम में बीता था।

आजकल लोग जिसे 'नेशनेलिटी' (जातीयता) कहते हैं, उसकी वास्तविक अभिव्यक्ति ठाकुर की शिक्षा और आचरण से प्रकाशित हुई है। श्रीमन्महाप्रभु ने नदीया में कल्याण-कल्पतरु के जिस उद्यान की रचना की थी, ठाकुर भक्तिविनोद ने उसी उद्यान के फल को फिर से पृथिवी में सर्वत्र वितरण करने की प्रेरणा की। बुद्धिमानों की आलोचना का विषय यही है, कि ठाकुर भक्तिविनोद ही नदीया के सर्वश्रेष्ठ उपकारक थे। श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर का कहना था, कि नदीया के ठाकुर का आश्रय लेने से ही हिन्दुओं की वास्तविक जातीयता, सच्ची देश-प्रेमिकता और संसार की वास्तविक विश्व-प्रेमिकता साधित होगी।

ठाकुर भक्तिविनोद ने प्रमाणित किया था,—एकमात्र श्रीचैतन्यदेव का सार्वजनीन, सार्वकालिक और सार्वदेशिक अप्राकृत प्रेमधर्म ही परस्पर विवादपूर्ण शास्त्रवाद और सङ्कीर्ण साम्प्रदायिक मतवादों के हाथ से छुटकारा पाने का सुन्दर समाधान है।

ठाकुर भक्तिविनोद ने बहुत ही सुन्दर विचार से यह दिखा दिया है, कि श्रीचैतन्यदेव के सच्चे अनुगतगण स्थूल या सूक्ष्म किसी तरह के भी पौत्तलिक नहीं हैं।

श्रीकविराज गोस्वामी प्रभु के बाद श्रीठाकुर भक्तिविनोद की गद्य-पद्यमय लेखनी के अतिरिक्त आधुनिक बँगला भाषा में वास्तविक सुदार्शनिक ग्रन्थ साहित्य के भण्डार में खोजे नहीं मिलते।

संस्कृत [illegible] सब दार्शनिक सिद्धान्त मा[illegible] देशभाषा-ज्ञान [illegible] नहीं समझ सकते थे, सरल बँगला भाषा में उसके मतलब को ठाकुर भक्तिविनोद ने ही खोला है।

'Theism made Easy' नामक [illegible], वर्त्तमान युग में ठाकुर की अकेली [illegible] और सारवान लेखनी ने ही दिया है। [illegible] और पाश्चात्य दार्शनिक विचार तथा आधुनिक ज्ञान के विभिन्न मतवाद के साथ तुलना मूलक आलोचना और ईश्वर-तत्त्व के सम्बन्ध में सम्पूर्ण अज्ञान, उदासीन तथा संशयात्मा व्यक्तियों के लिये युक्ति मूलक विश्लेषण द्वारा नदीयाचन्द्र के सुदार्शनिक सिद्धान्तों का सर्वश्रेष्ठत्व और उसके [illegible] की प्रतिष्ठा, श्रीठाकुर भक्तिविनोद ने 'तत्त्वविवेक', 'श्रीचैतन्यशिक्षामृत' प्रभृति ग्रन्थों में ही [illegible] युग में अद्वितीय रूप से स्थापित किया है।

ठाकुर भक्तिविनोद ने [illegible] 'जैव धर्म' में दिखाया है कि जीव के नित्य जीवत्व और कोई नित्यमुक्त परमाश्रम तथा परमधाम के न होने पर जब जड़ जगत न रहेगा, तब जीवों की यह सब वृत्तियाँ कहाँ जायँगी? उनको इन सबकी परिचालना का आधार कहाँ मिलेगा? सुतरां भगवद्वस्तु, भगवद्धाम, भगवत् सेवक और भगवत् सेवा नित्य है।

कृष्ण ही एक मात्र सब रसों के विषय और सब आकाँक्षाओं के एक मात्र आश्रय हैं — इस बात को ठाकुर ने वर्त्तमान युग के शिक्षित मानव-समाज को सबसे पहले विशेष रूप से समझाया है।

वे जड़ जगत के जीवों की अप्राकृत विचार की भ्रान्ति को दूर करने के लिये 'मटिया' (प्राकृत) नामक शब्द का व्यवहार करते थे। मटिया बुद्धि, मटिया चिन्ता, मटिया भाव, मटिया अभिज्ञता या मटिया धारणा द्वारा अप्राकृत कृष्णतत्त्व कभी समझा या समझाया नहीं जा सकता। कृष्ण अधोक्षज वस्तु हैं, मटिया, रूपक, ऐतिहासिक, काल्पनिक या ससीम नहीं हैं।

उनकी बातों के विचार से हम लोग श्रीचैतन्य की बातों में [illegible] अनुभूति परोक्षानुभूति अपरोक्षानुभूति, अधोक्षजानुभूति और अप्राकृतानुभूति के उत्तरोत्तर श्रेष्ठता की बातें पाते हैं। श्रीगौरसुन्दर [illegible] प्रभु के [illegible] विचार में [illegible], [illegible]-विमुक्त, [illegible] से उनकी श्रेष्ठता की बातों को समझते हैं। [illegible] विचार से वैकुण्ठ, मथुरा, [illegible] और [illegible] कुण्ड की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता समझते हैं [illegible], निर्विशेष निर्गुण [illegible], [illegible] सीताराम और [illegible]गोविन्द के उत्तरोत्तर श्रेष्ठत्व के विचार को समझते हैं।

श्रीचैतन्यदेव की शिक्षा 'तृणादपि सुनीच' श्लोक के जिस विशुद्ध मतलब को जगत् को बहिर्मुखता [illegible] किया है, उससे जीवों का उद्धार कर ठाकुर भक्तिविनोद ने वास्तविक मतलब का विचार किया था। उनकी ही बातें हम लोग अपने गुरुदेव की बातों में सुनते हैं, कि 'तृणादपि सुनीच' श्लोक आपाततः 'अहं ब्रह्मास्मि' प्रभृति चार प्रसिद्ध श्रुति-मन्त्र के विरुद्ध जान पड़ने पर भी 'तृणादपि सुनीच' श्लोक के चार पदों में वे सब मन्त्रार्थ प्रकाशित हुए हैं। हम लोग यदि जड़त्व के अभिनिवेश को छोड़ दें, तभी अपने निज स्वरूप का समझ सकते हैं। [illegible] और [illegible] हैं, बाहर से अर्जन या संग्रह करके बड़े बनने की चेष्टा, अर्थात् ब्रह्म या [illegible] में समझने की [illegible] [illegible] और पतन तथा तरह तरह के विपदों की आशङ्का से परिपूर्ण है।

ठाकुर ने [illegible] वैष्णवधर्म या मिथ्या-भक्ति के साथ शुद्ध वैष्णवधर्म के भेद को प्रकट कर वर्तमान युग का बहुत कल्याण साधन किया है। उन्होंने दिखा दिया है कि अन्यान्य जितने प्रकार के भोग और मोक्ष मूलक साधन-प्रणाली या वैष्णव-नामधारियों की मिथ्या भक्ति है, उनमें अपने-अपने भोग की बातें किसी न किसी रूप में छिपी है। किन्तु, श्रीचैतन्य-प्रचारित भजन, सम्भोगवाद नहीं है, वह पूर्ण सच्चिदानन्द स्वराट् परात्पर पुरुष के लिये निर्मल आत्मा का स्वाभाविक विच्छेदमय भजन है।

श्रीचैतन्य का अद्वितीय दान श्रीनाम और प्रेम वरण करने की वास्तविक प्रणाली को भूलकर कितने ही लोग उसकी ओर से अविश्वासी हुए जा रहे थे। कोई-कोई अमोघ चिन्तामणि महा-महौषध को जीव के लिये व्यर्थ बनाने का उपाय कर रहे थे। ठाकुर भक्तिविनोद श्रीनाम, नामापराध और नामाभास के अभूतपूर्व विचार और अप्राकृत रसलीला की चमत्कारिता के आस्वादन के अधि-कार का विचार दिखाकर जीव को उस महाविपद् से बचानेवाले परम बान्धव हुए।

ठाकुर भक्तिविनोद ने प्रकट किया कि श्रीचैतन्य के पादपद्म का आश्रय किये बिना किसी अवस्था में कोई भी जीव सुखी हो नहीं सकता; यह प्रत्येक आदमी के लिये एक मात्र अपरिहार्य और मुख्य कर्त्तव्य है गौण या विकल्प कर्त्तव्य नहीं।

ठाकुर भक्तिविनोद ने गौर और कृष्णभजन तथा गौर और कृष्णलीला की विशिष्टता तथा चमत्कारिता का सुन्दर विश्लेषण के साथ प्रचार किया है।

ठाकुर भक्तिविनोद ने वैराग्य के अपव्यवहार और विकृत धारणा तथा भोग के अपव्यवहार का हर तरह से नाश कर अपने आचार और प्रचार से युक्त वैराग्य के आदर्श की शिक्षा दी है। वर्णाश्रम और परमहंस, साधक और सिद्ध, अनर्थयुक्त और अनर्थमुक्त में जिस एकाकार की चेष्टा ने मानवजाति की बुद्धि को ढँक लिया था, और बहिर्मुखता की अनुकूल वायु जिसके इन्धन को सुलगा रही थी, ठाकुर भक्तिविनोद के आचार और प्रचार से उसका नाश हो गया।

ठाकुर भक्तिविनोद ने सम्बन्ध या आश्रयनीय विचार में कृष्ण, अभिधेय अर्थात् जीव के कर्त्तव्य-विचार में भगवद्भक्ति और प्रयोजन के विचार से विवाद, द्वन्द्व और अस्थिरतापूर्ण भोग और मोक्ष की अभिसन्धि को परित्याग कर कृष्ण प्रेम को ही एकमात्र श्रेष्ठ बतलाया है।

ठाकुर भक्तिविनोद ने प्रमाणित कर दिखा दिया है कि भारत या भारत के बाहर जितने प्रकार के देवता नाना आकार में दिखाई देते हैं या देंगे, वे ... अंश या विभूति हैं।

ठाकुर भक्तिविनोद ने बहुत ही सुयुक्ति के साथ दिखा दिया है कि स्वदेशी या विदेशी जितने प्रकार के धर्म सृष्ट हुए हैं या होंगे, वे सभी नदीया-चन्द्र के प्रकाशित धर्म की विकृति या सोपान हैं।

ठाकुर भक्तिविनोद ने बता दिया है कि एक श्रेणी के लोग परम तत्त्व को निःशक्तिक समझकर जड़ जगत् का ... को स्थान दिया है, किन्तु वैष्णवों ने परमतत्त्व को नित्य विचित्र सर्वशक्तिक समझकर स्वरूप शक्ति की धारणा का अतिक्रम किया है। सुतरां शाक्त या ... के साथ वैष्णवों के विवाद का कोई कारण नहीं। वैष्णव सर्व सारग्राही शुद्ध शाक्त हैं।

श्रीठाकुर भक्तिविनोद ने नदीया के लुप्त-गौरव का उद्धार करने के लिये आप्तवाक्य, अलौकिक अनुभूति और जगत् के इतिहास-प्रमाणादि द्वारा मीमांसा कर श्रीगौरांग के प्रकृत जन्मस्थान का निर्णय किया है। अर्थस्पृहा, आसक्ति, यश-स्पृहा या अन्य किसी प्रकार की इतर-स्पृहा के द्वारा वे चालित नहीं हुए। केवलमात्र महाप्रभु की इच्छा से ही उन्हें यह प्रेरणा हुई थी। जो इन सब स्पृहाओं द्वारा परिचालित हैं वे ही विवाद-विसम्वाद के रूप में ... निष्कपट महापुरुष की महाभावना में बाधा देने को उद्यत हों। हर तरह से उनके ही उद्देश्य की परिपुष्टि की है।

ठाकुर भक्तिविनोद ने बता दिया है कि जो स्थान लोगों की भोग-मय काम क्रोधादि वृत्तियों की क्रीड़ाभूमि नहीं है, वही स्थान भगवान् की योग-पीठ या श्रीमायापुर पीठ है।

कृष्णनगर के समीप ही स्वरूपगञ्ज के गोद्रुम-कानन में उन्होंने जो नाम का बाजार लगा दिया है, वह अप्राकृत नाम, पृथिवी के सब देश और ग्राम में प्रकृत परार्थपर, प्रकृत स्वार्थपर और प्रकृत निःस्वार्थपर सेवकों द्वारा वितरित हो, यही उनकी पूर्ण अभिलाषा थी। वर्त्तमान समय उनके इस अभिलाषा के परिपूर्ण के लिये अग्रणी ॐ विष्णुपाद श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती

गोस्वामी ... -परायण सुयोग्य और सुशिक्षित अनुगत बहुतेरे प्रचारक और तरह तरह की प्रचार-प्रणाली द्वारा विश्व के द्वार द्वार पर नदीया के ठाकुर के उस महादान को वितरण कर रहे हैं।

भारत की राजधानी दिल्ली महानगरी और तीन प्रेसिडेन्सियों में मद्रास श्रीधाम मायापुर-श्रीचैतन्यमठ के शाखामठ से सद्शिक्षा-प्रचार-केन्द्र स्थापित हुए हैं। भारत के बाहर लन्डन-महानगरी में श्रीचैतन्यमठ का शाखामठ खोला गया है। अब तक भारत के किसी भी प्रकार के प्रचारक अपनी बातों को जिन स्वर ... शिक्षा-सम्प्रदाय के आगे निर्भीक और निरपेक्षता से प्रकाश नहीं कर सके, उन सब ... के आगे भी श्रीगौड़ीय-मठ के प्रचारकों ने श्रीचैतन्य के शिक्षा-समाचार को निरपेक्ष-भाव से उपस्थित किया है।

ठाकुर भक्तिविनोद ने सन १८८१ ई० में 'सज्जन-तोषणी' नामक पत्रिका को बंगला और अँगरेज़ी भाषा में प्रकाशित किया था। वह पत्रिका आज 'हरमनिष्ट' नामक मासिक पत्रिका के रूप में पृथिवी में सर्वत्र श्रीचैतन्य की शिक्षा का प्रचार कर रही है। नदीया के ... में युगान्तर उपस्थित कर नदीया की प्राचीन राजधानी ... श्रीमायापुर से 'नदीया प्रकाश' नामक एक दैनिक पारमार्थिक पत्र प्रकाशित होता है। यह नदीयावासियों के लिये कितने गौरव का विषय है। नदीया प्रकाश आज सचमुच नदीया को प्रकाश कर रहा है। पाश्चात्य देश में ... भी उस ... से समाचार पत्र खरीदकर पढ़ते हैं, और धर्मक्षेत्र भारत में विशेषतः भारत के शिरोमणि पृथिवी के शिरोमणि नदीया नगरी के निवासी क्या परमार्थ पिपासु होकर नदीया-प्रकाश की शोभा को न देखेंगे? ठाकुर भक्ति विनोद की यह इच्छा नहीं थी कि ग्राम्यवार्त्ता (घरेलू बातों) का प्रचार किया जाय। नदीया-प्रकाश ग्राम्यवार्त्ता-प्रकाशक नहीं है, तब भी उसके प्रच्छद-पट पर जो साधारण समाचार दिखाई देते हैं, वह साधारण पाठकों के लिये परमार्थ-साहित्य में आकर्षण का कौशल मात्र है। 'नदीया-प्रकाश' के अतिरिक्त बङ्ग भाषा में 'गौड़ीय' नामक और एक साप्ताहिक है. उड़िया भाषा में 'परमार्थी' हिन्दी भाषा में 'भागवत' और आसामी भाषा में 'कीर्त्तन' नामक सामयिक पारमार्थिक पत्रों द्वारा नदीया के प्रेम के ठाकुर की वाणी का प्रचार हो रहा है। ठाकुर भक्तिविनोद अँगरेज़ी भाषा में जो महाप्रभु की जीवनी और शिक्षा के सूत्र की रचना कर गये हैं वह आज 'श्रीकृष्णचैतन्य' नामक सुवृहत् अँगरेज़ी ग्रन्थ के आकार में मन्द्राज गौड़ीय-मठ से प्रकाशित हो रहा है। 'पारमार्थिक प्रदर्शनी', 'परविद्यापीठ', 'ठाकुर भक्तिविनोद इनस्टिट्यूट' प्रभृति विभिन्न आकार के सत शिक्षा-प्रतिष्ठान-समूह नदीया के प्रकृत गौरवगाथा की घोषणा विज्ञापित कर रहे हैं। आज इन्हीं सब विभिन्न प्रचार के फल से पृथिवी के सब देशों के लोग और मनीषिगण श्रीचैतन्य के लीलाक्षेत्र नदीया-नगरी की चिन्मय धूलि को मस्तक पर विभूषित करने के लिये हर साल अगणित संख्या में उपस्थित होते हैं।

बङ्गाब्द सन् १२९९ की २री माघ को कृष्णनगर के अमीन बाज़ार ए० वी० स्कूल के मैदान में विद्वन्मण्डली-मण्डित सर्वसाधारण की एक विराट् सभा में एकत्रित हो एक वाक्य से यह सिद्धान्त किया है, कि श्रीधाम मायापुर ही श्रीमन्महाप्रभु का जन्मस्थान है। उसी समय श्रीधामप्रचारिणी सभा के संस्थापन का प्रस्ताव हुआ। ठाकुर भक्ति-विनोद ने श्रीधाम-मायापुर में महाप्रभु के जन्म-स्थान की जगह प्रभु के स्मृति-चिह्न के रूप में एक स्तम्भ बनवाने का निश्चय किया था। किन्तु साधारण लोगों के विशेष आग्रह से बाद को वहाँ श्रीविग्रह की प्रतिष्ठा हुई और मन्दिरादि बनवाये गये। इन सब कार्यों के द्वारा नदीया का पूर्व गौरव फिर विश्व में द्वार द्वार प्रचारित हो रहा है। विश्व के सभी लोग इस नदीया-प्रकाश की सेवा में नियुक्त हो धन्यातिधन्य हों।

Registered No.

सात्वत-सम्प्रदाय

...अनुवाद

"सम्प्रदायविहीना ये मंत्रास्ते विफला मताः ।
अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः ॥
श्रीब्रह्मरुद्र-सनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः ।
चत्वारस्ते कलौ भाव्या ह्युत्कले पुरुषोत्तमात् ॥
रामानुजं श्रीः स्वीचक्रे मध्वाचार्यं चतुर्मुखः ।
श्रीविष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुःसनः ॥

वेदान्त-सूत्रकार ब्रह्मा नारद-शिष्य श्रीव्यासदेव ने पद्मपुराण में कहा है कि सम्प्रदाय-विहीन मंत्र समूह कदापि सिद्धि-प्रद नहीं होते। इसी लिए सनातन धर्म के रक्षक पुरुषोत्तम श्रीविष्णु की इच्छा से कलिकाल में चार सम्प्रदाय-प्रवर्तक मूल आचार्यों का आविर्भाव होगा। 'कलि' शब्द का अर्थ है—'विवाद' या 'तर्क'। कलिकाल में तर्क-पन्था की ही अधिकता देखी जाती है और श्रौत पन्थ का नितान्त अनादर होता रहता है। बौद्धवाद, प्रकृति-लयवाद अथवा प्रच्छन्नबौद्ध या प्रच्छन्न प्रकृति लयवाद रूप मायावाद अवैधरूप से अपने को 'श्रौत-पन्थ' कहकर दावा करने पर भी सूक्ष्मविचार से वह तर्क-पन्थ छोड़कर और कुछ नहीं है। इसी तर्क-पन्थ के कवल से जीवों की रक्षा करके उन्हें श्रौतपन्थ में प्रवर्तित करने के लिए श्री ब्रह्म-रुद्र-चतुःसन इन्हीं चार साम्प्रदायिक मूल से कलिकाल में संसार को पवित्र करने वाले सात्वत-आचार्य-चतुष्टय उत्कल देश के श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्र में उदित होंगे। श्रीमन् माध्व सम्प्रदाय में परिचित होने पर भी श्रीगौर सुन्दर ने इन्हीं चारों सम्प्रदाय की सेवा-प्रणाली का अनुमोदन करके उन्हीं की शुद्ध भजन-प्रणाली का पुरुषोत्तम क्षेत्र में अपने भक्तों के समीप कीर्तन किया है।

सम्प्रदाय की अधीनता के बिना मंत्र सिद्धि की सम्भावना नहीं है। अनिर्दिष्ट अभिमान में जीव सर्वदा चंचलमति बना रहता है। चंचलमति व्यक्ति अकेली व्यवसायात्मिका बुद्धि लाभ करने के बदले बहुशाखावलम्बी अव्यवसायी बुद्धि लाभ करता है। इस प्रकार का व्यक्ति अपस्वार्थ (अनुचित स्वार्थ) सिद्धि के लिए समस्त मानसिकधर्म के उत्पन्न हुए मतों का समभाव से समर्थन करते ही चित्-जड़-समन्वयवादी तथा कार्य रूप में मनः कल्पित संकीर्ण सम्प्रदाय का साम्प्रदायिक हो जाता है। निर्विशेष वादियों के बीच में समस्त संसार के असाम्प्रदायिकता का माहात्म्य सुना जाने पर भी वह साम्प्रदायिकता के छुतिनाश का परिचय छोड़कर और कुछ नहीं है। सम्प्रदाय के विरोधियों ने सम्प्रदाय के विरुद्ध एक भिन्न मत लेकर अपने आपको असाम्प्रदायिक समझ लिया है। फलतः उसी मतवाद को लेकर उन्होंने एक नये सम्प्रदाय की सृष्टि कर डाली है। गंभीरता के साथ विचार करने पर उदारता के नाम से असाम्प्रदायिक मत अर्थात् यथेच्छाचार अथवा आनुगत्य-साहित्य के पक्षपाती व्यक्तिगण स्थूल बुद्धि के मनुष्य छोड़कर और कुछ नहीं जँच सकते। सत् सम्प्रदाय को स्वीकार करना जीव का एक स्वाभाविक धर्म है। जो सत् सम्प्रदाय को स्वीकार करना नहीं चाहते वे या तो अपने को 'परममुक्त' या 'परमबद्ध' स्वीकार करने के लिए बाध्य होंगे। किन्तु परममुक्तों ने भी लोकशिक्षा की इच्छा से अपने को सत् सम्प्रदाय के अनुगत कहकर परिचय प्रदान किया है। उदारता के नाम से सत् सम्प्रदाय को स्वीकार करने की अनिच्छा को आदर्श बालकों के शिक्षक के शासन अथवा माता पिता के दिखाए हुए रास्ते को प्रारंभ में दुःखदायी जानकर उसे परित्याग करके प्रारंभ में सुख देनेवाली और अन्त में अमंगल उत्पन्न करनेवाली स्वतंत्रता या उच्छृंखलता को ग्रहण करने के समान ही है। सरल, बुद्धिमान् तथा आत्म-कल्याण के इच्छुक व्यक्तिगण सात् सम्प्रदाय में प्रवेश करके उसे सबके सामने स्वीकार करते हैं और कुटिल, अदूरदर्शी तथा विवादप्रेमी व्यक्तिगण वास्तव में सात्वत सिद्धान्त-

विरोधी एक देशभ्यजन........ की सृष्टि कर लेने पर भी जन-साधारण के निकट अपने को असाम्प्रदायिक कहकर परिचय देते रहते हैं। उससे वे केवल आत्मप्रवंचना रूप अशुभ फल लाभ करते हैं।

इतिहास की आलोचना करने पर विदित होगा कि इस धर्मक्षेत्र भारतवर्ष में सत् सम्प्रदाय के विरोधी मत का आश्रय ग्रहण करने पर कोई भी कदापि आत्ममंगल नहीं प्राप्त कर सका है। पाश्चात्य पंडितों से जब से भारत का साथ हुआ है, तभी से कोई कोई व्यक्ति सम्प्रदाय-विरोधी हो गये हैं। पाश्चात्य पंडित मंडली ने जब कि श्रौत-पन्थ के आनुगत्य के त्यागस्वरूप स्वतंत्रता का दुरुपयोग—जो कि स्वरूप-विभ्रान्त जीवों का स्वभाव होने के कारण प्रारंभ में सुख देनेवाला है - या उसी प्रकार की वृत्ति को 'उदारता' के नाम से प्रचारित किया है, तब उसी विचार को बहिर्मुख जीवों में से अनेकों ने युक्तियुक्त समझ उसे ग्रहण करके उच्छृंखलता और मनोधर्म के समर्थन का एक उत्तम उपाय निकाल लिया है। किन्तु इस प्रकार के विचार निर्विशेषवादियों के लिए—जोकि जीव, जगत्, भगवान, परिकर, धाम आदि की पारमार्थिक सत्यता स्वीकार नहीं करते अर्थात् अन्त में सभी का निर्विशेष परिणाम सोचते हैं—उन लोगों के लिए उपयोगी हो सकते हैं परंतु जो जीव, जगत्, भक्ति, भक्त और भगवान् की नित्यसत्यता स्वीकार करते हैं; वे उन विचारों को कदापि न ग्रहण करेंगे। वे वेदान्त सूत्रकार और उसके सच्चे भाष्यकार के सिद्धान्तों को ही ग्रहण करेंगे।

आदिगुरु लक्ष्मी, ब्रह्मा, रुद्र और चतुःसन इन्हीं चारों का सहारा लेकर कलिकाल में सत् सम्प्रदाय चलाया गया है। कलिकाल में शुद्ध सनातन-धर्म-प्रवर्तक चार मूल आचार्यों ने इन्हीं चार मूल प्रवर्तकों के सात्वत् मत का प्रचार किया है। श्रीक्षेत्र में श्रीपुरुषोत्तम देव के आश्रय में साम्प्रदायिक चतुष्टय की चरम मीमांसा को श्रीगौरसुन्दर के आश्रित जनों ने ही संसार में प्रचारित किया है। पुरीधाम में इन चारों सम्प्रदाय के अपने अपने मठ सौ वर्ष पहिले से ही प्रतिष्ठित होकर समयानुसार अपने अपने साम्प्रदायिक वैभव को जन-समाज में विस्तार कर जीवों को विष्णु-सेवा रूप नित्य-धर्म में नियुक्त करते रहे सही, पर वास्तव में श्रीगौरसुन्दर ने ही उनके सम्पूर्ण वैज्ञानिक सार-सिद्धान्तों का आश्रित जनों में प्रचार किया है।

श्रीरुद्र ने श्रीविष्णु स्वामी को, सनक-सनातन,-सनन्दन-सनत्कुमार ने श्री निम्बार्क स्वामी को, श्रीलक्ष्मीदेवी ने श्रीरामानुज स्वामी को और चतुर्मुख ब्रह्मा ने श्रीमध्व स्वामी को कलिकाल में अपने अपने सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में स्वीकार किया है।

मूल-सम्प्रदाय-प्रवर्तकों के अभ्युदय के समय के विचार से सर्व प्रथम नित्य विष्णुसंगिनी लक्ष्मी तत्पश्चात् गर्भोदशायी महाविष्णु के नाभि-कमल से उत्पन्न ब्रह्मा, द्वितीय महाविष्णु से रुद्र और ब्रह्मा के मानस पुत्र चतुःसनों का अभ्युदय देखा जाने पर भी मूलाचार्यों के काल विचार से सबसे पहले विष्णुस्वामी, उनके बाद श्रीनिम्बादित्य, फिर श्रीरामानुज और सब से पीछे श्रीमध्व का आविर्भाव काल पाया जाता है। बंगाल प्रान्त के निवासीगण, इन आचार्यों के सम्बन्ध में जो कुछ जानते हैं, वह नहीं के बराबर है। यहाँ तक कि जो सज्जन आजकल बंगाल प्रान्त के सर्व श्रेष्ठ प्राचीन इतिहास के ज्ञाता तथा खोज करने में निपुण माने जाते हैं, वे भी वैष्णव आचार्य चतुष्टय के मतों के विचार तो दूर रहे, किस आचार्य ने किस मत का प्रचार किया है, उसका नाम पूछते ही वे जिस प्रकार भ्रम करते हैं, उसे देख उनकी खोज विषयक शिथिलता स्पष्ट हो जाती है और हृदय को बड़ा दुःख होता है।

ब्रह्मा के सात विभिन्न जन्मों में सात्वत धर्म पुनः पुनः प्रचारित हुआ था। समय के प्रभाव से वही श्रौतधर्म न्यूनाधिक लुप्त होकर भाँति भाँति के तर्क-पन्थों का आवाहन कर चुका है। ब्रह्मा के प्रथम मानस जन्म में श्रीनारायण से फेनपों ने सात्वत धर्म की कथा सुनी थी। फेनपों से वैखानसों ने और उनसे चन्द्र ने सनातन वैष्णव धर्म

की सत्यता लाभ की थी। ब्रह्मा के द्वितीय चाक्षुष जन्म में नारायण की कृपा से ब्रह्मा और रुद्र ने तथा रुद्र से बालखिल्यों ने सनातन वैष्णव-धर्म के विषय श्रवण कर संसार में उसका प्रचार किया था। ब्रह्मा के तृतीय वाचिक जन्म में नारायण से सुपर्ण ने ऋग्वेद के आकर मंत्र (मूलमंत्र) प्राप्त किये। उसी समय वायु से विप्रशासि सम्प्रदाय और विप्रशासियों से महोदधि ने एकान्तिक धर्म के विषय में अभिज्ञता लाभ की। ब्रह्मा के चतुर्थ श्रवणज जन्म में आरण्यक के सहित वेद-शास्त्र में सात्वत धर्म प्रचारित हुआ। उसी समय ब्रह्मा से स्वारोचिष मनु ने, उनसे उनके पुत्र शंखपद ने और शंखपद के पुत्र सुवर्णाभ ने सात्वत धर्म की शिक्षा ग्रहण की। ब्रह्मा के मानस जन्म, चाक्षुष जन्म, वाचिक जन्म और श्रवणज जन्म—इन चार प्रकार के आविर्भावों से सत्ययुग में धर्म का प्रचार हुआ था। ब्रह्मा के पंचम नासत्य जन्म में नारायण से सनत्कुमार ने एकान्तिक धर्म में प्रवेश किया। सनत्कुमार से वीरण, वीरण से रैभ्य, रैभ्य से कुक्षि एकान्तिक धर्म में प्र[illegible] अनुवाद [illegible] नय ब्रह्मा के षष्ठ अण्डज जन्म में ब्रह्मा से बर्हिषद् ने और उनके बड़े भाई अविश्रमण आदि ने भी एकान्तिक सात्वतधर्म में प्रवेश किया। ब्रह्मा के छठे जन्म से ही सर्व प्रथम सामवेद गान की ध्वनि गाई गई थी। ब्रह्मा के सप्तम पाद्म जन्म में ही नारायण से ब्रह्मा, ब्रह्मा से दक्ष, आदित्य, विवस्वान्, मनु और इक्ष्वाकु आदि भागवत धर्म में अवस्थान कर संसार में प्रसिद्ध हुए। श्रीसम्प्रदाय - रत्नाकर से उत्पन्न हुआ है। रत्नाकर [illegible] ने विप्रशासि सम्प्रदाय से और विप्रशासि सम्प्रदाय वायु से ब्रह्मा के तृतीय वाचिक जन्म में प्रकट हुआ था। ब्रह्म सम्प्रदाय और रुद्र सम्प्रदाय ने ब्रह्मा के चाक्षुष जन्म में श्रीनारायण से कृपा लाभ की। उन्हीं के अनन्तर (बाद में उत्पन्न हुए) बालखिल्यों ने ही ब्रह्म और रुद्र सम्प्रदाय की रक्षा की। सनत्कुमार ने ब्रह्मा के पंचम नासत्य जन्म में श्रीनारायण से त्रेता के प्रारंभ में एकान्तिक धर्म का प्राप्त किया था।

दुःसंग

कलि में नाना प्रकार के दोष रहने पर भी एक महद्गुण है। वह नाम-कीर्त्तन है। सुतरां नाम-कीर्त्तन के साथ-साथ दोष भी गुण बन जाते हैं; ऐसा ही समझकर कोई-कोई भक्ताभिमानी कलि के पाँच निवास-स्थानों को भी 'भजन का अङ्ग' समझ बैठते हैं।

कलि जहाँ निवास करता है, वहाँ पाप मूर्त्तिमान है। जहाँ पाप है, वहाँ नाम-कीर्त्तन प्रबल हो नहीं सकता। कीर्त्तन के बहाने पापाचरण एक प्रकार का नामापराध है। पासे खेलना, नशा पीना, अवैध स्त्री-संग करना, मछली-मांस भक्षण और सब इन्द्रियों के तर्पण के लिये अर्थ संग्रह—ये पाँच कलिजनोचित पाप हैं। नाम के बल से इन पाँचों पापों के हज़म कर जाने की चेष्टा ही 'नाम के बल से पापाचरण' नामक अपराध है। उसे नाम-कीर्त्तन नहीं कहते।

'नाम में रुचि' होने से नाम और नामी में भेद बुद्धि नहीं रहती। कल्पना के प्रभाव से ऐसा समझने से, कि मैं नाम की रचना कर सकता हूँ, अहङ्कार का परिचय है। जो अहङ्कार-विमूढ़ात्मा हैं, वे ही प्रतिष्ठा पाने के लालच से नाम-भजन-प्रणाली की कल्पना करते हैं। साधु गुरुवर्ग इसका आदर नहीं करते। इसीसे आचार्य श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीपाद ने कहा है, कि बिना साधु-गुरु के बताये नाम का रचनाकारी बनना उचित नहीं।

गुरु के उपदेश से ही जीव पर अनुग्रह होता

और द. देशकालज्ञानादि से स्वयं कल्पना कर स्वप्न में मिले मन्त्र आदि की रचना करना गुरु की अवज्ञा मानी जाती है। यह वैष्णव का धर्म हो ही नहीं सकता। मुँह फोड़ विशृंखल अभक्त लोग गुरु का त्याग कर अपनी प्रतिष्ठा की आशा करते हैं। यह तर्क-पन्थ या व्यतिरेक-पन्थ है, सुतरां यह भक्ति के प्रतिकूल विचार है। वैष्णव का वेश धारण कर—भगवन्नाम से विभूषित होकर हरिभजन के बदले और किसी काम को अपना कर्त्तव्य समझना उचित नहीं।

वैष्णवों के हीन वेश में जुए का खेलना शोभा नहीं देता। शतरंज, ताश, चौसर परमार्थी के भजन की सामग्री नहीं है। पान खाना और तरह-तरह से इन्द्रिय-तर्पण करना वैष्णव-जीवन के लिये शोभा नहीं देता। मृदङ्ग करताल, जप माला, कण्ठी, ऊर्द्ध तिलक और शरीर में भगवान् के नाम का छाप आदि शीतल मुद्रा धारण करके हार-जीत के लिये बाजी लगा कर जुआ खेलना भजन के अनुकूल नहीं।

घुटने के ऊपर तक बहिर्वास (बाबाजी का पहनने का कपड़ा) पहन कर राह में गोबर बटोरने का काम लोगों की दृष्टि में दीनता और सरलता का परिचय दे सकता है, किन्तु उस गोबर की गोहरी बना और सुखाकर नशा पीने के लिये धूम्रपान का सामान बनाना शास्त्र के अनुसार, भजन के अनुकूल काम नहीं है। सुगन्धित तेल और साबुन आदि शरीर की सफ़ाई के लिये विलास के अनुकूल वस्तुएँ हैं। विरक्ताभिमानी के भजन गुफ़ा में इसके स्थान पाने और भोगी के अङ्ग में स्थान पाने से, कोई इसका आदर नहीं करते।

राधाकुण्ड, कुसुम सरोवर, गोवर्द्धन, यावट, नन्दी-ग्रामादि व्रज-वीथियाँ जिनकी दृष्टि को आकर्षित करती हैं, वे कभी भी जड़ सुगन्धित तेल आदि के व्यवहार से मुग्ध नहीं होते। वे जुए के खेल या धुएँबाज़ी में मतवाले नज़र नहीं आते। जहाँ भजन की विरोधी चेष्टाएँ कपटी कीर्त्तनकारी को ग्रास करती हैं, उन्हीं को व्यापक इन्द्रिय-आसक्त सहजिया लोग गुरु के पद पर स्थापित कर उनके तलवे चाटते और गाँजे के सामान की सहायता पहुँचाते हैं, किन्तु हरि-गुरु वैष्णव की कृपा प्राप्त करने में कभी समर्थ नहीं होते।

कम उम्र, कामी, मूर्ख, बेवकूफ़ लोग इस तरह जुए और विलास में डूबे नशेबाज़ों को धर्मपरायण और आदर्श मान कर, उनके मुख से निकले नामापराध को 'नाम कीर्त्तन' बताकर उसे चलाना चाहें, तो वे भगवान और भक्त को कभी भी प्रसन्न करने में समर्थ नहीं होते। गौड़ीय लोग कभी भी जुआ खेलने वाले, मांसाहारी, इन्द्रियपरायण अभक्ष्य-भक्षी, नशेबाज़, यन्त्र की तरह रुपये के पिशाच बन्दर-वैरागियों को 'गौड़ीय' मान नहीं सकते। पाप में लगे गृहस्थ लोग भी 'गौड़ीय' कहला नहीं सकते।

गुरुसेवा का दम्भ करने वाले, कपटी, आचार्य-वंश का अभिमान करने वाले अपनी अपनी दुर्बलता और मूर्खता द्वारा परिचालित होकर, लोक पाने की इच्छा से अनाचारियों की मदद देते देते अपने को भी स्वेच्छा नशेबाज़, धोखा देने में चतुर, रुपये के सिद्ध और जीभ के गुलाम बना डालते हैं। ऐसे आचार्यवंशी लोग अपनी प्रतिष्ठा की इच्छा से पापियों को 'गौड़ीय' पद देकर उनका मङ्गल करने के बदले खुशमदी बन पापियों को प्रश्रय देते हैं। कोई कोई उनके पापकार्य में सहायता पहुँचाने के लिये परमार्थी बताते हुए उनके पक्ष का समर्थन करते हैं।

पापाचारी और भगवत्-भक्ति से हीन लोगों के सङ्ग के वर्जन की नीति की उपेक्षा करते हुए जो दुःसङ्ग के वर्जन की बात को ही वैष्णव निन्दा बताते हैं, उनकी सत्यनिष्ठा पर साधु लोग विश्वास कर नहीं सकते। धर्म के बहाने जो कपटता धर्म के नाम से चल रही है, उससे उपेक्षा करना ही सत्य-निष्ठा का धर्म है। किन्तु इसे छिपाने के मतलब से वैष्णव निन्दा या पर चर्चा करना नीति के विरुद्ध है—जो इस प्रकार के कपटता का विस्तार करते हैं, उन्हें लोग अनायास समझ बैठते हैं। समन्वय-वादी लोग अपने नक़ली माल को 'असल' बता कर चलाते हुए समन्वय के छल का विस्तार करते हैं।

मनुष्य अपना दोष छिपाने के लिये छलना करते हैं, चतुर परमार्थी के अतिरिक्त इसे और कोई समझ नहीं सकता। पराई चर्चा करना पाप के अन्तर्गत है, किन्तु चिकित्सक रोगी के रोग का कारण जानने के लिये उसके पाप के पूर्व इतिहास का [illegible] हितैषी सामाजिक असुविधा को दूर करने के लिये पाप का नाश करने के उद्देश्य से पराई चर्चा (निन्दा) को गौरव से सुनते हैं, इसे यदि कोई परनिन्दा समझे, तो उसकी समझ की कोई क्या प्रशंसा करे?

लण्डन में नवीन धर्म "शुद्ध-भक्ति"

['दी यार्कशायर हेरल्ड' (३ री मई १९३३ बुधवार) से उद्धृत]

मद्रास के प्रतिभाशाली हिन्दू नेता स्वामी बी० एच० बन लण्डन आये हैं। जाति और धर्म का झगड़ा छोड़, प्रेम और भक्ति वितरण कर, समस्त जगत् के मनुष्यों को एकता में बाँधना ही उनके धर्म का उद्देश्य है। वे इसी के प्रचार के लिये यहाँ आये हैं।

वे भारतवर्ष के बड़े लाट, प्रादेशिक शासनकर्त्ता और समग्र भारत के प्रधान-प्रधान नेताओं से परिचय-पत्र ले आये हैं।

इन्होंने भारत में श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्ण-चैतन्य के प्रकट किये हुए धर्म का खूब प्रचार किया है। उनके प्रचार का विषय शुद्ध-भक्ति और शुद्ध-प्रेम है; इस धर्म के वर्तमान आचार्य **प्रभुपाद श्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी हैं।**

लण्डन में रहते हुए श्रीमद् बन महाराज भारत-सम्राट् से मिलेंगे और युवराज (प्रिन्स आफ़ वेल्स) स्वामीजी की अभ्यर्थना करेंगे; ऐसा ही निश्चय है।

भारत में इस धर्म के ४२ केन्द्र हैं। इस धर्म के प्रचार के लिये विभिन्न भाषाओं में सामयिक पत्रादि प्रकाशित हो रहे हैं।

सन् १९३१ में श्रीमद् बन महाराज भारत के बड़े लाट साहब द्वारा अभ्यर्थित हुए और मद्रास के गवर्नर साहब ने वहाँ के मठ की नींव दी।

स्वामीजी कल लण्डन पहुँच गये। उस समय वृष्टि होते रहने पर भी वे स्वजातीय ढीला-ढाला कपड़ा ही पहने हुए थे। उनके सिर पर पीले रंग की पगड़ी और वृष्टि से शरीर की रक्षा करने के लिये सिर्फ़ पतले अलख्ले का कोट था।

उन्होंने 'यार्कशायर हेरल्ड' नामक सुप्रसिद्ध विलायती पत्रिका के प्रतिनिधि से कहा था—"यह इस देश के लोगों की सहानुभूति पर ही निर्भर है, कि हम लोग यहाँ कब तक रहेंगे। यदि लोगों को उत्सुकता दिखाते देखेंगे, तो यहाँ भी हम एक केन्द्र स्थापित करेंगे। हमारा धर्म विश्व-जनीन है, यह किसी विशेष जाति के लिये नहीं है। इससे जगत् का बड़ा उपकार होगा।

"भारत में हम लोग सब श्रेणी के नेताओं से सुपरिचित और सम्मानित हैं। हम लोग चाहते हैं, कि हमारे मठ का उद्देश्य और भी व्यापक रूप में लोगों की आँखों के आगे आवे। सब जाति के लोगों को ही विश्वजनीन प्रयोजन को समझा कर मनुष्य जाति के उपकार के लिये एकता में बाँधने से, एक रात में ही संसार की बहुतेरी प्रधान समस्याओं का समाधान हो जायगा।

× × ×

यह विषय सन् १९३३ की तीसरी मई को "बेलफ़ास्ट टेलिग्राफ़" पत्रिका में "ढीली पोशाक पहननेवाले हिन्दू नेता धर्म-प्रचार के लिये भारत के राज-प्रतिनिधि के परिचय पत्र के साथ लण्डन में आये हैं" शीर्षक लेख में प्रकाशित हुआ है।

नित्यधर्म और व्यवहार

[गताङ्क से आगे]

मतवाद-दोष न होने की वजह ही उनमें कुछ श्रद्धा की गन्ध भी आती है। जो मायावादादि मतवाद के साथ अर्चा में हरिपूजा करते हैं, उनमें श्रीविग्रह की कुछ भी श्रद्धा नहीं होती,—वे अपराधी हैं। इसीलिये "श्रद्धयेहते" शब्द कनिष्ठाधिकारियों के प्रति व्यवहृत हुआ है। मायावादी प्रभृति मतवादियों के हृदय में यह सिद्धान्त है, कि यह परब्रह्म की मूर्त्ति नहीं है, जिसकी पूजा की जा रही है, वह कल्पित मूर्त्ति है। ऐसी जगह श्रद्धा अर्थात् श्रीविग्रह में विश्वास कहाँ ? अतएव मायावादियों की श्रीमूर्त्तिपूजा और अत्यन्त कनिष्ठ वैष्णवों की श्रीमूर्त्तिपूजा में भी विशेष भेद है। इसी से वैष्णवों में और कोई लक्षण न होने पर भी मायावाद दोष के न होने का वैष्णव लक्षण देख कर कनिष्ठाधिकारी को प्राकृत वैष्णव का पद दिया गया है। उन की वैष्णवता इतनी ही है; इसी के बल से क्रमशः साधुकृपा से उनकी ऊर्द्ध्वगति अवश्य होगी। मध्यमाधिकारी शुद्ध वैष्णवों की अकृत्रिम कृपा इन पर अवश्य होनी चाहिये। ऐसा होने से उनकी अर्चा-पूजा और हरिनाम शीघ्र ही आभासत्व धर्म त्याग कर चिन्मय स्वरूपत्व को प्राप्त होगा।

चतुर्थतः है, द्वेषी मनुष्यों के प्रति उपेक्षा। यहाँ इसका विचार कर लेना चाहिये, कि द्वेषी मनुष्य किसे कहते हैं और वे कितने प्रकार के हैं। एक प्रवृत्ति विशेष है, जिसका दूसरा नाम मत्सरता है। प्रेम जो प्रवृत्ति है, उसकी विपरीत प्रवृत्ति ही 'द्वेष' है। ईश्वर ही केवल प्रेम के पात्र हैं। उनके प्रति विपरीत प्रवृत्ति को द्वेष कहते हैं। वह दोष पाँच तरह के हैं।

१.—ईश्वर में अविश्वास।

२—ईश्वर को कर्मफलित स्वभावशक्ति समझना।

३—ईश्वर के विशेष स्वरूप में विश्वास न करना।

४—ऐसा विश्वास करना, कि जीव ईश्वर के नित्य रूप के अधीन नहीं है।

५—दयाशून्यता।

इन द्वेष-प्रवृत्तियों से दूषित मनुष्यों में शुद्ध भक्ति नहीं है। उनकी शुद्ध भक्ति का द्वार जो प्राकृत भक्ति है, अर्थात् कनिष्ठाधिकार की जो अर्चा भक्ति है, वह उनसे भी रहित है। विषयासक्ति के साथ उक्त पाँच प्रकार के दोष हो सकते हैं। तृतीय और चतुर्थ प्रकार के द्वेष के साथ कभी आत्मघाती वैराग्य भी दिखाई दे जाता है। मायावादी संन्यासियों का जीवन इसका उदाहरण है। इन सब द्वेषी मनुष्यों के प्रति शुद्ध भक्त गण कैसा व्यवहार करें ? उनके प्रति उपेक्षा करना ही उचित है।

मनुष्य और मनुष्य का जो व्यवहार है, उसके त्याग का नाम ही उपेक्षा है, ऐसा न समझना चाहिये। यह भी नहीं कि यदि द्वेषी मनुष्य किसी विपद् या अभाव में पड़े, तो उसका दुःख दूर करने के लिये यत्न न करना चाहिये। अन्यान्य लोगों के साथ गृहस्थ-वैष्णवों के बहुतेरे सम्बन्ध होते हैं—विवाह के द्वारा कितने ही लोगों के साथ मित्रता उत्पन्न होती है, चीजों के खरीदने और बेचने में कितने ही लोगों के साथ सम्बन्ध होता है। सम्पत्ति-संरक्षण और पशुपालनादि में कितनों ही के साथ सम्बन्ध होता है; बीमारी और आराम की चेष्टा के सम्बन्ध में भी कितने ही लोगों के साथ सम्बन्ध होता है;—राजा प्रजा के परस्पर व्यवहार-रीति से भी कितनों ही के साथ सम्बन्ध होता है। इन सब सम्बन्धों के बारे में द्वेषी मनुष्यों के साथ काम में न आना ही उपेक्षा है, ऐसा ही समझना—

चाहिये। बाहरी भाव से व्यवहार में ठीक ठीक काम करो, किन्तु पारमार्थिक सङ्ग न करो। कर्म फल के अनुसार अपने परिवार में ही कोई कोई द्वेषी दिखाई देते हैं, उन्हें कैसे दूर किया जा सकता है? ऐसा नहीं; व्यवहारिक सङ्ग व्यवहार के साथ है। अनासक्त होकर उनके साथ व्यवहार करो; किन्तु पारमार्थिक सङ्ग में उनकी उपेक्षा करो। परमार्थ के सम्बन्ध में मिलन, बातचीत, परस्पर उपकार और सेवा- यही सब काम पारमार्थिक सङ्ग हैं। इसी सङ्ग के न करने का नाम उपेक्षा है। द्वेषी मनुष्य मतवाद में प्रविष्ट होकर शुद्ध भक्ति की प्रशंसा या उसके बारे में किसी प्रकार का उपदेश सुनने से निरर्थक विवाद करते हैं, इससे तुम्हारा या उनका—दोनों का ही केवल सुफल नहीं होता। इस प्रकार वन्ध्य तर्क न करके उनके साथ केवल व्यवहारिक सम्बन्ध रखना चाहिये। यदि कहो, कि द्वेषी मनुष्य को बालिशों में मान कर उन पर कृपा करना ही अच्छा है तो इससे उनका उपकार होना तो दूर रहा, उपकारी भी बुरे बन जाते हैं; उपकार अवश्य करो किन्तु सावधानी के साथ।

मध्यमाधिकारी शुद्ध भक्त के लिये ये चार प्रकार के व्यवहार बहुत ही प्रयोजनीय हैं। इसमें कृपणता करने से अनधिकार चर्चा का दोष होता है; अधिकार-चेष्टा से रहित होना पड़ता है; अत एव बहुत बड़ा दोष होता है। यथा—

> स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्त्तितः ।
> विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निर्णयः ॥

अर्थात् अपने-अपने अधिकार की जो निष्ठा है, वही गुण कहा जाता है; इसका विपर्यय होने से ही दोष होता है। यही गुण और दोष के स्वरूप का निर्णय है।

मध्यमाधिकारी शुद्ध भक्त का यह कर्त्तव्य है कि शास्त्रयुक्ति द्वारा ईश्वर ... मैत्री, बालिश पर कृपा और द्वेषी मनुष्य से उपेक्षा करना चाहिये। भक्ति के तारतम्य से मैत्री का तारतम्य उपयुक्त है। बालिश की मूर्खता और सरलता के परिमाण से कृपा का तारतम्य उपयुक्त है। द्वेषी मनुष्य के दोष के तारतम्य के अनुसार उस पर उपेक्षा का तारतम्य उपयुक्त है। इन सबका विचार करते हुए मध्यम भक्त लोग पारमार्थिक व्यवहार करें। ऐहिक व्यवहार को इस व्यवहार के अधीन सरल रूप में करना चाहिये।

बड़गाछी-निवासी नित्यानन्ददास ने यहाँ प्रश्न किया—उत्तम भक्तों का व्यवहार क्या है? बाबा हरिदास महाशय ने कहा—बेटा, जब तुमने मुझसे प्रश्न किया है, तब मेरी बातें तो समाप्त होने दो। मैं वृद्ध हूँ, मेरी स्मरणशक्ति घट गई है; इस समय जो याद है, उसे भूल जा सकता हूँ।

बाबा हरिदासजी महाशय ज़रा कड़े मिजाज के आदमी थे। वे किसी का दोष देखने न चूकते, किन्तु अन्याय की बातों पर उसी समय उत्तर दे दिया करते थे। उनकी बात सुनकर सब लोग चुप हो रहे।

बाबा हरिदासजी फिर प्रभु नित्यानन्द और वटतला को प्रणाम कर कहने लगे,—

मध्यम भक्त लोगों की भक्ति प्रेमाकार में गहरी होने पर तब उत्तम भक्त हुआ करते हैं। भागवत में उत्तम भक्तों के ये लक्षण हैं,—

> सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
> भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥

अर्थात् जो उत्तम भागवत हैं, वे सर्वभूतों के आत्मरूप भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को ही देखते हैं। आत्मा के आत्मस्वरूप श्रीकृष्ण में समस्त भूत को देखते हैं।

क्रमशः

विश्ववैष्णवराजसभा

भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि) श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्त्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीभक्त काजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी का समाधिमन्दिर)
सरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमच्छत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
माऊगाछी जान्नगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ; बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० १० नवाबपुर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिह

(१४) श्रीगोपालजी मठ; कमलापूर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ; बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
अगस्त्यकुण्ड, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० ४३ हनुमान रोड, न्यू देहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
नर्थ गोपालपुरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
उड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
अलवरनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांठालपुली चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० माजू, हावड़ा

(२८) आमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुमुरकोंदा चोरकुण्डा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरोलिया पो० वासुदेवपूर, जि० मेदनीपुर

(३१) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ
कवुर, वेष्ट गोदावरी, मद्रास

(३२) ग्वालपाड़ा प्रपन्नाश्रम, आसाम

(३३) त्रिदण्डी-गौड़ीय मठ भुवनेश्वर, पुरी

(३४) श्रीसारस्वत-गौड़ीय मठ हरिद्वार

Registered No. 2191

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ

संस्कृत

1. १—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)
2. २—श्रीशिक्षादशकमूलम् —सटीक ।)
3. ३—श्रीमध्वग्रन्थमालांशवर्णनम् ≡)
4. ४—श्रीसिद्धान्तसरस्वतीदिग्विजयः ॥)
5. ५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचयः -)
6. ६—श्रीतत्त्वसूत्रम् ।)

संस्कृत बँगला अक्षरों में

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)

२—श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत-भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)

३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)

४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत खंडों में प्रकाशित प्रति खंड १)

५—गौड़ीय कंठहार शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द २)

६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु का शिक्षाष्टक और श्रीरूपगोस्वामी प्रभु-कृत उपदेशामृतसहित ।≡)

७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बँगला अनुवाद सहित ॥)

८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित १)

९—अर्थपंचक श्रीलोकाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)

१०—सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)

११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी - कृत टीकानुसार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों की पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८) एकादश स्कंध से प्रति खंड ।≡)

१२—युक्तिमल्लिका गुणसौरभ वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

वंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधाममाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित ≡)

१४—नवद्वीपशतक बँगला अनुवाद -)

१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत =)

१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती-कृत =)

१७—नवद्वीपभावतरंग ।)

१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)

१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद कृत २)

२०—मणिमंजरी ।)

२१—शरणागति -)

२२—कल्याणकल्पतरु -)॥

२३—गीतावली -)

२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ।॥)

२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)

२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत ॥=)

२७—जैव धर्म २)

२८—साधककंठमाला ।)

२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदासकृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत विस्तृत व्याख्या और विवृति सहित अग्रिम ५)

३०—महाप्रभु की शिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ।॥)

३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ५)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is doing ? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof: Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow

वर्ष १] [illegible]] [illegible] [संख्या २३ व २४

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पत्र

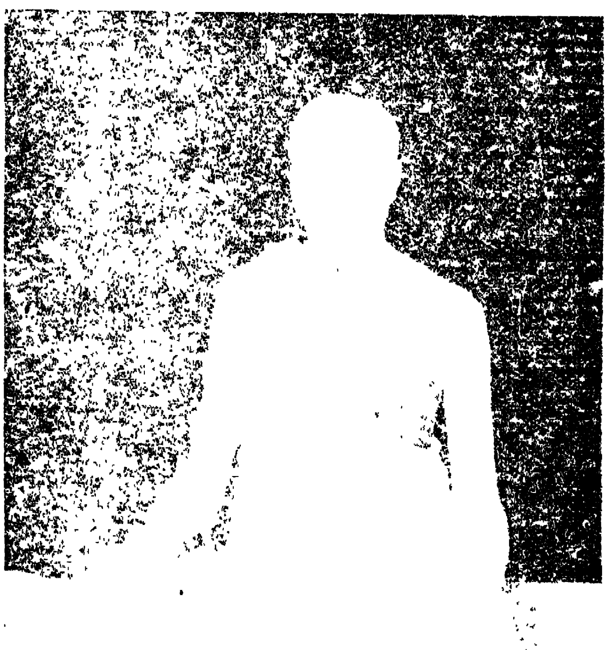
19 September and 30 October

[illegible]

1933

आश्विन अमावास्या व पूर्णिमा

संवत् [illegible]



[illegible]

प्रति संख्या -) | सम्पादक—[illegible] | वार्षिक सडाक १॥)

Registered No. ...

विषय-सूची

"भागवत" के नियम

उद्देश्य

शुद्ध भगवद्भक्ति का प्रचार करना

प्रबंध-सम्बंधी

(१) यह पत्र प्रति अमावास्या और पूर्णिमा को प्रकाशित होता है ।

(२) इस पत्र की डाकव्यय सहित वार्षिक भिक्षा १॥) है ।

(३) इस पत्र की प्रति संख्या की भिक्षा ‒) है

लेख-सम्बंधी

लेखकों को केवल भागवत धर्म सम्बंधी लेख ही भागवत पत्र में छपने के लिये सम्पादक "भागवत" के नाम भेजने चाहिये । जो लेख सम्पादक को पसन्द न होंगे वे नहीं छापे जावेंगे और लेख भी वापस न किये जावेंगे ।

विज्ञापन-सम्बंधी

"भागवत" में विज्ञापन छपाई की दर नीचे लिखी है:—

साधारण पृष्ठ

प्रति संख्या

पूरा पृष्ठ या दो कालम	८)
आधा ,, १ ,,	४)
चौथाई ,, ३ ,,	३)
२ इंच ,, ६ ,,	१॥)
१ ,, ,, ८ ,,	१)

स्थायी विज्ञापन और कवर पर विज्ञापन छपाने का रेट नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार द्वारा तय करना चाहिये—

पत्र-व्यवहार का पता—

मैनेजर—"भागवत"

सेठ रामयश रोड, नरही, लखनऊ.

All communications are to be addressed to —

The Manager 'Bhagwat'
Seth Ramjas Road,
Narhe.
LUCKNOW.

प्रकाशक—त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भागवत

एकमात्र पारमार्थिक पाक्षिक पत्र

श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य

वर्ष ७ | आश्विन पूर्णिमा गौराब्द ४४७, सं० १९९० वि०, ३ अक्तूबर सन् १९३३ ई० | संख्या २३-२४

गंगा

(लेखक—श्रीयुत अवधबिहारीलाल कपूर एम्. ए., [illegible])

श्री गंगाजी पतितों को पावन करनेवाली तथा समस्त पापों का विनाश करनेवाली हैं। गंगाजी का माहात्म्य भारतवर्ष में किसे विदित नहीं है? क्या शाक्त, क्या शैव, क्या सौर (सूर्य की उपासना करनेवाले) क्या गाणपत्य (गणेश की उपासना करनेवाले), क्या कर्मकाण्डी, क्या ज्ञानी, क्या योगी, क्या पापी, क्या पुण्यवान—सभी समान स्वर से गंगा जी के माहात्म्य का गान करते हैं। यहाँ तक कि नास्तिकों के मुख से भी अनेक समय गंगा जी का माहात्म्य सुना गया है। इसलिए गंगाजी के माहात्म्य का वर्णन करना इस लेख का उद्देश्य नहीं है, बल्कि भिन्न-भिन्न श्रेणी के व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार की प्राकृत बुद्धि की सहायता से चित्-द्रव-स्वरूपिणी विष्णुपादपद्म से उत्पन्न हुई गंगा को जिस भाव से ग्रहण किया है, उसी के साथ वैष्णवों की अप्राकृत अनुभूति के सूक्ष्म पार्थक्य का विचार करते हुए गंगा जी के प्रकृत माहात्म्य का वर्णन करना ही इस लेख का उद्देश्य है।

उपरोक्त विषय का वर्णन करने के पहले हम जन-साधारण की जानकारी के लिए सर्वशास्त्र-सम्मत गंगा जी की उत्पत्ति-विषयक ऐतिहासिक विवरण को संक्षेप में वर्णन कर रहे हैं। ऋग्वेद (१०-७५-५) कात्यायन श्रौतसूत्र, शतपथब्राह्मण, पुराण, उपपुराण, इतिहास आदि सभी प्राचीन ग्रंथों में "गंगा" नाम का उल्लेख पाया जाता है। श्रीब्रह्मवैवर्तपुराण में गंगा देवी को, सृष्टि के आदि में गोप-गोपियों से परिपूर्ण शुभ रास-महोत्सव में गोलोक के रासमंडल में कार्तिकी पूर्णिमा तिथि को श्रीराधाकृष्ण के अंगद्रव से उत्पन्न बतलाया गया है। देवगण देवताओं के कार्य को पूर्ण करने की इच्छा से हिमालय से गंगादेवी को भिक्षा के रूप में ले गये। तत्पश्चात् कपिलमुनि के शाप से सगर-वंश का ध्वंस होने पर विनतानंदन सुपर्ण के उपदेश से गंगा जी को मर्त्यलोक में

लाने के लिए विशेष यत्न करने पर भी अंशुमान सफल न हुए। बाद में उसी वंश में दिलीप के पुत्र राजर्षि भगीरथ गोकर्ण में हजार वर्ष घोर तपस्या करके गंगाजी को मर्त्यलोक में लाये। भगीरथ के गंगा-लाने की कीर्त्ति भारतवर्ष के छोटे से लेकर बड़े तक सभी स्त्री पुरुषों को भली भांति विदित है। इसलिए यहाँ पर उसका उल्लेख करना व्यर्थ है। श्रीमद्भागवत के पंचम स्कंध के सत्रहवें अध्याय में गंगाजी की उत्पत्ति के विषय में इस प्रकार लिखा हुआ है। "श्रीविष्णु ने बलिराज के यज्ञ में त्रिविक्रम (वामन) मूर्ति धारण करके दो ही पगों में त्रिभुवन का अधिकार कर लिया। उसी समय उनके बायें पैर के अँगूठे की चोट से ब्रह्माण्ड-कटाह का ऊपरी भाग टूट गया और उसमें एक छेद हो गया। उस छेद के रास्ते से जल की एक धारा निकलकर श्रीविष्णु के चरण कमल को धोती हुई हजार युगों तक स्वर्ग के शिरोभाग में प्रवाहित होती रही। वही धारा भगवान् के पाद पद्म से उत्पन्न होने के कारण विष्णुपदी के नाम से विख्यात हुई। उस समय उसके जाह्नवी, भागीरथी आदि नाम न थे। विष्णुपद में अवस्थित ध्रुव और सप्तर्षिगण आदि मुख्य मुख्य भक्त गंगाजी को सर्वदा मस्तक पर धारण करते थे। विष्णुपद से उत्पन्न हुई गंगाजी की धारा आकाश-पथ में चन्द्र मंडल को प्लावित करके सर्व प्रथम सुमेरु के शिखर पर अवस्थित ब्रह्मा के आलय में पतित हुई। वहाँ से वह चार धाराओं में विभक्त होकर सीता, अलकनंदा, चक्षु और भद्रा—इन चार नामों से समुद्र में मिल गई।

ये सब तो गंगा की उत्पत्ति के सम्बन्ध की बातें हुईं। अब गंगाजी के बारे में अवश्य जानने योग्य विषयों की आलोचना करने से गंगाजी का माहात्म्य जन साधारण की समझ में आ सकता है। देखनेवालों की धारणा के भेद से एक ही वस्तु भिन्न भिन्न प्रकार की जँचती है। द्रष्टा के भेद से विश्वास में भेद होता है। अतएव कर्मकाण्डियों के विश्वास के साथ ज्ञानी या योगियों के विश्वास का, आस्तिकों के विश्वास के साथ नास्तिकों के विश्वास का भेद अवश्यम्भावी ... साथ ही साथ अप्राकृत ज्ञानी भक्त की धारणा और प्राकृत ज्ञानी या कर्मकाण्डी अथवा प्राकृत निर्विशेषवादी तथा आस्तिक वक्ता और नास्तिक आदि की धारणा कदापि एक नहीं हो सकती।

कर्मकाण्डियों के विचार में प्राकृत जल ही तीर्थ है अर्थात् उनकी बुद्धि उसी को पवित्र समझती है। उनका विश्वास है कि प्राकृत देश-काल-पात्र के संयोग से यह जड़ शरीर अपवित्र हो जाता है। गंगाजी के जल में स्नान करने से ही वह अपवित्रता दूर हो जाती है। स्थूल देह में आत्मबुद्धि से ही इस प्रकार की बुद्धि उत्पन्न होती है। वास्तव में जिस प्रकार शराब का बर्तन जल से धोने पर भी पवित्र नहीं होता अथवा

'धोये हू सौ सेर के, काजर होत न सेत।'

अर्थात् सहस्रों बार धोने पर भी कोयला अपना कालापन नहीं छोड़ता उसी प्रकार माया के रज से निर्मित यह शरीर भी सहस्रों बार स्नानादि द्वारा जल से धोने पर भी कदापि पवित्र नहीं हो सकता। कर्मकाण्डियों की धारणा के प्रतिकूल श्रीव्यासदेव ने श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में नीचे लिखे श्लोक को लिपिबद्ध किया है (भा० १०।८४।१३)

"यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचित्
जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥'

जो बात पित्त-कफात्मक शवतुल्य जड़ शरीर में आत्मबुद्धि, स्त्री-पुत्र-परिवार आदि में ममत्व बुद्धि, पार्थिव मूर्तियों में पूज्य बुद्धि, और गंगा आदि के जल में तीर्थ बुद्धि करते रहते हैं परन्तु तीर्थपाद भगवान् में और उनके भक्त में तीर्थबुद्धि-पूज्यबुद्धि और आत्मबुद्धि नहीं करते, वे गाय बैल आदि पशुओं में गधे के समान हैं अर्थात् नितान्त ही निर्बोध हैं।

मूर्ति की पूजा करने वालों को जानना चाहिए कि गंगाजी का इतना माहात्म्य क्यों है। विष्णु-पादपद्म से उनकी उत्पत्ति होने की वजह शास्त्र में उनके माहात्म्य का कीर्तन किया गया है। वे विष्णु

जड़ या जड़ देश-काल-जनित कोई पदार्थ नहीं हैं। वे विशुद्ध चिन्मय हैं। विष्णु की पूजा करने वाले वैष्णवगण भी उन्हीं के सदृश हैं। वैष्णव के विशुद्ध चिन्मय हृदय में भगवान् विष्णु निवास करते हैं। वैष्णव दर्शन अथवा वैष्णव-सेवा ही विष्णु-दर्शन अथवा विष्णु-सेवा है। अतएव वैष्णव के मुख से हरि-कथा का श्रवण रूपिणी वैष्णव सेवा की अपेक्षा जीव के लिए और कौन सी वस्तु अधिकतर श्रेष्ठ हो सकती है। पांचालिकागण वैष्णव के मुख से हरिकथा सुनने की अपेक्षा गंगा स्नान आदि का जो अधिक मान करते हैं वह उनकी चिन्मय बुद्धि की हीनता अथवा निर्बुद्धिता का परिचायक छोड़ कर और कुछ नहीं है। उन्हें यह जान लेना चाहिए कि गंगा देवी भी भक्तों के मज्जन (स्नान) की इच्छा करती है। देवतागण भी भक्तों के अंगस्पर्श की इच्छा करते हैं, क्यों? भक्तों के हृदय में भगवान नित्य निवास करते हैं, इसलिए छूने पर गंगाजी पवित्र करती हैं परन्तु भक्त का दर्शन ही सर्व प्रकार के कर्म-पाश को छिन्न करके प्रत्येक जीव को भगवद्भजन के उपयोगी बना देता है। क्योंकि भक्त की प्रत्येक इन्द्रिय में इन्द्रियाधिपति भगवान्, जिनके पादपद्म से गंगा की उत्पत्ति हुई है; नाम, रूप, गुण और कृपा के रूप में सर्वदा विराजमान रहते हैं। इसीलिए श्रीचैतन्य-लीला के व्यास ने कहा है:—

> "चाहते देव समाज भी, हरि-सेवक का स्पर्श।
> मज्जन में हरिदास के, होते गंगा को हर्ष॥
> छूने की है बात क्या, देखत ही हरिदास।
> जीवमात्र का टूटता, जटिल कर्म का पाश॥"

(चै० भा० अ० १६-२४२-२४३)

यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि, तो फिर क्या भक्तगण गंगा-स्नान आदि नहीं करते? श्रीमन्महाप्रभु के अनुगत श्रीवास प्रमुख भक्तगण सभी तो गंगा के तट पर वास तथा गंगास्नान आदि कर्म कर चुके हैं; यहाँ तक कि श्रीमन्महाप्रभु के पिता वसुदेव-सदृश जगन्नाथ मिश्र ने भी गंगा के तट पर निवास करने के उद्देश्य से अपनी पितृभूमि को परित्याग कर नदीया में वास किया था। इन सब वाक्यों का यथार्थ सिद्धान्त क्या है? इसके उत्तर में यही कहना है कि गंगा के तट पर वास, गंगास्नान आदि कर्म निन्दनीय अथवा अनुचित कार्य नहीं है। हाँ, पुतला के पुजारियों अथवा प्राकृत-बुद्धि-विशिष्ट व्यक्तियों के आनुगत्य में ये सभी कार्य नितान्त हेय अथवा तुच्छ हैं — यही हम लोगों के कहने का उद्देश्य है।

गंगाजी विष्णु की वस्तु हैं। उनके प्रति प्राकृत बुद्धि या इन्द्रियों से ग्रहण की जा सकने वाली भोग करने की बुद्धि अथवा दर्शनेन्द्रिय (चक्षु) से छू जाने वाले साधारण जल की धारणा कर लेना गंगाजी के चरणों में अपराध करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस सम्बन्ध में पूर्वोक्त भागवत के श्लोक की आलोचना अवश्य कर लेनी चाहिए। विष्णु, वैष्णव, गंगा आदि भगवत् सम्बन्धी चिन्मय वस्तुओं के सम्बन्ध का ज्ञान परमावश्यक है। सम्बन्ध-ज्ञानहीन से अचिद् वस्तु के तुच्छ सेवा से कभी नित्य कल्याण लाभ की सम्भावना नहीं है। यदि ऐसा होता तो फिर गंगाजी के कछुवे, मछली आदि जल के जीव भी मुक्त होकर परम गति को प्राप्त कर लेते।

इन सब प्राकृत बुद्धि वाले मनुष्यों का कहना है कि चाहे जान में हो या अनजान में जिस प्रकार हाथ डालने से वह अवश्य जल जायगा, उसी प्रकार जान में या अनजान में गंगा स्नान कर लेना चाहिए क्योंकि किसी भी अवस्था में स्नान करने से जीव के मुक्ति लाभ के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का विघ्न नहीं हो सकता। गंगा जी के प्रति प्राकृत जल बुद्धि से ही इस प्रकार के विचार की उत्पत्ति हुई है; क्योंकि अग्नि आदि जड़ वस्तु हैं, उनमें इच्छा शक्ति नहीं है, प्रकृति के अधीन होकर उसे पात्रापात्र का विचार न करके प्रत्येक वस्तु जलानी पड़ती है। परन्तु कृष्ण-नाम और गंगा ये सब चेतनमय वस्तु हैं, अचेतन नहीं हैं, उनमें इच्छा शक्ति वर्तमान है। पात्रापात्र का विचार कर के वे अनुग्रह और निग्रह कर सकती हैं। अतएव गंगा जी के सम्बन्ध में उस प्रकार के जड़ीय उदाहरण कार्यकारी नहीं हैं। पूर्वोक्त दार्शनिक सिद्धान्तों का दो-

एक उदाहरणों द्वारा समझाने की हम चेष्टा करते हैं। मान लीजिए, कोई कर्म-संगी व्यक्ति गुरु के यहाँ अवस्थान कर भक्त के मुख से हरि-कथा सुन रहे हैं किन्तु तब भी उनकी कर्मियों की धारणा नहीं दूर हुई है। दशहरे के दिन गंगा स्नान का माहात्म्य सुनकर तथा कर्मियों के परामर्श से गुरु जी से 'हरि-कथा सुनने की अपेक्षा उस दिन के यदि गंगा-स्नान करने के लिए अधिक व्याकुल होते हैं, तो फिर उनका न गंगा स्नान ही होता है और न हरि-कथा का श्रवण ही। दो में एक भी नहीं होता। ऐसी दशा में वे हरिनाम, हरिभक्त और गंगा जी के चरणों में अपराधी हो गये। नामापराधी जिस प्रकार नामापराध के फल से स्वर्गसुख, रोगमुक्ति आदि भुक्ति-मुक्ति के अधीनस्थ अनित्य फल लाभ करते रहते हैं, परंतु नित्य कल्याण का लाभ नहीं कर पाते, स्मार्त गण भी उसी प्रकार गंगा-स्नान, अनेक हरिनाम ग्रहण और सदाचार के अनुष्ठान करने पर भी भव सागर से उत्तीर्ण नहीं हो सकते। वैष्णव-नामधारी प्राकृत सहजिया-गण की धारणा भी स्मार्त-कुल के समान ही है।

ग्रहणादि के समय स्मार्तों को गंगा स्नान आदि कर्म करना चाहिए या नहीं? इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि स्मार्तों के मत से ग्रहणादि का समय अशुद्ध काल है; अतएव अशुद्ध अवस्था में जिन कर्मों को न करना चाहिए उन्हें वे नहीं करते। परंतु सेवा में लगे हुए भक्त-गण उन सब स्मार्त-विधियों का पालन न करके हरि-सेवा के कार्य में सर्वदा लगे रहते हैं। यदि कोई वैष्णव-नामधारी प्राकृत सहजिया स्मार्तों के अनुगमन में उन सब अवसरों में हरि-सेवा आदि कार्य की उपेक्षा करके गंगास्नान आदि द्वारा आत्म शुद्धि करने की चेष्टा करते हैं, तो फिर उनकी शुद्धि की बात तो दूर रही, उल्टा, उनकी आत्मा उससे अधिक कलुषित हो जाती है। "यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः" इस वाक्य को भूलते ही विष्णु-स्मरण के बदले में अन्यान्य कृत्य आप ही आप आ उपस्थित होते हैं। विधि के अनुसार भक्तगण ग्रहण के अवसर पर गंगास्नान नहीं ... के इच्छुक होकर स्मार्तों के अनुगमन में वे कोई भी कर्म नहीं करते। हाँ, जिन भक्तों के सम्बन्ध में ग्रहणादि के अवसर पर गंगास्नान की बातें सुनी जाती हैं, वे सब श्रीमन्महाप्रभु के आविर्भाव के पहिले' की हैं अर्थात् जब तक श्रीगौरसुन्दर ने भक्ति की कथा संसार में प्रचारित नहीं किया, तब तक भक्तगण ग्रहण के समय स्नान आदि करते थे, परन्तु श्रीमहाप्रभु के नाम प्रचार के बाद प्रत्येक समय में ही हरि-कीर्तन का विधान हो गया है। श्रीमद्भागवत १०-९०-४७ श्लोक की भावार्थदीपिका में लिखा हुआ है—"इतः पूर्वं स्वः सरिदेव सर्वतो अधिकं तीर्थमित्यासीत्। इदानीन्तु यदुषु यत् अजनि जातं तीर्थं श्रीकृष्ण कीर्तिरूपमेतत् स्वःसरिद्रूपं पादशौचं तीर्थं कृतमल्पं चक्रे स्वयमेव सर्वतीर्थोपरि विराजत इत्यर्थः" इससे पहिले सुरधुनी (गंगा) सर्व श्रेष्ठ तीर्थ थी आजकल यदुवंश में श्रीहरि गु-कीर्ति रूप जिस तीर्थ का आविर्भाव हुआ है उसने श्रीवामन देव के पाद-शौच तीर्थ गंगा को भी तुच्छ बना दिया है अर्थात् गंगा की महिमा से श्रीकृष्णनाम की महिमा और नाम का उच्चारण करने वाले भक्ति की महिमा कहीं अधिक बढ़ी चढ़ी है। श्रीमद्भागवत के निम्नलिखित श्लोक पर विचार करने से उपरोक्त सिद्धान्त के विषय में तनिक भी सन्देह न रह जायगा।

> "यत्पादसंश्रयाः सूत मुनयः प्रशमायनाः।
> सद्यः पुनन्त्युपस्पृष्टाः स्वर्धुन्यापोऽनुसेवया॥"
>
> (भा: १।१।१५।)

अर्थात् श्रीकृष्ण के पदाश्रित कृष्णैकनिष्ठ परम-शान्त मुनिगण दर्शन देकर ही तुरंत पवित्र करते हैं और गंगाजल बारम्बार स्नान आदि से सेवित होने पर पवित्र करता है। इसी श्लोक की व्याख्या में श्रीपाद जीव गोस्वामी प्रभु ने कृष्णसन्दर्भ में कहा है, वही निरंजन चित् स्वरूप जनार्दन द्रव के रूप में गंगा-जल हैं; इसमें सन्देह नहीं है। इसीलिए गंगा स्वयं चित्स्वरूपा हुई और साक्षात् श्रीवामनदेव के चरण से निकल कर पृथिवी में अवतीर्ण हुई हैं। तथापि गंगाजी अनुसेवा अर्थात्

स्नान, पान, भोजन [illegible] द्वारा बारम्बार सेवा करने से शोधन (पवित्र) करती हैं परन्तु निकट पहुँचने मात्र से ही पवित्र नहीं करतीं। साक्षात् भाव से सेवित होने पर भी तुरंत ही पवित्र नहीं कर सकतीं; अतएव गंगा से भी कृष्ण के आश्रित व्यक्तियों का अधिक उत्कर्ष देखा जाता है। इसी भागवत के पद्य का भाव लेकर श्रीठाकुर महाशय ने अपनी प्रार्थना में कहा है,—

"प्रथम स्पर्श, शुद्धता पीछे, देतीं गंगा जीवन में।
किन्तु शीघ्र हैं तुममें भगवन् मिले शुद्धता दर्शन में॥"

कर्मवादियों की धारणा लेकर कोई कोई प्रश्न करते हैं कि गंगा विष्णु के चरणकमल से उत्पन्न हुई हैं ऐसी दशा में विष्णु के स्नान, आचमन और पान आदि के लिए गंगा-जल का उपयोग किस प्रकार हो सकता है? गंगा के स्वरूप-विचार से हीन होने पर इस प्रकार के प्रश्नों का अवसर आता है। अतएव इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व सर्व प्रथम गंगा के स्वरूप का विचार किया जाता है।

"तुलसी, गंगा, भक्त जन और भागवत जान।
विग्रह चारों कृष्ण के, पूजा एक समान॥"

(चै० भा० म २१।८०)

अर्थात् स्वयं भगवान श्रीकृष्णचन्द्र हैं। बलदेव उनके द्वितीय स्वरूप हैं। वही विष्णुतत्त्व के मूल और आदि पुरुष होकर छत्र, पादुका, यज्ञसूत्र (जनेऊ), सिंहासन प्रभृति विविध रूप धारण करके कृष्ण की सेवा करते रहते हैं। वही सृष्टि आदि व्यापार में कारणार्णवशायी, गर्भोदशायी, क्षीरोदशायी, शेष और संकर्षण इन्हीं पाँच रूपों को धारण कर भगवान् की सृष्टि आदि लीला में सहायता पहुँचाते हैं। उन्हीं बलदेव के अंश प्रकृति के अन्तर्यामी कारणार्णवशायी पुरुष हैं। कारणार्णवशायी के अंश समस्त ब्रह्माण्ड के अन्तर्यामी गर्भोदशायी पुरुष हैं। यही गर्भोदशायी पुरुष ही राम, नृसिंह, वामन प्रभृति लीलावतारों के अंशी हैं। इन्हीं वामनदेव से गंगा की उत्पत्ति है। अतएव गंगा कदापि एकपाद विभूति की अन्तर्गत वस्तु नहीं हैं। त्रिपाद-विभूति के अन्तर्गत गंगा एकपाद-विभूति के अन्तर्गत प्राकृत जल से पृथक् हैं; इसे समझाते ही विष्णुपादपद्मोद्भूता कहकर उनका वर्णन किया गया है। भगवान की त्रिपाद-विभूति के अन्तर्गत सभी वस्तुएँ चिन्मय हैं। इसलिए भगवान की सेवा के उपकरण भगवान से अभिन्न हैं। अतएव उन्हीं से भगवान की सेवा भली भाँति हो सकती है।

भगवान की चतुष्पाद विभूति से समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है। अतएव सभी वस्तुएँ भगवान के पादपद्म से उत्पन्न हुई हैं। वेदों का कहना है, "पद्भ्यां भूमिः" अर्थात् चरणद्वय से पृथिवी (केवल गंगा ही नहीं) की उत्पत्ति है। अतएव कर्मवादियों के पूर्वोक्त विचार का सहारा लेने पर केवल गंगाजल ही नहीं बल्कि कोई भी वस्तु भगवान को समर्पित नहीं की जा सकती है। पार्थिव फल फूल भी भगवान के चरण-कमल से उत्पन्न हुए हैं, ऐसी दशा में उनसे भी किस प्रकार भगवान की पूजा की जा सकती है?

श्रीमन्महाप्रभु ने एक ओर जिस प्रकार जल आदि में तीर्थ बुद्धि करने का निषेध किया है, उसी प्रकार दूसरी ओर सार्वभौम भ्राता मधुसूदन विद्यावाचस्पति को लक्ष्य करके जलरूपी ब्रह्म की सेवा करने का आदेश किया है। इसका तात्पर्य अधिकार के अनुसार समझना होगा। लौकिक श्रद्धा परायण प्राकृत पूजार्चना करनेवाला चिन्मय सम्बन्धी भावों से हीन रहता है अतएव गंगाजल आदि में प्राकृत बुद्धि से उनकी रक्षा करने के लिए श्रीमन्महाप्रभु ने उस प्रकार का उपदेश किया है; पुनश्च अप्राकृत बुद्धिविशिष्ट भक्तों के प्रति जलरूपी ब्रह्म की सेवा का उपदेश करके गंगा के प्रभुत्व अप्राकृतत्व और भगवत् से अभिन्नत्व के विषय में उन्होंने सबको निस्सन्देह कर दिया है। यह पहिले ही कहा जा चुका है कि विष्णु से उत्पन्न हुई गंगा विष्णु की वस्तु है। कृष्णसन्दर्भ के ९७ अनुच्छेद में लिखा हुआ है,—

"योऽसौ निरंजनो देवश्चित्स्वरूपी जनार्दनः।
स एव द्रवरूपेण गंगाम्भो नात्र संशयः॥"

गंगा को विष्णुवस्तु जानकर भक्तगण जिस प्रकार उनका सम्मान करते हैं, दूसरे लोग उस प्रकार का सम्मान नहीं कर सकते। गंगा को विष्णु

से अभिन्न जानकर भक्तगण सर्वदा उन्हें उत्तम अंग में स्थान प्रदान करते हैं। वैष्णव श्रेष्ठ शंकर ही इसके उदाहरण स्वरूप हैं। वर्तमान युग में श्री-श्रीगौरलीला के भक्तों का गंगा के प्रति आचरण विशेष रूप से आलोचना के योग्य है। भक्तश्रेष्ठ पुण्डरीक विद्यानिधि पादस्पर्श के भय से गंगास्नान नहीं करते थे। यहाँ तक कि जन समुदाय के गंगा जी में प्राकृत जल बुद्धि के वश कुल्ला, दन्त-मञ्जन, केश-संस्कार आदि कर्म करने के कारण वे दिन में गंगा जी का दर्शन तक भी नहीं करते थे। इधर धर्मवादियों की गंगा के प्रति पुण्य-बुद्धि और दूसरी ओर सामान्य जल के विचार से दन्तमञ्जन आदि अनाचार देखकर भक्तों के हृदय में अत्यन्त दुःख का उदय होता है। परंतु महाप्रभु के अनुगत भक्तगण जो गंगास्नान आदि कार्य करते थे, उनके वे आचरण उस प्रकार के कर्मवादियों के अपराध-पूर्ण आचरणों से सर्वथा भिन्न थे। वे कदापि पुण्डरीक विद्यानिधि के दुःख के कारण नहीं हो सकते। यहाँ पर सन्देह हो सकता है कि पुण्ड-रीक विद्यानिधि जल को ब्रह्म समझकर गंगास्नान आदि कर्म नहीं करते थे और अन्यान्य भक्तगण श्रीमन्महाप्रभु के साथ गंगास्नान आदि कार्य में तत्पर बने रहते थे। इन लोगों का आचरण परस्पर विरोधी है। इस विरोध की मीमांसा किस प्रकार हो सकती है? इसकी एकमात्र मीमांसा यही है कि भक्तों के आचरण प्राकृत दृष्टि में परस्पर विरोधी जँचने पर भी वास्तव में विरोधी नहीं है। दोनों की भावना एक है। भक्तगण भिन्न-भिन्न प्रकार के आचरणों से भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षा देते रहते हैं। श्रीपुण्डरीक विद्यानिधि के आचरण से गंगाजी अप्राकृत विष्णु वस्तु हैं और उन्हें कर्म-वादियों की भाँति प्राकृत बुद्धि से देखना अपराध है—इसी बात की शिक्षा मिलती है; पुनश्च दूसरी ओर भक्तों के आनुगत्य में चिन्मय बुद्धि के साथ स्नान-पान आदि से गंगा की सेवा करना परम कर्त्तव्य है और उसी से विष्णु को सन्तोष होता है। इस विषय का ज्ञान होता है। अतएव दोनों के आचरणों का मुख्य उद्देश्य एक है। गंगास्नान आदि सभी कार्य भक्तों के आनुगत्य में ही करना होगा तभी उनके वे सब कार्य भगवान् को सन्तुष्ट करने में समर्थ होंगे। भक्त का आनुगत्य छोड़कर स्मार्तों अथवा निर्विशेषवादियों के आनुगत्य में वे सभी कर्म अपराधपूर्ण होकर जीव को अधोगामी कर देंगे। कर्मवादी और ज्ञानवादी भक्तों की भाँति श्रीनाम ग्रहण, विष्णुपूजा और सदाचार करने पर भी भगवान् को सन्तुष्ट नहीं कर सकते। स्मार्तों ने गंगाजी का माहात्म्य बिलकुल ही नहीं समझा है। वे मुख से गंगा जी को विष्णुपादपद्म से उत्पन्न हुई बतलाकर भी उसमें स्पर्श-दोष आदि का विचार करते हैं। अनेक तीर्थों में दूर से पूजा के लिए गंगाजल को रेल गाड़ी से लाने पर स्पर्श-दोष हो जायगा, इसी डर से गंगाजल को पैदल चलने के मार्ग से लाने की व्यवस्था दी गई है। विष्णुपाद-जल में सामान्य जल बुद्धि, नाम में प्राकृत शब्द बुद्धि वैष्णवों में जाति बुद्धि, विष्णु के साथ अन्य देवदेवियों की साम्यबुद्धि ही अनन्त नरक लाभ का मूल कारण है। अप्राकृत सेवा-परायण-भक्त के सिवा भक्त कहलानेवाले या दूसरे सभी श्रेणी के व्यक्तियों में उस प्रकार के दोष पूर्ण मात्रा में पाये जाते हैं।

भक्तगण कैसी दृष्टि से गंगा को देखते रहते हैं, श्रीमन्महाप्रभु ने अपनी लीला में आचरण पूर्वक समस्त जीवों को उसकी शिक्षा प्रदान की है। जैसे—

"प्रेम-रस-सा है तुम्हारा परम प्यारा दिव्य जल।
जानते हैं वे तुम्हारे तत्त्व शंकर जी सकल॥
पुण्यमय शुभ नाम सुनता जो कहीं भी कान से।
भक्ति हरि की प्राप्त करता, फल अमित है पान से॥
प्राप्त कर करुणा तुम्हारी कृष्ण जैसा नाम भी।
है निकलता जीव मुख से जानते हैं जन सभी॥

(चै० भा० अ० १। ११५। ११७)

श्रीकृष्णाविर्भाव

स्थान—श्रीगौड़ीय मठ, उल्टाडिंगी, कलकत्ता।

समय—जन्माष्टमी अधिवास रविवार १९ वीं भाद्र १३३३ बंगला सन

(श्रीप्रभुपाद की वक्तृतावली [illegible] से अनूदित)

"मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे श्रीगुरुं दीनतारणम्॥
आनन्दचिद्घनरूपाय निर्गुणाय गुणात्मने।
समस्त-जगदाधार-मूर्तये ब्रह्मणे नमः॥"

भगवद् वस्तु निर्गुण होने पर भी नित्य चिद्‌गुण से गुणी है

अधिकांश व्यक्ति भगवद्वस्तु को खण्डित जड़ वस्तु की भाँति चिन्तनीय मानते हैं, परन्तु वह वस्तु अचिन्त्य है। केवल अचिन्त्य नहीं है, बल्कि सेवानुन्मुख के लिए चिन्त्य और चिन्मय है। वे अव्यक्त और अप्रकाशित हैं, फिर भी उनके रूप है। रूप दर्शनेन्द्रियों की ग्राह्य वस्तु है। जिनका रूप नहीं है वही अव्यक्त है। जिनका रूप है, वही व्यक्त है। किन्तु भगवद् वस्तु में ही परस्पर विरोधी भावों का समन्वय है; अतएव यह भाव अचिन्त्य है। वे निर्गुण वस्तु हैं। सगुण वस्तु की ही उपलब्धि होती है। जो सगुण नहीं है, इन्द्रियों द्वारा उसकी उपलब्धि नहीं होती। गुणत्रय की अतीत वस्तु अथवा निर्गुण होकर भी वे गुणात्मा-समस्त कल्याण-करनेवाले गुणों के एक मात्र समुद्र और एक ही समय वे चिद्‌गुण से गुणी और निर्गुण हैं। समस्त गुण उनमें वर्तमान हैं। इन्द्रियज ज्ञान में अधिगत होने की योग्यता जिसमें है, उसी जगत् को उन्होंने धारण किया है। वे जगत् की आधारमूर्ति हैं। वे मूर्त और अमूर्त दोनों ही हैं। जगत् उनकी मूर्ति नहीं है बल्कि जगत् के अभ्यन्तर में वही मूर्तिमान हैं। इन्द्रियज ज्ञान से जिसकी उपलब्धि होती है वह भोग की वस्तु है। वे जगत् नहीं हैं बल्कि जगत् ही उनका आधार है। एक ही आधार में मूर्त और अमूर्त जो वस्तु हैं, [illegible] हैं, वही ब्रह्म-वस्तु हैं, मैं उनको नमस्कार करता हूं।

ब्रह्मवस्तु क्या है?

अपूर्ण वस्तु [illegible] में अवस्थित है। नमस्कार के अतिरिक्त ('न—निषेध', 'म—अहंकार') अर्थात् अहंकार न छोड़ने पर हम उनके समीप नहीं जा सकते। जगत् के अनन्त नाम, अनन्त रूप, अनन्त गुण, अनन्त क्रिया ये सब हमारे लिए उपलब्धि के विषय हैं। किन्तु वे ब्रह्मवस्तु हैं—"बृहत्वात् बृंहणत्वाच्च ब्रह्म"। वे सीमायुक्त कोई वस्तु नहीं हैं। न कोई उन्हें नाप सकता है और न उनको सीमाबद्ध ही कर सकता है। उनके साथ बिना संयुक्त हुए किसी भी वस्तु के अस्तित्व की सम्भावना नहीं है। ऐसी जो वस्तु है उसी का 'ब्रह्म' के रूप में स्वीकार किया जाता है। उसी वस्तु के अभ्यन्तर में ही समस्त वस्तुएँ गढ़ी हुई हैं। भिन्न भिन्न वस्तुएं उन्हीं के अन्तर्गत वस्तु मात्र हैं।

ब्रह्म शब्द के व्यवहार का तात्पर्य, नराकृति परब्रह्म खण्डित वस्तु नहीं हैं

खण्ड ज्ञान से अखण्ड ज्ञान में जाने के मार्ग में हम 'ब्रह्म' आदि शब्दों का व्यवहार करते हैं क्योंकि हम लोगों की धारणा है कि वह पूर्ण ज्ञान का निर्देशक एक शब्द मात्र है। वास्तव में वह वस्तु क्या है, 'ब्रह्म' शब्द द्वारा उसका लक्ष्य नहीं करते। 'साढ़े तीन हाथ के नराकार व्रजेन्द्रनन्दन' इस प्रकार की बातों से खण्डित भाव न ग्रहण करना होगा। जो सब वस्तुएँ भगवद् वस्तु नहीं हैं और न वरण करने के योग्य ही हैं, उन सब वस्तुओं के साथ समस्त वस्तुओं का सम्बन्ध नहीं है। उसी वस्तु में ही हम लोगों के संकीर्ण साम्प्रदायिक भाव आ उपस्थित होते हैं। 'अणु और बृहत्' 'चिन्त्य'

और 'अचिन्त्य', 'निराकार' और 'साकार' प्रभृति शब्द आ उपस्थित होते हैं।

परब्रह्म वस्तु में सब कुछ सम्भव है; पूर्णता में अविचिन्त्यशक्तिमत्ता

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" (छा: ६-२-१)—वह वस्तु निर्विशिष्ट नहीं है अथवा सविशिष्ट रहने के कारण निर्विशिष्ट भाव उससे दूर हो गया है ऐसा भी नहीं है। ब्रह्म में अणुत्व-भावाभाव वर्तमान है, ऐसा भी भाव नहीं है। पुनश्च अणुत्व में रहकर फिर बृहत्त्व नहीं धारण कर सकते—ऐसी भी कोई बात नहीं है। ऐसे व्यापार अचित् जगत् में असम्भव हैं। अचित् के परमाणु के अभ्यन्तर में बृहत् ब्रह्माण्ड नहीं रह सकता। किन्तु यह अचेतन-शाखा का चिन्ता स्रोत मात्र है। चेतन शाखा के ऐसे विचार चेतनता की उपलब्धि की पूर्णता में केवल विघ्न ही पहुँचाते हैं। श्रुति का कहना है, (श्वेताश्व: ५।६)।

"बालाग्र-शतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥"

चेतन के अणु में भी अनंत की सेवा करने की सामर्थ्य है। चेतन का गठन इस प्रकार का नहीं है कि 'अणु' होने पर अनंत की सेवा न कर सकेगा। उदाहरण—चिनगारी आधार प्राप्त होने पर समस्त संसार को जलाकर धूल में मिला सकती है।

'भगवत्' शब्द में वेद्य वस्तु का सम्यक् अभिधान और निर्देश सुलभ है

अपनी अविद्या और अस्मिता की अनुभूति से 'साढ़े तीन हाथ का मैं' 'मनोधर्मयुक्त मैं' ब्रह्म वस्तु का जिस प्रकार निर्देश करने की चेष्टा करता हूँ, वास्तव में वह कृष्ण नहीं है। 'भगवत्' शब्द के द्वारा उस प्रकार के निर्देश में ही कृष्ण के विषय के जानने की सुविधा होती है। परन्तु 'ब्रह्म' और 'परब्रह्म' शब्दों द्वारा 'मनोधर्मयुक्त मैं' वस्तु का सम्यक् अभिधान करने में समर्थ नहीं होता।

भगवत् शब्द, श्रीकृष्ण और श्रीबलदेव तत्व

'ब्रह्म' और 'परमात्म' शब्द 'भगवत्' शब्द के अन्तर्भुक्त मात्र हैं। 'कृष्ण' शब्द परम परिपूर्ण वस्तु है। उन्हीं के प्रकाश बलदेव हैं, जिनसे वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—ये चार व्यूह प्रकाशित हुए हैं जिनसे महावैकुण्ठ में महा-संकर्षण प्रकाशित हुए हैं—जिनसे अर्णवत्रय में त्रिविध पुरुष वतार प्रकाशित हैं। इन सभी के मूलवस्तु श्री बलदेव हैं। पुनश्च बलदेव के मूल स्वयं रूप जो वस्तु है वह 'कृष्ण' या 'स्वयं भगवान के अतिरिक्त किसी दूसरे नाम से नहीं पुकारी जा सकती।

कृष्णाविर्भाव क्या है? "मैं" क्या वस्तु हूँ?

'कृष्णाविर्भाव'—प्रत्येक जीव के हृदय में जो शुद्ध-चेतन का भाव वर्तमान है उसी में ही पूर्ण-चेतन का पूर्ण प्रकाश है। आजकल हम सब अचित् विषय में पड़े हुए हैं, यदि उस अचित् भाव को संकुचित कर सकें, तो फिर तौल-नाप के भ्रम से हमको छुट्टी मिल जाती है। 'मैं' अचित जुड़ पदार्थ नहीं हूँ। 'मैं'—चिन्मय जुद्र पदार्थ हूँ।

कृष्ण सम्बन्धी प्रतीति-युक्त के लक्षण, कारण या वैष्णव में प्रवेश

'भगवान् स्वयं अपनी जितनी सेवा कर सकते हैं, उनसे अधिक सेवा कर सकूँगा' यह ज्ञान तभी होगा, जबकि हम वास्तव में कृष्ण-भक्त-प्रतीति विशिष्ट हो सकेंगे। यदि किसी दिन हम किसी कृष्ण भक्त के निकट पहुँच सकें, तभी हमें सुविधा मिल सकती है। कृष्णभक्त को ही साधारण भाषा में वैष्णव कहते हैं।

प्राभव-वैभव आदि शब्द में विष्णु उद्दिष्ट हैं; 'स्वयं रूप' शब्द में कृष्ण उद्दिष्ट हैं

'प्राभव', 'वैभव', 'विलास', 'अंश', 'कला', 'विकला', प्रभृति नाम 'विष्णु'-शब्द के उद्देश में प्रयुक्त होते हैं। और 'कृष्ण' शब्द से साक्षात् 'स्वयं रूप' उद्दिष्ट होते हैं। केवल उद्दिष्ट ही नहीं बल्कि नाम और नामवाले में कोई भेद नहीं रह जाता।

मेरे अहंभाव में माया की क्रिया

विष्णु की शक्ति को 'माया' मान लेने पर वर्तमान विषय मेरे "अहंभाव में" आ उपस्थित हुआ है।

'अणुचित्' में जब अपने को 'अणुअचित्' मान लेता हूँ, तब अपनी माया द्वारा आवृत और विक्षिप्त अवस्था अर्थात् दुर्बलावस्था में जिस भाव द्वारा चालित होता हूँ, वैसी दशा में मैं वैष्णव के समीप नहीं जा सकता। मायिक इन्द्रियों द्वारा मैं वैष्णव को छोटा कर डालता हूँ, वैष्णव को नाप लेना चाहता हूँ। "अमुक के लड़के वैष्णव हैं, अमुक के मामा वैष्णव हैं", इस प्रकार बातें करने लगता हूँ। कभी कभी यहाँ तक भी कह डालता हूँ कि "वैष्णवधर्म छोटे आदमियों का धर्म है, अपने को वैष्णव समझना ही निरी मूर्खता और संकीर्णता है।"

अनुमान आदि खण्ड-दर्शन में पूर्ण वास्तविक सत्य के दर्शन का अभाव

कृष्ण-प्रतीति तो लौकिक भी नहीं है। कृष्ण-भक्त की प्रतीति में भी हम लोगों की अच्छी धारणा नहीं है। जहाँ पर आप को गौणभाव से विताड़ित किया गया है, वहाँ पर यही जानना होगा कि हम सब 'हेतुवादी' हैं। सत्य के निकट जाने पर सत्य का साक्षात् होता है, जिस प्रकार दूरत्व दूर करके सूर्य का दर्शन होता है। आत्म-वस्तु द्वारा परमात्म वस्तु के दर्शन की सामर्थ्य होती है; अनुमिति-द्वारा हम लोग सत्य का दर्शन नहीं कर सकते। एक भाग के दर्शन से जो सिद्धान्त उपस्थित होता है, उससे हम वस्तु का विवर्त मात्र ग्रहण करते हैं। वस्तु की सत्यता का दर्शन न करके उसे हम अपने उपयोगी भावों के अनुसार देखते रहते हैं। उसी से एक वस्तु में दूसरी वस्तु की भ्रान्ति होती है।

अक्षज खण्ड-दर्शन में अधोक्षज कृष्ण-दर्शन असम्भव है

भगवद्वस्तु में अर्थात् चेतनवस्तु में एक ही साथ विरोधी धर्मों का अपूर्व समन्वय वर्तमान है। विरोधी धर्म के एक भाग का दर्शन या विचार करके ही यदि हम डिग्री या डिसमिस कर बैठें, तो फिर हम केवल वंचित ही हुए। कृष्ण को खण्डित, या छिन्न के रूप में जानने से कृष्ण की पूर्णता के विचार में हानि होती है। मुख से तो कृष्ण को पूर्ण कहकर कृष्ण के नाम, रूप और लीला को खण्डित करने का विचार जैसे एक प्रकार की वंचना हम लोगों के बाह्य जगत् के विपरीत दर्शन से उत्पन्न होती है, वैसे ही नास्तिकों के विचारानुसार कृष्ण को भोगबुद्धि से साढ़े तीन हाथ के लम्बे मान लेना भी एक प्रकार की आत्मवंचना है।

कृष्ण—समस्त विधियों के अतीत स्वतंत्र, निरंकुश और स्वेच्छाविहारी है

परम करुणामय कृष्णचन्द्र अपने परिकरों के साथ संसार में अवतीर्ण होते हैं, यह विचार भाग्यहीन जीवों में नहीं आता है। जरा नामक व्याध कृष्ण का संहार कर सकता है। कर्मफल-बाध्य जीव जिस प्रकार विधि के अधीन होता है, मानो वे भी उसी प्रकार विधि के अधीन हैं।" ऐसे विचार भाग्यहीन के हुआ करते हैं। कृष्ण से सभी विधान निरस्त हो जाते हैं। उनके सामने विधि कोई भी काम नहीं कर सकती। वही समस्त विधियों के विधि हैं। कृष्ण अधोक्षज वस्तु हैं अर्थात् वे मनुष्यों के लिए भोग्यवस्तु नहीं हैं, कृष्ण ही एक मात्र उसके भोक्ता हैं। कृष्ण के चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक् समस्त संसार का दर्शन करते हैं, समस्त शब्दों को सुनते हैं, समस्त वस्तुओं का घ्राण लेते हैं और समस्त वस्तु का आस्वादन तथा स्पर्श करते हैं।

कृष्णभक्ति और कृष्णभक्त का नित्यत्व; कृष्णभक्त की सेवा से ही कृष्णस्फूर्ति होती है

कृष्ण से विमुख होने के कारण ही हमारी वर्तमान धारणा कृष्ण को नहीं देखने देती। कृष्ण की माया की दो वृत्तियाँ हैं—(१) कृष्ण को न देखने देना, (२) कृष्ण को हटा देना। इन दोनों असुविधाओं को केवल "कृष्णभक्त" ही दूर कर सकते हैं।

कुलीन ग्राम-निवासियों के प्रश्नों को उत्तर देते

समय श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है कि कृष्ण-सेवा, कृष्ण-भक्त की सेवा और नामसंकीर्तन—यही तीन जीवों के नित्य कृत्य हैं। जिस वस्तु की सेवा की जाती है, वही "सेव्य" है; और जो सेवा करते हैं वही "सेवक" हैं। सेवक की वृत्ति ही "सेवा" या "भक्ति" है। भजन करने के योग्य वस्तु भगवान्, भजन करने-वाला भक्त और भजन की वृत्ति भक्ति—ये तीनों ही नित्य हैं। ये सब काल-क्षोभ्य नहीं हैं, भूत आदि की भाँति जन्म स्थिति और नाश के अधीन नहीं हैं। भगवान् की सेवा के लिए अविमिश्रा चेष्टा जब तक न की जायगी, तब तक उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती। मिश्र चेष्टा से भगवद् वस्तु की उपलब्धि नहीं होती—

"अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥"

मेरी आत्मा की नित्या वृत्ति जो भक्ति है यदि उसका पता न लगा सका, यदि उसके द्वारा नित्य वस्तु की सेवा न की, तो फिर मैं सत्य वस्तु की खोज न कर सका। श्रेयःपंथ का बहुत सम्मान करके केवल नरक की ओर ही दौड़ा।

निष्कपट भाव से कृष्ण-भक्त की सेवा ही मंगल का मार्ग है

वैष्णव निर्बोध सरल और अत्यन्त चतुर हैं। यही नाम मात्र के सत्याभिमानियों के विशेषण हैं। हम संसार के सामने कपट करके कहते हैं कि हम विष्णु के उपासक हैं, कृष्ण के दास हैं किन्तु वास्तव में हम इन्द्रियों के ही दास, भोगी, अकर्मी और कुकर्मी हैं। जब तक जीव में भगवान् की अविमिश्र सेवा-वृत्ति उदित नहीं होती, तब तक यही मानना पड़ेगा कि उसमें कृष्ण विषयक ज्ञान कुछ भी नहीं हुआ है। श्रीगौरसुन्दर की बातें हम लोगों के हृदय तक नहीं पहुँची हैं। जब तक हममें इस बात का ज्ञान न होगा कि कृष्ण और कृष्ण भक्त की सेवा ही एक मात्र कृत्य है, तब तक हम वंचित ही रहेंगे। क्या हम कभी अपनी दुर्बुद्धि से छुटकारा पा सकते हैं? जिस प्रकार सूर्य के बहुत दूर रहने पर भी उसकी किरणें बाधाशून्य होकर हम लोगों के समीप अचानक आ पहुँचती हैं, उसी प्रकार जब हम कृष्ण-भक्त की शरण ग्रहण करते हैं, तब भगवान भी संसार में हम लोगों के निकट अवतीर्ण होते हैं। जो सर्वदा भगवान की उपासना करते हैं उन्हीं के आश्रय में और उन्हीं के द्वारा खोले गये नेत्रों से ही भगवान् का दर्शन सम्भव होता है। यदि नाटक में सजे हुए नारद को हम 'भक्तराज नारद' कहें, खड़ियामिट्टी को "दूध" कहें तो फिर वास्तव में हम धोखा खायेंगे। जो सर्वदा भगवद्-भजन की चेष्टा में लगे रहते हैं, जो सर्वदा प्रति पद पर भगवान् की सेवा करते हैं, अपना सर्वस्व देकर जो भगवान् की सेवा छोड़कर दूसरा और कोई काम नहीं करते, ऐसे ही किसी पुरुष की सेवा हमें शुद्ध भक्ति दे सकती है। बहुत से दिल्लगी करके कहा करते हैं कि अमुक को कृष्ण-प्राप्ति हुई है। कृष्ण-प्राप्ति होने का अर्थ यही है कि संसार से भली भाँति विच्छिन्न हो जाना। कृष्ण-प्राप्ति समस्त प्राप्तियों की अन्तिम प्राप्ति है। संकीर्तन रूपी कृष्ण नितान्त अयोग्य व्यक्ति के हृदय में भी अघ, बक, पूतना आदि का ध्वंस करते हैं। कृष्ण-सेवा छोड़कर हम लोगों का कोई दूसरा कृत्य नहीं है। गौरसुन्दर ने स्वयं कृष्ण होने पर भी कृष्ण-भक्त के वेश में नाना प्रकार से नाना भाव से और नाना भाषाओं में "एक मात्र कृष्ण का भजन करो" यही शिक्षा दी है। कृष्ण से संसार की उत्पत्ति है और कृष्ण में ही संसार स्थित है; पुनश्च कृष्ण में ही संसार का लय होता है। जब हम व्यस्त रहते हैं तब कृष्ण अपना निजत्व नहीं दिखाते। आँख की पुतली जब बादलों से ढक जाती है, तब स्व-प्रकाश सूर्य का अस्तित्व विलुप्त नहीं होता, परन्तु वह हमारी दृष्टि में नहीं आता। कृष्ण-दर्शन से वंचित रहना भी सेवा-विमुख जीव की योग्यता का तिरस्कार या पुरस्कार है।

मनोधर्म में सत्यवस्तु का ज्ञान नहीं होता

मनोधर्म से चालित तथा रूप-रस से आच्छन्न रहने के समय तक इन्द्रिय तर्पण करने में लगे हुए

मनुष्य में सत्यवस्तु रूपी कृष्ण का ज्ञान नहीं होता। उनके नाम, रूप, गुण, लीला आदि का कीर्तन होने पर भी हम सब उन बातों को नहीं समझ सकते। कभी उन सब पर ध्यान ही नहीं देते हैं, और कभी कभी उन्हें अपनी इन्द्रियों के भोग की वस्तु समझ कर दूसरे ही भावों से समझने लगते हैं।

कृपा दो प्रकार की है—साधनाभिनिवेशज और कृष्ण-भक्त-प्रसादज

केवल जीव की शुद्ध आत्म-सत्ता में श्रीकृष्ण का आविर्भाव होगा। जिन पर कृष्ण दया करेंगे वही उनके आविर्भाव को समझ सकेंगे। दया दो प्रकार की है (१)—साधनाभिनिवेशज, (२) कृष्ण या कृष्ण-भक्त प्रसादज। भक्त के निज की सम्पत्ति ही कृष्ण हैं। भक्त ही कृष्ण को दे सकते हैं। कृष्ण सेवोन्मुख व्यक्ति की आत्मवृत्ति में उदित होते हैं—

"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः"

श्रीनाम-वितरण-द्वारा और जन की अयाचित कृपा

कृष्ण के भक्त कृष्ण को द्वार द्वार पर बाँटते फिरते हैं, वे इतने बड़े उदार हैं। जिस प्रकार कृपण मनुष्य दुर्गापूजा नहीं करते हैं, किन्तु जब पड़ोसी बलात् प्रतिमा को घर पर रख जाते हैं, तब उन्हें बाध्य होकर पूजा करनी पड़ती है। उसी प्रकार हम लोगों के कृष्ण-भजन को पसंद न करने पर भी कृष्णभक्तगण द्वार द्वार जाकर साक्षात् कृष्ण-नाम का वितरण करते हैं। दुर्गा पूजन के लिए किसी के घर में देवता को छोड़ आने की भाँति श्रीगौरसुन्दर ने सच्चिदानन्द वस्तु की प्रिय सच्ची वस्तु श्रीनाम को सबके द्वार पर जाकर बाँट दिया है। तृण से भी अधिक क्षुद्र न होने पर कृष्ण का नाम उच्चारित नहीं होता। 'नाम-संकीर्तन' का अर्थ है कृष्ण-प्राप्ति—स्थूल और सूक्ष्म शरीर को छोड़ देना—नारद की 'न्यपतत् पञ्चभौतिकः' विदेह मुक्तजीवदशा में मुक्ति और स्वरूप की सिद्धि है। कृष्ण जब सिद्धमुक्ति प्रदान करते हैं तभी यह ज्ञान पड़ता है, कि वे विशुद्ध रूप से आकर्षण कर रहे हैं। अचित् के भोग में व्यस्त रहने पर उनके आकर्षण का बोध नहीं होता। देह में आत्मबुद्धि ही विवर्त का स्थान है। देह में आत्मबुद्धि लेकर हम माया पूर्ण तत्त्व को ही कृष्ण तत्त्व मान लेते हैं "कृष्ण—मनुष्य थे, कृष्ण लम्पट थे, कृष्ण राजनीतिज्ञ थे, कृष्ण ऐतिहासिक व्यक्ति थे, कृष्ण—हमारी भोगबुद्धि की प्रेरणा से स्वार्थपरतायुक्त थे"—ये सब विचार कृष्ण के सम्बन्ध में अलाभता और भाग्यहीनता के परिचायक हैं। कृष्ण ही परम पुरुष हैं, कृष्ण ही परम-सत्य हैं, कृष्ण ही वास्तविक वस्तु हैं, कृष्ण ही निखिल वेदप्रतिपाद्य विषय हैं, कृष्ण ही एकमात्र विषय और कृष्ण ही एक मात्र भोक्ता हैं।

महामान्य मार्कीस ऑव लोदियन और जेटलैण्ड के प्रश्न तथा उनका उत्तर

गत ३१ वीं मई सन् १९३३ ई० को ६७ वाटरलू पैलेस मेमोर हाउस में Indian Franchise Committee के सभापति महामान्य मार्कीस ऑव लोदियन ने लंडन श्री गौड़ीय मठ के प्रचारक श्रीमद्भक्तिहृदय वन महाराज के साथ पूरा एक घण्टा समय तक जिन जिन प्रसंगों की आलोचना की थी, उनमें से चार प्रश्न विशेषकर उल्लेखनीय हैं।

पहला प्रश्न– बौद्धधर्म के सम्बन्ध में श्रीमन्महाप्रभु के अनुगामियों की कैसी धारणा है?

सबसे पहिले महामान्य लोदियन ने बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में श्रीमन्महाप्रभु के अनुगामियों अथवा श्रीगौड़ीय मठ की कैसी धारणा है– इस सम्बन्ध में प्रश्न किया। लंडन-श्रीगौड़ीय मठ के प्रचारक महोदय ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए पहले यह भली भाँति छानबीन करके समझाया कि बौद्धधर्म के प्रचार अथवा प्रचलित चारों मतवाद और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले उसी धर्म के बहुमतवाद ने किस प्रकार विष्णु के अवतार बुद्ध के सिद्धान्तों के साथ पार्थक्य स्थापन किया है। स्वामीजी महाराज ने कहा—बुद्ध विष्णु के ही अवतार हैं। अतएव बुद्ध के हार्दिक विचार वैष्णवधर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। परंतु जो आस्तिकता के विरुद्ध चलने के लिए दृढ़ संकल्प कर चुके हैं, उन्हीं असुर-प्रकृति के व्यक्तियों को मोहन करने के लिए बुद्धदेव की वाणी विकृत रूप में प्रकाशित हुई थी। वास्तव में श्रीमद्भागवत जैसे सर्वमान्य शास्त्रों में और वैष्णव महाकवि श्रीजयदेव ने जब अपने दशावतार-स्तोत्र में बुद्धदेव को विष्णु का अवतार मानकर अभिनन्दन किया है, तब श्रीबुद्ध के सच्चे सेवक वैष्णव ही हैं; इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता। परंतु जो बुद्धदेव को परमेश्वर विष्णु के रूप में ग्रहण करने को तैयार नहीं है, वही परमेश्वर-विरोधी "बौद्ध" के नाम से परिचित हैं। "श्रीबुद्ध विष्णु के अवतार हैं और विष्णुभक्ति नित्य है। निर्वाण अथवा महानिर्वाण भी विष्णुभक्ति को ध्वंस नहीं कर सकता।" इसे स्वीकार कर जो "बौद्ध" के नाम से परिचित होते हैं, वे सभी वैष्णव हैं और जो विष्णु-भक्ति का नित्यत्व नहीं स्वीकार करते, वही स्पष्ट या प्रच्छन्न बौद्ध हैं। जिस प्रकार श्रीचैतन्यदेव की दुहाई देकर परवर्त्ती-काल में कुछ मनुष्यों ने श्रीचैतन्य-विरोधीमत का प्रचार किया था और इसके साथ ही साथ आउल, बाउल आदि असत् सम्प्रदाय भी प्रचलित किये थे, उसी प्रकार विष्णु के अवतार बुद्ध की दुहाई देकर विष्णु-विरोधी-मतवादी भी नाना श्रेणी के बौद्ध के रूप में परिचित हुए हैं। बुद्ध की प्रचारित अहिंसा-नीति—जिसने कि "माहिंस्यात् सर्वाणि भूतानि"—इसी वेद मंत्र की प्रतिध्वनि की है वही ज्यों की त्यों श्रीचैतन्य-भक्तों के चरित्र में पूर्ण रूप से वर्तमान है। "अपने मानसिक विचारों से भी किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना।" "महाप्रभु के भक्तों के निकट वैराग्य ही सबसे श्रेष्ठ है।" आदि भक्ति-नीति समूह पूर्ण रूप से तथा शुद्ध भाव से श्रीचैतन्य-देव के भक्तों के आचरण में प्रकाशित होते रहते हैं। बौद्धों के काम्य निर्वाण, परिनिर्वाण आदि प्रयोजन अचिन्मात्रवाद कहे जा सकते हैं। आचार्य शंकर ने अचिन्मात्रवाद को चिन्मात्रवाद के भाषान्तर में प्रकाश करके बौद्धमत के प्रारंभिक खण्डनकारी के स्थान को ग्रहण किया है। वास्तव में उनका प्रचारित मत प्रच्छन्न बौद्धवाद है। इसमें आचार्य शंकर का कोई दोष नहीं है, क्योंकि देश दशा और काल के अनुसार उसकी बड़ी आवश्यकता थी। श्रीमन् महाप्रभु ने चेतन-मात्र के नित्य

धर्म की कथा का प्रचार किया है। अतएव उनका प्रचारित धर्म सार्वकालिक सार्वत्रिक और सार्वजनीन है। श्रीश्रीमन् महाप्रभु ने अचिन्मात्र अथवा चिन्मात्रवाद का प्रचार नहीं किया। उन्होंने चिद्‌विलास की कथा कही है। चिद्‌विलास, जड़विलास से सर्वथा पृथक् है। चिद्‌विलास का तुच्छ और आंशिक प्रतिविम्ब ही इस जगत् का जड़ विलास है। चिद्‌विलास का भोक्ता केवल एक जन है। वह है Spiritual Despot अर्थात् निरंकुश स्वराट् लीला-पुरुषोत्तम।

दूसरा प्रश्न - श्रीशंकराचार्य के मत सम्बन्ध में गौड़ीयवैष्णवों का क्या विचार है?

आचार्य श्रीशंकर के मत सम्बन्ध में महाप्रभु के भक्तों का क्या विचार है? इस प्रश्न के उत्तर में लंडन श्रीगौड़ीय मठ के प्रचारक महोदय ने कहा— श्रीशंकराचार्य के अद्वैतवाद का थोड़ा सा विचार Hegal के Pantheism के रूप में पाश्चात्य देश में प्रचारित हुआ है। इसे श्रीमन् महाप्रभु ने 'मायावाद' कहा है। श्रीशंकर की उक्ति में साधारणतया "ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या" इसी प्रकार के सिद्धान्त पाये जाते हैं अर्थात् उनके विचार से जीव और जगत् का कोई वास्तविक और चिरकालीन अस्तित्व नहीं है। जीव और जगत् रज्जु में सर्प का भ्रम होने के तुल्य भ्रान्ति-मात्र है और ब्रह्म समस्त विचित्रता और विशेषताहीन है। अतएव उसका कोई विलास नहीं है। इसी मत को श्रीशंकराचार्य के सम्प्रदाय-वाले 'वेदान्त अथवा उपनिषद् का मत' बतलाते हैं। पर वास्तव में यह वेदान्त-विरुद्ध मतवाद है। इसीलिए श्रीशंकराचार्य के मत सम्बन्ध में श्रीमन् महाप्रभु ने कहा है—

"बनते बौद्ध वेद को तजकर, वे नास्तिक कहलाते हैं।
वेदाश्रय में नास्तिकगण भी बौद्ध-श्रेष्ठ पद पाते हैं॥"

श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं श्रुति में जो प्रारंभिक निर्विशेषपर मंत्र देखा जाता है उसके द्वारा प्राकृत निषेध किया गया है—

या या श्रुतिर्जल्पति निर्विशेषं सा साभिधत्ते सविशेषमेव।
विचारयोगे सति हन्त तासां प्रायो बलीयः सविशेषमेव॥

जो जो श्रुति तत्त्व वस्तु को प्रारंभ में "निर्विशेष" कहकर कल्पना करती है, वही अन्त में "सविशेष" तत्त्व का ही प्रतिपादन करती है। 'निर्विशेष' और 'सविशेष'—भगवान के ये दोनों ही गुण नित्य हैं। इसका विचार करने से सविशेष तत्त्व प्रबल हो उठता है। क्योंकि संसार में सविशेष तत्त्व ही अनुभूत होता है और निर्विशेष-तत्त्व अनुभूत नहीं होता।

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तै० भृ० ३)

इत्यादि श्रुतिवाक्यों में यही पाया जाता है कि चराचर सभी ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं, ब्रह्म द्वारा ही जीवित रहते हैं और अन्त में उसी ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। इन वेद-वाक्यों से यही विदित होता है कि 'अपादान', 'करण' और 'अधिकरण' कारक तत्त्व-रूप परब्रह्म के तीन प्रकार के लक्षण हैं। इन तीन प्रकार के नित्य लक्षणों से भगवान नित्य-सविशेष रूप में प्रतीयमान हो रहे हैं। "बहु स्याम" (तै० उ० ब्र०) इत्यादि श्रुति-मतों से भगवान ने जब अनेक बनने की इच्छा की, तब "स ऐक्षत" (ऐत० उ० १।१) इस वाक्य के अनुसार उन्होंने प्राकृत शक्ति की ओर दृष्टिपात किया। उस समय प्राकृत मन और चक्षुओं की सृष्टि नहीं हुई थी। अतएव भगवान ने जिस मन से चिन्ता की और जिन चक्षुओं से उन्होंने प्रकृति को देखा, वे चक्षु और मन सृष्टि रचना के पहिले से ही वर्तमान थे। अतएव परब्रह्म के जो स्वरूपगत अप्राकृत मन और नेत्र थे, यह सर्व वेद सम्मत वाक्य है। उपनिषद्-वाक्यों में प्रायः सर्वत्र 'ब्रह्म' शब्द पाया जाता है। वही ब्रह्म पूर्णावस्था में स्वयं भगवान है।

श्रीशंकराचार्य के निर्विशेषवाद का खण्डन करके श्रीमन् महाप्रभु ने यह भी कहा है कि श्रुतियों में परब्रह्म को 'अपाणिपाद' आदि कहकर बाद में उनके शीघ्र गमन और सर्वग्रहण धर्म की जो स्थापना की गई है, उस से यही समझना चाहिए कि परब्रह्म के प्राकृत हस्त-पद नहीं हैं किन्तु अप्राकृत हस्त-पद हैं। श्रुति परमार्थ-विद्यालय का प्रारंभिक पाठ है। इस प्रारंभिक पाठ को अतिक्रम करके कोई भी इससे ऊँचे विचार के पाठ की शिक्षा नहीं प्राप्त कर सकता। A, B, C, D आदि वर्ण-परिचय

अथवा Word Book के शब्द समूह Post Graduate study के समय में भी काम में आते हैं अवश्य, परंतु उस समय उन सबों का तात्पर्य भिन्न रूप से प्रकाशित होता है। पुनः पुनः प्राकृत निषेध करना अर्थात् जड़ विलास चिद् विलास नहीं है, इसे भलीभाँति समझाना ही श्रुतियों का मुख्य उद्देश्य है। यह प्राकृत निषेध का कार्य परमार्थ-विद्यालय के उच्च से उच्च पाठ की नींव छोड़कर और कुछ नहीं है। इसीलिए श्रीमन्महाप्रभु ने सविशेष तत्त्व के वर्णन में सर्वदा "अप्राकृत" शब्द का ही प्रयोग किया है। वास्तव में श्रुति की मुख्य वृत्ति में सविशेष और लक्षणा या गौण वृत्ति में निर्विशेष-विचार प्रदर्शित हुआ है।

तीसरा प्रश्न—अन्यान्य हिन्दूधर्म और ईसाई मत से श्रीचैतन्यप्रचारित धर्म की भिन्नता कहाँ पर है?

भारतवर्ष में प्रचलित आधुनिक हिन्दू-धर्म-मत और ईसाई मत से श्रीचैतन्य-प्रचारित धर्म की भिन्नता कहाँ पर है? इस प्रश्न के उत्तर में लंडन श्रीगौड़ीय मठ के प्रचारक महोदय ने संक्षेप में निम्नलिखित कई एक बातें कही हैं। उन्होंने कहा कि श्रीमन् महाप्रभु का प्रचारित धर्म हिन्दू-धर्म या अहिन्दू-धर्म की कोई दूसरी शाखा नहीं है। जिन्होंने श्रीचैतन्य के धर्म को हिन्दू-धर्म की आंशिक या साम्प्रदायिक शाखा-विशेष समझ रक्खा है, उनके सम्बन्ध में हमें यही कहना पड़ेगा कि वह श्रीमन् महाप्रभु के बारे में कुछ भी नहीं जानते।

यदि "हिन्दू-धर्म" शब्द किसी प्रादेशिक सम्बन्ध के उद्देश्य से निकला हो और यदि कोई सज्जन "गौड़ीय" शब्द को भी उसी प्रकार प्रादेशिक सम्बन्ध के अन्तर्गत समझते हों तो उस प्रकार के विचार से "गौड़ीय-वैष्णव-धर्म" अथवा "श्रीचैतन्य का धर्म" अपने को बहुत दूर रखता है। जो पंच उपासना के अन्तर्गत कर्माङ्ग के अधीन अनित्य विष्णु के अनित्य उपासक अर्थात् जो अन्त में निर्विशेषवादी अथवा सगुणवादी विद्ध वैष्णव हैं, वही अपने को और दूसरे भी उनको हिन्दू-धर्म की एक शाखा के संकीर्ण-मतवादी वैष्णव के रूप में जानते हैं। परन्तु श्रीमन् महाप्रभु के प्रकृत अनुगत गौड़ीय वैष्णवों में कोई भी उस प्रकार जातीय वैष्णव अथवा हिन्दू-धर्म की शाखा-विशेष के अन्तर्गत साम्प्रदायिक नहीं हैं। वे वेदान्त के वास्तविक भाष्य श्रीमद्भागवत द्वारा प्रतिपादित समस्त चेतन जीवों का नित्यधर्म अथवा सनातनधर्म भगवद्भक्ति जो कि नित्य उपाय और उपेय, साधन और साध्य है, उसी के एक मात्र याजक हैं।

भारत में प्रचलित अन्यान्य आधुनिक धर्म मत न्यूनाधिक कर्म, ज्ञान, योग आदि अभक्ति मार्ग अर्थात् अचेतन देह और मन के धर्म को ही अपना आत्मा धर्म समझते हैं और भक्ति के सम्बन्ध में उनके जो विचार हैं अर्थात् वे जिसे भक्ति कहते हैं या समझते हैं, वह भी उनके शरीर या मनोधर्म की भाँति और एक धर्म या वृत्ति स्वरूप है। इसी लिए वे भक्ति को कर्म, ज्ञान और योग के बराबर न मानने में संकीर्णता या अनुदारता समझते हैं। वास्तव में "चरम में निर्विशेष" ऐसी भित्ति के मूल से ही समन्वयवाद की प्रारंभिक उदारता की भुवनमोहिनी इन्द्र जाल-विद्या की उत्पत्ति हुई है। किन्तु जिन्होंने परमेश्वर के नित्य निर्गुण अर्थात् अप्राकृत सविशेषत्व की कथा श्रवण की है, वे सर्वदा ही श्रुति-मंत्रोक्त "असमोर्द्ध" नामक एक तत्त्व को अवश्य स्वीकार करेंगे। उस तत्त्व के समान अथवा उस तत्त्व से ऊँचा और भी कुछ हो सकता है, इस प्रकार की अवैदिक उदारता दिखाकर वे सभी मतों को समान नहीं बना सकते।

संख्याधिक्य का साम्यवाद—जिसने कि पाश्चात्य-प्रदेश में दूसरी मूर्ति से आत्मप्रकाश किया है, उसी का विकृत संस्करण नाममात्र के समन्वयवाद की भुवनमोहिनी देवी बनकर गणगड्डलिका (भेड़िया धसान) की माता का स्नेह दिखाने के छल से राक्षसी का काम कर रहा है। प्रच्छन्न नास्तिकता आस्तिकता का झगड़ा फहराकर डंके की चोट से लोगों को भुलावा दे रही है। अत्यंत असाम्प्रदायिकता 'उदारता' के भेष में लोगों को धोखा दे रही है। श्रीचैतन्य के साथ आनुकरणिक प्रतियोगिता करते

हुए Apotheosis का अभाव हो बन गया है। श्रीचैतन्य देव ने अथवा उनके प्रकृत भक्तों ने कदापि Apotheosis को नहीं माना है। Zoomorphism, Anthropomorphism, Iconoclasticism, Iconography, Idolatry, Psilanthropy, [illegible] आदि समस्त मत श्रीचैतन्य देव प्रचारित सिद्धान्त की अलौकिक समुज्ज्वल प्रभा से उल्लू की भाँति सर्वदा ही दूर रहते हैं।

चेतन की अर्थात् निर्मल जीवात्मा की एकमात्र नित्यवृत्ति, स्वभाव अथवा धर्म भक्ति ही है। उसकी तुलना में देह और मन की वृत्ति, स्वभाव अथवा धर्म जो कर्म, ज्ञान, योग आदि हैं वे कदापि एक नहीं हो सकते, इसी को श्रीचैतन्य देव ने ऊँचे स्वर से प्रकाशित किया है, और वर्तमान काल में श्रीगौड़ीय मठ भी उसी का प्रचार कर रहे हैं। देह और मन आत्मा के साथ एक हैं, यह मान लेने पर जिस संसार में प्रायः प्रतिशत सौ व्यक्ति ही देह और मन के पुजारी बने बैठे हैं, उस संसार में प्रायः सभी का मनोरंजन होता है, और वोट लेने पर उन्हीं में इनकी उदारता का समर्थन भी होता है, किन्तु यथार्थ में "देह और मन के साथ आत्मा की समानता नहीं होती।" केवल इसी का कीर्तन करने की जिस श्रुति की प्रवृत्ति है उसी श्रुति-देवी का अपमान होता है। अतएव नाममात्र के समन्वयवाद से यहीं पर श्रीगौड़ीय मठ की भिन्नता पायी जाती है। श्रुति में निर्विशेष स्वीकार रूप अत्यंत कट्टरता या वेद विरुद्ध अपसम्प्रदायिकता को स्वीकार कर नित्य सच्चिदानंद भगवद् विग्रह के अप्राकृत हस्त, पद, चक्षु और कर्ण आदि के हन्ता न होने से अर्थात् स्वराट परमेश्वर की स्वेच्छाचारिता के अस्तित्व को नष्ट करने की चेष्टा न करने से नाममात्र के समन्वयवाद की स्थापना किसी भी प्रकार नहीं की जा सकती, इसी लिए जो श्रुति के विचार से सविशेष परब्रह्म के असम्यक् निर्विशेषभाव, आंशिक परमात्मभाव, पूर्ण भगवद्भाव और यथाक्रम चित् लीला मिथुन लीला पुरुषोत्तम-तत्त्व की पूर्णतम सेवा स्वीकार करके यथार्थ समन्वय की विशुद्ध रूढ़ि को प्रकाशित करते हैं, उनकी विशेषता सर्वदा ही रहेगी। अतएव हम सब कर्म, ज्ञान योग आदि मतों को भक्ति के समान अथवा उससे ऊँचे नहीं बता सकते। कर्म, ज्ञान और योग आदि धर्म कदापि परमेश्वर को स्वराट लीला पुरुषोत्तम या Transcendental Despot नहीं कह सकते। कर्म सकाम हो या निष्काम, उसके साथ देह या जड़ का संस्पर्श और दूर से कुछ न कुछ अर्पण की चेष्टा-मात्र वर्तमान है। उसमें साक्षात् विशुद्ध पूर्णचेतन की सेवा का स्पर्श नहीं है। ज्ञान में बस इतनी योग्यता है कि वह निर्विशेष तक पहुँचा देता है और अपने को असीम, अनंत, आदि अंत दिगविदिग-शून्य एक अवस्था में लीन कर देता है। परमेश्वर की स्वतन्त्र शक्तिमत्ता वहाँ पर शून्य हो जाती है। एकमात्र आत्मवृत्ति भक्ति ही निरंकुश स्वेच्छामय स्वराट पुरुषोत्तम को साक्षाद्भाव से स्पर्श करके अप्राकृत सर्वांग द्वारा सर्वदा परमेश्वर के अप्राकृत सर्वांगों की सेवा कर सकती है।

ईसाईधर्म और गौड़ीय वैष्णवधर्म

ईसाई धर्म में आस्तिकता का अंकुर दिखाई पड़ता है अर्थात् उसमें सविशेष भगवत् तत्त्व को स्वीकार किया गया है। आस्तिकता ही अखिल रसामृत के प्रेम कल्पतरु के रूप में श्रीगौड़ीय वैष्णव धर्म में व्याप्त या पल्लवित है। हम गौड़ीय वैष्णव-धर्म को "Extended Theism" कह सकते हैं। 'परमेश्वर परम पिता' या "परमेश्वर के पुत्र" प्रभृति विचारों में सम्भ्रमयुक्त दास्य-रस-मात्र अर्थात् सेवा-भाव-मात्र वर्तमान है। परमेश्वर को पिता के स्थान में स्थापित करने पर हमें उनसे अपनी आवश्यक वस्तुओं के लिए प्रार्थना करने का सुअवसर मिलता है। लौकिक संसार में भी देखा जाता है कि माता पिता सन्तानों के आश्रयस्थल होकर बालबच्चों का पालन पोषण करते हैं और उन्हें आवश्यक वस्तु देते रहते हैं। ऐसी दशा में सन्तानों को ही माता पिता से सेवा कराने का अधिक सुअवसर मिलता है। वे अपने माता पिता की कोई विशेष सेवा नहीं कर पाते। यद्यपि प्रायः यह विचार

किया जाता है कि भविष्य में सन्तान माता-पिता की सेवा करेंगे। परन्तु फिर सन्तान के प्रति माता-पिता की सेवा सर्व प्रथम निश्चित है और माता-पिता के प्रति सन्तान की भावी सेवा अनिश्चित है। इसलिए परमेश्वर के प्रति पितृत्व विचार—जो कि ईसाई धर्म में माना गया है, उसमें परमेश्वर का अप्राकृत, नित्य, ऐश्वर्य-गम्भीर पुरुत्व अर्थात् नन्दनन्दनत्व परमेश्वर के प्रति अधिकतर भाव से विश्रम्भ-सेवा की चमत्कारिता में अधिष्ठित है। माता-पिता पुत्र के जन्म के पहिले से ही पुत्र के सेवक होते हैं और पुत्र माता-पिता द्वारा प्रतिपालित होने के बाद अर्थात उनसे सेवा ग्रहण करने के अनेक दिन पश्चात् आंशिक और अनिश्चित भाव से उनकी सेवा करने की योग्यतामात्र प्राप्त करते हैं। अतएव परमेश्वर के प्रति पितृत्व अथवा मातृत्व की भावना स्थापित करने के बदले सेवक का पितृत्व या मातृत्व में अवस्थान करना कहीं अधिक सेवा-सम्बन्ध-मूलक है। "चाहना" और "पाना" आदि जितने भाव हैं, वे सब यदि परमेश्वर के अवस्थान में अवस्थित रहें, तभी सच्ची सेवा अर्थात् सेवनीय पुरुष की इन्द्रिय-तृप्ति-कर अनेक वस्तुओं को इकट्ठा करने का सौभाग्य प्राप्त होता है। और यदि "चाहना" "पाना" आदि जीव अथवा सेवक के अवस्थान में इकट्ठे हो गये, तो फिर सेवा में न्यूनता आ जाती है। अप्राकृत सेवा के विश्वास में परमेश्वर को पालनीय ज्ञान से और उनकी अप्राकृत सर्वांगों के द्वारा अप्राकृत सेवा करने की कथा श्रीचैतन्यदेव का ही विशेष दान है। जब तक स्वयं श्रीकृष्ण श्रीचैतन्यदेव के रूप में आविर्भूत नहीं हुए, तब तक यह कथा किसी भी देश में किसी भी समय प्रकाशित नहीं हुई।

चौथा प्रश्न—अन्याभिलाष पर तपस्या और भगवद्भक्ति में क्या अन्तर है?

महामान्य मार्क्विस आव लोदियान ने किसी व्यक्ति विशेष की तपस्या के सम्बन्ध में स्वामीजी महाराज के विचार जानने के इच्छुक हुए। शास्त्रों के विचारों का उल्लेख करते हुए उस सम्बन्ध में स्वामीजी महाराज ने कहा, "तपस्या और भक्ति दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। तपस्या हरि-सेवा का अंग नहीं है यही श्रीचैतन्यदेव और श्रीमद्भागवत का मत है:—

ज्ञान और वैराग्य ये, नहीं भक्ति के अंग।
नियम, अहिंसा यम प्रभृति, रहें भक्त के संग॥
(चै० च० मध्य २२। १४१)

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥
(भा० ११।२०।३१ श्लोक)

बहुधा आस्तिकता रहित अद्वैत-प्रकृति के व्यक्तियों को भी कठोर तपस्या, यम, नियम उपवास आदि कष्टसाध्य शारीरिक क्लेशों को सहन करते हुए देखा गया है। किन्तु वह सब प्राकृत छोड़कर और कुछ नहीं है। भगवद्भक्ति सम्पूर्ण प्राकृत गंध रहित अप्राकृत कर्म है। वह तो केवल स्वराट् लीला पुरुषोत्तम की इन्द्रिय-तोषणमयी चेतन वृत्ति है।

उत्तरों को सुनने पर महामान्य लोदियन की उक्ति

कहने की आवश्यकता नहीं कि श्रीगौड़ीय मठ के प्रचारक के मुख से दीर्घकालव्यापी उन सब प्रश्नों का उत्तर पाकर महामान्य मार्क्विस आव लोदियन ने विशेष हर्ष प्रकट किया और उन सब यथार्थ-तत्त्व की बातों द्वारा पाश्चात्य देशों में नवीन जागृति उत्पन्न करने में विशेष भाव से सहायता पहुँचाने के लिये वचन भी दिया। महामान्य लार्ड लोदियन की शेष उक्ति उन्हीं के शब्दों में दी जाती है:—"There is much of materialism in this country and if you can awaken the soul of Great Britain to a standard of religiousness you can help us a good deal. I think this country now needs a touch of religious awakenment."

सुना जाता है कि ये सब बातें विलायती और भारतीय भिन्न भिन्न संवाद-पत्रों में प्रकाशित हुई हैं। गत २२वीं जून १९३३ के अंग्रेजी दैनिक 'Advance' पत्र में लंडन से भेजे हुए संवाद में भी यही बातें संक्षेप में प्रकाशित हुई थीं।

महामान्य मार्क्वीस ऑव जेटलैण्ड के प्रश्न

महामान्य मार्क्वीस ऑव जेटलैण्ड महोदय ने लण्डन गौड़ीयमठ के प्रचारक से (१) "त्रिदण्ड-संन्यास" (२) गौड़ीय-वैष्णवधर्म और (३) श्रीश्रीविश्व वैष्णवराजसभा के वर्तमान पात्रराज ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद के विलायत आगमन के सम्बन्ध में प्रश्न किये और बहुत देर तक उन सब प्रश्नों के उत्तर सुनकर उन्होंने बड़ा हर्ष प्रकट किया। महामान्य मार्क्वीस ऑव जेटलैण्ड ने भी कर्मी, ज्ञानी, योगी, अन्याभिलाषी और भगवद्भक्तों के पार्थक्य की बातों को लण्डन-श्रीगौड़ीय-मठ के प्रचारक से सुनने का अवसर प्राप्त किया था।

आचार्य श्रीरामानुज

शक सम्वत् की दशवीं सदी के पहिले भाग में मद्रास से लगभग तेरह कोस पश्चिम की ओर श्रीपेरमबत्तूर या श्री-महाभूतपुरी नामक गाँव में धर्मशास्त्र के प्रणेता हारीत के वंशधर केशवाचार्य नामक एक द्राविड़ ब्राह्मण रहते थे। केशव और उनकी पत्नी कान्तिमती दोनों ही सदाचार सम्पन्न और सद्गुणों से विभूषित थे। एक समय पुत्र की कामना से कैरविणी-सागर-संगम में स्नान करके उन्होंने श्रीभगवान् के निकट अपने अपने मन के दुःख को प्रकट किया। भगवान् श्रीकृष्ण ने "मन की कामना पूर्ण होगी" कहकर उन दोनों को धीरज बँधाया।

इस समय सनातन-वैष्णव-धर्म का क्षेत्र भारतवर्ष भक्ति विरोधी जन-समूह से खचाखच भरा हुआ था। परम मंगलमय श्रीविष्णु भगवान ने जीवों को इस महाविपद् से उद्धार करने के लिए अपनी संकर्षण-शक्ति को, विष्णु विरोधी भावों से डूबे हुए देश में भेजने का संकल्प किया। सदाचारनिष्ठ केशवाचार्य दीक्षित और भगवद्भक्ति-परायणा श्रीकान्तिमती का आश्रय ग्रहण करके महाभूतपुरी ग्राम में शक सम्वत् ६३८ चैत्र शुक्ल पंचमी तिथि को आर्द्रा नक्षत्र बृहस्पतिवार दिन में दोपहर के समय भगवान् की इच्छा से संकर्षण शक्ति ने अवतार ग्रहण किया। किसी किसी का मत है कि ईसवी बारहवीं सदी के मध्यभाग में केशवाचार्य को पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ था।

कान्तिमती, प्रसिद्ध दिव्यसूरि श्रीयामुनाचार्य के प्रधान शिष्य श्रीशैलपूर्ण की बड़ी बहन थीं। श्रीशैलपूर्ण श्रीरंगम में रहते थे। कान्तिमती को एक पुत्र रत्न प्राप्त हुआ है सुनकर, वे उसे देखने के लिए आये और बालक में राम के भाई लक्ष्मण के समान लक्षणों को देखकर उन्होंने उसका नाम "लक्ष्मण" रख दिया।

अत्यन्त शिशु अवस्था से ही लक्ष्मण में सुतीक्ष्ण बुद्धि और अपूर्व प्रतिभा दिखाई पड़ने लगी। बचपन में ही लक्ष्मण का भगवद्भक्ति के प्रति यथेष्ट अनुराग विशेषकर वैष्णव-संगम तथा वैष्णव-सेवा में असाधारण प्रेम दिखाई पड़ने लगा।

कांचिपूर्ण नामक एक परम भागवत कांचि-नगरीस्थ श्रीवरदराज (विष्णु भगवान् की मूर्ति) के एकनिष्ठ सेवक थे। कांचिपूर्ण वैष्णवों की जाति-पाँत की निरर्थकता प्रचार करने के लिए कृपा पूर्वक नीच शूद्र वंश में आविर्भूत हुए थे। ये परम भागवत प्रतिदिन श्रीवरदराज की पूजाविधान करने के लिए अपनी जन्मभूमि पूनामेलि से कांचिपुरी आते थे। कांचि नगरी जाते समय उन्हें केशवाचार्य के घर के समीप से जाना पड़ता था। कांचिपूर्ण को देखते ही बालक लक्ष्मण ने निश्चय कर लिया कि ये परम वैष्णव हैं, इसलिए उनकी सेवा के लिए वे व्याकुल होने लगे। एक दिन उन्होंने बिना अपने माता-पिता से पूछे कांचिपूर्ण को भिक्षा

ग्रहण करने के लिए निमंत्रित कर दिया। कांचिपूर्ण को भली भाँति भोजन करा चुकने पर लक्ष्मण बड़े उत्साह के साथ उनकी चरण-सेवा करने को तैयार हुए। उत्तम ब्राह्मण सन्तान लक्ष्मण का ऐसा बर्ताव देखकर कांचिपूर्ण ने वैष्णवोचित दीनता प्रकट करते हुए कहा, "मैं बहुत ही अधम शूद्र हूँ। ब्राह्मण-संतान लक्ष्मण के लिए शूद्र-सेवा शोभा नहीं देती। ऐसा कार्य सर्वथा अनुचित है।" यह सुनकर लक्ष्मण ने बड़े दुःख के साथ कहा, "प्रभो! वैष्णव कदापि शूद्र नहीं हैं। वास्तव में वैष्णव ही ब्राह्मणों के गुरू हैं। देखिये, 'तिरुप्पान आलोयार' चंडाल वंश में जन्म लेने पर भी ब्राह्मणों के पूजनीय हुए थे।" इस प्रकार की वैष्णवोचित सद्बुद्धि अथवा वैष्णवों के प्रति अप्राकृत बुद्धि के आदर्श लक्ष्मण में बचपन से ही दिखाई पड़ते थे।

किशोरावस्था पार करते ही द्रविड़-कुल-तिलक लक्ष्मण ने माता-पिता के आग्रह से विवाह कर लिया। पुत्र को गार्हस्थ्याश्रम में स्थित देख केशव दीक्षित ने मायामय संसार को त्याग कर दिया। पिता की परलोक-प्राप्ति होने के बाद कुछ समय तक आप सपत्नीक अपनी माता के समीप रहे। इसी समय आपके हृदय में शास्त्राध्ययन की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई। श्रीकांचिपुरी में श्रीयादवाचार्य नामक एक अध्यापक थे। वेदान्त शास्त्र के वे विशिष्ट ज्ञाता थे, इसीलिए उनके यहाँ जाकर लक्ष्मण ने वेदान्त का पाठ आरंभ कर दिया। कांचिपुरी मोक्षदायिनी सप्तपुरियों में से एक है और भूतपुरी के निकट ही अवस्थित है। कांचि का वर्तमान नाम कंजिभिराम है। यह नगर मद्रास से पश्चिम बारह कोस की दूरी पर है। चोल राजाओं के राज्यकाल में कांचिपुरी विद्या-शिक्षा का केन्द्र, सरस्वती समार्चना की पीठ और दक्षिणी भारत की श्रेष्ठ नगरी थी।

गुरू की यथाविधि सेवा करते हुए जिस समय लक्ष्मण वेदान्त पाठ कर रहे थे, उसी समय एक दिन मंत्र-शास्त्र के पण्डित यादवाचार्य, ब्रह्मराक्षस से सतायी गई कांचिराज-कुमारी को प्रेत से छुटकारा दिलाने के लिए कांचिराज द्वारा राजमहल में बुलाये गये। राजमहल में जाकर यादवाचार्य ने अपने सभी मंत्रों का प्रयोग कर डाला परन्तु राजकुमारी की प्रेत बाधा दूर न हुई। जब वे थक गये तब ब्रह्म-राक्षस ने नाना प्रकार तिरस्कार करते तथा भय दिखाते हुए कहा कि यादव पूर्व जन्म में गोसर्प (एक प्रकार का सांप) थे। अनजान अवस्था में उन्होंने वैष्णव का जूठा भोजन कर लिया था जिसके पुण्य प्रताप से इस जन्म में ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए हैं। इतना कहकर उसने अपनी इच्छा प्रकट की और कहा, "यादव के शिष्य श्रीलक्ष्मण का चरणोदक पाने पर मैं राजकुमारी के शरीर को त्याग करके चला जाऊँगा।" तदनुसार श्रीलक्ष्मण ने राजकन्या देहाश्रित प्रेत पर कृपा की। वह प्रेत-योनि से मुक्त हो गया। राजकुमारी भी चंगी हो गई। इस घटना से दुःखी होकर यादवाचार्य अपने शिष्य लक्ष्मण के प्रति विद्वेष भाव धारण करने लगे।

एक दिन सबेरे के समय श्रीलक्ष्मण, अपने अध्यापक के शरीर में तेल की मालिश कर रहे थे। इसी समय यादवाचार्य के समीप एक विद्यार्थी आ पहुँचा और छान्दोग्योपनिषद् के "तस्य यथा कप्यासं पुंडरीकमेवमक्षिणी" (१-६-७) मंत्रांश से कप्यासं शब्द का अर्थ पूछने लगा। अपने पूर्वाचार्य श्रीपाद शंकर की व्याख्या के अनुसार यादवाचार्य ने 'कप्यासं' शब्द का कपि का आसन अर्थात् बन्दर की पिछाड़ी या अपान देश ऐसा अर्थ किया। कप्यासं शब्द का यह अर्थ मान लेने से श्रुति के मंत्रांश का तात्पर्य इस प्रकार होता है—"उस हिरन्मय-पुरुष के दोनों नेत्र बन्दर के अपान देश के सदृश लाल कमल के समान हैं।" अध्यापक को इस प्रकार अर्थ का अनर्थ करते हुए देख श्री-लक्ष्मण बहुत ही दुःखी हुए। उनकी आँखों ने आँसुओं की धारा बहाकर मार्मिक वेदना की अधिकता का परिचय दिया। श्रीलक्ष्मण अपने अध्यापक की सेवा कर रहे थे। हृदय के दुःखानल की सूचना देने वाले गर्म आँसुओं के दो बूँद अज्ञात अवस्था में उनपर भी टपक पड़े। बिना किसी कारण लक्ष्मण को सहसा आँसू बहाते हुए देख

अध्यापक ने रोने का कारण पूछा। लक्ष्मण ने कहा, "आपने "कप्यासं" श्रुति मंत्रांश की जो व्याख्या की है उसमें मेरे हृदय में भयंकर चोट लग गई है। पुंडरीकाक्ष श्रीविष्णु भगवान के नेत्रों की लालिमा की बन्दर के निम्नभाग की लालिमा से तुलना करना अपराध की चरम-सीमा का परिचायक है।" लक्ष्मण के इस कथन को सुनकर यादवाचार्य भयानक क्रोध करते हुए बोले- मूर्ख! तुम आचार्य शंकर की व्याख्या पर दोषारोपण करना चाहते हो न? इतना साहस! यदि तुममें सामर्थ्य हो, तो इससे उत्तम व्याख्या कर दिखाओ।" श्री लक्ष्मण ने "कप्यासं" शब्द का अर्थ बन्दर का अपानमार्ग अथवा अधोभाग न करके उसे इस प्रकार कह सुनाया—"कं जलं पिबति इति कपिः सूर्यः और अस् धातु विकसित होने के अर्थ में है; इस लिए 'आस' शब्द का अर्थ हुआ 'विकसित' अतएव 'कप्यासं' शब्द का अर्थ 'सूर्य विकसित' 'कप्यासं' का अर्थ इस प्रकार होनेपर श्रुति मंत्रांश का तात्पर्य ऐसा होता है—'श्रीविष्णु के दोनों नेत्र सूर्य-विकसित कमल के समान हैं।'' इस प्रकार लक्ष्मण का अर्थ सुन कर यादवाचार्य ने मुख से तो कह दिया कि यह मुख्यार्थ नहीं है गौणार्थ है परंतु मन ही मन विचारने लगे कि यह साधारण बालक नहीं है। आगे चल कर यही शंकराचार्य के स्थापित किये हुए मत का परम शत्रु हो जायगा।"

और एक दिन जब यादवाचार्य शंकराचार्य के भाष्य का सहारा लेकर तैत्तिरीयोपनिषद् के "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" (आनंदवल्ली १) मंत्रांश की व्याख्या कर रहे थे; लक्ष्मण ने उस प्रकार निर्विशेष पर ब्रह्म की व्याख्या में अनेक प्रकार की त्रुटियाँ दिखा कर परब्रह्म का सविशेषत्व स्थापित कर दिया। इस प्रकार बार बार शिष्य से अपमानित हो तथा उसे अपने सम्प्रदाय का भावी शत्रु समझ कर यादवाचार्य ने लक्ष्मण का वध कराने के लिए एक षड्यंत्र रचा। एक दिन उन्होंने त्रिवेणीस्नान का प्रस्ताव उपस्थित किया। लक्ष्मण को भी आज्ञानुसार स्नानयात्रा की तैयारी करनी पड़ी। यादवाचार्य का उद्देश्य सिद्ध हुआ; क्योंकि उनकी यह इच्छा थी कि रास्ते में वे लक्ष्मण को जंगली हिंसक जीवों का भोजन बनाकर उसका वध करायें। निश्चित तिथि को गंगास्नान करने के लिए यादवाचार्य के साथ लक्ष्मण चल पड़े। काँची से प्रयाग आते समय विंध्याचल के निकट उनके मौसेरे भाई तथा यादवाचार्य के शिष्य गोविन्द ने अपने गुरु की पाप इच्छा का हाल लक्ष्मण को कह सुनाया और सलाह दी कि अपने प्राणों की रक्षा के लिए यहाँ से भाग जाय। यादव के षड्यंत्र से रक्षा पाने के लिए लक्ष्मण ने सीधे मार्ग को छोड़ दिया और पगडंडियों, खाई खन्दकों आदि को पार करते हुए एक साँस से भागने लगे। थक जाने पर एक पेड़ का आश्रय ले कर बैठ गये। उस समय मूसलधार पानी बरस रहा था। यादव और उनके साथी बड़े कष्ट में पड़े हुए थे। गोविन्द को अकेले आते हुए देख यादवाचार्य ने उनसे लक्ष्मण के बारे में पूछा। गोविन्द ने कहा, लक्ष्मण पहिले ही चले आये हैं। इसलिए मैं भी यहाँ आ पहुँचा हूँ।" यादवाचार्य की आज्ञा के अनुसार शिष्यों ने लक्ष्मण को इधर उधर खूब ढूंढ़ा, पर कहीं पता न चला। यादवाचार्य को निश्चय हो गया कि लक्ष्मण अब इस संसार में नहीं है, अतएव उन्होंने भी अपने को कृतकृत्य समझ लिया।

इधर श्रीलक्ष्मण पेड़ के नीचे बैठे श्रीभगवान का नाम स्मरण कर रहे थे। थोड़ी ही देर बाद उन्हें एक व्याध और उसकी स्त्री दिखाई पड़ी। उन दोनों को लक्ष्मण ने अपना साथी समझ लिया और उन्हीं के साथ चल पड़े। सन्ध्या के समय किसी पेड़ के नीचे आश्रय लेकर विश्राम करने पर व्याध की स्त्री ने अपने पति से कहा, "मुझे बड़ी प्यास लगी है। यदि थोड़ा जल मिल जाता तो बहुत ही अच्छा होता।" व्याधपत्नी की बात, सुनकर श्रीलक्ष्मण जल लाने के लिए तैयार हो गये, लेकिन रात का समय होने के कारण व्याध ने उन्हें जाने से रोक लिया। किसी तरह रात बीती। ज्यों ही सबेरा हुआ व्याध ने लक्ष्मण से जल लाने के लिए कहा। लक्ष्मण उठ पड़े और निकटवर्ती बावली से अंजुलि भर भर कर तीन बार

जल लाये। व्याधपत्नी की आत्मा तृप्त हो गई। चौथी बार अंजलि भर कर बावली के ऊपर आते ही लक्ष्मण ने देखा कि व्याध दम्पति का कहीं पता नहीं है। इससे अधिक आश्चर्य की बात यह थी कि विकट जंगल के स्थान में समीप ही उन्हें मनुष्यों के घर और रास्ते दीख पड़े। पथिकों से पूछने पर पता चला कि वे अभीष्ट कांचिपुरी में ही आ पहुँचे हैं। लक्ष्मण ने आदि से लेकर अन्त तक कुल घटना परम भागवत कांचिपूर्ण को कह सुनायी। सुनकर कांचिपूर्ण ने कहा—"स्वयं लक्ष्मीनारायण ने ही व्याध-दम्पति के रूप में आकर तुम्हारी रक्षा की है और तुम्हारा दिया हुआ तीन अंजलि जल-पान करके तुम्हारी सेवा को ग्रहण किया है।" इतना कहकर कांचिपूर्ण ने उसी बावली के जल से प्रति दिन श्रीवरदराज की सेवा करने के लिए लक्ष्मण को विशेष रूप से उपदेश दिया।

इधर यादव भी अपने शिष्यों के साथ कांचिपुरी लौट आये। यहाँ पर लक्ष्मण को देखकर उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उन्होंने ऊपरी हर्ष प्रकट करते हुए लक्ष्मण से दुबारा पढ़ने के लिए आने को कहा। लक्ष्मण भी भविष्य में गुरु पर कृपा करने की इच्छा से दिखावटी ढंग से सहमत हो गये।

धीरे धीरे लक्ष्मण की ये बातें चारों ओर फैलने लगीं। श्रीरंगम में दिव्यसूरि श्रीयामुनाचार्य ने भी लक्ष्मण की वैष्णवी प्रतिभा की कहानी सुनकर यह निश्चय कर लिया कि भविष्य में लक्ष्मण ही वैष्णव-सम्प्रदाय के संरक्षक होंगे। थोड़े ही दिनों के बाद श्रीवरदराज के दर्शन करने की इच्छा से वे कांचिपुरी में आये और यादवाचार्य के साथ लक्ष्मण को देख कर बहुत प्रसन्न हुए, किन्तु उन्होंने न तो लक्ष्मण को पुकारा और न अपने भावों को प्रकट ही किया। चुपचाप अपने नगर को लौट गये। वहाँ पहुँच कर वे लक्ष्मण को अपने मत में लाने का उपाय सोचने लगे। अन्त में उन्होंने अपना रचा हुआ स्तोत्र-रत्न, कांचिस्थ श्रीवरदराज के समीप पाठ करने के लिए अपने शिष्य पूर्णाचार्य को भेज दिया। श्रीवरदराज के मंदिर में पूर्णाचार्य के मुख से यामुनाचार्य का रचा हुआ "स्तोत्र रत्न" सुनकर श्री लक्ष्मण यामुन मुनि के दर्शनों के लिए व्याकुल हो उठे। पूर्णाचार्य भी श्री लक्ष्मण को बड़े आदर के साथ लेकर रंगक्षेत्र की ओर चल पड़े किन्तु रास्ते में ही यामुनाचार्य के अप्रकट होने का समाचार सुनकर बहुत ही दुःखी हुए। उनका सारा उत्साह जाता रहा। श्रीयामुनाचार्य का चिदानन्द शरीर कहीं स्मार्त ब्राह्मणों से छू न जाय इसी आशंका से भीषण वियोग की यंत्रणा में भी निज को तथा लक्ष्मण को किसी प्रकार धीरज बँधाकर पूर्णाचार्य श्रीयामुनाचार्य की देह के समीप आ उपस्थित हुए।

श्रीलक्ष्मण ने देखा कि यमुनाचार्य की तीन अँगुलियाँ टेढ़ी हो गई हैं। उन्होंने अपनी प्रतिभा से समझ लिया कि इस महात्मा की संसार का विशेष मंगल करने वाली कोई तीन मनोकामनाएँ अपूर्ण रह गई हैं। जाँच करके उन तीनों मनोकामनाओं को जान लेने पर लक्ष्मण ने समस्त जनता के सामने प्रकाश्यरूप से पहिली प्रतिज्ञा करते हुए कहा, "मैं श्रीवैष्णव मत में स्थिर रह कर अज्ञान-मोहित जीवों को पंचसंस्कार-सम्पन्न, द्राविड़-वेदकथाओं में पारदर्शी और सर्वदा प्रपत्ति-धर्म में निरत होने वाले बनाऊँगा।" इतना कहते ही श्रीयामुनाचार्य की टेढ़ी अँगुलियों में से एक सीधी हो गई। लक्ष्मण ने दूसरी प्रतिज्ञा करते हुए कहा, "सांसारिक जीवों का कल्याण करने के लिए मैं परम तत्त्व का संग्रह करता हुआ वेदान्त-सूत्र की श्रीभाष्य रचना करूँगा।" इस प्रतिज्ञा के करते ही यामुनाचार्य की दूसरी अँगुली सीधी हो गई। लक्ष्मण ने तीसरी प्रतिज्ञा करते हुए कहा, पराशर ऋषि ने जीव और ईश्वर आदि के स्वभाव और उपायों को प्रकट करते हुए जिस पुराण-रत्न की रचना की है मैं उसी का कोष तैयार करूँगा।" बस इतना कहना था कि यामुनाचार्य की तीसरी अँगुली भी सीधी हो गई। लक्ष्मण की इस अलौकिक शक्ति को देखकर दर्शकों को बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने लक्ष्मण को ही समस्त वैष्णव-सम्प्र-

दाय का एक मात्र भावी संरक्षक मानलिया ।

काञ्चिपुरी में आकर लक्ष्मण यामुनाचार्य के शिष्य कांचिपूर्ण के परम प्रेमी हो गये । यह तो पहिले ही कहा जा चुका है, कि वैष्णव के प्रति नित्य सिद्ध अप्राकृत बुद्धि के दृष्टान्त लक्ष्मण में लड़कपन से ही पाये जाते थे । कांचिपूर्ण के शूद्र होने पर भी लक्ष्मण ने उन्हीं को अपना दीक्षागुरु बनाना चाहा । अपनी इस मनोकामना को पूर्ण करने तथा उनका उच्छिष्ट भोजन खाकर अपने को उनसे दीक्षा ग्रहण करने के योग्य बनाने के उद्देश्य से लक्ष्मण ने बड़े ढंग के साथ कांचिपूर्ण को अपने यहाँ निमंत्रित किया । वैष्णवभक्त कांचिपूर्ण ने भी इसके विरुद्ध एक उपाय सोचा और स्मार्तों के सिद्धान्तों को माननेवाली लक्ष्मण की स्त्री को उलटी-सीधी बातें समझा कर अपने उद्देश्य को पूरा कर लिया । कांचिपूर्ण द्वारा इस प्रकार निरुत्साहित होने पर लक्ष्मण ने उन्हीं से उपयुक्त गुरु की प्राप्ति का उपाय पूछा । कांचिपूर्ण ने लक्ष्मण को विश्वास दिलाते हुए कहा, "मैं सर्वप्रथम इस विषय की चर्चा श्रीवरदराज के समीप करूँगा । उनकी जो आज्ञा होगी वह ज्यों की त्यों तुम्हें सुना दी जायगी । स्वप्न-योग से श्रीवरदराज के आदेश को प्राप्त कर कांचिपूर्ण ने लक्ष्मण से कहा, "श्रीमहापूर्ण (पूर्णाचार्य) ही तुम्हारे गुरु होने के सर्वथा उपयुक्त पात्र हैं ।" इसे सुनकर लक्ष्मण दूसरी बार श्रीरंगम नगर की ओर चल पड़े । रास्ते में ही मधुरा के समीप अग्रहार ग्राम में श्री महापूर्ण से भेंट हो गई । वहीं पर महापूर्ण ने लक्ष्मण को यथा विधि पंच संस्कार सम्पन्न बना दिया । लक्ष्मण को दीक्षा देकर पूर्णाचार्य भी सपरिवार कांचिपुरी में रहने लगे । लक्ष्मण की स्त्री पहिले से ही स्मार्तों की अनुयायिनी थी । एक दिन जब कि वह कुएँ से पानी खींच रही थी उसी समय अचानक पूर्णाचार्य की स्त्री की रस्सी से एक बूंद जल उसके घड़े में टपक पड़ा । अब क्या था ? लक्ष्मण की स्त्री का पारा चढ़ गया । अपने को कुलीन और पूर्णाचार्य की स्त्री को नीच जाति की बताते हुए उसने जो कुछ मुँह में आया वही कह डाला; जिससे कि पूर्णाचार्य की स्त्री को बड़ा ही दुःख हुआ । इन सब बातों को सुनकर महापूर्ण ने कांचिनगर को छोड़ देना ही उचित समझा; जिससे भविष्य में इस प्रकार की अप्रीतिकर घटना संघटित न हो । अतएव निश्चय के अनुसार लक्ष्मण से कहे बिना ही वे चुपचाप रंग-क्षेत्र को चल पड़े । श्रीगुरुदेव के इस प्रकार अचानक चले जाने का कारण जानने के लिये लक्ष्मण उतावले हो गये । जब उन्हें सब घटना मालूम हो गई तब उन्होंने गुरु और वैष्णव का विरोध करनेवाली स्त्री का दुस्संग हमेशा के लिए छोड़ देने का इरादा किया । इसके कई दिन बाद ही लक्ष्मण के यहाँ एक भूखा ब्राह्मण आया । लक्ष्मण की स्त्री ने उसे कोरा ही लौटा दिया । लक्ष्मण के पास आकर उसने उनकी स्त्री के दुर्व्यवहार का हाल कह सुनाया । इस शुभ अवसर को पाकर लक्ष्मण ने ब्राह्मण को भिखारी के रूप में अपनी स्त्री के पास न भेजकर उसके हाथ में एक पत्र, हलदी तथा नया वस्त्र दे दिया और कहा, "आप मेरे घर में जाकर यह सूचित कीजिए कि आप मेरे ससुर के से आये हुए हैं और मेरे साले के विवाह के उपलक्ष में मेरी स्त्री को बुलाने आये हैं ।" ब्राह्मण लौट आया और लक्ष्मण के कहने के अनुसार उनकी स्त्री से कुल बातें कह सुनायीं और पत्र, हलदी तथा नवीन वस्त्र भी उन्हें दे दिये । अबकी बार लक्ष्मण की स्त्री बहुत ही प्रसन्न हुई और उस ब्राह्मण को बड़े आदर के साथ खिलाया-पिलाया । इधर लक्ष्मण भी उपयुक्त समय जानकर घर आये । उनके घर आते ही लक्ष्मण की स्त्री ने ब्राह्मण के प्रस्ताव अर्थात् अपने पीहर जाने की चर्चा छेड़ दी । वे सहमत हो गये और सदा के लिए उसके दुस्संग से छुटकारा पाने के लिए बड़ी चतुरता से बोले, तुम अपने भाई के विवाह के शुभ अवसर पर जा रही हो; इसलिए यह आवश्यक है कि तुम अपने सभी कपड़े और गहने अपने साथ ले जाओ ।" पति की चतुरता न समझ कर वे बहुत ही प्रसन्न हुईं और शृंगार की समस्त वस्तुएँ साथ ले उक्त ब्राह्मण के साथ पिता के घर को चल दीं ।

इधर गुरु और वैष्णव से विद्वेष करने वाली स्त्री के दुःसंग से हमेशा के लिये छुटकारा मिल गया, यह जानकर लक्ष्मण की अन्तरात्मा परम आनन्द का अनुभव करने लगी। वे श्रीवरदराज के समीप यथा शीघ्र जा पहुँचे और साष्टांग प्रणाम करते हुए बोले: "प्रभो! आज से मैं हर प्रकार से आपका ही हो गया। कृपया मुझे स्वीकार कीजिए।" इसके पश्चात् संन्यास के उपकरणों का संग्रह करके श्रीवरदराज की इच्छा के अनुसार अनंत सरोवर के तट पर श्रीलक्ष्मण ने श्रीयामुनाचार्य को स्मरण करके त्रिदण्ड ग्रहण कर लिया।

(क्रमशः)

यह कैसी दया है ?

(१)

मैंने इतिहास में एक कहानी पढ़ी थी। उसमें लिखा था कि गज़नी के सुलतान महमूद देश और विदेश के सभी नगरों तथा गाँवों पर चढ़ाई करते और वहाँ से लूट-मार करके समस्त धन-सम्पत्ति उठा ले जाते। फल यह हुआ कि उनके अधिकार में ऐसा कोई भी गाँव न था, जिसमें उनके अत्याचार का विलक्षण परिचय न मिलता।

एक दिन जब वे अपने मंत्री के साथ घोड़े पर सवार होकर भ्रमण कर रहे थे, उन्होंने देखा कि समीप के एक पुराने पीपल की डाल पर बैठे हुए दो उल्लू आपस में कुछ किचिर मिचिर कर रहे हैं। मंत्री पशु-पक्षियों की भाषा समझते थे। सुलतान ने कौतूहल के वशीभूत होकर और मंत्री की करतूत जानने की इच्छा से पूछा—"मंत्री! ये दोनों उल्लू क्या कह रहे हैं?"

मंत्री—"हुजूर! एक उल्लू के लड़के का विवाह दूसरे उल्लू की लड़की के साथ हो सकता है या नहीं इसी विषय की बातें हो रही हैं।"

सुलतान—"वे कौन सी बातें हैं?"

मंत्री—"लड़के का पिता एक सौ उजड़ गाँव दहेज में माँग रहा है। उत्तर में लड़की का पिता कह रहा है कि जब तक हम लोगों के सुलतान जीवित हैं तब तक उजड़े गाँवों का क्या पूछना है? एक सौ की कौन-सी बड़ी बात है, मैं पाँच सौ उजड़े गाँव दहेज में दूँगा।"

मंत्री के मुख से उल्लू की उक्ति सुनकर सुलतान बहुत ही लज्जित हुए और जीवन में कभी अत्याचार नहीं करेंगे ऐसा संकल्प कर लिया।

बचपन में इस अजीब कहानी को पढ़ते ही मुझ में पशु-पक्षी की भाषा सीखने की एक सनक-सी आ गई थी। जब मैं कुछ बड़ा हुआ, तब एक दिन अचानक घर से निकल पड़ा। चलते चलते बहुत दूर जा पहुँचा। हिमालय के एक बर्फ से ढके हुए जंगल में एक संन्यासी से भेंट हो गई। बहुत दिनों तक उनके साथ रहकर और उनकी कृपा प्राप्तकर मैं पेड़, लता, पशु, पक्षी आदि की भाषा समझने में समर्थ हो गया।

(२)

भादों की पूर्णमासी थी। वर्षा की धारा में डूबे हुए श्रीधरपुर के वक्ष में चाँदनी चमक रही थी। थके हुए ग्राम निवासी पत्तों की झोपड़ियों में नीरवता और शान्ति का अभिनय दिखाकर मन रूपी रथ में चढ़कर कोलाहल और अशान्ति के देश में भ्रमण कर रहे थे। सारा संसार मानों निद्रित सा था। पेड़ों के पक्षी और पालतू जानवर सभी मौन थे। ऐसे ही समय में आधीरात को मैं गोपाल जी के मन्दिर के बँधे हुए घाट पर अकेला ही बैठा हुआ प्रकृति की अनेक विचित्रताओं को देख रहा था। वर्षा की बाढ़ के कारण तालाब लबालब भरा हुआ था। पास ही में हरिहर भट्टाचार्य का तालाब था। दोनों तालाबों में एक संकीर्ण मार्ग द्वारा जल यातायात करता था

परंतु बीच में बाँस की एक छोटी सी टट्टी लगी रहने के कारण तालाब की मछलियाँ नहीं आ जा सकती थीं।

दोपहर के समय घर के बड़े बूढ़ों के काम पर चले जाने के पश्चात जिस प्रकार पड़ोसी स्त्रियाँ खिड़की के पास बैठकर भीतर से ही गाँव की बातें करके विश्राम करती हैं, उसी प्रकार रात्रि की नीरवता में वैरी मनुष्यों की आहट न पाकर गोपाल जी के मंदिर वाले तालाब की एक मछली और भट्टाचार्य महाशय के तालाब की एक मछली एक दूसरे के पास आकर अपने अपने दुःख की कहानी कहने लगीं। मैं भी बड़े ध्यान से उन दोनों की कहानी सुनने लगा।

मन्दिर वाले तालाब की मछली कातला थी और भट्टाचार्य महाशय के तालाबवाली मछली रोहित थी।

कातला—"देखो भाई रोहित ! सुना है कि महन्त महाराज ने किसी एक मल्लाह के हाथ हम लोगों को बेच दिया है। भाई ! सम्भव है कि कल से ही तुम से और मुझसे और कभी भेंट न हो।"

रोहित—"भाई ! कुछ कहने की बात नहीं है। तुम तो कल तक के लिए निश्चिन्त हो परंतु मेरे लिए तो एक घण्टा भी नहीं बाकी। यही जान पड़ता है कि वह आ ही रहा है। वह देखो ! सब भाँति का प्रबंध करके रख गया है। गवरू का लड़का फुद्दू आज ही हम सबों का सत्यानाश करेगा। जो कुछ हो ! मान लिया कि भट्टाचार्य महाशय विषयी आदमी हैं। धन के लोभ में पड़कर उन्होंने हम लोगों को बेंच दिया है, परंतु तुम लोगों के महन्त तो विषयी नहीं हैं। वे तो परम वैष्णव हैं। उन्होंने तुम्हें क्यों बेंच दिया है ? जीवहिंसा करने की उन्हें क्या आवश्यकता थी ? स्वयं तो मछली नहीं खाते और तुम सब उनके आश्रय में हो। आश्रित मछलियों को इस प्रकार निष्ठुरता के साथ धन प्राप्ति के लिए बेंच डाला ? उनमें धन का लालच भी नहीं है। वे जिस से जो कुछ पाते हैं सब श्रीभगवान् की सेवा में लगा देते हैं। स्वयं किसी का भी भोग नहीं करते। उनकी भाँति दयालु तथा परोपकारी मनुष्य और कोई दूसरा नहीं दिखाई पड़ता। फिर भी उन्होंने ऐसा अन्याय कर्म किया !"

कातला—"हाँ भाई ! तुमने जो कुछ कहा है वह ठीक है। किन्तु एक बात है। मैं बहुत दिनों से इस तालाब में रह रही हूँ। महन्त महाराज ने घाट पर बैठ कर सैकड़ों बातें की हैं जिनमें से दो मैंने भी सुनी हैं। वे हैं—"अमन्दोदय दया" और "मन्दोदय दया"। ये बातें तुम्हें बिलकुल नई सी विदित हुई होंगी क्योंकि दया भी कहीं मन्द, अर्थात् अहित करती है ? हम लोगों को तो यही विदित है कि दया सर्वदा ही हित अर्थात् उपकार करती है। क्या दया भी कभी अहित अर्थात् मन्द करते सुनी गई है ? सुनना तो दूर रहा, इसकी कल्पना तक भी नहीं की जा सकती।"

रोहित—"ये क्या ? वह तुम्हें बेंचकर पैसे कमायेंगे और तुम्हारे प्राण जायेंगे यह कैसी दया ? इससे तो हमारे भट्टाचार्य महाशय भले। सीधी तरह हम लोगों को बेच कर दो पैसे कमाते हैं और सुख से अपना जीवन बिताते हैं। इस प्रकार धर्म का ढोल बजाकर ढोंग तो नहीं रचते। हम जब भट्टाचार्य महाशय के तालाब में आई थीं तभी यही निश्चय कर लिया था कि एक न एक दिन अवश्य बेंच डाली जायेंगी। और तुम लोगों ने यह सोच रक्खा था कि "अब तो हम सब मन्दिर के तालाब आ गई हैं और आश्रय पा चुकी हैं अब डर किस बात का ? जब तक जीवन है तब तक जाल में पड़कर तड़पना न पड़ेगा। जीवन शेष होने पर स्वतः इसी तालाब में देह रख जायेंगी।" यही सोच रक्खा था, न ?"

कातला—"यह तो बड़ी ही साधारण बात है। सभी कहते हैं कि निरामिष खाना जीवों के प्रति दया करना है. मछली और मांस न खाना जीवहिंसा से मुँह मोड़ना है। दया का कैसा उत्तम उदाहरण है। अच्छा भाई ! मनुष्य तो यह भी स्वीकार करते हैं न कि केवल मछली ही नहीं, समस्त पेड़ पल्लवों के भी जीव है तो फिर पेड़ पल्लवों को काटने से क्या जीवहिंसा नहीं होती ? हम लोगों का वध करने से जो अपराध है पेड़

पल्लवों को काटने से भी वही अपराध होता है। अतएव केवल शाकादि खाकर जीवन बिताने और मछली तथा अन्य पशुओं का वध न करने से भी अत्यन्त हिंसा और निष्ठुरता का परिचय मिलता है। क्या तुम्हारी समझ में यह बात नहीं आती?

रोहित—बड़े आश्चर्य की बात है। मुझे तो यही जान पड़ता है कि तुम्हारा मस्तिष्क खराब हो गया है। आज नहीं तो कल मल्लाहों के हाथ जीवन देना ही पड़ेगा—जो हमारे प्राण लेगा, हम पर दया कैसे करेगा? दया तो भगवान् के दास ही करते हैं। देखो न; दासों के तालाब की मछलियाँ कभी नहीं बिकतीं उनके प्राण जाने पर भी नहीं। वास्तव में दास बड़े दयालु होते हैं।

कातला—भाई! तुमने जो कुछ कहा वह ठीक ही है परंतु मैं तुमसे यह पूछना चाहता हूँ कि हम लोग तो ऐसे उपादान से बनी हैं जिससे कि मनुष्य हमें पकड़ कर अवश्य खायँगे। यदि जाल में न फँसी तो भी एक दिन मरकर तालाब के जल में उतराने लगेंगी। अब यह बताओ कि जो जाल में पकड़ी गई और जो तालाब के पानी में ही मर गई इन दोनों ने मछली का शरीर या मछली का जन्म पाकर क्या लाभ उठाया? केवल तालाब की मिट्टी, छोटी छोटी मछलियाँ, आदमी का खखार-थूक और सड़ गले मांस को छोड़कर उन्हें और क्या मिला? भाई! अब तुम्हीं बताओ कि हम लोगों का जन्म सर्वथा व्यर्थ हुआ या नहीं? इस शरीर को मनुष्य खाते हैं, खाकर जीभ को तृप्त करते हैं, अपने शरीर को शक्तिशाली बनाते हैं और इन्द्रियों को तृप्त करने के लिए व्याकुल होते हैं। अतएव मनुष्यों की वासना और इन्द्रियों को तृप्त करने के लिए ही हम सबों का जन्म हुआ है। किन्तु तुमने क्या कभी इस बात पर विचार किया है कि इस प्रकार के जन्म द्वारा सर्वश्रेष्ठ वस्तु का लाभ किया जा सकता है या नहीं? मनुष्य की देह में तो यह योग्यता अवश्य है कि उससे श्रेष्ठ वस्तु का लाभ किया जा सकता है। हम सब जिस प्रकार पुनः पुनः जन्म ग्रहण करती हैं उसी प्रकार मनुष्य भी पुनः पुनः जन्म ग्रहण करता है। इस जन्म में जो हम सबों को मार कर खायगा दूसरे जन्म में मनुष्य होकर हम सब भी उसे मछली के रूप में पाकर उसका वध करेंगी और उसे खायँगी। संसार के सभी जीव इसी प्रकार हिंसा के स्रोत में बहते रहते हैं।

रोहित—अब तो तुमने मुझे एक विकट समस्या में डाल दिया। तुम भी मरोगी और मैं भी मरूँगी। मृत्यु के हाथ से छुटकारा नहीं मिल सकता। अच्छा अब तुम्हीं बताओ कि इस अधम जन्म में कौन-सा ऐसा काम किया जा सकता है जिससे कि दूसरे जन्म में हमें कुछ सुविधा प्राप्त हो?

कातला—देखो, हम लोगों के शरीर के वज़न के अनुसार कुछ मूल्य ठहराया जाता है। उसी के धन से मनुष्य खाता-पीता और भोग करता है। यदि कोई ऐसे दयालु सज्जन मिल जायँ जो कि इस शरीर के मूल्य को मनुष्य के इन्द्रिय तर्पण में न लगाकर भगवान् की सेवा में लगायें, तभी हम लोगों को सुकृत का फल मिल जायगा।

रोहित—तुमने तो बहुत ठीक कहा। यह तो बड़ी ही उत्तम बात है। जब मरना निश्चय ही है तब यदि देह का मूल्य प्राप्त हो और उससे सुकृति की जा सके, तो फिर इससे उत्तम और कौन सी बात हो सकती है?

(३)

"खट्-खट्-खट्" नीरव रजनी की निस्तब्धता भेद कर सहसा खड़ाऊँ के शब्द ने मेरे कानों में प्रवेश किया। मैंने पीछे की ओर देखा। देखता हूँ कि महन्त महाराज आ रहे हैं। मैंने तुरंत दण्डवत् प्रणाम किया।

महन्त महाराज ने कहा—क्योंजी शान्तिराम इतनी रात में अकेले घाट पर बैठे क्या कर रहे हो? क्या तालाब की मछलियों से बातें कर रहे हो?

मैंने कहा—"महाराज! आपका विचार यथार्थ है। आप अवश्यमेव अन्तर्यामी हैं।" मैं मछलियों की बातें सुन रहा था।

महन्त—क्या सुन रहे थे?

मैंने महन्त महाराज को कुल घटना कह सुनाई। सब वृत्तान्त को सुनकर और मेरे समीप बैठकर

उन्होंने कहा, "शान्ति ! अनेक पहाड़ों और पर्वतों में भ्रमण करके तथा कष्ट उठाकर तुमने एक अद्भुत विद्या सीख ली है परंतु इस तुच्छ कातला मछली ने जो कुछ कहा है उसे तुम समझ सके हो या [illegible]? मुझे तो विश्वास नहीं होता कि तुम समझ गये होगे। मछली का मांस खाने या पशुओं को मार [illegible] [illegible] कोई लाभ नहीं है। पहले अपनी भाषा का [illegible] स्वयं समझना [illegible]? तुच्छ मछली ने जो कुछ कहा था [illegible] क्या तुम [illegible] [illegible] नहीं। [illegible] [illegible] के [illegible] [illegible] मछली ने गोपाल [illegible] के तालाब में [illegible] [illegible] [illegible] और जीवन गोपाल [illegible] [illegible] [illegible] है। वैष्णवों का [illegible] किया है और अन्त में अपने शरीर से [illegible] [illegible] की सेवा में अनुकूलता करने का [illegible] [illegible] लिया है। अब तुम समीप चलो उस तालाब की मछलियों के परिश्रम को [illegible] [illegible]।

मैंने कहा — [illegible] मैं [illegible] [illegible] हूँ। मुझ पर [illegible] कीजिए [illegible] इस रहस्यमय विषय में नहीं [illegible] सकता [illegible] के रूप में [illegible] अपकार के [illegible] उपकार [illegible] के रूप में किसी उपकार के रूप में अपकार हो सकता है। कितनी [illegible] बातें हैं? तो फिर संसार क्या इतना भ्रान्त हो गया है? महाराज! मुझ पर कृपा कीजिए। मुझे आपकी बात [illegible] [illegible] प्रतीत हो रही है। महन्त महाराज ने कहा—"शान्ति ! शान्त हो ! यह वास्तव में बड़ा रहस्यमय विषय है। मनुष्य, जड़विद्या की सहायता से, जड़ वस्तुओं से और जड़ वस्तु के विचार से इस अद्भुत उपकार की बातों को नहीं समझ सकता। जो सर्वदा इस परोपकार के कार्य में रत रहते हैं, जो जीवों के प्रति [illegible] की ऐसी दुर्दशा की बातों पर भली भाँति विचार कर उनके लिए मंगल का मार्ग निकाल [illegible] [illegible] उन लोगों की दया से किसी भी प्रकार का [illegible] [illegible] [illegible] उनकी दया से समस्त [illegible] [illegible] हो जाते हैं। उन सबों की दशा को जड़-बुद्धि मनुष्य [illegible] [illegible] - निन्दा आदि कहकर नरक के पथ पर चला जाता है। शुद्ध वैष्णव की [illegible] [illegible] पर इन [illegible] तत्त्वों में प्रवेश किया जा सकता है। स्वयं भोग करेगा या मेरे कोई प्रियजन [illegible] करेंगे इस प्रकार के विचार से केवल [illegible] [illegible] और मछली मांस खाना दोनों ही [illegible] में शामिल है। पुत्र कन्या आदि को [illegible] से [illegible] रखना तथा उन्हें भोग का पथ दिखाकर [illegible] [illegible] से उन सबका भला भाँति [illegible] [illegible] करना [illegible] समस्त कार्य जीव-[illegible] के [illegible] [illegible] [illegible] कर और कुछ नहीं है। यदि इन बातों को सुनकर कोई संशय हुआ हो तो उसे दूर करने के लिए [illegible] के अनुगत होकर प्रश्न करो। सारी बातें अति सरल और सहज [illegible] [illegible] लगेंगी।

इंगलैंड के गाँवों में एक हिन्दू संन्यासी

आदर्श ग्राम्य जीवन और सरलता का एक चित्र । वैष्णव प्रचारक का स्वागत

(लन्दन विमान-डाक से)

आर्क बिशाप आफ़ कैन्टरबरी (Arch Bishop of Canterbury) के साथ परिचय हो जाने पर लन्दन गौड़ीयमठ के प्रसिद्ध प्रचारक स्वामी भक्ति हृदय वन महाराज १० अगस्त को गाँवों में श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु के धर्म का प्रचार करने के हेतु तारपोरली (Tarporley) को रवाना हुए। बस्टन (Boston) नामक स्टेशन पर रेवरेन्ड आर. एच. डाड. बी. ए. (Rev. R. H. Dodd. B. A.) ने पहले से निश्चित किये हुए प्रबन्ध के अनुसार आप का स्वागत किया। तारपोरली स्टेशन से ८ मील दूर चेस्टरशायर में एक आदर्श अंग्रेज़ी गाँव है और हिन्दुस्तानी गाँवों के विपरीत इसमें असफाल्ट की सड़कें, बिजली की रोशनी और टेलीफोन इत्यादि शहर की अन्य सुविधाएँ

तथा गाँव की सुन्दर हरियाली, एकान्तमयता, सफ़ाई और गाँव वालों की अपूर्व सादगी और उनका सरल स्वभाव साथ साथ दृष्टिगोचर होते हैं।

रेव: डाड और मिसेस डाड गाँव के प्रधान व्यक्ति हैं, इस लिये गाँव के सभी लोगों ने स्वामी जी की वाणी का बड़े आदर और सत्कार के साथ श्रवण किया। गाँव के ग़रीब से ग़रीब निवासी भी स्वामी जी को अपनी झोपड़ी में जिसकी स्वच्छता भारतवासी के नेत्रों को अपूर्व सी प्रतीत होती है, बड़े अभिमान के साथ निमन्त्रित करते थे, चैतन्य महाप्रभु के धर्म्म में उनका इतना उत्साह दीख पड़ता था कि वह स्वामी जी को उनके अपूर्व धर्म्म के विषय में ध्यान से सुनने के लिये सर्वदा घेरे रहते थे।

तारपोरली से स्वामी जी ब्लैकपूल (Blackpool) को निमन्त्रित किये गये, जो लगभग ६५ मील दूर पश्चिमी समुद्रतट पर स्थित है। यह स्थान देखने योग्य है। गवर्नमेंट अपने प्रजा की कितनी फ़िक्र रखती है और यहाँ के लोगों ने अपनी भविष्य सन्तान को अच्छा बनाने के लिये अपने विचारों को कितना विकासित बना रक्खा है, इसका परिचय यहाँ भली भाँति मिलता है. स्वामी जी ने यहाँ एक सुशिक्षित समाज में व्याख्यान दिया और इसके पश्चात् आप को एक स्थानीय डेयरी में निमन्त्रित किया गया, जहाँ बिजली की मशीनों द्वारा गायें दुही जाती हैं। लोग बराबर स्वामी जी के पास दूध और फलों की भरमार करते रहे, उन्हें चैतन्य-महाप्रभु के महत्वपूर्ण धर्म्म के बारे में जिनका पहले उन्होंने नाम तक न सुना था, बहुत सी बहु-मूल्य बातें सुन कर बड़ा संतोष हुआ। (क्रमशः)



इँगलैंड में हिन्दू संन्यासी
त्रिदण्डि-स्वामी भक्तिहृदय वन

नित्यकर्म और व्यवहार

(गतांक से आगे)

जो सर्वभूत में भगवान् के सम्बन्ध-जनित प्रेममय भाव को और सर्वभूतों के सम्बन्ध-जनित प्रेममय भाव की उपलब्धि भगवान् में करते हैं, वे ही उत्तम वैष्णव हैं। इस प्रेम के सिवा और कोई भाव उत्तम वैष्णव में होते ही नहीं; सम्बन्धजनित अन्यान्य भाव जो समय-समय पर उदित होते हैं, वे सब उनके प्रेम के विकार हैं। देखो, शुकदेव ने उत्तम भागवत होकर भी कंस के सम्बन्ध में "भोज-पांशुल" इत्यादि रूप जैसे जो सब वाक्य कहे हैं, वे सभी प्रेम के विकार हैं; वास्तव में वह भी प्रेम है, अर्थात् सच्चा रूप नहीं है। इस प्रकार शुद्ध प्रेम में ही जब भक्तों का जीवन होता है, तब उन्हें 'भाग-

भागवतोत्तम' कहते हैं। फिर इस अवस्था में प्रेम, मैत्री, कृपा और उपेक्षा, रूपी व्यवहार का तारतम्य नहीं रहता; सभी प्रेमाकार हो पड़ता है। उनके लिये उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ वैष्णव-भेद या वैष्णव-अवैष्णव का भेद नहीं है। यह अवस्था विरल है।

देखिये, कनिष्ठ वैष्णव वैष्णवों की सेवा नहीं करते और उत्तम वैष्णवों में वैष्णव अवैष्णव का विचार ही नहीं है। वैष्णव-सम्मान और वैष्णव-सेवा का अधिकार केवल मध्यम वैष्णवों को ही है। मध्यम वैष्णवों के लिये, एक बार जो कृष्ण-नाम लेते, सदैव जो कृष्ण-नाम लेते और जिन्हें देखने से कृष्ण-नाम मुँह से निकलता है—इन तीन प्रकार के वैष्णवों की सेवा आवश्यक है। वैष्णव, वैष्णवतर और वैष्णवतम के हिसाब से उपयुक्त सेवा करना चाहिये; यह विचार करना न चाहिये वैष्णव उत्तम है या मध्यम;—ये बातें केवल उत्तम वैष्णव के लिये हैं। यदि मध्यम वैष्णव ऐसा कहें, तो वे अपराधी होंगे—यही बात श्रीमन्महाप्रभु ने कुलीनग्रामवासी को इशारे ही से समझाया था। समस्त मध्यम वैष्णवों के लिये यह उपदेश वेद से बढ़कर पूजनीय है। वेद या श्रुति किसे कहते हैं? इसका उत्तर यह है, कि परमेश्वर की आज्ञा ही वेद है। इतना कह कर बाबा हरिदासजी कुछ देर के लिये चुप हो गये। तब बड़गाछी के नित्यानन्ददास ने हाथ जोड़ कर बाबाजी से कहा,—क्या अब मैं कुछ पूछ सकता हूँ? बाबा हरिदासजी ने कहा,—खुशी से पूछो।

कम उम्र नित्यानन्ददास ने बाबाजी से पूछा,—बाबाजी महाशय, आप मुझे किन वैष्णवों में मानते हैं? अर्थात् मैं कनिष्ठ वैष्णव हूँ या मध्यम वैष्णव? उत्तम वैष्णव तो कभी हो ही नहीं सकता।

बाबा हरिदासजी ने कुछ मुस्करा कर कहा,—"नित्यानन्ददास नाम ग्रहण करने पर किसी के उत्तम होने में बाक़ी ही क्या रहा? हमारे निताई बड़े दयालु हैं! वे मार खाने पर भी प्रेम वितरण करते हैं! उनका नाम और दास होने पर अब बाक़ी ही क्या रह गया?

नित्या०—मैं सरलता के साथ अपना अधिकार जानना चाहता हूँ।

हरि०,—तब तुम अपना सब हाल सुनाओ, निताई यदि मुझसे कुछ कहलायेंगे, तो कहूँगा।

नित्या०,—पद्मावती के किनारे किसी ग्राम में किसी नीच वंश में मेरा जन्म हुआ। थोड़ी ही उम्र में मेरा विवाह हो गया। मैंने कभी दुष्टता सीखी ही नहीं। अपनी स्त्री के मर जाने पर मुझे वैराग्य हुआ। मैंने देखा, कि बड़गाछी में कितने ही गृहत्यागी वैष्णव हैं; लोग उनका बड़ा सम्मान करते हैं। मैंने उसी सम्मान की आशा से और पत्नी के वियोग से क्षणिक वैराग्य की उत्तेजना होने पर बड़गाछी में जाकर वेश ग्रहण कर लिया। कुछ दिन बाद ही मेरे मन में पाजीपन समाया, किन्तु मेरे एक साथी वैष्णव बहुत अच्छे थे; आजकल वे व्रज में हैं। उन्होंने मुझे सदुपदेश देकर और अपने साथ रखकर मेरे चित्त का शोधन किया। अब मुझे किसी तरह के उत्पात की इच्छा नहीं होती। एक लाख नाम लेने में रुचि होती है। मैं नाम और नामी को अभेद जान गया हूँ; दोनों ही चिन्मय हैं। यथाशास्त्र श्रीएकादशी के व्रत का पालन करता हूँ और तुलसी में जल आदि देता हूँ। जब वैष्णव लोग कीर्त्तन करते हैं, तब मैं भी आवेश के साथ कीर्त्तन करता हूँ, वैष्णव-चरणामृत लेता हूँ; श्रीचैतन्य-मङ्गल का पाठ करता हूँ; अच्छा खाने और अच्छा पहनने की इच्छा अब नहीं होती। गृहस्थों की बातें अच्छी नहीं लगतीं। वैष्णवों का भाव देखकर मैं लोट पोट हो जाता हूँ। किन्तु यह प्रायः प्रतिष्ठा की आशा से। अब बताइये, कि मैं किस श्रेणी का वैष्णव हूँ और कैसा व्यवहार मेरे लिये कर्तव्य है।

बाबा हरिदास जी ने बाबा वैष्णवदास की ओर देख और हँसकर कहा,—कहिये नित्यानन्ददास किस श्रेणी के वैष्णव हैं?

वैष्णव०—मैंने जो सुना, उससे जान पड़ता है; कि ये कनिष्ठता छोड़ कर मध्यम के अधिकारी हुए हैं।

हरि०—मैं भी ऐसा ही समझता हूँ।

नित्या०—अच्छा ही हुआ, कि महाजन के मुख से मैं अपने अधिकार को जान सका। आप लोग ऐसी कृपा करें, जिससे मैं क्रमशः उत्तम अधिकारी हो सकूँ।

वैष्णव०—वेश ग्रहण करने के समय तुम्हें प्रतिष्ठा की आशा थी; उस समय अनधिकार-चर्चा के दोष से आप पतित हो रहे थे। जो हो, वैष्णव की कृपा से आपका यथेष्ट मङ्गल हुआ है।

नित्या०—मुझमें अब भी कुछ-कुछ प्रतिष्ठा की आशा बनी हुई है। मैं सोचता हूँ, कि आँख के आँसू और भाव से सब को मुग्ध कर उच्च सम्मान पाऊँ।

हरि०—यत्न के साथ इसका परित्याग करो। ऐसा न होने से फिर भक्ति-क्षय का भय है। भक्तिक्षय होने से फिर कनिष्ठाधिकार में जाना पड़ेगा। काम क्रोधादि से बढ़कर वैष्णवों के लिये प्रतिष्ठा की आशा बहुत खराब है; यह शीघ्र दूर नहीं होती। विशेषतः छायाभाव के आभास को छोड़ कर एक बिन्दु भी सत्यभाव हो, तो बहुत अच्छा है।

तब "आप कृपा करिये" कहकर नित्यानन्द ने बाबा हरिदास जी के चरण की धूलि ली। इससे बाबा हरिदास जी ने व्यस्तता के साथ उनका आलिङ्गन किया और उन्हें अपने पास बैठाया। वैष्णवस्पर्श का भी कैसा अद्भुत फल है। उसी समय नित्यानन्ददास की आँखों से आसू झरने लगे। उन्होंने दाँतों में तृण दाब कर कहा,—"मैं नीच हूँ, मैं नीच हूँ।" बाबा हरिदास भी उन्हें छाती से लगाकर रोने लगे। कैसा अपूर्व भाव है। नित्यानन्ददास का जीवन सार्थक हुआ। कुछ देर में इन सब भावों के रुकने पर नित्यानन्ददास ने श्रीहरिदास को गुरू मान कर पूछा,—

नित्या०—कनिष्ठ भक्त की भक्ति के सम्बन्ध में मुख्य लक्षण क्या है और गौण लक्षण क्या है?

हरि०—भगवान के नित्य स्वरूप पर विश्वास और अर्चनीय मूर्त्ति में पूजा—ये दो कनिष्ठ वैष्णवों के मुख्य लक्षण हैं। उनके श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण और वन्दनादि जितने प्रकार के अनुष्ठान हैं, वे सभी गौण लक्षण हैं।

नित्या०—नित्यस्वरूप में विश्वास न होने से कोई वैष्णव हो नहीं सकता और श्रीमूर्त्ति की पूजा के विधि का आश्रय बिना कोई वैष्णव नहीं होता, मैं अच्छी तरह से यह समझ गया, कि ये दोनों मुख्य लक्षण हैं। किन्तु यह नहीं समझा, कि ये गौण लक्षण कैसे मान गये?

हरि०—कनिष्ठ वैष्णव को शुद्ध भक्ति के स्वरूप का बोध नहीं होता। श्रवण कीर्त्तन आदि शुद्धभक्ति के अङ्ग हैं। स्वरूप ज्ञान के अभाव से सभी क्रियायें मुख्यधर्म को प्राप्त नहीं होतीं, सुतरां गौणरूप से प्रकट होती हैं। विशेषतः सत्व, रज और तम, ये तीन प्रकृति के गुण हैं। इन्हीं के आश्रय में ये सब काम होते रहते हैं, अतएव ये गुण से उत्पन्न अर्थात् गौण हैं। निर्गुण रूप में श्रवण-कीर्तन आदि होने पर ये सब भक्ति के अङ्ग बन जाते हैं। जब ये सब निर्गुण हो जाते हैं, तभी मध्यमाधिकार उपस्थित होता है।

नित्या०—कनिष्ठ वैष्णव में कर्मज्ञान का दोष है और अन्याभिलाषिता है। तब उन्हें कैसे भक्त कहा जा सकता है?

हरि०—भक्ति का मूल श्रद्धा है। जिनमें श्रद्धा उत्पन्न हो गई है, वे भक्ति के अधिकारी हैं। उनके भक्ति के द्वार तक पहुँच जाने में कोई सन्देह नहीं। 'श्रद्धा' शब्द का अर्थ विश्वास है। कनिष्ठभक्त को जब श्रीमूर्ति में विश्वास हो गया, तब वे भक्ति के अधिकारी हैं ही।

नित्या०—वे कब भक्ति लाभ करेंगे?

हरि०—जब उनके कर्म और ज्ञान का नशा पच जाता है और जब वे अनन्य भक्ति के बिना और कुछ भी इच्छा नहीं करते तथा अतिथि की सेवा से भक्त की सेवा को पृथक मान भक्ति की अनुकूल-स्वरूपा भक्त-सेवा में इच्छा उत्पन्न होती है, तभी वे शुद्ध भक्त और मध्यमाधिकारी होते हैं।

(क्रमशः)

श्रीश्रीविश्ववैष्णवराजसभा

(भागवत धर्म-प्रचार-केन्द्र व भक्ति-मठ)

(१) श्रीचैतन्य मठ (प्रधान मठ)
प्राचीन नवद्वीप श्रीमायापुर, नदिया

(२) श्रीमायापुर योगपीठ
(श्रीचैतन्यदेव की जन्मभूमि, श्रीमायापुर, नदिया

(३) श्रीवास अङ्गन
(श्रीचैतन्यदेव का संकीर्तनप्रचारक्षेत्र)
श्रीमायापुर, नदिया

(४) श्रीअद्वैतभवन
(प्रभु अद्वैतजी की भागवतसभा)
श्रीमायापुर, नदिया

(५) श्रीचाँद काजी की समाधि-पीठ
श्रीमायापुर, नदिया

(६) श्रीस्वानन्दसुखदकुंज
(श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभुजी के समाधिमन्दिर)
स्वरूपगंज, नदिया

(७) श्रीगौरगदाधर-मठ
चाँपाहाटी समुद्रगढ़, बर्दवान

(८) श्रीमोदद्रुमछत्र
(गौड़देश का नैमिषारण्य)
मामगाछी जाननगर, बर्दवान

(९) श्रीभागवत आसन
कृष्णनगर, नदिया

(१०) श्रीएकायन मठ
गोविन्दपुर, हाँसखाली, नदिया

(११) श्रीगौड़ीय मठ; बागबाजार, कलकत्ता

(१२) श्रीमाध्वगौड़ीय मठ
नं० ६० नवाबपुर, ढाका

(१३) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ
सेहारा, मैमनसिंह

(१४) श्रीगोपालजी मठ; कमलापुर, ढाका

(१५) श्रीगदाई गौरांग मठ; बालीयाटी, ढाका

(१६) श्रीपरमहंस मठ
नैमिषारण्य (नीमसार)

(१७) श्रीसनातन गौड़ीय मठ
अगस्त्यकुण्ड, काशी

(१८) श्रीरूपगौड़ीय मठ, प्रयाग

(१९) श्रीकृष्णचैतन्य मठ
सरकार ठाकुर कुंज पुराना शहर, श्रीधाम वृन्दावन

(२०) श्रीव्यासगौड़ीय मठ
कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, कर्नाल

(२१) दिल्ली गौड़ीय मठ
नं० ८३ हनुमान रोड, न्यू देहली

(२२) मद्रास गौड़ीय मठ कार्यालय
न्यू गोपालपुरम् कैथेड्रल, मद्रास

(२३) श्रीपुरुषोत्तम मठ
भक्तिकुटी पुरी, (उड़ीसा)

(२४) श्रीसच्चिदानन्द मठ
चड़ियाबाजार, कटक

(२५) श्रीब्रह्मगौड़ीय मठ
आलालनाथ, ब्रह्मगिरि, पुरी

(२६) द्वादश गोपाल पीठ
(श्रीमहेश पंडित) कांटालपुल चाकदह, नदिया

(२७) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पा० माजू, हावड़ा

(२८) श्रीआमलाजोड़ा प्रपन्नाश्रम मठ
पो० राजबाँध, बर्दवान

(२९) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ
डुहुरकोदा चांदकुण्डा, मानभूम

(३०) श्रीभागवतजनानन्द मठ
मु० चिरलिया पा० वासुदेवपुर, जि० मेदनीपुर

(३१) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ
कवूर, वेस्ट गोदावरी, मद्रास

(३२) ग्वालपाड़ा प्रपन्नाश्रम, आसाम

(३३) त्रिदण्डी-गौड़ीय मठ भुवनेश्वर, पुरी

(३४) श्रीसारस्वत-गौड़ीय मठ हरिद्वार

Registered No. A. 2191

श्रीगौड़ीय मठ द्वारा प्रकाशित भक्तिग्रन्थ

संस्कृत

१—श्रीश्रीशिक्षाष्टकम् =)

२—श्रीशिक्षादशकमूलम् - सटीक ।)

३—श्रीमध्वप्र-श्रगाशंशवर्णीन्दु ≈)

४—श्रीसिद्धान्तसरस्वती दिग्विजयः ॥)

५—श्रीगौड़ीयमठस्य परिचयः -)

६—श्रीतत्त्वसूत्रम् १)

संस्कृत बँगला अक्षरों में

१—श्रीहरिनामामृतव्याकरणम् २)

२—श्रीमद्भगवद्गीता - श्रीबलदेव विद्याभूषण-कृत-भाष्य और भक्तिविनोद प्रभुजी-कृत अनुवाद और तात्पर्य-सहित सजिल्द २) अजिल्द १॥)

३—भजनरहस्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)

४—भक्तिसन्दर्भ श्रीजीव गोस्वामी प्रभु-कृत खंडों में प्रकाशित प्रति खंड १)

५—गौड़ीय वैष्णव शास्त्रसुभाषितसंग्रह सजिल्द -)

६—साधन-पथ श्रीचैतन्यमहाप्रभु की शिक्षाष्टक और श्रीरूपगोस्वामी प्रभु-कृत उपदेशामृतसहित ।=)

७—तत्त्वसूत्र ठा० भक्तिविनोद-कृत बँगला अनुवाद सहित ॥)

८—श्रीचैतन्यचन्द्रामृत श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती-कृत अन्वय और बँगला अनुवाद सहित १)

९—अर्चनपद्धति श्रीगोपालाचार्य्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)

१०—सदाचारस्मृति श्रीमध्वाचार्य-प्रणीत बँगला अनुवाद सहित -)

११—श्रीमद्भागवत श्रीधर स्वामीजी-कृत टीका, सार अन्वय, अनुवाद और श्रीमध्वाचार्य-कृत तात्पर्य और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती-कृत टीका सहित तथा कठिन कठिन श्लोकों का पद-व्याख्या और तथ्य तथा श्लोक-सूची, विषयसूची अध्याय-विवरण, पात्र-स्थान-सूची सहित प्रथम स्कंध से दशम स्कंध तक २८)

एकादश स्कंध में प्रति खंड ।=)

१२—युक्तिमल्लिका गुणसौरभ वादिराज स्वामि-कृत अनुवाद सहित २)

वंगभाषाग्रन्थ

१३—नवद्वीपधामसाहात्म्य प्रमाणखंड अनुवाद सहित ≈)

१४—नवद्वीपशतक बँगला अनुवाद -)

१५—नवद्वीपधाममाहात्म्य ठा० भक्तिविनोद-कृत ≈)

१६—नवद्वीप-परिक्रमा और भक्तिरत्नाकर नरहरि चक्रवर्ती-कृत ≈)

१७—नवद्वीपभावतरंग ।)

१८—गौड़मंडलपरिक्रमादर्पण ।)

१९—श्रीचैतन्यशिक्षामृत ठा० भक्तिविनोद-कृत १)

२०—मनःशिक्षा ।)

२१—शरणागति -)

२२—कल्याणकल्पतरु -)॥

२३—गीतावली -)

२४—श्रीहरिनामचिन्तामणि ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)

२५—वैष्णवमंजूषा श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज-कृत चारों खंड ३)

२६—प्रेमविवर्त जगदानन्द गोस्वामि-कृत ॥=)

२७—जैवधर्म ३)

२८—नामापराधकंठमाला ।)

२९—चैतन्यभागवत ठा० वृन्दावनदास-कृत और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभु-कृत, विस्तृत व्याख्या और विवरण सहित अग्रिम ४)

३०—महाप्रभु की शिक्षा ठा० भक्तिविनोद-कृत ॥)

३१—श्रीचैतन्यचरितामृत श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामि-कृत मूल और श्रीमद्भक्तिविनोद प्रभु और श्रीमद् भक्तिसिद्धांत सरस्वती गोस्वामि-कृत विस्तृत भाष्य और सूची सहित ४)

Books in English

1. Life and Precepts of Sri Chaitanya Mahaprabhu By Thakur Bhakti-Vinode /4/-
2. Namabhajan: A Translation By Swami Bon Maharaj /4/-
3. Vaishnavism: Real and Apparent /4/-
4. What Gaudiya Math is Doing? /1/-
5. The Bhagabat, Its Philosophy, Ethics and Theology /4/-
6. The Erotic Principle and Unalloyed Devotion By Prof. Sanyal /4/-

Edited and Published by Swami Bon Maharaj and Printed by R. P. Bhargava at Oudh Printing Works, Lucknow